प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक · विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

सस्करण · द्वितीय, वि० सवत् २०१९

मूल्य

Phone 3076

THE

VIDYABHAWAN AYURVEDA GRANTHAMALA

37



ĀYURVEDA PRAKĀS'A

OF

ĀCHĀRYA S'RĪ MĀDHAVÀ

EDITED WITH THE

Arthavidyotinī & Arthaprakās'inī
Sanskrit & Hindi Commentaries

by

VAIDYA VACHASPATI

SHRI GULRAJSHARMA MISHRA

AYURVEDACHARYA

PROFESSOR, SRI SIDDHA NAGARJUNA

AYURVEDA MAHA VIDYALAYA, NAGPUR

WITH INTRODUCTION BY

AYURVEDA CHAKRAVARTI-VAIDYARATNA

PANDIT SHIVA SHARMA

AYURVEDACHARYA.

THE

CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN

VARANASI-1

196

समर्पण

श्रीमान् प्राणाचार्य श्रीगोवर्धनजी शर्मा छांगाणी

भिषक्केसरी

की

पवित्र सेवामें

परमाराध्यचरण गुरुवर्य ! आपकी पुत्रवत्सलता एवं दयालुताका मैं
किन शब्दोंमें वर्णन करूँ ! आयुर्वेदविषयक जो कुछ भी
मुझे प्राप्त है, यह सब आपकी ही कृपाका
फल है। आपकी असीम कृपाके बल पर
ही मै आज 'आयुर्वेदप्रकाश'की यह
टीका लेकर आपके संमुख
उपस्थित हुआ हूँ।

लीजिए—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

आपहीका

श्रीगुलराजशर्मा मिश्र

भूमिका

(पं० श्रीशिवशर्मा आयुर्वेदाचार्य)

१. ग्रन्थ

आयुर्वेद-प्रकाश की गणना आयुर्वेदीय रसशास्त्र के उत्कृष्टतम ग्रन्थों में की जाती है। आयुर्वेदिक साहित्य में जो उच्चस्थान आयुर्वेद-प्रकाश को प्राप्त है उसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

१६वीं—१७वीं ख्रिस्ताब्दी तक जितनी भी सामग्री रसशास्त्र पर एकत्रित हो सकती थी प्रायः उस संपूर्ण सामग्री का सम्यक् अवलोकन करने के अनन्तर ही माधव उपाध्याय ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है।

उस समय तक रसशास्त्र पर जो कुछ लिखा जा चुका था उसके पश्चात् कोई नवीन अथवा विशेष उपयोगी वृद्धि इस दिशा में नहीं हुई।

प्रकाशित रसग्रन्थों से बाहर भी जो लिखित तथा व्यक्तिगत अनुभवात्मक ज्ञान प्रस्तुत विषय पर उपलब्ध हो सका उसका समावेश भी ग्रन्थकर्त्ता ने इस पुस्तक में कर दिया है।

ग्रन्थकार ने आरंभ में ही यह वचन दिया है कि जो विषय शास्त्रों में लिखित तथा विद्वानों द्वारा अनेक बार समर्थित होने पर भी उसके निजी अनुभव द्वारा सिद्ध नहीं कर लिए गए, उनका समावेश वह इस ग्रन्थ में नहीं करेगा। जो कर्म उच्चकोटि के गुरुजनों द्वारा सीखे जाकर उनके समक्ष क्रियारूप में सफल सिद्ध हुए केवल उन्हीं कर्मों का उल्लेख ग्रन्थ में होगा—

> अश्रौषं बहुविदुषां मुखादपश्यं शास्त्रेषु स्थितं न तल्लिखामि।
> यत्कर्म व्यरचयमग्रतो गुरूणां प्रौढानां तदिह वदामि वीतशङ्कः॥

ग्रन्थ में गुरु और शिष्य की योग्यता और गम्भीरता तथा कर्म की कृतिसाध्यता एवं उपादेयता को विशेष महत्त्व दिया गया है।

गुरुशिष्य-परंपरा में शिष्य को अपने गुरु से ज्ञानोपार्जन के प्रत्येक स्तर पर जो निकटतम, घनिष्ठ और दीर्घकालीन संपर्क प्राप्त होता है वह अन्य किसी पाठ्य-प्रणाली में संभव नहीं। उसी परंपरा की उपज यह ग्रन्थ है।

आधुनिक पाठ्यप्रणाली में गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति तथा शिष्य के प्रति वात्सल्य, जो स्वयं उच्च कोटि के वरदान थे, का ही नाश नहीं हुआ अपितु सर्वस्तरीय औषधनिर्माण-कर्मज्ञता भी नष्ट हो गई। वनस्पति-संग्रह से लेकर क्लिष्टतम रस-निर्माण तक औषधि-निर्माण के प्रत्येक स्थल का पूर्ण क्रियात्मक ज्ञान जिस प्रकार

आयुर्वेद के निपुण विद्यार्थियों को होता था वह पश्चिमी पद्धति के किसी विद्यार्थी को प्राप्त नहीं। बडे से बडे डाक्टर से उसकी प्रणाली की सरल से सरल औषध स्वयं निर्माण करने को कहिये तो वह कभी नहीं कर सकेगा। अपने आप में वैद्य की भाति सर्वांगपूर्ण न होकर चिकित्साक्षेत्र में व्यापारी की सत्यपरायणता और योग्यता की शरण लेना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है।

इस पुस्तक में तो ग्रन्थकर्त्ता की यह भी प्रतिज्ञा है कि जो क्रिया असाध्य है, जो औषध दुर्लभ है, वह जान-बूझ कर छोड दी गई है और क्रिया की सरलता पर विशेष ध्यान दिया गया है।

२. ग्रन्थकर्त्ता

ग्रन्थ-पाठ से ही यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार सौराष्ट्र के रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण माधव उपाध्याय हैं।

वैसे प्राचीन संस्कृत-साहित्यकार अनेक 'माधव' हुए हैं। महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे ने अपनी पुस्तक धर्मशास्त्र का इतिहास (History of Dharma Shastra) में निम्नलिखित 'माधवों' का वर्णन किया है—

१. माधव, खातर का पुत्र, गोपाल का शिष्य, 'दिव्यदीपिका' का लेखक (१३५०–१६०० खिस्ताब्द)
२. माधव, दुर्गाभक्तितरगिणी का लेखक
३. माधव, 'धर्मप्रकाश' का लेखक (१५०० खिस्ताब्द के पश्चात्)
४. माधव, 'होमपद्धति' का लेखक (१५०० खिस्ताब्द के पश्चात्)
५. माधव, कृष्णाचार्य का पुत्र, गोत्र भारद्वाज, 'ग्रहमखतिलक' का लेखक
६. माधव, 'शारदातिलक' का टिप्पणीकार
७ माधव, 'माधवीशान्ति' का लेखक
८. माधव पण्डित, 'दत्तादर्श' का लेखक
९. माधव पाठक, 'पुरश्चरणचन्द्रिका' का लेखक
१० माधव भट्ट, रामेश्वर का पुत्र, 'अशौचनिर्णय' और 'सूर्यार्घ्यदानपद्धति' का लेखक (१५२०–१५७० ईस्वी के लगभग)
११ माधव भट्ट, 'मुहूर्त्तदर्पण' का टीकाकार
१२. माधव, महामहोपाध्याय, विष्णुशर्मन् का पुत्र, 'दानप्रदीप' का लेखक
१३. माधव मुनि, 'वोपण्णभट्टीय' टीका का लेखक
१४ माधव यज्वन्, 'अर्थशास्त्र' पर 'नयचन्द्रिका' टीका का लेखक
१५ माधव शर्मन्, बुधवाणकुलोत्पन्न रघुनाथ का पुत्र, 'अद्भुतदर्पण' का लेखक, (१२०० ईस्वी के पश्चात्)

१६. माधव शुक्ल, कृष्ण का पुत्र, व्यासनारायण का पौत्र, औदीच्य ब्राह्मण, काश्यप गोत्र, 'कुण्डकल्पद्रुम' का लेखक (यह पुस्तक १६५६ ईस्वी में लिखी गई)

१७. माधव स्वामिन्, इनका वर्णन चण्डेश्वरकृत 'गृहस्थरत्नाकर' में शंखलिखित एक सूत्र के व्याख्याकार के रूप में आया है

१८. माधवाचार्य 'कुरुक्षेत्रप्रदीप' अथवा 'कुरुक्षेत्रमाहात्म्य' का लेखक।

१९. माधवाचार्य, मायण और सुकीर्ति का पुत्र, इसे इन ग्रन्थों का लेखक समझा जाता है :—१. 'पराशरमाधवीय तथा कालनिर्णय', 'दत्तकमीमासा', 'गोत्रप्रवरनिर्णय', 'पुरुषार्थसुधानिधि', 'मुहूर्त्तमाधवीय', 'स्मृतिसंग्रह', 'व्रात्यस्तोमपद्धति'।

२०. माधवाचार्य (अभिनव) 'गोत्रप्रवरनिर्णय' और 'अभिनव माधवीय' का लेखक

२१. माधवाचार्य, 'सर्वदेवप्रतिष्ठाप्रयोग' का लेखक

२२. माधवाचार्य, 'कर्मविपाक' का लेखक।

जहाँ तक आयुर्वेदिक साहित्यकारों का संबंध है इनमें सब से प्राचीन लेखक माधवकर हैं जिन्होंने लगभग सातवीं ईस्वी में माधवनिदान लिखा। यह तथ्य इतिहास-सिद्ध है कि आठवीं शताब्दी में माधवनिदान का अरबी अनुवाद ख़लीफा हारु-अल-रशीद और ख़लीफा अल मंसूर ने बग़दाद में अपने संरक्षण में करवाया। अतएव निदानकार माधव का जीवनकाल किसी प्रकार भी आठवीं शताब्दी के पीछे कल्पित करना असंभव है। स्पष्ट है कि उस लेखक का आयुर्वेदप्रकाश के लेखक से कोई संबन्ध नहीं। इन दोनों लेखकों में भौगोलिक अन्तर भी उतना ही बड़ा है जितना कि कालिक। जहाँ कालिक अन्तर लगभग १००० वर्ष है वहाँ भौगोलिक अन्तर १५०० मील से भी अधिक है। निदान का लेखक माधवकर भारतवर्ष के पूर्वीय प्रान्त पूर्व बङ्गाल का रहने वाला था और आयुर्वेद-प्रकाश का लेखक माधव उपाध्याय पश्चिमीय प्रान्त सौराष्ट्र का। सौराष्ट्र के माधव के वंशजों का कोई निश्चयात्मक परिचय किसी अन्वेषक को प्राप्त नहीं। परन्तु बंगाल के श्री माधवकर के वंशजों की अटूट शृंखला दीनाजपुर (पूर्व बङ्गाल) में अभी तक विद्यमान है। सन् १९४० में जब बङ्गालप्रान्तीय वैद्यसंगठन के संबन्ध में मैंने बंगाल का भ्रमण किया तो दीनाजपुर में भी जिला आयुर्वेद-मण्डल के प्रबंध मे कविराजों की एक सभा हुई थी। यहाँ पर स्वर्गीय श्री मणीन्द्रकुमार मुखर्जी ने मुझे सभाध्यक्ष श्री वरदाकान्तशर्मा 'कर' का परिचय कराते हुए बताया कि यद्यपि वह नगर के ऊंचे वकील हैं परन्तु आयुर्वेद से उनका बहुत घनिष्ठ संबंध है क्योंकि 'आप माधवनिदान के रचयिता श्री माधवकर की ३९वीं पीढ़ी में सीधे वंशज हैं'। मैंने श्री वरदाकान्तकर को संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं का उच्चकोटि का पण्डित पाया। उस समय उन्होंने संस्कृत पद्य में लिखी हुई अपनी वंशावली भी

मुझे दिखाई। यह घटना अब भी निर्भ्रान्त रूप में मेरे स्मृतिगोचर है, क्योंकि इस सभा में न केवल १००० वर्ष से अधिक प्राचीन ग्रन्थ माधवनिदान के लेखक के एक योग्य वंशज से सपर्क होने का आनन्द मुझे प्राप्त हुआ वरन् उसी दिन अंग्रेजी सरकार ने पं० जवाहरलाल नेहरू को पकड कर फिर वंदीगृह में डाल दिया था जिससे जनता में क्रोध और अशान्ति की एक लहर दौड गई थी। दीनाजपुर में तुरन्त हडताल हो जाने के कारण इस सभा की उपस्थिति भी वहुत वढ़ गई थी और सभा ने एक वडे राजनैतिक सम्मेलन का रूप धारण कर लिया था। यह घटना है २ नवम्वर १९४० की।

रसशास्त्र की चर्चा करते हुए कुछ शब्द सर्वदर्शन-संग्रहकार श्री माधवाचार्य के संवन्ध में कह देना भी प्रासगिक होगा। इनको १३३१ ईस्वी मे शृंगेरीमठाधीश वनाया गया। इनकी रचना सर्वदर्शन-संग्रह ने वहुत ख्याति प्राप्त की। इस ग्रन्थ मे सांख्य, न्याय, वैशेपिक, आदि सभी दर्शनों की व्याख्या की गई है। एक प्रकरण में पारद को मुख्य रख कर 'रसेश्वरदर्शन' पर भी प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में रसशास्त्रसम्वन्धी सभी उद्धरण 'रसार्णव' से लिए गए है जो रसग्रन्थों में प्राचीन माना जाता है। परन्तु पारद का औपध रूप में प्रयोग तो 'रसार्णव' (११वीं शताव्दी) से भी वहुत पहले वराहमिहिराचार्य की वृहत्सहिता में भी निम्नलिखित श्लोक में मिलता है —

माक्षीकधातुमधुपारदलोहचूर्णपथ्याशिलाजतुविडगघृतानि योऽद्यात्।
सैकानि विंशतिरदानि जरान्वितोऽपि सोऽशीतिकोऽपि रमयत्यवलां युवेव॥

उपर्युक्त संपूर्ण सामग्री को ध्यान में रखते हुए तो यही निश्चय होता है कि आयुर्वेद-प्रकाश के लेखक, 'माधव' नाम के अन्य सव आयुर्वेदिक लेखकों से पीछे हुए हैं।

१६वीं शताव्दी में जव पुर्तगाली सैनिकों द्वारा फिरंग रोग भारतवर्ष में पहली वार फैलाया गया तव उसी शताव्दी में भाव मिश्र ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाश में 'फिरंगरोगाधिकार' शीर्षक देकर इस व्याधि की चिकित्सा पर एक स्वतन्त्र अध्याय का समावेश किया। इसके ३०० वर्ष पश्चात् शोडिन ने फिरग का कीटाणु पृथक् किया और एलरिख ने '६०६' नामक प्रथम फिरंगरोगनाशक मल्लयोग निर्मित किया।

आयुर्वेद-प्रकाश मे 'फिरंग' और 'रसकर्पूर' दोनों शव्द आए है इससे कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ को भावप्रकाश के पश्चात् लिखा गया मानते है। परन्तु यह अनुमान किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। यह दोनों लेखक समकालीन

भी हो सकते हैं। स्वयं माधव उपाध्याय का लेख भावप्रकाश से पहले का हो सकता है। इस काल में ग्रन्थों के नाम मे 'प्रकाश' शब्द जोड़ने की प्रथा चल चुकी थी, यथा—आयुर्वेद-प्रकाश, भावप्रकाश, अर्कप्रकाश (जिसका लेखक लंकापति रावण को बताया गया है जो अयुक्त है। 'अर्क' शब्द ही जो अरबी शब्द "अरक" का अपभ्रंश है, इस बात का द्योतक है कि पुस्तक यूनानी संपर्क के पश्चात् लिखी गई है।) हिकमतप्रकाश, धर्मप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थ इसी काल में लिखे गए है।

३. टीकाकार

आयुर्वेद-प्रकाश के प्रस्तुत प्रकाशन मे विद्वद्वर श्री गुलराज शर्मा ने दो टीकाएँ लिखी हैं—एक विस्तृत संस्कृत टिप्पणी 'अर्थविद्योतिनी,' और एक विस्तृत और अत्यन्त सरल हिन्दी टीका 'सुस्पष्टार्थप्रकाशिनी'। यद्यपि मूल लेखक माधव उपाध्याय ने गुरु के निकट रह कर अनुभव सहित विद्योपार्जन करने को बहुत महत्त्व दिया है और वह उचित भी है परन्तु योग्य टीकाकार ने दोनों टीकाओं को इतना विशद, व्यापक, सरल और सुस्पष्ट बना दिया है कि विद्यार्थी को कदाचित् ही गुरु की आवश्यकता प्रतीत हो। टीकाकार अपने प्रान्त के अग्रणी चिकित्सकों और प्रख्यात विद्वानों में गिने जाते हैं। आयुर्वेदिक साहित्य में उनका प्रयास इतना सफल होना उनकी ख्याति के अनुरूप ही है।

४. ग्रन्थ-विषय

यहाँ दो शब्द में भारतीय रसशास्त्र की एक विशिष्टता पर कहना चाहता हूँ। जामनगर की केन्द्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च इन्स्टिटयूट में आयुर्वेदीय रसग्रन्थों मे वर्णित रसयोगों की एक सूची एक दीवार पर लटक रही है। इसमें १९०० और २,००० के बीच में रसनामों की संख्या है। पारद तो प्राय सभी रसौषधों का अंश है, साथ में सैकड़ों रसों में स्वर्ण, रजत, ताम्र, यसद आदि बहुत सी अन्य 'गुरु' धातुएँ (Heavy Metals) भी पड़ती है। आधुनिक औषधगुणधर्मविज्ञान के अनुसार इन धातुओं के सेवन से वृक्कों को भारी हानि होती है। परन्तु आयुर्वेदिक रसशास्त्र के अनुसार निर्मित यही धातु सर्वथा निर्विकार औषधों का रूप धारण कर लेते है। यहाँ तक कि डाक्टरी धातुयोगों के सेवन से उत्पन्न दवा वृक्करोग उन्ही धातुओं के आयुर्वेदिक योगों द्वारा अच्छा किया जा सकता है।

बम्बई के एक प्रसिद्ध सर्जन ने वृक्करोगपीडित एक बालिका मेरे पास यह कह कर भेजी कि वह डाक्टरी चिकित्सा द्वारा साध्य नही है अतः आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा प्रयत्न करना चाहिए। इस बालिका की आयु लगभग ७ वर्ष की थी। जलोदर और सर्वांगशोथ बहुत बढ चुके थे। मूत्र बहुत कम हो गया था। वह

बालिका आयुर्वेदिक चिकित्सा से स्वस्थ हो गई। सर्जन महोदय बहुत आश्चर्यचकित हुए और पूछने लगे कि 'क्या औषध दिए गए हैं'। एक औषध आरोग्यवर्धनी भी थी जिसमें ताम्र और पारद भी पड़ते हैं। सर्जन महोदय को यह विश्वास कराना कठिन हो गया कि वास्तव में यही औषध निरन्तर खिलाई गई। उनका मस्तिष्क यह स्वीकार ही नही करता था कि स्वर्ण, पारद, ताम्र आदि धातुएं वृक्कों को हानि नही पहुँचातीं और वृक्करोगी को सदा मृत्यु की ओर नहीं ले जातीं।

उनकी समझ में बात तब आई जब उन्हें बताया गया कि रसशास्त्र में इन धातुओं का प्रयोग प्रायः प्रभावकारी द्रव्यों (Catalytic agents) के रूप में होता है और स्वर्ण और पारदयुक्त औषध में से इन धातुओं की पूर्ण मात्रा रोगी के पुरीष में से वापिस निकाली जा सकती है। जब ये धातुएँ वृक्कों अथवा मूत्र द्वारा बाहर निकाली ही नही जातीं तो इनके विषय में वृक्कों को क्षति पहुँचाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

राष्ट्रीय गौरव तथा आत्मसम्मान की दृष्टि से यह परिस्थिति बड़ी संतोषजनक और हर्षप्रद प्रतीत होती है कि भारतीय रसचिकित्सा जिसका आरंभ डेढ़ हजार वर्ष पहले हो चुका है, आज बीसवीं शताब्दी में, जब कि वैज्ञानिक चाँद पर उतरने में सफल होने वाले हैं, रोगनाशक धातुप्रयोग में उच्चतम आधुनिक चिकित्सकों को विस्मय में डाल देती है और इसके सामने उनका औषधगुणधर्म-विज्ञान काम नहीं करता। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक होगा कि रसकर्पूर तथा तत्सम पाँच-सात अन्य फिरंगरोगनाशक प्रयोगों में पारद केवल प्रभावद्वारा कार्य नहीं करता अपितु शरीरधातुओं में मिलकर फिरंग विष को मारता है। इस समूह की औषधों का असावधानी से किया हुआ प्रयोग वृक्कों की वैसी ही हानि कर सकता है जैसी हानि का भय आधुनिक डाक्टरों को इन धातुओं के प्रयोग से रहता है।

सर्वप्रथम कर्नल सर आर० एन० चोपड़ा ने शशकों पर पारदयोग मकरध्वज का प्रयोग करके दिखाया था कि मकरध्वज की पूरी की पूरी मात्रा पुरीष से वापिस निकाली जा सकती है। जिन शशकों को मकरध्वज दिया गया उनकी अन्त्र काट कर यह भी सिद्ध हो गया कि मकरध्वज अन्त्रों में प्रत्येक स्थल पर अविकृत और अपरिवर्त्तित रूप में ही पड़ा रहता है और अन्त में उसी रूप में मल के साथ बाहर आ जाता है। अपने विद्यार्थियों को भी यह औषध खिलाकर उन्होंने वही प्रतिक्रिया देखी कि स्वास्थ्य तथा उत्साह की वृद्धि होती है परन्तु औषध आत्मसात् न होकर पुरीष द्वारा बाहर निकल आती है।

इस प्रकार भारत के प्राचीन वैद्यों ने रसचिकित्सा का निर्माण ऐसे रोगनाशक शस्त्रों द्वारा किया कि भयकर रोगों को अत्यल्पमात्राओं द्वारा नष्ट करते हुए भी किसी प्रकार की शारीरिक हानि होने की संभावना ही नही रहने दी। रसचिकित्सा

के ये दो तथ्य विशिष्ट हैं— १. औषध से किसी अवांछित प्रतिक्रिया का भय नहीं, २. 'भारी' धातु के शरीर से बाहर निकल जाने पर भी औषध का गुण अवश्यंभावी है।

आज के युग में रसचिकित्सा का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है कि आजकल के सुकुमार व्यक्ति चूर्णों और क्वाथों की बड़ी मात्राएँ लेने को तैयार नहीं होते। रस की मात्रा भी अल्प होती है और गुण भी शीघ्र। विश्वसमर्थित और विश्वपोषित डाक्टरी के साथ वर्तमान प्रतियोगिता तथा स्वस्थ संघर्ष में प्रखर वैद्यों को ऊंचा रखने में रसचिकित्सा का ही विशेष प्राधान्य है। उसी रसशास्त्र के एक उत्कृष्ट और उपयोगी ग्रन्थ को सरल टीकाओं द्वारा सुगम बनाकर वैद्यसमाज के आगे प्रस्तुत करके श्री गुलराज जी शर्मा ने उच्चकोटि की सामयिक सेवा की है।

२५।५।६२

शिवशर्मा

प्राक्कथन

यह हर्ष का विषय है कि 'आयुर्वेदप्रकाश' का यह द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत कर रहा हूँ। प्रथम संस्करण मे सस्कृत टीका जितनी उपयुक्त हो सकती थी उसको उससे भी अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया था किन्तु हिन्दी टीका सक्षिप्त ही रही। 'आयुर्वेदप्रकाश' के प्रेमियो और पाठको की ओर से यह सकेत मिलते रहे कि इसकी हिन्दी टीका भी सस्कृत टीका के अनुसार ही विस्तृत और विषय का विशेष स्पष्टीकरण करने वाली हो, तदनुसार ही द्वितीय सस्करण मे उस कमी की पूर्ति कर अपने मित्रो और पाठको की आज्ञा का पालन किया गया है।

यो तो 'आयुर्वेदप्रकाश' रसशास्त्र का सर्वोपरि और सारभूत ग्रन्थ है जिसके प्रमाण मे स्वय ग्रन्थकार श्री माधवोपाध्याय लिखते है कि—

'अधुना रसराजस्य सस्कारान् संप्रचक्ष्महे।
नानातन्त्राणि संदृश्य भिषजा सिद्धिहेतवे ॥'

माधवोपाध्याय रसशास्त्र का दृष्टकर्मा और स्वयकृती विद्वान् था। उसने रसशास्त्र में बहुत परिश्रम कर उसकी सफलता मे कीर्ति अर्जित की थी। उसने अपने बहुकालिक अनुभवों पर से यह सिद्ध पाया था कि रसशास्त्र वह सफल और यशस्वी ज्ञान है जिससे लोक-कल्याण की भावनाओ का भलीभाँति पोषण हो सकता है और जनता के दु:ख दर्दों मे पूर्णत: सहायता दी जा सकती है। इस गंभीर और बलवती भावना से 'आयुर्वेदप्रकाश' का निर्माण करने मे प्रवृत्त हो कर अपनी प्रवृत्ति और कृति की उपादेयता और सार्थकता के प्रमाण में श्री माधवोपाध्याय कहता है कि—'यद्यन्मयाऽक्रियत कारयितु च शक्य सूतेन्द्रकर्म तदिह प्रथयाबभूवे।' अर्थात् 'आयुर्वेदप्रकाश' मे जो कुछ लिखा गया है वह गुरु द्वारा सीख कर उसके अनुसार स्वय बनाकर भलीभाँति जब यह विश्वास कर लिया गया है कि अमुक क्रिया और प्रयोग सर्वप्रकार से उचित है तभी उसको मान्य किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में ऐसी-ऐसी कृति का समावेश नहीं है जो केवल कल्पना या सुनी-सुनाई के आधार पर लिख दी गई हो। अर्थात् पूर्णत: अनुभव के साथ विषय का सकलनीकरण किया गया है। इतना ही नहीं, रसशास्त्रों में जिन कृतियो को देखा और पढ़ा है किन्तु कृति में

सफलता नहीं मिली है या जो कुछ ऐसे द्रव्य हैं जिनका शास्त्र मे उल्लेख तो है किन्तु प्राप्ति में कठिन या दुर्लभ हैं उनको भी यहाँ स्थान नही दिया गया है। तात्पर्य यह है कि 'आयुर्वेदप्रकाश' मे जो कुछ लिखा गया है वह सर्वथा अनुभवपूर्ण और कृतिसाध्य होते हुए सहज और सुलभ है। यह सब विशेषताएँ होते हुए भी 'आयुर्वेदप्रकाश' ऐसा ग्रन्थ है जिसमे जो कुछ कहा गया है वह अन्य किसी भी ग्रन्थ में मिलना कठिन है, किन्तु अन्य ग्रन्थो में जो सिद्धान्त और क्रियाएँ हैं वे सब इस ग्रन्थ मे हैं। अत यह एक ही ग्रन्थ ऐसा है जो सर्वोपरि और सारभूत है। प्रत्येक विद्वान्, चिकित्सक और संशोधक के लिए जितना उपयोगी है उतना ही छात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषताओं के अनुसार ही उसकी सस्कृत और हिन्दी टीकाओं का भी निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ मे जिस-जिस क्रिया का उल्लेख आया है उसमें यदि किसी प्रकार की पूर्ति की या उसको साध्य करने के लिए किसी साधन के स्वरूप के ज्ञान की अथवा उसकी कृति की अपूर्णता या उसके विवेचन की अपेक्षा रही है तो टीकाओं में अन्य तन्त्रो के आधार पर उस विषय को सज्ज बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार जितने द्रव्यो का इस ग्रन्थ में उल्लेख है उनका पूर्णत वैज्ञानिक दृष्टि से और गुणसमुच्चयात्मक भावना से सस्कृत और हिन्दी दोनों टीकाओ मे विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। साथ ही यह भी विशेषता है कि संस्कृत टीका और हिन्दी टीका इन दोनों की अपनी विशेष स्थिति है। सस्कृत टीका का अनुकरण हिन्दी टीका नही है। संस्कृत टीका मे मूल श्लोक की व्याख्या के साथ ही मूल मे जो जो विषय आया है उसका रसशास्त्रो के विशेष प्रमाणो द्वारा विशेष स्पष्टीकरण किया गया है जिससे विषय का स्पष्टीकरण तो हो ही गया है किन्तु साथ ही उस-उस विषय के प्रमाण भी रसशास्त्रो द्वारा एकत्र सगृहीत हो गये हैं जो अनायास ही प्राप्त हैं। इसी प्रकार सस्कृत टीका मे उन सभी बातों का परिचय करा दिया गया है जो हर समय व्यवहारोपयोगी या परीक्षोपयोगी है। जैसे—मन्त्र, मूषा, भावना, खल्व, तप्तखल्व, गजपुट, भ्राष्ट्री आदि समस्त रसविषयक साहित्य का सग्रह किया गया है। इसी प्रकार हिन्दी टीका में भी मूल विषय के स्पष्टीकरणार्थ 'वक्तव्य' में गूढ़ विषयका भलीभाँति सप्रमाण विशद विवरण दिया गया है। इन सब विशेषताओ के साथ यह ग्रन्थ ऐसा उपयोगी हो गया है कि केवल एक मात्र इसके अध्ययन से रसशास्त्र-विषयक ज्ञान के लिए अन्य किसी ग्रन्थ की अपेक्षा नही रहती है। 'मूल अनुक्रमणिका' के साथ ही साथ टीकागत विषयसूची भी लगा दी गई है ताकि टीका में आये हुए विषयों का सहज बोध हो सके।

टीका की आवश्यकता

'आयुर्वेदप्रकाश' की विशेपता को ध्यान में रखते हुए ही स्वर्गीय पूज्य यादवजी महाराज ने आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के एकादश पुष्प के रूप में इसे संशोधित और संपादित कर प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ विद्वानों और विद्यार्थियों ने बहुत ही उपयुक्त समझा जिसके कारण उसके मूल रूप मे ही दो सस्करण प्रकाशित हुए किन्तु ग्रन्थगत विपय की प्रौढता और क्रियाज्ञान की कठिनता सब के लिए दुरूह ही प्रतीत होती रही, ऐसा दशा मे पूज्य यादवजी महाराज ने और मेरे गुरुवर्य पूज्य पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी जी ने मुझे यह आदेश दिया कि तुम इस पर टीका लिखकर ग्रन्थ के विपय को सुस्पष्ट करो। वस, उन दोनों महापुरुपों की आज्ञा का ही यह सुपरिणाम है और टीका मे जो कुछ भी अच्छाई या उपयोगिता है वह भी उन गुरुजनों का ही प्रसाद और आशीर्वाद है।

धन्यवाद

प्रथम संस्करण के प्रकाशन मे श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय नागपुर ने सहयोग दिया था किन्तु उसकी विक्री कार्य मे चौखम्वा संस्कृत सीरीज वाराणसी ने पूर्ण हाथ वॅटाया। जब वह संस्करण समाप्त होने मे आया तव चौखम्वा के सत्त्वाधिकारी श्रीमान् वावू कृष्णदास जी गुप्त ने मुझे लिखा कि आप 'आयुर्वेदप्रकाश' पर विशेष हिन्दी करके दे तो यह पुस्तक और अधिक उपयोगी हो सकती है। तदनुसार ही मैने इस द्वितीय संस्करण की हिन्दी टीका मे विशेप परिश्रम कर इसे आप सवके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस विपय में श्रीमान् बावू कृष्णदास जी गुप्त ही धन्यवाद के पात्र है क्योंकि उन्ही की प्रेरणा से यह कार्य किया गया और उन्होंने ही अतिशीघ्र प्रकाशित कर इसे सपन्न किया।

प्रस्तुत सस्करण पूर्ण होने तक मै इस चिन्ता मे था कि इस पर भूमिका किसी ऐसे अधिकारी विद्वान् की हो जिसके नामाकन से मेरी और ग्रन्थ की दोनों की ही अधिक गुरुता हो। ये विचार जैसे ही मन में उठे उसी समय आयुर्वेद के मूर्धन्य, आयुर्वेदचक्रवर्ती, वैद्यरत्न प० शिवशर्मा जी आयुर्वेदाचार्य, वम्बई पर दृष्टि गई। विचार करते ही उनसे पत्र द्वारा प्रार्थना की और उन्होने सहर्प तत्काल भूमिका लिखकर भेज दी। उनकी इस सुजनता, उदारता और शास्त्र के प्रति अगाध श्रद्धा के लिए मै उनका अहर्निश कृतज्ञ हूँ। वैद्यरत्न प० शिवशर्मा जी के नाम से कौन ऐसा विद्वान् होगा जो परिचित न हो, जिनकी यशोधवलिमा ने भारत ही नहीं लका तक को आलोकित कर दिया

है। लंका शासन की माँग पर कोलम्बोफण्ड की ओर से भारतीय-शासन ने आयुर्वेद-विशेषज्ञ के रूप में आप ही को लंका भेजकर सम्मान प्रदान किया। आज भी लंका का शासन आयुर्वेद के विषय में पं० शिवशर्मा जी का ही पूर्ण संकेत स्वीकार करता है। भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने लंका में आयुर्वेदीय संशोधन केन्द्र का उद्घाटन करने की लंका-शासन को स्वीकृति जो दी है उसका श्रेय आप को ही है। निकट भविष्य में ही यह शुभ कार्य होने जा रहा है। ऐसे महान् विद्वान् द्वारा लिखित भूमिका अपना प्रधान महत्त्व रखती है जो हमें प्राप्त है। इसके लिए मैं पंडितजी को पुनरपि धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

टीकाओं के लिखने में मुझे अनेक टीका-ग्रन्थों और मूल ग्रन्थों तथा विशिष्ट विद्वानों, एवं अनेक सहयोगियों का पूर्ण सौहार्द और सहायता मिली है। उनका भी मैं आभारी हूँ। सच बात तो यह है कि इस ग्रन्थ के सच्चे मार्गदर्शक वे ही हैं, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन का भार जिस प्रकार चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ने लिया उसी प्रकार उनके प्रूफ आदि संशोधित करके कार्य करने का भार भी ग्रहण किया, तभी कार्य संपादन में शीघ्रता हो सकी। इस सहायता के लिए मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ।

अब मैं अपने प्रिय पाठक विद्वानों से निवेदन करता हूँ कि वे 'नीरक्षीर-विवेकी' न्याय के अनुसार इस कार्य को स्वीकार करें।

१ जून ६२
नई शुक्रवारी, नागपुर

श्री गुलराजशर्मा मिश्र

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

'रसवैद्यो भवेच्छ्रेष्ठो मध्यमो मूलिकादिभि ।
अधम शस्त्रदाहाभ्या सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिक ॥'

उपर्युक्त प्राचीनोक्ति से आयुर्वेदीय-चिकित्सा विषय में रसचिकित्सा सदैव मूर्धन्य रही है और रहेगी। 'एकोऽसौ रसराज शरीरमजरामर कुरुते।' इस बात का कई रससेवियो को देखने पर दृक्प्रत्यय भी होता है। किन्तु साथ ही रसचिकित्सा जितनी अधिक चमत्कारिणी है, उतनी ही अधिक कठिन भी है। इस कठिनाई का अनुभव करके ही कई रसाचार्यों ने रसकामधेनु, रसमङ्गल, रसावतार, रसराजलक्ष्मी, रसप्रकाश-सुधाकर, रसेन्द्रचिन्तामणि, रसप्रदीप, रससकेतकलिका, रसरत्नसमुच्चय, आयुर्वेद-प्रकाश आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें कई अधिक विस्तृत हैं तो कई अति सक्षिप्त। इन सब मे माधवोपाध्यायरचित 'आयुर्वेदप्रकाश' ही ऐसा है जो न तो अधिक विस्तृत है और न सक्षिप्त है। इतना ही नही, 'कर्म यद्यदसाध्य स्याद् दुर्लभ यद्यदौषधम्। तत्तत्सर्व परित्यज्य सारभूत प्रकाशितम् ॥' [इस ग्रन्थ में रससाधनामार्ग अपने अनुभूत प्रयोगों द्वारा तथा उन द्रव्यों द्वारा स्पष्ट बताया गया है जो सर्वत्र सुलभ हैं।] अपनी इस युक्ति के अनुसार रसवैद्य के लिए ग्रन्थकार ने बडे उपकार का काम किया है। इस वैशिष्ट्य के कारण ही अन्य ग्रन्थों को छोड़ लोग इसे पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। निखिलभारतीय आयुर्वेद-विद्यापीठ ने भी इसी लिए विशारद तथा आचार्य जैसी परीक्षाओं में 'आयुर्वेदप्रकाश' को पाठ्यग्रन्थ रखा है। मेरे परमश्रद्धेय मित्र आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्यराज श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य (बम्बई) सम्पादित आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला मे सशोधित होकर यह ग्रन्थ एकादशपुष्परूपेण मूल प्रकाशित हुआ और इसके दो सस्करण भी हो चुके परन्तु अद्यावधि इसकी ऐसी कोई टीका नही मिली जो विद्वान् वैद्यों एव छात्रों के लिए उपयुक्त हो। एक दो टीकाए निकली भी हैं परन्तु वे सतोषप्रद नही हैं। एतदर्थ मैने अपने प्रिय होनहार

शिष्य श्रीगुलराजशर्मा मिश्र आयुर्वेदाचार्य से कहा। अतिसम्मानपूर्वक गुर्वाज्ञा को शिरोधार्य कर उसने यावच्छक्य शीघ्र ही संस्कृत एवं साथ ही संक्षिप्त में हिन्दी टीका भी तैयार कर दी है। लेखक के उत्साहवर्धनार्थ श्रीधन्वन्तरि-आयुर्वेद-महाविद्यालय की प्रबन्धकारिणी समिति ने उसके छपाने का प्रबन्ध अपने व्यय से कर दिया।

गुरु-शिष्य नाते के कारण मैं विशेष कहना नहीं चाहता कि टीका कैसी बनी है। इसका अनुभव तो विद्वान् वैद्य एवं छात्र ही करेंगे। हाँ, मैं इतना अवश्य कहूँगा कि टीका बड़े परिश्रमपूर्वक लिखी गई है। विषय के स्पष्टीकरणार्थ नाना ग्रन्थों के उद्धरण दिए गए हैं। आशा है, इससे रसशास्त्रप्रेमियों को अवश्य सन्तोष होगा।

ग्रन्थकार माधवोपाध्याय का जन्म सोरठ (सौराष्ट्र) देश में सारस्वत ब्राह्मणकुल में हुआ था और काशीनिवास के समय में उन्होंने आयुर्वेद-प्रकाश की रचना की थी। यह उनके ही लिखे ग्रन्थसमाप्तिवाक्य (इत्यायुर्वेदप्रकाशे श्रीमदुपाध्यायसारस्वतकुलावतंसकाशीनिवासिश्रीमाधवविरचिते) से निश्चय होता है। खिष्टीय सप्तदश शताब्दी में उनके अस्तित्व का अनुमान होता है, इसलिए कि उनके इस ग्रन्थ में खिष्ट संवत् १६०० में बने भावप्रकाश का उल्लेख है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त माधवोपाध्यायरचित 'पाकावलि' ग्रन्थ भी मुद्रित उपलब्ध होता है। इससे अधिक वृत्तान्त ग्रन्थकार के विषय में नहीं मिलता।

श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय
नागपुर १।१।१९४३

श्री गोवर्धनशर्मा छांगाणी आचार्य

आयुर्वेदप्रकाशान्तर्गत-अकारादिविषयानुक्रमणिका





टीकागत-विषयसूची

॥ श्रीः ॥

आयुर्वेदप्रकाशः

अर्थविद्योतिनी-सुस्पष्टार्थप्रकाशिनी-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतः



प्रथमोऽध्यायः

गणेशाय नमस्तस्मै मनोवाञ्छितसिद्धये ।
शुष्यन्ति ध्यानमात्रेण यस्य प्रत्यूहवार्धयः ॥ १ ॥
सोमसाधरमाधीशं शङ्करं लोकशङ्करम् ।
वन्दे रुजामकूपारपारदं चैव पारदम् ॥ २ ॥
रससिद्धान्नुमो विद्यावयोवृद्धांस्तथैव च ।
समये समये प्रेम्णा रसमार्गप्रदर्शकान् ॥ ३ ॥
व्याकरणं मुदापाठ्य स्वज्ञानोद्धरणं व्यधात् ।
शिष्यवर्गैकशरणं श्रीकालीचरणं नुमः ॥ ४ ॥

सच्चित्तोऽतिथिलोकपालनविधौ निर्व्याजदानद्रुम-
श्चञ्चत्कीर्तिभवामयैकहननो निश्शेषजाड्यापहः ।
प्रज्ञासौख्ययशोदयान्विततनुर्यो लीलया लब्धवान्
केदारः शरणं दयावतरणं स्यात्सविभूत्यास्पदम् ॥ ५ ॥
वादिव्रातनगेन्द्रभेदनपविर्विद्यारविः सत्कवि-
र्नित्यं शास्त्रसमुद्रमन्थनपरो दीने दयासागरः ।
विद्वद्वैद्यसमर्चिताङ्घ्रियुगलः पीयूषपाणिर्वटू-
नायुर्वेदपटून् करोति नियतं संपाठ्य यः सद्गुरुः ॥ ६ ॥
पुष्करणाद्विजपुङ्गवो मरुजनश्लाघाग्रणिवंशोद्भवो-
गोसेवानिरतो वहत्यनुगुणां गोवर्धनाख्यां कृती ।
ख्यातो नागपुरे वसन्नतितरां वर्षे तथा भारते
प्राणाचार्यपदाङ्कितो विजयते श्रीमान् भिषक्-केसरी ॥ ७ ॥
तच्छिष्येषु विशिष्टबोधनिवहः प्राप्तप्रतिष्ठो भिषग्
गोरीराभिजनो वसन्नहिपुरे सम्प्राप्तभाग्योदयः ।
आचार्यो गुलराजमिश्रविबुधष्टीकां तु संगुम्फति
नानातन्त्रसमाकलय्य गुरुतः प्राप्तार्थविद्योतिनीम् ॥ ८ ॥

---

१ राजस्थानीयजयपुरराज्यान्तर्गतसेतटीसमीपस्थ 'गोरीर'ग्रामवास्तव्यः । २ नागपुरे ।

तथा नरगिरा टीका सुस्पष्टार्थप्रकाशिनी ।
सन्दिग्धविषयाबोधा रचिताऽत्र परा ह्यपि ॥ ९ ॥
आयुर्वेदप्रकाशस्य टीकाभ्यां कृतिनो मुदा ।
समादधतु विद्वांस क्रिमन्यैश्छिद्रतत्परैः ॥ १० ॥
क्व रसशास्त्रगाम्भीर्यं क्व चाल्पविषया मतिः ।
मदीयेति विचार्यैव पठन्तु गुणिनो जनाः ॥ ११ ॥

सुविदितमेव सर्वेषां यदिह खलु भगवत श्रीजगत्पतेर्जगति धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्भद्रापादनसाधनभूतमेकमेवास्ति मनुष्यशरीरमिति । यथा च श्रीमद्गोविन्दभगवत्पादाः— 'आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम् । श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम् ॥' इत्यादिपद्यैरखिलपुरुषार्थसाधनतया स्मृतप्रस्तुतदेहस्य यथावच्चेष्टितकामावधिसंवर्तनाय तदपहर्तॄणामनेकविधरोगाणां निवर्तनाय चानुष्ठेयः कश्चनोपायः । तेष्वपि रसचिकित्सैव सर्वतः प्रधानतमा—'रसवैद्यः स्मृतो देवो मानुषो मूलिकादिभिः । अधमः शस्त्रदाहाभ्यामित्थं वैद्यस्त्रिधा मतः ।' इत्येवं रसवैद्यविद्यावतां देवचिकित्सकसमचिकित्सकानां बहुमहत्त्वमधिगम्य रसमाधवापरपर्यायेण प्रारभ्यमाणायुर्वेदप्रकाशग्रन्थेन तामेव चिकित्सां 'वक्तुकामो रसविद्याभिरामो माधवोपाध्यायो नाम कश्चित्सुधीः' 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये वा ग्रन्थान्ते च पुनः पुनः ।' इत्यादि शिष्टाचारपरम्परापरिप्राप्तं स्वचिकीर्षितप्रबन्धस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामनया 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम् ।' इत्यादीनामन्यतमं परमपितुः परमात्मनोऽभिवादनात्मकं स्वेष्टदेवतास्मरणरूपं मङ्गलमाचरति—

अर्थप्रकाशकासार-विमर्शाम्बुजिनीमयम् ।
सच्चिदानन्दविभवं शिवयोर्वपुराश्रये ॥ १ ॥

अर्थेत्यादि । अर्थाः-ग्रन्थप्रतिपाद्या रसशोधनमारणादयो विषयास्तेषां यः प्रकाशः पुरः स्फुरणं ज्ञानम्, सम्मुखस्थितवस्तुनो यथा बोधो भवति तथा, स एव कासारः सरस्तडागः । 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः । तत्रार्थस्य प्रकाशोऽर्थप्रकाशः, अर्थप्रकाशश्चासौ कासारश्चार्थप्रकाशकासारस्तस्मिन् यो विमर्शः—युक्तिप्रमाणाभ्यां पुरः प्रतिभासमानस्य पदार्थस्य तत्त्वपरीक्षणरूपो विचारः स एवाम्बुजिनी कमलिनी, इत्येतद् द्वयमयं वपुर्देहस्तस्य विशेषणम् । सच्चिदानन्दविभवम्—सत्त्वेन सत्त्वगुणेन निभाल्यमानश्चैतन्यबहुलश्च यः आनन्दः-आह्लादः स एव विभवः- ऐश्वर्यं यत्र तादृशं शिवयोः-शिवा च शिवश्च शिवौ तयोः पार्वतीपरमेश्वरयोर्वपुः-शरीरमाश्रये स्वाभीष्टसिद्धये भजे । अनेन ज्ञायतेऽत्र ग्रन्थकर्तुरभिप्रायो यत्सकलचराचरप्रभवकारणस्य सर्वत्र भूम्ना स्थितस्य विश्वरूपस्योमासहितस्य भगवतः शिवस्य यद्यप्यनेकविधानि वर्तन्ते ध्यातव्यानि रूपाणि तथापि स्वचेतसि तयोः प्रकाशविमर्शतयैवावस्थितिरभूत् प्रकाशे कासारारोपहेतुको विमर्शेऽम्बुजिन्यारोप इति परस्पररूपकेण च नित्यमिलितयोः कासाराम्बुजिन्योरिव प्रकाशविमर्शरूपयोस्तयोरपि अव्यभिचारित्वं सातिशयं द्योतमानत्वं च सूचितम् । प्रसिद्धमेवैतत् यत् सर्वतः प्राक् प्रत्येकस्य वस्तुनो वस्तुतः सामान्येन ज्ञानं सम्पद्यते तदनु विमर्शे कृते सति तस्यैव सविशेषं रूपं स्वयं बुद्धौ निहितं भवतीति । तेनेदमपि ज्ञायते यद् ग्रन्थोक्तविषयाणामध्ययनाध्यापनाभ्यां प्रथमं तावत्स्वल्पमेव ज्ञानार्जनं भवति किन्तु तत्तत्प्रयोगाणां कर्तृत्वभावेन निर्विशेषतया सविशेषपरीक्षणे सति याथातथ्येन भवति साधु फलम् । इति प्रबन्धस्यास्योपादेयता प्रतिपाद्यते ।

अत्राशङ्कते—ननु कथमन्यान् देवान् विहाय शिवयोर्वपुराश्रय इत्येव । रसशास्त्रस्यादिप्रवर्तकः शिव एव । यथा च वेदे—'प्रथमो दैव्यो भिषक्' इति । तथैव रसस्य यच्छास्त्र तदेव रसशास्त्रम् । रसोऽप्यत्र सम्भोगानन्दप्रवृत्ताच्छिववादेव समुत्पन्न । यथाह वाग्भटः—'शैलेऽस्मिन् शिवयो प्रीत्या परस्परजिगीषया' इति। एवमेव कल्याणकरोऽपि शिवशब्द एव तस्मात् सर्वत प्राक् शिव एव स्मरणीयो भवतीति भाव । क्वचित् पुस्तके 'अथ प्रकाशकासार' इति पाठभेदः । तत्राथशब्दस्य मङ्गलार्थवाचित्व न त्वानन्तर्यमिति ध्वन्यते। यथा—'प्रशब्दश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ यतो माङ्गलिकावुभौ ।' यद्वा प्रकाशक —प्रद्योतकः असारस्य खलु जगतो यो विभवः-ऐश्वर्यमेवभूतमम्बुजिनीमय वपु , शिवस्य वपुष प्रकाशो ज्योत्स्ना जगतोऽज्ञानखण्डकत्वमिति द्योतयति ॥ १ ॥

रसविषयों का प्रकाश स्वरूप ही है जो सरोवर और नाना विचार विनिमयात्मक कमलमय तथा सत्, चित् और आनन्द ही है ऐश्वर्य जिसका उस शिव-पार्वती के शरीर की वन्दना करता हूं॥

वक्तव्य—ऊपर संस्कृत टीका में यह स्पष्ट किया है कि भगवान् शिव ही यहाँ वन्दनीय क्यों माने गये हैं। यह स्वाभाविक और व्यावहारिक है कि जो जिस विषय का विशेषज्ञ, संशोधक और उद्धारकर्ता होता है उसकी ही वन्दना होती है। भगवान् शिव ने रसशास्त्र को जन्म दिया इतना ही नहीं अपितु रसशास्त्र के एकमेव प्रधान द्रव्य पारद की उत्पत्ति के हेतु भी भगवान् शिव ही हैं। जब संसार दीनता और रोगों से एकदम विकल था, त्राण का कोई मार्ग नहीं था, सर्वत्र क्रन्दन और हाहाकार का साम्राज्य था, उस दृश्य को देखकर भगवान् शिव और शिवा दोनों के हृदय करुणा और अहैतुकी प्रेम से द्रवित हो गये, उस समय हृदय में स्थित करुणारूपी रस की निर्झरणी का बाँध टूट गया और प्रजा के आरोग्य और सुख के क्षणों का उद्गम स्रोत बह चला। जैसे कि—'हृदयस्यैव गलित्वा जाता रसरूपिणी करुणा।' तब से 'रसशास्त्र के आदि प्रवर्तक और उन्नायक भगवान् शिव ही है' यह माना जाता है। अतः उनकी वन्दना न केवल ग्रन्थकार के लिए ही सीमित है किन्तु आरोग्य, सम्पन्नता और जीवन के क्षणों की सार्थकता के लिए जो चिन्तन और विचारों की श्रृंखला निगडित होती है उसके मूलभूत हेतु भगवान् शिव ही हैं। उनके स्वरूप का वर्णन इस शास्त्र के अकाट्य सम्बन्ध को उपस्थित करता है। जैसे कि—'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्। सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि॥' यह उपर्युक्त पद्य रसशास्त्र के एकमात्र प्रधान द्रव्य पारद के स्वरूप का निर्देश करता है। कपूर के समान श्वेत, दया के अवतार, संसार के एकमात्र सार और भुजगेन्द्रहार वाले जो सदा ही हृदय में स्थित रहते हैं। अर्थात् पारद श्वेत है जैसे—'सुनीलो बहिरुज्ज्वलो यः' इत्यादि। दया का अवतार है जैसे—'मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति। अमरीकरोति सुमृत कोऽन्यः करुणाकरस्तस्मात्॥' संसार के एकमात्र सार जैसे—'एकोऽसौ रसराज शरीरमजरामरं कुरुते'। भुजगेन्द्र हार वाले हैं जिसमें नाग और वङ्ग के दो अटूट बन्धन हैं। अर्थात् भुजगेन्द्रहार कहने से प्राप्ति में भय, मलिनता और वर्चस्व का ध्यान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पारद का स्वरूप भगवान् शिव और पार्वती का है अतः उस पार्वती परमेश्वर की वन्दना करना ही उचित होता है।

आगे के पद्य में शिव और पार्वती के पुत्र गणेशजी अर्थात् पारद और गन्धकजन्य मकरध्वज अथवा हरगौरी रसात्मक गणेशजी की वन्दना की जाती है—

देवेन्द्रमौलिमन्दारमकरन्दकणारुणाः । विघ्नं हरन्तु हेरम्बचरणाम्बुजरेणवः ॥

अथ ग्रन्थकारो निर्विघ्नतार्थं गणपतिमपि स्तौति—देवेन्द्रेत्यादि। देवानामिन्द्रो देवेन्द्र-

स्तस्य मौलौ किरीटे ये मन्दाराः पारिजातकुसुमास्तेषां मकरन्दः पुष्परजस्तस्य ये कणास्तैररुणाः लोहितीभूता ईषद्रक्ता इत्यर्थः। हेरम्बस्य-गजाननस्य चरणौ एवाम्बुजे तयोश्चरणकमलयोः रेणवः-चरणधूल्यो विघ्नं हरन्तु । अर्थात् देवेन्द्रमौलिकुसुममकरन्दकणैः लोहितीभूता हेरम्बचरणाम्बुजरेणवो विघ्नं दूरतः अपसारयन्तु, सर्वतो मंगलमेवादधतु, इति भावः ॥ २ ॥

देवेन्द्र के मुकुट में लगे हुए पारिजात-पुष्प के परागकणों से लाल हुई गणपति के चरणों की रज विघ्न को दूर करे ॥ २ ॥

वक्तव्य—देव अर्थात् रस और उपरस इनका नियन्ता इन्द्र पारद जो कि सब के प्रभाव को सीमित और उत्कृष्ट बनाता है अथवा उन सबों के सहयोग एवं संस्कारों से स्वयं प्रभावशाली बनता है, इसलिए ही वह देवेन्द्र संज्ञा को प्राप्त होता है। ऐसे देवेन्द्र-स्वरूप पारद के मुकुट अर्थात् जिनके सर्वोपरि सम्बन्ध से पारद का मस्तक सुशोभित होता है उसकी कीर्ति और यश को सौ चाँद लग जाते हैं। वह 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' समर्थ होता है। उसके सामर्थ्य में पारिजात के गुणों और शक्तियों का दिग्दर्शन मिलता है, ऐसी अवस्था में गन्धक के सहयोग से मकरध्वज और हरगौरीरसरूपी पुष्प का जब उसमें प्रादुर्भाव होता है तब उसका स्वरूप पुष्प के आकार का और रक्तकणों का समुदायात्मक होता है। शीशी के गले में संचित होकर तयार होता है तब उसका विकसित फूल के समान आकार बनता है। उस पुष्प परागकणों की ललाईरूपी चरणरज का जो प्राणी सेवन करता है उसके आधि और व्याधिरूपी समस्त विघ्नों का नाश हो जाता है और वह आरोग्यता के साथ जीवन के चरमोद्देश को पूर्ण करने में सफल होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि रसात्मक पारद यह शिव का वीर्य है और उपरसात्मक गन्धक यह भगवती पार्वती का रज है, इन दोनों के संयोग से मकरध्वज और हरगौरीरस का निर्माण होता है, जिस प्रकार भगवान् शिव और गिरिजा उमा के वीर्य और रज के संयोग से मंगलदाता गणेशजी का जन्म होता है। भगवान् गणपति के चरणरजों की ललाई विघ्नों को नष्ट कर सर्वत्र मंगलकर होती है उसी प्रकार मकरध्वज और हरगौरीरस की रक्तवर्णी रज (लाल) कणात्मक पिष्टि संसार के समस्त प्राणिमात्र के दुःख-दर्दों को नष्ट कर मंगलप्रद होती है।

अधुना रसराजस्य संस्कारान् संप्रचक्ष्महे।
नानातन्त्राणि संदृश्य भिषजां सिद्धिहेतवे ॥ ३ ॥

इदानीमुद्देशसंगतिं प्रद्योतयन् रसराजसंस्कारान् प्रतिजानीते—अधुनेत्यादि। अधुना रसराजस्य-पारदस्य। 'रसोपरसराजत्वाद्रसराज इति स्मृतः।' इति रसरत्नसमुच्चये। रसास्तु 'अभ्रवैक्रान्तमाक्षीक-विमलाद्रिजसस्यकम्। चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाऽष्टौ संग्रहेद्रसान् ॥' इति। उपरसाश्च-'गन्धाश्मगैरिकासीसकाङ्क्षीतालशिलाञ्जनम्। कङ्कुष्ठं चेत्युपरसाश्चाष्टौ पारदकर्मणि।' इति। (र० र० स०) संस्कारान्-स्वेदनमर्दनमूर्च्छनादीन्, अष्टादशसंख्याकान्, ऊनविंशतिसंख्यकान्, अष्टसंख्याकान् वा वयं संप्रचक्ष्महे-कथयिष्यामः। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति पाणिनिः। किं कृत्वा नानातन्त्राणि महर्षिभिः प्रणीता अनेकविधा ग्रन्थास्तान् संदृश्य। रसशास्त्रप्रवर्तका महर्षयश्च। यथा रसरत्नसमुच्चये-'आदिमश्चन्द्रसेनश्च लङ्केशश्च विशारदः। कपाली मत्तमाण्डव्यो भास्करः शूरसेनकः। रत्नकोषश्च शम्भुश्च सात्त्विको नरवाहनः। इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलिर्व्याडिरेव च ॥ नागार्जुनः सुरानन्दो नागबोधी यशोधनः। खण्डः कापालिको ब्रह्मा गोविन्दो

लम्पको हरिः। रसाङ्कुशो भैरवश्च नन्दी स्वच्छन्दभैरवः। मन्थानभैरवश्चैव काकचण्डीश्वरस्तथा। वासुदेव ऋषिश्रृङ्ग क्रियातन्त्रसमुच्चयी। रसेन्द्रतिलको योगी भालुकी मैथिलाह्वय। महादेवो नरेन्द्रश्च रत्नाकरहरीश्वरौ॥' इति।

एतेषामन्येषा च तन्त्राणि विचार्य भिषजा वैद्यानां सिद्धिहेतवे रुग्जालजटिलसम्प्राप्तावस्थाय रोगिणे आरोग्यप्रदानेन सिद्धिस्स्यात् भिषजामिति। तत्साधनाय पारदसंस्कारान् व्याचक्ष्महे इति प्रतिज्ञप्ति स्वप्रबन्धप्रवृत्तिविधानाय ग्रन्थकार। चरकाद्यन्यतन्त्रेषु सत्स्वपि कथमनेनैव सिद्धिरित्याह–'साध्येषु भेषजं सर्वमीरित तत्त्ववेदिना। असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽत श्रेष्ठ उच्यते।' इत्यादि॥ ३॥

अब वैद्यों की सिद्धि के लिए अनेक तन्त्रों को देखकर पारे के संस्कारों को कहते हैं॥ ३॥

वक्तव्य—चिकित्सकों की चिकित्सा-सम्बन्धी सफलता को ध्यान में रख कर ही ग्रन्थकार कहता है कि अब मैं रसराज के उन समस्त संस्कारों को जो स्वेदन, मर्दन आदि अट्ठारह, उन्नीस अथवा आठ प्रकार के हैं। जिनको विभिन्न तन्त्रकारों ने अपने २ तन्त्रों में कहा है, उनको कहूंगा। रसराज संज्ञा पारद को जो दी गई है वह इस लिये है कि अभ्रक, वैक्रान्त, सुवर्णमाक्षिक, विमल, शिलाजतु, सस्यक, चपल और रसक ये आठ रस और गन्धक, गैरिक, कासीस, काक्षी, हरिताल, मैनशिल, अजन और कंकुष्ठ ये आठ उपरस हैं। इन सबोंसे श्रेष्ठ पारद होता है इस लिए ही उसे 'रसराज' कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पारद के विना रोगनाशक औषधों में वह प्रभाव और स्थिरता नहीं आती है जो चिकित्सा-क्षेत्र में सर्वथा अनिवार्य होती है। रोगनाशक औषध के साथ पारद का संयोग कर देने से वह औषध प्राणिमात्र के रोगों को हरण करने में प्रभावी होती है। जैसे कि—**यस्य रोगस्य यो योगस्तेनैव सह दापयेत्। रसेन्द्रो हरते रोगान्नरकुंजरवाजिनाम्॥** (रसमंजरी)। पारद का यह भी महत्त्व है कि उसके विना अर्थात् पारद के उपयोग के अभाव में संहिताओं का क्रम ही अपूर्ण होता है। उस-उस अङ्ग की शान्ति के उपायों का सर्वप्रकार से अभाव प्रतीत होता है किन्तु पारद के संयोग से उस अभाव का सर्वथा नाश हो जाता है। जैसे कि—**'रसभस्म विना यत्र कथ्यते संहिताक्रम। अनुक्तमपि विज्ञेयं तत्र तत्राङ्गशान्तये॥'** पारद के संस्कारों की आवश्यकता का प्रधान हेतु ही यह है कि उसके विना सर्वत्र सिद्धि मिलना असम्भव है अत सिद्धि के लिए रस-संस्कारों का ज्ञान अनिवार्य रूप से नितान्त आवश्यक है। शास्त्रकारों ने सामान्यतया व्याधियों का उल्लेख दो प्रकार से किया है। एक कर्मज व्याधि और दूसरी दोषज। कर्मज व्याधि के परिहारार्थ बलि, होम, विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त और सत्कर्मों का आचरण बताया है और दोषज के लिए तत्तद् दोषहर औषध का सेवन। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार की व्याधियों का नाश एक ही प्रकार से हो सके ऐसा कहीं नहीं मिलता है किन्तु पारद में यह अलौकिक शक्ति है कि वह दोनों प्रकार की व्याधियों पर एक समान और अचूक प्रभावी होता है। जैसे कि—**'आजन्मपापकृतनिर्दहनैकवह्निर्दारिद्र्यदु खगजवारणसिंहरूप।'** (रसरत्नाकर)

पारद की श्रेष्ठता चिकित्सा क्षेत्र में कितनी महत्त्वपूर्ण है यह सर्वोपरि विदित है। रस-चिकित्सक को कथंचित् गूढ़लिंग व्याधि का भी मुकाबला हो जाता है तो उसे परेशानी का उतना अवसर उपस्थित नहीं होता है जितना कि इतर चिकित्सकों के लिए व्यामोहकर होता है। जहाँ पर न दोषों का सम्यक् ज्ञान होता है, न रोग का, न रोगी के मल, मूत्र अथवा अंग-प्रत्यंग के ज्ञान से किसी प्रकार का परिचिति होती है, न देश का ज्ञान है और न काल ही का पूर्ण अवबोध है फिर भी रस चिकित्सक रोग और रोगी को भला चंगा करने में सहज सफल होता है। इतना

ही नहीं, अपि तु रसचिकित्सा असाध्य प्राय रोगों में भी कार्यकारा सिद्ध होती है। जैसे कि—
**'न दोषाणा न रोगाणा न पुंसश्च परीक्षणम्। न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥
असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽत श्रेष्ठ उच्यते।'** (र० स०)

आयुर्वेद-प्रकाश यह रसशास्त्र का सर्वाद्य ग्रन्थ नहीं है और न बहुत ही प्राचीन है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के मध्य का है। इससे प्रथम रसशास्त्र पर अनेकों ग्रन्थ निर्मित हो चुके है। यही कारण है कि ग्रथकार अपने वक्ष्यमाण विषय को **'नाना तन्त्राणि सदृश्य'** कह कर आगम-सिद्ध प्रतिपादित कर रहा है। पारद के विषय में 'आयुर्वेदप्रकाश' कार ने जितना लिखा है अन्यत्र अप्राप्य है। इस विषय को स्वय ग्रन्थकार ११-१२ वें श्लोक में स्वीकार करता है। इसके आगे के श्लोक में भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और परोपकारिता को प्रगट करता है।

**संस्काराः परतन्त्रेषु ये गूढाः सिद्धसूचिताः।
तानेव प्रकटीकर्तुमुद्यमं किल कुर्महे॥ ४॥**

अथ स्वकीयग्रन्थस्य प्रामाणिकतां परोपकारितां च दर्शयति—संस्कारा इत्यादि। परतन्त्रेषु–अन्येषां रसशास्त्राचार्याणां ग्रन्थेषु, गूढा –गुप्तरूपेण प्रतिपादिताः, अनधिकारि जनकरे पतितानामेषां दुरुपयोगो माभूदिति हेतो, किन्तु सिद्धसूचिता'–सिद्धै सिद्धसम्प्रदायाचार्यैर्नित्यनाथादिभिर्निस्सीमदयया समुपदिष्टा, क्वचित पुस्तके 'सिद्धिसूचिता' इति पाठभेदस्तत्र तु रोगपरिहरणादिसिद्धिदर्शनेन उल्लिखिता इत्यर्थ। एवम्भूता ये संस्कारा सन्ति तानेव प्रकटीकर्त्तुम्–विद्वज्जनावबोधायोद्यम वयं कुर्म इत्यर्थ'। एतेन ग्रन्थस्यास्य– 'प्रयोगानागमात्सिद्धान् प्रत्यक्षादनुमानत'। सर्वलोकहितार्थाय वक्ष्याम्यनतिविस्तराव्॥' इति नीतिमपि प्रकटयति।

अन्य तन्त्रकारों ने अपने-अपने रसग्रन्थों में सिद्ध सप्रदाय के आचार्यों द्वारा कहे हुए पारद के जो गूढ संस्कार कहे हैं उनको ही यहाँ प्रकट करने का मै प्रयत्न करता हू॥ ४॥

वक्तव्य—रस तन्त्रकारों ने अपने-अपने अनुभव और परिश्रम से आज तक जितने-जितने पारद पर संस्कार किये है और उनको अनुभव द्वारा सिद्ध पाया है किन्तु वे सर्व साधारण के लिए बुद्धिगम्य नहीं है केवल खोजी ही उनको समझ सकता है। इस प्रकार के जो गुप्त संस्कार हैं, जिनकी विधि भी सहज समझ में नही आती है उन सबोंको यहाँ प्रकट करने का उद्योग करता हू। ग्रन्थकार अपने इस कथन से यह प्रगट करता है कि 'आयुर्वेद-प्रकाश' में जो कुछ लिखा जावेगा वह रसशास्त्र और सिद्धाचार्यों के अनुभव तथा सिद्धान्तों के बाहर का कुछ नही होगा। किन्तु पारद के अनेकों ऐसे संस्कार है जिनका सर्व सामान्य को ज्ञान नहीं हो सकता है, उनकी विधियाँ और प्रक्रियायें अस्पष्ट और गूढ है। साथ ही यह भी अत्यन्त अनिवार्य है कि उनका परिचय और भली प्रकार का ज्ञान सबको मिल सके ताकि पारद के महत्त्व और उसकी परोपकारिता तथा विशाल कार्य-शक्ति का बोध हो सके। उन सबको यहाँ भली प्रकार से प्रकट करने का उद्योग किया जावेगा।

आगे के श्लोक मे अपने उद्यम को अनधिकारी व्यक्ति अज्ञानता के साथ अपना न बना लें और उसको विना समझे ही दु साहस न करें, इसके लिए शाप का भय दिखाया है और ऐसा करने से रोका है।

**ग्रन्थादस्मादाहरन्ति प्रयोगान् स्वीयं वाऽस्मिन्नामधेयं क्षिपन्ति।
गोत्राण्येषामस्मदीयश्रमोष्मा भस्मीकुर्वन्नायुगं बोभवीतु॥ ५॥**

अथ ग्रन्थग्रन्थार्थैकभागचौरेभ्यो विभ्यत् शापेन तान् वारयति—ग्रन्थादित्यादि। परकीयपद्यहरणेन परितुष्यन्तो ये नरा अस्मात्—बहुप्रयासतोऽस्मद्विरचितादायुर्वेदप्रकाशग्रन्थात् प्रयोगानाहरन्ति—अन्यायपूर्वकं गृहीत्वा स्वकीयग्रन्थेषु सन्निवेशयन्ति, यद्वा मन्नामापहरणपूर्वकमस्मिन्नेव प्रबन्धे स्वकीयं नाम ग्रन्थापयन्ति, एषामुभयविधानां—परस्वापहरणग्राहसिकानां जनानां गोत्राणि कुलानि नामानि वा 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इत्यमरः। 'गोत्रं नाम्न्यचले कुले' इति विश्वः, अस्मदीयश्रमोष्मा—पारदादिरसोपरसधातूपधातुसंस्कारप्रयोगनिर्माणतत्परीक्षणादिषु विहितेन परिश्रमेण जन्योऽस्माकीनः सन्तापः आयुगम्—युगसमाप्तिं यावत् भस्मीकुर्वन् वोभवीतु—पुनः पुनरतिशयेन वा भवत्विति, यङ्लुगन्तप्रयोगोऽयं 'यङो वा'। मृतस्य निर्जीवस्य पशोश्चर्मणा निर्मितया भस्त्रयापि लौहादिकठिनधातूनामपि भस्म भवति किमुत जीवतः सिद्धस्य च मम परिश्रमप्रतप्तश्वासैरस्मादृशां मर्त्यानामिति सर्वथा ग्रन्थादस्मात्प्रयोगापहारे तत्र स्वनामनिवेशे वा न केनापि चेष्टितव्यमिति भावः॥ ५॥

इस ग्रन्थ से प्रयोगों के हरने वाले अथवा इसमें अपने नाम को कर्ता के स्थान में रखने वाले इन सबके कुल को मेरे परिश्रम की ऊष्मा युगपर्यन्त भस्म करती रहे॥ ५॥

वक्तव्य—ग्रन्थगत प्रयोगों की चोरी अथवा पूरे ग्रन्थ का ही अपहरण करने वालों को अभी शापित किया है। ज्ञात ऐसा होता है कि ग्रन्थकार के समय में साहित्यिक डकैती अधिक होती थी। यों तो भाव-ग्रहण करना, शैली अथवा पद्धति का अनुकरण करना, अर्थ की चोरी करना, छाया का अनुकरण करना इत्यादि एक सर्व सामान्य और क्षम्य माना गया है और यह साहित्य क्षेत्र में सर्वत्र सर्वदा से चला आ रहा है किन्तु आयुर्वेदप्रकाशकार माधवोपाध्याय के समय में 'सकलप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यम्' का सम्प्रदाय अधिक बोलबाला था और ग्रन्थकार को यह क्षति उठानी भी पड़ी होगी? तभी इतना भयङ्कर शाप दिया है जो कुल ही नहीं पूरे गोत्र के लिए घातक है और वह भी युगों तक चलेगा। यह भी हेतु है कि जो वस्तु उत्तम होती है उसी की प्रायशः चोरी होती है और अच्छी वस्तु की ही रक्षा भी सावधानी से करनी पड़ती है।

ग्रन्थगत विषयों की अच्छाई और विशेषता के विषय में आगे लिखा है—

अश्रौषं बहुविदुषां मुखादपश्यं शास्त्रेषु स्थितमकृतं न तल्लिखामि।
यत्कर्म व्यरचयमग्रतो गुरूणां प्रौढानां तदिह वदामि वीतशङ्कः॥६॥

सम्प्रति पूर्वं सामान्यतो ज्ञातानां तदनु सविमर्शं परीक्षितानामेव प्रयोगाणामत्राभिधानमिति चतुर्थपद्योक्तां स्वां प्रतिज्ञां दृढयन् प्रतिजानीते—अश्रौषमित्यादि। यत्कर्म—सूतादिशोधनमारणविषयकं कृतिसमूहम्, बहुविदुषाम्—रसशास्त्रतज्ज्ञानामनेकेषां वैद्यानां, मुखात्, अश्रौषम्—श्रुतवानस्मि, यद्वा—शास्त्राध्ययनाध्यापनावलोकनकाले शास्त्रेषु—रसविषयकानेकविधतन्त्रेषु, स्थितम्—सविस्तरं लिखितम्, अपश्यम्—दृष्टवानस्मि, तत् पारदादिकर्म अकृतम्—स्वयमविरचितमननुभूतम्, अर्थात् ममानुभवे अप्राप्तं च न लिखामि। परन्तु यत्कर्म प्रौढानाम्—प्रकृष्टप्रकारेणोढाः समर्था रसविषयकासाधारणकर्मसमंज्ञास्तेषां गुरूणां रसशास्त्राध्यापनप्रधानाचार्याणामग्रतः—सम्मुखे, व्यरचयम् स्वयं निर्माय यज्ज्ञातं तदेव कर्मेह 'आयुर्वेदप्रकाश' नाम्नि ग्रन्थे, वीतशङ्कः—दोषैकपक्षपातिनोऽस्मिन् प्रबन्धे दोषान्वेषणं विधास्यन्तीति शङ्कारहितः सन् वदामि। एतेन ज्ञायते किं च गुरुमुखादधीत्य तदनु तदग्रे स्वहस्तेन विधाय प्रत्यक्षतोऽनुभूयोल्लिखिते कर्मणि दोषदर्शनपरायणेभ्यो न किञ्चिद्भयं भवतीति तात्पर्यम्॥ ६॥

जिसे अनेकों विद्वानों के मुख से सुना है और शास्त्र में [illegible] देखा है [illegible] अनुभव [illegible] है वो यहाँ नहीं लिखूंगा। जिसको [illegible] है, उसे ही निःशङ्क होकर लिखूँगा ॥ ६ ॥

वक्तव्य—रसशास्त्र क्रियात्मक शास्त्र है, प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा [illegible] और स्वयं भी उसके निर्माण में सफलता प्राप्त कर लेता है वही [illegible] होता है। रसशास्त्र के जितने ज्ञाता और प्रवर्तक हुए हैं उनका [illegible] का सर्वोपरि यही भाव था कि 'दृष्टकर्मा स्वयंकृती' [illegible] देता है और तत्पश्चात् [illegible] स्वयं भी करके उसका दृढ़निश्चय [illegible] वही 'दृष्टकर्मा स्वयंकृती' माना गया है। रसशास्त्र में [illegible] होता है न कि सुनी सुनाई बातों के आधार पर। यहाँ हेतु है कि आयुर्वेदप्रकाश [illegible] विषय की सत्यतापूर्वक जानकारी दे रहे हैं और [illegible] कि जिस बात को विद्वानों के मुख से सुना है और शास्त्र में भी देखा है किन्तु उसे मैंने यहाँ नहीं लिखा है। यहाँ जो कुछ विषय मैंने प्रतिपादित किया है जिसको अच्छी प्रकार [illegible] द्वारा किया जाता देखा है और उसके पश्चात् स्वयं भी उसको बना कर दृढ़निश्चय कर लिया है अर्थात् आयुर्वेदप्रकाश में जो कुछ लिखा है वह 'दृष्टकर्मा स्वयंकृती' के रूप में लिखा गया है और [illegible] कि ग्रन्थकार अपने को 'वीतशङ्क' कहता है।

आगे के श्लोक में भी 'दृष्टकर्मा स्वयंकृती' के [illegible] प्रगट किया गया है—

अध्यापयन्ति यदि दर्शयितुं क्षमन्ते सूतेन्द्रकर्म गुरवो गुरवस्त एव ।
शिष्यास्त एव रचयन्ति पुरो गुरूणां शेषाः पुनस्तदुभयाभिनयं भजन्ते ॥७॥

सम्प्रति पारदकर्मणि कीदृशौ गुरुशिष्यावास्तामिति दर्शयन्नाह—अध्यापयन्तीत्यादि। ये गुरवः—आचार्याः, सूतेन्द्रकर्म-रससंस्कारादिविधिमध्यापयन्ति-ग्रन्थाध्यापनमात्रेण शिष्यान् शिक्षयन्ति, तेनैव सार्धं ते यदि दर्शयितुं-प्रत्यक्षदर्शनेनानुभावयितुं क्षमन्ते-समर्थाः स्युस्त एव गुरवः। सिद्धान्ततस्तु गुरुर्भवितुं त एव योग्याः। शिष्या अपि वस्तुतस्त एव ये खलु गुरुणा पाठितं प्रत्यक्षक्रियया सम्यक् शिक्षितं च सूतेन्द्रकर्म तस्य गुरोः पुरः-समक्ष एव रचयन्ति-नैपुण्यविपर्यासान्यथाकरणसन्देहपरिहारार्थं स्वकरेण निर्मायानुभवन्ति, अन्यथा कृतकर्मसु च गुरोरुपदेशं धारयन्ति। शेषाः पुनः केवलं ग्रन्थपाठयितारः प्रत्यक्षक्रियाऽसन्दर्शयितारोऽध्यापकाः, ग्रन्थाध्ययनमात्रेण कृतकृत्यं मन्यमाना गुरोरग्रतोऽननुभूतविधयः शिष्याश्च तदुभयाभिनयम्-त उभयेऽपि वास्तविकतथ्यगुरूणां शिष्याणां चानुकृतिं भजन्ते-अनुकुर्वन्तीत्यर्थः। वस्तुतस्तु तेषां गुरुशिष्याणां क्रियाशून्यत्वम् अननुभूतपाण्डित्यं पल्लवग्राहिपाण्डित्यवदपाण्डित्यमेव। यथा-नानुकुर्वता कृष्णादीनां चरितानि नाटयन्तो वस्तुतः कृष्णादीनां सत्यपराक्रमादिप्रथितकर्माद्यभावात्तन्नामभिर्व्यपदेष्टुं शक्यन्ते, केवलमभिनेतारस्ते तथैव तादृशा गुरवः शिष्याश्च न हि वस्तुतो गुरुशिष्या इति पदभागिनः। आयुर्वेदस्य सर्वत्रायं सिद्धान्तो यच्छास्त्राध्ययनेन सहैव कर्मण्यपि पटुभिः पटुतार्जनीयेति, यथा हि धन्वन्तरिः सुश्रुते-'यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः। स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्।' इत्यादि ॥ ७ ॥

रसशास्त्र को जो पढ़ाते हैं और प्रत्यक्ष क्रिया से कर्म करना जानते हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं। शिष्य भी वे ही हैं जो गुरुओं के समक्ष रसक्रिया करते हैं, अन्यथा दोनों नाटक के पात्रमात्र हैं॥७॥

वक्तव्य—रसशास्त्र यह विज्ञान शास्त्र है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' जो सत्य है, ज्ञानयुक्त

है, अनन्त है और ब्रह्मस्वरूप है वही विज्ञान है। रसविद्या विज्ञान का प्रधान स्वरूप है उसका उद्देश्य नूतनोत्पत्ति कराने का है। नूतनोत्पत्ति के लिए कारण, कर्म और कार्य इन तीनों के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। यह ज्ञान-प्राप्ति संसार को सुखी बनाने में अत्यन्त सहायक होती है। जिसका जितना महत्त्व होता है उसकी प्राप्ति भी उतनी ही कठिन और जटिल होती है। रसविद्या का ज्ञान कुछ ही क्षणों में सुवर्णोत्पत्ति करके सम्पन्न कर देता है जिस सुवर्ण को प्रकृति पञ्चभूतात्मक पृथ्वी से हजारों वर्षों में निर्माण कर पाती है उसी को रसविद्या प्रवीण कुछ ही घण्टों में सम्पन्न कर सकता है। इस प्रकार के निर्माण से व्यक्ति के जीवन और सामाजिक क्षेत्र का उत्थान ही नहीं, अपितु देश और राष्ट्र का महान् अभ्युदय होता है।

'धर्मार्थमुपभोगानां नष्टराज्यविवृद्धये। आयुर्यौवनलाभार्थं मुक्त्यर्थं च मुमुक्षुणाम्।' (रसोपनिषत्) अर्थात् रसविद्या का भली प्रकार का ज्ञान धर्म, अर्थ और कामनाओं की पूर्ति कराता है, राजाओं के नष्ट हुए राज्यों की प्राप्ति कराता है, आयु और यौवन को प्रदान कर प्राणि जीवन में एक नवीनता का दृष्टिकोण देता है तथा मोक्षकामियों को मुक्ति प्रदान कराता है। किन्तु इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति में केवल परिश्रम ही नहीं, अपितु भाग्य और सद्गुरु की असीम कृपा भी प्रधान होती है। जिस समय सौभाग्य से ऐसे सद्गुरु की उपलब्धि हो जाती है उस समय वह रसशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन कराते हुए उसके प्रत्येक कर्म को क्रियात्मक रूप से प्रत्यक्ष करके दिखाता है। यह भी स्मरण रहे कि केवल गुरु की कृपा ही उसके लिए परिपूर्ण नहीं है। साधक भी उतने ही दत्तचित्त और परिश्रमपूर्वक उसको हस्तगत करने का प्रयत्न करे। क्योंकि गुरु से क्रिया सीख कर उसको स्वयं बना कर देखे और गुरु से सहयोग लेता जावे, इस प्रकार एक ही क्रिया को कई बार गुरु के समक्ष बना कर सन्देह-रहित हो जाता है और उसकी कृति सर्वाङ्गपूर्ण अवगत हो जाती है तभी रसशास्त्र का कुछ ज्ञान मिला है, यह अनुभव किया जाता है। अन्यथा पढ़ने या सुने सुनाए मात्र से द्रव्य व्यय करके असफलता के साथ दुःखी होते हैं और यह सोच और समझ बैठते हैं कि रसशास्त्र में जो कुछ लिखा है वह गपोड़ा है, सर्वथा मूर्खता है। रसशास्त्र की प्रत्येक बात सत्य और क्रियात्मक है किन्तु खोजपूर्ण अध्ययन और मनन के साथ निश्चित मार्ग को समझे तथा गुरु की उपेक्षा कभी न करे क्योंकि रस सिद्धि के लिए गुरु-कृपा सर्वोपरि है। यह बात 'रसाध्यायकार' भी स्वीकार करता है—**प्रोक्तोऽपि गुरुणा साक्षाद्धातुवादो न सिध्यति। यावन्न दृश्यते द्विस्त्रिर्गुरुपार्श्वे क्रियाविधि॥ यस्मात्तस्मादपि श्रुत्वा यत्र कुत्रापि वीक्ष्य च। द्रव्यव्ययं प्रकुर्वन्तो मुधा ताम्यन्ति वालिशा॥ प्रसन्नीभूतश्चेत्सर्वं दर्शयेत्कर्म सद्गुरुः। लीलयाऽपि तदा सर्वे योगाः सिद्ध्यन्त्यसंशयम्॥ ततोऽपि व्यक्तमुक्तेऽपि ग्रन्थार्थे मुख्यनिश्चयात्। गुरूनुपेक्ष्य नो कार्यो धातुवादे परिश्रमः॥'** तात्पर्य यह है कि रसशास्त्र के ज्ञान के लिए मननात्मक अध्ययन और क्रियात्मक स्वानुभव दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं।

ऊपर कही हुई बात को पुनरपि दुहराते हुए ग्रन्थकार अपनी कृति की उपयोगिता और उसमें जो कुछ लिखा है वह पूर्णतः स्वानुभूत है, यह आगे कह रहे हैं—

यद्यन्मयाऽक्रियत कारयितुं च शक्यं सूतेन्द्रकर्म तदिह प्रथयांबभूवे।
अध्यापयन्ति य इदं न तु कारयन्ति कुर्वन्ति नेदमधियन्त्युभये मृषार्थाः॥ ८॥

पुनस्तदेव विशेषेण द्रढयन्नाह—यदित्यादि। यद्यत् सूतेन्द्रकर्म—पारदस्य स्वेदन-मर्दन-मूर्च्छनादिक मया-माधवोपाध्यायेन स्वयमक्रियत-रसशास्त्रकर्मणि लब्धयशसा प्राणाचार्याणामग्रतः कृत्वा सलक्षितं, कारयितु च-मत्सकाशाधीतशिष्यादिद्वारेण निर्मापयितु च

अन्वयं—योऽयं कर्म तदेव इहास्मिन् 'आयुर्वेदप्रकाश' नाम्नि प्रबन्धे प्रथयाम्यहं—प्रकटयामास। कुतो नोच्यते आगमोक्तमप्यननुभूतमत आह—ये गुरव इह रसेन्द्रकर्म केवलमध्यापयन्त्येव न तु कारयन्ति, ये च शिष्या इह केवलं पठन्त्येव न तु कुर्वन्ति, न उभयेऽपि मृषार्था:—वृथैव क्लेशभागिनो गुरुशिष्यनामधारिणश्च न तु पारमार्थिका इति ॥८॥

जो रसकर्म मैंने किया है और कर सकता हूँ, वही यहाँ कहूँगा। जो रसशास्त्र को पढ़ाते हैं किन्तु क्रिया नहीं बताते, क्रिया करते हैं किन्तु शास्त्राभ्यास नहीं करते वे दोनों गुरु शिष्य वृथा करते हैं ॥ ८ ॥

वक्तव्य—अपनी कृति की उत्तमता को प्रतिपादित करते हुए 'आयुर्वेदप्रकाश'कार यह कहते हैं कि यहाँ पर जो कुछ लिखा गया है, वह अध्ययन, मनन और पूर्णत अनुभव के आधार पर ही लिखा गया है। केवल प्राचीन रसशास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वह सत्य भी होगा किन्तु जब तक मैंने उसका भलीभाँति अनुभव नहीं किया और उसकी क्रिया को करके देखा नहीं उसको भी यहाँ नहीं लिखूँगा। तात्पर्य यह है कि शास्त्रोक्त विधि और सिद्धान्तों को भी बिना अपने अनुभव किये माधवोपाध्याय ने 'आयुर्वेदप्रकाश' में स्थान नहीं दिया। चाहे कितना भी कोई उत्कृष्ट विधि हो, स्थान केवल स्वानुभव क्रियासिद्ध को ही दिया है।

यही हेतु है कि पारद के स्वल्प और बहुकष्टसाध्य संस्कारों को छोड़ कर सहज क्रिया वाले संस्कारों को आगे बताने की ग्रन्थकार प्रतिज्ञा करता है—

संस्काराः शिवजनुषो बहुप्रकारास्तुल्या ये लघुबहुलप्रयाससाध्याः।
यद्येकं सुकरमुदाहरामि तेषां व्याहारैः किमिह फलं ततः परेषाम् ॥ ९ ॥

इदानीं ग्रन्थरचनामहत्त्वमावश्यकत्वं चाह—संस्कारा इत्यादि। शिवजनुष:—शिवः शंकरस्तस्माज्जनुरुत्पत्तिर्यस्य तत्तस्य पारदस्य शंकराङ्गात्प्रस्खलितस्य वीर्यभूतस्य जगत्करुणामयस्येत्यर्थः। यथा रसहृदयतन्त्रे—'हृदयस्थैव गलित्वा जाता रसरूपिणी करुणा।' इति बहुप्रकारा:—अनेकविधास्तथा लघुबहुलप्रयाससाध्या:—लघुश्च बहुलश्च य प्रयासस्तौ लघुबहुलप्रयासौ ताभ्यां साध्या अर्थात् केचिल्लघुपरिश्रमेण साध्या:, केचित्पुनर्बहुलपरिश्रमेण तनुमनोधनादिभिरधिककष्टेन किन्तु तुल्या, प्रयासविभेदेऽपि फलसमाना। ये संस्कारा स्वेदनमर्दनमूर्च्छादय सन्ति। यतोऽहं माधवस्तेषामनेकेषां संस्काराणां मध्यात् सुकरम्—स्वल्पपरिश्रमसाध्यत्वेन सुसिद्धं यथा स्यात्तथैकं किञ्चिदुदाहरामि। तत: परेषामतिप्रयाससाध्यत्वेन दु सिद्धार्हाणामन्येषां व्याहारै व्यवहारोपयुक्तिभि इहास्मिन्नायुर्वेदप्रकाशे किं फलं न किमपीत्यर्थः। ग्रन्थेऽस्मिन् स्वल्पप्रयाससाध्येषु सत्स्वपि संस्कारेषु ह्यन्यत्र प्रयाससाध्येषु क सुधी प्रयतेत समानफलत्वात् न कोऽपीति भाव। एतेन प्रबन्धस्यास्य महत्त्व द्योत्यते ॥ ९ ॥

पारे के अनेक प्रकार के संस्कार के विभिन्न विधान हैं किन्तु न्यूनाधिक परिश्रम भेद से समान गुणा होते हुए भी अन्यों को छोड़कर एक सहज और सुलभ जो संस्कार हो सकता है उसी को कहता हूँ ॥ ९ ॥

वक्तव्य—पारद के स्वेदन-मर्दन-मूर्च्छनादि संस्कार अनेक मार्गों-क्रियाओं से करने का विधान विभिन्न तन्त्रों में उपलब्ध है। कुछ ऐसे संस्कारों के विधान हैं जो स्वल्प काल और स्वल्प ही परिश्रम से सपन्न होते हैं अन्य ऐसे भी हैं जिनकी विधियाँ जटिल और कठिन प्रतीत होती हैं। इन सबका ध्येय एक ही है मार्ग भिन्न हो सकते हैं। 'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनाना-

पथजुषाम्, नृणामेको गम्य.' इति अर्थात् केवल अपनी अपनी रुचि की विचित्रता से सीधे और कुटिल मार्गों को स्वीकार करने वालों का गन्तव्य एक है मार्ग भिन्न है। ठीक, उसी प्रकार पारद के संस्कारों के मार्ग भिन्न हो सकते हैं किन्तु फल तो सबका एक समान है। अत उनमें से जो संस्कार सुकर है जिसको कृति द्वारा अनुभव में ले लिया है और उस संस्कार की साधुता को समझ लिया है वही एक प्रकार लिखूंगा। एक प्रकार कहने का तात्पर्य यही है कि जिसको मैंने भली-भाँति समझा और कृतिसाध्य पाया है उसे ही लिखूंगा। **'हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्'** इस न्याय से संस्कारों के अनेक प्रकार हैं किन्तु मनुष्य एक जीवन में सब का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता है अत मैंने जिस-जिसका जैसा अनुभव लिया है उसको ही यथार्थ रूप मे यहाँ प्रस्तुत करता हू। **'एकं सुकरम्'** कहने का तात्पर्य है कि 'एक साधे सब सधे' साथ ही साधक का परिश्रम सफल हो और उसको अपरिचित संस्कार की असफलता का असह्य कष्ट न हो। तात्पर्य यह है कि 'आयुर्वेदप्रकाश' कारने जो कुछ लिखा है वह **'दृष्टकर्मा स्वयंकृती'** के रूप मे लिखा है अत उसके मार्ग से किये हुए कार्य सर्वदा सफल होंगे। यह विश्वास रस-साधक के लिए सर्वोपरि है।

अपने कृतिसिद्ध अनुभव के आधार को आगे के श्लोक में प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि—

कर्म यद्यदसाध्यं स्याद् दुर्लभं यद्यदौषधम्।
तत्तत्सर्वं परित्यज्य सारभूतं प्रकाशितम्॥ १०॥

कर्मेत्यादि—यद्यत्कर्म-पारदस्य स्वेदनमर्दनादिप्रकारमसाध्य तत्कर्मणि च यद्यदौषधम्–यद्यत्सोमलतादिदिव्यौषधादिकम्, दुर्लभमनेकविधप्रयत्नेऽप्यलभ्य स्यात्। तत्तत्सर्वं परित्यज्य सारभूतमेव प्रकाशितम्। क्वचित् पुस्तके 'समुद्धृतमि'ति पाठभेद.॥ १०॥

जो जो कर्म असाध्य है और जो जो औषध दुष्प्राप्य है उन सबोंको छोड़कर सार सार भाग को ही कहता हू॥ १०॥

वक्तव्य—जो कर्म असाध्य है जिसकी सिद्धि मे सन्देह, जगड्वाल और असफलता प्रतीत होती है तथा जिसका मैंने अनुभव नहीं किया है उन सबोंको छोड़कर साध्य कर्मों को ही यहाँ प्रकट किया है। इसी प्रकार जो जो दिव्यौषधियाँ सोमलतादि सम्प्रति बहुयत्न करने पर भी दुर्लभ और सर्वथा अप्राप्य सी हैं जिनका मुझे न परिचय हुआ और न मैंने उनका प्रयोग करके देखा है उन सबोंको छोड़कर जितना कुछ साध्य और प्राप्य है उसीका यहाँ उल्लेख किया गया है।

क्वचिच्छास्त्रे क्रिया नास्ति कर्मसंख्या न च क्वचित्।
रसयुक्तिः क्वचिन्नास्ति सम्प्रदायः क्वचिन्न च॥ ११॥
अतः सिद्धिर्न सर्वत्र रसे चापि रसायने।
वैद्यवादे प्रयोगे च तस्माद्यत्नो मया कृतः॥ १२॥

अधुना ग्रन्थकार परतन्त्रापेक्षया स्वतन्त्रप्रयत्नावश्यकता प्रतिपादयन्नाह—क्वचिदित्यादि। क्वचिच्छास्त्रे-रसविषयकप्रबन्धे क्रिया स्वेदनमर्दनादिका कथं भवतीति नास्ति। क्वचित् कर्मसख्या पारदसंस्काराणा सयौक्तिकी गणना नोक्ता, क्वचित् 'क्रमसख्या' इति पाठभेद। क्वचिद्रसयुक्ति-रसभस्मयोजना नास्ति। यद्यपि सूत-मूर्च्छित्वा हरति रुज बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति। अमरीकरोति सुमृत कोऽन्य करुणाकरस्तस्मात्।' इति फलश्रुतौ सत्यामपि योजनाविधिमन्तरेण प्रयोजितारो भिषजो मूढा इति पदभागिनो भवन्ति। उक्त हि—'अजारयन्त. पविहेमगन्धं वाञ्छन्ति सूतात्फलमप्युदारम्। क्षेत्रा-

दनुप्तादिव सस्यजातं कृषीवलास्ते भिषजश्च मन्दाः ॥' तथा च 'यस्य रोगस्य यो योगस्तेनैव सह दापयेत। रसेन्द्रो हरते रोगान्नरकुञ्जरवाजिनाम् ॥' अतो योजनाया स्सर्वतोऽधिकं महत्त्वमस्ति किन्तु क्वचित् सा नास्ति। क्वचित् सम्प्रदाय –परम्परा यथात्रैव लिखितम्–'बलि सूतो निम्बूरसविमृदितो भस्मसिकताद्ये यन्त्रे कृत्वा समरविकणाटङ्कणरजः। त्रिघस्नं लुङ्गाम्भोलवकदलितः क्षौद्रहविषाऽवलीढो मापैकं दरयति ससमस्तं गदगणम् ॥ जरां वर्षैकेण क्षपयति च पुष्टिं वितनुते, तनौ तेजस्कार रमयति वधूनामपि शतम्। रस. श्रीमान् मृत्युञ्जय इति गिरीशेन कथित.।' इति सा नास्ति क्वचिदिति।

अत इत्यादि। अत.–अस्मात् कारणात् रसे–रसविषयककर्मणि, रसायने वापि–यज्जराव्याधिनाशनं तस्मिन्, तथा वैद्यवादे–भिषजां विवादास्पदविषये चिकित्साकर्मणि वा, प्रयोगे–योजनाया च सर्वत्र–सर्वस्मिन् काले सर्वतोभावेन वा न सिद्धिस्तस्मात् सर्वत्र सिद्धि' स्यादिति हेतोरायुर्वेदप्रकाशविषयक परिश्रमो मया माधवोपाध्यायेन कृत। 'तेन सिद्धिर्न तत्रास्ति' इति पाठभेदः ॥ ११-१२ ॥

कही शास्त्र में क्रिया नहीं तो कहीं कर्म, तो कहीं रसयुक्ति, तो कहीं पर सम्प्रदाय नहीं है। इसी लिए रस अथवा रसायन के प्रयोगों में सर्वत्र सिद्धि नहीं है, तदर्थ मैंने यह प्रयत्न किया है।

वक्तव्य—'आयुर्वेदप्रकाश' की आवश्यकता का प्रधान हेतु यह है कि रस ग्रन्थों में कहीं क्रियाओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण नहीं है अर्थात् पारद के स्वेदन मर्दनादि संस्कारों का सहज और सरल ज्ञान होसके ऐसा समुचित विवेचन नहीं है। इसी प्रकार कर्म सख्या–पारद के सस्कार कितने होने चाहिए, जिनसे सफलता मिल सके। देखा यह जाता है कि विभिन्न रसतन्त्रों में एकवाक्यता नहीं है। एकवाक्यता के अभाव में साधक को सन्देह होता है और उनके मन में रह रह कर अस्थिरता के भाव उत्पन्न होते हैं। परिणाम यह होता है कि सदिग्ध अवस्था में अनेक विकल्प उपस्थित होते हैं और सिद्धि में सन्देह होने लगता है, साधक विचलित हो जाता है। कहीं रसयुक्ति–रसयोजना का उचित क्रम नहीं मिलता है। जब तक विधिपूर्वक रसकल्पों का सेवन नहीं किया जाता है तब तक सिद्धि ईश्वराधीन है। यही हेतु है कि 'योजकास्तत्र दुर्लभा.' अर्थात् उचित सस्कारों द्वारा सस्कृत पारद के कल्पों की योजना का भी विशेष और आनुभविक ज्ञान आवश्यक है अन्यथा योग्य योजक के अभाव में सफल साधन का भी दुरुपयोग होता है। कहीं सम्प्रदाय नहीं है—सम्प्रदाय परंपरा यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सम्प्रदाय के बिना ज्ञान की कड़ियों की सुघट और क्रमबद्ध श्रृंखला नहीं बन पाती है। सम्प्रदाय से वह 'रेखामात्रमपि क्षुण्ण' की न्याय से एक समान बिना किसी प्रकार के, ननु न च और सन्देह के चलती जाती है। कथचित् कोई उसमें सन्देह भी प्रगट करता है तो उसको नि शक यही उत्तर मिलता है कि यह कार्य हमारे यहाँ परंपरा से चला आया है और सफल है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ में इन चारों प्रकार के महत्त्वपूर्ण विषयों पर विशेष रूप से विचार कर प्रकाश डाला गया है। 'गुरु बिन ज्ञान खोज बिन सिद्धि' के अकाट्य सिद्धान्त को सम्मुख रख कर माधवोपाध्याय ने जो कुछ अर्जित किया है उसी को यहाँ लिखा है। यही बात वे आगे कहते हैं कि—

यद्यद्गुरुमुखोद्गीतं स्वानुभूतं च यन्मया।
तत्तल्लोकहितार्थाय वक्ष्याम्यनतिविस्तरम् ॥ १३ ॥

स्वकीयकृते पुराणत्व प्रतिपादयन्नाह–यदित्यादि। मया ग्रन्थकर्त्रा माधवेन यद्यद्गुरुमुखोद्गीतम्–समाध्यापकाना रसशास्त्राचार्याणा किंवा नित्यनाथादिसिद्धसम्प्रदाययतीनां

मुखाद्यच्छ्रुतमुल्लिखितं च यज्ज्ञातम् । क्वचित् 'मुखाद् ज्ञातम्' इति पाठभेद. । यच्च स्वानुभूतम्–स्वकीयानुभवे प्राप्तम्, अर्थात् यद्यद् ज्ञातं तेष्वपि यद्यत् स्वानुभूतं, तत्तदेव लोकहितार्थाय–जनाना हितकामनासम्पादनाय प्राणिनामारोग्याभिवृद्धये, इत्यर्थ' । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर । आरोग्येणैव हित नान्यतो यथा–'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्य मूलमुत्तमम् ।' इति चरक । अनतिविस्तरम्–विस्तरमकुर्वन् सक्षेपेण वक्ष्यामि । क्वचित् 'प्रकटीक्रियतेऽधुना' इति पाठ । एतेन ग्रन्थस्यास्य स्वकपोलकल्पितत्वशंकां निराकरोतीति स्पष्ट भवति ॥ १३ ॥

जो जो गुरुमुख से सुना अथवा रसतन्त्रकार नित्यनाथादि के ग्रन्थों में लिखा हुआ देखा और उन सबों का मैंने स्वय जितना अनुभव किया उसी को लोक-कल्याणार्थ बिना विस्तार किये कहूंगा ॥ १३ ॥

वक्तव्य—'यद्यद्गुरुमुखोद्गीतम्' का तात्पर्य यह है कि रस-विद्या यह महान् विज्ञान है। इसके प्रभाव से साधक अपना ही नहीं, ससार का महान् उपकार कर सकता है। सिद्ध रस के सेवन करने वाले को सद्‌गुण, बुद्धि, सम्पत्ति, युवावस्था, दीर्घायु, सुकीर्ति आदि की सहज उपलब्धि होती है। रसशास्त्र के ज्ञान के लिए सद्‌गुरु की अहैतुकी और असीम कृपा नितान्त आवश्यक है अन्यथा इसके ऐकान्तिक ज्ञान की कुंजी सहज नहीं मिल पाती है। रसचिन्तामणिकार लिखता है कि—**'एषा राजवती विद्या पुत्रस्यापि न कथ्यते'** यह विद्या पिता अपने पुत्र तक को नहीं कहता है इतनी इसके प्रति साधक की ममता और गुप्त रखने की प्रवृत्ति होती है। जो पिता अपने पुत्र को सर्वस्व दे जाता है किन्तु वही इस विद्या को देने का लोभ सवरण नहीं कर सकता है। साथ ही यह विद्या कठिन अभ्यास और लगन से मिलती है। यह केवल कह देने से या पढने से नहीं आती है इसके लिए तो साधना करनी पड़ती है। इसके ज्ञाता बड़े सूक्ष्मदर्शी और तत्त्वचिन्तक होते हैं उनकी तन्मयता को आकर्षित करके इस ज्ञान का रहस्य प्राप्त करना सहज नहीं है। जैसा रस है वैसा ही आत्मा है, जैसी आत्मा है, वैसा ही रस है। तत्त्वचिन्तक आत्मज्ञानी और रसविद्या के ज्ञानी, ये दोनों ही सूक्ष्मदर्शक और खोजा होते हैं। जैसे कि रसोपनिषत्-कार लिखता है—**'यथा रसस्तथा ह्यात्मा, यथा ह्यात्मा तथा रस । आत्मविद् रसविच्चैव, द्वाविमौ सूक्ष्मदर्शिनौ ॥'** कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान जितना कठिन, सद्‌गुरु की कृपाजन्य और ऐकान्तिक सतत अभ्यास की अपेक्षा रखता है, उतना ही रसज्ञान दुर्लभ है। अत रसज्ञान के लिए सद्‌गुरु की कृपा से प्राप्त शिक्षा और कृति अत्यन्त महत्त्व रखती है और उसी से लोककल्याणकारी कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। यही कारण है कि ग्रन्थकार अपनी कृति के विषय में उसकी सत्यज्ञान रूपी ज्योत्स्ना का दिग्दर्शन कराता है।

यही कारण है कि आगे के श्लोक में अधिकारपूर्वक कहता है कि अन्यत्र जो कुछ ज्ञान है वह तो इस ग्रन्थ में है ही किन्तु इसमें जो है वह कहीं नहीं है—

यदन्यत्र तदत्रास्ति यदत्रास्ति न कुत्रचित् ।
मुक्त्वैकं रसवैद्यं तु लाभ पूजां च कीर्तनम् ।
तृणकाष्ठौषधैर्वैद्यः को लभेत वराटिकाम् ॥ १४ ॥

अथ ग्रन्थकार स्वप्रबन्धस्य रसवैद्यस्य च सर्वोत्कृष्टतामाह—यदित्यादि । यदन्यत्र रसोपरसधातूपधातुशोधनमारणविषयकप्रशस्तकर्मकलापोऽन्यस्मिन् तन्त्रे, अस्ति तदत्राप्यस्ति–किन्तु यदत्रास्ति–आयुर्वेदप्रकाशनाम्नि ग्रन्थे तदन्यत्र कुत्रापि नास्ति । क्वचित् 'तत् क्वचित्' इत्यपि पाठ । मुक्त्वेत्यादि–एक रसवैद्य–रसभस्मादिभिर्य. सिद्धो वैद्यस्त

भुक्त्वा, अन्यस्तृणकाष्ठौषधैः सिद्धो वैद्यो लाभं पूजा कीर्तनं वराटिका च को लभेत. न कोऽपीत्यर्थः । पद्येऽस्मिन्नेकमिति पठेनैव सिद्ध्यति यदस्मद्वैद्यस्यैव प्रभावो यथा रसरत्नसमुच्चये—'मन्थानभैरवो योगी सिद्धबुद्धश्च कन्थडी । कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटी । कणेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः । कपाली विन्दुनाथश्च शक्रचण्डीश्वरो राजः । अल्लमः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिण्टिनी । भालुकिर्नागदेवश्च खण्डी कापालिकस्तथा । इत्यादयो महासिद्धा रसभोगप्रसादतः । खण्डयित्वा कालदण्डं त्रैलोक्या विचरन्ति ते ॥' इति, रसचिकित्सां कुर्वाणो वैद्य एव कारुणिको भवितुमर्हति तथा भुवि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च क्षमो भवति । तस्यैव च हृदि करुणा समुत्पद्यते प्राणिनां कल्याणाय । स एव चिन्तयत्येवं रसबन्धनकाले न तु तृणकाष्ठौषधैः सिद्धो वैद्यः । यथा रसहृदयतन्त्रे—'रसबन्धश्च स धन्यः प्रारम्भे यस्य सततमिव करुणा । सिद्धे रसे करिष्ये महीमहं निर्जरामरणम्'[1] ॥ १४ ॥

जो अन्य तन्त्रों में रसविषयक ज्ञान का विवेचन मिलता है, वह यहाँ भी है किन्तु जो यहाँ है वह अन्यत्र कहीं नहीं है रस वैद्य के बिना केवल काष्ठौषधि द्वारा किस वैद्य ने लाभ, पूजा, यश और धन प्राप्त किया है ? अर्थात् किसी ने नहीं ॥ १४ ॥

वक्तव्य—ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ की उपादेयता तो इसलिए कही है कि रसतन्त्रों में रस, उपरस, धातु, उपधातु आदि के शोधन-मारण के जितने कर्म कहे हैं वे तो 'आयुर्वेदप्रकाश' में हैं ही, किन्तु पारद के विशेष कर्म, जो अन्यत्र नहीं हैं और उनकी अपनी विशेषता ही उस प्रभाव को प्रगट करती है कि रसवैद्य और काष्ठौषधिवैद्य में क्या अन्तर है। **'यदत्रास्ति न कुत्रचित्'** इसका यह भाव नहीं है कि 'आयुर्वेदप्रकाश' में जो विषय है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। तात्पर्य यह है कि पारदविषयक ज्ञान यहाँ जितना दिया गया है वह अनुभूत और सर्वथा सिद्ध है। जिन क्रियाओं का यहाँ उल्लेख किया गया है वे सब कई बार स्वयं करके उनकी यथार्थता को भलीभाँति समझकर तदनुरूप ही लिखा है अतः विषय का सच्चा अस्तित्व वही हो सकता है जो परिश्रम करने पर उसको यथावत् उपलब्धि हो। यही हेतु है कि ग्रन्थकार सम्भवतः अपने रसविषयक ज्ञान में इतना अधिक पटु और स्वयंकृतिसिद्ध था जितने उसके अनेकों अलौकिक प्रभाव देखे और यह निश्चय करने पर उसे बाध्य होना पड़ा कि एक रसवैद्य ही सच्चा चिकित्सक है उसके अतिरिक्त काष्ठौषधिवैद्य सर्वथा सफल नहीं हो सकता है। रस के अनेकों अलौकिक और चमत्कारिक प्रयोग हैं जिनके परिणाम को देख और सुनकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। उन मूल भूत द्रव्यों के निर्माण की विधि जिनसे ऐसे प्रभावों और चमत्कारिक प्रयोगों का सम्पादन किया जा सकता, आयुर्वेदप्रकाश में प्रस्तुत की गई है। इसी लिये यह ग्रन्थ अपना महत्त्व रखता है।

इसी बात को आगे के श्लोक में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जाता है—

यावत्सूतो न शुद्धो न च मृत इह वा मूर्च्छितो गन्धबद्धो
नो वज्रं मारितं स्यान्न च गगनवधो नोपसूताश्च शुद्धाः ।
स्वर्णाद्यं सर्वलोहं विषमपि न मृतं तैलपाको न जात-
स्तावद्वैद्यः क सिद्धो भवति वसुभुजां मण्डले श्लाघनीयः ॥ १५ ॥

---

१ इत्यत्र 'निर्जरामरणमि'ति क्रियाविशेषणम्, यथा मह्या जरामरणं न युक्तम्। अत्र महीपदेन महीमधिकृत्य निवसन्ति ये मनुजादयस्त एव, लक्षणावृत्तित्वात्। क्वचित्पुस्तके 'निर्जरामरणामि'ति पाठः ।

पूर्वोक्तमेव विशिनष्टि—यावदित्यादि। यावत्समयावधि' सूत—पारदो न शुद्धोऽष्टाष्टादशोनविंशतिसंस्कारैर्न शोधित। कथं सूतस्यैतादृशी गरीयसी शुद्धि, का च तस्योत्पत्तिरिति साहजिकी शंका भवितुमर्हति। तत्राख्यायिका निगद्यते सा चेत्थम्—'परस्परजिगीषया प्रीत्या प्रवृत्तयो' शिवयो. संभोगे त्रैलोक्यस्य क्षोभ समभवत्, तन्निवारणार्थं तत्र वह्नि· कपोतरूपेणाविरासीत्। तं दृष्ट्वा लज्जित शम्भुस्तस्माद्विनिवृत्तस्तेन स्खलितो धातुश्चरमस्तं पाणिना गृहीत्वा वह्निमुखे प्रक्षिप्त। ततस्त सोढुमशक्तो वह्निर्गङ्गायामपातयत्, तयाऽपि बहिरुत्क्षिप्तस्तेन कृत्वा शतयोजननिम्ना पञ्चकूपा जाता गङ्गायास्तीरे, तत्सवद्धायां गिरिभुवि तन्मलाधानात यत्र तत्र धातवो जातास्ते पञ्चकूपा सर्वेषामुपयोगित्वात्सर्वे गिरितुल्या जाता'। त्रयः कूपा देवै शिवस्य प्रार्थनया शिवेनैव शप्ता। एककूपस्थ' पारद ईषत्पीतो रूक्षाङ्गो दोषयुक्तो दशाष्टसंस्कृतिसिद्धो देहलोहकर'। अन्योऽपि मिश्रकोऽत्यन्तचपल श्वेतः सोऽपि संस्कृत सर्वरोगहरो जायते।' अतोऽस्य महती शुद्धिरिष्टा। न च मृत'—यावद्येन पारदभस्म नो विहित तद्विधानन्त्वग्रे यथास्थान वक्ष्ये। इह वा जगत्यस्मिन् न मूर्च्छितो मूर्च्छनाप्रकारमभिगम्य स्वय कृत्वाऽननुभूत। न वा गन्धवद्ध—गन्धवद्धोऽपि मूर्च्छनाया एवैकप्रकार, मूर्च्छनाप्रकारस्तु बहुविध इत्यग्रेऽस्मिन्नेव प्रबन्धे द्रष्टव्य, रसेन्द्रचिन्तामणौ तु यथा—'शुद्धसूतपलैकं तु कर्षैक गन्धकस्य च। स्विन्नखल्वे विनिक्षिप्य देवदालीरसप्लुतम्॥ मर्दयेच्च कराङ्गुल्या गन्धवद्ध प्रजायते।' मृतमूर्च्छितगन्धवद्धपारदस्य महिम्नि रसहृदयतन्त्रे यथा—'मूर्च्छित्वा हरति रुज वन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति। अमरीकरोति सुमृत· कोऽन्य' करुणाकरस्तस्मात्॥' इति। नो वज्र मारितं स्यात्—हीरकमारण न कृतम्, हीरकभस्मप्रकारो रसरत्नसमुच्चये यथा—'मदनस्य फलोत्थरसेन क्षोणिनागकै·। कृतकल्केन संलिप्य पुटेद्द्विशतिवारकम्। वज्रचूर्णं भवेद्दूर्य योजनीयं रसादिषु॥' इत्यादिः। न च गगनवध—गगनोऽभ्रकस्तस्य वधो मारणं—भस्म न कृतम्। नोपसूताश्च शुद्धा—उपसूता उपरसा गन्धाश्मादय एषा शुद्धिर्न कृता। शुद्धिश्चैषा प्रत्येकेषामतुल्याऽतो यथास्थान वक्ष्ये। स्वर्णाद्य सर्वलोहम्—अष्टधातवश्च यथा रसप्रकाशसुधाकरे—'सुवर्ण रजत चेति शुद्धलोहमुदीरितम्। ताम्रं चैवारसारं च, नागवङ्गौ तथैव च। पूतिलोह निगदितं द्वितयं रसवेदना। समिश्रलोह त्रितय सौराष्ट्रीतिवर्तकम्। एतेऽष्टौ धातवो ज्ञेया लोहान्येवं भवन्ति च।' इति, एषा मारण न विहितम्, विषमपि न मृतम्—वत्सनाभादि विषाणा शुद्धिरपि न विहिता, किं वा शतमल्लादीना मारणप्रकारो न ज्ञात। विषभेदास्त्वग्रे यथास्थान वक्ष्ये। येन च तैलपाको न जात—रससस्कारार्थं नानातन्त्रोक्तां तैलपाकक्रिया सशास्त्रं कृत्वा नानुभूता इति। तावद्वसुभुजाम्—धनिकाना राज्ञा वा मडले समाजे श्लाघनीय प्रशसनीयो वैद्य' क्व सिद्धो भवति राजवैद्योऽयमिति क्व मान्यो जायते न कुत्रापीत्यर्थ।

यद्यपि तैलपाकक्रिया रससस्कारानुसारमनेकविधा तथाप्येकामुदाहरणार्थं लिखामि, यथा रसार्णवे—'द्विगुणे रक्तपुष्पाणा रक्तपीतगणस्य च। क्वाथे चतुर्गुण क्षीर तैल चैक सुरेश्वरि। ज्योतिष्मतीकरञ्जाक्षकटुतुम्बीसमुद्भवम्। पाटलापिप्पलीकाम्लकाकतुण्डीरसान्वितम्। वसया चैकया युक्तं षोडशांशै सुपेषितै। भूलतामलसाक्षीकद्वन्द्वमेलकभेषजै। पाचित गालित चैतत्सारणातैलमुच्यते।' इति॥ १५॥

जिस वैद्य ने जव तक पारे का शोधन, मारण, मूर्च्छन और गन्धवद्ध सस्कार तथा हीरा, अभ्रक, उपरस एव सुवर्णादि अष्टधातुओं का शोधन, मारण, विषोपविष की शुद्धि और तैल पका

क्रिया नहीं की है तब तक वह उत्तम वैद्य नहीं बनता और न धनिक अथवा राजाओं से सम्मान ही प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

वक्तव्य—पारद के शोधन, मारण, मूर्च्छन और गन्धजारणादि संस्कारों के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता प्रतिपादित है। रसशास्त्र में पारद यह प्रधान द्रव्य है। पारद को अलग कर दिया जावे तो रसशास्त्र का कोई उपयोग और अस्तित्व नहीं रह जाता है। पारद की महिमा और प्रभाव जितना अलौकिक है उतनी ही उसकी साधना भी दुःसाध्य है। इतना ही नहीं, जिस वैद्य को पारद-शोधन की क्रियाओं का ज्ञान और अनुभव नहीं है वह वैद्य नहीं हो सकता है। पारद शुद्धि की इस महत्त्वपूर्ण और आवश्यक क्रिया की गौरवता पर लक्ष्य रखते हुए यह सहज कल्पना होती है कि शुद्धि की महानता का सम्बन्ध पारद की उत्पत्ति से होना चाहिए।

पारदोत्पत्ति का इतिहास

भारतीय इतिहास के अनुसार पारद की उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक और सरसता को लिये हुए है। भारत की वैज्ञानिक-परंपरा में यह विशेषता और उदारता रही है कि उन्होंने नीरस से नीरस ब्रह्मस्वरूप के वर्णन को भी मधुर-कोमल-कान्त पदावलियों की ललित पखुडियों में विकसित करने का सफल प्रयास किया है, उसी प्रकार इतिहास के रूक्ष विषय को भी इतने सुन्दर और शृङ्गारिक सरस कथा के रूप में उपस्थित करने की शैली रही है। यही हेतु है कि भारतीय ऐतिहासिक विषय का प्रतिपादन भी रुचिकर, मोहक और उत्साहवर्द्धक के अतिरिक्त आदर, श्रद्धा और धार्मिक भावनाओं को जागृत करता है। पारद के इतिहास की कथा भी हमें यही अनुभव कराती है। जैसे कि—

शैलेऽस्मिन् शिवयोः प्रीत्या परस्परजिगीषया। सम्प्रवृत्ते च सम्भोगे त्रिलोकक्षोभकारिणि॥
विनिवारयितुं वह्निः सम्भोगं प्रेषितः सुरैः। काङ्क्षमाणैस्तयोः पुत्रं तारकासुरनाशकम्॥
कपोतरूपिणं प्राप्तं हिमवत्कन्दरेऽनलम्। अपत्रिभावसंक्षुब्धं स्मरलीलाविलोकिनम्॥
तं दृष्ट्वा लज्जितः शम्भुर्विरतः सुरतात्तदा। प्रच्युतश्चरमो धातुर्गृहीतः शूलपाणिना॥
प्रक्षिप्तो वदने वह्नेर्गङ्गायामपि सोऽपतत्। वह्निः क्षिप्तस्तया सोऽपि परिदन्दह्यमानया॥
सञ्जातास्तन्मलाधानाद्धातवः सिद्धिहेतवः। यावदग्निमुखाद्रेतो न्यपतद् भूरिसारतः॥
शतयोजननिम्नास्तान्कृत्वा कूपांस्तु पञ्च च। तदा प्रभृति कूपस्थं तद्रेतः पञ्चधाऽभवत्॥

(इति रसरत्नसमुच्चय)

जब हिमालय पर्वत पर भगवान् शिव और पार्वती में प्रेमपूर्वक एक दूसरे को जीतने की अभिलाषा से तीनों लोकों (स्वर्ग, मृत्यु और पाताल) को क्षुभित करने वाला सभोग प्रारभ हुआ, तब तारकासुर नामक राक्षस को मारने वाला पुत्र उनसे शीघ्र उत्पन्न हो, इस प्रबल भावना से देवताओं ने सभोग को रोकने के लिए अग्नि को भेजा था। हिमालय की कन्दरा में जहाँ भगवान् शिव और पार्वती जी अपनी स्मरलीला में तन्मय थे। वहाँ कपोतरूपधारी अग्नि को जिसे कि काम के लिये समोहक दृश्य को देखते हुए पक्षी स्वभाव के विरुद्ध मदनेच्छा या चञ्चलता हो गई और इसी लिए रतिक्रीडा को बडी दिलचस्पी और मनोयोग से देख रहा है जब कि धर्मशास्त्र और व्यावहारिक सिद्धान्तों के विपरीत होता है। इस प्रकार के असमय में उपस्थित अग्नि को देख कर भगवान् शिव लज्जित हो कर रतिक्रीडा से विरत हो गये। उस समय उनका जो वीर्यपात हुआ उस वीर्य को भगवान् शिव ने हाथ में ले कर अग्नि के मुख में डाल दिया, जब अग्निमुख में वीर्य को डाला उस समय कुछ अंश उसके गगा में भी गिर गये अथवा अग्नि से जब वह वीर्य सहा नही हुआ तो उसने उसको गगा में डाल दिया। गगा भी जब उसे असह्य समझने लगी तब उसने

भी उसे जहाँ तहाँ बाहर फेंक दिया। फेंके हुए उस वीर्य के मल से उन-उन भूभागों में सर्वोपयोगी और सर्व कार्यों में सिद्धि देने वाले पारदादि विभिन्न धातु उत्पन्न हुए। जब अग्निमुख से वीर्य बाहर गिरता है उस समय वह अपने अमोघ भाग के कारण सौ योजन (चार सौ कोस) गहरे पाँच कूओं का निर्माण करके उनमें स्थित होता है तब से वीर्यस्वरूप पारद के पाँच प्रकार समझे गये हैं।

रसरत्नसमुच्चय-कार का पारद-उत्पत्तिविषयक शृङ्गारिक और रोचक आख्यान ऊपर दिया गया है। सच यदि देखा जावे तो यह उपर्युक्त कथन सर्वथा उपयुक्त और यथार्थ है। उपर्युक्त वर्णन-शैली के भाव और आज के खोजपूर्ण प्रत्यक्ष और अनुमानाधारित विचारों का निष्कर्ष प्रायशः तुलना लिए हुए हैं।

देखा यह जाता है कि जब बौद्ध भिक्षु अपने धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत, चीन, जापान, बर्मा, ईरान, अरबस्तान, इटली, आस्ट्रेलिया और स्पेन आदि देशों में पहुँचे, तब उन्हें यह अनुभव हुआ कि यहाँ के लोगों में भी ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है अतः निःसकोच बहुत सी ज्ञान की बातें उनसे सीखीं और जहाँ कहीं भी उपयुक्त साहित्य, द्रव्य, वस्तु या साधन मिला उसका संग्रह किया। इस खोज और छानबीन में पारद भी उनको स्पेन और तिब्बत आदि स्थानों से उपलब्ध हुआ। जब उन्हें पारद मिला तो यह सहज जिज्ञासा हुई कि इसकी उपज कहाँ और कैसी होती है। छानबीन और वहाँ के लोगों से पूछने पर यह ज्ञात हुआ कि जबसे ज्वालामुखी का प्रकोप हुआ है तबसे यह उस पहाड़ में मिलता है उसके पूर्व उसकी उपज नहीं देखी गई थी। तात्पर्य यह है कि ज्वालामुखी का विस्फोट ही पारद की उत्पत्ति का हेतु है अथवा पारद ज्वालामुखी का हेतु है यह विशेष विवेचनीय है किन्तु ज्वालामुखी का प्रकोप उसकी उपलब्धि में सहायक है।

ज्वालामुखी-प्रकोप की जब घटनाएँ घटती हैं तब उनका क्रम नीचे लिखे अनुसार होता है—

सर्वप्रथम भूकम्प होता है, उसके पश्चात् जमीन फटती है, उसकी अनेकों दरारों में से धुआँ निकलने लगता है। धुआँ के पश्चात् अग्निज्वालाएँ और ज्वालाओं के साथ ही साथ द्रव पदार्थ (लावा) के रूप में आने लगता है। ज्वालामुखी का कभी एक ही विभ्राट् मुख होता है तो कभी अनेकों छोटे-छोटे मुखों के साथ एक बृहत् और प्रधान मुख होता है। इन मुखों से उस समय जो द्रव निकल कर बहता है वह निम्न भूभाग के जो स्थान हैं उनमें चला जाता है। मार्ग के जितने गड्ढे, खाई और कचके होते हैं उनमें सगृहीत हो जाता है। नदियों में जिस प्रकार जल का संग्रह चौतर्फे के पहाड़ों से होता है उसी प्रकार ज्वालामुखी के दरारों से निस्सृत द्रव भी नदियों में जाता है। जहाँ तक नीचा भूभाग मिलता है और पीछे का समूहीत दबाव पहुचता रहता है तब तक वह द्रव बहता जाता है और अनेकों मील दूर तक पहुच जाता है। उसमें पारद भी होता है गन्धक भी होता है तथा अन्य विभिन्न धातुओं के मूलगामी द्रव्य भी द्रव रूप में होते हैं, जिस प्रकार पारद और गन्धक का मिश्रण हो कर एकत्र कहीं संग्रह रुक जाता है तो वहीं हिंगुल का निर्माण हो जाता है। जो हिंगुल खनिज होता है उसका निर्माण इसी प्रकार होता है।

उपर्युक्त ज्वालामुखी का स्वरूप ध्यान में रखने से भगवान् शिव और पार्वतीजी के रत्युत्सव का रहस्य ध्यान में आ सकता है जैसे कि हिमालय पर्वत पर शंकर-पार्वती के बीच परस्पर में प्रीतिपूर्वक जीतने की भावनात्मक रतिक्रीड़ा का महोत्सव होता है उससे त्रिलोकीमें क्षुब्धता (कंप) उत्पन्न होने लगती है। तात्पर्य यह है कि हिमालय में ऐसे अनेकों बड़े बड़े पहाड़ हैं जिनमें जड और चेतन्यसदस्टोन, शेल्स, लाईमस्टोन्स, क्वार्टसाइट इत्यादि जलज शिला और ज्वालामुखी के लावा आदि आग्नेय पाषाणों का भूगर्भ में संघर्ष होता है और इस संघर्ष में अग्नि की उत्पत्ति

होती है जो ज्वालामुखी के रूप को धारण करता है। [illegible] होता है और उससे भूकम्प होता है आस पास ।। भूगर्भ [illegible] 'शैलेऽस्मिन् शिवयोः प्रीत्या परस्परजिगीषया। सम्प्रवृत्ते च सम्भोगे त्रिलोकक्षोभकारिणि ।' का यही स्पष्ट स्वरूप है।

भूगर्भ में प्रकट अग्नि जब अपने विकराल रूप को धारण करती है [illegible] भयंकर तूफान उत्पन्न होता है [illegible] नहीं होता है। इस स्थिति में भी भूगर्भ में [illegible] रहता है। 'विनिवारयितु वह्नि सम्भोग प्रेषित: सुरै: ।' [illegible]

भूगर्भ में जलज और आग्नेय पाषाणों का [illegible] अग्नि की ज्वालाएं तीव्रतम होने लगती हैं और [illegible] होने पर संघर्षण क्रिया रुक जाती है अर्थात् अग्नि को देखते ही [illegible]
'तं दृष्ट्वा लज्जित शम्भुर्विरत सुरतात्तदा ।' इति ।

और जब उनमें जलज पाषाण उत्तप्त होकर [illegible] पाषाण द्रवता में परिणत हो जाते हैं तब उन पाषाणों में [illegible] धातुयें बाहर आती हैं और भूगर्भ के द्रव में [illegible] 'प्रत्युनश्चाग्नौ धातुर्गृहीत शूलपाणिना । प्रक्षिप्तो वदने वह्नेर्गंगायामपि सोऽपतत् ।'

भूगर्भ में अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण पाषाणों का [illegible] पूर्ण द्रव पारद सहित बाहर फेंक दिया जाता है [illegible] है। इस प्रकार पारद और धातुयें आस पास के प्रदेश में [illegible] करते हैं। यह भी सम्भव है कि ज्वालामुखी से अनेकों मीलों [illegible] उसी को आलङ्कारिक शब्दों में 'शतयोजन' की संज्ञा दी गयी होगी। [illegible] पारद पाँच प्रकार के गर्तों से निकाला जाता था। [illegible] होंगे। यह भी स्पष्ट है कि इन प्रत्येक कूप के स्थान, प्रदेश और मृत्तिका के भेद से पारद के भेद पाया जाता था। जैसे कि—'वह्नि क्षिप्तस्तया सोऽपि परिदन्दह्यमानया । सञ्जातान्तत्स्थलाधानाद्धातव सिद्धिहेतव । यावदग्निमुखाद्रेतो न्यपतद्भूरिसारत । शतयोजननिम्नान्तान् कृत्वा कूपास्तु पञ्च च । तदा प्रभृति कूपस्थ तद्रेत पञ्चधाऽभवत् ।'

पारद के पाँच प्रकार

कूप-भेद से पारद पाँच प्रकार का है। प्रत्येक की अपनी अपनी विशेषता है। उसका ज्ञान आवश्यक है। इसका विवेचन रसरत्नसमुच्चय में निम्न प्रकार से किया गया है—

'रसो रसेन्द्र सूतश्च पारदो मिश्रकस्तथा। इति पञ्चविधो जात क्षेत्रभेदेन शम्भुज ॥
रसो रक्तो विनिर्मुक्त सर्वदोषै रसायन । सञ्जातास्त्रिदशास्तेन नीरुजा निर्जरामरा ॥
रसेन्द्रो दोषनिर्मुक्त श्यावो रूक्षोऽतिचञ्चल । रसायनोऽभवंस्तेन नागा मृत्युजरोज्झिता ॥
देवैर्नागैश्च तौ कूपौ पूरितौ मृद्भिरश्मभि' । तदा प्रभृति लोकाना तौ जातावतिदुर्लभौ ॥'

अर्थात् रस, रसेन्द्र, सूत, पारद और मिश्रक भेद से पारद के पाँच प्रकार हैं। रस नाम का पारद लाल रङ्ग का होता है। सर्वदोष रहित एव रसायन होता है। यही कारण है कि देवताओं ने उसका सेवन किया और वे रोग, वृद्धावस्था और मरण से बच गये। रस नामक पारद के प्रभाव से ही देव नीरोग और अजर-अमर बन गए। रसेन्द्र भी दोषरहित, कपिल वर्ण का, रूखा, अति चञ्चल और रसायन होता है। इसका महत्त्व देखकर नागों ने सेवन किया जिससे वे [illegible] जरा और

मृत्यु से मुक्त हो गये। रस और रसेन्द्र के प्रभाव को जानकर देव और नागों ने यह अनुभव किया कि यह द्रव्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्रभावी है जिसके सेवन करने से सहज में हमें निरोगता, निर्जरता और अमरत्व मिल गया है। यदि यह लाभ अन्यों को भी मिल गया तो हमारी अपनी जो उनसे विशेषता रहनी चाहिए और आज हमें वह प्राप्त है तो फिर हमारा महत्त्व कुछ भी नहीं रहेगा। यह निश्चय करके देव और नागों ने उन दोनों कुओं को मिट्टी और पत्थरों से भर दिया, जिनसे रस और रसेन्द्र नाम का पारद निकलता था। यही कारण है कि उन दोनों कूपों के अभाव में रस और रसेन्द्र मनुष्यों के लिए असम्भव हो गए किन्तु मनुष्य ने कभी किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं की 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनो प्रसूनि' अर्थात् मनुष्य यह मनु की सन्तान है सदैव यह अपने बल-वीर्य और सूझ बूझ पर अवलम्बित रहता है। जिस पारद में किसी प्रकार का दोष नहीं था और सहज साध्य था उसको देव और नागों ने दुर्मिल बना दिया उसका मनुष्य पर कोई बुरा प्रभाव अथवा देवताओं के प्रति ईर्ष्या या अश्रद्धा नहीं हुई। विपरीत इसके देवता और नागों की पूजा और सत्कार मनुष्यों द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक होता है। मनुष्य ने रस और रसेन्द्र के अभाव में सूत, पारद और मिश्रक की खोज की और उस पर परिश्रम कर उसको उपयोगी बनाया और जीवन के आमय-युक्त क्षणों का परिहार किया। परिणाम यह हुआ कि जब मनुष्य अपने परिश्रम से सफल हुआ तो देवताओं के लिए यह भी असह्य ही रहा। जैसे कि—**एवंभूतस्य सूतस्य मर्त्यमृत्युगदच्छिद। प्रभावान्मानुषा जाता देवतुल्य-बलायुषः। तान् दृष्ट्वाऽभ्यर्थितो रुद्रः शक्रेण तदनन्तरम्। दोषैश्च कञ्चुकाभिश्च रसराजो नियोजितः। तदा प्रभृति सूतोऽसौ नैव सिध्यत्यसंस्कृतः।** (र० र० स०)

परिणाम यह हुआ कि जब मनुष्य ने सूत, पारद और मिश्रक से अपने कार्य को सिद्ध करना प्रारंभ किया तब देवताओं के राजा इन्द्र ने भगवान् शिव से प्रार्थना की कि भगवन्! सूत के प्रभाव से मनुष्य मृत्यु और रोगों से छूट कर देवताओं के तुल्य बल और आयु को प्राप्त हो रहे हैं। यह इन्द्र की अभ्यर्थना भगवान् शंकर ने स्वीकृत की और उसी समय सूत को दोष और कञ्चुकाओं से युक्त बना दिया। तब से पारद का बिना संस्कार किये कोई उपयोग नहीं होता है।

पारद का मूलस्वरूप

मनुष्य ही नहीं, अपि तु समस्त प्राणिमात्र को रोगों से दूर करने वाला होने से ही इसे पारा कहा जाता है। पारा यह शुद्ध अवस्था में खुला मिलता है उस समय वह छोटे-छोटे चाँदी के टुकड़े के आकार के रंग के दिखने वाले और चमकने वाले गोल और चपटे स्वरूप के कण मिलते हैं। उस समय उनको 'क्किकसिल्व्हर' कहा जाता है। इस अवस्था में यह बहुत कम मात्रा में मिलता है। प्रायशः यह गंधक के मिश्रण (हिंगुल सिन्दूर) के रूप में अधिक मिलता है। यह नाना प्रकार के खनिजों में बालू, चिकनी मिट्टी और धातुओं में मिला हुआ पाया जाता है। संसार में जितने धातु हैं उनमें जो एक प्रकार का तेज होता है वह पारद में समाविष्ट समझा जाता है। यही कारण है कि वह अनेक रूपों में विभिन्न गुणों का आधान करने वाला है। पृथ्वी के गर्भ से पारद की उत्पत्ति चाँदी, लोह, यशद इत्यादि धातुओं के मिश्रण स्वरूप में मानी जाती है। चाञ्चल्य, भारीपन और चाँदी के समान श्वेत और उज्ज्वल रंग के लोभ ने ही किमियागरों को आकर्षण दिया। पारद के स्वरूप, लक्षण और वजन ने उन्हें यह सोचने की प्रवृत्ति दी कि पारद में किसी प्रकार भी घनता उत्पन्न की जावे और किसी भी हलके द्रव्य को उसमें समिलित कर हलकापन निर्माण करने से उससे चाँदी बनाई जा सकेगी। उसी को यदि पीले रंग में बदल दिया जावेगा तो सोना बन सकेगा। इस प्रवृत्ति ने पारद पर संसार के सम्पूर्ण देशों के खोजियों में

हलचल और उत्साह पैदा करके विस्मित किया और खोज की दिशा [illegible]। किमियागरी भी कुछ ही लोगों को हस्तगत हुई और वे लोग भी ऐसे निर्गर्व और विरक्त रहे जिन्होंने अपने किमियागरी कार्य से तत्काल जनता की सेवा कर दी किन्तु उस ज्ञान को बहु प्रचलित और परिचय में नहीं आने दिया। हाँ, उसका यह एक महान् सुपरिणाम हुआ कि औषध स्वरूप में पारद के खोजपूर्ण अनेकों प्रयत्नों से मनुष्य के आरोग्य निर्माण में आशातीत सफलता मिली। इस कार्य में भारतवर्ष ने सबसे पहले की। इसी प्रकार महर्षि भारद्वाज का 'यन्त्रसर्वस्व' ग्रन्थ भी सिद्ध करता है कि पारद की खोज ने विमान आदि महत्त्व पूर्ण यन्त्रों का निर्माण करने में भी पूर्ण सहयोग दिया है और इस कार्य को भी भारत ने ही सर्वप्रथम किया है। अस्तु।

पारद के सर्व साधारण उष्णता-मान इसी प्रकार के होते हैं। उसके गोलाकार दाने होते हैं। द्रव स्वरूप का होते हुए भी उसमें किसी प्रकार की सुगन्धि अथवा स्वाद नहीं होता है। पारद यह पानी, हॉयड्रोक्लोरिक एसिड, शीत सल्फ्युरिक एसिड इनमें मिलता नहीं है, किन्तु नायट्रिक एसिड और उष्ण सल्फ्युरिक एसिड में मिल जाता है और एक जीव भी हो जाता है। पारद के ससर्ग में आने वाला कोई भी द्रव्य गीला नहीं होता है। बाजार में जो पारद बिकता है उसमें रागा और सीसा आदि द्रव्य मिला कर वजन बढाया जाता है और अनुचित लाभ लिया जाता है। इस प्रकार के अशुद्ध पारद के पेट में जाने से अथवा औषध क्रिया में उसके उपयोग से अनेकों प्रकार के रोग होते हैं अर्थात् लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। यही हेतु है कि पारद के उपयोग से पहले उसकी शुद्धि कर ले।

पारदोत्पत्ति के स्थान

पारद की उत्पत्ति और प्राप्ति के स्थान कहाँ-कहाँ है और उन स्थानों में पारद किस प्रकार उपलब्ध होता है। वह सक्षेपत दिग्दर्शित किया जावेगा।

ब्रिटिश बोर्नियो—यहाँ पारद, हिंगुल, कैलोमेल और नेटिव पारद के रूप में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है।

भारत—भारत के किसी भी भाग या प्रान्त में पारद की प्राप्ति अभी तक नहीं है। हिमालय के पश्चिमोत्तर भाग में चित्रल नदी की बालुका में पारद के कुछ कण देखे गये हैं। उनसे अभी उपलब्धि का प्रयत्न नहीं किया गया है। भारत-शासन ने उस स्थान को सुरक्षित घोषित कर दिया है।

अफ्रीका, उत्तर अमेरिका, कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया में हिंगुल प्रचुर मात्रा में मिलता है। आस्ट्रेलिया-न्यूसाउथवेल्स, क्वीन्सलैण्ड, साउथ आस्ट्रेलिया और विक्टोरिया प्रान्तों में भी हिंगुल की उपलब्धि काफी प्रमाण में होती है।

यूरोप-अल्बानिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, बोहेमिया, फ्रान्स इत्यादि स्थानों एव जर्मनी में पारद के खनिज बहुत ही स्वल्प प्रमाण में मिलते हैं।

इटली में प्रायश सर्वत्र पारद के खनिज मिलते है। पन्द्रह-बीस ऐसे कारखाने भी हे जो पारद निकालने का ही कार्य करते हैं। यहाँ के इड्रिया प्रान्त में पारद की सर्वप्रथम प्राप्ति १४७० ईसवी में हुई। यहाँ पारद के खनिज चार प्रकार के रूप में मिलते हे। जैसे कि—स्टील ओर, लीवर ओर, कोरेलाइन ओर तथा ब्रिक ओर-स्टील ओर-सर्वोत्तम खनिज होता हे, यह बनावट मे बडा मजबूत गाँठ वाला और दानेदार होता है। यह स्टील अर्थात् फौलाद के समान होता है इसी लिए इसका नामकरण 'स्टील ओर' रखा गया। ओअ का तात्पर्य खनिज है।

लोवर ओर–मकृत् के समान स्वरूप का। कोरेलाइन ओर–प्रवाल के तुल्य स्वरूप का होता है। ब्रिक ओर–ईंट के सदृश रंग का होना है।

स्पेन एशिया, चीन, दक्षिण अमेरिका, कैलिफोर्निया, युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका, उत्तर अमेरिका प्रभृति देशों में सर्वत्र कम-ज्यादा मात्रा में पारद के खनिज मिलते हैं और उसके साथ गन्धक, माक्षिक आदि द्रव्य भी मिलते हैं। किन्तु संसार की पारद-सम्बन्धी पूर्ति में सर्वाधिक स्पेन की आरमाडेन प्रान्त की खानों और अमेरिका की कैलिफोर्निया तथा टेक्सास प्रान्त की खानों का योग है। आरमाडेन प्रान्त की खानों और कैलिफोर्निया की खानों से प्रति वर्ष एक-एक हजार मैट्रिक टन पारद मिलता है। अर्थात् संसार की मांग की पूर्ति का करीब करीब आधा भार तो केवल ये दो ही स्थान उठा लेते हैं।

कैलिफोर्निया और न्यू आरमाडेन प्रभृति दश-बारह खानें अधिक प्रसिद्ध हैं जिनमें प्रचुर मात्रा में पारद मिलता है। हिंगुल के साथ ही गन्ध और माक्षिक आदि अनेक द्रव्य मिलते हैं। हिंगुल दानेदार भी होता है। न्यू आरमाडेन की खानों में पारद मिलने के लिए १७-१८ कूँवे खोदे गये हैं। नेवाडा स्टेट मे हिंगुल का एक बड़ा भारी पहाड़ है। आरेगान स्टेट में भी हिंगुल बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। टेक्सास स्टेट में १५ मील लम्बा और दो मील चौड़ा स्थान है जहाँ पर पारद का अच्छा खनिज मिलता है। इस प्रकार विभिन्न देशों में पारद की पैदायश के न्यूनाधिक खनिज उपलब्ध होते हैं जिनका विस्तार-भय से उल्लेख असंभव है, यह केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है।

खनिज में पारद का ज्ञान

पारद के खनिजों का चूर्ण करके, उसमें वाशिंग सोडा (सोडियम कार्बोनेट) अर्थात् कपड़े धोने के काम में आने वाला सोडा थोड़ा मिला कर अथवा चूना मिला कर उसको टेस्ट ट्यूब में गर्म करने से खनिज में जितनी मात्रा में पारद होगा उसके अनुसार पारद के कण परख-नली के ठण्डक भाग के ऊपर जमे हुए मिलते हैं। खनिज में यदि गन्धक का मिश्रण होगा तो लाल रंग का ऊर्ध्व पतित पदार्थ और पारद के कण ये दोनों भी मिलेंगे और गन्धक की गन्ध भी जलने पर प्रतीत होगी।

पारद का आवश्यक ज्ञान

जल की अपेक्षा पारद १३॥ गुना अधिक वजनी होता है। द्रवीभूत पारद को खूब ठण्डा किया जावे तो वह ३९ डिग्री सेंटिग्रेट के तापक्रम पर जम जाता है। जमा हुआ यह पारद चांदी के समान आघातवर्धनीय और तार खींचने के योग्य हो जाता है। उसमें मृदुता इतनी होती है कि वह चाकू से काटा जा सकता है। तपाने से ३६० डिग्री सेंटिग्रेड के तापक्रम पर वह जल्दी ही वाष्पीभूत होकर उड़ जाता है। यों तो पारद में वाष्पीभवन क्रिया स्वभावत ही होती रहती है किन्तु तापक्रम की वृद्धि और ह्रास के अनुसार वाष्पीभवन में भी न्यूनाधिक क्रिया होती है। ३६० डिग्री सेंटिग्रेट पर यह वाष्पीभूत अति शीघ्र वेग से होता है और तापक्रम में वृद्धि न करने पर सम्पूर्ण पारद तिर्यक्पातन की विधि से ग्राहकपात्र में समाविष्ट हो जाता है और यदि ग्राहकपात्र का प्रबन्ध अनुचित ढंग से या विलम्ब से किया गया तो पारद का वह वाष्प वायुमंडल में फैल जाता है। पारद का विशिष्ट गुरुत्व १३–५६ और वह ६६–९ अग्नि की मात्रा पर उबलने लगता है। पारद का सिम्बाल H ४ होता है। उसका परमाणु भार २०० होता है। उसको मूल तत्त्व (एलिमेंटरी) माना जाता है। उसका अपेक्षित घनत्व १३०५९ होता है। आक्सिजन से बनाये हुए ओझोन नामक गैस के संसर्ग से पारद का चांचल्य सर्वथा ही नष्ट हो जाता है और

पारद पात्र की दीवार से चिपक जाता है। शुद्ध ठण्डा जल, गर्म जल अथवा जलवाष्प का पारद पर यत् किंचित् भी प्रभाव नहीं होता है किन्तु निम्नलिखित रासायनिक अम्लों का जो असर होता है उसका विवेचन आवश्यक है। रासायनिक कार्य में इन तीन अम्लों का विशेष स्थान है। गन्धकाम्ल—यह गन्धक का तेजाब होता है इसका निर्माण गन्धक से होता है। गन्धकाम्ल बहुत ही प्रबल अम्ल होता है। नेट्रिक अम्ल—यह शोरा और गन्धकाम्ल से बनता है इसको शोरे का तेजाब भी कहा जाता है। हैड्रोक्लोरिक अम्ल—यह नमक और गन्धकाम्ल से तैयार किया जाता है इसको नमक का तेजाब भी कहते हैं।

इनकी पारद पर शीघ्र क्रिया होती है किन्तु ये हल्के होते हैं तो कोई क्रिया नहीं होती है। इसी प्रकार नीबू आदि वानस्पतिक अम्लों की पारद पर कोई क्रिया नहीं होती है परन्तु पारद को इनमें मर्दन करने से पारद में रहने वाले हलके धातु-विकार इन अम्लों में घुल जाते हैं और पारद शुद्ध हो जाता है।

अथ रसदोषाः

अब ग्रन्थकार पारद के उन समस्त दोषों को लिखता है जो पारद में माने गये हैं और जिनके निराकरण के अभाव में पारद-सेवन से लाभ तो यत्किंचित् भी नहीं होता है विपरीत इनके भयकर हानि होती है, अत उन दोषों का ज्ञान सर्वथा आवश्यक मान कर उनको नीचे के श्लोक में दिखाया जा रहा है—

नागो वङ्गो मलो वह्निश्चापल्यं च विषं गिरिः।
असह्याग्निर्महादोषा निसर्गात्पारदे स्थिताः॥ १६॥
जाड्यगण्डौ तनौ नागात्कुष्ठं वङ्गाद्रुजो मलात्।
दाहो वह्नेश्च चापल्याद्वीर्यनाशो मृतिर्विषात्॥ १७॥
गिरेः स्फोटो ह्यसह्याग्निदोषान्मोहोऽभिजायते।
विषं वह्निर्मलश्चेति दोषा मुख्यतमास्त्रयः॥ १८॥
रसे मरणसन्तापमूर्च्छानां हेतवः क्रमात्।

नाग इत्यादि। नाग·–शीसकम्, वङ्ग·–राङ्गेतिख्यात·, मल·–मलाख्यो दोष·। वह्नि·–अग्निदोष, चापल्यम्–चपलता, विषम्–विषदोष, गिरि·–पाषाणदोष·, असह्याग्निरिति महादोषा·, निसर्गात्–स्वभावात्, पारदे स्थिता·–भवन्तीत्यर्थ। अथोक्ताना दोषाणा परिणामजं फलं विशिनष्टि—जाड्यगण्डावित्यादि। तनौ–शरीरे, नागात्–नागदोषात्, जाड्यगण्डौ–जडतागलगण्डौ। वङ्गदोषात्–कुष्ठम्, मलात्–रुजो विविधा वेदना इत्यर्थ। वह्ने·–अग्निदोषात्–दाह· शरीरगतसन्तापो रोगश्च, चापल्याद्वीर्यनाश·–शुक्रक्षयो भवति। विषात्–विषदोषात् मृतिर्मरणम्। गिरे·–गिरिदोषात्, स्फोट·–विस्फोटादयो जायन्ते। असह्याग्निदोषात्–मोह अविद्या मूर्च्छा चेति अष्टविधरसदोषेभ्य पूर्वोक्ता· विकाराः हीनातिरेकशक्त्या समुद्भवन्ति। रसप्रकाशसुधाकरे तु पञ्चैव रसदोषा·–'दोषा पञ्च समुद्दिष्टा पारदाना भिषग्वरै। मलो विषं तथा वह्निर्मदो दर्पश्च वै क्रमात्। मूर्च्छां मृत्युं गदं चैव स्फोटं कुर्युं शिरोभ्रमम्॥' इति।

एवमेव वैद्यवरश्रीबिन्दुना स्वविरचित—रसपद्धतौ रसस्वरूप प्रतिपादयता 'सप्तात्र रसदोषा' इत्यभाणि–'श्यामोऽन्तर्बहिरुज्ज्वल किल रस· सप्तात्र दोषा अमी, नागो वङ्ग-

विषो मलश्चपलता वह्निर्गिरेर्जन्मजाः । गण्डश्वित्रकमृत्युवान्तिचलतासन्तापजाड्यादयश्चै-तेभ्यः क्रमशो भवन्ति विविधा रोगा दुराराधनाः । इति ।

किन्त्वायुर्वेदप्रकाशानुसारं रसमञ्जर्यां पारदस्याष्टावेव दोषा प्रकीर्तिता यथा—नागो वङ्गोऽग्निचाञ्चल्ये असह्यत्वं विषं गिरि । मला ह्येते च विज्ञेया दोषा पारदसंस्थिताः । जाड्यं कुष्ठं महादाहं वीर्यनाशं च मूर्च्छनाम् ॥ मृत्युं स्फोटं रोगपुञ्जं कुर्वन्त्येते क्रमान्नृणाम्' इति ।

अथ च मुख्यतमा दोषाः—विषमित्यादि । रसे मरणसन्तापमूर्च्छाना कारणीभूताः क्रमान्मुख्यतमाः प्रधानतमा विषं वह्निर्मलश्चेति त्रय एव दोषाः ॥ १६–१८½ ॥

नाग, वङ्ग, मल, वह्नि, चापल्य, विष, गिरि और असह्याग्नि ये पारद के प्राकृतिक अष्ट महादोष हैं। नागदोष मे जड़ता और गलगण्डादि, वङ्ग से कुष्ठ, मल से पीडा, वह्नि से दाह, चापल्य से वीर्यनाश, विष से मृत्यु, गिरि से फोडे-फुन्सी और असह्याग्नि से मूर्च्छा होती है।

उक्त दोषों में से क्रमशः मरण, सन्ताप और मूर्च्छा के हेतु विष, वह्नि और मल ये तीन ही दोष मुख्य माने गये हैं।

वक्तव्य—पारद में उपर्युक्त आठ दोष माने गये है। रसतन्त्र-कार इस विषय में विभिन्न मत रखते है। जिनके मत ऊपर सस्कृत टीका में उद्धृत किये गये हैं। उनमें 'रसप्रकाश-सुधाकर'कार 'मल, विष, वह्नि, मद और दर्प' ऐसे पाँच दोषों को स्वीकार करता हे। 'रसपद्धति'कार वैद्यवर विन्दु 'नाग, वङ्ग, विष, मल, चपलता, वह्नि और गिरि' ऐसे सात मानता है। 'रसमजरी'कार 'आयुर्वेदप्रकाश' के मतानुसार आठ मानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि मतभिन्नता प्रतीत होती है किन्तु सत्य में यह मतभिन्नता नही है। यह क्रिया-सौकर्य और पारद की विशिष्ट शुद्धि की अपेक्षा रखता हे अतएव अष्ट दोषों का पृथक् निर्देश करके शुद्धि की महत्ता प्रतिपादित की गई है। यों तो प्रधानतः विष, वह्नि और मल ये तीन ही दोष हैं। इन तीनों को समस्त रसतन्त्रों ने एक समान स्वीकार किया हे। इसका प्रधान हेतु यह है कि इनमें जिस प्रकार की विकृति निहित है उस प्रकार की अन्यत्र नहीं। मनुष्य का यह स्वाभाविक धर्म हे कि जहाँ उसे यत्किंचित् भी भयकरता नहीं दीखती है वह उसके महत्त्व को भूल जाता है। यही कारण है कि अन्य दोषों में इतना प्रभावी विकार नहीं है अतः जिसकी जितनी रुचि हुई उतना स्वीकार किया और शेष को छोड दिया किन्तु विष, वह्नि और मल को किसी ने नही छोडा। अतः यह मत-भिन्नता नही है, अपितु श्रमरहित स्वल्प गुणार्जन से सन्तुष्ट होने की प्रवृत्तिमात्र है। 'आयुर्वेदप्रकाश'कार भी अष्ट महादोषों का उल्लेख करता है और उनमें 'मल, विष तथा वह्नि' इन तीनों का स्पष्टतया समावेश किया हुआ है। परन्तु फिर भी उनका वैशिष्ट्य मान कर उनको **'विषं वह्निर्मलश्चेति दोषा मुख्यतमास्त्रयः ।'** प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार अन्य तन्त्रकारों ने भी इन तीनों को ही प्रधानता दी है। जैसे—

'मलेन मूर्च्छां दहनेन दाहं विषेण मृत्युं वितनोति सूतः ।
मलादिदोषत्रयमेतदत्र नैसर्गिकं शुद्धिमतोऽभिधास्ये ॥'

अर्थात् मल, वह्नि और विष ये तीनों भी नैसर्गिक पारद के दोष हैं। इनकी विना शुद्धि किये प्रयोग करने से मूर्च्छा, दाह और मरण होता हे। साथ ही अन्यों की अपेक्षा ये दोष ही प्राकृतिक और मुख्यतम हैं।

अतः इनकी शुद्धि और सस्कार सर्वथा परमावश्यक माने गये हे। आगे के श्लोकों में पारद के बारह प्रकार के दोषों का विवेचन किया जायगा।

योगिकौ नागवङ्गौ द्वौ तौ जाड्याध्मानकुष्ठदौ ॥ १९ ॥
औपाधिकाः पुनश्चान्ये कीर्तिताः सप्तकञ्चुकाः ।
भूमिजो गिरिजो वार्जो द्वौ च तौ नागवङ्गजौ ॥ २० ॥
द्वादशैते रसे दोषाः प्रोक्ता रसविशारदैः ।
भूमिजः कुरुते कुष्ठं गिरिजो जाड्यमेव च ॥ २१ ॥
वारिजो वातसङ्घातं दोषाढ्यौ नागवङ्गजौ ।

इदानीं रसे द्वादशमहादोषानाह—योगिकावित्यादि । नागवङ्गौ द्वौ योगिकौ दोषौ, तौ जाड्याध्मानकुष्ठदौ—जाड्यं च आध्मानं च कुष्ठं च ददातीति जाड्याध्मानकुष्ठदस्तौ । योगिकावित्यत्र 'यौगिकौ' इत्येव साधीयान् पाठः । पुनश्च गिरिभूमिवार्जाश्चौपाधिकाः । अन्ये पुनर्भूगिरिजलनागवङ्गसमिश्रणजाः सप्तकञ्चुकाः कीर्तिताः । तन्त्रान्तरे 'पर्पटी पाटली भेदी द्रावी मलकरी तथा । अन्धकारी तथा ध्वाङ्क्षी विज्ञेयाः सप्तकञ्चुकाः ॥' इति । रसप्रकाशसुधाकरेऽपि सप्तकञ्चुकाः—'मृच्छैलजलशुल्वायोनागवङ्गसमुद्भवाः । पारदे कञ्चुकाः सप्त ततस्तैश्च विषोपमः ।' इति पर्पट्यादि सप्तकञ्चुकास्तथा भूमिज-गिरिज-वारिजाः द्वौ च नागवङ्गजौ एवं मिलित्वा सर्वे द्वादशसंख्याकाः दोषा भवन्ति । तन्त्रान्तर-दर्शनात्—विषवह्निमलास्त्रय, यौगिकौ द्वौ नागवङ्गौ, भूमिजगिरिजवार्जास्त्रयः, द्वौ नागजौ, द्वौ च वङ्गजाविति सप्तकञ्चुकाः एवं द्वादश । एते दोषा रसे रसविशारदैः—रस-कर्मणि कुशलैर्महादोषाः प्रोक्ताः । भूमिजः कुष्ठं, पर्वतजो जडतां, जलजो वातसंघातं च जनयति । नागवङ्गजौ द्वौ दोषौ दोषाढ्यौ प्रचुरविकारजनकावित्यर्थः ॥ १९–२१½ ॥

नाग और वङ्ग के यौगिक दो दोष जडता, आफरा और कुष्ठकारक होते हैं। इनके अतिरिक्त औपाधिक सात कञ्चुक—भूमिज, गिरिज, वारिज, नागज दो और वङ्गज दो इस प्रकार ये नौ हुए और पूर्व श्लोक १८ में बताए हुए विष, वह्नि और मल ये तीन मिलाकर बारह हुए। ये बारह दोष पारद में रसशास्त्रज्ञों द्वारा माने गये हैं। भूमिज दोष से कुष्ठ, गिरिज दोष से जटपना, जलज दोष से वातरोग और नाग तथा वङ्ग से त्रिदोष-विकार अर्थात् अनेक प्रकार के रोग संभवनीय होते हैं।

वक्तव्य—'यौगिकौ नागवङ्गौ द्वौ' का तात्पर्य यह है कि नाग और वङ्ग ये दो दोष पारद में यौगिक समझे गये हैं। जब व्यापारी के मन में लोभ बुद्धि उत्पन्न होती है तब वह इस बात का प्रयत्न और शोध करता है कि किस प्रकार के हलके कीमत के द्रव्य के मिलाने से वजन बढ सकता है। इसी मूलभूत भावना ने पारद में शीशा और रांगा मिलाकर वजन बढाने की प्रवृत्ति को जन्म दिया। पारद को तपाकर उसमें शीशा और रांगा जितना भली-भाँति मिश्रित हो सकता है ऐसे अन्दाज से लेकर उनको अग्नि द्वारा तपाकर द्रवित किया जाता है और द्रवित अवस्था में ही उष्ण पारद में डालकर मिला दिया जाता है। द्रवीभूत हुए नाग और वङ्ग गर्म पारे में मिलाने से एक जीव से हो जाते हैं। उनमें पृथक्त्व प्रगट नहीं होता है। उनका पृथक्करण करने के लिए ऊर्ध्वपातन यन्त्र तथा तिर्यक्-पातन यन्त्र का ही आश्रय लेना होता है। डमरु यन्त्र में भी पारद का पृथक्करण नाग-वङ्गादि के मिश्रण को छोडकर सम्पन्न होता है। साराश यह है कि शीशा और रांगा जब बाहर से पारद में मिलाया जाता है उसको यौगिक कहा जाता है।

'औपाधिका' औपाधिक दोष वह होता है जो संसर्गजन्य होता है। औपाधिक दोषों को ही कञ्चुक नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। पारद की उत्पत्ति खान से होती है। खनिज पारद

अथवा पारद का खनिज भूगर्भ में जिस प्रकार की मिट्टी के सम्पर्क में रहता है उसका दोष उसमें होना अनिवार्य है। वह मिट्टी का सम्पर्कज दोष ही भूमिज दोष कहलाता है। इसी प्रकार खान में पारद अथवा उसके खनिज से पाषाण-पत्थर का भी संयोग होता ही है और जब होता है तो उसका सम्पर्कज दोष उसमें आता ही है। यह गिरिज दोष पारद में होता है। प्रस्तुत नियम के अनुसार पारद अथवा पारद के खनिज का जिस जिस द्रव्य से सम्पर्क होता है उस-उस द्रव्य के भाग तथा उसका वहिर्भाग किञ्चित पारद में सम्मिलित हो जाता है और उनके सम्पर्कज दोष उसमें समाविष्ट हो जाते हैं। खान में पारद अथवा पारद खनिज से जल का सम्पर्क होता है उसको वारिज अथवा वार्ज दोष कहा जाता है। इसी प्रकार शीशा और वङ्ग का सम्पर्क भी खान में होता है अतः उसमें नाग और वङ्ग दोष होते हैं। यह स्मरण रहे कि नाग और वङ्ग को अधिक लाभ की भावना से वजन बढ़ाने के लिए व्यापारी लोग पारद में मिलाते हैं। यह यौगिक दोष होता है। और खान में पारद के खनिज अथवा पारद से जो सम्पर्क होता है—तज्जन्य दोष होता है, उसको औपाधिक दोष कहते हैं। खान के सम्पर्क से ताम्र दोष और अयोज दोष भी होते हैं। पारद के खनिज अथवा पारद का खान में ताम्र धातु और लोह धातु इनसे सम्पर्क आ जाता है तो तज्जन्य दोष उसमें आ जाते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से पारद के औपाधिक दोष प्रतिपादित किये गये हैं जो सात प्रकार के हैं। इनको ही कञ्चुक कहा जाता है। कञ्चुक उसको कहते हैं जिससे शरीर का आवरण होता है। जैसे—सर्पनिर्मोक अर्थात् सर्प की काँचली, यह सर्प के पूरे शरीर का आवरण करके रहता है। स्त्री के वक्ष स्थल पर भी काँचली पहना हुई होती है जो उस भाग को आवरित करके रहती है। इसी प्रकार जब पारद खान से अथवा खनिज से निकाला जाता है और उसके आजू-बाजू के भाग में नाग, वङ्ग, स्रोतोंजन, यशद, सोमल, ताम्र आदि धातुएँ रहती हैं। वे पारद में मिश्रित हो जाती हैं। पारद यह समस्त धातुओं की अपेक्षा अधिक वजनी होता है। पारद का विशिष्ट गुरुत्व १३-५६ होता है। यह जब दूसरे धातु से मिश्रित होता है तब अपने गुरुत्व भार के कारण नीचे रहता है। पारद-मिश्रित धातुओं का जब ऑक्सीजन वायु से संयोग होता है उस समय वे धातुयें टुकड़े-टुकड़े होजाती हैं और उनका चूर्ण होकर उस पारद को आवेष्टित करती हैं। जैसे कि—'धातवो रससंश्लिष्टा यदा विष्णुपदामृतम्। गृह्णन्ति हि तदा तेषां कश्चिद् भागोऽवशीर्यते॥ ततश्चूर्णत्वमापन्ना रसमाच्छादयन्ति ते। तेनावरणसाम्येन धातवः सूतसंगताः॥ कञ्चुकाख्या भजन्तीति प्राच्यपाश्चात्यसम्मतिः। कैश्चिदेते कञ्चुकाख्या दोषा औपाधिकाः स्मृताः॥ (रसतरङ्गिणी)। तात्पर्य यह है कि वह-वह धातु अपने आवरण से पारद पर झाँई के रूप में प्रगट होती है। जिस जिस धातु का जो रङ्ग होता है उसी के अनुसार उसके आवरण की भी आभा होती है। यही हेतु है कि पारद में अनेक प्रकार की आभा परिलक्षित होती है। यह झाँई प्रत्येक कञ्चुकी का रङ्ग है, जैसे रङ्ग की धातु होती है उसके अनुसार ही उसकी कञ्चुकी का रङ्ग होता है। अतः सप्त कञ्चुकियों के आवरण को जब दूर कर दिया जाता है तब पारद स्वच्छ, निर्मल और विभिन्न आभाओं से रहित हो जाता है।

अतो दोषनिवृत्त्यर्थं रसः शोध्यः प्रयत्नतः॥ २२॥
शोधितो रसराजस्तु सुधातुल्यफलप्रदः।
दोषहीनो यदा सूतस्तदा मृत्युजरापहः॥ २३॥
साक्षादमृतमप्येष दोषयुक्तो रसो विषम्।

तस्माद्दोषनिवृत्त्यर्थं सहायैर्निपुणैर्भिषक् ॥ २४ ॥
सर्वोपस्करमादाय रसकर्म समाचरेत् ।

सम्प्रति दोषनिवृत्तिप्रतिपादनाय निपुणैः सहायैः सर्वोपस्करणानि संपाद्य रसकर्मारम्भः कार्य इति दर्शयितुमाह—अत इत्यादि । अतो दोषनिवृत्त्यर्थम्-नागवङ्गादियौगिकनैसर्गिकौपाधिकदोषपरिहारार्थं, रसः—रसनात् स्वर्णादिधातूनामिति । प्रयत्नतः शोध्यः । शोधितः-स्वेदनादिसंस्कारैः शुद्धिं नीतो रसराजः-रसानामभ्रकादीनामुपरसानां च गन्धादीनां राजत्वान्नृपतुल्यत्वादुत्कृष्टप्रभावत्वादिति यावत्, राजते शोभत इति वा । सुधातुल्यफलप्रदः-अमृतसमगुणसमुच्चयः । यदा सूतो दोषहीनः द्वादशदोषविवर्जितो भवति तदा मृत्युजरापहः-अजरामरकरः । एष पारदः साक्षादमृतमिव, देहस्य लोहवद् दृढां सिद्धिं सूते, शरीरं लोहतुल्यं सुदृढं करोतीति भावः । दोषयुक्तः-सदोषः सूतो विषं विषतुल्यम् । तस्माद्दोषनिवृत्त्यर्थं-निर्दोषत्वसम्पादनार्थं निपुणैश्चतुरैः सहायैः, भिषक् सर्वोपस्करम्-रसार्णवोक्तम्-'रसोपरसलोहानि खल्वपाषाणमर्दकम् । मृन्मयानि च यन्त्राणि धमनी लोहयन्त्रकम् । कोष्ठिका वक्रनालं च गोमयं सारमिन्धनम् । सदशी पट्टसदंशं मृत्पात्राद्य कटोरकम् । प्रतिमानानि च तुला छेदनी निकषोपलम् । वशनालीलोहनालीमुसलोलूखलानि च । मूषानाडयस्तथौषध्यो वसनं काञ्जिकं विडम् । स्नेहाम्ललवणक्षारविषाण्युपविषाणि च ॥' इति । रसशोधनादिकर्मण्यखिलापेक्षितोपस्करमादाय रसकर्म समाचरेदित्यर्थः ॥ २२-२४½ ॥

पूर्वोक्त श्लोकों में पारद के बारह दोष कहे गये है, इसीलिए उन दोषों को दूर करने के लिए प्रयत्न के साथ पारद की शुद्धि करनी चाहिए । शुद्ध किया हुआ पारा अमृत के समान गुण देने वाला होता है । जब पारद दोषों से हीन होता है अर्थात् सस्कारों द्वारा दोषों का निराकरण करके शुद्ध किया जाता है तब वह मृत्यु और वृद्धावस्था को नष्ट करने में समर्थ होता है । शुद्ध किया हुआ पारद साक्षात् अमृत है और दोषयुक्त विष है । इसीलिए पारद की दोष-निवृत्ति अर्थात् शुद्धि के लिए वैद्य का कर्तव्य है कि रसकर्म-विधियों के जानकार एवं चतुर सहायकों के सहयोग से रसकर्म में करनेवाले समस्त साहित्य को प्रथमतः सग्रह करके ही पारद की शुद्धि और उसके सस्कार करने प्रारम्भ करने चाहिए ।

वक्तव्य—'सर्वोपस्करमादाय' इस वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि पारद-शुद्धि के कार्य को जब प्रारम्भ करना है तब उस कार्य में लगने वाली जितनी सामग्री है वह सब और उपस्थित रहनी चाहिए । पारद के सस्कार कर्म किए जा रहे है और उसमें प्रयुक्त किसी वस्तु की आवश्यकता हो गई और वह साधक के पास नही है ऐसी दशा में उस वस्तु के अभाव में पारद-सस्कार का कार्य स्थगित रखना होगा, जब वह वस्तु मिलेगी तब ही कही कार्य आगे चल सकेगा । ऐसा होना कदापि उचित नही है । एक छोटा ही उदाहरण लीजिए कि—गन्धक-जारण सस्कार किया जा रहा है और लकडी अथवा कोलसे समाप्त हो गये हैं । कम से कम आठ घण्टे तक उनकी प्राप्ति असभव है । ऐसी दशा में कार्य की हानि तो होगी ही किन्तु सस्कार के गुणधर्मों में भी व्यत्यय उत्पन्न होगा । जो विधि सतत एक सरीखी चालू रहनी चाहिए उसको स्थगित करके पुनः चालू करना, गुणों में अन्तर होता है और पाक में भी । इसी लिए **'सर्वोपस्करमादाय'** यह वाक्य यहाँ विशेष रूप से रखा गया है । पारद के सस्कार में किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनको कि प्रथमतः ही सगृहीत करके रखना चाहिए । रसार्णवकार उनका दिग्दर्शन देता है—रस, उपरस, लोह, उपलोह, पत्थर और लोहे आदि के

खरल तथा उनके मर्दक, डमरु आदि विद्या के यन्त्र, धमनी, कोष्ठिका आदि—जिनका कि उल्लेख ऊपर संस्कृत टीका में किया हुआ है देख लें।

रस संस्कार के लिए पारद कम से कम कितना और अधिक से अधिक कितना लेना चाहिए इस विषय को आगे कहते हैं—

> रसो ग्राह्यः शुभे काले पलानां शतमात्रकम् ॥ २५ ॥
> पञ्चाशद्वा तदर्धं वा दश पञ्चैकमेव वा।
> पलादूने न कर्तव्यो रसे संस्कार उत्तमः ॥ २६ ॥
> बहुप्रयाससाध्यत्वात्फलं स्वल्पं यतो भवेत्।

अथ संस्कारार्थं रसमानमाह—रस इत्यादि। शुभे काले-रिक्तादितिथिवर्जिते शुभग्रहवारनक्षत्रलग्नसहितदिनस्य पूर्वाह्णे, रसो ग्राह्य, पलाना शतमात्रकम्-चतुःशततोलकमितम्, पञ्चाशतपलानां वा-द्विशतकर्षाणा वा तदर्धं-पञ्चविंशतिपलानि वा। अथवा दश पञ्चैकमेव वा-दशपलानि पञ्चपलानि पलमेकं वा। पलमान कर्षचतुष्टयमितम्। पलात-चतुष्कर्षात-ऊने-न्यूने रसे, उत्तम-श्रेष्ठ सस्कारो न कर्तव्य' कुतो बहुप्रयाससाध्यत्वात्-अधिकधन-जन-कालसाध्यत्वात्, फल च स्वल्प, भवेत्, यत कर्षचतुष्टयाद्धीनमान पारदं संस्कारार्थं नोचितमिति भाव'। रसार्णवे तु—द्वे सहस्रे पलानां तु सहस्रं शतमेव वा। अष्टाविंशत्पलाना वा दश पञ्चैकमेव वा। पलार्धेनैव सस्कार कर्तव्य' सूतकस्य तु।' इति। सस्कारार्हसूतलक्षणं यथा तन्त्रान्तरे—'अन्त सुनीलो बहिरुज्ज्वलो यो मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाश। शस्तोऽथ धूम्र परिपाण्डुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धौ॥' इति॥ २५–२६½॥

रिक्तादि तिथि वर्जित शुभग्रह, वार, नक्षत्र और शुभलग्न युक्त दिन के पूर्वाह्न में सौ पल, पचास पल, पच्चीस पल, दश पल, पाँच पल अथवा एक पल पारद लेकर रस-सस्कार करना चाहिए। यह ध्यान रहे कि एक पल से कम पारद पर उत्तम सस्कार न करे क्योंकि यह कार्य बहुत ही अधिक परिश्रम से पूर्ण होता है अत कम पर किया हुआ परिश्रम सार्थक नही होगा। परिश्रम अधिक और फल न्यून होगा।

वक्तव्य—पारद-सस्कार के लिए शास्त्रकारों ने पारद-मानका भी सुझाव दिया हे और कहा है कि सौ पल पारद उत्तम सस्कार के लिए ग्रहण करना चाहिए। आवश्यकता और परिस्थिति वश, उससे कम भी लिया जा सकता हे किन्तु एक पल से न्यून नही। पल चार तोले को कहते हैं। रसरत्नसमुच्चय-कार ने **'द्वे सहस्रे पलाना तु सहस्रं शतमेव च।'** अर्थात् दो हजार पल, एक हजार पल और सो पल लेने को कहा हे। अर्थात् अढाई मन और सवा मन पारद की मात्रा अधिक सी प्रतात होती है किन्तु जिस व्यक्ति के पास सर्व प्रकार के साधन हैं। सस्कार और भावना के द्रव्य तथा उसके लिए लगने वाले पात्र एव चतुर साधक भरपूर हैं तो यह प्रमाण विशेष अधिक नही है। पारद बहुत अधिक वजनी होता हे। बृहदाकार पात्रो की उसके लिए आवश्यकता नहीं होती, साथ ही मर्दन करने में भी कष्ट अधिक इसलिए नहीं होता कि वह जरा से झटके मे ही हिल डुल जाता है अत भावित करने मे कष्टदायी नही होता है।

हाँ, स्वल्प मात्रा में लेना अवश्य विचारणीय हे जिसको पारद की शुद्धि करना है और सस्कारों द्वारा उसको कार्यकारी बनाकर सफलता प्राप्त करनी है उसे कभी भी स्वल्प मात्रा मे पारद लेकर सस्कार नहीं करना चाहिये। जैसे कि—**स्वेदनादि-नवकर्मसस्कृत· सप्तकचु-**

कविवर्जितो भवेत्। अष्टमांश अवशिष्यते तदा शुद्धसूत इति कथ्यते बुधैः ॥' (रसरत्नाकर) अर्थात् स्वेदन, मर्दन, आदि नौ कर्मों द्वारा संस्कारित करने पर जब सप्तकञ्चुकी दोषों से रहित पारद हो जाता है, उस समय वह अष्टमांश अवशेष रहता है। अर्थात् आठ सेर का एक सेर बचना है सात सेर की हानि होती है ऐसी दशा में स्वल्प मात्रा पर संस्कार करना 'न देवाय और न धर्माय' होता है। तन्त्रान्तरों में यह भी कहा है कि—**पलादूनस्य सूतस्य शतादप्यधिकस्य च। न संस्कारः प्रकर्तव्यः संस्कारः स्यात्ततोऽपर ॥'** तात्पर्य यह है कि चार तोले पारद से कम नहीं और चार सौ तोले से अधिक नहीं लेना चाहिए। इसका भी प्रधान उद्देश्य यही है कि स्वल्प मात्रा में पारद पर संस्कार नहीं करना चाहिये। चिकित्सक के लिए यह अहर्निश लगने वाली और अत्यन्त आवश्यक वस्तु है उस पर बारम्बार संस्कार करके लेना यह असम्भव है। ऐसी वस्तुओं का कभी क्वचित् अथक परिश्रम से ही निर्माण होता है। अतः एकदम ही स्वल्प नहीं होना चाहिए।

रसाचार्यों की यह अकाट्य मान्यता रही है कि बिना किसी दैवी बल के रससिद्धि में सफलता असम्भव है अतः आगे श्लोकों में रस-संस्कार प्रारम्भ करने से प्रथम पूजा का विधान कहा है—

संपूज्य श्रीगुरुं कन्यां वटुकं च गणाधिपम् ॥ २७ ॥
योगिनी क्षेत्रपालांश्च चतुर्धा बलिपूर्वकम्।
ततस्तु निभृते स्थाने सुमुहूर्ते विधोर्बले ॥ २८ ॥
सुदिने शुभनक्षत्रे रसशोधनमाचरेत्।
अघोरेण च मन्त्रेण रसं प्रक्षाल्य पूजयेत् ॥ २९ ॥
स्वेदनादिमुखान् पश्चात् संस्कारान् सम्यगाचरेत्।

सम्पूज्येत्यादि—श्रीगुरुम्-आचार्यम्, कन्यां-कुमारीम्, वटुकं-भैरवम्, गणाधिपं-गणपतिम्, योगिनीं क्षेत्रपालांश्च बलिपूर्वक-बलिदानपुरःसरम्, चतुर्धा-चतसृषु दिक्षु बलिं प्रदाय, अथवा चतुःप्रकारं पाद्याचमनार्घ्यनैवेद्यैश्च सपूज्य अभिवादनपुरःसरं पूजनं विधाय ततस्तदनन्तरम्, निभृते-रहसि, स्थाने, विधोर्बले चन्द्रबलसहिते सुमुहूर्ते शुभलग्ने सुदिने-शोभनतिथौ रिक्तादिवर्जिते, शुभनक्षत्रे रसस्य शुद्धिमाचरेत्। क्वचित् पुस्तके-'सूत रहस्यनिलये' इति पाठभेदः। अघोरेण च मन्त्रेण—अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः, सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्य' इत्यनेन रसं काञ्जिकेन प्रक्षाल्य पूजयेत्। पश्चात् स्वेदनादिमुखान्-स्वेदनसंस्कार एवादौ मुखे येषां ते स्वेदनादिमुखास्तान् संस्कारान् सम्यगाचरेत्। ग्रन्थान्तरेऽपि—'शुभेऽह्नि विष्णुं परिचिन्त्य कुर्यात्सम्यक्कुमारीवटुकार्चनं च। सुलौहपाषाणसमुद्भवेऽस्मिन् दृढं च वेदाङ्गुलिगर्भमात्रे। सुतप्तखल्वे निजमन्त्रयुक्तः विधाय रक्षां स्थिरसारबुद्धिः। अनन्यचित्तः शिवभक्तियुक्तः समाचरेत् कर्म रसस्य तज्ज्ञः ॥" इति ॥ २७-२९½ ॥

श्रीगुरु, कुमारी, वटुक भैरव, गणेश, योगिनी और क्षेत्रपालों की बलिपूर्वक अथवा अभिवादन करके चारों दिशाओं में ४ प्रकार के उपचार से भली भाँति पूजा करके एकान्त स्थान जहाँ सहसा किसी का सहज में प्रवेश न हो सके, ऐसी जगह में समस्त साहित्यों के साथ, शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त्त में चन्द्रबल देखकर पारद शोधन कार्य को प्रारम्भ करे। रस संस्कार प्रारम्भ करने से प्रथम पारद को अघोर मन्त्र से अभिमन्त्रित करते हुए काञ्जिक से प्रक्षालन अर्थात् भली प्रकार धोवे और उसके पश्चात् षोडशोपचार से रस की पूजा करे तदनन्तर स्वेदन, मर्दनादि

संस्कारों को सावधानता और अनन्य चित्त से प्रारम्भ करे। यह ध्यान रहे कि पारद की सिद्धि स्थिरबुद्धि, नैष्ठिक विचार-प्रणाली, भगवान शिव में अनन्य श्रद्धा और शास्त्रों में जिनका विश्वास है तथा जो क्रियाकुशल, रससम्प्रदायी, सम्पन्न और उत्साही हैं, वह रसकर्म में सफल होता है।

रस-संस्कार के प्रारम्भ में ही सर्वप्रथम खल्व की आवश्यकता होती है जिसमें पारद को डाल कर तप्तखल्वादि और मर्दनादि संस्कार किये जाते हैं। आगे के श्लोक में यही प्रतिपादित किया जायगा कि खल्व कैसा होना चाहिये—

खल्वो लोहमयः श्रेष्ठस्तस्माच्छ्रेष्ठस्तु सारजः।
कान्तलोहभवस्तस्मात् मर्दकश्च तथाविधः ॥ ३० ॥
अभावे लोहखल्वस्य स्निग्धपाषाणजः शुभः।
तादृशस्वच्छसुश्लक्ष्णमर्दकेन समन्वितः ॥ ३१ ॥

अथ खल्वादीन्निर्दर्शयन्नाह—खल्व इत्यादि। लोहमय—लोहधातुघटित एव खल्वः पारदकर्मश्रेष्ठस्तस्माल्लोहभवात्सारज· श्रेष्ठस्तस्मादपि कान्तलोहभव· श्रेष्ठस्तथाविध-स्तत्सदृशो येन धातुना खल्वो भवेत्तेनैव मर्दकश्च घर्षणकश्चापि निर्मापितव्यो भवेदिति लोहखल्वस्याभावे स्निग्धपाषाणज—स्निग्धश्चासौ पाषाणस्तस्माज्जात·—चिक्कणप्रस्तरनिर्मितः शुभ—तादृशस्वच्छसुश्लक्ष्णमर्दकेन—पेषणकेन युक्त·। रसार्णवे खल्वभेदो यथा—'मृन्मये लोहपाषाणे ह्ययस्कान्तमयेऽथवा।' क्वचित्तु 'पाषाणे स्फटिके वाऽथ मुक्ताशैलमयेऽथवा।' अन्यत्र तु 'कृत· कान्तायसे खल्वे भवेत्कोटिगुणो रस·।' रसेन्द्रचूडामणौ खल्वलक्षणं तु—'उत्सेधेन नवाङ्गुलं शशिकलासंख्याङ्गुलं दैर्घ्यतो, विस्तारेण नवाङ्गुल रसमितैर्निम्नं तथैवाङ्गुलैः। कण्ठे द्व्यङ्गुलसम्मितं सुमसृणं द्रोणार्धयन्त्रोपमं, घर्षं चैव दशाङ्गुलं तलमिदं खल्वाख्ययन्त्रं वदेत्' ॥ ३०–३१ ॥

पारद-संस्कारों के उपयोग मे लेने के लिए लोहे का खरल ही सर्वोत्तम होता है। सर्व साधारण लोह से फौलाद लोह का उत्तम और उससे कान्त लोह का उत्तम होता है। जिस धातु का खरल बनाया जावे उसी का मर्दक अर्थात् मूशल भी बनाना चाहिए। लोह खरल के अभाव में चिकने पत्थर के खरल का भी प्रयोग किया जा सकता है किन्तु पत्थर अत्यधिक सुदृढ और नही घिसने वाला होना चाहिये अन्यथा घर्षण में पत्थर का भाग सम्मिलित होगा। जिस प्रकार के पत्थर का खरल हो उसी का मर्दक (घोटा)भी होना चाहिए। खरल और घोटे के निर्मापक वस्तुजात द्रव्य में अन्तर नहीं होना चाहिए।

वक्तव्य—रस-कर्म में प्रयुक्त होने वाला खरल तीन प्रकार का होता है। उसके तीन प्रकार रसकर्म-सौकर्य के लिए ही होते हैं। रसखरलसमुच्चय-कार इस विषय को इस प्रकार कहता है—**'खल्लयन्त्रं त्रिधा प्रोक्तं रसादिसुखमर्दने।'** अर्थात रसादिकों के मर्दन में किसी प्रकार की असुविधा न हो एतदर्थ खल तीन प्रकार के होने चाहिए। पहला अर्धचन्द्राकार, दूसरा वर्तुलाकार और तीसरा तप्तखल्ल ये खरल के तीन प्रकार हे। प्रथम के दो अर्धचन्द्र और वर्तुल पत्थर के होते हैं। उनका पत्थर नील, श्याम और ताम्रवर्णी उत्तम होता हे तथा चिकना, मजबूत और वजनदार होना चाहिए। तप्तखल लोहे का होता है। इस विषय का विस्तृत परिचय परिभाषा के परिशिष्ट में देखें।

अब आगे पारद की शुद्धि और उसका अपना सहज तथा स्वाभाविक गुणोत्कर्ष हो सके एव च

वह देहसिद्धि और लोहसिद्धि मे कार्यकारी बन सके एतदर्थ ११, १८ तथा ८ सस्कारों का वर्णन किया जाता है—

रससंस्काराः

अष्टादशैव संस्कारा ऊनविंशतिका' क्वचित् ।
संप्रोक्ता रसराजस्य वसुसंख्याः क्वचिन्मताः ॥ ३२ ॥

स्यात्स्वेदनं तदनु मर्दनमूर्च्छने च स्यादुत्थितिः पतनरोधनियामनानि ।
संदीपनं गगनभक्षणमानमत्र संचारणं तदनु गर्भगता द्रुतिश्च ॥३३॥
बाह्या द्रुतिः सूतकजारणा स्याद्रागस्तथा सारणकर्म पश्चात् ।
संक्रामणं वेधविधिः शरीरयोगस्तथाऽष्टादशधाऽत्र कर्म ॥३४॥

रसे नागवङ्गादयो बहवो दोषास्ते च पूर्वं प्रतिपादितास्तेषामत्र शुद्धिक्रिया द्विविधा, यथा—'व्याधौ रसायने चैव द्विविधा सा प्रकीर्तिता । या शुद्धि कथिता व्याधौ सा नेष्टा हि रसायने । रसायने तु या शुद्धि' सा व्याधावपि कीर्तिता ।' इति । ताभ्यां शुद्धिभ्या शोध्या इति प्रवन्धकार स्वमतं प्रकटयंस्तान् पारदसाधकसंस्कारान् संख्याभिर्नामभिश्च निर्दिशति–अष्टादशैवेत्यादि । रसराजस्य, अष्टादशैव-दशाष्टसख्याका एव संस्कारा — रससाधका' संप्रोक्ता । क्वचिदूनविंशतिका –एकोनविंशतिसंख्याका, क्वचिद्वसुसख्या – अष्टसंख्यका मता । तेष्वष्टादशधा यथा—स्यादित्यादि । स्वेदन स्वेदनसंस्कार' । स तु दोलायन्त्रेण भवति तदग्रे यथास्थान वक्ष्ये । पाकस्तु कुत्रचित्रिदिन कुत्रचिदेकदिनमनवच्छेदेन कार्यं । तदनु स्वेदनसस्कारादनन्तरम् । मर्दनमूर्च्छने च मर्दनं च मूर्च्छनं च ते मर्दनं–खल्वे दत्त्वा प्रपेषणम्, मूर्च्छनं–मर्दनविशेषेणैव मूर्च्छापादनम् । उत्थितिरुत्थापनम् । पतन च रोधश्च नियामन च तानि पतनरोधनियामनानि । पतन पात ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदेन त्रिविध । रोध —निरोधन घटमध्ये । नियमनं–संयमनम् । सदीपनं–स्वेदनविशेष । एतेषामष्टानामुक्तसस्काराणां लक्षणानि यथास्थान वक्ष्ये। अत्र गगनभक्षणमानम्–अभ्रकभक्षणपरिमाणम्, यथा—'इयन्मानस्य सूतस्य ग्रासद्रव्यात्मिका मिति । इयतीत्युच्यते याऽसौ ग्रासमानमितीरितम् ।' इति । संचारणम्–ग्रासमानं नाम संस्कारस्तदनु तत्पश्चात् तस्य त्रयो भेदाः सन्त्यन्ये । गर्भगता द्रुति , बाह्यद्रुति', सूतकजारणा च। 'ग्रासस्य चारण गर्भद्रावणं जारणं तथा। इति त्रिरूपा निर्दिष्टा जारणा वरवार्तिकै ॥' तथा च—'ग्रास पिण्ड परीणामस्तिस्रश्चाख्या परा पुन ' पुनश्चारणाया द्वैविध्यमाह यथा–'समुखा निर्मुखा चेति चारणा द्विविधा पुन ।' निर्मुखा चारणा प्रोक्ता बीजदानेन भागत । शुद्ध स्वर्णं च रूप्य च बीजमित्यभिधीयते चतु षष्ट्यशतो बीजप्रक्षेपो मुखमुच्यते । एवं कृते रसो ग्रासलोलुपो मुखवान् भवेत्। कठिनान्यपि लोहानि क्षमो भवति भक्षितुम् । इय हि समुखा प्रोक्ता जारणा मृगचारिणा। दिव्यौषधिसमायोगात्स्थित प्रकटकोष्ठिषु । भुञ्जीताखिललोहाद्य योऽसौ राक्षसवक्त्रवान् । इयं हि निर्मुखा प्रोक्ता जारणा वरवार्तिकै । रसस्य जठरे ग्रासक्षेपण चारणा मता। ग्रस्तस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहृता। बहिरेव द्रुतीकृत्य घनसत्त्वादिकं खलु। जारणाय रसेन्द्रस्य सा बाह्या द्रुतिरुच्यते।' इति द्रावणस्य लक्षणद्वय प्रतिपादितम् । पुनर्द्रुतिलक्षण यथा—निर्लेपत्व द्रुतत्वं च तेजस्त्वं लघुता तथा। असंयोगश्च सूतेन पञ्चधा द्रुतिलक्षणम् । औषधाध्मानयोगेन लोहधात्वादिक तथा। सन्तिष्ठते द्रवाकारं सा द्रुति

परिकीर्तिता । द्रुतग्रासपरीमाणो विडयन्त्रादियोगत । जारणेत्युच्यते तस्याः प्रकाराः सन्ति कोटिश' ॥' इति । राग'—रञ्जनम्, 'सुसिद्धवीजधात्वादिजारणेन रसस्य हि । पीतादिराग-जननं रञ्जनं परिकीर्तितम् ।' इति । तथा सारणकर्म–'सूते ।स तैलयन्त्रस्थे स्वर्णादिक्षेपणं हि यत् । वेधाधिक्यकरं लोहे सारणा सा प्रकीर्तिता ।' इति । सक्रामणं-क्रमणाख्योऽपि सस्कारो ज्ञेय. । वेधविधि –'व्यवायिभेपजोपेतो द्रव्ये क्षिप्तो रस खलु । वेध इत्युच्यते तज्ज्ञै' स चानेकविध' स्मृत । लेप क्षेपश्च कुन्तश्च धूमाख्य शब्दसंज्ञक ॥' इति । किन्त्वत्र विस्तरभिया तेषां सर्वेषां लक्षणं न प्रणिगदितम् । दिदृक्षवो रसेन्द्रचूडामणेश्चतुर्था-ध्याये सर्वमवलोकयेयुः । शरीरयोग.–पूर्वमेव व्याख्यातस्तथाप्यधिकं रसेन्द्रचूडामणौ यथा–'एकान्तात्यन्ततश्च पुनस्ते ह्युपाया. खलु हरिहरब्रह्माण इव तुल्या एव संभवन्ति । ज्ञानयोग' पवनयोगो रसयोगश्चेति ।' तेष्वपि ज्ञानयोग-पवनयोगयोर्दु साध्यत्वं प्रति-पादयन् रसयोगस्य सर्वश्रेष्ठत्वं द्वयोर्लोकयोर्हितकर्तृत्वं च विशेषेणादिशति ढुण्ढुकनाथो-नाम सिद्धो यथा–तत्राद्ययो केवलं पक्वकपायाणामपि कथञ्चन साध्यत्वाच्चरमे तु पुन-र्भोगलोलुपानामप्यधिकारित्वात्ताभ्यां समीचीनोऽयमिति कस्य न प्रतिभाति । किञ्च–'अस्य भगवन्निर्यासतया सेवकानां स्वसंभूतसकलधातुत्वापादकस्य भगवतो रसराजस्य गुण-सिन्धो' कियन्त पृपता' प्रसङ्गाल्लिख्यन्ते ॥' यदाह भगवान् स्वयं महेश्वर'–'अचिराज्जा-यते देवि शरीरमजरामरम् । मनसश्च समाधानं रसयोगादवाप्यते ।' इत्यादि । तथा पूर्वोक्तप्रकारेणाष्टादशधाऽत्रायुर्वेदप्रकाशे कर्म पारदस्य कथ्यत इत्यर्थ. ॥ ३२–३४ ॥

कुछ लोग पारद के सस्कार १८ कुछ १९ तो कुछ ८ ही मानते हैं। इनमें से अठारह सस्कारों के नाम स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, शोधन, नियमन, दीपन, गगनभक्षण, चारण, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, जारण, रञ्जन, मारण, सक्रामण, वेध और शरीरयोग ये हैं।

वक्तव्य—पहले यह दिखाया गया है कि पारद में बारह महादोष हैं, उनसे पारद को विरहित करके शुद्ध करना नितान्त आवश्यक है। पारद यह महान् और प्रभावशाली द्रव्य है। इसका उपयोग सर्वत्र रसभस्म के विना ससार का तथा सहिताओं का क्रम ही नहीं बन सकता है। प्राणिमात्र का हर प्रकार का अभाव और अभियोग सम्मुख रख कर उनके प्रतिकार का चिन्तन किया जाता है तो उसके मूल में पारद ही सहायक प्रतीत होता है। जैसे—**'रसभस्म विना यत्र कथ्यते संहिता क्रम' । अनुक्तमपि विज्ञेयं तत्र तत्राङ्गशान्तये ।'** कहने का तात्पर्य यह है कि पारद के उपयोग के लिए उसकी शुद्धि आवश्यक है। शुद्धि के सामान्यत दो प्रकार हैं। एक व्याधिविपयक और दूसरा रसायनविपयक अर्थात् पहली देह सिद्धि के लिए और दूसरी लोह-सिद्धि के लिए है। देह-सिद्धि के लिए जो शुद्धि की जाती है उसका उपयोग लोह-सिद्धि में नहीं होता है किन्तु लोह-सिद्धि के लिए पारद पर जो सस्कार किये जाते हैं उनका उपयोग देह-सिद्धि में किया जाता है। 'अष्टादशैव सस्कारा '। इसमें एव शब्द का जो उपयोग किया गया है वह उसकी प्रधानता का प्रतिपादक है। साथ ही क्रम-भग करके सस्कारों का जिस प्रकार से उल्लेख किया गया है उस पर से भी 'अष्टादश' पद ही महत्त्वपूर्ण है। अन्यथा अधिक से गणना होती तो सर्वप्रथम 'ऊनविंशतिका ' पद होता और यदि स्वल्प से गणना होती तो 'वसुसख्या ' का प्रथमोल्लेख किया जाता किन्तु यहाँ तो मध्यमार्ग को विशेषता दी है। अठारह प्रकार के सस्कारों की उपयोगिता उचित है। आठ प्रकार के सस्कारों तक पहुचते हैं तो देहसिद्धि के उपयोग में कार्य हो जाता है और आगे के दश सस्कार और कर लिये जाते हैं तो लोह-सिद्धि के लिए उपयोगी बन जाते हैं। ऊपर हमने सस्कृत-टीका में प्रत्येक सस्कार का परिचय और उसकी

संपादनीयाः—विडकाञ्जिकयन्त्राणि क्षारमूत्रलवणानि च। कोष्ठीमूषावङ्कनालीतुषाङ्गारवनोपलाः॥ भस्त्रिका दर्शिकानेका शिला खल्वान्युलूखलम्। स्वर्णकारोपकरणं समस्ततुलनानि च॥ मृत्काष्ठताम्रलोहोत्थपात्राणि विविधानि च। दिव्यौषधीनां वर्गाश्च रञ्जकस्नेहनानि च॥ सर्वाणि संगृह्णीयात्, यद्यदुपयुक्तमन्यत्सर्वं तत्तद्देशेभ्यः समाददेत। गुरुभक्तिश्च सर्वदा कार्या। गुरुभक्त्या विना रसकर्मणि न सिद्धिरुपलभ्यते। अथ परिभाषाया परिचयार्थं लेशोक्तेन किंचिल्लिख्यते—तत्र तावद्रसशास्त्रीयपरिभाषाशब्दानामभिप्रायो यथा—कज्जली-गन्धकाद्यैः समभागेन मर्दितो रसः कज्जलाभः सा तथोक्ता। सैव द्रवेण मर्दिता पङ्कः, द्वादशभागपरिमितो रसस्तन्मध्ये गुञ्जाद्वयमात्रं गन्धकं निष्कार्धं वा दत्त्वा तीव्रघर्मे मर्दिता नवनीतरूपा पिष्टिर्भवति। रसाच्चतुर्थांशसुवर्णेन मर्दिता पातनपिष्टिर्भवति। रूप्यसुवर्णयो रसगन्धाभ्यां हतयोर्बहुशः समुत्थितयोर्या कृष्टी सा हेमकृष्टी रजतकृष्टी चेत्युच्यते। सा च हेमकृष्टी सुवर्णमध्ये दत्ता तं न नाशयति रञ्जनं च करोति। तथा ताम्रं तीक्ष्णेन सह ध्मातं मिश्रितं सगन्धके लकुचाम्ले एकविंशतिवारं निक्षिप्तं वरलोहकं भवति। तेन रक्तीकृतं सुवर्णं हेमरक्तीत्युच्यते। द्रुतयोः स्वर्णतारयोर्निक्षिप्ता वर्णोत्कर्षकारिणी रञ्जनी च भवति। एवंताररक्तीकर्तव्या। मृतेन रसेन बद्धरसेन वाऽन्यलोहं साधितं पीतं सितं च भवति, तच्चन्द्रानलदले क्षेये माक्षिकेण ताम्रं हत्वा दशवारमुत्थाप्य तद्वन्नागमप्युत्थापितमुभयं चतुष्पलं नीलाञ्जनहतं कृत्वा पुनः सप्तवारमुत्थापितं तुल्यनागं भवति। तेन साधितं पारदो गुटिकाकारो सेहवलीपलितादिहर्ता भवति। लोहान्तरे क्षिप्तं लोहं बहुधा ध्मातं निर्वापितं च बहुशो यदा पाण्डुपीतप्रभं भवति, तदा पिञ्जरीत्युच्यते। षोडश तारस्य भागाः, द्वादश ताम्रस्य, एकत्रावर्तिताश्चन्द्रार्कमित्युच्यते। त्रिंशत्पलमितं नागमर्कदुग्धेन मर्दितं सहस्रपुटैर्यदार्धकर्षावशेषं भवति तदा नागसम्भवक्षपलस्तस्य रजसा स्पृष्टमात्रं पारदो बद्धो भवति। एवमेव वङ्गस्यापि कार्यं। सुस्पष्टं सविस्तृतं च परिशिष्टे परिभाषा-प्रकरणे द्रष्टव्यम्।

इससे पूर्व के ३३-३४ वें श्लोकों में अठारह प्रकार के पारद के संस्कारों का परिचय दिया गया है। अब इस गद्य में पूर्वोक्त अष्टादश संस्कारों में 'मारणा' संस्कार अधिक सम्मिलित करके उन्नीस (१९) संस्कार सूत अर्थात् पारद-सिद्धि को देने वाले माने हैं। इसके साथ ही यह स्पष्टीकरण भी किया है कि देहोपयोग के लिए केवल दीपन संस्कार तक आठ ही संस्कार हैं।

वक्तव्य—विभिन्न रसाचार्यों के अपने-अपने अनुभव से पारद के संस्कारों की संख्या भी विभिन्न है। किसी रसग्रन्थकार ने आठ संस्कार कहे हैं, किसी ने अठारह, किसी ने उन्नीस और किसी ने बीस। उन सभी मतों का 'आयुर्वेदप्रकाश'-कार ने संग्रह किया है और अपना क्रियात्मक अनुभव भी प्रतिपादित किया है। इस ग्रन्थ की अपनी यह विशेषता है कि इसमें पारद-सम्बन्धी ज्ञातव्य विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि रसायनवाद के लिए आठ ही संस्कार उपयोगी हैं, शेष दस, ग्यारह और बारह जो कहे हैं उनका चिकित्सा-क्षेत्र से सीधा सम्बन्ध नहीं है फिर भी इस ग्रन्थ में उन पर भी प्रकाश डाला गया है कि प्रत्येक चिकित्सक पारद के ज्ञान का विशेष लाभ उठावे। किस किस प्रकार के संस्कारित धातु से पारद पर संस्कार करने पर कैसा क्या स्वरूप परिवर्तित होता है और गुणों में किस प्रकार अन्तर आता है, यह संकेत मात्र ऊपर संस्कृत टीका में हमने लिखा है।

'अष्टौ संस्कारा वा देहसिद्धिदा भवन्ति' इस पद से यह तो स्पष्ट ही है कि देहसिद्धि अर्थात् चिकित्सा कार्य के लिए आठ ही संस्कार उपयोगी हैं और इनका ही विशेष ज्ञान आवश्यक

है। यही बात रसपद्धतिकार ने कही है **'स्पष्टाऽष्टधा संस्कृतिः अस्याः सर्वरसोपयोगिकतया।'** अर्थात् आठ प्रकार के संस्कार ही सर्व रसोपयोगी हैं। देह सिद्धि के लिए उपयोग में आने वाले समस्त प्रयोगों में अष्ट संस्कारित पारद का ही महत्त्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि पारद के आठ संस्कारों का ज्ञान देहवाद के लिए विशिष्ट महत्त्वपूर्ण है और उसके बिना चिकित्सा क्षेत्र की महानता, परिपूर्णता और आशुकारिता स्पष्ट स्वरूप में परिलक्षित नहीं होती है। पारद जितना महत्त्वपूर्ण बनाया जा सकता है उतना ही अधिक प्रभावी और अचिन्त्य कार्य करने वाला सिद्ध होता है। 'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ' यह उक्ति पारद के विषय में अधिक स्पष्ट होती है। पारद के विभिन्न शक्ता, जिनका कि गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त कर स्वय कृति द्वारा अनुभव सिद्ध किये हैं उनसे पारद में अलौकिक असीम और अचिन्त्य शक्ति का निर्माण होता है। यदि असंस्कारित पारद का प्रयोग किया जाता है तो उसके बराबर महान् घातक दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। यही कारण है कि पारद को संस्कारित करके ही उपयोग में लेना चाहिए। इन संस्कारों में प्रथम के आठ संस्कार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक प्रथम आठ संस्कार नहीं किये जाते हैं तब तक उसका उपयोग न तो देहवाद में होता है और न धातुवाद में ही। यह बात पूर्वोक्त श्लोक में स्पष्टतः प्रतिपादित हो चुकी है, जैसे कि—**'इत्यष्टौ सूतसंस्काराः समा द्रव्ये रसायने। कार्यास्ते'** अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकार के जो पारद के संस्कार बताये हैं वे दोनों कार्यों के लिए समान फलदायी, उपयोगी और आवश्यक हैं। देहवाद के लिए रस-रसायन द्रव्यों का निर्माण कर चिकित्सा-क्षेत्र में यश और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के साथ ही प्राणिमात्र के दुःख-दर्दों में सच्ची सहायता करना है तो अष्ट संस्कारित पारद की नितान्त आवश्यकता है। अथवा लोहवाद—हलकी धातु से कीमती बहुमूल्य धातु का निर्माण करना है तो भी इन आठ संस्कारों की आवश्यकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये आठ संस्कार पारद के उत्कर्ष निर्माण के द्वार स्वरूप हैं अतः उनके अन्दर से गये बिना किसी प्रकार की कोई गति नहीं है अतः द्रव्य और रसायन कार्य के लिए आठ संस्कार समान आवश्यक हैं॥ ३६॥

अब आगे हम उन संस्कारों की क्रियाओं का वर्णन करते हैं, जिनके द्वारा पारद के समस्त दोषों का निराकरण होकर उनमें गुणों का अद्भुत और स्थायित्व प्रभाव अर्जित होता है तथा असंभव को संभावित करने में पूर्ण सहायता और मार्ग मिलता है।

अथ तेषु स्वेदनविधिः—

नानाधान्यैर्यथाप्राप्तैस्तुषवर्जैर्जलान्वितैः।
मृद्भाण्डं पूरितं रक्षेद्यावदम्लत्वमाप्नुयात्॥ ३७॥
तन्मध्ये घनवाङ्मुण्डीविष्णुकान्तापुनर्नवाः।
मीनाक्षी चैव सर्पाक्षी सहदेवी शतावरी॥ ३८॥
त्रिफला गिरिकर्णी च हंसपादी च चित्रकः।
समूलकाण्डं पिष्ट्वा तु यथालाभं विनिक्षिपेत्[1]॥ ३९॥

---

१ ग्रन्थकार एव व्याख्याति—यथा—घनो मुस्ता, वाग् ब्राह्मी, केचित् तन्मध्ये 'भङ्गुरामुण्डा' इति पठन्ति, मुण्डी प्रसिद्धा, विष्णुक्रान्ता श्वेतपुष्पा अपराजिता, पुनर्नवा गन्धपूर्णेति भाषा, मीनाक्षी मत्स्याक्षी 'मछेछी' इति भाषा (दुनगुदा इत्यपि) कचित् 'उलगुन्दा', सर्पाक्षी सर्पनेत्रोपमा 'चुत्री' इति भाषा, सहदेवी प्रसिद्धा, शतावरी शतावरीति भाषा, त्रिफला प्रसिद्धा, गिरिकर्णी नीलपुष्पा

पूर्वाम्लभाण्डमध्ये तु धान्याम्लकमिदं भवेत्।
स्वेदनादिषु सर्वत्र रसराजस्य योजयेत्।
अत्यम्लमारनालं वा तदभावे प्रयोजयेत्॥ ४० ॥

नानेत्यादि—स्वेदनं नाम-'क्षाराम्लैरौषधैः सार्द्धं भाण्डे रुद्ध्वाऽतियत्नतः। भूमौ निखन्यते यत्तत्स्वेदनं संप्रकीर्तितम्।' इति रसेन्द्रचूडामणौ। तुषवर्जं—कण्डनेनापनीततुषैः, यथाप्राप्तैः यथोपलब्धैः, जलान्वितैः संयुक्तजलैः, एवं भूतैर्नानाधान्यैरनेकविधान्नैर्यावदम्लत्वं अम्लरसत्वमाप्नुयात्, यावच्छब्दोऽत्र कालमर्यादां सूचयति। ऋतुभेदेन यावदम्लत्वं भवति तावत्स्थाप्यमिति भाव। तावत् मृद्भाण्ड-मृन्मयसचिक्कणपात्रम्, क्वचित् पुस्तके भाण्डार्धमिति पाठभेद। पूरितं-भृत्वा वा रक्षेत्। तन्मध्ये—नानाधान्यजलादिपूरितपात्रे घनो मुस्ता, वाग् ब्राह्मी, केचित् तन्मध्ये 'भृङ्गरा मुण्डी' इति, अन्ये च 'भङ्गुरा मुण्डी' इति वा पठन्ति। भृङ्गरा-भृङ्गराजः, मुण्डी-गोरखमुण्डी' इति प्रसिद्धा, विष्णुक्रान्ता-श्वेतपुष्पापराजिता, पुनर्नवा-वर्षाभू, मीनाक्षी-मत्स्याक्षी 'मीना तु मत्स्याक्षी' इत्यमरः। क्वचित् वाम्बीति प्रसिद्धा। 'होनगोंदा' इत्यपरे। सर्पाक्षी-भुजङ्गाक्षी 'नकुलेष्टा भुजङ्गाक्षी' इत्यमरः। मुङ्गसीकन्द इत्यपरे सहदेवी-रक्तपीतश्वेतनीलपुष्पभेदेन चतुःप्रकारा। शतावरी अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धा। त्रिफला-'एका हरीतकी प्रोक्ता द्वौ च प्रोक्तौ बिभीतकौ। चत्वार्यामलकानि स्युस्त्रिफलेति निगद्यते॥' इति। गिरिकर्णी-नीलपुष्पापराजिता। हंसपादी-हंसराज, चित्रक ख्यात। समूलकाण्डं-मूलशाखाभ्यां सहैव पञ्चाङ्ग यथालाभम् अर्धसंख्याधिकमिति गुरुसंप्रदाय। कुट्टयित्वा निवेशयेदिति। केचिदत्र 'समूलकानि पिष्टानि' इति पठन्ति। पिष्ट्वा पूर्वाम्लभाण्डमध्ये-पूर्वतोऽम्लभूतपात्रे विनिक्षिपेत्। इदमेव धान्याम्लक रसराजस्य स्वेदनादिषु कर्मसु सर्वत्र योजयेत्। अथवा तस्याभावेऽत्यम्लमारनालम्-अत्यधिकमम्लकाञ्जिकं प्रयोजयेत् काञ्जिकनिर्माणविधि पारदसंहितायामुक्तो यथा—तुलामितं षष्टिकतण्डुलाना प्रगृह्य चान्न विधिवद्विधाय। द्रोणेऽम्भसि क्षिप्तमथ त्रियामांस्तत्सप्त रक्षेत्पिहितं प्रयत्नात्॥ ततस्तु कल्कं सकलं निरस्यात्तत्काञ्जिकं कथ्यत आरनालम्। तद्भेदि तीक्ष्णं लघु पाचन च दाहज्वरघ्नं कफवातनाशि॥' इति।

पारद के स्वेदन कर्म मे काञ्जिक की सबसे पहले आवश्यकता होती है अत उसकी विधि—तुषरहित जितने धान्य मिलें जलपूरित घडे में डालकर ढक दे, जब उसमें अम्लत्व आ जाय तब नागरमोथा, ब्राह्मी, गोरखमुण्डी, कोयल साटी, मछेछी, सर्पाक्षी, सहदेवी, सतावर, त्रिफला, अपराजिता, हसराज और चित्रक जितने द्रव्य मिल सकें, किन्तु बताये हुए द्रव्यों में से आधे से अधिक होने चाहिए, इनके पञ्चाङ्ग को कूटकर पहले के अम्ल किये हुए पात्र में डाल दे। इनसे धान्याम्लक (काञ्जी) तैयार होगी। पारे के स्वेदन आदि कार्यों में इसका प्रयोग किया जाता है अथवा अत्यधिक खट्टी काञ्जी जिसे 'आरनाल' कहते है, उसका उपयोग करें।

वक्तव्य—'पूर्वाम्लभाण्डमध्ये' इसका तात्पर्य यह है कि जिस भाण्ड में पहले काञ्जी बनाई गई हो, प्रत्येक सन्धान के लिये यह आवश्यक है कि यदि उसे स्वल्प समय में तैयार करना है और उसके पूरे गुणों का समावेश अभीष्ट है तो ऐसा ही पात्र होना चाहिए, जिसमें पहले

अपराजितव, हसपादी हसचरणा, चित्रक प्रसिद्ध। समूलकाण्ड समूलशाख यथालाभम् अर्धसख्याधिकमिति गुरुसकेन।

कांजी बनाई गई हो। जैसे—आसव, अरिष्ट और मद्य के सन्धान में पुराने पात्र किंवा उसके किण्व का प्रयोग अच्छा और सद्यः सन्धानकर होता है, उसी प्रकार कांजी के लिए भी पुराना पात्र जिसमें कई बार कांजी बनाई या रखी गई हो, उत्तम होता है। कथंचित् ऐसा पात्र न मिले तो मिट्टी का कोरा और नवीन मटका लेकर उसको सरसों के तेल में भली-भाँति अन्दर से चुपड देना चाहिए और हींग, राई तथा सरसों के तैल को अग्नि पर डाल कर उसके धूएँ से मटके को धूपित करके उसमें सन्धानीय द्रव्यों को भरना चाहिए। इस प्रकार बनाई गई कांजी पारद के स्वेदनादि कार्यों में उपयुक्त होती है॥ ६८-७२॥

अब आगे पारद के स्वेदन संस्कार की विधि का वर्णन करते हैं—

व्यूषणं लवणं राजी लशुनं त्रिफलाऽऽर्द्रकम्।
महाबला नागबला मेघनादः पुनर्नवा॥ ४१॥
चित्रको मेषशृङ्गी च नवसारः समं समम्।
रसस्य षोडशांशेन सर्वं युञ्ज्यात् पृथक् पृथक्॥ ४२॥
एतद्व्यस्तं समस्तं वा पूर्वाम्लेनैव पेषयेत्।
प्रलिम्पेत्तेन कल्केन वस्त्रं चाङ्गुलिमात्रकम्॥ ४३॥
तन्मध्ये निक्षिपेत्सूतं बद्ध्वा तत् त्रिदिनं पचेत्।
दोलायन्त्रेऽम्लसंयुक्ते जायते स्वेदितो रसः॥ ४४॥

इदानीं स्वेदनमाह—व्यूषणमित्यादि। व्यूषणम्-त्रिकटु, लवणं-सैन्धवम्, राजी, लशुनम्, त्रिफला, आर्द्रकम्, महाबला-पीतपुष्पी सहदेवी, नागबला-गाङ्गेरुकी, मेघनादः[1] तण्डुलीयः पत्रशाकः, पुनर्नवा-वसुकः, चित्रकः प्रसिद्धः, मेषशृङ्गी-शृङ्गी, नवसारः-नवसादरो नाम क्षारविशेषः, समं समम्-सर्वं समं समभागमित्यर्थः। रसस्य-पारदस्य षोडशांशेन-षोडशभागेन सर्वं पृथक् पृथक्-भिन्नं भिन्नं युञ्ज्यात्, एतद् द्रव्यं व्यस्तम्-अपूर्णमेकं वा समस्तं समग्रं वा पूर्वाम्लेनैव-प्रागुक्तधान्याम्लकेनैव पेषयेत्। तेन कल्केन-पिष्टद्रव्येण, अङ्गुलिमात्रकम् अङ्गुलिमात्रोत्सेधं यावत् तावत् उन्नतं लेपं वस्त्रं प्रलिम्पेदित्यर्थः। तन्मध्ये सूतं बद्ध्वा, अम्लरसपूरिते दोलायन्त्रे निक्षिपेत्। त्रिदिनं पचेत् स्वेदयेदित्यर्थः। एवं रसः स्वेदितो जायते। रसकामधेनौ दोलायन्त्रं यथा—'द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरिताधोंदरस्य च। कण्ठस्योभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः। तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम्। बद्ध्वा तु स्वेदयेदेतद्दोलायन्त्रमिति स्मृतम्॥' इति॥ ४१-४४॥

स्वेदन विधि—सोंठ, मिरच, पीपल, सेन्धानमक, राई, लहसुन, त्रिफला-हरड, बहेडा और आँवला, अदरक, कर्घी, गगेरन, नागरमोथा, साठी, चित्रक, मेढासिंगी और नवसादर इन सबको समान भाग में लें। जितने प्रमाण में पारद का स्वेदन करना हो, अर्थात् पारा जितने तोले हो, उसके षोडशांश में एक-एक द्रव्य लेकर कांजी से पीसकर कल्क अर्थात् चटनी सरीखा बनाकर वस्त्र पर एक अंगुल मोटा लेप करे, तत्पश्चात् उस लेपित वस्त्र-खण्ड में पारद को रखकर पोटली बाँध दोलायन्त्रविधि से कांजी के साथ तीन दिन स्वेदन करे।

वक्तव्य—'त्रिदिनं पचेत्' का तात्पर्य यह है कि अहोरात्र तीन दिन अविरत मन्दाग्नि से

---

१ मेघनादस्तण्डुलायभेदः पत्रशाकविशेषः 'चवलाइ' इति भाषा, मेषशृङ्गी-शृङ्गी, तदलाभे कर्कटीशृङ्गी ग्राह्या, नवसारो नवसादर क्षारविशेषः। इति ग्रन्थकारः।

पाचन करे। काजी अथवा जिस स्वरस, कषाय आदि द्रवों में पाचन किया जा रहा है वह यदि कम हो जाता है तो और डाल दें, किन्तु स्वेदन एक समान तीन दिन अविराम होना चाहिये। तीन दिन अविराम का तात्पर्य यह है कि मन्दाग्नि पर जब स्वेदन लगातार प्रारम्भ किया जाता है तब स्वेद्य द्रव्य अर्थात् जिसका स्वेदन किया जा रहा हो (जैसे कि—यहाँ पारद का स्वेदन किया जा रहा है) उसका मल धीरे धीरे शिथिल होकर छूटने लगता है। पोटली में रक्खा स्वरस जो औषधीय पदार्थ हैं उनके सम्पर्क से हाण्डी में डाला हुआ जब द्रव गर्म हो चुकता है तब पोटलीगत द्रव्य और हाण्डी के द्रव की सम्मिलित क्रिया प्रारम्भ होती है और उसका सीधा परिणाम स्वेद्य द्रव्य पर होता है। ऐसी दशा में यह क्रिया परिपूर्ण रूप से स्वेद्य द्रव्य पर हो सके, उसके लिए निश्चित और विशेष समय का निर्धारण आवश्यक और अनिवार्य है। इस लिये यहाँ तीन दिन का उल्लेख किया है।

'दोलायन्त्रेऽम्लसंयुक्ते' का तात्पर्य यह समझना चाहिये कि जिसमें अम्लद्रव द्रव्य डाला हुआ हो, ऐसा दोलायन्त्र। यह भी बताना आवश्यक है कि स्वेद्य द्रव्य की मात्रा, द्रव की मात्रा जो यन्त्र में डाला गया है और हाण्डी का स्वरूप। पारदादि स्वेद्य द्रव्य से द्रव द्रव्य सोलह गुना अधिक होना चाहिये। हाण्डी इतनी बड़ी हो, जिसमें द्रव द्रव्य और स्वेद्य द्रव्य की पोटली के समाविष्ट के पश्चात् भी उसका आधा भाग खाली रहे। हाण्डी का आधा भाग खाली रखना इसलिये आवश्यक है कि द्रव द्रव्य उफन कर बाहर न निकले। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि स्वेद्य द्रव्य की मोटे और मजबूत कपड़े किंवा भोजपत्र में बाँधकर पोटली बनानी पड़ती है। तीन दिन के सतत स्वेदन से काञ्जी कम हो जावे तो और डालते जाना चाहिये ॥ ४३–४४ ॥

अथान्यत्स्वेदनम्—

त्र्यूषणं लवणासुर्यौ चित्रकाऽऽर्द्रकमूलकम्।[1]
पिष्ट्वा सूतं मुहुः स्वेद्यः काञ्जिकेन दिनत्रयम् ॥ ४५ ॥

त्र्यूषणमित्यादि। सर्वं द्रव्यं समभागं गृहीत्वा काञ्जिकेन प्रागुक्तधान्याम्लकेन पिष्ट्वा तेन कल्केनाङ्गुलिमात्रकं वस्त्रं लिप्त्वा तत्प्रलेपितवस्त्रखण्डे सूतं बद्ध्वा मुहुः प्रतिदिनं कल्कावृत्तिर्यथा भवेत्तथा सूतः पारदो दिनत्रयं त्रिदिनावधि स्वेद्य इत्यर्थः। शेषं सुगमम्।

अथवा सोंठ, मिर्च, पीपल, सैंधानमक, राई, चित्रक, अदरक और मूली इन द्रव्यों को पूर्वोक्त विधि से पीसकर कल्क बनावे और उसको वस्त्र पर लेपित कर उसमें पारद को बाँधकर पोटली बनावे और दोलायन्त्र से तीन दिन तक स्वेदित करे। किन्तु शुण्ठ्यादि द्रव्यों का कल्क प्रतिदिन नूतन बनाकर वस्त्र पर लेपित करे, उसमें पारद को रखकर स्वेदन दे ॥ ४५ ॥

अथान्यत्स्वेदनम्—

दिनं व्योषवरावह्निकन्याकल्केषु काञ्जिके।[2]
रसं चतुर्गुणे वस्त्रे बद्ध्वा दोलाकृतं पचेत् ॥ ४६ ॥

दिनमित्यादि। व्योष—त्रिकटु, वरा-त्रिफला, वह्निश्चित्रक, कन्या-कुमारी तस्यान्त-

१ त्र्यूषण-त्रिकटु, लवण सैन्धवम्, आसुरी-राई, चित्रक प्रसिद्ध, आर्द्रक शृङ्गवेरम्, मूलक-श्वेतमूलक 'मूली' इति भाषा। पिष्ट्वा तत्कल्केन वस्त्रं लिप्त्वेत्यादि पूर्ववत्। मुहुरिति प्रतिदिनं कल्कावृत्तिरित्यर्थं इति ग्रन्थकार।

२ व्योष त्रिकटु, वरा त्रिफला, वह्निश्चित्रक, कन्या 'कुवारी' इति भाषा, तन्मध्यगर्भो ग्राह्य इति ग्रन्थकार।

भागो ग्रासः, उक्तद्रव्याणां कल्केषु-कल्कमध्ये रसं निधाय तदनु कल्क-पिण्डं चतुर्गुणे-चतु पुटके चतुरावृत्ते वस्त्रे बद्ध्वा अथवा भोजपत्रे बद्ध्वा, दोलाकृतं-दोलायन्त्रविधिना काञ्जिके दिनं पचेत्-एकं दिनं स्वेदयेदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

अथवा सोंठ, मिरच, पीपल, त्रिफला और ग्वारपाठा इन सातों को कूट-पीसकर कल्क अर्थात् लुगदी बनाना, प्रत्येक द्रव्य पारद के प्रमाण से षोडशांश लेना चाहिए। लुगदी में पारा रखकर उसका गोला बनाना और उस गोले को चौहरे वस्त्र की पोटली में पूर्ववत् बाँधकर दोलायन्त्र विधि से एक दिन स्वेदन करे ॥ ४६ ॥

अब आगे पारद के स्वेदनार्थ ग्रहण किए जाने वाले कल्क के द्रव्यों का प्रमाण और स्वेदन अधिक से अधिक और कम से कम कितने दिन करना आवश्यक है? यह लिखा जा रहा है—

रसस्य षोडशांशेन द्रव्यं युञ्ज्यात् पृथक् पृथक् ।
द्रव्येष्वनुक्तमानेषु मतं मानमिदं बुधैः ॥ ४७ ॥
त्रिदिनं स्वेदनाशक्तौ दिनमेकं निरन्तरम् ।
स्वेदयेद्रसराजं तु नातितीक्ष्णेन वह्निना ॥ ४८ ॥

केचित्तु मर्दनपूर्वकं स्वेदनमिच्छन्ति, ते उपपत्तिज्ञानरहिताः क्रमविरोधश्च तेषां (मते) दूषणम् ।

अथ स्वेदनद्रव्यमानमाह—रसस्येत्यादि। रसस्य षोडशांशेन, अर्थात्तस्मात्पारदात्षोडश-भागेन तुलितं द्रव्यं पृथक् पृथग् युञ्ज्यात, बुधैः रसशास्त्रक्रियाविज्ञैः, अनुक्तमानेषु-परिमाणरहितेषु द्रव्येषु इदं परिमाणं मतम्। त्रिदिनं यावत्स्वेदनाशक्तौ-स्वेदनकर्मण्य-समर्थे सति ह्येकमेव दिनं निरन्तरम् अविरतं रसराजं नातितीक्ष्णेन अग्निना स्वेदयेदिति। रसप्रकाशसुधाकरे तु मानविषये किञ्चिद्वैभिन्न्यं भासते यथा—'औषधानि समांशानि रसादष्टमभागत। कृत्वाऽन्धमूषा तेषां तु तन्मध्ये पारदं क्षिपेत्॥' इति। क्वचित्सूता-भिमिलितौषधीनां चतुर्थांशग्रहणमानमपि दृश्यते। स्वेदनं दोलायन्त्रेण कार्यमिति पूर्वोक्तमेव। पोटली च काञ्जिकापूरितहण्डिकाऽतलस्पर्शा स्यात्। रससारे त्वेकविंशदि-नावधि स्वेदनमुक्तं यथा—'दोलास्वेदस्तु कर्तव्य एकविंशदिनावधि। स्वेदितः सूतराजस्तु ततो बलमवाप्नुयात्॥' इति। एतत्तु विशेषतीव्रकरणार्थं गुणाधानार्थञ्च ज्ञेयम्। अथ स्वेदनसंस्कारः पारदाजीर्णदोषस्य तद्गतमलस्य च निरसनार्थं क्रियते। मलशैथिल्यापादकमपि स्वेदनमेव।

केचिदित्यादि—केचित्-तन्त्रकाराः स्वेदनसंस्कारात्प्रागेव मर्दनसंस्कारमभिलपन्तीति नोचितं क्रमविरोधश्च जायते तेषां मते। शेषं सुगमम् ॥ ४७–४८ ॥

जहाँ प्रमाण नहीं बताया गया कि स्वेद्य पदार्थ कितना हो और कल्क्य पदार्थ कितना हो? वहाँ पर अनुक्तमान में स्वेद्य द्रव्य से कल्कार्थ गृहीत द्रव्य षोडशांश लेना चाहिए, अर्थात् पारद के स्वेदन के लिए पारद से सोलहवाँ भाग $\frac{1}{16}$ प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग लेना चाहिए। यहाँ पर पारे के स्वेदन करने के लिए तीन दिन का विधान कहा है फिर भी ग्रन्थकार अपने अनुभव से यह कहता है कि स्वेदन संस्कार अविरत तीन दिन ही करना चाहिए, किन्तु कोई तीन दिन करने की शक्ति न रखता हो तो एक दिन ही निरन्तर मन्दाग्नि से स्वेदन कर ले तो भी कोई आपत्ति नहीं है।

वक्तव्य—ऊपर यह मत दिया गया है कि अनुक्त मान में पारद से सोलहवाँ भाग अर्थात् $\frac{1}{16}$ पृथक् पृथक् द्रव्य लेना। 'रसप्रकाश सुधाकर' का मत है कि पारे से अष्टमांश अर्थात् $\frac{1}{8}$ पृथक् द्रव्यों का भाग लेना और कुछ तन्त्रकारों का यह मत है कि सभी स्वेदनोपयोगी द्रव्यों को

मिला कर पारे से चतुर्थांश ¼ लेना ऊपर के विभिन्न मतों से एकवाक्यता का अभाव होता है किन्तु कार्य निष्पन्नता में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। यह प्रत्येक के अपने अनुभव के वाक्य हैं, मतभेद का अवसर नहीं है और न कोई कार्य की उत्कृष्टता या अपकर्षता का प्रश्न होता है।

ग्रन्थकारने स्वेदन संस्कार की काल मर्यादा तीन दिन की बताई है किन्तु कोई ऐसा न कर सके तो एक दिन के अविरत स्वेदन से भी काम चल सकता है। 'रससार' आदि दूसरे ग्रन्थकार स्वेदन इक्कीस दिन अविरत करने को कहते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वेदन संस्कार जितने अधिक समय तक होगा, उतना ही अधिक बल और प्रभाव पारद में उत्पन्न होगा। अत: कम से कम तीन दिन स्वेदन तो नितान्त आवश्यक है, केवल एक दिन का उल्लेख तो उनके लिए है जो कुछ भी नहीं करते हैं अत 'अकरणान्मन्दकरणमपि वरम्' का न्याय है। 'नातितीक्ष्णेन वह्निना' का तात्पर्य यह है कि स्वेदन में अतितीक्ष्णाग्नि का प्रयोग नहीं करना। अतितीक्ष्णाग्नि से स्वेदनार्थ काजी आदि जो द्रव द्रव्य हांडी में होता है वह शीघ्र जलता है और स्वेदन जैसा होना चाहिए वैसा होता नहीं है अत मन्दाग्नि का प्रयोग ही गुणाधान की दृष्टि से और द्रव द्रव्य के उचित प्रयोग की दृष्टि से सर्वोपयोगी है। द्रवद्रव्य कम हो जावे तो और डाल देना चाहिए। स्वेदन संस्कार का उपयोग पारदगत मलों को ढीला करने के लिए है। पारे को प्रत्येक संस्कार के पश्चात् गर्म काजी से या किसी अम्ल द्रव से धोना चाहिए या फिर ग्वार पाठा के गूदे में मर्दन करके गर्म काजी अथवा गर्म पानी से धोना चाहिए।

कुछ तन्त्रकार स्वेदन संस्कार से प्रथम ही मर्दन संस्कार करने की सलाह देते हैं किन्तु उनका यह कथन न तो व्यावहारिक है और न क्रमानुगत ही है। जब तक स्वेदन द्वारा मलों को शिथिल नहीं बनाया जाता है तब तक वे मर्दन से कदापि छुड़ाये नहीं जा सकते हैं, अत स्वेदन के प्रथम मर्दन संस्कार करना निरुपयोगी है। साथ ही ऐसा विचार प्रगट करना भी ज्ञानशून्यता और क्रम-विरोध का निदर्शक मात्र ही है। इस लिए यह ठीक नहीं है ॥ ४७-४८ ॥

अथ मर्दनम्।

भिषग्भिर्मर्दयेच्चूर्णैर्मिलित्वा षोडशांशतः।
सूतस्य गालितैर्वस्त्रैर्वक्ष्यमाणद्रवादिभिः ॥ ४९ ॥
गृहधूमेष्टिकाचूर्णं तथा दधिगुडान्वितम्।
लवणासुरिकायुक्तं क्षिप्त्वा सूतं विमर्दयेत् ॥ ५० ॥
जीर्णाभ्रकं तथा जीर्णं बीजं सूतस्तथैव च।
गृह्णाति निर्मलो रागान् ग्रासे ग्रासे विमर्दितः ॥ ५१ ॥

भिषग्भिरित्यादि। मर्दननाम्नोऽयं संस्कार:–रसरत्नसमुच्चये यथा 'उदितैरौषधैः सार्धं सर्वाम्लैः काञ्जिकैरपि। पेषणं मर्दनाख्यं स्याद्बहिर्मलविनाशनम् ॥' इति। वस्त्रैर्गालितैश्चूर्णैः पारदस्य षोडशांशत षोडशांशतुलितौषधद्रव्यं मेलयित्वा, वक्ष्यमाणद्रवादिभिर्भिषग् मर्दनं कुर्यात्। कुत्रचिच्च द्वित्रिसेवकैरेकस्मिन् सेवके परिश्रान्तेऽपरो मर्दयेदित्येतस्मै प्रयोजनाय यथासंभव द्वाभ्यां त्रिभिर्वा भृत्यैः कृत्वा मर्दयेदिति। अत्र गृहधूम प्रसिद्ध, इष्टिकाचूर्णं च तयोर्द्वयो: सूक्ष्म रजस्तेनैव प्रकारेण दधि प्रसिद्ध गोदुग्धनिर्मित, गुडश्चेक्षुरसोद्भवस्ता-भ्यामन्वित पुन, लवण सैन्धवम्, आसुरी-राजिका, ताभ्यां युक्तं पारद खल्वे क्षिप्त्वा विमर्दयेत्। रागग्रहणार्थं विशिष्टविधिमाह–जीर्णाभ्रक–जीर्णाभ्रकचूर्णं, तथा जीर्णं बीजं स्वर्णं रौप्यं वा यतो बीज जीर्णमेवेष्टम्, जीर्णसूतो जीर्णता प्राप्तः सूतो निर्मल सन् ग्रासे

ग्रासे प्रत्येकस्मिन् कवले विमर्दितो रागान् गृह्णाति रञ्जनत्वं याति । क्वचिद्रोगानिति वा पाठस्तत्र व्याधीन् गृह्णाति नाशयतीत्यर्थः । ग्रासे ग्रासे द्व्यहस्य द्विरुक्तत्वेन पुनः पुनर्मर्दनं कार्यमिति द्योतयति । रसपद्धति-रसप्रकाशसुधाकरादिषु त्रिदिनस्यैकदिनस्य वा मर्दन-विधानमुक्तं तदेव युक्तं भवति, किन्तु रससारे त्वेकविंशतिदिनपर्यन्तं मर्दनं विहितम् । यथा 'अनेनैव तु योगेन मर्दयेत्सत्वरं रसम् । एकविंशद्दिने पूर्णे सिद्धो भवति पारदः ।' इति । अनेनैव स्वेदनोक्तद्रव्येणेत्यवधेयम् । तथा च-'उष्णकाञ्जिकतोयेन क्षालयेत्तदनन्तरम् ।' इति धातुवादोपयोगिपारदसंपादनायैव रागग्रहणप्राप्तिरिष्टा, न तु रसवादे । रसरत्नाकरे तु-'प्रक्षाल्य काञ्जिकैः साम्लैस्तमादाय विमर्दयेत् । गृहधूमेष्टिकाचूर्णं दुग्धोर्णालवणं निशा ॥ राजिका त्रिफला कन्या चित्रकं बृहती कणा । वन्ध्याकर्कोटकी चैतद् द्व्यहस्त्वाऽथ समस्तकम् ॥ क्वाथयेदारनालेन तेन मर्द्यो रसस्त्र्यहम् । प्रक्षाल्य काञ्जिकेनैव तमादाय विमूर्च्छयेत् ॥ यन्त्रे लोहमये पात्रे पार्श्वयोर्वलयद्वयम् । तादृक् स्वल्पतरं पात्रं वलयप्रोतकोष्ठकम् ॥ पूर्वपात्रोपरिन्यस्तं स्वल्पपात्रोपरि क्षिपेत् । रसं समूर्च्छितं स्थूलपात्र-मापूर्य काञ्जिकैः ॥ द्वियामं स्वेदयेदेवं रसोत्थापनहेतवे । एतत्स्याज्जलहार्यन्त्रं रससाद्गुण्य-कारकम् ।' इति । क्वचित्पुस्तके 'जीर्णाभ्रकं तथा बीजजीर्णसूतं तथैव च' इति पाठभेदः । पाठोऽयं साधीयान् प्रतिभाति ॥ ४९—५१ ॥

रस-साधक वैद्यों का कर्तव्य है कि आगे के श्लोकमें कहे जाने वाले जो द्रव्य हैं उनमें प्रत्येक को पृथक् २ पारद मान से षोडशांश (सोलहवाँ) भाग लेकर, सबको एकत्र मिला कर सूक्ष्म चूर्ण कर वस्त्र-गालित कर उस चूर्ण के साथ पारद का मर्दन करे । चूर्णोक्त द्रव्य—घर का धुवाँ, ईंट का चूर्ण, दही, गुड़, सेन्धानमक और राई इनका चूर्ण बनाकर उसके साथ पारद को खरल में डालकर तीन दिन तक मर्दित करे । मर्दन के बाद उस पारद को गर्म की हुई कांजी से भली भाँति धो कर साफ कर लें, उसके पश्चात् जीर्णाभ्रक, सुवर्ण बीज या रौप्य बीज और जीर्ण पारद इन प्रत्येक का ग्रास दे देकर पारद को घोटे । प्रति ग्रास के साथ एक दिन अविरत घुटाई करनी चाहिए, अर्थात् पहले दिन जीर्णाभ्रक, दूसरे दिन सुवर्ण बीज, अथवा रौप्य बीज से मर्दन करे और प्रत्येक मर्दन के पश्चात् गर्म कांजी से धोवे और तीसरे दिन जीर्ण पारद से मर्दन करे, ऐसा करने से पारद में रंगत आ जाती है ।

वक्तव्य—'चूर्णैर्मिलित्वा' इस वाक्य को अनुवादित करने की दृष्टि से ऊपर सब द्रव्यों के एकत्र मिलित चूर्ण से मर्दन करने को कहा है और वह कोई अनुचित भी नहीं है, किन्तु घर का धुवाँ और ईंट का चूर्ण इन दोनों के साथ पहले दिन अविराम मर्दन करे । मर्दन में कांजी का उपयोग करे । दूसरे दिन दही और गुड़ इन दो के साथ घुटाई करावे, तीसरे दिन सेन्धा नमक और राई के साथ मर्दन करावे । प्रति मर्दन के पश्चात् गर्म कांजी से धो कर पारद को निर्मल करते रहना चाहिए । यह क्रम व्यावहारिक और अच्छा होता है । ऐसा करने से पारद के बहिर्मलका नाश होता है और पारद रसोपयोगी तथा प्रभावकारी बन जाता है । इसको मर्दन संस्कार कहते हैं ।

श्लोक संख्या ५१ द्वारा राग-ग्रहणार्थ पारद-मर्दन की विशिष्ट विधि प्रतिपादित की गई है । यह विधि प्रायशः धातुवादोपयोगी ही है और इस लिए ही यहाँ जीर्णाभ्रक, जीर्ण पारद और सुवर्णादि बीज जारित पारद के ग्रास से, उपर्युक्त शोधित पारद को मर्दित करने का उल्लेख किया गया है । हल्की कीमत की धातु से ऊँची कीमत की सोना आदि धातुओंका निर्माण किया जाता है तब पारद में उसी बीज का जारण किया जाता है जो धातु बनानी है । सुवर्ण बनाने के लिए सुवर्ण बीज ही

पारद में जारण किया जाता है। सुवर्ण बीज-जारित पारद चाँदी और ताम्र आदि धातु को सुवर्ण में परिवर्तित कर देता है। रौप्य बीज-जारित पारद चाँदी बनाने की शक्ति रखता है।

ऊपर के मूल पाठ में 'जीर्णबीज सूतस्तथैव च' पाठ पर विचार करने पर अर्थ की संगति नहीं बैठती है। 'जीर्णाभ्रक तथा बीजजीर्णसूत तथैव च' यह जो पाठभेद उपलब्ध होता है वह युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस पर से यह आशय भी निकलता है कि स्वेदन संस्कार द्वारा शोधित पारद को गृहधूमेष्टिका चूर्ण आदि से मर्दन करके और उष्ण कांजी आदि से भली भाँति प्रक्षालन करके उसमें उस पारद की अपेक्षा षोडशांश (सोलहवा) भाग वह पारद डालना चाहिए जिसमें अभ्रक सत्त्व जारण किया हो, तथा स्वर्ण बीज और रजत बीज जारित किया हो, ऐसा अभ्रक जारित तथा स्वर्ण बीज एवं रौप्यबीज जारित पारद के साथ अच्छा प्रकार मर्दन करना चाहिए। यह ध्यान रहे कि मर्दनीय मूलभूत पारद में अभ्रकादि-जारित पारद को थोड़ा-थोड़ा डालते जाना और घोटते जाना चाहिए। मर्दन प्रबल हाथों से अपेक्षित है। प्रत्येक ग्रास में उसकी उज्ज्वलता और कान्ति निखरता जावेगी और इच्छित प्रकार का रंग उसमें आ जावेगा।

यह भी विशेष स्मरण रखने की बात है कि ऊपर कहे हुए गृहधूमेष्टिका चूर्ण आदि के साथ जब मर्दन करे तब उसमें उष्ण काजिका आदि अम्ल द्रव डाल कर ही करे और मर्दन तप्तखल्व में किया जावे तो अधिक प्रभावी होता है। मर्दन संस्कार की अनेकों क्रियाएँ हैं जो विभिन्न रस-साधकों ने अपने-अपने अनुभवों द्वारा प्रतिपादित की है। आगे के श्लोकों में भी मर्दन का अतिरिक्त क्रम बताया जायगा ॥ ४०-५१ ॥

अथान्यत्सिद्धमतम्—

> रक्तेष्टिकानिशाधूमसारोर्णाभस्मचूर्णकैः।
> जम्बीरद्रवसंयुक्तैर्मुहुर्मर्द्यो दिनत्रयम् ॥ ५२ ॥
> दिनैकं वापि सूतः स्यान्मर्दनान्निर्मलः परम्।
> ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण गृह्णीयाच्च पुनः पुनः ॥ ५३ ॥
> पटसारणतो वाऽपि क्षालनादारनालतः।

रक्तेष्टिकेत्यादि। रक्तेष्टिका, निशा-हरिद्रा, धूमसारो गृहधूम, ऊर्णाभस्म मेषरोमभूति, चूर्णकैरित्यत्र 'तुम्बिकै' इति पाठस्तत्र कटुतुम्बीचूर्ण, अथवा पूर्वोक्तद्रव्यचूर्णं सूक्ष्मरजोभिर्वा, कथम्भूतै जम्बीरद्रवसंयुक्तै -तीक्ष्णनिम्बुरसेन समिश्रितै, 'स्युर्जम्बीरे दन्तशठजम्भजम्भीरजम्भला' इत्यमर। मुहु पुन पुन दिनत्रय यावन्मर्द्य, अथवा दिनैकमेभि खल्वे पेषणात्सूत परमुत्तमो मलरहित स्यात्। अथवा ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण मुहुर्मुहुर्गृह्णीयात्। अथवा पटसारणत पटसारणविधिना वा रस गृह्णीयात्। पटसारणविधौ रसमार्त्तण्डे यथा—'चतुर्गुणेन वस्त्रेण त्रिवारं गालयेद्रसम्। तेन निर्नागवङ्गश्च पीडनादेव जायते॥' रससारे तु-'एकविंशतिवारांस्तु वाससा गालयेद्रसम्। नागवङ्गादिका किञ्चिद्रसे तिष्ठन्ति धातव॥' इति। अथवा आरनालत-अत्यम्लकाञ्जिकेन क्षालनाद्वा गृह्णीयात्। इत्येव पञ्च प्रकारा ॥ ५२-५३ ॥

(१) अथवा—पुरानी लाल ईंट, हल्दी, घर का धुवाँ और ऊनकी भस्म अथवा चूर्ण के साथ निम्बूरससे वारवार तीन दिन मजबूत हाथों से या एक दिन घोटने से पारा शुद्ध हो जाता है। (२) अथवा ऊर्ध्वपातन यन्त्र से वारवार उडाने, (३) अथवा चोपट वस्त्र में वारवार (तीन) वार छानने से. (४) अथवा खट्टी और गर्म काञ्जी से स्वच्छ और निर्मल धो कर ग्रहण करें।

वक्तव्य—पारद-शुद्धि के लिए ऊपर दिये हुए सभी प्रकार उपयुक्त हैं किन्तु इन सबोंमें सर्वोत्तम, प्रभावी और शीघ्र कार्यकारी पारद बनाने के लिए ऊर्ध्वपातन यन्त्र से उड़ाने की जो विधि बताई है वही सर्वश्रेष्ठ है। पारे के मर्दन आदि कार्य के लिए लोहा, पत्थर और ताम्र का खल लेना चाहिए। काञ्जी से धोने का आदेश सर्वत्र उष्ण काञ्जी से समझना चाहिए। पारद पर संस्कार करने समय उष्ण द्रव्य का ही प्रयोग करना चाहिए, शीत का नहीं। जैसे कि—रससार में लिखा है—'उष्ण एव रसे कार्यं शीतं सर्वात्मना त्यजेत्।' मर्दन में तप्तखल का उपयोग भी इसी लिए श्रेष्ठ माना है।

मर्दन के बाद मूर्च्छन संस्कार कहते हैं—

अथ मूर्च्छनम्[1]—

गृहकन्या मलं हन्ति त्रिफला वह्निनाशिनी ॥ ५४ ॥
चित्रमूलं विषं हन्ति तस्मादेभिः प्रयत्नतः।
मिश्रितं मर्दयेत् सूतं सप्तवाराणि मूर्च्छयेत् ॥ ५५ ॥
इत्थं संमूर्च्छितः सूतो दोषशून्यः प्रजायते ॥ ५६ ॥

गृहकन्येत्यादि। तस्मात्कारणादेभिः प्रोच्यमानौषधैर्मिश्रितं सूतं यत्नपूर्वकं पेषयेत्। सप्तवाराणि मूर्च्छयेदिति। धातुवादे न रसेषु। रसवादे तु सकृदेव। धातुवादे सप्तधा मूर्च्छनं कुर्यात्प्रत्येकमूर्च्छनावसरे काञ्जिकेन क्षालनं कर्तव्यम्। मर्दनावसरे तप्तखल्वोऽपेक्षितः। भेषजानि च पारदमानात्षोडशांशान्यपेक्षितानि। षोडशतोलकमितपारदायैकतोलकमितं भेषजद्रव्यमिति भावः। वक्ष्यमाणौषधैश्च यथा—गृहकन्या-कुमारी मलनामकं दोषं, त्रिफला अग्निदोषं, चित्रकमूलं विषाख्यं दोषं च हन्ति। इत्थममुना प्रकारेण संमूर्च्छितः औषधरसस्वरूपः पारदो मलादिदोषरहितः प्रजायते। विशेषश्च रससारे—'मूर्च्छनं रसराजस्य कर्तव्यं वादिभिः सदा। विषैस्त्रिफलया पूर्वं बृहत्योपविषैस्तथा॥ कर्कोटीक्षीरकन्दाभ्यां चित्रेण गृहकन्यया। एकैनाप्यथ सप्तधा यामसेकं तु पारदं॥ किञ्चरं यन्त्रमादाय त्वौषध्या लेपयेत्तलम्। नवसारयुतं सूतं यन्त्रमध्यगतं न्यसेत्॥ दद्यात्तस्योपरिभाव सन्धिलेपं दृढं मृदा। लवणेन च सम्पूर्य द्वारं संरुध्य यत्नतः॥ चुल्लिकोपरि संस्थाप्य दीप्ताग्निं ज्वालयेत्सुधी। यामैकेन तदुत्तार्यं कर्तव्यं शीतलो रसः॥ यन्त्रादुद्धृत्य यत्नेन सूतमुत्थाप्य मूर्च्छितम्। असूर्च्छितस्तदा देयं बलाशं मूर्च्छिते रसे॥ उत्थाप्य मूर्च्छयेत्पश्चाद् वारं वारं रसेश्वरम्। पुनरुत्थापितं कुर्यादेकविशनिवारकम्॥' इति।

घीकुवार पारद के मलदोष को, त्रिफला अग्निदोष को और चित्रकमूल विषदोष को दूर करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि पारद के प्रधान दोष मल, अग्नि और विष को नष्ट करने के लिए इन पूर्वोक्त तीनों दवाओं में पारद मिलाकर उसको तप्त खल में इतना घोटना चाहिए ताकि वह नष्टपिष्ट, अर्थात् पारद के कण न दिखाई देवें, ऐसा सात बार मर्दन और मूर्च्छन करने से पारद की शुद्धि हो जाती है। प्रत्येक मर्दन के बाद उष्ण काञ्जी से पारद को धो डालना नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक द्रव्य पारद के मान की अपेक्षा षोडशांश लेना चाहिए। सात बार मूर्च्छन की जो प्रक्रिया कही है वह केवल धातुवाद के लिए है, रसवाद के लिए नहीं॥

---

१. मूर्च्छनोद्दिष्टभैषज्यैर्नष्टपिष्टत्वकारकम्। तन्मूर्च्छनं हि सम्प्रोक्तं सर्वदोषविनाशनम्॥
स्वरूपस्य विनाशेन पिष्टत्वापादनं हि यत्। विप्रपैर्वर्जितः सूतो नष्टपिष्टः स उच्यते॥

वक्तव्य—'सप्तवाराणि मूर्च्छयेदिति धातुवादे, न रसेषु।' ग्रन्थकार का यह संकेत स्पष्ट करता है कि ऊपर श्लोक में सात वार पारद-मूर्च्छन का हमने जो उल्लेख किया है वह केवल धातुवादियों के लिए है, रसवादियों के लिए नहीं, किन्तु रसशास्त्र के अनेकों प्रधानाचार्यों (रसहृदयतन्त्र, रसरत्नसमुच्चय, रसेन्द्रसारसंग्रह आदि के कर्ताओं) के मत से रसवाद और धातुवाद दोनों में सात वार मूर्च्छन आवश्यक है। हम स्वयं भी अनुभव करते हैं कि जब तक सात वार मूर्च्छन नहीं किया जाता है तब तक नाग और वङ्ग के विकारों का भलीभाँति क्षालन नहीं होता है। हमने ऊपर संस्कृत टीका में **'रससार'** का प्रमाण उद्धृत किया है, उसमें २१ वार मूर्च्छन करने को कहा है। रससार की विधि का ऊपर उल्लेख हमने इसलिए किया है कि उसमें नवसादर का प्रयोग है जो पारद के लिए बहुत ही प्रभावी और प्रबल औषध समझी जाती है। तात्पर्य यह है कि रसकार्य में भी आशुकारी और प्रभावी गुणों का पारद में उत्कर्ष स्थापित करना है तो सात वार मूर्च्छन करना आवश्यक है, त्याज्य नहीं॥ ५४-५६॥

आगे के श्लोकों में भी मूर्च्छन संस्कार की विधि दर्शायी गई है। एक-दो विधियों के बनाने का तात्पर्य यह है कि एक ही विधि से साधक को कहीं अड़चन हो जावे और वह उसको न कर सके तो फिर क्या करे, ऐसी दशा में दो-तीन विधियों का ज्ञान हो तो किसी भी एक का उपभोग किया जा सकता है—

अथान्यन्मतम्—

राजवृक्षस्य मूलेन मर्दयेत्सह कन्यया।
मलदोषापनुत्त्यर्थं मर्दनोत्थापने शुभे॥ ५७॥
कृष्णधत्तूरकद्रावैश्चाञ्चल्यविनिवृत्तये।
मर्दनोत्थापने कुर्यात् सूतराजस्य चासकृत्॥ ५८॥
त्रिफलाकन्यकातोयैर्विषदोषोपशान्तये।
त्र्योषेण गिरिदोषं तु कन्यातोयेन यत्नतः॥ ५९॥
चित्रकस्य च चूर्णेन सकन्येनाग्निनाशनम्।
आरनालेन चोष्णेन प्रतिदोषं विशोधयेत्॥ ६०॥
एवं संशोधितः सूतः सप्तदोषविवर्जितः।
जायते कार्यकर्ता च ह्यन्यथा कार्यनाशकः॥ ६१॥

राजवृक्षस्येत्यादि। राजवृक्षस्य मूलचूर्णेन कन्यया घृतकुमारिकामध्यभागेन सह मलाख्यदोषपरिहारार्थं मर्दयेत्। कुतः? मर्दनोत्थापने मर्दनं चोत्थापनं चेति मर्दनोत्थापननामकौ द्वौ संस्कारौ शुभे-शोभनौ भवतः। सूतराजस्य चाञ्चल्यविनिवृत्तये चाञ्चल्यदोषनिराकरणाय, कृष्णधत्तूरकद्रावैः कृष्णेतिविशेषणेन श्वेतधत्तूरद्रावो निवार्यते। असकृत्-मुहुर्मुहुरिति मर्दनं चोत्थापनं च कुर्यात्। विषनामकदोषनाशाय त्रिफला, कन्या-घृतकुमारी, अनयोस्तोयैः स्वरसैः क्वाथैर्वा पूर्वोक्तविधिं कुर्यात्। त्रिकटुना पुनः कन्यातोयेन संमिलितेन यत्नतः समर्दितस्य समुत्थापितस्य च पारदस्य गिरिदोषं नश्यति। चित्रकस्य चूर्णेन कथम्भूतेन सकन्येन घृतकुमार्या सह वर्तमानेन। अत्र तु घृतकुमारिकामध्यगर्भसहितचित्रकचूर्णेनेत्यर्थः, अग्निदोषप्रशमनं भवति। उष्णेन-अग्निसंयोगात्सन्तप्तेन आरनालेन-काञ्जिकेन प्रतिदोषं दोषं दोषं प्रतीति प्रतिदोषं प्रक्षालयेत्। एवं पूर्वोक्तविधिना

सम्यक् शुद्धि नीत' पारदो नागादिसप्तदोपविवर्जितो भवति। हीति यस्माद्धेतो'—अविशोधितः कार्यहर्ता भवति। यद्यप्यत्रासह्याग्ने' शोधनप्रकार नोक्तं तथापि वह्निदोपनाशनेनैव तन्नाशनमिति बोध्यम। अथवा ग्रन्थान्तरेऽसह्याग्ने पृथगपि शोधनम्। रसमञ्जर्यां यथा—'कटुत्रयं गिरि हन्ति असह्यत्वं त्रिकंटक।' इति, क्वचित्पुस्तके 'सप्तकञ्चुकवर्जित' इति पाठस्तत्र सप्तकञ्चुकाः प्रागुक्ता. पर्पटी पाटलीत्यादयो विंशतितमश्लोकस्य टीकायाम्॥

घीकुँवार का गुद्दा और अमलतास मूल का चूर्ण, दोनों के साथ पारद को घोटने से पारे का मलदोप, काले धत्तूरे के रस में वारवार मर्दनोत्थापन करने से चाञ्चल्यदोप, त्रिफला तथा कन्याकुमारी के रस में मर्दन करने से विपदोप, त्रिकुटा और घीकुँवार के रस में घोटने से गिरिदोप, चित्रक और कुमारी रस में घोटने से तथा उष्ण काजी के साथ मर्दन करने पर भी पारे के समस्त दोप नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—'सह कन्यया' आयुर्वेदप्रकाश ने मूर्च्छना सस्कार में जितने द्रव्यों का पारद के मर्दनार्थ प्रयोग किया है उन सबको घीकुँवार के साथ ही ग्रहण किया है। मूर्च्छना का यह प्रकार वहुत ही उत्तम है। प्रत्येक द्रव्य से तीन-तीन वार करना चाहिए, अर्थात् अमलतास मूल चूर्ण और घीकुँवार से पारद को तीन दिन घोटना चाहिए। उसके पश्चात् उष्ण काजी से भली प्रकार धोकर साफ करना चाहिए। यह कार्य प्रति दोप के निवारणार्थ किये गये सस्कार के पश्चात् अवश्य करना चाहिए, क्योंकि पारद के धोये विना जिन द्रव्यों के साथ मर्दन और मूर्च्छन सस्कार किये गये हैं उन द्रव्यों से सर्वथा पृथक् कैसे किया जायेगा? अथवा प्रत्येक दोपहरणार्थ किये गये कर्म के पश्चात उसको धूप में रख कर पृथक् करें। या फिर डमरूयन्त्र मे पारद को उडा कर ग्रहण करें। कहने का तात्पर्य यह है कि मर्दनादि मे प्रयुक्त औपधों से पारद को पृथक् करने के लिए ये उपर्युक्त तीन प्रकार हैं। इन सब में अपनी-अपनी विशेषता है किन्तु डमरू यन्त्र द्वारा पारद को ग्रहण करना सर्वोत्तम और प्रभावकर है॥ ५७–६१॥

अथ रसस्य कञ्चुकहरणम्।

कुमारिकाचित्रकरक्तसर्षपैः कृतैः कषायैर्बृहतीविमिश्रितैः।
फलत्रिकेणापि विमर्दितो रसो दिनत्रयं सप्तमलैर्विमुच्यते॥ ६२॥

युगपत्सप्तमलनाशनमाह—कुमारिकेत्यादि। कुमारिकाचित्रकरक्तसर्षपै—कुमारिका च चित्रकश्च रससर्षपश्च तै पूर्वोक्तै'। कुमारिका–घृतकुमारी, चित्रक., रक्तसर्षप एभिस्त्रिभि' कृतैः कपायै किम्भूतै—बृहतीविमिश्रितैर्बृहत्कटकारीसंयुक्तै अर्थात् घृतकुमारी–चित्रक-रक्तसर्षप–बृहती–विमिश्रितैश्चतुर्भिर्द्रव्यै. कृतकपायैर्विमर्दित। अथवा केवलेनैव फलत्रिक-कपायेण त्रिदिनं यावद्विमर्दितो विशिष्टप्रकारेण समर्दितो रस सप्तमलैः पर्पटीपाटलीत्यादि-पूर्वोक्तशिवप्रदत्तशापात्मकसप्तदोपैर्विमुच्यते मुक्तो भवतीत्यर्थ॥ ६२॥

ग्वारपाठा, चित्रक, लाल सरसों और वटी कटेरी इन चारों के कपाय के साथ तीन दिन तक अविराम मर्दन करने से अथवा त्रिफला–हरड, वहेडा और आमला इनका कपाय वनाकर उसके साथ तीन दिन मर्दन करने से पारे के पर्पटी, पाटली, भेदी आदि सातों मल (कञ्चुक) दूर होते हैं॥ ६२॥

अव आगे उत्थापन नामक चतुर्थ सस्कार को कहेंगे। उत्थापन सस्कार मूर्च्छन सस्कार के पश्चात् किया जाता है और उसकी प्रधान आवश्यकता है कि वह मूर्च्छनसस्कारजन्य व्यापत्ति को मिटाकर पारद को अपने स्वाभाविक रूप में ले आता है।

अथोत्थापनम् ।

तत उत्थापयेत्सूतमातपे निम्बुकार्दितम् ।
उत्थापनावशिष्टं तु चूर्णं पातनयन्त्रके ॥ ६३ ॥
धृत्वाऽग्नावूर्ध्वभाण्डास्थं संग्रहेत्पारदं भिषक् ॥ ६४ ॥

तत इत्यादि । ततो मूर्च्छनानन्तरम्, निम्बुकार्दितं-जम्बीररसेन मर्दितो रसस्तस्य सूर्यातपे उत्थापनं विदध्यात् । उत्थापनेनावशेषितं तच्चूर्णं पुन पातनयन्त्रके निक्षिप्य, पातनयन्त्र च अग्नौ स्थापयित्वा अग्नियोगेनोपरिभाण्डसंलग्न पारद वैद्य संग्रहेत् । रसरत्नसमुच्चये पातनयन्त्रं यथा—'अष्टाङ्गुलपरीणाहमानेन द्वादशाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलकोत्सेध तोयाधारं गलादध ॥ अधो भाण्डे मुख तस्य भाण्डस्योपरिवर्तिन. । षोडशाङ्गुलविस्तीर्णपृष्ठस्यास्ये प्रवेशयेत् ॥ पार्श्वयोर्महिषीक्षीरचूर्णमण्डूरफाणितै । लिप्त्वा विशोषयेत्सन्धि जलाधारे जल क्षिपेत् । चुल्ल्यामारोपयेदेतत्पातनायन्त्रमीरितम् ॥' इति ।

मूर्च्छा संस्कार के पश्चात् वैद्य शुद्ध पारे का सूर्य की धूप मे निंबू के रस से मर्दन कर उत्थापन करे । उत्थापनावशेष द्रव्य को पातन यन्त्र मे रखकर उस यन्त्र को चूल्हे पर रखकर नीचे अग्नि देकर पारद का ऊर्ध्वपातन करे । स्वाङ्गशीत होने पर यन्त्र को खोलकर ऊपर लगे हुए पारे को यन्त्र से निकालकर काजी से धोकर ग्रहण कर ले ॥

वक्तव्य—उत्थापन का तात्पर्य यह है कि मूर्च्छन संस्कार की जितनी औषधियाँ हैं उनके प्रधान या संयोग से पारद में स्थित नाग-वङ्गादि दोष अथवा नक्षत्रकञ्चुकादि मल छूट जाता है अथवा शिथिलप्राय हो जाता है तथापि उसका यत्किंचित् भी विकार न रहने पावे, अथवा मूर्च्छन के पश्चात् पारद को उसमें मिले हुए अन्य द्रव्यों से पृथक् कर लेना आवश्यक होता है । इस लिये ही प्रथम इसमें गर्म जल या काजी से प्रक्षालन का कार्य किया जाता है । दो-चार बार भली-भाँति प्रक्षालन करने से पारा भारी होने से नीचे बैठ जाता है और अन्य द्रव्य जल अथवा काजी के साथ हलके होने के कारण से पारद से अलग होकर निकल जाते हैं । इतने पर भी अन्य द्रव्यों का सम्पर्क पारद में रह जावे तो उसको निंबू के रस में घोट, सूर्य की कडी धूप में सुखा कर चूर्ण-रूप होने पर बार-बार फूँक मारकर उड़ा देवे, तत्पश्चात् पारद को वस्त्र से गालकर अलग कर लेवे । इतने पर भी यदि पारद में कुछ अन्य द्रव्यों का सम्पर्क रह गया है, ऐसा प्रतीत हो तो पातनायन्त्र से ऊर्ध्वपातन करके निकाल लेवे । इस प्रकार जब पारद अपने शुद्ध एवं स्वाभाविक रूप को प्राप्त कर ले, यही उत्थापन का रहस्य है ॥ ६३–६४ ॥

वाग्भटोऽपि—

संशुद्धोऽस्माद्विरेकात्तु रसः पात्यस्ततः परम् ।
उत्थित. काञ्जिकक्वाथैः क्षालनीयस्तत. परम् ॥ ६५ ॥

संशुद्ध इत्यादि । अस्माद्विरेकादेतस्माद्विरेचनात् प्रागुक्तसंशोधनादिति यावत् । संशुद्ध' पारद । ततोऽनन्तर पातनीय । किमर्थं नागादिदोषदूरीकरणार्थम् । पुन काञ्जिककषायैरुत्थापितस्तदनु काञ्जिकेनैव क्षालनीय । सावधानतया मूर्च्छित सूतं पातनायन्त्रे ऊर्ध्वं पातयित्वा काञ्जिकेन क्षालयेदिति भाव । वाग्भटकृतौ रसरत्नसमुच्चये तु छिन्नोऽयं पाठ—'अस्माद्विरेकात्संशुद्धो रस पात्यस्तत परम् । उद्धृत काञ्जिकक्वाथात्पूतिदोषनिवृत्तये ॥' इति ॥ ६५ ॥

---

१ स्वेदातपादियोगेन स्वरूपापादन हि यत् । तदुत्थापनमित्युक्त मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनम् ॥

पूर्वोक्त संशोधनों द्वारा शुद्ध पारद को पातनायन्त्र द्वारा ऊर्ध्वपातन करके उत्थापित करे और तत्पश्चात् काञ्जिक कषाय से मर्दन कर उष्ण कांजी से भली प्रकार धोकर ग्रहण करे ॥ ६५ ॥

रसरत्नाकरस्तूत्थापनक्लेशमसहमानः सुगमोपायमाह, यथा—

प्रक्षाल्य काञ्जिकैः साम्लैस्तमादाय विमर्दयेत् ।
प्रक्षाल्य काञ्जिकेनैव तमादाय विमूर्च्छयेत् ॥ ६६ ॥

प्रक्षाल्येत्यादि । साम्लैः—अम्लेन सह वर्तन्त इति साम्लैः काञ्जिकैः प्रक्षालनं विधाय पुनस्तं सूतमादाय विमर्दयेत् । अथवा केवलेन काञ्जिकेनैव च प्रक्षाल्य तं सूतं विमूर्च्छयेदित्यर्थः । इति सुगमप्रकारः ॥ ६६ ॥

अम्लद्रव्य मिश्रित कांजी से पारद को धोकर पुनः उसमें मर्दन करने से अथवा केवल कांजी से धोकर उसमें मर्दन करने से पारद शुद्ध अर्थात् उत्थित हो जाता है ॥ ६६ ॥

अन्यत्रापि—

जलैः सोष्णारनालैर्वा क्षालनादुत्थितो भवेत् ।
अथवा पातनायन्त्रे पातनादुत्थितो भवेत् ॥ ६७ ॥

जलैरित्यादि । सोष्णारनालैः—उष्णेन सह वर्तमान इति सोष्णश्चासावारनालश्च सोष्णारनालस्तैः—उष्णकाञ्जिकैः, जलैः—सोष्णजलैर्वा प्रक्षालनात् उत्थितो भवेत् । सह शब्दोऽत्र द्वयोः संबध्यते । अथवा पातनायन्त्रे पातनात्—ऊर्ध्व—पातनाख्यसंस्कारात् उत्थितो भवेदिति ॥ ६७ ॥

उष्णजल से पारद को भली प्रकार धो डालने से भी उत्थापन होता है अथवा पातनायन्त्र में ऊर्ध्वपातन विधि से ऊपर के पात्र में लगे हुए द्रव्य को ग्रहण करना भी उत्थापन संस्कार कहा जाता है ॥ ६७ ॥

अथ पातनम् ।

तच्च त्रिविधम्—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदात्, तत्रोर्ध्वपातनं यथा—

भागास्त्रयो रसस्यार्कचूर्णस्यैकोऽथ निम्बुकैः[1] ॥ ६८ ॥
सम्मर्दयेत्तावद्यावदायाति पिण्डताम् ।
तत्पिण्डं तलभाण्डस्थमूर्ध्वभाण्डे जलं क्षिपेत् ॥ ६९ ॥
कृत्वाऽऽलवालं केनापि दत्त्वा चार्द्रं हि प्रोतकम् ।
संमुद्र्याग्निमधस्तस्य चतुर्यामं प्रबोधयेत् ॥ ७० ॥
युक्त्योर्ध्वभाण्डसंलग्नं गृह्णीयात् पारदं ततः ।
ऊर्ध्वपातनमित्युक्तं भिषग्भिः सूतशोधने ॥ ७१ ॥
ससूतभाण्डरन्ध्रे तु ह्यन्यच्छिद्रातिभाण्डकम् ।
तथा सन्धिर्द्वयोः कार्यः पातनात्रययन्त्रके ॥ ७२ ॥
यन्त्रप्रमाणं वदनाङ्गुरोर्ज्ञेयं विचक्षणैः ।
रसस्य मानानियमात्कथितुं नैव शक्यते ॥ ७३ ॥

---

[1] 'उक्तौषधैर्मर्दितपारदस्य यन्त्रस्थितस्योर्ध्वमधश्च तिर्यक् । निर्यापणं पातनसंज्ञमुक्तं वङ्गाहिसम्पर्कजकञ्चुकघ्नम् ॥' इति ।

भागा इत्यादि। रसस्य त्रयो भागा, शुल्कचूर्णस्य नागरजस एको भाग, अथ-अनन्तरम्, पूर्वोक्तपारदताम्रसंमिश्रितचूर्णं निम्बुरसेन्नाश्ममर्दयेन यावत्पिण्डता पिण्डीभूतत्वमायाति तत्पिण्डं—पारदार्कमिश्रित तत्भाण्डस्थम—अध स्थितहण्डिकायामन्तर्भागे (पिन्दिकायाम) स्थापयेत। क्वचित "तं पिण्डम" इति पाठ। ऊर्ध्वभाण्डे—उपरिस्थितहण्डिकाया उपरितनपृष्ठभागे, केनापि मृत्तिकाविना, मृचात्र—"खटिकापटुकिट्टैश्च महिषीदुग्धमर्दितै। वह्निमृत्स्ना भवेद्घोरवह्नितापसहा खलु॥" इति। तोयमृदपि यथा—'लेहवत कृतबब्बूलकाथेन परिमर्दितम। जीर्णकिट्टरज. सूक्ष्मं गुडचूर्णसमन्वितम। इयं हि जलमृत्प्रोक्ता दुर्भेद्या सलिले खलु॥' इति। आलवाल निर्माय जल क्षिपेत—जलेन पूरयेत्। "स्यादालवालमावाप" इत्यमरः। अथवा डमरुयन्त्रस्योपरिभागे आर्द्रं जलक्लिन्नं प्लोतक चतु पुटकमष्टपुटकं वा भारतीयकार्पासहस्तनिर्मितवस्त्रखण्डं (ग्वादीत्याख्य) च निधाय तस्याधोऽग्नि प्रज्वालयेदिति। किं कृत्वा मुद्रां विधाय (अर्थात ऊर्ध्वाधयोर्हण्डिकयोर्मुखं संमेलय) चतु प्रहरमविरतेनाधोवह्नि दत्वा सूत प्रबोधयेत। ततस्तदनन्तरम्, युक्त्या उपरितनपात्रसक्तं पारदं गृह्णीयात् कूर्चयित्वा निष्कासयेदित्यर्थ। सूतशोधने-पारदशोधनकर्मणि भिषग्भि, इत्यमुना प्रकारेण, ऊर्ध्वपातनं नामकं रससंस्कारं प्रोक्तम्। अत्राऽयं बोध्यो यदूर्ध्वपातनावसरे डमरुयन्त्रस्योर्ध्वभाण्डोपरि पूर्वोक्तं चतु पुटकमष्टपुटकं वा जलार्द्रं वस्त्रं वारं वारं देय किञ्चिदुष्णं च हेयमित्युपदेश। यत्र पातनादौ चतु प्रहराग्नेरविरतमित्युक्तिस्तत्रार्द्धसेटकमित द्रव्यं ग्रहीतव्यमिति ज्ञेयाम। सन्धिमेलनप्रकारमाह-सूतेन सह वर्तमानो यो भाण्डस्तस्य यद्रन्ध्र तत्तस्मिन् सूतभाण्डरन्ध्रे—पारदयुक्पात्रमुखे, अन्यत—द्वितीयम्। भाण्डकं पात्रमुख यथा विशति-संयति भवति तथा तेनैव विधिना द्वयो पात्रयो सन्धिबन्ध कार्य। पातनं नाम—डमरुयन्त्रेणोर्ध्वमधस्तिर्यग्वा त्रिधा पातकरणं तद्यन्त्र परिशिष्टे चाग्रे वा द्रष्टव्यमिति। पातनात्रययन्त्रके-पातनात्रयम्—ऊर्ध्वपातनमध पातन तिर्यक् पातनं चेति गुरोराचार्यमुखात यन्त्रप्रमाण विचक्षणै चतुरैर्बोध्यम्। रसस्य मानानियमात प्रकटीकर्तुं नैव पार्यते। "शत पंचाशतं वाऽपि' इत्यादिवचनेन रसस्यैकप्रमाणनियमाभावाद्यन्त्रप्रमाण गुरोर्मुखादेव ज्ञेयमिति भाव ॥ ६८-७२॥

ऊर्ध्वपातन विधि—तीन भाग पारा और एक भाग ताम्रचूर्ण दोनों को मिलाकर नहीं घिसने वाले पत्थर के खल में अथवा लोहे के खल में निम्बूरस के साथ तबतक मर्दन करना चाहिए जब तक वह पिण्ड का स्वरूप धारण न कर ले, घोटते घोटते पारद और ताम्र का पिण्ड बन जावे तब डमरूयन्त्र के नीचे की हाँडी (पात्र) में उसको रखकर दूसरी हाँडी उसके मुख पर बराबर आ सके उसको लगाकर डमरूयन्त्र की विधि से मन्धान कर, अर्थात सन्धिबन्धन कर चूल्हे पर रखना। ऊपर की हाँडी के ऊपरी भाग, अर्थात पेंदी पर मिट्टी का आलवाल बनाना जिसमें पानी भरा जा सके। वह आलवाल चाहे मिट्टी का हो अथवा अन्य किसी प्रकार का हो, किन्तु उसमें पानी आ सके और रुक सके। पानी सिरना नहीं चाहिये। ऊपर संस्कृत टीका में इसके लिये दो प्रकार की मिट्टी का उल्लेख किया है वे दोनों भी इसके लिये उपयुक्त हैं, उनसे परिधि सरीखा आलवाल बनाकर पानी भर दे। अथवा आर्द्र वस्त्र उसके ऊपर रखता रहे जब वह सूखने लगे तब उसको फिर गीला कर के रखे। यन्त्र के नीचे अग्नि जलावे। अग्नि सर्वथा मन्द नहीं होनी चाहिये। चार प्रहर अर्थात् १२ घण्टे तक अग्नि देने से पारद का प्रबोधन हो जाता है। पारा ऊपर की हाडी के तल में जाकर लग जाता है। स्वागशीत होने पर यन्त्र को सावधानी से

खोलकर ऊपर की हांडी के तल भाग में लगे हुए पारद को खुरच कर निकाल ले, यह ऊर्ध्वपातित पारद कहलाता है। वैद्यों ने पारद शुद्धि के लिए इसी क्रिया को ऊर्ध्वपातन नाम दिया है। अधःपातन और तिर्यक्पातन यन्त्रों का सन्धिबन्धन भी इसी प्रकार होता है। विशेष जानकारी परिशिष्ट में प्राप्त की जा सकती है। किस यन्त्र का कैसा प्रमाण हो यह गुरुमुख से और अनुभव से ही निश्चित किया जा सकता है क्योंकि कितने पारद का संस्कार करना है, यह बात यहाँ अनिश्चित है, अतः जितना द्रव्य हो उसी के उपयुक्त यन्त्र का निर्णय किया जा सकता है ॥ ६८-७३ ॥

अथान्यन्मतम्—

मयूरग्रीवताप्याभ्यां नष्टपिष्टीकृतस्य च।
यन्त्रे डमरुके कुर्याद्रसेन्द्रस्योर्ध्वपातनम् ॥ ७४ ॥

मयूरेत्यादि। मयूरग्रीव-तुत्थकम्, ताप्य-सुवर्णमाक्षिकम्, आभ्यां नष्टपिष्टीकृतस्य कज्जलीभूतस्य तल्लक्षणं रसेन्द्रचूडामणौ यथा—'स्वरूपस्य विनाशेन पिष्टतापादनं हि यत्। विद्वद्भिर्निर्जितः सूतो नष्टपिष्टः स उच्यते ॥' इति। पारदस्य डमरुके—एतन्नाम्नि यन्त्रे, ऊर्ध्वपातनसंस्कारं कुर्यात्। रसरत्नसमुच्चये डमरुयन्त्रलक्षणं यथा—'यन्त्रस्थाल्युपरि स्थालीं न्युब्जां दत्त्वा निरोधयेत्। यन्त्रं डमरुकाख्यं तद्रसभस्मकृते हितम् ॥' इति ॥

ऊर्ध्वपातन का दूसरा प्रकार—नीला थोथा और सुवर्णमाक्षिक दोनों को बराबर बराबर लेकर पारद को उनके साथ मजबूत हाथों से घोटना चाहिए। जब नष्टपिष्ट अर्थात् तीनों का एक रूप बन जावे, पृथक्ता न प्रतीत हो और मक्खन के समान पारे की पिष्टी बन जावे तब उसको डमरुयन्त्र में रखकर ऊर्ध्वपातन विधि से संस्कारित करे।

वक्तव्य—कुछ लोग ऊर्ध्वपातन नामक पारद का संस्कार तीन बार और अधःपातन संस्कार सात बार करने का आदेश देते हैं। जैसे कि रसरत्नसमुच्चयकार लिखता है—**'त्रिधोर्ध्वं सप्तधा त्वधः'।'** रससार के मतानुसार तो ऊर्ध्वपातन २१ बार करना चाहिए। जैसे कि—**'त्रिसप्तकमिदं प्रोक्तं श्रेष्ठं पातनमूर्ध्वगम्।'** पारद की पिष्टी बनाने में भी विशेष द्रव्यों का प्रयोग किया है। पारा ? भाग, ताम्र १ भाग, सेन्धा नमक ३० वां भाग इन तीनों को मिलाकर घोटना चाहिए, यदि पिष्टी न बने तो थोड़े प्रमाण में नीला थोथा मिलाकर मर्दन करे। रसहृदयतन्त्रकार केवल ऊर्ध्वपातन ही तीन बार करने को कहता है। वह अधःपातन और तिर्यक्पातन की अपेक्षा नहीं मानता है। ऊर्ध्वपातन से पारद का ह्रास भी कम होता है और गुण में अन्तर भी नहीं आता है। फिर भी एक बात तो अकाट्य है कि शास्त्रोक्त विधि से किए हुए संस्कार **'अधिकस्याधिकं फलम्'** के अनुसार जितने भी किये जावें अच्छा ही है। पारद में अग्निस्थायित्व निर्माण करना ही उत्तम है। यों कामचलाऊ विधि भी शास्त्रकारों ने कही है। जैसे रसमञ्जरीकार लिखता है कि हल्दी के चूर्ण के साथ ग्वारपाठे में एक दिन मर्दन करके ऊर्ध्वपातन यन्त्र से उत्थापित करने पर पारद शुद्ध हो जाता है। जैसे कि—**'कुमार्या च निशाचूर्णैर्दिनं सूतं विमर्दयेत्। पातयेत्पातनायन्त्रे सम्यक् शुद्धो भवेद्रसः ॥'** इस प्रकार की विधियाँ प्रायशः इसलिए दी हुई है कि विशेष शुद्धि के पक्ष में यदि कोई नहीं है तो स्वल्प से कार्य चला ले। यह **'अकरणान्मन्दकरणमपि वरम्'** इस प्रस्तुत न्याय का ही केवल पोषक है ॥ ७४ ॥

---

१ ग्रन्थकारः—मयूरग्राव-तुत्थक, ताप्य स्वर्णमाक्षिक, नष्टपिष्टीकृतस्य 'कुमारिकाद्रवयोगेन।' इति शेषः।

अथाधःपातनम् ।

त्रिफला शिग्रुचित्रैश्च लवणासुरिकायुतैः ।
नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेदूर्ध्वभाण्डके ॥ ७५ ॥
ऊर्ध्वभाण्डोदरं लिप्त्वा ह्यधोभाण्डे जलं क्षिपेत् ।
सन्धिलेपं द्वयोः कृत्वा तद्यन्त्रं भुवि पूरयेत् ॥ ७६ ॥
उपरिष्टात्पुटे दत्ते जले पतति पारदः ।
अधःपातनमित्युक्तं सिद्धाद्यैः सूतकर्मणि ॥ ७७ ॥

त्रिफलेत्यादि । त्रिफला, शिग्रु[१]-शोभाञ्जन महाराष्ट्रदेशे शिग्रुमूलान्यतितीक्ष्णानि भवन्ति तस्य नाम शिग्रुमूलमिति प्रसिद्धिः । चित्र.-चित्रक, लवणं सैन्धवम्, आसुरिका-राजिका, एतेषां समभागयुत चूर्णं पारद च गृहीत्वा मर्दयेत् अर्थात् निम्बुरसेन सार्धं पूर्वोक्तद्रव्याणां चूर्णं पारद खल्वे दत्वा पेषयेद्यावन्नष्टपिष्टिर्भवति । नष्टपिष्टेर्व्याख्या पूर्वं गत ७४ तमश्लोकस्य टीकायामुल्लिखिता । तावन्मृदुकृते अर्थान्नष्टपिष्टो रसो यथा भवति तथा कृत्वा, ऊर्ध्वभाण्डके-उपरिभाण्डस्यान्तराले लेपयेत् । ऊर्ध्वभाण्डोदरम्-उपरितनपात्र-पिन्दिकां लिप्त्वा । अधोभाण्डे जल पूरयेदित्यर्थ, 'अधोभाण्डे जल क्षिपेदि'ति वचनात सम्पुटपात्रमध्ये जलं प्राप्यते तच्च संप्रदायविरुद्धम् , अत. सम्पूर्णाम्बुनि पात्रान्तरे भूमौ नखातिते तस्योपरि संपुट दद्यात् । पश्चात्तस्य सपुटस्याध' पात्रस्य च सधिरोध' कार्य इति तात्पर्यतो ज्ञेयम् । द्वयोरधऊर्ध्वपात्रयो सन्धिबन्ध कृत्वा, अत्र त्वाप्रत्ययस्तु रसपाता-पेक्षया न तु लेपापेक्षया संप्रदायात् । तद्यन्त्र शुष्कं विधाय भूगर्ते पूरयेत् । अर्थादूर्ध्वपुटं दद्यात् । उपरिष्टात् पुटे दत्ते सति सूतो जले अध.स्थितपात्रे पतति । पुटं चात्र कौक्कुट तद्युक्तिर्ग्रन्थकत्रैव टिपण्यां सन्निहिता । रसेन्द्रचूडामणौ कुक्कुटपुटलक्षणं च यथा—'पुट भूमितले यत्तद्वितस्तिद्वितयोच्छ्रयम् । तावच्च तलविस्तीर्णं तस्मात्कुक्कुटकं स्मृतम् ॥' इति । अतः 'सिद्धाद्यैर्नित्यनाथादिभि सूतकर्मणि अध'पातनाख्यमित्युक्तम् । अध-पातनयन्त्रं तु प्रागुक्तं तच्च डमरुकाख्य यथा रसरत्नाकरे—'त्रिफलाराजिकाशिग्रुव्योषं लवण-पञ्चकम् । सूततुल्यं तु तत्सर्वं काञ्जिकैर्मर्दयेद्दिनम् । तेन लिम्पेदूर्ध्वभाण्डं पृष्ठे देयं पुटं लघु ॥ अध'पातनयन्त्रे' इति । अत्र चाधोजलस्यानुक्तत्वाद्गोमयेनार्द्रमृत्तिकादिना वा पात्रस्याध.शैत्य सपादनीयमित्यपि ज्ञातव्योऽश. ॥७५-७७ ॥

अध पातनविधि .—त्रिफला, हरड, बहेडा, आँवला, सहजना, चित्रक, सेंधानमक और राई ये सब द्रव्य पारद से सोलहवाँ भाग लेकर इनके साथ पारद को खल में डालकर निम्बू रस से तब तक घोटना चाहिए जब तक उन द्रव्यों के साथ पारद अपने रूप को छोटकर एकाकार न हो जावे अर्थात् पारद के कण न रहें । सबका एक समान कल्क बन जावे । उस कल्क को यन्त्र के ऊपर के पात्र के पेंदे में भली प्रकार लीप दे । जब ऊपर के पात्र में कल्क भली प्रकार लगा दिया जावे तब उसको सुखा देना चाहिए । सूखने पर जो पात्र नीचे रहेगा उसमें जल

---

१ ग्रन्थकार —त्रिफलेति व्याख्याता । 'अधोभाण्डे जल क्षिपेदि'ति वचनात् सपुटपात्रमध्ये जल प्राप्यते तच्च सप्रदायविरुद्धम्, अत सम्पूर्णाम्बुनि पात्रान्तरे भूमौ निखातिते तस्योपरि सपुट दद्यात् । पश्चात्तस्य सपुटस्याध पात्रस्य च सधिरोध कार्य इति तात्पर्यतो ज्ञेयम् । उपरिष्टात् पुटे दत्ते इति, पुट चात्र कौक्कुट यथायथरसमात्रापेक्षया वा विंशतिवनोपलैरधिकैर्वा निवातस्थले शनै शनैर्देय-मिति गुरुसप्रदाय ।

डाल देना और दोनों पात्रों के मुखों को परस्पर में मिलाकर सन्धिबन्ध कर देना। सन्धि-बन्धन के लिए श्लोक ७० की संस्कृत टीका में बताई हुई 'वह्निमृत्स्ना' या 'जलमृत्' का प्रयोग करना चाहिए अथवा अन्य कोई प्रकार हो, किन्तु मजबूत सन्धिबन्ध होना चाहिए। जब वह भली भाँति शुष्क हो जावे तब उस यन्त्र को जमीन में गड्ढा खोदकर जिसमें जल डाला है उसके सहित पूरे यन्त्र को उस गड्ढे में गाड देना चाहिए। केवल ऊपर का पात्र उतना बाहर रहना चाहिए जितने में कल्क लगाया गया है। उसके ऊपर उस प्रमाण से अग्नि देनी चाहिए जितना प्रमाण पारद का हो, अथवा कम से कम बीस उपलों या उससे अधिक उपलों की अग्नि देनी चाहिए। ऊपर के पात्र पर अग्नि देने से पारद नीचे के पात्र में जिसमें जल भरा है उसमें गिरेगा। अग्नि निवात स्थान में धीरे-धीरे देनी चाहिए। स्वाङ्गशीत होने पर नीचे के पात्र में गिरे हुए पारद को सावधानी से ग्रहण कर लेना चाहिए। ऊपर के पात्र में लगा द्रव्य शेष रह जावे तो पूर्वोक्त विधि से अध पातन कर ग्रहण करना चाहिए। पारद कर्म के आचार्य नित्य-नाथादि सिद्धों ने इसको अध पातन कहा है।

वक्तव्य—कुछ लोगों का मत है कि यन्त्र के नीचे के पात्र में जो जल भरा जाता है उसकी आवश्यकता नहीं है, उस पात्र को खाली ही रखना चाहिए। ऊपर[1] के पात्र में नष्टपिष्ट पारद लेपित करना चाहिए और नीचे को खाली रखना चाहिए। दोनों के मुखों को मिलाकर सन्धि बन्ध करके यन्त्र तयार कर लेना चाहिए। अब इस यन्त्र को जमीन में गड्ढा खोदकर गाड देना चाहिए किन्तु यह ध्यान रहे कि जमीन के उस गड्ढे में या तो जल-मिश्रित गोबर भरा होना चाहिए या मिट्टी का कीचड होना चाहिए ताकि नीचे का पात्र शीतल बना रहे। यह विधि जलपूर्ण पात्र में पारद को पातन करने की अपेक्षा अधिक सुकर, उपयुक्त और प्रभावकारी है। सम्कारित पारद का शीत जल में पातन करना भी उतना अच्छा नहीं है। पानी में गिरे हुए पारद को सगृहीत करने में भी थोडी परेशानी है ॥ ७५-७७ ॥

अत्रान्यन्मतम्—

नवनीताभ्रकं सूतं घृष्ट्वा जम्भाम्भसा दिनम्।
वानरीशिग्रुचित्रैश्च लवणासुरिकायुतैः ॥ ७८ ॥

नवनीताभ्रकमित्यादि। वानरी-कपिकच्छु, शिग्रु शोभाञ्जनम्, चित्रः-चित्रकमूलम्, लवणं सैन्धवम्, आसुरी-राजिका, पारदात् षोडशभागपरिमितैरेभि दिनमेकं जम्भाम्भसा निम्बुरसेन नवनीताभ्रकं नष्टपिष्टं रसं कृत्वा ऊर्ध्वं पुटं दद्यादिति ग्रन्थकर्त्राऽनुमतम्। शब्दार्थस्तु चैवमेव—नवनीताभ्रकं-धान्याभ्रक, सूतं च, धान्याभ्रकं सूतापेक्षया षोडश-भागात्मक ग्राह्यम्। धान्याभ्रकसहितं कपिकच्छ्वादिभिर्निम्बुनीरेण घृष्ट्वा चोर्ध्वं पुटं दद्यादिति, शेषं पूर्ववत्। नवनीताभ्रलक्षणं रसकामधेनौ यथा—'श्लक्ष्णीकृतमभ्रदल रसेन्द्र-युक्तं तथाऽरनालेन। खल्वे दत्त्वा मृदित यावन्नष्टपिष्टतामेति ॥' इति ॥ ७८ ॥

अध पातन की दूसरी विधि —पारद और उससे सोलहवाँ भाग धान्याभ्रक दोनों को केवाँच, सहजना, चित्रक की जड, सेंधानमक और राई पारद से षोडशांश इन पाँचों का चूर्ण मिलाकर निम्बू के रस के साथ एक दिन घोटना और पूर्वोक्त विधि से अध पातन करना।

वक्तव्य—'नवनीताभ्रकम्' स्वय ग्रन्थकार ने इसका तात्पर्य यह लिखा है कि 'नष्टपिष्ट रस कृत्वा' अर्थात् कौंच और सहजना आदि के चूर्ण के साथ निम्बू के रस में एक दिन मर्दन करके

१ 'नष्टपिष्ट रस कृत्वा' इत्यादि पूर्ववत्, इति ग्रन्थकार ।

नष्टपिष्ट होने पर पूर्वोक्त विधि से यन्त्र के ऊपर के तल भाग में लेपित कर अधःपातन संस्कार करें।

ऊपर संस्कृत-टीका में रसकामधेनु का जो प्रमाण नवनीताभ्र का स्वरूप प्रगट करने वाला लिखा है उसका तात्पर्य यह है कि 'श्लक्ष्णीकृतमभ्रदलम्' अर्थात् मृदु किये हुए अभ्रकपत्र (धान्याभ्रक) को पारद के साथ खल में डालकर आरनाल (काजी) के साथ तब तक मर्दन करना चाहिए जब तक कि पारद नष्टपिष्ट न हो जावे।

कुछ लोग 'नवनीताभ्रकम्' का अर्थ यह करते हैं कि मक्खन और धान्याभ्रक के साथ पारद मिलाकर घोटना चाहिए। इस पूर्वोक्त विधि को तिर्यक्पातन संस्कार में ग्रहण किया है। हमारे मत में 'नवनीताभ्रक' का अर्थ केवल धान्याभ्रक ही ग्रहण करना चाहिए। 'धान्याभ्रक' का पर्याय नाम 'नवनीताभ्रक' माना गया है। जब अभ्रक धान्याभ्रक की कोटि में आ जाता है तब वह इतना मृदु और श्लक्ष्ण होता है कि हठात् यह मुख से निकलता है कि मक्खन के समान मृदु है यही कारण है कि धान्याभ्रक को नवनीताभ्रक कहा जाता है। 'कुछ लोग पारद को धान्याभ्रक और मक्खन के साथ घोटकर पातनायन्त्र से उडाने की व्याख्या करते हैं यह न तो व्यावहारिक है और न शब्दार्थ की दृष्टि से ही उचित है।

पारद को धान्याभ्रक के साथ घोटकर बारम्बार अधःपातन संस्कार किया जावे तो पारद का पक्षच्छेदन होकर उसमें अग्निस्थायित्व गुणाधान होता है। मृदु और मध्य अग्नि पर वह टिका रहने की सामर्थ्य में आ जाता है। पारद की उत्कृष्टता के लिए प्रथम बात यह है कि उसमें अग्निस्थायित्व-निर्माण हो। धान्याभ्रक के साथ पुट देने से काफी अग्नि का संपर्क रहेगा और सम्भवतः अग्नि-स्थायित्व का निर्माण हो सके॥ ७८॥

अथ तिर्यक्पातनम्।

घटे रसं विनिक्षिप्य सजलं घटमन्यकम्।
तिर्यङ्मुखं द्वयोः कृत्वा संमुखं रोधयेत्सुधीः ॥ ७९ ॥
चुल्ल्यां तथैव संस्थाप्य यत्नतस्तु ततो भिषक्।
रसाधो ज्वालयेदग्निं यावत्सूतो जलं विशेत् ॥ ८० ॥
तिर्यक् पातनमित्युक्तं सिद्धैर्नागार्जुनादिभिः।
मिश्रितौ चेद्रसे नागवङ्गौ विक्रमहेतुना ॥ ८१ ॥
ताभ्यां स्यात्कृत्रिमो दोषस्तन्मुक्तिः पातनत्रयात्।
एवं सुसंस्कृतः सूतः पातनावधि यत्नतः ॥ ८२ ॥
सर्वदोषविनिर्मुक्तो जायते नात्र संशयः ॥ ८३ ॥

घट इत्यादि। रसकर्मणि कुशलः सुधीः, एकस्मिन् कुम्भे पारदं विनिक्षिप्य अन्यकं द्वितीयं जलसहितं कुम्भं च सज्जीकृत्य, अर्थादेकस्मिन् घटे पारदं निधाय घटान्तरे जलं च संस्थाप्य द्वयोः कुम्भयोः, तिर्यङ्मुखं कृत्वा अभिमुखं रोधयेत्, एकस्य मुखमपरस्य मुखमध्ये यथा गच्छति तथा कृत्वा सन्धिलेपादिकं कार्यमिति पिण्डार्थः। ततः पश्चात् भिषक् यत्नतः तेनैव प्रकारेण तिर्यक्स्थितौ द्वौ घटौ चुल्ल्यां स्थापयित्वा, चुल्लीलक्षणं रसकामधेनौ यथा—'भवेदेकमुखी चुल्ली पातनादिक्रियाकरी। चुल्ली तु द्विमुखी प्रोक्ता स्वेदनादिषु कर्मसु॥ महास्वेदादिषु तथा चुल्ली तु त्रिमुखी स्मृता। चतुर्मुखी जारणादौ

न्सत्त्वपाते च कीर्तिता । श्रीनाथाख्या तथा चुल्ली जारणे बहुभिर्मुखैः ॥' इति । रसपात्रस्याधोऽग्निं प्रज्वालयेत । यावदिति कालमर्यादा प्रकटयति । पारदो 'जलम्' इति कर्मणि पदम् । विशेत् प्राप्नुयात्, तावदिति शेषः । अत्र मृदुमध्यतीव्रक्रमेणाग्निं प्रज्वालयेदिति गुरूपदेशः । सिद्धसम्प्रदायैर्नागार्जुनादिभी रसशास्त्रप्रवर्तकैस्तिर्यक्पातनसञ्ज्ञकमिति प्रोक्तम् । पारदे विक्रयहेतुना नागवङ्गौ समेलितौ चेद्यदि ताभ्यां कृत्रिमः संसर्गजो दोषः स्यात् । तन्मुक्तिस्तद्दोषपरिहारः पातनत्रयात्—ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्पातनभेदाद्भवतीति सरलार्थः । एवं विधिना यत्नतः पातनावधि तिर्यक्पातनविधिं यावत् । सुसंस्कृतः सम्यक् शोधितः पारदः सर्वदोषविनिर्मुक्तो भवतीति नात्र संशयः । रसेन्द्रचूडामणौ तिर्यक्पातनयन्त्रलक्षणं यथा—'क्षिपेद्रसं घटे दीर्घे नताधोनालसंयुते । तन्नालं निक्षिपेदन्यघटकुक्ष्यन्तरे खलु ॥ तत्र रुद्ध्वा मृदा सम्यग्वदने वटयोरथ । अधस्ताद्रसकुम्भस्य ज्वालयेत्तीव्रपावकम् ॥ इतरस्मिन् घटे तोयं प्रक्षिपेत्स्वादुशीतलम् । तिर्यक् पातनयन्त्रं हि वार्तिकैरभिधीयते ॥' इति । नागवङ्गादिसम्मिश्रणविधिं तु विक्रेतार एव जानन्ति नान्ये । क्वचित् पुस्तके सम्मुखमित्यत्र तन्मुखमिति पाठभेदः ॥ ७९–८२ ॥

एक घटे में पारा दूसरे में जल दोनों के मुखों को टेढा करके एक एक के मुख को परस्पर में भली प्रकार मिलाकर सन्धिबन्धनार्थ मजबूत मुद्रा कर दे । तत्पश्चात् दो चूल्हों पर यन्त्र को इस प्रकार रखे कि एक-एक घटा एक एक चूल्हे पर रखा जावे । पारेवाला घडा जिस चूल्हे पर रखा है उस चूल्हे में तीव्राग्नि जलावे और अग्नि तब तक अविरत देता जावे-जब तक कि पारद पूरा उठ कर जलस्थ घट में न चला जावे । इस क्रिया को तिर्यक्-पातन कहते हैं । सिद्ध-सम्प्रदायी नागार्जुन आदि रससिद्धों ने अपने अनुभव से कहा है कि पारद-विक्रेताओं ने पारे में सीसा और कथिल मिला दिया तो उन दोनों के संयोग से नाग-वङ्गात्मक कृत्रिम और यौगिक दोषों का निर्माण हो जाता है । अतः उन दोनों दोषो की मुक्ति ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् पातन से हो जाती है । यत्नपूर्वक सावधानी से पातनत्रयावधि पारद को सुसंस्कृत किया जावे तो वह समस्त दोषों से निर्मुक्त और शुद्ध हो जाता है इसमें कोई संशय नहीं है ।

वक्तव्य—तिर्यक्पातन यन्त्र के अभाव में आज-कल काच की लम्बी मुडी हुई नलीवाला रिटोर्ट (Retort) आता है । जिसका उपयोग प्रायशः आधुनिक विज्ञानशालाओं में प्रयोगार्थ होता है । अग्नि पर उसके गलने और टूटने का भय नहीं है साथ ही उसमें रखे हुए पारद के उटने का भी भय नहीं है । कई प्रकार की झञ्झटों से बचाव हो जाता है । इस यन्त्र को स्पिरिट लेम्पपर रख कर भी सरलता से तिर्यक्पातन किया जा सकता है किन्तु मिट्टी के यन्त्र की अपनी एक विशेष योग्यता है उसको यह नहीं पा सकता है । ऊर्ध्वपातन, अधःपातन और तिर्यक्पातन इन तीन विधियों से पारद को संस्कृत करने का रसशास्त्रकारों का विधान है किन्तु रसहृदयतन्त्रकार कहते हैं कि ऐसा न करके केवल तीन बार ऊर्ध्वपातन ही कर लिया जावे तो भी कार्य चल सकता है फिर भी इनको ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् भेदों को किया जावे तो अच्छा ही है । कहने का तात्पर्य यह है कि पारद की गति को नियन्त्रित करने के लिए उसकी स्वाभाविक जिस प्रकार की गति है उन गतियों में उसे बारबार दौडाने से उन गतियों का ज्ञान होता है और प्रत्येक गति पर यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कौन सी गति से वह अधिक उटता है साथ ही एक के पश्चात् दूसरे संस्कार पर भी ध्यान रखना चाहिए । मैं अपने अनुभव पर से यह कहता हूं कि ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्पातन इनमें प्रथम की अपेक्षा दूसरे में अधिक समय लगता है और तीसरे में इससे भी अधिक, इसी प्रकार जितने अग्निसंस्कार अधिक होते जाते हैं पारद की उत्थानशक्ति

और गति में मन्दता आती प्रतीत होती है, साथ ही ऊर्ध्वाध-तिर्यक् का अनुशीलन विशेष कार्यकारी है ॥ ७९-८३ ॥

कुछ रससिद्धों का मत है कि तिर्यक्पातन के पश्चात् पुनरपि स्वेदन करना चाहिए और उसमें उनका कहना है कि ऐसा करना इस लिए नितान्त आवश्यक है कि कहीं दोष-शेष तो नहीं रह गया है यदि ऐसा होगा तो उसका निराकरण हो सकेगा अन्यथा कोई हानि है नहीं, अत यही आगे कहते है—

अत्रावसरे केचित्पुन स्वेदनमिच्छन्ति, यथा—

रसं चतुर्गुणे वस्त्रे सरसोनशरावके ।
नियन्त्र्य दोलिकायन्त्रे मध्याग्नौ दिवसं पचेत् ॥ ८४ ॥
सव्योषत्रिफलावह्निकन्याकल्के तुषाम्बुनि ।
दोषशेषापनुत्त्यर्थमिदं स्वेदनमिष्यते ॥ ८५ ॥

रसमित्यादि । सरसोनशरावके-लशुनकल्कयुक्तशरावके पारदं स्थापयित्वा तच्छरावं चतुर्गुणे चतु'पुटके चतुरावृत्ते वस्त्रे बद्ध्वा दोलिकायन्त्रे काञ्जिकपूरितहण्डिकाया ढोलागत कृत्वा मध्यमाग्नौ न तु तीव्राग्नाविति भाव । एकदिनं यावत् पचेत् । कस्मिन् स्वेदयेदिति-व्योषं—त्रिकटु, त्रिफला, वह्निश्चित्रक , कन्या—घृतकुमारी तन्मध्यगर्भो ग्राह्य । एषा कल्के रसं निधाय तुषाम्बुनि-काञ्जिके दोषशेषापनुत्त्यर्थं-शेषदोषपरिहारार्थम्, इद स्वेदनमिष्यते ॥

त्रिकटु, सोंठ, मिरच, पीपल, त्रिफला, हरड, वहेडा, आँवला, चित्रक, घीकुवार और लहसुन के कल्कयुक्त शराव मे पारद को रखकर चौपट वस्त्र में पोटली के समान वाधकर मध्यमाग्नि से एक दिन स्वेदन करे ॥ ८४-८५ ॥

स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन और पातन इन सस्कारों के प्रभाव से पारद में सम्भवतः एक प्रकार की मन्दता और शान्ति आना स्वाभाविक है जैसे कि—'मर्दनैर्मूर्च्छनैः पातैर्मन्द शान्तो भवेद्रस ।' रसरत्नसमुच्चयकार के इस वचन से उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि होती है ऐसी दशा मे जब पारद मे मन्दता और शान्ति की सभावना सुनिश्चित है तब तो वोधन सस्कार नितान्त आवश्यक हो जाता है । क्यो कि मन्दता और शान्ति का तात्पर्य यह है कि पारद मे कार्यकारी शक्ति का ह्रास हो कर उसमें जडत्व और अनिच्छा का निर्माण हो गया है अत वोधन सस्कार की नितान्त आवश्यकता है ताकि पुनरपि पारद मे कर्तृत्व-शक्ति और चाचल्य का निर्माण हो । यही वात आगे कहते हैं—

अथ वोधनम् ।

एवं कदर्थितः सूतः षण्ढत्वमधिगच्छति ।
मुक्तये क्रियते तस्य वोधनं कथ्यते हि तत् ॥ ८६ ॥

एवमित्यादि । एवं पूर्वोक्तप्रकारै स्वेदनमर्दनमूर्च्छनादिभि किं वा पातनत्रयात् कदर्थित सूत षण्ढत्वं षण्ढभावमधिगच्छति । तस्य तद्दोषनिर्हरणाय यत्कर्म क्रियते तदेव वोधनमित्युच्यते । रोधनापरपर्याय एव वोधनसस्कार । वोधनलक्षण रसेन्द्रचूडामणौ यथा—'जलसैन्धवयुक्तस्य रसस्य दिवसत्रयम् । स्थितिराप्यायनी कुम्भे याऽसौ रोधन-मुच्यते ॥' इति । क्वचित् 'शक्त्युत्कर्षाय वोध्योऽसौ' इत्युच्यते ॥ ८६ ॥

पहले कहे हुए स्वेदन, मर्दन, पातनादि सस्कारों से कदर्थित पारा नपुसक हो जाता है । उस दोष को दूर करने के लिए पारे का वोधन सस्कार करना आवश्यक होता है । अत उसे कहते हैं ॥

वाग्भटोऽपि—

मर्दनैर्मूर्च्छनैः पातैर्मरणान्तो भवेद्रसः ।
शक्त्युत्कर्षाय बोध्योऽसौ गुरुदर्शितवर्त्मना ॥ ८७ ॥

मर्दनैरित्यादि । मर्दनैः, मूर्च्छनैः, पातैश्च पूर्वोक्तैरेभिः संस्कृतो रसो मरणान्तो मरणप्रायो भवेत् । तस्मादसौ पारदो गुरुदर्शितवर्त्मना रसकर्मणि चतुराचार्यशिक्षितमार्गेण शक्त्युत्कर्षाय बलप्राप्तये भिषजा बोधनीयः । तदर्थं यन्त्रं यथा—'रक्तसैन्धवखोटेन मूषाद्वन्द्वं प्रकल्पयेत् । तत्संपुटे रसं क्षिप्त्वा नवसारं सनिम्बुकम् ॥ सम्पुटस्य प्रयत्नेन लेपयेत्सन्धिमुत्तमम् । वज्रमृत्स्नां समादाय वेष्टयेत्तत्प्रयत्नतः ॥ छायाशुष्कं च तत्कृत्वा भूगर्ते स्थापयेत्ततः । अष्टाङ्गुलप्रमाणेन मूषोर्ध्वं तत्र पूरणम् ॥ त्रिसप्तदिनपर्यन्तं करीषाग्निं च कारयेत् । दिनेदिने प्रकर्तव्या मूषासैन्धवनूतना ॥ स्वेदयेत्तत्प्रयत्नेन भूगर्भे स्थापयेत्ततः । अथवा कूपिकामध्ये सूतं सैन्धवसंयुतम् ॥ भूगर्भे च ततः स्थाप्यमेकविंशद्दिनावधि । अयं निरोधको नाम्ना महासुखकरो रसे ॥' इति । सम्प्रति रसरत्नसमुच्चये 'मरणान्त' इत्यत्र 'मन्द शान्त' इत्यपि पाठो दृश्यते ॥ ८७ ॥

मर्दन, मूर्च्छन और पातन संस्कारों के प्रभाव से पारा मरणप्राय अर्थात् कमजोर हो जाता है उसमें पुनः शक्त्युत्कर्ष-निर्माण करने के लिए रसकर्मकुशल गुरु द्वारा बताई विधि से उसका बोधन करना चाहिए ॥ ८७ ॥

आगे गुरुदर्शित मार्ग का विवेचन करते हुए पारद में शक्त्युत्कर्ष-निर्माण करने वाली विधि का स्पष्टीकरण किया जाता है ।

यथा—

विश्वामित्रकपाले वा काचकूप्यामथापि वा ।
सृष्ट्यम्बुजं विनिक्षिप्य तत्र तन्मज्जनावधि ॥ ८८ ॥
पूरयेत्त्रिदिनं भूम्यां राजहस्तप्रमाणतः ।
अनेन सूतराजोऽयं षण्ढभावं विमुञ्चति ॥ ८९ ॥

विश्वामित्रेत्यादि । विश्वामित्रकपाले-नारिकेलखर्परे काचकूप्यां काचपात्रे वा अथापीति-मृत्तिकाकाष्ठपाषाणादिपात्राणामपि ग्रहणम् तन्मज्जनावधि-सूतनिमग्नावधि-सूतनिमज्जनं यावद्रजोजलमिति शेषः । सृष्ट्यम्बुजम्—अरुणाया षोडशवार्षिक्याः स्त्रिया रजः । तदुक्तं शक्त्यवतारे—'गोऽजाऽविनरनारीणां मूत्रं शुक्रं च शोणितम् । सृष्ट्यम्बुजं समाख्यातं षण्ढदोषविनाशकम्' ॥ इति । विनिक्षिप्य राजहस्तप्रमाणतः—त्रिंशदङ्गुलिमानेन, यथा—'साधारणनराङ्गुल्या त्रिंशदङ्गुलको गजः' इति राजहस्तो गजहस्त इत्यपरपर्यायम् । भूम्यां दिनत्रयं पूरयेत् । अनेन बोधननाम्ना संस्कारेण, अयं पारदः षण्ढभावं-नपुंसकत्वं वीर्यराहित्यं च विमुञ्चति सबलो भवतीति भावः ।

सृष्ट्यम्बुजं सैन्धवादि, मूत्र, शुक्रं रजो वेति केचिदाहुः । समुपयुक्तं तु प्रागुक्तमेव । क्वचित् सृष्टि-वृद्धिः अम्बु-बालक, 'ज'-विष, 'मान्द्य विषाणि निघ्नन्ति' । इत्युक्ते । एवं व्याख्यानं कृतं चेत्तत्संप्रदायविरुद्धं भवतीति रसेन्द्रचिन्तामणेष्टीकायाम् ॥ ८८–८९ ॥

---

१ विश्वामित्रकपालं नारिकेलपात्रम्, 'सृष्ट्यम्बुजं सैन्धववारि' इत्येके । अपरे तु मूत्रं, रजः, शुक्रं च इत्याहुः । युक्तं तु सृष्ट्यम्बुजमरुणाया षोडशवार्षिक्याः स्त्रिया आर्तवम् । राजहस्तः-सपादकरः, इति ग्रन्थकारः ।

नरोटी अथवा शीशी में नीरोग सोलह साल की बाला स्त्री का आर्तव (रज) इतना भरना चाहिए कि पारद भली प्रकार उसमें डूब जावे। पारद और आर्तवयुक्त पात्र को एक गज भर जमीन के गहरे गढे में तीन दिन तक दवा के रखने से पारद का षण्ढत्व दूर हो जाता है तथा बलवान् हो जाता है।

वक्तव्य—'सृष्ट्यम्बुजम्' यह ऊपर कहे अनुसार स्त्रीरज है ऐसी ग्रन्थकार श्रीमाधवोपाध्याय की मान्यता है और यह सर्वथा उपयुक्त भी है। यद्यपि इस विषय में विभिन्न प्रकार के मत हैं— कुछ लोग 'सृष्टिर्मूत्रशुक्रशोणितरूपा' अर्थात् मूत्र, शुक्र और आर्तव इनको सृष्टि कहते हैं। अम्बुज यह सेन्धानमक है। कुछ लोग सृष्ट्यम्बुज सेन्धानमक के जल को ही मानते हैं। कुछ लोग गौ, बकरी, भेड, मनुष्य और स्त्री इनके मूत्र, शुक्र और शोणित को मानते हैं। विभिन्न मतावलम्बियों ने अपनी मान्यता के अनुसार इन सबका प्रयोग किया है और सम्भवतः सभी देर-अबेर सफल भी हुए हैं। तात्पर्य यह है कि स्त्रीरज यह पारद के शोधनार्थ उत्तम होता है उसके अभाव में गोमूत्र, अजामूत्र, भेड का मूत्र, मनुष्य का मूत्र, मनुष्य का वीर्य, स्त्री का आर्तव और सेन्धानमक इन सबके साथ, एक-एक के साथ अथवा यथोपलब्ध नारियल की नरोटी, काच की शीशी, मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि के किसी भी मजबूत और अभेदित पात्र में भर कर ३ दिन जमीन में गाड कर रखे। कुछ लोग ७ अथवा २१ दिन जमीन में गाड कर रखने को कहते हैं। कुछ जमीन के अतिरिक्त अनाज में अथवा खात में दबा कर रखने को कहते हैं। सभी प्रकार ठीक हैं॥ ८८-८९॥

मतान्तरं सुगमं च—

कदर्थनेनैव नपुंसकत्वमेवं भवेदस्य रसस्य पश्चात्।
वीर्यप्रकर्षाय तु भूर्जपत्रे स्वेद्यो जले सैन्धवचूर्णगर्भे॥ ९०॥

कदर्थनेनेत्यादि। एवममुना प्रकारेण कदर्थनेनैव स्वेदनादिकर्मभिरस्य पूर्वोक्तस्य पारदस्य नपुंसकत्वं भवेत्। तदनन्तरं वीर्यप्रकर्षाय बलसंपादनाय, सैन्धवचूर्णं गर्भे यस्य तस्मिन्, जले भूर्जपत्रे सभूर्जपत्रे चतुर्गुणे वस्त्रे पारदं बद्ध्वा दोलिकायां स्वेदयदिति शेषः। उक्तं हि—'कदर्थनेनैव नपुंसकत्वं प्रादुर्भवेदस्य रसस्य पश्चात्। बलप्रकर्षाय च दोलिकायां स्वेद्यो जले सैन्धवचूर्णगर्भे॥' इति॥ ९०॥

शोधन की दूसरी सुगम विधि—स्वेदन, मर्दन और पातन पर्यन्त संस्कारों से पारद में जडता, शिथिलता और बलहीनता आ जाती है तब उसको दूर करने के लिए और पारद में शक्ति-निर्माण करने के लिए पारद को भोजपत्र में भली प्रकार बाँध कर फिर कपडे में पोटली बना कर सेन्धानमकयुक्त जल से भरे हुए पात्र में दोलायन्त्र-विधि से स्वेदित करना चाहिए॥९०॥

मतान्तरम्—

लवणेनाम्लपिष्टेन हण्डिकान्तर्गतं रसम्।
आच्छाद्याथ जलं किंचित् क्षिप्त्वा श्रावेण रोधयेत्॥ ९१॥
ऊर्ध्वं लघुपुटो देयः प्राप्तपुंस्त्वो रसो भवेत्॥ ९२॥

लवणेनेत्यादि। अम्लपिष्टेन-निम्बुरसपेषितेन सैन्धवेन सह पारदमेकस्यां मृन्मय-हण्डिकायामन्तर्गतं कृत्वा, तदुपरि किञ्चिज्जलं काञ्जिकं वा दत्त्वा श्रावेण-शरावेणाच्छाद्य च सत्तलमृत्तिकया सन्धिबन्धं विदध्यात्। अथेत्यनन्तरम्। ऊर्ध्वं लघुपुटो दातव्यस्तेन प्राप्त-पुंस्त्वो लब्धश्वासः पारदो भवेदिति। अत्र छन्दोनुरोधाच्छरावापेक्षाया 'श्राव' इति पाठः[1]॥

[1] शरावेणेत्यर्थः।

सैन्धानमक पारद से षोटशांश लेकर दोनों को निम्बू के रस में घोट कर गोला बनाना, पारदलवण के इस गोले को एक हाण्डी में रखना उसमें जल अथवा कांजी एक चतुर्थांश भाग खाली रहे ऐसा भरना और उस हाण्डी के मुख पर शराव ढेकर मजबूत सन्धिबन्ध करना तथा उसको लघुपुट में देकर पारद का बोधन संस्कार करना ऐसा करने से पारद में पुंस्त्वशक्ति का तत्काल निर्माण होना है ॥ ९१–९२ ॥

अन्यन्मतान्तरम्—

एवं कदर्थितः सूतः षण्ढभावं प्रयाति हि ।
बह्वौषधिकषायेण स्वेदितः सबलो भवेत् ॥ ९३ ॥

एवमित्यादि । पूर्वोक्तविधिना कदर्थितः पारदः षण्ढत्वमायाति । हि यस्माद्धेतोः बह्वौषधिकषायेण-चिञ्चाब्दपिप्पलीसैन्धवाद्यनेकौषधिक्वाथेन दोलिकायां स्वेदितः सूतः सबलो भवति ॥ ९३ ॥

पूर्वोक्त पातनादि संस्कारों द्वारा कदर्थित पारा शक्तिहीन हो जाता है उसमें जडता और क्रियाहीनता आ जाती है अतः इमली, नागरमोथा, पीपल और सैन्धानमक आदि अनेक औषधों के कषायों में स्वेदन किया जावे तो वह पूर्वोक्त विकारों से छूट कर शुद्ध, चचल और सर्वकार्यकारी तथा सर्वोपयोगी एवं बलवान् बन जाता है ॥ ९३ ॥

यथा—

सर्पाक्षीचिञ्चिकावन्ध्याभृङ्गाब्दैः स्वेदितो बली ।
निरस्तषण्ढभावोऽसौ जायते हि रसोत्तमः ॥ ९४ ॥

सर्पाक्षीत्यादि । एषां रसः क्वाथो वा ग्राह्यः, तेन दोलायन्त्रे स्वेदितः पारदो निरस्तषण्ढभावस्त्यक्तनपुंसकत्वोऽसौ रसोत्तमो बली च जायते । शेषं टिप्पण्याम् ॥ ९४ ॥

सछेद्दी, इमली, बांझककोटा, भागरा और नागरमोथा इनके रस में स्वेदन करने से पारद षण्ढभाव को त्याग कर बलवान् और सर्वरसोपयोगी बन जाता है ॥ ९४ ॥

उपर्युक्त बोधन संस्कार से पारद में जडत्व का नाश होकर उसमें चपलता उत्पन्न हो जाती है तब उसका नियमन करना अर्थात् बोधन से उत्पन्न चपलता को निवृत्त करना होता है जिसका वर्णन आगे किया जाता है—

अथ नियमनम्[2] ।

सर्पाक्षीचिञ्चिकावन्ध्याभृङ्गाब्दकनकाम्बुभिः ।
दिनं संस्वेदितः सूतो नियमात् स्थिरतां व्रजेत् ॥ ९५ ॥

सर्पाक्षीत्यादि । सर्पाक्षी-नागिनी, चिञ्चिका-अम्लिका, वन्ध्या-'बांझककोडा' इति । प्रसिद्धा । भृङ्ग-भृङ्गराज, अब्दो-मुस्तक, कनक-धत्तूर, एतेषां पारदापेक्षया षोडशगुणैरम्बुभिः क्वाथैः स्वरसैर्वा सूतो दिनमेकं संस्वेदितो नियमात् नियमनं यथा भवेत्तथा स्थिरतां व्रजेत् । किं स्यान्नियमनफलमित्यत आह—रसप्रकाशसुधाकरे—'अतः परं प्रवक्ष्यामि नियमनं पारदस्य च । यत्कृते चपलत्वं हि रसराजस्य शाम्यति ।' इति । किं नाम नियमनमित्युक्तम् । किं च नियमितपारदलक्षणं रसार्णवे यथा—'नियामतो न प्रयाति

---

[1] सर्पाक्षी-नागिनी, चिञ्चा-अम्लिका, वन्ध्या-बाझखखसा, भृङ्गो-भृङ्गराज, अब्दो मुस्ता नागरसंज्ञको ग्राह्यः । एषां रसो ग्राह्य इति ग्रन्थकारः ।

[2] रोधनाल्लब्धवीर्यस्य चपलत्वनिवृत्तये । क्रियते यो घटे स्वेदः प्रोक्तं नियमनं हि तत् ॥

यथा धूमगति प्रिये। कणिकाजालरहितो बुद्बुदैश्चापि वर्जितः। नियमितो भवत्येव चुल्लिकाग्निसहस्तथा ॥' इति ॥ ९५ ॥

नियमन संस्कार—सर्पाक्षी, इमली, वाझककोटा, भागरा, नागरमोथा और धत्तूर इनके क्वाथ अथवा स्वरस में एक दिन तक स्वेदन करने से पारा का नियमन होकर उसमें स्थिरता आ जाती है।

वक्तव्य—नियमन संस्कार का प्रधानतम हेतु पारद की चंचलता को नष्ट कर के उसमें स्थिरत्व का निर्माण करना है। अब यहाँ यह सहज शंका होती है कि पातनान्त संस्कारों द्वारा पारद में 'मन्दता, शान्तता एवं मरणान्त' भाव उत्पन्न हो जाता है तब पुनरपि बोधन संस्कार करके उसका निराकरण किया जाता है और जब उसमें फिर शक्ति का उत्कर्ष, अस्थिरता और चंचलता उत्पन्न हो जाती है तो उसी को नष्ट करने के लिए नियमन द्वारा यह प्रयत्न होता है कि उसकी अस्थिरता और चंचलता नष्ट की जावे? पहले एक वस्तु का नाश किया जाता है उसके बाद उसी का निर्माण होता है और फिर उसका नाश किया जाता है जैसे प्रथमतः पारद के चांचल्यादि सप्तकंचुक-निर्हरणार्थ स्वेदनादि पातनान्त संस्कार किये गये और जब उनके प्रभाव से पारद में उन दोषों का अभाव होकर 'शान्तता, मन्दता और मरणान्त' उत्पन्न हुए तब उनके प्रतिकारार्थ पुनः बोधन संस्कार को स्वीकार किया और उसके द्वारा उसमें फिर चंचलता आदि का प्रादुर्भाव अर्जित किया गया है और संप्रति पुनरपि उसका प्रतिकार किया जाता है? इसका क्या रहस्य है? यह विषय बहुत ही गंभीर और बहुविवेचनीय है। इसका अपना महत्त्व असामान्य एवं प्रखर है। फिर भी थोड़े में इसका परिमार्जन आवश्यक है। वह इस प्रकार है—पारद के ऊपर किये जाने वाले संस्कारों का चरम लक्ष्य है पारद में स्थिरता, अचंचलता, पक्षच्छिन्नत्व आदि भावों का निर्माण। जिस किसी कर्म या संस्कार से ऐसी स्थिति पारद में परिलक्षित होती है तब यह देखना होता है कि यह स्थिति स्वाभाविक है या अस्वाभाविक? पातनान्त संस्कारों द्वारा उपस्थित क्रिया का बोधन संस्कार द्वारा परीक्षण किया गया है कि यह स्थिति किस स्वरूप की है स्थायी या अस्थायी? वह अस्थायी है यह ज्ञान होने पर पुनरपि उसका क्रम जारी रखा जाना आवश्यक मान कर नियमन का महत्त्व उपस्थित हुआ है। यह क्रम कुछ अंशों में धातुओं की भस्मों में भी प्रयुक्त होता है। उत्तम भस्म वही होती है जो अपुनर्भव है। अपुनर्भव और पुनर्भव की परीक्षा भी इसी प्रकार से की जाती है। जब यह देखा जाता है कि अमुक धातु की भस्म बन गई है तब उसका पुनरुत्थान अर्थात् फिर उस भस्म को अपने मूल रूप में लाने का प्रयत्न किया जाता है। यदि वह अपने मूल स्वरूप में आ जाती है तो उसको पुनरपि भस्मार्थ प्रयुक्त किया जाता है और यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि वह अपुनर्भवत्व को प्राप्त न कर लेती है। इसी प्रकार पारद के ऊपर संस्कार भी तब तक आवश्यक हैं ॥ ९५ ॥

मतान्तरम्—

उत्तराशाभवस्थूलरक्तसैन्धवलोष्टकः ।
तद्गर्भे रन्ध्रकं कृत्वा सूतं तत्र विनिक्षिपेत् ॥ ९६ ॥
ततस्तु चणकक्षारं दत्त्वा चोपरि निम्बुजम् ।
रसं प्रक्षिप्य दातव्यं तादृक् सैन्धवखण्डकम् ॥ ९७ ॥
गर्तं कृत्वा धरागर्भे दत्त्वा सैन्धवसंपुटम् ।
धूलिमष्टांगुलां दत्त्वा कारीषं दिनसप्तकम् ॥ ९८ ॥

वह्नि प्रज्वाल्य तद् ग्राह्यं क्षालयेत्काञ्जिकेन च ।
अयं नियमनो नाम संस्कारो गदितो बुधैः ॥ ९९ ॥
अभावे चणकक्षारस्यार्पयेन्नवसागरम् ।
स्वर्जिका वा प्रदातव्या नूनमित्याह भास्करः ॥१००॥

उत्तरागेत्यादि । उत्तराशाभव.—उत्तरदिशि समुत्पन्न स्थूलरक्तसैन्धवलोष्टक स्थूलश्चासौ रक्तश्च स्थूलरक्त स एव सैन्धवलोष्टक इति पूर्वोक्त —रक्तसैन्धवलवणाख्यो बृहत् खण्डस्तद्गर्भे छिद्र कृत्वा तत्र रन्ध्र पारद विनिक्षिपेत्। ततश्चणकक्षार दत्वा तदुपरि निम्बुज रस च प्रक्षिप्य पूर्वोक्तसैन्धवखण्डनिर्मितरन्ध्रमुखपिधानाय तत्तुल्यं द्वितीय सैन्धवखण्डकं गृहीत्वा तेन तन्मुखबन्धनं कार्यमिति भाव । पश्चात् भूमौ गर्तं कृत्वा सैन्धवसम्पुट च दत्वा तदुपरि अष्टाङ्गुलपरिणाहस्थूला धूलि-मृन्मयरजोराशि दत्वा दिनसप्तकं यावत् कारीषम्-अजाशकृद्भवाग्नि प्रज्वाल्य तद्रस शुद्धमिति ज्ञात्वा ग्राह्यम् । पुन काञ्जिकेन अम्लद्रव्येण वा क्षालयेत्। अयमेषो नियमनो नाम नियमनसंज्ञकः सस्कारो बुधैः कथित । चणकक्षारस्याभावे नवसागराख्य' क्षारविशेष, अथवा स्वर्जिका एव प्रयोज्येत्याह भास्कर ॥ ९६–१०० ॥

उत्तर दिशा में (भिन्न देश में) उत्पन्न होने वाला सेन्धा नमक का बड़ा ढेला (खंड) लेकर उसमें गढा बनाकर पारा, चने का खार और निम्बू का रस उस गढे में भर कर ऊपर गढे के छेद के मुख को सेन्धा नमक के टुकडे से बन्द कर देना। तत्पश्चात् जमीन में गढा खोदकर उसमें पारायुक्त उस सैन्धवखण्ड को भली प्रकार रखकर उसके ऊपर आठ अंगुल मिट्टी बिछा देना और बकरी की मिंगना (टट्टा) की सात दिन तक अविराम अग्नि देना। सात दिन के पश्चात् स्वांगशीतल होने पर निकाल कर गर्म काञ्जी से धो डालना। चने की खार का कहीं अभाव हो तो उसकी जगह में नवसागर अथवा सज्जीखार का उपयोग करना चाहिए। ऐसा रसशास्त्राचार्य भास्कर का मत है।

वक्तव्य—परपरागत अनुभव से पारद के नियमन में लहसुन, ताम्बूल (नागर पान), अफीम और काले धतूरे का रस विशेष उपयोगी और प्रभावी है। इन चारों द्रव्यों में एक साथ पारद का मर्दन और स्वेदन किया जावे अथवा प्रत्येक द्रव्य में भिन्न भिन्न, यह साधक स्वयं अपना सुविधा देखे। जब तक पारद में चञ्चलता प्रतीत होती है तब तक यह क्रम चालू रखना चाहिए। सेन्धा नमक भी उतना ही नियामक है उसके सतत प्रयोग भी सब नियामक होते हैं ॥९६–१००॥

अथ संदीपनम् ।

कासीस राजिका पञ्चलवणं मरिचानि च ।
शिग्रुबीजमेकत्र टङ्कणेन समन्वितम् ॥ १०१ ॥
आलोड्य काञ्जिके दोलायन्त्रे पाच्यो दिनैस्त्रिभिः ।
दीपनं जायते सम्यक् सूतराजस्य जारणे ॥ १०२ ॥
अथवा चित्रकद्रावैः काञ्जिकैस्त्रिदिनं पचेत् ।
दीपनं जायते तस्य रसराजस्य चोत्तमम् ॥ १०३ ॥

कासीसमित्यादि । कासीस प्रसिद्धम्, राजिका, पञ्चलवणं लवणपञ्चकं यथा—'लवणानि च कथ्यन्ते सामुद्र सैन्धव विडम् । सौवर्चल रोमकञ्च चुल्लिकालवणं तथा ॥' इति ।

शब्दों में स्पष्ट किया जाता है—'स्वेदनादि अनुवासनान्त नव संस्कारों द्वारा शुद्ध हुआ पारद अष्टमांश अवशेष रहता हे अर्थात् स्वेदन संस्कार से अनुवासन पर्यन्त नौ संस्कार करते-करते जब पारद सप्तकञ्चुकरहित हो जाता है और वह पहले की मात्रा से अष्टमांश है शेष रहता है तब शुद्ध हो गया ऐसा समझा जाता है।

वक्तव्य—शुद्ध पारद की परीक्षा बताते हुए ऊपर लिखा है कि जब पारद की शुद्धि करते करते वह इतना कम हो जावे अर्थात् सात भाग मान कञ्चुकों के नष्ट हो जायें केवल एक भाग पारद अवशेष रहे तब उसे शुद्ध समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि संस्कारार्थ ८ सेर पारद लिया जाता है और उस पर स्वेदन से अनुवासन तक के संस्कार किये जाने से तो ८ सेर का १ सेर ही बचेगा और तभी उसको शुद्ध भी समझना चाहिए, यदि अधिक बचता है तो उसमें दोष रह गये हैं ऐसा समझकर और शुद्धि करनी चाहिए जब तक कि वह अष्टमांश न बन जावे। यहाँ पर यह स्पष्ट सङ्केत मिलता है कि केवल नौ संस्कारों द्वारा शोधन ही आवश्यक नहीं है अपितु उसकी शुद्धता के लिए अष्टमांश रहना भी अनिवार्य है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह हे कि रसरत्नाकर के आज से ५०० सौ साल पहले के जमाने मे भी इतना गन्दा व्यापार होता था जिसमें सात भाग अपद्रव्य डाल कर वजन बढाया जाता था। उस समय में पारद का भाव अधिक से अधिक ४-५ रुपये सेर का होगा। ऐसी दशा में जब इतना मिश्रण सम्भव होता है तो आज तो १३० रुपये सेर पारद है उसमें तो सम्भव है पारद उतना भी न निकले। ८ सेर पारद पर संस्कार करने पर अष्ट संस्कारों का असह्य कष्ट, प्रभूत धन-व्यय और उसके पश्चात् ८ सेर से १ सेर की प्राप्ति अनर्थकर प्रतीत होती है। सात सेर का ह्रास केवल मूल द्रव्य से एक हजार रुपये का अपव्यय होता है। संस्कारों में जो होगा वह भिन्न है। यह समस्या सच में असह्य और दुःसहार्या ह।

इस प्रकार की समस्या से त्रसित होकर अर्वाचीन ग्रन्थकारों और टीकाकारों ने अनेक मार्ग अपनाये हें। संस्कारो में कमी की है। उनके प्रभावी द्रव्यों से बच कर विभिन्न द्रव्यों का उपयोग बताया है। अनुभूत और सरल मार्ग खोज कर प्रस्तुत किये ह। समय-परिवर्तन के अनुसार कुछ नये शोधन के दृष्टिकोण मिले हैं उनके उपयोग का भी आग्रह होता है। यह भी मान लिया जाता हे कि ऐसे करने से रोगनिवारण और चिकित्सा कार्य में पूर्ण सन्तोष मिलता है।

आजकल ७५ पौंड का पारद का एक सील बन्द बोतल आता है वह एक-दोबार का उडाया हुआ आता है जिसमें भी 'ई मर्क' कम्पनी का पारद अच्छा होता है। मर्क कम्पनी के पारद में पाश्चात्य विज्ञान की रासायनिक दृष्टि से उसमें किसी प्रकार की कोई अशुद्धि नहीं होती है उसमें केवल पारद के ही परमाणु रहते हैं। अन्य किसी भी द्रव्य का मिश्रण उसमें नहीं होता है। फिर भी आयुर्वेदीय दृष्टि से यह पारद शुद्ध नही माना जा सकता है। रसशास्त्र की दृष्टि से संस्कारों का अपना विशेष महत्त्व हे उनमें गुणाधान और वैशिष्ट्य निर्माण करने का जो दृष्टिकोण है वह सर्वोपरि है।

कुछ लोग गन्धक के तेजाब से पारद को शुद्ध और साफ करने को अच्छा मानते हैं। जैसे कि ५ सेर पारद में १० सेर गन्धक का तेजाब (सल्फरिक् एसिड) को लोहे की कड़ाही में भर कर मन्द और मध्याग्नि से पाक करना चाहिए। जब मेला तेजाब पारद के ऊपर १ अङ्गुल शेष रह जाता है तब कड़ाही को चूल्हे पर से उतार कर नीचे रख दे और उसमें से तेजाब को पृथक् करके पारद को दूसरी कड़ाही में डाल कर गर्म पानी से धो डालना चाहिए। उसके पश्चात्

सूखने पर अच्छे मजबूत चौलडे कपडे में २०–३० वार छानने पर शुद्ध हो जाता है। नागवङ्गादि धातुओं का अंश जल जाते हैं।

उपर्युक्त समस्त सहल मार्ग हेतुपुर सर हैं, साथ ही आलस्य, निष्क्रियता और चिकित्सक के महत्त्व को न समझने का आरोप भी समिलित है। रसशास्त्रों में हिंगुल से निकाले हुए पारद को लेकर संस्कार करने का विधान सर्वोपरि है। हिंगुलाकृष्ट पारद पर अष्ट संस्कार किये जाते हैं तो इस प्रकार की समस्याएँ प्रायशः उपस्थित नहीं होती है। 'अष्टमांशोऽवशिष्यते' वाला सिद्धान्त भी उपस्थित नहीं होता है। हिंगुलाकृष्ट पारद प्रारम्भ ही में सप्तकञ्चुक-रहित होता है अतः उसके ह्रास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। रसेन्द्रसार लिखता है कि—'पारिभद्ररसैः पेष्य हिंगुलं याममात्रकम्। जम्बीराणां रसैर्वाऽथ पचेत् पातनयन्त्रके॥ तं सूतं योजयेद् योगे सप्तकञ्चुकवर्जितम्। संशुद्धिमन्तरेणापि शुद्धोऽयं रसकर्मणि॥' हिंगुलाकृष्ट पारद की विधि—हिंगुल को नीम के रस अथवा जम्बीरी निम्बू के रसमें एक प्रहर मर्दन करके उसकी पतली, चपटी और गोल अठन्नी बराबर टिकिया बनाकर सुखा ले और उन टिकियाओं को डमरूयन्त्र की हाण्डी के तल मे रखकर भलीभाति सन्धिबन्धन करके ऊर्ध्वपातन विधि से उड़ा ले। ऊपर की हाँडी के तल भाग में लगे हुए पारद को खुरच कर निकाल ले और भलीभाँति कपडे से कई बार छान कर रख ले। यह सप्तकञ्चुकादिदोषरहित पारद है इसका सर्वत्र उपयोग किया जा सकता है। आधा सेर हिंगुल से डमरू यन्त्र में उड़ा कर पारा निकाला जाता है तो करीबन १२ घण्टे लगते हैं।

शार्ङ्गधर-संहिता के टीकाकार श्री आढमल्लने अपनी दीपिका टीका की टिप्पणी में हिंगुल से पारद निकालने की सुगम विधि लिखी है। जैसे कि—'तेन दग्धाद् द्विगुणवस्त्रखण्डैर्गोलकं कृत्वा प्रज्वाल्य वस्त्रनिर्धूमं हण्डिकया विधाय स्थाल्या रक्षेत्। ततः शीतीभूतायां हण्डिकायामुद्घाट्य पारदं गृह्णीयादि'ति सुगम प्रकार।'

कुछ लोगों का यह आक्षेप होता है कि सर्वत्र पारद-शोधन के आठ ही प्रथम संस्कार हैं यह नवा अनुवासन संस्कार क्या बला है? यह सच है कि स्वेदनादि दीपनान्त आठ ही संस्कार हैं। अनुवासन यह संस्कार नहीं है किन्तु अष्ट संस्कारों से रहे हुए मल को प्रक्षालित करने का तरीका है जो कि अनुवासन नाम ही से प्रगट होता है॥ १०६॥

दीपन संस्कार से पारद में बुभुक्षा उत्पन्न हो जाती है अतः उसको ग्रास देना और उसकी बुभुक्षा को तीव्रातितीव्र बनाने के संस्कारों का प्रयोग करना, इस हेतु से जारणा संस्कार का विवेचन किया जा रहा है—

अथ जारणम्[1]।

जारणा हि नाम पातनगालनव्यतिरेकेण ग्रस्तघनहेमादिरसस्य पूर्वावस्थाप्रतिपन्नत्वम् ॥ १०७॥

जारणेत्यादि। पातनं च गालनं चेति पातनगालने, तयोर्व्यतिरेकेण-पातनव्यतिरेकेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्पातनेन विना, गालनव्यतिरेकेण-वस्त्रादिपावनेन विना, घनम्-अभ्रकम्, हेम-सुवर्णम्, आदिशब्देन लोहादिसर्वधातूनामपि ग्रहणमिति भाव। ग्रस्त घनहेमादि येन रसेन स ग्रस्तघनहेमादिरसस्तस्य पूर्वावस्थाप्रतिपन्नत्वम् प्रथमाऽवस्थाऽवाप्ति स्वप्रमाणवृद्धेरभाव इति पिण्डार्थः। अर्थात्तुलया तोलितो नाधिको भवेदिति यावत्। यथाऽत्रैवाग्रे वक्ष्यते—'अधिकस्तोलितश्चेत् स्यात्पुन' स्वेद्य समावधि।' इति वचनात्।

---

१ 'द्रुतग्रासपरिणामो विडयन्त्रादियोगत। जारणेत्युच्यते' इति रसेन्द्रचूडामणौ॥

अत्रायं सारः—कज्जल्यां पारदो नावलोक्यते परन्तूर्ध्वपातनेन स्वरूपप्रतिपन्नो भवति। एव स्वर्णदलं रसश्चरति वाससा पूतश्चेत्स्वर्णात्पृथग्भवति। एवमुभयत्र पारदस्य पूर्वावस्थाप्रतिपन्नत्वमुपलभ्यते, परन्तु नेयं जारणा। जारणा हि यत्र पारदे घनहेमादौ सम्यग्जीर्णे सति पातनगालनविधिविहिताविहितयोरपि पूर्वावस्थाप्रतिपन्नत्वमेवोपलभ्यते। न स्वर्णादीनां पार्थक्यं भवतीति भावः। अत्र रसप्रकाशसुधाकरोक्तसूत्रक्रममुत्सृज्य जारणाख्यसंस्कारस्य प्रागुल्लेखे सत्यपि क्रमोल्लङ्घनं न शङ्क्यम्। यतो हि अभ्रादिग्रासपरिमाणमारभ्य द्रुत्यन्ता संस्कृतिर्जारणाया एवाङ्गभूतेतिकर्तव्यता वर्णिता। कुत्रचिद्धि क्रमानुरोधमाश्रित्य पूर्वं जारणां लिखित्वा तदन्ते इतिकर्तव्यताऽभिहिता। कुत्रचित्प्रथममितिकर्तव्यता प्रदर्श्य पश्चाज्जारणाऽभिहितेति सर्वं समञ्जसम्। रसेन्द्रचिन्तामणौ यथा किञ्च-घनहेमादिजीर्णस्य कृतक्षेत्रीकरणानामेव शरीरिणा भक्षणेऽधिकार, इत्यभिहितम् ॥ १०७ ॥

जारणा—पातन और गालन के विना ही अभ्रक और सुवर्ण आदि का जिस पारद को ग्रास दिया गया है तथा जो ग्रास लेने के पश्चात् भी अपनी पूर्वावस्था से युक्त है अर्थात् जिस प्रमाण में पारद ग्रास लेने से प्रथम था उसी प्रमाण में ग्रास लेने के पश्चात् भी है तोलने पर यत्किंचित् भी वजन नहीं बढा है। बीज ग्राम देने के पश्चात् उस पारद को कपडे से छानने पर सुवर्णादि बीज का पारद से पृथक्करण न होना अथवा ऊर्ध्वपातन विधि से पारद का उत्थान करने पर भी बीज का अलग न होना, ऐसी स्थिति का नाम जारणा है। जारणा शब्द से ही यह बोध होता है कि जरण या पचन हो जाना ही जारणा है। जिस प्रकार से प्राणिमात्र आहार-ग्रहण करता है और वह पचने पर एकाकार हो जाता है। शरीर से भिन्न नहीं रहता और न वजन बढता है। ठीक, उसी प्रकार पारद मे दिया हुआ अभ्रक अथवा सुवर्ण आदि का ग्राम अभिन्न स्वरूप में परिणत हो जाता है, वही जारणा है। जारणा के अनेक भेद और स्वरूप तथा प्रकार हैं जिनका वर्णन आगे यथास्थान करेंगे ॥ १०७ ॥

रसजारणा का महत्त्व, निष्कल्मष अवस्था में ही उसकी प्राप्ति और प्राप्ति के पश्चात् समस्त ज्ञान, विज्ञान और मोक्षादिका अधिकार, यह सब जारणा से उपलब्ध होते हैं यह आगे कहेंगे—

फलं चास्य प्रोक्तं स्वयं महेश्वरेण—

सर्वपापक्षये जाते प्राप्यते रसजारणा ॥ १०८ ॥
तत्प्राप्तौ प्राप्तमेव स्याद्विज्ञानं मुक्तिलक्षणम्।
मोक्षाभिव्यञ्जकं देवि जारणा साधकस्य तु ॥ १०९ ॥
खल्वस्तु पिण्डिका देवि रसेन्द्रो लिङ्गमुच्यते।
मर्दनं चन्दनं चैव ग्रासः पूजाऽभिधीयते ॥ ११० ॥
यावद्दिनानि देवेशि वह्निस्थो धार्यते रसः।
तावद्दशसहस्राणि शिवलोके महीयते ॥ १११ ॥
दिनमेकं रसेन्द्रस्य यो ददाति हुताशनम्।
द्रवन्ति तस्य पापानि कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ११२ ॥ इत्यादि।

सर्वपापेत्यादि। समस्तकल्मषापाये सम्प्राप्ते सति पारदस्य जारणा नाम संस्कारः प्राप्यते। तत्प्राप्तौ मुक्तिलक्षणम्—ऐकान्तिकमोक्षकारणं विशिष्टज्ञानं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्मकं प्राप्तमेव भवेदिति। किन्त्वेतावानेव न स्वयमेव भूतभावनो भगवान् भवानीपति प्रसन्नो भूत्वा जगत कल्याणाय पार्वतीं प्रति सङ्केतयति—हे देवि, पारदस्य जारणा नाम

कर्म साधकस्य साधनकर्तुः मोक्षाभिव्यञ्जकं भवतीति विद्धि। हे देवि, खल्वस्तु पारदं यस्मिन् दत्त्वा मर्दनं क्रियते स विख्यातः, स एव खल्वस्तस्य पिण्डिका 'जलेरी' इति लोके। रसेन्द्रो लिङ्ग—शिवलिङ्गमित्युच्यते। मर्दन पेषणमेव चन्दनमित्युच्यते। ग्रासः स्वर्णादिविडप्रदानमेव पूजनं कथ्यते। हे देवेशि, पारदो यावद्दिनानि वह्निस्थः-अग्निमध्ये स्थाप्यते तावद्दशसहस्राणि अर्थादेकदिन यावत्पारदोऽग्निस्थः क्रियते चेत्तर्हि दशसहस्रदिनं भवति तावत्तस्य कालमर्यादा। दिनद्वयं चेद् द्विगुणमेवमेवाग्रेऽप्यूह्यम्। शिवलोके महीयते—मरणानन्तरं शिवसायुज्य प्राप्नोति इत्यर्थः। य पुरुषो रसेन्द्रस्य एकदिनम् अग्निं ददाति तस्य पापानि-पूर्वकृतकिल्विषाणि नश्यन्ति किम् अधिक पापं कुर्वन् सन्नपि न लिप्यते॥

रसजारणा के लाभों को स्वय भगवान् शिव भगवती पार्वती से कहते हैं—हे देवि! मनुष्य के समस्त पापों का क्षय होता है तब कहीं रसजारणा करने का अवसर आता है अथवा उसका ज्ञान होता है। जब रसजारणा तक पारद के संस्कार कर चुकता है और उसमें सफल हो जाता है तब उसे उस अनिर्वचनीय विज्ञान की प्राप्ति होती है। जिसके लिए लिखा है कि 'यज्ज्ञात्वा न निवर्तन्ते' अर्थात् जो ऐकान्तिक मुक्ति का हेतु है। जारणा का प्रभाव ही ऐसा है जो उसकी साधना करता है उसके लिए मोक्षोपलब्धि सहज हो जाती है। यह उपक्रम ही ऐसा है जहाँ, खल यह जलेरी है और उसमें रखा हुआ पारद शिवलिङ्ग है। उसका मर्दन करना यह चन्दन लगाना है और उसको सुवर्णादि विड बीजों का ग्रास देना ही पूजा है। इतना ही नहीं, हे देवि! जितने दिन तक पारद को अग्निस्थ करके धारण करता है उतने ही हजार वर्ष शिव-सायुज्य को प्राप्त कर सुखी होता है। केवल एक दिन भी पारद को कोई अग्नि देता है उसके अनेक जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं और आगे होने वाले पापों से लिप्त नहीं होता है।

वक्तव्य—रस-जारणा का उपर्युक्त महत्त्व और फल अतिरेकता और केवल रोचकता लिए हुए नहीं है। उसमें सत्यता और प्रत्यक्ष फल देने वाले ऐसे गुण हैं जिनके प्रभाव से संसार को ही नहीं, प्रकृति, स्वभाव और नियति तक को अपने अधिकार में लिया जा सकता है। पारद के अचिन्त्य और अलौकिक प्रभाव विशाल हैं उनकी परिसीमा नहीं है। पारद के तत्त्वों का अध्ययन, मनन और निदिध्यासन करके उसके विकास का चिन्तन करते हुए आगे बढ़ना असामान्य है। जो व्यक्ति इसमें रम जाता है वही इसको पाता है और उसके अनुभवों से उपलब्ध ज्ञान ही सर्वोपरि जीवनीय है। इस लिए यह फलोक्ति सर्वथा उपयुक्त है॥

जब पारद में अभ्रकादि द्रव्यों का जारण किया जाता है तब उस पर किस-किस द्रव्य का कैसा और क्या प्रभाव होता है? पारद के स्वरूप में जारित धातु का रूपान्तर किस प्रकार होता है? जारणावसर में उत्पन्न होने वाली अवस्थाओं का विभिन्न क्रम कैसा होता है उनके लक्षण क्या होते हैं, प्रभृति बातों को विशेष रूप में समझकर ध्यान में रखना चाहिए। उदाहरण के लिए अभ्रक जारण समय की पारद की विभिन्न अवस्थायें, जारण होने पर पारद में प्रगट होने वाले दोष, अभ्रक जीर्ण के लक्षण और अभ्रक अजीर्ण के लक्षण ग्रन्थान्तरों से जानने चाहिये। जैसे कि—

अभ्रक-जारणावस्था का स्वरूप—'धूमश्चिटिचिटिश्चैव मण्डूकप्लुतिरेव च। सकम्पश्च विकम्पश्च पञ्चावस्था रसस्य तु॥ भ्रमो भङ्गं स्थितं कम्पजलकाबन्धशस्तथा। काकविष्ठा च पिण्डश्च षडवस्थाऽभ्रचारणे॥'

अभ्रक-जारित पारद में दोषोत्पत्ति—'पार्श्वत' पुच्छतो ग्राही ग्रसितो वेष्टितस्तथा। मूर्च्छको हिंसकश्चैव षड् दोषाश्चाभ्रचारणे।'

जीर्णाभ्रक पारद के लक्षण—'कपिलोऽनुचरं चैव निःशब्दश्चान्यदशक'। अक्षीणोऽग्नि-सहश्चैवमभ्रजीर्णस्य लक्षणम् ॥' अन्यच्च—'कपिलोऽथ निरुद्गारि विप्लुपश्चैत्र मुञ्चति। अग्नौ तिष्ठति निष्कम्पो व्योमजीर्णस्य लक्षणम् ॥'

अजीर्ण पारद के लक्षण—'अप्रमाणं यथाऽहारमजीर्णं चारुचिर्भवेत्। मन्दाग्निना क्षयो-मूर्च्छा मरणं च रसस्य तु ॥' इति।

इन सब बातों को भलीभाँति सूक्ष्म दृष्टि से विचारते हुए जारणा की जानी है तो महत्मा किसी भी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं आना है और सहज सफलता मिल जाती है। इन सबकी गम्भीरता को लक्ष्य में रखते हुये ही रसशास्त्री को प्रत्युत्पन्नमति, बहुचिन्तक और क्रियाकुशल होना अनिवार्य है ॥ १०८-११२ ॥

विपिनौषधिपाकसिद्धमेतद्घृततैलाद्यपि दुर्निवारवीर्यम्।
किमयं पुनरीश्वराङ्गजन्मा घनजाम्बूनदचन्द्रभानुजीर्णः ॥ ११३ ॥

अथ संस्कृतपारदस्य फलाधिक्यमाह—विपिनेत्यादि। विपिनौषधिपाकसिद्धं—विपिन वनं तस्य या ओषध्यस्ताभिः कृतो य पाकस्तेन सिद्धं साधितं तत वनौषधिपाकसाधित-मित्यर्थः। एतत्—चरकाद्युक्तं घृततैलाद्यपि सारस्वतघृतादिकं नारायणतैलादिकमपि, दुर्निवारवीर्यम्—दु खेन निवारयितुं शक्य वीर्यं प्रभावो यस्य तदानन्त्यशक्तिकमिति यावत्। पुनर्यद्ययमीश्वराङ्गजन्मा-पारद, घनम्-अभ्रकम्, जाम्बूनद-सुवर्णम्, चन्द्र-रजतम्, भानु-ताम्रम्, जीर्ण-चारणादिसंस्कारैर्जारितं यस्मिन्. तादृश स्यात्तदा किं वक्तव्यम्। तथा चोक्तमस्योपादेयतायामन्यत्रापि-'साध्येपु भेपज सर्वमीरितं तत्त्ववेदिना। असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽत' श्रेष्ठ उच्यते ॥' इति ॥ ११३ ॥

संस्कृत पारद का महत्त्व—वनोषधियों द्वारा साधित घृत-तैलादि ही इतने प्रभावी और अचिन्त्य कार्य करने वाले होते हैं जिनकी शक्ति का अवरोध करना बहुत कठिन ही नहीं, अपितु असम्भवप्राय होता है। एक एक जटी बूटी में कितना गुण और प्रभाव होता है और जब उनके सामूहिक योगों का निर्माण होता है तब तो उनकी शक्ति का ज्ञान ही असम्भव होता है। यह दशा केवल वनौषधियों की है और यदि उनके साथ पारे का संयोग कर दिया जावे तो और वह पारद भी यदि अभ्रक, सुवर्ण, चाँदी और ताम्र बीज जारण किया हुआ हो तो उसके प्रभाव, शक्ति और गुणों की समानता किसी से की ही नहीं जा सकती है। अर्थात् पारद में जो अपार शक्ति होती है वह किसी भी द्रव्य में नहीं है। पारद यह मूल द्रव्य है। इसमें समस्त वनौषधियाँ और सम्पूर्ण खनिज लीन होते हैं किन्तु यह किसी में भी लीन नहीं होता। पारद की तुलना यदि की जा सकती है तो केवल परमात्मा से ही, अन्य से नहीं। एक पारद ही ऐसा द्रव्य है जो संसार के सभी संभव-असंभव कार्यों को कर सकता है। एक ही शरीर को सदा के लिये अजर और अमर बना कर रखना यह कार्य भी संस्कृत पारद ही कर सकता है ॥ ११३ ॥

अभ्रक, सुवर्ण और चाँदी आदि बीज जारण के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यह अनिवार्य होता है कि सर्वप्रथम गन्धक जारण करना चाहिए। बिना गन्धक जारण किये अभ्रकादि बीज का जारण करना युक्तियुक्त, कार्यकारी और क्रमबद्ध नहीं होता है। गन्धक जारण के बिना पारद में परिपक्व बुभुक्षा उत्पन्न नहीं हो सकती है और जब तक पूर्णत बुभुक्षित पारद हुए बिना धातुओं का ग्रास देना कठिन होता है। यही बात आगे बताते हैं—

रसगुणबलिजारणं विनाऽयं न खलु रुजां हरणक्षमो रसेन्द्रः।
न जलदकलधौतपाकहीनः स्पृशति रसायनतामिति प्रतिज्ञा ॥ ११४ ॥

सम्प्रति षड्गुणबलिजारणाया महत्त्वं निगद्यते, रसेत्यादि। अयं रसेन्द्र पारदः; रसगुणा षड्भागा यस्य बलेर्गन्धकस्य स रसगुणबलिस्तस्य जारणं रसगुणबलिजारणं विना रुजां-रोगाणां न खलु न हि हरणक्षमः समर्थो जायते इति शेषः। षड्गुणगन्धक-जारणेनैव पारदे रोगहरणत्वशक्त्याधानो जायते नान्यथेति भावः। यथोक्तमत्रैव—षड्गुणे गन्धके जीर्णे सर्वरोगहरो रसः' इत्यादि। जलदम्-अभ्रकम्, कलधौत-सुवर्णम्, तयो. पाकस्तेन हीन-रहित पारद., रसायनता-यज्जराव्याधिनाशनन्तद्रसायनत्व न स्पृश-तीति प्रतिज्ञा रसतन्त्रज्ञानामिति शेष.। प्रतिज्ञेत्यत्र प्रसिद्धिरिति पाठभेद.॥ ११४॥

षड्गुणगन्धक जारण किये विना पारद में रोगनाशक शक्ति का आधान नही होता है तथा अभ्रक और सुवर्ण जारण किये विना वृद्धावस्था और रोग न हों यह सामर्थ्य पारद में आ नहीं सकती है। अत गन्धक जारण और अभ्र-सुवर्ण जारण करना शक्त्याधान के लिए अनिवार्य है।

वक्तव्य—जारणा क्रम अथवा संस्कार जब प्रारम्भ किया जाता है तब सर्वप्रथम गन्धक जारण करना चाहिए। ऐसा करना युक्ति, सिद्धान्त और अनुभव तथा व्यवहार-सिद्ध है। अनेक रसतन्त्र कारों ने यह क्रम नहीं स्वीकार किया है। अभ्रक सुवर्ण और रजत आदि बीजों के जारण के क्रम को प्रथम स्वीकार किया है। गन्धक जारण के बिना अभ्रक, सुवर्ण आदि कठिन धातुबीजों का ग्रास देना व्यावहारिक नहीं है। स्वेदनादि दीपनान्त अष्ट संस्कारों से शुद्ध हुए पारद में बुभुक्षा उत्पन्न होता है किन्तु वह बहुत ही स्वल्प प्रमाण में होती है उसकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो साधक के सामने बडी कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है। वह किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है और उसकी श्रद्धा भग होने लगती है क्योंकि उसमें किसी कठिन और ठोस वस्तु को पचाने की सामर्थ्य नहीं होती है, वह तो निर्माण करना चाहिये। दीपनान्त संस्कारों से पारद में मुखकरण या यों कहो कि बुभुक्षा का स्वल्प संचार हुआ है, ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि पारद में द्रव्य ग्रहण और जीर्ण करने की क्रमश शक्ति उत्पन्न हो, इसके लिये सर्वप्रथम ऐसा खाद्य देना चाहिए जो पचने में सरल हो और पारद की जठरानल को उत्तेजित करने की शक्ति रखता हो। यह बात यहीं नहीं सर्वत्र व्यवहार्य है। देहशुद्धि के पश्चात् भी उत्पन्न बुभुक्षा की रक्षार्थ पेयादि क्रम ही स्वीकार किया गया है और वह इसलिए कि—'**यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण। महान् स्थिर सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः।**' (इति अष्टाङ्गहृदये) जिस प्रकार अग्नि की स्वल्पतम चिनगारी को घास-फूस के तिनके और गोबरी आदि शीघ्र और सहज में प्रज्वलित होने वाले खाद्यों से क्रमश प्रज्वलित किया जाने पर पर वह इतना महान्, स्थिर और सर्वभक्षी तथा सबको पचाने की शक्ति वाला हो जाता है उसी प्रकार पेयादि से जठराग्नि बलवान् होता है इत्यादि और यही क्रम संशोधित और बुभुक्षित पारद के लिये है। जैसा कि रसचिन्तामणिकार लिखता है—'**गन्धकं जारयेत्पूर्वं यन्त्रे कच्छपसञ्ज्ञके। पश्चाद्वै जारयेद् व्योम हेम प्रभृति यद्भवेत्॥ पश्चान्नागादय' सर्वे जार्यन्ते रसमकरा। क्रमोऽयं विद्यते सर्वजारणासु न सशय॥ विना गन्धेन ये मर्त्या. कुरुते धातुजारणा.। न क्षुधा जायते सूते जरयन्ति न धातव.। तस्माद्गन्ध' पुरा जार्य सूतवह्निविवृद्धये॥**' इति। कहने का तात्पर्य यह है कि विना गन्धक जारणा के जो लोग अन्य धातुओं की पारद में जारणा करते हैं वे जारणाक्रम और उसके सिद्धान्तों का भग तो करते ही हैं साथ ही उनका वह किया हुआ श्रम भी असफल ही रहता है। कारण कि गन्धक जारण किये बिना पारद की बुभुक्षा परिपक्व नहीं होती है और अपरिपक्व दशा में की हुई जारणा का भलीप्रकार पचन नहीं होता है अत पारद

की बुभुक्षा को परिपक्व बनाने के लिये और अग्नि को वृद्ध करने के लिये सर्वप्रथम गन्धक जारण करना ही अनिवार्य है।

इस बात को आयुर्वेदप्रकाशकार ने भली भांति समझा है इसीलिए यहाँ गन्धक जारण ही प्रथम और मुख्य मानकर स्वीकार किया है ॥ ११४ ॥

अभ्रकसत्त्व, सुवर्ण और गन्धक जारण के महत्त्व को आगे बताया जाता है—

अजारयन्तः पविहेमगन्धं वाञ्छन्ति सूतात्फलमप्युदारम् ।
क्षेत्रादनुप्तादपि सस्यजातं कृषीवलास्ते भिषजश्च मन्दाः ॥११५॥

अभ्रकादिजारणमावश्यकमिति दर्शयति–अजारयन्त इत्यादि। ये भिषजो वैद्याः, पविहेमगन्ध–पवि–वज्राभ्रकसत्त्वं, हेम–सुवर्णं, गन्धं प्रसिद्धम् , अजारयन्तः–ग्रासप्रमाणेन जारणामकुर्वन्तः। पारदात् , उदारं–यथेच्छं फलं सिद्धिं समीहन्ते। ये च कृषीवलाः–कृषकाः, अनुप्तात्–बीजवपनरहितात् क्षेत्रात् सस्यजातम्–अन्नराशिं च वाञ्छन्ति ते उभयेऽपि मन्दाः–मूर्खाः ॥ ११५ ॥

वज्राभ्रकसत्त्व, सुवर्ण और गन्धक जारणा के विना पारद से उत्तम फल की, तथा विना बीज बोए क्षेत्र से अन्नराशि की इच्छा करने वाले वैद्य और कास्तकार दोनों ही मूर्ख हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्ध और संस्कारित पारद में गन्धक और अभ्रक आदि की जारणा करने से वह यथेच्छ फलदायी होता है और खेत को भलीभाँति जोतकर बीज बोने से यथेच्छ अन्न होता है और ये दोनों भी कार्य वैद्य और कास्तकार के अपने समझ-बूझ के हैं ॥ ११५ ॥

घनरहितबीजजारणसंप्राप्तदलादिसिद्धिकृतकृत्याः ।
कृपणाः प्राप्य समुद्रं वराटिकालाभसन्तुष्टाः ॥ ११६ ॥

अभ्रकबीजजारणमावश्यकमित्याह—घनेत्यादि। घनम्–अभ्रकसत्त्वं तद्रहितं यदन्यत्सुवर्णादिकं बीजं तज्जारणेन सम्प्राप्ता या दलादिसिद्धिः सुवर्णत्वाद्यापादनात्मिका तया कृतकृत्याः अनयैव सफलं मन्यमानाः कृपणाः–अकिञ्चनाः समुद्रं–रत्नाकरं प्राप्य वराटिकालाभसन्तुष्टाः–कपर्दिकालाभेन सन्तोषवन्तो यथा भवन्तीति शेषः। विशालहृदयास्तु समुद्रमासाद्य अनर्घ्यैर्मौक्तिकैः प्रसन्ना भवन्ति। कृपणास्तु वराटिकाभिरेव दरिद्रभावादिति भावः। कथमभ्रकसत्त्वस्यैतावान् महिमा, इत्यत आह—'विनैकमभ्रसत्त्वं नान्यो रसपक्षकर्त्तनसमर्थः। तेन निरुद्धप्रसरो नियम्यते बध्यते च सुखम् ॥' इति रसेन्द्र–चिन्तामणौ।

पारद में अभ्रकसत्त्व जारण किये विना अन्य सुवर्णादि बीजों की जारणा से सिद्ध पारद के द्वारा केवल सोना, चाँदी आदि बनाकर सन्तुष्ट होने वाले ऐसे ही हैं, जैसे दरिद्री रत्नाकर समुद्र मे कौड़ी प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि अभ्रकसत्त्व जारण किये विना सुवर्णादि धातुबीजों को जारण करना आचार्य युक्तियुक्त नहीं मानते है। उनके अनुभव से ऐसा करना विफल प्रयास सिद्ध होता है। 'रसार्णव'कार तो सुवर्णादि बीजों का जारण इस प्रकार कहते हे—'गगनं जारयेदादौ सर्वसत्त्वमतः परम्। ततो माक्षिकसत्त्वं च सुवर्णं तदनन्तरम्' इति ॥ ११६ ॥

प्रस्तुत विषय का समर्थन करते हुए आचार्य माधवकर आगे कहते हैं कि—

अभ्रकजारणमादौ गर्भद्रुतिजारणं च हेम्नोऽन्ते ।
यो जानाति न वादी वृथैव सोऽर्थक्षयं कुरुते ॥ ११७ ॥

अभ्रकेत्यादि। यो वादी रसकर्ता वैद्यः आदौ प्रथमम्, अभ्रजारणं न जानाति, यथा

पारदोऽभ्रकं कथ ग्रमति, पुनस्तत्पश्चात् गर्भद्रुतिजारणं यद्रसगर्भे द्रुतं द्रवरूपं तिष्ठत्य-आदिकं तस्य जारण ग्रसनं, पुनरन्ते हेम्नः स्वर्णस्य जारणं ग्रसनं न जानाति स साधको वृथैव धननाशं करोति स्वेष्टकर्मसिद्धेरभावात्। अतो जारणाशास्त्रविशिष्टानुभवी साधक एवाधिकारीति भाव ॥ ११७ ॥

अभ्रकजारण, गर्भद्रुतिजारण और सुवर्णजारण को क्रमश जिसने नहीं जाना है, वह वैद्य रसक्रिया में व्यर्थ ही धन नष्ट करता है। अर्थात् प्रथम अभ्रक-जारण करना चाहिये और उसके पश्चात् गर्भद्रुतिजारण करना चाहिये तथा अन्त मे सुवर्ण जारण करना चाहिये। यह क्रम है, इसके जाने बिना रसक्रिया में धन और समय का व्यय करना वृथा है ॥ ११७ ॥

गन्धकजारितसूतस्य फलमुक्तं शिवागमे—

तुल्ये तु गन्धके जीर्णे शुद्धाच्छतगुणो रसः।
द्विगुणे गन्धके जीर्णे सर्वथा सर्वकुष्ठहा ॥ ११८ ॥
त्रिगुणे गन्धके जीर्णे सर्वजाड्यविनाशनः।
चतुर्गुणे तथा जीर्णे वलीपलितनाशनः ॥ ११९ ॥
गन्धे पञ्चगुणे जीर्णे क्षयक्षयकरो रसः।
षड्गुणे गन्धके जीर्णे सर्वरोगहरो रसः ॥ १२० ॥
अवश्यमित्युवाचेदं देवीं श्रीभैरवः स्वयम्।

तुल्य इत्यादि। तुल्ये-पारदसमभागे गन्धके जीर्णे सति रसोऽयं शुद्धात्-शोधितपारदात् शतगुणफलदो भवति। द्विगुणे गन्धके जीर्णे सति पारदे, स सर्वथा सातत्येन सर्वकुष्ठहा अष्टादशकुष्ठरोगहारको जायते। वलीपलितनाशन-वली—गात्रसंकुचितावस्था, पलित-केशानां शुभ्रत्वन्तयोर्नाशनम्। क्षयक्षयकरो रस-क्षय-राजयक्ष्माभिधो रोगस्तस्य क्षय नाशं करोतीति। इद पूर्वोक्तं फलमवश्यं भवतीति स्वय श्रीभैरवो देवी प्रत्युवाच। शेष सुगमम। सर्वजाड्यविनाशन इत्यत्र 'सर्वपाण्ड्यविनाशन' इत्यपि पाठ। रस इत्यत्र भवेदिति पाठान्तरम् ॥ ११८-१२० ॥

गन्धक जारित पारा के विशिष्ट फल को शिवागम शास्त्र के अनुसार प्रतिपादित किया जाता है—बराबर गन्धक जारित पारद शुद्ध पारद की अपेक्षा सौ गुणा अधिक बली और फलप्रद होना है। पारद के मान से द्विगुण गन्धक-जारण से पारद में समस्त कुष्ठरोग को नष्ट करने की निरन्तर शक्ति उत्पन्न होती है। त्रिगुण गन्धक जारित पारद के सेवन करने से शरीरगत समस्त जड़ता का नाश होता है। चतुर्गुण गन्धक-जारण करने से पारद में निर्मापक शक्ति का सचार होता है अत चतुर्गुण गन्धक-जारित पारद के सेवन करने से शरीर की झुर्रियाँ और बालों की सफेदी को नष्ट कर पुनर्नवशरीर का निर्माण करता है। पञ्चगुण गन्धक के जारण से पारद में क्षय रोग को नष्ट करने की शक्ति होती है और पारद से छगुने गन्धक के जारण से पारद समस्त रोगों को नष्ट करने वाला हो जाता है। यह बात श्रीभैरव ने स्वय देवी भगवती को कहा है कि मात यह सर्वथा नि सन्दिग्ध यथोचित फलदायी है।

वक्तव्य—ऊपर जारणा-भेद से और फलभेद से पारद की छे अवस्थाएं हो गई हे उनका जिस प्रकार जारण-सामञ्जस्य और श्रृङ्खलाबद्धता हे उसी प्रकार फलभेद में समर्पक गुण और शक्ति का तारतम्य है और उत्तरोत्तर प्रभाववृद्धि भी है। पहला शुद्ध की अपेक्षा सौगुना अधिक बल, शक्ति और प्रभाव रखता है। दूसरे में शरीरगत दोष, धातु, अवयव और प्रत्येक शरीर-निर्मापक

घटकाणुओं की विकृति का परिहार करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है अत एव वह समस्त कुष्ठ-नाशक होता है। तीसरे में पहले और द्वितीय की शक्ति तो है ही किन्तु स्वय में शरीर की जडता को नष्ट करने की शक्ति आ जाती है। शरीर की जडता का नाश तभी सम्भव है कि जब दोष, धातु और शरीर परमाणुओं की विकृत अवस्था को नष्ट कर उनमें पोषक तत्त्वों का आधान करते हुए चेतना और परस्पर में पूरक प्रवृत्ति का विनिमय होने लगता है चौथे में पहले तीन के गुण तो है ही, अपने 'वलीपलितनाशक' शक्ति का विशेष प्रभाव है। यह कार्य पहले की क्रमवद्ध श्रृङ्खला के अनुसार ही होता है। पहले का प्रभाव, दूसरे का शोधक, तीसरे का पूरक और अव चौथे का वर्धक कार्य दोष, धातुओं को अपने-अपने प्रमाण में स्थिर रखते हुए उनकी वृद्धि और सामर्थ्य का निर्माण करता है। यही कारण है कि पाँचवाँ शरीरगतघटकों की क्षीणता को हटाकर उनका यथोचित बृहण और पोषण करता है और इसी प्रकार छठा शरीर के समस्त रोगों को हरण करने की शक्ति वताता है वह यथार्थ है। प्रथम से छठे तक की कार्य-श्रृङ्खला ही इस वात की पूर्ण साधक हैं। उपर्युक्त पारद द्वारा होने वाला लाभ योजनावद्ध है अत उसमें अभाव की सन्दिग्धता हो ही नही सकती है।

अन्यत्रापि—

> **समे[1] गन्धे तु रोगघ्नो, द्विगुणे राजयक्ष्मजित् ।**
> **जीर्णे तु त्रिगुणे गन्धे कामिनीदर्पनाशन. ॥ १२१ ॥**
> **चतुर्गुणे तु तेजस्वी सर्वशास्त्रार्थसिद्धिदः ।**
> **भवेत् पञ्चगुणे सिद्धः षड्गुणे मृत्युजिद्भवेत् ॥ १२२ ॥**

सम इत्यादि सुस्पष्टम् ॥ १२१–१२२ ॥

वरावर गन्धक-जारित पारा रोगों को, द्विगुण गन्धक-जारित क्षय को और त्रिगुण गन्धक-जारित पारद कामिनियों के अभिमान को नष्ट करता है। चतुर्गुण गन्धक जारण करने से पारद में तेज और सर्वशास्त्रों के अभिप्रायों को सफल वनाने की सामर्थ्य आ जाती है। पचगुण और षड्गुण गन्धक-जारित पारा मृत्यु को जीतता है ॥ १२१–१२२ ॥

वक्तव्य—गन्धक-जारण के अनेक मार्ग है किन्तु उन सव में एक वात विशेष रूप से समझने की है। पारद से समभाग गन्धक लेकर दोनों की भली भाँति कज्जली करना और नलिका डमरु यन्त्र से उडाना। जव थोडा गन्धक शेष रहे तव अग्नि वन्द कर देना चाहिए अन्यथा पारद के उड जाने की सभावना है। फिर यन्त्र से पारद को निकाल कर समभाग गन्धक मिलाकर घोटना और यन्त्र में रख कर फिर उडाना। इस विधि से वार-वार गन्धक-जारण करना चाहिए। जैसा कि रसरत्नाकर में लिखा है—'पुन पुन सम गन्ध दत्त्वा जार्य शनै शनै । नि शेष नैव कर्तव्य प्रमादाद्याति सूतक ।' रसार्णव-कारने षोडशगुणगन्धक जारण तक का विधान किया है—'पूर्वोक्त-यन्त्रयोगेन द्विरष्टगुणगन्धकम् । अथवा द्वादशगुण षट्गुण वाऽपि जारयेत् ॥' कहने का तात्पर्य यह है कि आवश्यकता और उपयोग के अनुसार जितना गन्धक-जारण अभीष्ट हो, उतना इस विधि से जारण करना चाहिए ॥ १२१–१२२ ॥

---

१ षट्गुणे रोगघ्न' इत्युक्त यत्तत्तु मूर्च्छायामेवाधिगन्तव्य, तत्र गन्धकस्य समग्रजारणाया अभावात्। अत्र तु समे गन्धे इति तृतीयार्थे सप्तमी, (तेन समेन गन्धेन तुल्यगन्धेन जीर्ण पारदो मूर्च्छनविधिना मृत तत्फल रोगघ्नता) इति पाठोऽन्यस्मिन् पुस्तके नोपलभ्यते। एव द्विगुणादि-ष्वपि व्याख्येयमिति प्रतिभातीति ग्रन्थकार ।

तस्माच्छतगुणो व्योमसत्त्वे जीर्णे तु तत्समे ।
ताप्यखर्परतालादिसत्त्वे जीर्णे गुणावहः ॥ १२३ ॥
हेम्नि जीर्णे सहस्रैकगुणसंपत्प्रदायकः ।
वज्रादिजीर्णसूतस्य गुणान् वेत्ति शिवः स्वयम् ॥ १२४ ॥
देव्या रजो भवेद्गन्धो धातुः शुक्रं तथाऽभ्रकम् ।
आलिङ्गने समर्थौ द्वौ प्रियत्वाच्छिवरेतसः ॥ १२५ ॥
शिवशक्ति-समायोगात् प्राप्यते परमं पदम् ।
यथा स्याज्जारणा वह्नी तथा स्याद्गुणदो रसः ॥ १२६ ॥

संप्रति अभ्रकसत्त्वादिजीर्णपादगुणान् दर्शयति—तस्मादित्यादि । तु पुन पारदतुल्ये अभ्रकसत्त्वे जीर्णे सति रसोऽय तस्मात्-पूर्वोक्त षड्गुणगन्धकजीर्णपारदात् शतगुणाधिको भवति । तथा च ताप्यं-स्वर्णमाक्षिकम्, खर्परं-प्रसिद्धम्, ताल-हरितालम्, आदिशब्देन रजनमाक्षिकादीनां ग्रहणम् । एषा सत्त्वे जीर्णे गुणावह -बहुगुणप्रदो भवति । न त्वभ्रकसत्त्वजीर्णसूततुल्यशतगुणत्वमेव, किन्तु हेम्नि-सुवर्णे जीर्णे सति सहस्रैकगुणसपत्प्रदायको भवति । किमधिकम्-वज्रादिजीर्णसूतस्य-हीरकादिनवरत्नैर्जीर्णपारदस्य गुणान् स्वयं भगवान् शिव एव जानाति नान्य इति फलाधिक्य द्योतयति सूतस्य । गन्धो देव्या -पार्वत्याः शक्तिरूपाया' रजस्तथा तस्या· शुक्रमभ्रकमितिधातु', कुत्रचिद्धातु'-ब्रह्मण इति व्याख्यानम् । तन्न युक्त ब्रह्मण सकाशादभ्रकोत्पत्तिरदर्शनात् । यथा रसार्णवे—'कदाचिद्गिरिजा देवी हरं दृष्ट्वा मनोहरम् । मुमोच यत्तदा वीर्यं तज्जातं शुभ्रमभ्रकम् ॥' इति । शिवरेतस·-पशुपतेर्वीर्यरूपपारदस्य प्रियत्वात् द्वौ गन्धकाऽभ्रकौ, आलिङ्गने-क्षमौ भवत· । यथा पारदो गन्धकाभ्रकयोः सम्मिलित्वा एकीभूतो भवति न तथाऽन्येषु केषुचिद्द्रव्येष्वित्यर्थं । शिवशक्तिसमायोगात-पारदगन्धकाभ्रसयोगकरणात् परमं पद-मोक्ष प्राप्यते । यथा येन प्रकारेण वह्नी गन्धादिजारणा स्यात्तथाऽधिकगुणप्रदो रसो भवेदिति बोध्यम् । 'स्याज्जारणावह्निस्तथा' इति पाठान्तरम् ॥ १२३-१२६ ॥

षड्गुण गन्धक जीर्ण पारे से समभाग अभ्रकसत्वजीर्ण पारा सौगुणा अधिक फलदायी होता है । स्वर्णमाक्षिक, खपरिया और हरिताल आदि सत्त्वजीर्ण पारा अधिक गुणी होता है । सुवर्णबीज जीर्ण पारा अभ्रकादि-जीर्ण पारे से हजार गुणा अधिक प्रभावी होता है । हीरा आदि नवरत्नजारित पारद इतना अधिक उत्तम, समृद्धिमान और गुणदायी होता है कि उसके प्रभाव को समझना मनुष्य की शक्ति के बाहर है उसके गुणों को तो भगवान् शिव ही जानते हैं । देवी पार्वती के रज को गन्धक और वीर्य को अभ्रक कहते हैं । यही कारण है कि गन्धक और अभ्रक का पारद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है अत ये दोनों पारद के प्रिय होने से पारे के साथ सर्वथा मिल जाते हैं गन्धक, अभ्रक और पारद इन तीनों का एकत्रीकरण शिव-शक्तिसमायोग कहलाता है । शिव-शक्तिसमायोग का निर्माण भाग्य से होता है, इस योग की प्राप्ति परम पद देनेवाली होती है । इस लिए गन्धक, अभ्रक, स्वर्णमाक्षिकादि उपधातु तथा सुवर्ण, रजत आदि धातु और हीरा आदि नौ रत्नों की जितनी अधिक से अधिक जारणा की जाती है उतना ही पारद विशिष्ट प्रभावी होता है ॥ १२३-१२६ ॥

शास्त्रानुमत, स्वानुभव और वृद्ध-परपरा आदि से जारणा-क्रम को सयुक्तियुक्त प्रस्थापित करने के लिए सर्वप्रथम गन्धकजारणा कही जाती है—

अथाष्टौ गन्धकजारणम् ।

तत्तु तन्त्रनिगदितदेवतापरिचरणसमनन्तरं तत्तच्छोधनप्रक्रियाभिर्बहीभिः संक्षिप्ताभिर्वा शुद्धस्य रसेन्द्रस्य 'तृणारणिमणिजन्यवह्नि'-न्यायेन तारतम्यमवलोकमानैः सूक्ष्ममतिभि 'पलार्धेनापि संस्कार कर्तव्य. सूतकस्य च' इति रसार्णववचनात् व्यावहारिकतोलकद्वयप्रमाणेनापि कञ्चन सूतं समादाय, तत्र गन्धको नवनीताख्य' संशोध्य जार्य आषड्गुणमिति ॥१२७॥

तदित्यादि । तु पुनस्तेषु तेषु सिद्धप्रोक्तेषु तन्त्रेषु निगदिता. कथिता या देवतास्तासां परिचरणस्य-पूजनस्य समनन्तरं क्वचित 'स्मरणानन्तरमि'ति पाठ । बह्वीभिरनेकाभिः संक्षिप्ताभि संक्षेपतो लभ्याभिरन्याभिस्ताभि. शोधनक्रियाभि शुद्धस्य-निर्मलीभूतस्य रसेन्द्रस्य, क्वचित 'परिशुद्धानां रसेन्द्राणाम' इति पाठान्तरम् । किन्तु बहुक्रियाशोधनत्वेऽपि बहुत्वव्यपदेशो न श्रेयान प्रतिभाति । 'तृणारणिमणिजन्यवह्नि'-न्यायेन-तृणाग्नि.-सर्वसुलभत्वेन प्रदीपनसौकर्येण स्वल्पप्रयाससाध्य' । अरण्यग्निमन्थनादिक्रियया प्राप्यदुष्करत्वेन च प्रयासतरसाध्य , सूर्यकान्तमणिस्त्वन्वेषणादिक्रियया सर्वत्राऽसुलभत्वेन च प्रयासतमसाध्य , इत्येवं तरतमस्य भावस्तारतम्यमुत्कर्षापकर्षभावस्तदवलोकमानै' सूक्ष्ममतिभि कुशाग्रबुद्धिभिर्विद्वद्भि', उक्तरसार्णववचनात व्यावहारिकतोलकद्वयप्रमाणेन सुश्रुतोक्तमानसाधित्येदम् । चरकमतेन तु तोलकचतुष्टयेनेति पाठोऽपि साधीयान् । सुश्रुतापेक्षया तन्मानस्य द्विगुणत्वात । इत्येव कञ्चन सूतं गृहीत्वा । तत्र तस्मिन्, नवनीताख्य -'आमलासार' इति प्रसिद्ध., गन्धक संशोध्य-सम्यक् शोधनं कृत्वा, आषड्गुणम् पारदमानात् षड्गुणं यावत जार्य इत्यर्थ ॥ १२७ ॥

गन्धक-जारण के लिये उक्त साधक का कर्तव्य है कि वह रससिद्ध देवपूजन के पश्चात् उन-उन अनेक संशोधन संक्षिप्त क्रियाओं द्वारा शुद्ध पारे को (तृणारणिमणिवह्नि न्याय से) सूक्ष्म बुद्धिवालों से तारतम्यता देखते हुए, उपर्युक्त रसार्णव के वचनानुसार दो तोले प्रमाण पारा लेकर, उसमें शुद्ध आमलासार गन्धक का षड्गुणपर्यन्त जारण करना चाहिए ।

वक्तव्य—'तृणारणिमणिवह्नि' न्याय अर्थात् तृणाग्नि जो कि सर्वत्र सहज सुलभ है, अरणि-अग्निमन्थ से समुत्पन्न अग्नि जो कि मन्थन क्रिया द्वारा प्रगट की जाती है सहज सुलभ न होने से कष्टसाध्य है, मणि-सूर्यकान्तमणिजन्य अग्नि जो कि बहु अन्वेषण के पश्चात् भी प्राप्त करने में कष्टतमसाध्य है । इस प्रकार के उपयोगी तारतम्यभाव की उत्तमता और अधमता का विचार करते हुए, 'पलार्धेनापि संस्कार. कर्तव्य सूतकस्य च' अर्थात् प्रारम्भिक अवस्था में जब कि जारण क्रिया की भली प्रकार अनुभूति प्राप्त नहीं है ऐसी परिस्थिति में 'स्वल्पारम्भा क्षेमकरा' न्याय से थोड़े प्रमाण में किया हुआ कार्य सहज में सिद्ध किया जा सकता है और उसकी सफलता साधक के मनोत्साह को द्विगुणित बना देती है । यही तत्त्व ऊपर के कथन को स्पष्ट करता है ।

ततो मारणविधिना हत्वा मात्रयाऽशितः पथ्ययोगेन समे गन्धे तु रोगघ्न इत्यादि प्रोक्तफलकारी रसो भवति ॥ १२८ ॥

तत इत्यादि । ततो गन्धकेन मूर्च्छापादनानन्तरम् । मारकौषधिभिर्मारणोक्तक्रियया पारद हत्वा किंवा रससिन्दूर-मकरध्वज-हरगौरीरसादिकं निर्माय मात्रया-प्रमाणेन यथाऽत्रैव-'वल्लमेकं नरेऽश्वे तु गद्याणैकगजे द्वयम् । सर्वरोगविनाशार्थं भिषक् सूत प्रयोजयेत् ॥'

इति। पथ्ययोगेन यथा—'घृतसैन्धवधान्याकजीरकार्द्रकसंस्कृतम्। तण्डुलीयकधान्याकपटोलालाबुकादिकम्॥ गोधूमजीर्णशाल्यन्नं गव्यं क्षीरं घृतं दधि। हंसोदकं मुद्गरसः पथ्यवर्गः समासतः॥' इत्यनेन पूर्वोक्तफलप्रदो भवति रसः। शेषं सुस्पष्टम्॥ १२८॥

पूर्वोक्त गद्य में प्रतिपादित गन्धक-जारित पारद को मारणविधि से मारकर मात्रा और पथ्य से सेवन करने पर पूर्व प्रतिपादित फल की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—'मारणविधिना' का तात्पर्य यह है कि रसमारण की जितनी विधियां (जो अनेक प्रकार की हैं जिनमें अनेक मारक औषधियों का प्रयोग किया जाता है वे ओषधि (काष्ठौषधि मारण विधियाँ) उन सबका आगे यथास्थान विवेचन किया जावेगा) रसेन्द्रसारसंग्रह-कार रंगभेद से पारदभस्म चार प्रकार की मानता है। श्वेत (सफेद), पीत (पीली), रक्त (लाल) और कृष्ण (काला) ये चारों प्रकार की भस्म पहली की अपेक्षा दूसरी श्रेष्ठ, दूसरी की अपेक्षा तीसरी और तीसरी की अपेक्षा चौथी श्रेष्ठ होती है। कृष्ण भस्म सर्वश्रेष्ठ होती है। जैसे कि—'श्वेतं पीतं तथा रक्तं कृष्णञ्चेति चतुर्विधम्। लक्षणं भस्मसूतानां श्रेष्ठं स्यादुत्तरोत्तरम्॥' श्वेतभस्म रसकपूर, पीतभस्म-सर्वाङ्गसुन्दर, कृष्णभस्म-रसपर्पटी, स्वर्णपर्पटी, विजयपर्पटी आदि समस्त पर्पटियां हैं। रक्तभस्म-रससिन्दूर, मकरध्वज आदि हैं। इन सबका उल्लेख आगे विस्तार से किया जावेगा। इसी प्रकार रससेवन की विधि, मात्रा और पथ्यों का विवेचन भी यथास्थान आगे देखें॥ १२८॥

अथ यदि रसायनगुणेच्छा चेद्गन्धकजारणोत्तरं हेमाभ्रसत्त्वादि यथाविभवं गन्धकजारणोत्थिते रसे प्रोक्तविधिना संसाध्य जारयित्वा मारणविधिना हत्वा मात्रया क्षेत्रीकरणपूर्वकं पथ्ययोगेन मण्डलावधि षण्मासं वर्षकं द्विवर्षं त्रिवर्षं वा संसेव्यः। तदा तदुक्तफलमाप्नोति। यावज्जीवं सेव्यो वा सम्पत्तिश्चेत्। यद्वा यथावकाशं पौनःपुन्येन संसेव्यः। अथ केवलं रोगहननेच्छा चेत्स्वेदनादिदीपनान्तैः संस्कारैः रसं संशोध्य प्रोक्तविधिना गन्धकेन संमूर्च्छ्य मात्रया पथ्ययोगेन संसेव्यो यावदारोग्यमिति। अथ रसादौ पाकावलेहगुटिकाचूर्णादौ वा रसयोगे विहिते यथावचनं संशुद्धो मूर्च्छितो गन्धजीर्णो हेमादिजीर्णो वा मृतोऽमृतो वा रसो योज्य इति गुरुसंकेतः। गन्धकजारणरहितः संशुद्धोऽपि रसो योगेषु न योज्यः, वैगुण्यप्रदत्वात्। एवं सर्वं उपरसा धातव उपधातवो रत्नान्युपरत्नानि विषोपविषप्रभृतयश्च शुद्धाः सन्तो मृता अमृता वा यथावचनं योज्या नाशुद्धा इति दिक्॥१२९॥

अथेत्यादि। रसायनं-यज्जराव्याधिनाशनं तत्तस्य गुणास्तेषामिच्छा, मण्डलावधि-चत्वारिंशद्दिनपर्यन्तमित्यर्थः। गदहन्तृत्वशक्त्यनुदयात्-रोगनाशकत्वशक्त्युदयाभावात्, सुवर्णजीर्णं अशुद्धश्चेन्न कुत्रापि योजनीयो वैगुण्यप्रदत्वात्-रोगजनकत्वादिति। शेषं सुगमम्॥

यदि वार्धक्य और व्याधि को नष्ट करने की इच्छा हो तो गन्धकजारण के बाद उसीमें यथाशक्ति पूर्वोक्त विधि से सुवर्ण और अभ्रकसत्त्व आदि बीज जारण कर तत्पश्चात् मारणविधि से भली भांति पारद को मारकर क्षेत्रीकरणपूर्वक मात्रा और पथ्य से ४० दिन, छै मास, एक वर्ष, दो वर्ष अथवा तीन वर्ष सेवन करे तो उक्त फल को प्राप्त होता है। घर में सर्व प्रकार से आर्थिकदृष्ट्या सानुकूल परिस्थिति हो तो जन्म भर इसका सेवन करता रहे अथवा यथावकाश बारबार

सेवन करे। यदि केवल रोगहरणेच्छा ही हो तो स्वेदनादि दीपनान्त संस्कारों से पारद का शोधन करके उक्त विधि से गन्धक द्वारा मूर्च्छना कर मात्रा और पथ्य के साथ आरोग्यताप्राप्ति पर्यन्त सेवन करे। अथवा रसादिकों में या पाक, अवलेह, गुटिका और चूर्ण आदि में जहाँ कहीं पारद का प्रयोग करने को कहा हो तो शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध, मूर्च्छित, गन्धकजारित अथवा सुवर्णादि बीजजीर्ण, मारित तथा अमारित पारद डालना चाहिये। यह स्मरण रहे कि रोगहरण करने की शक्ति केवल गन्धकजीर्ण पारद में ही होती है ऐसी दशा में गन्धक-जीर्णरहित शुद्ध पारद भी रसादि योगों में नहीं डालना चाहिये। और इसी प्रकार जिस पारद का शोधन भली भांति नहीं किया गया है और वह सुवर्ण-बीजजारित है तब भी उसको किसी रसादि योगों में नहीं डालना चाहिये। तात्पर्य यह है कि शुद्ध पारद है किन्तु गन्धक-जारित नहीं है तो भी वह रसादि प्रयोगों के लिये अग्राह्य है। इतना ही नहीं शोधनरहित पारद चाहे सुवर्ण-बीजजारित भी क्यों न हो फिर भी वह रसप्रयोगों में अव्यवहार्य है। अर्थात् शोधन और गन्धक-जारण ये दोनों ही पारद की उपयोगिता के प्रधान हेतु हैं। इन दोनों के अभाव में पारद लाभ की अपेक्षा रोगकारक अधिक होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण उपरस, धातु, उपधातु, रत्न, उपरत्न, विष और उपविष आदि शुद्ध ही लेने चाहिए। मारित और अमारित का शास्त्रोक्त विधि से प्रयोग सर्वत्र किया जा सकता है किन्तु अशुद्ध का कहीं प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ १०९ ॥

इह खलु पुरुषेण दुःखस्य निरुपाधिद्वेषविषयत्वात्तदभावश्चिकीर्षितव्यो भवति, सुखमपि निरुपाधिप्रेमास्पदतया गवेषणीयं, तदेतत्पुरुषार्थद्वयम् ॥

इहेत्यादि। इहानुक्षणं परिवर्तिनि संसारे प्राकृते सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रिभिर्गुणैरनुस्यूतत्वात्सुखदुःखमोहस्वभावात्मनि दुःखस्य—आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधस्य 'तत्रात्मानं शरीरमन्तःकरणं चाधिकृत्य यज्जायते तदाध्यात्मिकं दुःखं, वातादिकोपजन्यं कामक्रोध-लोभमोहादिजन्यं च, तत्र भूतानि प्राणिनोऽधिकृत्य यज्जायते तदाधिभौतिकं व्याघ्रचौराद्युत्थम्, एवं देवाग्न्यादीनधिकृत्य यज्जायते तदाधिदैविकं दाहशीतादिकृतं यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनं चेत्यनेन यद्यपि सर्वं मानसमेव दुःखं सिद्ध्यति तथापि मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविभागेन। अर्थात् शारीरिकमानसिकभेदेन द्विविधस्य वा कष्टस्य निरुपाधिद्वेषविषयत्वात्—रागादीतरभावैः सह संसर्ग उपाधिस्तद्भिन्नो निरुपाधिरेवंविधो यो द्वेषस्तद्विषयत्वात्, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वेऽपि प्राणिनः प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं मन्यमानास्तत्र द्विषन्त्येव न तु केऽपि तत्र स्निह्यन्तीति। पुरुषेण—अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते तेन, तस्य—दुःखस्याभावश्चिकीर्षितव्यः, अर्थात्तदपाकर्तुं प्रयतितव्यम्। सुस्पष्टमेव यत् सर्वोऽपि जनो निरुपाधिद्वेषविषयस्य परिहारं कर्तुमिच्छतीति। सुखमपि निरुपाधिप्रेमास्पदतया प्रेम्णि द्वेषादीतरभावैः सह संयोग उपाधिस्तद्भिन्नं निरुपाधि, यत्प्रेम तदास्पदतया गवेषणीयं पुरुषेणेति। तदेतत्—दुःखहरणसुखाप्तिलक्षणं पुरुषार्थपदेन सकथ्यमानौ वास्तविकेन मिथः पृथग्भूतौ दुःखहरणसुखप्राप्तिस्वरूपाविमौ द्वावेव पदार्थौ प्रसिध्यतो यत्र हि पुरुषस्यार्थः समाप्यत इति। किं नु खलु दुःखाभाव एव सुखम्। कथं न तत पृथक्-सत्ताकः कश्चन सुखपदार्थ इति, चेच्छृणु 'अभावस्यान्यत्वादिति' पाठोऽधिकः क्वचित् पुस्तके, दुःखाभावो हि सुखादन्यः पदार्थो न तु सुखस्वरूप इति द्वयोरेव पुरुषार्थत्वमभ्युपेयमिति क्वचित्तु 'तदेतत्पुरुषार्थ' अभावस्यानन्यत्वाद् दुःखाभावस्य सुखलक्षणानुरूपत्वाच्च' इत्येव पाठः समुपलभ्यते। तत्र अभावस्य दुःखाभावस्यानन्यत्वात्—सुखाभिन्नत्वात्सुख-

लक्षणानुरूपत्वाच्च केवल दु खाभाव एव पुरुषार्थ इत्येवमर्थो योज्य'। एतन्मतस्यायं सार:-सर्वो जनो दु खविनिवृत्तये, सुखावाप्तये, प्राप्तस्य सुखस्य चाभिवृद्धये चेष्टतेऽनुक्षणम् तदुक्तं महाभारते शान्तिपर्वणि—'इह खलु चामुष्मिन् लोके वस्तुप्रवृत्तय सुखार्थमधीयन्ते न सत' परं त्रिवर्गफल विशिष्टतरमस्ति' इति। तदेतत्सुखं च दु खाभावस्वरूपमेव। प्रथमं तावन्मनसि तृष्णा समुत्पद्यते, ततस्तद्विषयस्यालाभे सति दु ख भवति, तदपहृते च-'भारापगमे सुखिन संवृत्ताः स्मः' इति न्यायवत्सुखं सम्पद्यते। भर्तृहरिणाप्युक्तम्—'तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि, क्षुधार्त्तः सञ्छालीन् कवलयति शाकादि-वलितान्। प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधू, प्रतीकारो व्याधे' सुखमिति विपर्यस्यति जन'॥' इति। अतो न हि दु खाभावात्परतरं किञ्चन सुखमस्तीति तदेत-त्पुरुपार्थत्वमिति।

सिद्धान्ततस्तु-विभिन्नयोरेव दु खेतरसुखयो' पार्थक्यमेव पुरुपार्थत्वम्। नह्युत्पद्यन्ते शाश्वतिकानि खलु सर्वाणि सुखानि तृष्णादिदु'खक्षयादेव। प्रागानुभविक-विषयकोऽभि-लाप' कामो वासनेच्छा वा निगद्यते। तद्वस्तुन शीघ्रमलाभे लाभेऽपि वा पूर्णसुखाननुभवे सति तीव्रत्वमापन्न स एव तृष्णाभिलाप इति व्यपदिश्यते। एवं सत्यभिलापस्य तृष्णा-रूपतापत्ते पूर्वमेव पूर्तौ जायमान सुखं न खलु तृष्णाक्षयोत्पन्नत्वमिति शक्यते वक्तुम्। तृष्णाभिलापयो' पर्यायत्वस्वीकारमते तदपि तृष्णाक्षयोत्पन्नमेवेति चेदास्ता तत्तथा। परन्तु-अकस्मात्कस्यचित पुरुपस्य मुखे सितशर्करापातनेन यत्सुखमुत्पद्यते तदपि किं तृष्णाक्षयोत्पन्नमुच्यताम्। किं वा ग्राम गच्छत' कस्यचित् पथि माध्वीकमनोज्ञच्छटाविच्छु-रितस्य रमणीयारामस्यावलोकनेन तत्र नासिकासन्तर्पणसौरभगन्धेन कोकिलशुक-भ्रमरसुमधुरकूजितशब्दश्रवणेन वा यत्समुत्पद्यते सुख तदपि किं तथात्र व्यपदिश्यताम्? न हि पथि यातो नरस्य मनसि रमणीयोद्यानादिगतोऽभिलाप' पूर्वमासीत्। तस्मात् 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' इति भगवदुक्त्यनुसार साहजिकस्वकीय-प्रभावेण स्वस्वविषयेषु सचरतामिन्द्रियाणां यदनुकूलवेदनीयत्वेन समापतति तत्सुखम्? यच्च प्रतिकूलवेदनीयत्वेन समापतति तद् दु खमिति सुख दु ख च पृथगेव द्वे वेदने भवत। दु खनिवृत्तिलक्षण. सुखप्राप्तिरूपलक्षणश्च पुरुपार्थोऽपि पृथगेवेति मन्तव्यम्। इह खलु सुखदु खयोरनेकोहापोहाभ्यां विचारो विहित' पुरुपार्थश्च दु'खविनाशाय भवतीति साधित'। यद्यपि तत्र वर्तमान स्थूल दु'ख द्वितीयक्षणे स्वयमेव नङ्क्ष्यति, अतीतं तु नष्टमेव, तथाप्यनागतसूक्ष्मदु खनिवृत्तौ तात्पर्यम्। तत्परिहाराय-ननु दु खनिवृत्तिसुख-प्राप्ती सुखोदर्का दु खनिवृत्तिर्वा तदुपायाधीना, तत्रोपाया शारीरदु खस्य रसायनादिसेव-नात्, मानसस्य मनोज्ञस्त्री-पानभोजनादित , आधिभौतिकस्य नीतिशास्त्राभ्यासनिरत्यय-स्थानसेवनादित. आधिदैविकस्य मणिमन्त्रौषधादितो भवत्युच्छेद इति॥

यह तो सर्वविदित ही है कि नश्वर जगत् में जहाँ देखिये वहाँ दु ख ही दु ख परिलक्षित होता है। द्वेष यह दु ख का मूल कारण है जो वस्तु जिसे अभीष्ट नही है वह उसके लिए द्वेषात्मक है और उसीकी उपस्थिति होना दु खदायी होना है। अत मनुष्य उपाधिरहित दु खपरिहार का प्रयत्न करे और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति यह प्रेमस्वरूप है। प्रेम ही सुख है, अत उपाधिरहित प्रेमात्मक सुख की खोज करे। बस, असार ससार में ये दो ही पुरुषार्थ है॥ १३०॥

अत्र स्रक्चन्दनललनादिविषयाणां सत्यपि तत्कारणत्वे (सुखकारणत्वे) नान्तरीयकदुःखसंभेदादनर्थपरम्परापरिचितत्वान्मूर्खाणामाकाशोद्रङ्कवदाभा-

समानत्वादनैकान्तिकत्वाद्विरोधिनां युगपददृश्यमानत्वादत्यन्ताविरहितत्वाच्च परिहरणीयम् ॥ १३१ ॥

इदानीमत्र दृष्टोपायेषु च स्रक्चन्दनवनितादिषु सुसम्पादितेषु जाग्रत्सु सत्सूपायान्तरान्वेषणप्रयासौ नैव विधेय इत्याशङ्क्य तत्परिवारयन्नाह—अत्रेत्यादि पर्यन्वेषणं विनैव प्राप्यान् स्रक्चन्दनादीन् परिहरन्, अत्रेति शब्दो रसयोगादीनामन्वेषणीयत्वमुद्द्योतयति। स्रक्-सुरभिपुष्परचिता माला, चन्दनं-विश्रुतम्, ललना-रमणी, आदिशब्दात्-चित्रकलाचतुरचातुरीरचितानेकचित्रचेतस्यमन्दानन्दमन्दोहविजृम्भितमनोहररम्यहर्म्यादीना ग्रहणम्। विषिन्वन्ति देहिनं बध्नन्ति इति विषया स्रक्चन्दनाद्येषा तेषां स्रगादिविषयाणा तत्कारणत्वे-दु खपरिहरणसुखयो, सुखस्य वा हेतुत्वे सत्यपि नान्तरीयकदुःखसभेदात्-अन्तरा-विना भवमान्तरीयक तद्भिन्नं नान्तरीयक-अविरतसुखसत्ताधायकमित्यर्थ । एतादृशं यद्दु'ख तेन सभेदात् सभिद्यन्ते मिलन्त्यत्रेति संभेदस्तस्मात् मिश्रीभावात्। 'सभेद सिन्धुसगम ' इत्यमर.। अनर्थानाम्-दु खप्रदभावाना या परम्परा तया परिचितत्वात्सहचारित्वात्। मूर्खाणाम्-सारासारविचारशून्यमनसा युक्तायुक्तविवेकविधुराणा मुग्धानामेव न तु पण्डिताना-सदसद्विवेकशालिनाम् आकाशोद्गङ्कवत्-गन्धर्वनगरवत् क्वचित् 'कोपाण्डवत्' इति, क्वचिच्च—'केशरकस्तूरिकाकोशवदाभासमानत्वात्' इति पाठान्तरम्। तद्यथाऽऽपातमात्रमधुर भासते तथाऽऽभासमानत्वादत एवानैकान्तिकत्वात्-व्यभिचरितत्वात्, विरोधिना-परस्पर विरोधकराणामेषा भावाना युगपत्-एकस्मिन् कालावच्छेदेऽदृश्यमानत्वात्, अत्यन्ता-शाश्वतिका, तया विरहितत्वात्-शून्यत्वाच्च परिहरणीय त्याज्यम्।

अत्रायं भाव —स्रक्चन्दनललनादयो यद्यपि सन्ति ह्यापातरमणीयत्वात् दु खप्रतिकारहेतवस्सुखकराश्च भावास्तथापि तत्र दु खसयोगस्याप्यवश्यभावोऽस्ति कदाचिदनर्थपरम्परापि दृश्यते किञ्च-अनित्या इमे भावा. कोपाण्डकवद्गन्धर्वनगरवच्च केवल प्रतीयन्ते, ते मूर्खानेव मोहयितु पारयन्ते न तु पण्डितान्। यथोक्त श्रीमद्भगवता-'ये हि संस्पर्शजा भोगा दु'खयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुध' ॥' तथा चैतैर्दु.खनिवृत्ते. सुखस्य चावश्यं भावोऽपि नास्ति। एतेषु केचन भावा. परस्परं विरोधिनोऽपि सन्ति। ततश्च नैकदा ते समनुष्ठातु शक्यन्ते। निवृत्तस्य दु खस्य पुनरनुत्पाद' समुत्पन्नस्य सुखस्य च नित्यतेत्येवंरूपाऽत्यन्तताऽपीह नास्तीत्येतैर्हेतुभिर्न खलु विद्वद्भिः स्रक्चन्दनललनादयो विषया उपादेया' प्रत्युत ते परिहरणीया सन्तीति। अत्र साख्यशास्त्रानुमतमेव सर्वं व्याख्यानमित्यवधेयम्। यथा साख्यकारिकायाम्-'दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥' इति।

किन्तु जगत में प्रेमस्वरूप अभीष्ट वस्तु की भाँति प्रतीत होनेवाले तथा तात्कालिक सुखदायी ऐसे फूलों की माला, चन्दन और सुन्दर कामिनी आदि विषय बहिर्दृश्यमान सुख के हेतु होने पर भी अन्ततो गत्वा अवश्य दु खों से मिश्रित, अनर्थ-परपराओं द्वारा अनेक वार स्वानुभूत, मूर्खों को गन्धर्वनगरवत् वहुत आनन्दप्रद प्रतीत होनेवाले, सर्वदा ज्यों के त्यों न रहने वाले, अनित्य, एकमेक से विरोधी, अनेक भावों द्वारा ओत-प्रोत होने के कारण सहसा किसी के देखने में न आनेवाले और अस्थायी, ऐसे लुभावने नष्टप्राय और परिणाम में दु खदायी विषयों का बुद्धिमान् दूर ही से परित्याग कर दे ॥ १३१ ॥

एकान्तात्यन्ततश्च पुनस्तेऽभ्युपायाः खलु हरिहरब्रह्माण इव तुल्या एव सम्भवन्ति। ज्ञानयोगः प्राणयोगो रसयोगश्चेति ॥ १३२ ॥

पूर्वं प्रतिपादितमात्यन्तिकसुखं योगादवाप्यत इति प्रपञ्चयति—एकान्तेत्यादि। एकान्त.—अवश्यत्वेनेति यावत्, अत्यन्तत.—शाश्वतिकेन सर्वदैकभावस्थायित्वेनेति यावत्। पुनरेते—दु खविनाशकाः सुखोत्पादकाश्च येऽभ्युपाया' साधना सन्ति ते खल्विति निश्चयेन ज्ञानयोगः प्राणयोगो रसयोगश्चेति त्रय एव। ये हि न गुणप्रधानत्वेन व्यवतिष्ठन्ते, किन्तु हरिहरब्रह्माण इव-विष्णु-शिव-प्रजापतयो यथा तुल्या'—समाना एव सम्भवन्ति। यथा—स्थिरचरात्मकस्य महतो भूतजातस्यास्य जगतः सर्गस्थितिप्रत्यवहारेपु स्वस्वानुकूलं नियतं कर्मानुतिष्ठन्तो विष्णुशिवब्रह्माणो न तु न्यूनाधिकभावं स्वीकुर्वन्ति तद्वदेवेमे त्रयो योगा अपि ज्ञेया'। हरिहरादिदृष्टान्तेनाधिकारिभेदं पुरस्कृत्य त्विहेदमपि प्रतिपत्तव्यम्। यथा सत्त्वगुणप्रधानो विष्णुर्जगद्रक्षाधिकारी तथैव सत्त्वगुणप्रधान. पुरुषो ज्ञानयोगेऽधिकारी जायते। यथा तमोगुणप्रधानो हर' अतितीव्रा तामसीं वृत्तिमवलम्ब्य जगत्प्रलये नियुक्त-स्तथा तमोगुणमुख्योऽतिकठिना हठयोगवृत्तिमाश्रित्यैव प्राणयोगेऽधिकारी भवति। एवं रजोगुणप्रधानो ब्रह्मा यथा जगत्संसर्जने चलात्मिका वृत्तिमाश्रित्य भवोद्भवेऽधिकारी जायते, तथा रजोगुणप्रधानश्चित्रविचित्रानेकविषयभोगोत्पादके रसयोगे चाधिकारीति सङ्केत। तथाऽप्यत्र रसयोग एव सर्वत. प्रधानतमस्तदधीन एव शरीरवृत्तिकलाप शरीर-वृत्तिकलापाधीनौ च ज्ञानयोगप्राणयोगौ यतो द्वयो प्रधानकारण शरीर शरीरमन्तरेण तयोर्ज्ञानयोगप्राणयोगयो. सत्तैव न सम्भवितुमर्हति। यथा हि सत्त्वतमसी गुणौ चिद्ये ते अपि न हि रजोऽन्तरेण सृष्टिकार्यं सेत्स्यति। यथा साङ्ख्यकारिकायाम्—'सात्त्विक एकाद-शक प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। भूतादेस्तन्मात्र' सतामसस्तैजसादुभयम्॥' इति। यद्यपि ज्ञानयोग', प्राणयोग', रसयोगश्चेति त्रयस्तथैव हरिहरब्रह्माणश्चापि तुल्या इव प्रतीयन्ते तथाऽपि तत्तथा न, यथा हरिहरयो' कार्यं ब्रह्मणोऽधीन कुत ? ब्रह्मणा कृतकार्यभूतस्य जगत पालनसहारात्मकं कार्यं हरिहरौ कुरुत., नान्यथा निष्क्रियौ भवत'। तथैव रसयो-गाधीनावेव ज्ञानयोगप्राणयोगाविति दिक्॥

अवश्य और नित्य दु खनाशक तथा निर्मल सुखकारक वक्ष्यमाण तीन प्रकार के कारणों का आश्रय लेना उत्तम सुखदायी होता है। ज्ञानयोग, प्राणयोग और रसयोग ये तीनों भी उपाय विष्णु, शिव और ब्रह्मा की भाँति समान है।

वक्तव्य—निर्मल सुख के साधन तीन है ज्ञानयोग, प्राणयोग और रसयोग, इनके विना सुख की प्राप्ति सदा-सर्वदा असम्भव है। ये तीनों सत्त्व, तम और रज गुण की कोटि में हैं जिस प्रकार विष्णु, शिव और ब्रह्मा ससार की स्थिति, सहार और सर्जन करने वाले हैं उसी प्रकार ये तीनों भी ज्ञान, ध्यान-धारणा और शरीरसिद्धि से आत्यन्तिक सुख के हेतु हैं परन्तु जिस प्रकार ब्रह्मा के कार्य सृष्टि-निर्माण के विना विष्णु और शिव निष्क्रिय रहते है अर्थात् जब सृष्टि ही नहीं है तो ये दोनों पालन और सहार ही किसका करेंगे। ऐसी दशा में विष्णु और शिव ये दोनों भी पराधीन हैं स्वय कुछ नहीं कर सकते हैं इनका कार्यक्षेत्र सर्वथा ब्रह्मा के अधीन है। उसी प्रकार सत्त्वगुण और तमोगुण ये दोनों भी रजोगुणाधीन है। रजोगुण की सहायता के विना सत्त्वगुण और तमोगुण सर्वथा निष्क्रिय रहते है उनमें क्रियात्मक भाव रजोगुण की सत्ता ही से सभव है। ठीक उसी प्रकार ज्ञानयोग, प्राणयोग और रसयोग इन तीनों का सम्बन्ध है। रसयोग के अभाव में ज्ञानयोग और प्राणयोग का कोई अस्तित्व नहीं है। ज्ञानयोग और प्राणयोग से ईश्वर-चिन्तन का सारूप्य एव साक्षात्कार किया जाता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से मुक्ति अर्थात् सासारिक दु खों का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है और नित्य, निर्मल एव अनुपम सुख का स्रोत प्रस्फुटित होकर

सर्वोपरि सुखी हो जाता है। किन्तु ज्ञानयोग और प्राणयोग ये दोनों भी रसयोगाधीन हैं अर्थात् रस-योग ही ज्ञानयोग और प्राणयोग के क्षेत्र-निर्माण और साधन का प्रधान हेतु है। ज्ञानयोग और प्राण-योग ये दोनों भी देहाधीन है। शरीर की नीरोगता ही ज्ञानयोग और प्राणयोग की सृष्टि कर सकती है। जब तक देहसिद्धि नहीं मिलती तब तक ज्ञानयोग और प्राणयोग असम्भव है। देहसिद्धि के महत्त्व को जगद्गुरु गोविन्द भगवत्पादाचार्य कहते हैं कि—'नामापि देहसिद्धेः को गृह्णीयाद्विना शरीरेण। यद्योगगम्यममलं मनसोऽपि न गोचरं तत्त्वम् ॥' देहसिद्धि की प्राप्ति रसयोग से मिलती है जैसे कि—'एकोऽसौ रसयोगः शरीरमजरामरं कुरुते' अर्थात् एकमात्र रसयोग ही शरीर को अजर और अमर कर सकता है, अन्य नहीं। इसी की पुष्टि आगे की जाती हैं कि—'स्थिरदेहोऽभ्यासवशात्प्राप्य ज्ञानं गुणाकोटपेनम्। प्राप्नोति ब्रह्मपदं पुनर्भवायासदुःखे न।' अर्थात् रसयोग ही का वह प्रभाव हैं कि सदा-सर्वदा के लिए दुःखों से मुक्ति दिलाकर शाश्वतिक सुख का भोक्ता बना सकता है ॥

ननु कथमेतेषां तुल्यतेत्यपेक्षायां ब्रूमः—मोक्षोपाये वृहद्वासिष्ठे भुशुण्डोपाख्याने वसिष्ठवाक्यम्—

> असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
> द्वौ प्रकारौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥ १३३ ॥
> प्राणानां वा निरोधेन वासनानोदनेन वा ॥ इत्यादिः।

पूर्वोक्तानां त्रिविधयोगानां ज्ञानप्राणरसानां सामान्यं प्रतिपादयितुं सशङ्कासमाधान-माह—नन्वित्यादि। नन्विति-प्रश्ने कथमेतेषां ज्ञानयोग-प्राणयोग-रसयोगानां त्रयाणां तुल्यता—समानतेत्यपेक्षायां ब्रूमः—वृहद्वासिष्ठे योगवासिष्ठेत्यपरपर्यायेण प्रसिद्धे वासिष्ठे महारामायणे मोक्षोपाये षष्ठे निर्वाणप्रकरणे त्रयोदशे सर्गे इति शेषः। भुशुण्डोपाख्याने-एतन्नाम्नि विश्रुतकथानके रामं प्रति महर्षिवसिष्ठस्य वाक्यं यथा—असाध्य इत्यादि। कस्य-चित्—कोमलस्वभाववतः सुकुमारमनसो वा प्राणावरोध—दुःखासहिष्णोर्योगः प्राणयोगः असाध्यः—साधयितुमशक्यः। कस्यचित्—अमृदुचित्तस्य विचारशून्यस्य ज्ञाननिश्चयः—ज्ञान-योगः असाध्यः। ततस्तस्माद्धेतोः परमः सर्वोत्तमो भगवान् देवः—दीव्यति प्रकाशतीति। शिवः द्वौ प्रकारौ—निर्मलचेतसो विचारचतुरस्य ज्ञानयोगः साध्यः, कठोरचित्तस्य विचार-विहीनस्य प्राणयोगश्च साध्य इत्येवं द्वावेवोपायौ जगाद। हे राम, चेद्यदि त्वं प्राणानां पञ्च-सङ्ख्यात्मकानां देहान्तः सञ्चारिवायूनां प्राणोदानसमानापानव्यानाख्यानां निरोधेन संयमेन, वासना—तृष्णा तस्या नोदनेन वा। इत्यादि, अत्रादिशब्देन वृहद्वासिष्ठोक्तोऽखिल संदर्भो बोध्यः। यथा—'नो चेत्त्वमविदमुच्छ्राणां करोषि तदयोगवान्। द्वावेव हि समौ राम ज्ञानयो-गाविमौ स्मृतौ ॥ संसारोत्तरणे शक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तो-पशमकारिणीम् ॥ आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि। द्वितीयं प्राणसंरोधं शृणु योऽयं मयोच्यते ॥ प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि। तथाऽपि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥ एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तारणक्रमे। समावुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलप्रदौ ॥ असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः। मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ॥' इत्यादि पूर्वोक्तसन्दर्भेण प्राणयोगज्ञानयोगयोः समत्वं प्रदर्श्ये-दानीं रसयोगप्राणयोगयोः साम्यमिति रसार्णवोक्तसंदर्भेण दर्शयति—यथा—'रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः। मूर्च्छितो हरति व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम् ॥ बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसो वायुश्च भैरवि ॥' इति ॥ १३३ ॥

तस्मादेतेषां समानत्वमनवद्यम् ॥ १३४ ॥

तस्मादित्यादि । तस्मात्कारणादेतेषा–ज्ञानयोगप्राणयोगरसयोगाना समानत्व–तुल्यत्वम् , अनवद्य–दोषरहितमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

अब यहाँ यह शङ्का सहज हो सकती है कि उपर्युक्त ज्ञानयोग, प्राणयोग और रसयोग इन तीनों की विष्णु, शिव और ब्रह्मा से जो समानता प्रतिपादित की गई है वह कैसी ? इस विषय में वासिष्ठ महारामायण के छठे निर्वाण प्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान को लेकर महर्षि वसिष्ठ का कथन है कि कोमलस्वभावी मनुष्य के लिए प्राणयोग (प्राणायाम क्रिया द्वारा पाँच प्रकार के वायु का निरोध कर आत्मशुद्धि की जाती है) असाध्य होता है तथा कठोरप्रकृति मूर्ख मनुष्य के लिए ज्ञानयोग (सद्-असद् विवेक द्वारा आत्मा की परिचिति–पहचान या सानिध्य किया जाता है) असाध्य होता है । अत. भगवान् शिव ने ये दो प्रकार कहे हैं कि विचार-कुशल बुद्धिमान् के लिए ज्ञानयोग और कठोर-प्रकृति विचारहीन के लिए प्राणयोग साध्य है। क्योंकि विचारहीन प्राणायाम के द्वारा और विचारवान् अपने प्रकृष्ट ज्ञान के द्वारा वासनाओं का नाशकर अपने ध्येय की सिद्धि कर सकता है। किन्तु इन दोनों को रसयोग की आवश्यकता रहती है। रसयोग के बिना शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता और उसके बिना प्राणयोग और ज्ञानयोग की साधना नहीं होती है । अत ये तीनों भी समान और निर्दोष हैं ॥ १३३–१३४ ॥

आगे के गद्य में प्रथम के ज्ञानयोग और प्राणयोग दोनों की सर्वसाधारण मनुष्य के लिए कठिनता बताते हुए रसयोग की सहज सुलभता और दोनों लोकों के लिए उपयोगिता प्रतिपादित की गई है—

तत्राद्ययोः केवलं पक्वकषायाणामपि कथञ्चन साध्यत्वात् , चरमे पुनर्भोगलोलुपानामधिकारित्वात्ताभ्यां समीचीनोऽयमिति कस्य न प्रतिभाति ॥

सम्प्रति ज्ञानयोगप्राणयोगयोराद्ययोर्दुःसाध्यत्व प्रतिपादयन् रसयोगस्य साध्यत्वं द्वयोर्लोकयोर्हितकर्तृत्वं चोद्दिशन्नाह–तत्रेत्यादि । तत्र तेषु त्रिविधयोगेषु आद्ययो ज्ञानयोगप्राणयोगयो' केवल पक्वकषायाणामपि–रागद्वेषतृष्णालोभमोहादिरहितानामपि, कथञ्चन–कथमपि तु येनेति शेष । साध्यत्वात–साधयितुं समर्थत्वात् , रागादिगुणविशिष्टाना भोगलोलुपानान्तु नितरामसाध्यत्वादिति । चरमे तु–अन्तिमस्थायिनि रसयोगे तु पुनश्च भोगलोलुपानाम्–नश्वरसांसारिकविषयैषिणामपि प्रवेशाधिकारित्वात्–अधिकृतत्वात्, ताभ्याम्–आद्याभ्या ज्ञानयोगप्राणयोगाभ्याम्, अयमन्तिमो रसयोग· समीचीन इति कस्य जनस्य न प्रतिभाति, किन्तु सर्वस्मै रोचते, इति भाव' ॥

इन तीन में से आदि के जो दो ज्ञानयोग और प्राणयोग हैं वे केवल राग-द्वेषादिरहित सिद्ध पुरुषों द्वारा ही जैसे तैसे सिद्ध हो सकते है । सामान्यों द्वारा नही । परन्तु अन्तके रसयोग के सभी सासारिक भोगविलासी भी अधिकारी है और वे उसके द्वारा सुखी होते हैं । अत यह रसयोग इन दोनों प्राणयोग और ज्ञानयोग से सुलभ तथा उत्तम है। इस हेतु से यह सभी के लिये आदरणीय है ॥ १३५ ॥

उपर्युक्त विशेषता के अतिरिक्त भी रसयोग के अन्य महत्त्वपूर्ण गुण है जिनसे वञ्चित रहकर मनुष्य समाज के भोगविलास और परलोक के लिये हित साधनों का सग्रह नहीं कर सकता है अतएव रसयोग का महत्त्व बढाने के लिये उसकी मूर्च्छनाओं को आगे कहते हैं—

किञ्चास्य भगवन्नियोसकतया सेवकानां स्वसम्भूतसकलधातुत्वापद्-

कस्य भगवतो रसराजस्य गुणसिन्धोः कियत्यो मूर्च्छनाः, ताः प्रसंगा-ल्लिख्यन्ते ॥ १३६ ॥

पुनरपि रसयोगस्य वैशिष्ट्ये चान्ये कियन्तो हेतव इति प्रदर्शयन्नाह-किञ्चेत्यादि भगवन्निर्यासकतया-'भगं श्रीयोनिवीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्तिषु । माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षेऽथ ना रवौ ॥' इति मेदिनी । तथा-'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥' इति । षड्विधभगात्मकगुणयुक्तस्य महेश्वरस्य वीर्यस्रवणरूपतया, सेवकानां भक्तियुक्तेन मनसा शिवपूजकानां रसायननिर्माणादिषु समभिप्रविष्टाना, स्वस्माच्छरीरात् समुत्पन्ना ये समस्ताः स्वर्णादयो धातवः इति भावः । तत्र धातुत्वापादकस्य-श्रेष्ठधातुतासंसाधकस्यास्य भगवतः-परममहिम्नो रसराजस्य गुणसिन्धोः-गुणाना सिन्धुस्तस्य महद्गुणसम्पन्नस्य समुद्रस्वरूपस्य कियत्यः-कतिपयाः मूर्च्छनास्ताः सर्वाः प्रसङ्गाल्लिख्यन्ते । क्वचित्पुस्तके 'मूर्च्छना' इत्यत्र 'पृषता' इत्यपि पाठः । तत्र गुणसिन्धोः-गुणोदधेः समुद्भूताः कियन्तश्चित् पृषताः-विन्दवः । 'पृषन्ति विन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्यमरः । प्रसङ्गात्-इह गुणवर्णनावसरत्वाल्लिख्यन्ते । रसहृदय-तन्त्रे यथा-'मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति । अमरीकरोति सुमृतः कोऽन्यः करुणाकरस्तस्मात्'॥ तथा च-'काष्ठौषध्यो नागे नागं वङ्गेऽथ वङ्गमपि शुल्बे। शुल्बं तारे तारं कनके कनकं च लीयते सूते ॥ परमात्मनीव नियतं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वा-नाम् । एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ॥ अमृतत्वं हि भजन्ते हरमूर्तौ योगिनो यथा लीनाः । तद्वत्कवलितगगने रसराजे हेमलोहाद्याः ॥' इति । तथैव भगवान् स्वयं महेश्वरोऽप्याह-'अचिराज्जायते देवि शरीरमजरामरम् । मनसश्च समाधानं रसयोगादवाप्यते ॥ सत्त्वं च लभते देवि विज्ञानं ज्ञानपूर्वकम् । सत्यं मन्त्राश्च सिध्यन्ति योऽश्नाति मृतसूतकम्' ॥ इत्यादि । रसराजस्य सकलधातुत्वापादकन्तु स्वेदनमर्दनमूर्च्छनादिभि-र्विशुद्धपारदयोगेनोत्पन्नसमस्तधातुभस्मनां गुणवत्त्वेन गणनात्, धातुवादक्रियया स्वर्णादि-धातुसाधनात्, भक्षितस्य च देहे रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जादिधातूनामितरवैलक्षण्येन जननाच्च ज्ञेयमिति ॥

अब, हम भगवान् शिव से उत्पन्न ऐश्वर्य, धर्म, यश और लक्ष्मी आदि षड्गुणयुक्त पारद, जिसके कर्म में तत्पर परम कारुणिक शिव भक्तों के लिये अपने से वीर्यरूप में प्रादुर्भूत समस्त सुवर्णादि एवं रस-रक्तादि धातुओं के कारणभूत गुणों के सागर भगवान् रसराज की कतिपय मूर्च्छनाओं को प्रसङ्गवशात् लिखते हैं ॥ १३६ ॥

अथाव्यभिचरितव्याधिघातकत्वं मूर्च्छना, तत्प्रकारा बहुविधाः । तत्र निर्गन्धसगन्धभेदेन द्विविधा भवति मूर्च्छना । निर्गन्धमूर्च्छना तु विषाद्यो-षधिभिरेकरूपा परमयोगिनां सम्मता । सगन्धा तु वहिर्धूमान्तर्धूमनिर्धूम-तस्त्रिविधा । त्रिविधाऽपि केवलं गन्धपिष्टिगन्धबद्धगन्धजीर्णरसगन्धकज्जली-धातुपिष्टिभेदेन पञ्चधा । धातुपिष्टिश्च कनकरजतशुल्बघनसत्त्वकालायसप्रभेदैः पञ्चधा । किं च मूर्च्छना जारणा इत्यनर्थान्तरं प्रायः । चेष्टिकाकाचकूपी-काचसम्पुटसुवर्णयन्त्रभेदेनान्तर्धूमबहिर्धूमाभ्यां द्विविधा ॥ १३७ ॥

मूर्च्छनाया स्वरूपमाह-अथेत्यादि । अथेत्यनन्तरम् । अव्यभिचरितव्याधिघातकत्वम् न व्यभिचरितोऽव्यभिचरितश्चासौ व्याधिघातकोऽव्यभिचरितव्याधिघातकस्तस्य भाव-

स्तत्त्वम् । अथवा अव्यभिचरितं यथा भवेत्तथा व्याधिघातकत्वं-रोगहरत्वम् । मूर्च्छना-पूर्वरूपस्य रूपान्तरप्राप्तिर्मूर्च्छनेति केचित् । तत्र रूपान्तरस्य तरलरूपादन्यस्य रससिन्दूरादिकठिनरूपस्यावाप्तिरिति तदर्थो योज्य' । मूलपाठानुसारेण तु रूपान्तरस्य पूर्वापेक्षया भिन्नस्य स्वास्थ्यापादकत्वरूपस्य प्राप्तिरित्यर्थो ज्ञेय' । तत् तस्याः-मूर्च्छनाया' बहुविधाः-अनेकश' प्रकारा सन्तीति शेषः । तत्र पारदक्रियाविधौ श्रेष्ठरसशास्त्रतत्त्वज्ञैरिति शेषः । निर्गन्धसगन्धभेदेन-निर्मुखा जारणा समुखा जारणा चेति भिन्नप्रकारेण द्विविधा-द्विरूपा मूर्च्छना भवति । रसेन्द्रचूडामणावपि यथा—'समुखा निर्मुखा चेति जारणा द्विविधा पुन ' इति । अत्र मूर्च्छनाजारणेत्यनर्थान्तरमित्यवधेयम् । तु-पुनः, निर्गन्धमूर्च्छना-गन्धेन रहिता या मूर्च्छना सा पूर्वोक्ता । विषाद्योषधिभि.-विषै.-कालकूटवत्सनाभादिनवभिः सहोपविषैर्वा । आदिशब्देन-त्रिकटुक्षारराजीलवणपञ्चकादिभिरपि बोध्यम् । अन्यौषधिभिर्यथा-'अथवा त्रिकटुक्षारौ राजीलवणपञ्चकम् । नवसारश्च शिग्रुश्च एभिश्चैकत्रचूर्णितै'रित्यादिभिरेकरूपा या भवति मूर्च्छना सा परमयोगिनां-कालनाथगोरक्षनाथादिश्रेष्ठरसशास्त्रप्रवर्तकयोगिनाम् । अर्थात् काष्ठौषधिभिर्या मूर्च्छना सा त्वनेकगुणाधाना बहुकालापेक्षणीयत्वादनेकप्रयाससाध्यत्वाच्चात. परमयोगिनां सम्मता । केचिदन्यथा पठन्ति 'पामरयोगिना' पामराः-तुच्छा गन्धकादिजारणकर्मण्यकुशलास्ते विषादिभिरेव मूर्च्छयन्ति पारदमित्यामनन्ति । तु-पुनः सगन्धा मूर्च्छना, बहिर्धूमान्तर्धूमनिर्धूमतस्त्रिविधा-बहिर्धूमा-रससिन्दूरापादनावसरे कूप्या अनावृतमुखत्वाद् धूमो बहिर्निस्सरतीति । अन्तर्धूमा-तदावृतमुखत्वात्कूप्यन्तर एवेति । निर्धूमस्तु केवलैककज्जलीकरणमेतत् त्रिप्रकारा भवन्ति । त्रिविधाऽपि पुनः पञ्चप्रकाराः । केवलं गन्धपिष्टिर्गन्धकेनैकेन कृता कज्जलीरूपा । रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'अर्कांशतुल्याद्रसतोऽथ गन्धान्निष्काधंतुल्यात् कुटितोऽभिखल्वे । अर्कातपे तीव्रतरे विमर्द्या पिष्टी भवेत्सा नवनीतरूपा ॥' तथा च—'खल्वे विमर्द्य गन्धेन शुद्धेन सह पारदम् । पेषणात् पिष्टतां याति साऽपि पिष्टी मता परै ॥' इति । गन्धबद्धा· रसपर्पटिका यथा रसचिन्तामणौ—'दशटङ्कमित. सूतो गन्धकं नवसादरम् । सर्वं कज्जलिकां कृत्वा काचकूप्यां निधापयेत् ॥ प्रहराष्टकपर्यन्तं शनकैरग्निदीपनम् । एवं सिद्धो भवेदेको रस' पद्ममणिप्रभ' ॥ माषमात्रःप्रदातव्य' सर्वरोगविनाशन' । रसः पर्पटिकाख्योऽयं पाट' पर्पटिवन्वन' ॥' इति । गन्धजीर्ण'-पूर्णचन्द्रोदयादि । सगन्ध-कज्जली-यथा समीरपन्नगरसस्य कज्जली तद्वत् । तदुक्तं कज्जलीलक्षणं रसेन्द्रचूडामणौ—'धातुभिर्गन्धकाद्यैश्च निर्द्रवैर्मर्दितो रसः । सुश्लक्ष्ण' कज्जलाभास कज्जलीत्यभिधीयते ॥' इति धातुपिष्टि'—केवलेनैव धातुना या पिष्टि सा यथाऽत्रैव पातनकर्मणि पूर्वोक्ता—'भागास्त्रयो रसस्यार्कचूर्णस्यैकोऽथ निम्बुकै । एतत्सम्मर्दयेत्तावद्यावदायाति पिण्डताम् ॥' इत्यादिः । धातुपिष्टिश्च चकारोऽत्र समुच्चयार्थ' । कनकं-सुवर्णं, रजतं प्रसिद्धम् , शुल्वं-ताम्रं, घनसत्त्वम्-अभ्रकसत्त्वं, कालायसः-कृष्णलोहः, एभिर्भेदैः धातुपिष्टेः पञ्चप्रकारा भवन्ति । इत्यनर्थान्तरं-पर्यायवाचित्वम् । प्राय'-इत्यनेन वैभिन्न्यमपि क्वचिदिति प्रतीयते । इत्यर्थान्तरमेके । सा च धातुपिष्टिरिष्टिकायन्त्रेण । इष्टिका-यन्त्रलक्षण रसेन्द्रचूडामणौ यथा—'विधाय वर्तुलं गर्तं मल्लमत्र निधाय च । विनिधायेष्टिकां तत्र मध्यगर्तवर्तीं शुभाम् ॥ गर्तस्य परितः कुर्यात्पालिकामङ्गुलोच्छ्रयाम् । गर्ते सूतं विनिक्षिप्य गर्तास्ये वसनं क्षिपेत् ॥ निक्षिपेद्गन्धकं तत्र मल्लेनास्यं निरुध्य च । मल्लपालिकयोर्मध्ये मृदा सम्यङ् निरुध्य च च ॥ वनोत्पलैः पुट देयं कपोताख्यं न चाधिकम् । इष्टिकायन्त्रमेतत्स्याद्गन्धकं

तेन जारयेत् ॥' इति । काचकूपी–काचकूपीयन्त्रं प्रसिद्धम् । काचसंपुट–सुवर्णयन्त्रे च प्रतीते । एभिरन्तर्धूमवहिर्धूमाभ्यां पुनर्द्विधा भवति मूर्च्छना ॥ १३७ ॥

पारद में निश्चित व्याधिनाशक शक्ति का आधान करना ही मूर्च्छना कहाती है। मूर्च्छना के अनेक प्रकार हैं। निर्गन्ध और सगन्ध भेद से मूर्च्छना के दो भेद होते हैं। विषादि ओषधियों से निर्गन्ध मूर्च्छना एक ही प्रकार की होती है। वहिर्धूम, अन्तर्धूम और निर्धूम भेद से सगन्ध मूर्च्छना तीन प्रकार की है। वह भी केवल गन्धपिष्टि, गन्धवद्ध, गन्धजीर्ण, रसगन्धककज्जली और धातुपिष्टि भेद से पाँच प्रकार की है। धातुपिष्टि भी सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, अभ्रकसत्त्व और लोह भेद से पाँच प्रकार की है। मूर्च्छना और जारणा यह प्राय पर्यायवाची हैं। मूर्च्छना इष्टिका, काचकूपी, काचसम्पुट और सुवर्णयन्त्र भेद से अन्तर्धूम और वहिर्धूम करके दो प्रकार की है।

वक्तव्य—मूर्च्छना के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन सस्कृत टीका में अनेक रसतन्त्रों के प्रमाणों द्वारा वताया गया है अत उनका हिन्दी में पुनरपि उल्लेख विस्तार-भय से छोट दिया है ॥१३७॥

तत्र षड्गुणगन्धकजारणा साधीयसी निगद्यते—सा तु स्वेदनमर्दनादिसंस्कारावबद्धस्य रसराजस्य कार्या। वन्धनं तु स्वाभाविकद्रवत्वे सति वह्निनाऽनुड्डीयमानत्वं मूर्तिवद्धत्वम्। तत्तु नियमनान्तैः संस्कारैर्भवति॥१३८॥

तत्रेत्यादि। तत्र षड्गुणस्य–रसभागात्मकस्य गन्धकस्य–एतन्नामात्मकस्य प्रसिद्धखनिजद्रव्यस्य या जारणा सा साधीयसी–अतिशयेन साध्वी यथा स्यात्तथा निगद्यते। सा तु पुन स्वेदनमर्दनमूर्च्छनादिभि. सस्कारैरववद्धस्य-संहतीभूतस्य पारदस्य कार्या। तु पुन', वन्धनन्तत्र स्वाभाविकद्रवत्वे–सांसिद्धिकद्रुतत्वे सत्यग्निना अनुड्डीयमानत्वं–याथातथ्येन स्थिरीभावमापन्नत्वम्, अनुच्छिद्यमानत्वमित्येके। मूर्तिवद्धत्वं–वद्धमूर्तित्वं तद्बन्धनन्तु नियमनान्तै. संस्कारैर्भवति। तल्लक्षणं तन्त्रान्तरे यथा—'अक्षतश्च लघुर्द्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः। स्फुटन' पुनरावृत्तौ वद्धसूतस्य लक्षणम् ॥' इति। वद्धविधिर्यथा—'यस्याभ्रकः षड्गुणितो हि जीर्ण., प्राशाग्निसंख्या स हि वद्धनामा। देहे च लोहे च नियोजनीय., शिवादृते को हि गुणान् प्रवक्ति ॥' इति। किन्त्वेतच्चिन्त्यं गगनसत्त्वग्रासजारणमन्तरेण पक्षच्छेदस्यासंभवात् ॥ १३८ ॥

अव यहाँ षड्गुणगन्धक-जारणा के उत्तम और सफल कर्म को कहा जा..ा है—उत्तम षड्गुण गन्धकजारणा स्वेदन, मर्दन आदि सस्कारों से वद्ध पारद की करनी चाहिये। वद्ध पारद उसे कहते हैं जिसमें अपनी स्वाभाविक द्रवता रहते हुए भी अग्निसस्कार करने पर भी उडता न हो, और ज्यों का त्यों अग्निस्थ वने रहने की क्षमता उत्पन्न हो गई हो, उसे ही मूर्तिवद्ध अथवा पारद का वन्धन कहा जाता है और यह शक्ति या यों कहिए स्थिरता पारद में नियमनान्त सस्कारों मे आ जाती है।

वक्तव्य—'वह्निनाऽनुड्डीयमानत्वम्' अर्थात् जो पारद अग्नि पर सस्कार करने पर भी उडता नही है। इसका तात्पर्य यह होता है कि उसमें अग्निस्थायित्व प्रभाव आ जाता है और यह कार्य नियमनान्त संस्कारों से वन जाता है किन्तु हमारे अनुभव में यह पारद का स्थिरीकरण नही आया है। यह अवश्य होता है कि भलीभाति शास्त्रोक्त विधि से स्वेदनादि नियमनान्त सस्कार किये जाते हैं तो पारद में अग्निसह्य भावना का निर्माण होता है किन्तु स्थायित्व नहीं। स्थायित्व के लिये स्थायी द्रव्य अभ्रकसत्त्वादि की जारणा आवश्यक है। गन्धकजारणा से पारद में अनुपम गुणाधान और अचिन्त्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और साथ ही उसमें विभिन्न धातुओं को

जारण करने की शक्ति भी उत्पन्न होती है किन्तु अस्थायित्व आ सकता है, यह सम्भव नहीं प्रतीत होता ॥ १३८ ॥

अथ यदि स्वेदनादिसंस्कारान् कर्तुमसमर्थ', तं प्रति सुगमरसशोधनोपाया अप्युक्ताः सन्ति। ते यथा–तत्र पारदग्रहणे तत्परीक्षामाहुः। यथा—

अन्तःसुनीलो वहिरुज्ज्वलो यो मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाशः।
योज्योऽथ धूम्रः परिपाण्डुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धयै ॥ इति।

अथेत्यादि। अथेत्यनन्तरम्। यदि स्वेदनमर्दनमूर्च्छनादिसस्कारान्–कर्माणि कर्तुमसमर्थश्चेत तर्हि तं पुरुष प्रति सुगमा' पारदस्य शोधनोपाया.। अपीति निश्चयेनान्य उक्ता' सन्ति। तत्रादौ संस्कारार्ह' पारद कीदृग्विधो ग्राह्यस्तत्परीचामाह। अन्त इत्यादि। अन्त'–मध्ये सुनील सष्ठुप्रकारेण नीलवर्णो यथा भवेत्तथा। यः पारदो वहि –वहिर्भागत' प्रत्यक्षत उज्ज्वल' स्वच्छ' पुन. कथम्भूतो मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाशः–माध्याह्निकरविविम्वसमसुधवलप्रखरप्रकाशो गस्य सः, कथं मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाश इति विशेपणं पारदस्येत्यत आह–'उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वर ।' इति आदित्यहृदयोवत्यनुसारं महेश्वररूपानुरूपमेवास्य वहिराकृतिभासा ॥ प्रोक्त च तद्रूपविपये—'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारमि'त्यादि। अन्यत्रापि–'ध्यायेन्नित्य महेशं रजतगिरिनिभ चारुचन्द्रावतंस, रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गमि'त्यादि। रसकर्मसिद्धयै–पारदकर्मसाधनाय ग्राह्य इत्यर्थः। अथ धूम्रः–कृष्णलोहितवर्ण। 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमर'। परिपाण्डुरः परित' समन्तात्पाण्डुरवर्णः पीतसंवलितशुक्लवर्ण इत्यर्थ.। एवं भूतोऽपि योज्य' किन्तु चित्र –कर्चुरो न योज्य'। 'चित्र किर्मीरकल्माषशवलैताश्च कर्बुरे' इत्यमर'। विष्णुशिवरूपात्मक एव पारदः श्रेष्ठो मध्ये विष्णुरूपो वहि. शिवरूपः। कथं पारदे तद्रूपसपत्तिरेतेन ज्ञायते किञ्च कारणानुरूपतयैव कार्योत्पत्तिः। शिवो विष्णुभक्तस्तन्मध्ये यथा विष्णुरूपासक्तिस्तथैव तज्जनितपारदेऽपीति स्पष्टमन्यत् ॥ १३९ ॥

यदि पूर्वोक्त स्वेदन, मर्दन आदि सस्कारों द्वारा सस्कृत पारद को तैयार करने में कोई व्यक्ति किसी कारणवश असमर्थ हो और वह इन सवको न करते हुए भी पारद का व्यवहार करना चाहता हो और साथ ही उसके द्वारा सर्वत्र सफलता भी प्राप्त करना चाहता हो, जैसे कि स्वेदनादि से सस्कृत पारद से प्राप्त होती है ? उसके लिये भी रसशास्त्रों में सुगम और स्वल्प परिश्रम साध्य उपायों का उल्लेख मिलता है, साथ ही उन पर किये हुए अनुभवपूर्ण सफल प्रयोग भी उपलब्ध हैं। उनका यहाँ आगे भली प्रकार से उल्लेख किया जाता है। उन सस्कारों के द्वारा जब पारद को सस्कृत किया जाना है तव पारद कैसा होना चाहिए जिस पर कि सस्कार करने हैं ? उसकी भी परीक्षा वताई है। जैसे कि—

सस्कार के लिए उपयुक्त पारद की परीक्षा—पारद के अन्दर में नीलवर्ण की आभा, छटा और परिच्छाया स्पष्टत' परिलक्षित हो, जिससे पारद में एक प्रकार की प्रतिविम्बग्राहिता शक्ति प्रगट होती है वाहर से उज्ज्वल, निर्मल और सफेद तथा दुपहर के सूर्य के समान भास्कर और तेजस्वी एव च नील लोहित वर्ण और पीतमिश्रित शुक्लवर्ण पारद उत्तम होता है, किन्तु चित्र विचित्र वर्णयुक्त पारद का सस्कारार्थ ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है ॥ १३९ ॥

शोधनं यथा—

राजीरसोनमूषायां रसं क्षिप्त्वा विवन्धयेत्।
वस्त्रेण दोलिकायन्त्रे स्वेदयेत्काञ्जिकैस्त्र्यहम् ॥ १४० ॥

दिनैकं मर्दयेत्पश्चात् कुमारीसंभवैर्द्रवैः ।
तथा चित्रकजैः क्वाथैर्मर्दयेदेकवासरम् ॥ १४१ ॥
काकमाचीरसैस्तद्वद्दिनमेकं तु मर्दयेत् ।
त्रिफलायास्ततः क्वाथे रसो मर्द्यः प्रयत्नतः ॥ १४२ ॥
ततस्तेभ्यः पृथक् कुर्यात् सूतं प्रक्षाल्य काञ्जिकैः ।
ततः क्षिप्त्वा रसं खल्वे रसादर्ध च सैन्धवम् ॥ १४३ ॥
मर्दयेन्निम्बुकद्रावैर्दिनमेकमनारतम् ।
ततो राजी रसोनश्च मुख्यश्च नवसागरः ॥ १४४ ॥
एतै रससमैस्तद्वत् सूतो मर्द्यस्तुषाम्बुना ।
ततः संशोष्य चक्राभं कृत्वा लिप्त्वा च हिङ्गुना ॥ १४५ ॥
द्विस्थालीसंपुटे धृत्वा पूरयेल्लवणेन च ।
अधःस्थाल्यां ततो मुद्रां दद्याद् दृढतरां बुधः ॥ १४६ ॥
विशोष्याग्निं विधायाधो निषिञ्चेदम्बु चोपरि ।
दद्यात्ततस्तु तीव्राग्निं तदधः प्रहरत्रयम् ॥ १४७ ॥
एवं निपत्य यात्यूर्ध्वं रसो दोषविवर्जितः ।
अथोर्ध्वपिठरीमध्ये लग्नो ग्राह्यो रसोत्तमः ॥ १४८ ॥

एवं रसे गृहीते पुनस्तोलिते हीने सति पुनस्तद्यन्त्रं संमुद्य शेषस्योर्ध्वपातनं कृत्वा रसो ग्राह्य इति गुरुसंप्रदायः ।

राजीत्यादि । राजी, रसोनं-लशुनेति प्रसिद्धम्, तयोर्द्वयोर्मूषां विनिर्माय, तदुक्तं मूषालक्षणं रसेन्द्रचूडामणौ यथा—'मुष्णाति दोषान् मूषेमान् सा मूषेति निगद्यते ।' इति । तस्यां रसं क्षिप्त्वा वस्त्रेण-चतुर्गुणेन वाससा विबन्धयेत् । ततो दोलिकायन्त्रे-हिन्दोलिकाख्ये यन्त्रे । दोलायन्त्रलक्षणं प्राक् चतुश्चत्वारिंशत्तमश्लोकटीकायामुक्तम् । काञ्जिकैस्त्र्यहं-त्रिदिनं यावत्स्वेदयेदिति । पश्चात्कुमारीसंभवैर्द्रवैः-घृतकुमारिकामध्यभागरसैस्तथा-तेनैव प्रकारेण चित्रकजैः-चित्रकमूलस्वरसैः क्वाथैर्वा तद्वत्-तेनैव विधिना पुनः काकमाचीरसैस्ततस्त्रिफलायाः क्वाथैः प्रयत्नतः-सावधानतया पूर्वोक्तद्रव्यैः क्रमशः एकैकदिनं यावत् रसः-पारदः खल्वे दत्त्वा मर्दनीयः । ततः-काञ्जिकैस्तं सूतं प्रक्षाल्य तेभ्यः-पूर्वोक्तभेषजस्वरसादिमर्दनेन जायमानमलेभ्यः पृथक् कुर्यात्स्वच्छं विदध्यादित्यर्थः । ततस्तं रसं खल्वे-लोहमये मसृणप्रस्तरनिर्मिते वा क्षिप्त्वा रसात्-पारदात्, अर्धम्-अर्धभागात्मकं सैन्धवलवणं दत्त्वा । दिनमेकमनारतं-अविरतमहर्निशमित्यर्थः, मर्दयेत् । ततस्तदनन्तरम्, राजी, रसोनः-रसेभ्यः षड्भ्य ऊनो रसो यस्मिन् स तथोक्तः । मुख्यः-प्रधानत्वेन गृहीतो नवसागराख्यः क्षारविशेषः । एतैस्त्रिभिर्द्रव्यैः, रससमैः पारदसमानभागकैः सह सूतस्तद्वत्-पूर्वोक्तविधिना तुषाम्बुना-काञ्जिकेन त्रिदिनं यावत्क्रमशो मर्दनीयः । ततः पिण्डीभूते सति चक्राभं-चक्रिकाकारं कृत्वा तदुपरि हिङ्गुना लेपं विधाय संशोष्य च द्विस्थालीसंपुटके-शरावद्वयपुटे धृत्वा तं सैन्धवलवणेन चतुरस्रं पूरयेदाच्छादयेदित्यर्थः । ततो बुधो द्वयोर्हण्डिकयोर्मुखं मेलयित्वेति शेषः । दृढतराम्-अतिशयेन प्रगाढां मुद्रां दद्यात् । मुद्रालक्षणं तन्त्रान्तरे यथा—'लोहकिट्टं तुषं दग्धं शुक्तिचूर्णं च कर्करा ।

एतानि समभागानि तावद्भागेन मृत्तिका ॥ कर्पटेन समायुक्ता सा हि वज्रोपमा भवेत्। दग्धतुषस्यैकभागो मृद्भागत्रयमेव च ॥ कर्पटं शणसयुक्तं वज्रमृत्स्नेति योजयेत्। इष्टिका चूर्णभागैकं समभागा तु मृत्तिका ॥ मूषाबन्धः प्रकर्तव्यो धमनाद्वज्रता व्रजेत्। भागैकं लोहकिट्टस्य तुषदग्धद्वयं तथा ॥ मृद्भागत्रयसयुक्तं किञ्चित् कुप्य प्रदापयेत्। एकत्र कुट्टयेत्सर्वं मृत्तिका वज्रवद् भवेत्।' इत्यनेकप्रकाराणि मुद्रालक्षणानि भवन्ति। विशोष्य जातशुष्कामिति ज्ञात्वा चुल्ल्युपरि निदध्यात्। अधःस्थाल्या-पारद-गर्भनिम्नहण्डिकायामधोऽग्निं दत्त्वा उपरितनहण्डिकोर्ध्वपिन्दिकाया मृदालवालं च रचयित्वा तन्मध्ये अम्बु-जलं निषिञ्चेत्-तदालवालं जलेनापूरयेदित्यर्थः। ततस्तु तदधः प्रहरत्रयं तीव्राग्नि-तीव्राग्निं दद्यात्। एवम् अनया रीत्या रसो निपत्य-निर्गत्य दोषविवर्जितः-नागवङ्गादिदोषरहितः सन् ऊर्ध्वं-यन्त्रस्योर्ध्वहण्डिकाया जलसेचनेन शीतलत्वाद्याति लगति। अथ स्वाङ्गशीतं ज्ञात्वा ऊर्ध्वपिठरीमध्ये-उपरिहण्डिकाया लग्नो रसोत्तमो ग्राह्यः पुनश्चैवं पारदोपलब्धे तोलिते सति मानापेक्षया हीने सति पुनस्तद्यन्त्र संरुध्यावशिष्टद्रव्यभागेभ्य ऊर्ध्वपातनविधिना रसो ग्राह्यः। इति गुरुपरम्परेति भावः ॥ १४०-१४८ ॥

राई और लहसुन दोनों को भलीभाँति पीसकर मूषा बनाने की विधि से मूषा तयार करना और पारे को उसमें रखकर वस्त्र में मूषासहित पारद को बाँधकर काजी के साथ तीन दिन दोलायन्त्र की विधि से स्वेदन करना। फिर ग्वारपाठा, चित्रकमूल, काकमाची (मकोय) और त्रिफला इनके प्रत्येक के स्वरस अथवा क्वाथ से १-१ दिन मर्दन कर उष्णकाजी से धोकर पारे को खरल में डाले और उससे आधा सैन्धव नमक मिलाकर निम्बू के रस से एक दिन अविरत (बिना विश्राम) किये मर्दन करना चाहिए। फिर राई, लहसुन और नौसादर तीनों को पारद के समान भाग लेकर पूर्वोक्त विधि से तीन दिन काजी के साथ क्रमश मर्दन करके चकतियाँ बनाकर रखे, सूखने पर चकतियों पर हींग को भलीभाँति लेप दे अर्थात् हींग को पानी में घोटकर गाढा गाढा लेप बनाकर सभी चकतियों पर चोतरफे चढा दें। जब लेप सूख जावे तब उन चकतियों को दो स्थाली (सराव अथवा हाण्डी) के सपुट में रखकर बारीक पीसे हुए सैन्धवनमक के चूर्ण से नीचे के सराव अथवा हाण्डी को गले तक भर दे फिर दोनों सराव अथवा हाण्डी के मुखों को मिलाकर मजबूत मुद्राकर दे अर्थात् सन्धिबन्ध करके सुखा ले। भली प्रकार सूखने पर यन्त्र को चूल्हे पर रखकर नीचे अग्नि दे और ऊपर की हाण्डी पर पानी का गीला कपडा फिराता रहे अथवा गड्ढा बनाकर पानी भर दे। ऊपर की हाण्डी का पेन्दा ठण्डा रखना चाहिए क्योंकि ठण्डक पाकर पारद वहाँ चिपक जाता है। इस प्रकार से तीन प्रहर तक तीव्राग्नि देने से पारद का ऊर्ध्वपातन हो जाता है। जितना पारद ग्रहण किया था उतना ज्यों का त्यों प्राप्त हो गया है या नहीं? यह तोल कर देख लेना चाहिए, यदि कम होता है तो सपुट में अवशेष रहे द्रव्य को पुनरपि सपुटित करके ऊर्ध्वपातन कर ग्रहण करना चाहिए।

वक्तव्य—'तीव्राग्निं तदध प्रहरत्रयम्' यह कालमर्यादा द्रव्यमान की अपेक्षा रखती है। अर्थात् तीन प्रहर में केवल २० तोले पारद होगा और एक समान तीव्राग्नि दी जावेगी तो ही वह उडकर पूरा का पूरा ऊपर की हाण्डी के पेन्दे में लग सकेगा। पारद के उत्थान में अन्य द्रव्य इतने अवरोधक नहीं हैं जितना हींग का लेप है। हींग के लेप की विशेषता ही यह है कि वह पारद को अग्नि पर कुछ रुकने की शक्ति प्रदान करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जितना पारद हो और जैसी अग्नि की मात्रा हो, उसी पर समय की मर्यादा समझनी चाहिए ॥

अथान्यत्रापि—

> एतावतस्तु संस्कारान् सूतस्य कर्तुमक्षमैः।
> तन्मुख्यान् कियतः कृत्वा ग्राह्यो रोगापनुत्तये ॥ १४९ ॥

एतावत इत्यादि। सूतस्य-पारदस्य, एतावत.-एतत्सख्यापरिमितान्, सस्कारान्-कर्माणि कर्तुमक्षमैः-असमर्थैर्वा। तन्मुख्यान् तेषु प्राधानिकान्, कियतः कतिसख्याकान् संस्कारान् कृत्वा रोगापनुत्तये-सर्वरोगपरिहाराय, ग्राह्यो ग्रहीतव्यः, रस इति शेष. ॥१४९॥

पारद के जितने सस्कार बताये हे उन सबको वैद्य न कर सके तो उनमें से कुछ प्रधानभूत सस्कारों को करके ही रोगनाशार्थ पारे को लेकर उसका उपयोग करे। तात्पर्य यह है कि असस्कारित नही लेना चाहिए।

वक्तव्य—रस-साधकों ने अपने अनुभव में पारद-शुद्धि की कठिनाइयें और उपयोगिताएँ दोनों की महानताओं को देखा है। चिकित्सा-क्षेत्र में जब से पारद का उपयोग किया गया है तब से उसकी विशेषता की ख्याति हो गई है। पारद के अभाव में चिकित्सा क्षेत्र मुर्दा हो जाता है। पारद का चिकित्स क्षेत्रा से अन्वय-व्यतिरेक का सा सम्बन्ध है। ऐसी दशा में चिकित्सक एकमात्र पारद पर अवलम्बित है। रससाधकों ने पारद पर अनेकों अनुभव और अनुसन्धान किये हैं उन पर से वे इस परिणाम पर पहुचे है कि पारद को ग्रहण करना जितना आवश्यक है उतना ही शुद्ध और सस्कृत करना भी आवश्यक है अत. जो अधिक सस्कारों के करने में असमर्थ है वह कुछ प्रधानभूत सस्कार करके ही पारद का उपयोग करें। यही हेतु है कि ग्रन्थकार स्वेदनादि आठ सस्कारों को क्रमश बताने के पश्चात् भी अब विभिन्न तन्त्रकारों के मतानुसार शोधन को बताने लगे हैं। ग्रन्थकार का प्रधान उद्देश्य यह है कि पारद की शुद्धि की जावे। शोधन के लिए पहले जितने सस्कार कहे हैं वे किसी को कठिन हो जाते हों तो अन्य प्रधानभूत सस्कार अपने अनुभव के यहाँ दिये गये हैं। ऐसा करना न तो पुनरुक्ति दोष है, न क्रमभग है और न विषयान्तर अथवा अनुपयोगी विस्तार ही है। अपितु साधक और चिकित्सक के लिए अनेक शोधनमार्गों का ज्ञान है जिनके सहारे से कही भी अनुत्साहित और किंकर्तव्यविमूढ होने की परिस्थिति उत्पन्न नही होती है॥ १४९ ॥

अब, पारद के प्रधान और मुख्य उन सस्कारो को तन्त्रान्तरों से सगृहीत कर बताया जाता है जिनके करने से पारद की शुद्धि हो जाती है और वह औषधोपयोगी एवं कार्यकारी बन जाता है। यही आगे देखें—

अथ रसराजलक्ष्म्याम्—

> दग्धोर्णागृहधूमसाररजनीरक्तेष्टिकाकाञ्जिकैः
> पिष्ट्वा व्योषकुमारिकाऽनलवरानिम्बुद्रवैर्वासरम्।
> व्योषाद्यम्बुनि दोलया रचितया स्विन्नं सुताम्राङ्घ्रियुक्
> पिष्टं भाण्डतलाज्जलाश्रयगतं सूतं समभ्युद्धरेत्॥ १५० ॥

दग्धोर्णेत्यादि। दग्धोर्णा-मेषरोमभस्म, गृहधूमसारः-गृहम् आगारं तस्य या गोपानस्यस्तत्र भवो यो धूम स चासौ सारश्चेति। रजनी-हरिद्रा, रक्तेष्टिका-लोहितवर्णा पक्वेष्टिकाचूर्णम्, एषा द्रव्याणां पारदात् पृथक् षोडशांशभागं गृहीत्वेति शेषः। काञ्जिकै.-धान्याम्लै. सह वासरं-दिन यावत्पिष्ट्वा-मर्दयित्वा। तदनु च व्योष-त्रिकटु, कुमारिका-घृतकुमारिकान्तर्भागो ग्राह्यः। अनलश्चित्रक., वरा-त्रिफला, निम्बुद्रवं-निम्बुरसः पूर्ववत्-

अत्रापि प्रत्येकेषां द्रव्याणां पारदात्पोडशांशभागं, निम्बुरसं तु यथेच्छं ग्राह्यमिति योज्यम्। एभिर्वासरं दिनैकं च पिष्ट्वा। रसपद्धतिकारस्तु मर्दनमत्र दिनत्रयमपेक्षते यथा—'कल्याणेऽह्नि सुशिक्षितेन भिषजा त्वल्ले विशालेतरे, सुस्निग्धोपलजन्मनि त्रिदिवसं जम्भाम्भसा सम्भृते। ऊर्णाभस्म-निशानिशान्तवलभीधूमेष्टिकापांसुभिः, प्रत्येकं रसपोडशांशमिलितैर्मन्दं विमर्द्यो रसः॥' इति। क्वचित् 'वासरम्' इत्यत्र 'वा रसम्' इति पाठभेदः। ततो व्योषाद्यम्बुनि-त्रिकटु आदि शब्देन उपर्युक्तकुमारीचित्रकादीनां ग्रहणम्। अत्र या शुष्कौषध्यस्तासां क्वाथमन्येषां च स्वरसं तस्मिन् अम्बुनि रचितया दोलया-हिन्दोलिकाख्येन यन्त्रेण दिनं यावत् स्विन्न-स्वेदितम्, पुनश्च सुताम्राद्व्रियुक्-सूताच्चतुर्थांशं शुद्धताम्ररजोयुक्तम्, पिण्डीभूतं यावत्, पिष्ट-पेषितं कुर्यात्, ऊर्ध्वपातनविधिना पातयेत्। भाण्डतलात्-अधस्तनपात्रतलभागादग्नितापेन जलाश्रयगतम्-उपरिष्ठजलपात्रलग्नं सूतं समभ्युद्धरेत्-आददेत। विषयस्यास्य स्पष्टीकरणं ग्रन्थकारेण प्रागेवाकारि—'भागास्त्रयो रसस्यार्कचूर्णस्यैकोऽथ निम्बुकैः।' इत्यादि। ग्रन्थान्तरे त्वत्र वैशिष्ट्यमवलोक्यते यथा—'चिञ्चापट्वग्रटुटुग्रकाञ्जिकवरास्विन्नास्त्रिधस्त ततः, कन्याव्योषवराऽनलाकपयसा सम्मूर्च्छितो वासरम्। सार्धांशाभ्रविस्त्रिरूर्ध्वपतनैरुत्पन्नशुद्धिः स्वराड्, योज्यः सर्वरसेषु शुद्धमतिभिः श्रीपारदः पारदः॥' इति॥ १५०॥

ऊनकी भस्म, घरका धुँवाँ, हल्दी और लाल ईंट का चूरा प्रत्येक पारे से पोडशांश मिलाकर काञ्जी के साथ तथा त्रिकटु-(सोंठ, मिरच और पीपल) घीगवार, चित्रकमूल की छाल और त्रिफला-(हरड, बहेडा और आमला) का चूर्ण मिलाकर निम्बू के रस के साथ प्रत्येक औषध के चूर्ण से क्रमशः मर्दन करके त्रिकटु, घीगवार, चित्रकमूल की छाल और त्रिफला इनके स्वरस अथवा कषाय से प्रति वार दोलायन्त्र में स्वेदन करे। इसके पश्चात् शुद्ध ताम्रचूर्ण (भस्म) पारद से चतुर्थांश मिलाकर भली प्रकार मर्दन करे और ऊर्ध्वपातन यन्त्र से पारा निकाल ले। यह पारद सर्वथा शुद्ध है इसका सर्वत्र प्रयोग किया जा सकता है।

वक्तव्य—श्लोक से यह स्पष्ट नहीं होता है कि ऊन की भस्म आदि प्रत्येक द्रव्य से भिन्न भिन्न क्रमशः मर्दन करना चाहिए। किन्तु ऊन की भस्म से, लाल ईंट सहित काञ्जी से एक दिन और त्रिकटु से, त्रिफला सहित निम्बू रस से एक दिन मर्दन करना सिद्ध होता है। अर्थात् केवल दो दिन मर्दन का विधान आता है। तीसरे दिन स्वेदन देकर और ताम्रभस्म से मर्दित कर ऊर्ध्वपातन यन्त्र से पारद ग्रहण कर लेना स्पष्ट होता है किन्तु हम प्रत्येक द्रव्य से मर्दन करते हैं और प्रतिमर्दन के पश्चात् स्वेदन देते हैं अर्थात् हमारे मत से आठ वार मर्दन और आठ वार ही स्वेदन होता है और इस प्रकार पारद में विशेष गुणाधान होता है उसके पश्चात् ताम्र भस्म से मर्दित कर ऊर्ध्वपातन से उठालेते हैं॥ १५०॥

तत्रान्यत्प्रकारमाह—

लवणसलिलदोलायन्त्रमध्ये दिनैकं
भुजगनयनवन्ध्याभृङ्गकल्कान्तरस्थः।
तदनु दहनतोये काञ्जिके स्वेदितः स्यात्
सपटुमरिचशिग्रूण्युत्तमः श्रीरसेन्द्रः॥ १५१॥
एतावदप्यशक्तः कर्तुं सूतस्य शोधनं मनुजः।
स्वेदनमर्दनमूर्ध्वं पातनमेतत्त्रयं कुर्यात्॥ १५२॥

लवणेत्यादि । भुजगनयनः-सर्पाक्षी, वन्ध्या-वन्ध्याकर्कोटकी, भृङ्गः-भृङ्गराजः, एभिः कृतः कल्कस्तदनन्तरे स्थितः पारदः, लवणं-सैन्धवम्, सलिलं-जल तद्युक्तदोलायन्त्रं तस्मिन् दिनैकं प्रहराष्टक यावत् स्वेदयेत् । तदनु-तत्पश्चात् सपटुमरिचशिग्रुणि-पटु-सैन्धवम्, मरिचं, शिग्रु-शोभाञ्जनम्, एषा कृतकल्काना पूर्वोक्तद्रव्याणा मध्ये पारदं विनिक्षिप्य दहनतोये-चित्रकमूलकषाययुक्ते दोलायन्त्रे स्वेदित. पा ितः स्यादिनैक यावत् । पुनश्च तथैव काञ्जिकसहितदोलायन्त्रे स्वेदितः श्रीरसेन्द्रः-सूतः, 'रसोपरसराजत्वाद्रसेन्द्र इति कीर्तित.' इति रसरत्नसमुच्चये । रसादिसर्वकर्मणि योग्यो भवतीति शेष. । मनुजः सूतस्य एतावदपि-स्वेदनाद्यनुवासनान्तमपि शोधनं कर्म कर्तुमशक्तश्चेत्तर्हि एतत्रयमेव स्वेदनमर्दनोर्ध्वपातनाख्य सस्कारं कुर्यात् ॥ १५१-१५२ ॥

शोधन का अन्य प्रकार—सर्पाक्षा, बाँझककोडा और भृङ्गराज इनके षोडशाश कल्क में पारद को रखकर एक दिन तक सेन्धा नमक मिले हुये जलयुक्त दोलायन्त्र में स्वेदन करे। इसके बाद पारद से षोडशाश सेन्धा नमक, काली मिरच और सहजना इन तीनों का कल्क बनाकर उसमें पारद को रखकर चित्रमूलक के कषाययुक्त दोलायन्त्र में एक दिन स्वेदन करे, फिर उसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों द्रव्यों के कल्क में रखकर काञ्जीयुक्त दोलायन्त्र में एक दिन स्वेदन करे। ऐसे तीन वार स्वेदन करने से पारद रसादि कर्मों में उपयोग करने योग्य हो जाता है। अथवा जो व्यक्ति स्वेदन-मर्दन से अनुवासनान्त नव सस्कार करने में असमर्थ है वह केवल स्वेदन, मर्दन और ऊर्ध्वपातन तीन ही सस्कार कर ले तो भी पारद शुद्ध हो जाता है।

वक्तव्य—'कल्कान्तरस्थ' पारद को कल्क में रखने के साथ ही पारदयुक्त कल्क को भोजपत्र अथवा एरण्डपत्र आदि में रखकर एक पोटली बनानी चाहिए और उस पोटली को मोटे कपडे में बाँधना चाहिए। अन्यथा पारद के उड जाने की आशङ्का है। यह सब दोलायन्त्र की विधि में स्पष्ट किया गया है अत यथास्थान देखें॥ १५१-१५२ ॥

यह स्मरण रहे कि पारद के स्वेदनादि आठ सस्कार सर्वदा आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु किसी कारणवश, चिकित्सक उनको नहीं कर सकता है तो कामचलाऊ ये सक्षिप्त और स्वल्पतम सस्कार हैं। जो सामान्य शुद्धि की कोटि में आते हैं।

रसरत्नाकरे शोधनं यथा—

अथातः संप्रवक्ष्यामि दोषाष्टकनिवारणम् ।
इष्टिकारजनीचूर्णैः षोडशांशै रसस्य तु ॥ १५३ ॥
मर्दयेत्तप्तखल्वे हि जम्बीरोत्थद्रवैर्दिनम् ।
खल्वं लोहमयं कुर्यात् पाषाणोत्थमथापि वा ॥ १५४ ॥
काञ्जिकैः क्षालयेत्सूतं नागदोषं विमुञ्चति ।
विशालाङ्कोलचूर्णेन वङ्गदोषं विनाशयेत् ॥ १५५ ॥
राजवृक्षो मलं हन्ति चित्रको वह्निदूषणम् ।
चाञ्चल्यं कृष्णधत्तूरस्त्रिफला विषनाशिनी ॥ १५६ ॥
कटुत्रयं गिरिं हन्ति ह्यसह्याग्निं त्रिकण्टकः ।
प्रतिदोषं कलांशेन तत्र चूर्णं सकन्यकम् ॥ १५७ ॥
सुवस्त्रगालितं खल्वे सूतं क्षिप्त्वा यथाक्रमम् ।
प्रत्येकं प्रत्यहं यत्नात् सप्तरात्रं विमर्दयेत् ॥ १५८ ॥

उद्धृत्य चारनालेन मृद्भाण्डे क्षालयेत्सुधीः ।
सर्वदोषविनिर्मुक्तः सप्तकञ्चुकवर्जितः ॥ १५९ ॥
जायते शुद्धसूतोऽयं योजयेद्रसकर्मणि ॥ १५९३ ॥

सम्प्रति रसरत्नाकरोक्तशोधनविधिमुद्दिश्याह—अथेत्यादि। अतः परं सूतस्य दोषाष्टकनिवारणं सम्प्रवक्ष्यामि। दोषाष्टकं यथाऽत्रैव प्राक् षोडशात्मके पद्ये विनिर्दिष्टम्। रसस्य-पारदस्य षोडशांशे-पारदमानात्षोडशभागमिते, इष्टिका, रजनी-हरिद्रा, द्वयोश्चूर्णैः सहिते पारदं तप्तखल्वे दत्वा, तप्तखल्वलक्षणं त्वग्रे वक्ष्यते। जम्बीरोत्थद्रवैः-निम्बुरसैः सह दिनमेकं यावन्मर्दयेत्। 'स्युर्जम्बीरे दन्तशठजम्भजम्भीरजम्भला.।' इत्यमरः। खल्वं लोहमय-कृष्णलोहघटितं पाषाणोत्थ-मसृणप्रस्तरनिर्मितं वा कुर्यात् आर्द्रेत इत्यर्थः। सूतं काञ्जिके-उष्णकाञ्जिके क्षालयेत्-पावयेत्तेन सूतो नागदोषं विमुञ्चति। विशाला-इन्द्रवारुणी, अङ्कोलः-ख्यातः, अनयोश्चूर्णेन-सूक्ष्मरजसा वङ्गदोषं विनाशयेत्। क्वचित् 'विशोधयेत्' इत्यपि पाठः। राजवृक्ष-आरग्वधस्य फलमज्जा मलम्, चित्रकः-चित्रकमूलचूर्णं वह्निदूषणम्-अग्निदोषम्, कृष्णधत्तूरश्चाञ्चल्यदोषम्, त्रिफला विषदोषम्, कटुत्रयं गिरिदोषम्, त्रिकण्टकः-गोक्षुरकश्च असह्याग्निं नाशयतीति सर्वत्र योज्यम्। तत्र पारदे दोषं दोषं प्रतीति प्रतिदोषं कलांशेन-षोडशांशेन सुवस्त्रगालितं-सूक्ष्मवाससा पावितं पूर्वोक्तं द्रव्यचूर्णं कथंभूतं सकन्यकं-घृतकुमार्यन्तर्भागमिश्रितं प्रत्येकं-प्रत्येकद्रव्यचूर्णं यथाक्रम-क्रमनतिक्रम्य खल्वे क्षिप्त्वा प्रत्यहं-प्रतिदिनं यत्नात्-सावधानतया सप्तरात्रम्-अष्टदिनं यावद्विमर्दयेत्सूतम्, अत्र सप्तभी रात्रिभिरष्टदिनं भवतीति ज्ञेयम्। चकारोऽत्र पश्चादर्थे। उद्धृत्य-खल्वतो निष्कास्य, आरनालेन-उष्णकाञ्जिकेन सुधीः-रसवैद्यो मृद्भाण्डे-मृन्मयपात्रे क्षालयेत्। अत्र प्रतिदोषमर्दनानन्तरम् उष्णकाञ्जिकेन क्षालनं चेत्तर्हि सर्वथोत्तमः। एवं विधिना शोधितः सूतः सर्वदोषविनिर्मुक्तः-नागवङ्गाद्यष्टदोषरहितः सप्तकञ्चुकवर्जितश्च जायते। सप्तकञ्चुका रसरत्नसमुच्चये यथा-'पर्पटी पाटली भेदी द्रावी मदकरी तथा। अन्धकारी तथा ध्वाङ्क्षी विज्ञेयाः सप्त कञ्चुकाः॥' इति। अयमेव शुद्धसूतः सर्वत्र रसकर्मणि योजयेदिति। स्वेदनाद्यष्टसंस्कारैर्विनैव पारदशोधनोपायमाह—यथा-चतुःप्रस्थे पारदे गन्धकशोरकयोरतितीक्ष्णाम्लम् 'तेजाब' इतिसंज्ञकं पञ्च पञ्चतोलकं दत्वा दर्व्या चालयेदूर्ध्वगतं मलं भूयोभूयस्त्यजेदेवंविधिना, विनैव संस्कारैर्लघुनोपायेन विशुद्ध्यति पारदः किन्त्वत्र स्मरणीयं च पारदापेक्षया द्विगुणितं गन्धकाम्लं किंवा शोरकाम्लं चादेयम्। इति गुरुसम्प्रदायः॥ १५३-१५९३ ॥

पारे से सोलहवाँ भाग ईंट और हल्दी का चूर्ण मिलाकर तप्त खरल में जम्भीरी निम्बू के रस के साथ एक दिन मर्दन कर उष्ण काञ्जी से भली प्रकार धोने से पारद का नागदोष दूर होता है। यह भी स्मरण रहे कि खरल लोहे अथवा पत्थर का ही हो।

इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण गड़तुम्बा) और अङ्कोला का चूर्ण वङ्गदोष को, अमलतास का चूर्ण मलदोष को, चित्रकमूल की छाल का चूर्ण अग्निदोष को, काले धत्तूरे के बीजों का चूर्ण चाञ्चल्य दोष को, त्रिफला का चूर्ण विषदोष को, कटुत्रय (सोंठ, मरिच, पीपल) का चूर्ण गिरि-दोष को और गोखरू का चूर्ण असह्याग्नि दोष को दूर करता है। प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण पारे से सोलहवाँ हिस्सा होना चाहिए। प्रति दोष के अनुसार उस-उस द्रव्य का चूर्ण क्रमशः डालकर गुवारपाठे के गूदे के साथ एक-एक दिन मर्दन कर मिट्टी के पात्र में उष्ण काञ्जी से धो डाले तो पारा

शुद्ध हो जाता है। उष्ण काञ्जी से धोने की क्रिया प्रत्येक मर्दन के पश्चात् करनी चाहिए। इस प्रकार करने से पारद शुद्ध हो जाता है और रसादि कर्मों में उपयोग में लिया जा सकता है।

वक्तव्य—स्वेदन, मर्दनादि संस्कारों के बिना भी पारद-शोधन किया जा सकता है। चार सेर पारद के लिए आठ सेर गन्धक का तेजाब (सल्फ्यूरिक एसिड) होना चाहिए। पाँच पाँच तोले तेजाब पारद में डालते जाना चाहिए और पारद को कलछी से चलाते जाना चाहिए। आधा तेजाब पारद में डालते हुए समाप्त हो जावे तब पारद को बारीक लोहे की चलनी में छान लें, ऊपर जो मैल मलयुक्त होगा वह चलनी में रुक जावेगा, उसके पश्चात् पारद में जो तेजाब है उसको अलग बर्तन में निकाल लें और पारद को मोटे कपडे से १०-१२ बार छानकर उसमें शेष बचे हुए तेजाब को फिर थोड़ा थोड़ा डालकर कलछी से चलाते जावें। तेजाब समाप्त होने पर उसको फिर पूर्ववत् लोहे की चलनी में छानकर मैल हटा दें फिर पारद को तेजाब से पृथक् करके मोटे कपडे से १०-१२ वार छान लें। इसके पश्चात् लोहे की कड़ाही में पारद को रखकर उसमें वह सब तेजाब डालकर कड़ाही को अग्नि पर रखकर मध्यमाग्नि से जारण करें। तेजाब जब थोड़ा शेष रहे तब कड़ाही को नीचे उतार कर तेजाब को अलग निकाल कर, लोहे अथवा पत्थर के बर्तन में उष्ण काञ्जी से धो डालें, उसके पश्चात् दो तीन पट मजबूत और मोटे कपडे से १० १२ बार पारद को भली भाँति छान लें। इस प्रकार करने से पारद के नाग-वङ्गादि दोष नष्ट हो जाते हैं और पारद शुद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार नेट्रिक अम्ल—जो शोरा और गन्धकाम्ल से बनाया जाता है। इसका दूसरा नाम शोरे का तेजाब भी होता है। इसी शोरकाम्ल (तेजाब) से भी पारद का शोधन किया जा सकता है। इसी प्रकार की विधि कुछ अन्तर से रसहृदय तन्त्र की हिन्दी-टीका में स्वामी कृष्णानन्दजी ने भी लिखी है ॥ १५३-१५९½ ॥

तप्तखल्वलक्षणम्—

अजशकृत्तुषाग्निं च खनयित्वा भुवं क्षिपेत्।
तस्योपरि स्थितः खल्वस्तप्तखल्वो ह्ययं भवेत् ॥ १६०½ ॥

संप्रति तप्तखल्वलक्षणं प्रविवक्षुराह—अजेत्यादि। अजाशकृत्-अजायाः शकृत् पुरीषम्, तुषाः-धान्यत्वचः, अग्निं चैतत्त्रयं भुवं खनयित्वा-गर्तं विधाय तत्र क्षिपेत्। तस्योपरि-साग्निभूगर्तोपरि स्थितोऽयं खल्व एव तप्तखल्वो भवेदिति। तप्तखल्वस्तु लोहमय एव भवति यथा रसकामधेनौ—'द्वादशाङ्गुलविस्तार खल्वो भवति वर्तुलः। चतुरङ्गुलनिम्नः स्यान्मर्दकोऽष्टाङ्गुलायतः ॥ लोहैर्निर्वर्तितो यस्तु तप्तखल्वः स उच्यते ॥' इति। रसार्णवेऽपि यथा—'लौहो नवाङ्गुलोच्चस्तु निम्नत्वे च षडङ्गुलः। मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्चैव तप्तखल्वोऽभिधीयते ॥' इति। अन्यत्रापि तप्तखल्वलक्षणं बहुविधं वर्णितं विद्यते तन्नात्र विस्तरभयाल्लिख्यते। इदानीं तस्य विधानं ग्रन्थान्तरेण प्रपञ्च्यते—'कृत्वा खल्वाकृतिं चुल्लीमङ्गारैः परिपूरिताम्। तस्यां निवेश्य तं खल्वं पार्श्वे भस्त्रिकया धमेत् ॥ तदन्तर्मर्दिता पिष्टिः क्षारैरम्लैश्च मर्दिता। प्रद्रवत्यतिवेगेन स्वेदिता नात्र संशयः ॥' इति। खल्वस्यापि त्रयो भेदा भवन्ति। यथा—'खल्वप्रमाणं तज्ज्ञेयं श्रेष्ठं स्याद्रसकर्मणि। खल्वयन्त्रं त्रिधा प्रोक्तं रसादिसुखमर्दने। वर्तुलं चार्धचन्द्रं च तप्तखल्वमिति स्मृतम् ॥' तप्तखल्वं तु प्रोक्तमेव। वर्तुलाख्यखल्वलक्षणं यथा—'द्वादशाङ्गुलविस्तारः खल्वोऽतिमसृणोपलः। चतुरङ्गुलनिम्नश्च मध्येऽतिमसृणीकृतः ॥ मर्दकश्चिपिटोऽधस्तात्सुग्राह्यश्च शिखोपरि। अयं तु वर्तुलः खल्वो मर्दनेऽतिसुखप्रदः ॥' इति। अर्धचन्द्राख्यखल्वलक्षणं च यथा रसरत्नसमुच्चये—'उत्सेधेन दशाङ्गुलः खलु कलातुल्याङ्गु-

ऽऽयामवान्, विस्तारेण दशाङ्गुलो सुनिमितैर्निम्नतथाऽधोऽङ्गुलैः, पाल्यां द्व्यङ्गुल विस्तृतश्च मसृणोऽतीवार्धचन्द्रोपमो, घर्षो द्वादशकाङ्गुलश्च कथितः खल्वोत्तमः सिद्धये ॥' इति। सर्वसामान्यखल्वस्तु अनेकविधो भवति। यथा रसार्णवे—'मृन्मये लोहपाषाणे ह्ययस्कान्तमयेऽथवा।' अन्यत्रापि—'पाषाणे स्फटिके वाऽथ।' इति। क्वचित् काचमयोऽपि गृहीतः। सर्वत्र शास्त्रे कान्तलोहमय एव खल्वो रसकर्मणि श्रेष्ठ इत्युक्तं यथा—'कृत कान्तायसे खल्वे भवेत्कोटिगुणो रसः।' इति। किन्तु सम्प्रति। विशेषतः पाषाणमय एव खल्वो व्यवहारे प्रचलति तदत्र तल्लक्षणं यथा—'खल्वयोग्या शिला नीला श्यामा स्निग्धा दृढा गुरुः। षोडशाङ्गुलकोत्सेधा नवाङ्गुलकविस्तरा। चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा घर्षिणी द्वादशाङ्गुला ॥' इति ॥ १६०½ ॥

भूमि खोदकर खल बराबर उसके ऊपर बैठ सके इस आकार का लम्बा गड्ढा बनाकर उसमें बकरी की मिंगनी, धान्यके तुष और अग्नि तीनों डालकर, उसके ऊपर पारद सहित लोहे का खरल रखे, यह तप्तखल कहलाता है।

वक्तव्य—तप्त खल्व के लक्षण और उसकी निर्माणविधि—खल के आकार के बराबर जमीन खोदकर चूल्हा बनाना चाहिये। उसके एक भाग में भस्त्रिका (धौंकनी) लगानी चाहिये। चूल्हे में करीषाग्नि भरकर उस पर पारदयुक्त लोहे का खल रखकर उसमें क्षार और अम्ल द्रव्यों की भावना देकर मर्दन करना चाहिये। अग्नि को भस्त्रिका से धौंकते रहना चाहिये। इस प्रकार तप्त खल्व में पारद का स्वेदन होता है ॥ १६०½ ॥

अथान्यन्मतम्—

> भूगर्तेऽजशकृत्तुषानलपुटे संस्थापिते लोहजे
> खल्वे जम्भजकाञ्जिकेन बलिना सार्धं दशांशेन सः।
> सम्मर्द्यः परिपात्य यन्त्रविधिना निष्कासितः सप्तधा
> शुद्धः पारदमर्दकैर्निगदितो वैद्यैरवद्येतरैः ॥ १६१½ ॥

भूगर्त इत्यादि। अजशकृत्तुषानलपुटे—अजस्य शकृत्पुरीषं, तुषाः—धान्यत्वचः अनलोऽग्निरेभिः सहिते भूगर्ते—खननविधिना निर्मितचुल्हिकायामिति। तदुपरि संस्थापिते लोहजे खल्वे तत्र दशांशेन—पारदापेक्षयाऽऽदशमभागपरिमितेन बलिना—गन्धकेन सार्धं स-सूतो जम्भजकाञ्जिकेन—निम्बुरसमिश्रितधान्याम्लकेन समर्द्य—सम्यङ्मर्दनं कृत्वा ततो यन्त्रविधिना—ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण सप्तधा—सप्तवारं परिपात्य—उपरिपातनं कृत्वा निष्कासितः सन् शुद्धः—सर्वदोषरहितो भवतीति पारदमर्दकैः—सूतकर्मकुशलैः, अवद्येतरैः—अत्युत्तमैः वैद्यैर्निगदितः। अत्र प्रत्येकोर्ध्वपातनावसरे प्रोगुक्तविधिना मर्दनं विधेयमिति भावः। अथवा दीपिकायन्त्रनिपातितोऽपि शुद्धो भवति। दीपिकायन्त्रलक्षणं रसकामधेनौ यथा—'कच्छपयन्त्रान्तर्गतमृन्मयपीठस्थदीपिकासंस्थः। यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायन्त्रम् ॥' इति। तन्त्रान्तरे तु विशेषः—'भाण्डकण्ठादधश्छिद्रे वेणुनालं विनिक्षिपेत्। कांस्यपात्रं द्वयं कृत्वा सपुटं जलगर्भितम् ॥ नलिकास्यं तत्र योज्य दृढं तच्चापि कारयेत्। युक्तद्रव्यैर्विनिक्षिप्तः पूर्वं तत्र घटे रसः ॥ अग्निना तापितो नालात्तोये तस्मिन् पतत्यधः। यावदुष्णं भवेत्सर्वं भाजनं तावदेव हि। जायते रससन्धानं दीपियन्त्रमिति स्मृतम् ॥' इति क्वचित् 'जम्भजकाञ्जिकेन' इत्यत्र 'जम्भलकाञ्जिकेन' क्वचित् 'दशांशेन' इत्यत्र 'रसांशेन' इति पाठभेदः ॥ १६१½ ॥

पारद शोधन का अन्य प्रकार—बकरी की मींगना, धान्य के तुष और अग्नि इन तीनों से भरे भूमि के गड्ढे पर लोहे का खरल रखकर उसमें पारा तथा उससे दसवां भाग शुद्ध गन्धक मिलाकर निम्बुरस मिली कांजी से घोंटकर (रुपये के आकार की चिपटी टिकिया बनाकर धूप में सुखा ले।) ऊर्ध्वपातनयन्त्र विधि से सात बार उड़ाकर पारद निकाल ले। प्रत्येक बार दशम भाग शुद्ध गन्धक मिलाकर निम्बूमिश्रित कांजी से मर्दन करके और टिकिया बनाकर सुखावे और ऊर्ध्वपातन करे तो पारद शुद्ध हो जाता है॥ १६१½ ॥

अथान्यन्मतम्—

श्रीखण्डं देवदारुं च काकतुण्डी जयाद्रवम् ॥ १६२ ॥
कर्कोटीमुसलीकन्याद्रवं दत्त्वा विमर्दयेत् ।
दिनैकं पातयेत्पात्रे तं शुद्धं विनियोजयेत् ॥ १६३ ॥

श्रीखण्डमित्यादि। श्रीखण्डं-श्वेतचन्दनम्, देवदारुं-देवकाष्ठम्, काकतुण्डी-काकनासा 'काकनासा तु काकाङ्गी काकतुण्डफला च सा।' इति निघण्टुः। केचित्तु 'काकजङ्घा' इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च गुञ्जा, रससंस्कारे सर्वत्र काकनासायाः काकजङ्घायाश्च व्यवहारो दृश्यते न तु गुञ्जाया इति वृद्धाः। अन्ये तु 'कौवाठोंठी' इति प्रसिद्धार्थपरित्यागे प्रमाणाभावात् तन्नेच्छन्ति। जया-जयन्ती, एषां स्वरसः क्वाथ वा ग्राह्यम्। 'जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका।' इत्यमरः। अथवा जयाख्या हरीतकी तस्याः स्वरसमित्येके। कर्कोटी-वन्ध्याकर्कोटकी, मुसली-तालमूलिका, कन्या-घृतकुमारी, एतेषां च द्रवं-स्वरसं कषायं वा दत्त्वा दिनैकं यावद्विमर्दयेत् ततः ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण पात्रे पातयेत्। एवं तं शुद्धपारदमिति ज्ञात्वा विनियोजयेत्कर्मस्विति शेषः॥ १६२–१६३ ॥

सफेद चन्दन, देवदारु, काकनासा, अरणी, बांझककोड़ा, मुसली और ग्वारपाठा इन सबका स्वरस अथवा कषाय डालकर एक दिन मर्दन कर ऊर्ध्वपातनयन्त्र से निकाला हुआ पारा शुद्ध होता है॥ १६२–१६३ ॥

अथान्यसिद्धमतम्—

कुमार्या च निशाचूर्णैर्दिनैकं मर्दयेद्रसम् ।
पातयेत्पातनायन्त्रे शुद्धो भवति पारदः ॥ १६४ ॥

कुमार्येत्यादि। रस कुमार्या-घृतकुमारीमध्यभागेन निशाचूर्णैः-हरिद्रारजोभिश्च दिनैकं यावन्मर्दयेत् ततः पातनायन्त्रे-ऊर्ध्वपातनाख्ये पातयेत्। एवं पारदः शुद्धो भवति॥१६४॥

ग्वारपाठा और हलदी के चूर्ण के साथ एक दिन घोटकर ऊर्ध्वपातन करने से पारा शुद्ध हो जाता है॥ १६४ ॥

अथान्यसिद्धमतम्—

एकेन लशुनेनापि शुद्धो भवति पारदः ।
पिष्टो लवणसंयुक्तो मासैकं तप्तखल्वके ॥ १६५ ॥
अथवा ग्राहयेत्सूतं दरदात् स निगद्यते ।
कञ्चुकैर्नागवङ्गाद्यैर्विरक्तो रसकर्मणि ॥ १६६ ॥
हिङ्गुलाकृष्टसूतस्तु जीर्णगन्धसमो गुणैः ।
निम्बपत्ररसैः पिष्ट्वा हिङ्गुलं याममात्रकम् ॥ १६७ ॥

जम्बीराणां द्रवैर्वाऽथ पात्यं पातनयन्त्रके।
तं सूतं योजयेत्पश्चात्सप्तकञ्चुकवर्जितम् ॥ १६८ ॥
इत्येवं शुद्धिराख्याता यथेष्टं तां च कारयेत् ॥ १६९ ॥

एकेनेत्यादि। लवणसंयुक्त–सैन्धवसहितः पारदो मासैकं यावत् तप्तखल्वके–पूर्वोक्ते। एकेन–केवलेन लशुनेनापि पिष्टश्चेच्छुद्धो भवति। अथवा दरदात्–हिङ्गुलात्सूतं ग्राहयेत्। एवं कृते सति स नागवङ्गाद्यैः सप्तकञ्चुकैर्दोषैर्विमुक्तो जायते। रसकर्मणि–पारदकार्ये च योग्यो भवतीति निगद्यते। यथोक्तं प्रागेव—'तुल्ये तु गन्धके जीर्णे शुद्धाच्छतगुणो रसः।' इत्यादि। हिङ्गुलं याममात्रकं–प्रहरं यावन्निम्बपत्ररसैः–कटुनिम्बपत्रस्वरसैः पिष्ट्वा, अथवा जम्बीराणां–निम्बूनां द्रवैः पिष्ट्वा। अथेत्यनन्तरम्। पातनयन्त्रके–ऊर्ध्वपातनयन्त्रे पात्यं पश्चात्सप्तकञ्चुकवर्जितं–पर्पटीपाटलीत्यादिदोषरहितमित्यत्र न तु पर्पटी–पाटलीत्यादि सप्तकञ्चुकरहितो जायते सूतः किन्तु कञ्चुकानां विकारकरभावानां प्रतिकारमात्रं भवतीत्येव ज्ञेयमन्यथा प्रागुक्त—'अष्टमांशोऽवशिष्यते' इत्यस्य न किञ्चित्प्रयोजनमिति ममाशयः। तं सूतं सर्वत्र रसकर्मणि योजयेत्। इत्येव पारदस्य शुद्धिराख्याता तां च यथेष्टं कारयेत् विशेषश्चात्र रसपद्धतौ यथा—'हिङ्गूलात्पृथुपारिभद्रकरसैर्वा जम्भवारा दिनं, पिष्टादूर्ध्वगपातयन्त्रविधिना निष्कासयेत्पारदम्। पश्चात्स्नुक्तिलतैलकाञ्जिकरसैर्लोहस्य पात्रेऽचिरात्किञ्चोच्चप्रचलाकिपित्तसलिलैः संस्कारितात्सप्तधा ॥' इति। दरदात् पारदाकृष्टिविधिस्तन्त्रान्तरे यथा—'स्थालिकोपरि विन्यस्य सम्यक् स्थालीं निरुध्य च। ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वलयेदधः ॥ एतद्विद्याधरं यन्त्रं हिङ्गुलाकृष्टिहेतवे ॥' इति केचित्तु–निम्बपत्रादि रसैर्भावितं हिङ्गुलं कूपिकामध्ये दत्त्वा पातालयन्त्रविधिनाऽगरुसारवद्रसं निष्कासयन्तीति दिक् ॥ १६५–१६९ ॥

सेन्धानमक सहित पारे को एक महीने तक तप्त खरल में केवल लशुन के साथ सतत घोटने से शुद्ध हो जाता है। अथवा हिंगुल से ऊर्ध्वपातनयन्त्र द्वारा पारा निकालने पर भी नाग-वङ्गादि सात कञ्चुक दोष रहित एवं गन्धकजीर्ण पारे के समान गुणी होता है। अथवा निम्बपत्र के रस से हिंगुल को एक प्रहर मर्दन करके ऊर्ध्वपातन यन्त्र से पारा निकाल लें तो वह पारद भी शुद्ध होता है। यह पारद की शुद्धियों का विभिन्न प्रकार विभिन्न शास्त्रों और आचार्यों के अनुभवों के अनुसार प्रतिपादित किया गया है अतः इसका अनुसरण करते हुए पारद की भलीप्रकार शुद्धि कर यथेष्ट उपयोग किया जाना चाहिए।

वक्तव्य—'सप्तकञ्चुकवर्जितम्' हमारे मत से इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पारद के कञ्चुकात्मक सात आवरण नष्ट हो गये हैं। केवल विकारकारी भावों की शान्तिमात्र होती है। ये उपर्युक्त जितने शोधन के सहज और सुलभ प्रयोग दिए हैं, उनका एकमात्र प्रयोजन है पारद के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले विकारों का प्रतिकार अर्थात् इस प्रकार से पारद की शुद्धि करने से वह सर्वरसोपयोगी बन जाता है। पारद महान् शक्तिशाली और प्रभावी द्रव्य होने से उसके गुणों का विशेष लाभ मिल जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि स्वेदन, मर्दन, और मूर्च्छनादि आठ संस्कारों द्वारा जिस प्रकार सप्तकञ्चुक विवर्जित पारा बनता है उसी प्रकार यह भी बन जाता है। यह ध्यान रहे कि सप्तकञ्चुक ये पारद के सात आवरण, इन सातों आवरणों का पारद के गुणोदय में व्यवधान होता है जब तक ये हटाये नहीं जाते हैं तब तक पारद के गुणों का विकास नहीं होता है। आज लोगों की यह जो धारणा सी होती जा रही

है कि पारद के अप्रतिम महत्त्व के गुण ग्रन्थों की स्तुतियाँ अतिरेक पूर्ण हैं। यह इसलिए है कि पारद के निर्मल स्वरूप का निर्माण कोई करता नहीं और उसके बिना गुणोपलब्धि मिलती नहीं।

पूर्वोक्त सर्व साधारण संशोधनों का मथितार्थ केवल काम चलाऊ प्रयोगों में उपयोगार्थ मात्र है, जिससे प्रयोगों में पारद के यत्किंचित् प्रभाव का सहयोग मिलते हुए विकारों की संभावना न रहे। इसीलिए यह कथन है कि 'सप्तकञ्चुकवर्जित' अर्थात् सातकञ्चुलियों के विकारों का प्रक्षालन हो जाता है, कञ्चुलियों का नहीं।

जब सप्तकञ्चुकों का आवरण पारद पर से दूर हो जाता है तब पारद कञ्चुकों के सात भाग खो कर आठवाँ भाग बचता है अर्थात् पारद में सात भाग कञ्चुकियों के हैं और आठवाँ भाग निर्मल पारद है। सच में शुद्ध पारद सत्ता इसकी है और इस पर जो जैसे संस्कार किये जाते हैं वैसे ही गुणों के प्रचुर घटकों का समुत्थान होता है। इसी हेतु से पहले ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट किया है कि—'स्वेदनादिनवकर्मसंस्कृत सप्तकञ्चुकविवर्जितो भवेत्। अष्टमांश इह शिष्यते तदा शुद्धसूत इति कथ्यते बुधैः॥' यह कथन कितना प्राञ्जल और स्पष्ट है। जब तक पारद में से सात भाग नष्ट होकर आठवाँ मात्र शेष नहीं रहता है तब तक पारद शुद्ध हुआ है यह माना ही, नहीं जाता है॥ १६५-१६९॥

अन्यत्रापि—

अथवा दरदाकृष्टं स्विन्ने लवणाम्बुभिस्तु दोलायाम्।
रसमादाय यथेच्छं कर्तव्यस्तेन भैषजो योगः॥ १७०॥
निम्बूरसेन संपिष्टात् प्रहरं दरदात् दृढम्।
ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण संग्राह्यो निर्मलो रसः॥ १७१॥

अथवेत्यादि। अथवा दरदाकृष्टं-हिङ्गुलाकृष्टं पारदं लवणाम्बुभिः-सैन्धवजलैर्दोलायां-हिन्दोलिकायन्त्रे स्विन्नं स्वेदितं रसमादाय तेन शुद्धपारदेन यथेच्छं-स्वच्छन्दतया निर्भरेण भेषजयोगः कर्तव्यः। निम्बूरसेन दृढं-गाढं प्रहरं यावत्संपिष्टात्-सम्यङ्मर्दितात् दरदात्-हिङ्गुलात्, ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण निर्मलः-नागादिसप्तमलरहितो रसः संग्राह्यः॥ १७०-१७१॥

अथवा हिङ्गुलाकृष्ट पारे को लवणयुक्त जल से दोलायन्त्र में स्वेदन करके सर्वत्र औषधकार्य में प्रयोग कर सकते हैं। अथवा निम्बूरस से एक प्रहर मर्दन किए हुए हिंगुल से निकाला हुआ पारा भी उत्तम होता है॥ १७०-१७१॥

अथैवं शोधितस्य मुखकरणमुक्तं तन्त्रान्तरे—

सास्यो रसः स्यात्पटुशिग्रुतुत्थैः सराजिकैः सोषणकैस्त्रिरात्रम्।
पिष्टस्ततः स्विन्नतनुः सुवर्णमुखानयं खादति सर्वधातून्॥ १७२॥

सास्य इत्यादि। पटु-सैन्धवम्, शिग्रु-शोभाञ्जनबीजम्, तुत्थं-मयूरतुत्थम्, एभिः कीदृशैः सराजिकैः पुनः सोषणकैः-कटुत्रयैस्त्रिरात्रं यावत्पिष्टः-पेषितः सन् सास्यः-आस्येन मुखेन सहितो मुखवानित्यर्थः। रसो भवेत्। ततस्तदनन्तरम्। स्विन्नतनुरयं पूर्वोक्तरीत्या लवणाम्बुभिः स्वेदितशरीरश्च सुवर्णमुखान्-स्वर्णप्रभृतीन् सर्वधातून्-सकललोहान् खादति बुभुक्षितत्वादिति भावः। तन्त्रान्तरे तु विशेषः—'दिव्यौषधिसमायोगात्स्थितः प्रकटकोष्ठिषु। भुञ्जीताखिललोहाद्य योऽसौ राक्षसवक्त्रवान्॥ एवं कृते रसो ग्रासलोलुपो मुखवान् भवेत्। कठिनान्यपि लोहानि क्षमो भवति भक्षितुम्॥' इति। १७२॥

सेन्धानमक, सहजन के बीज, नीलाथोथा, राई, सोंठ, मिरच और पीपल इनसे तीन दिन तक लगातार पारे का मर्दन करने पर वह मुखवान् हो जाता है और उसीको पूर्वोक्त लवणयुक्त जल से दोलायन्त्र में स्वेदित करने से सुवर्णादि समस्त धातुओं को खाने वाला (बुभुक्षित) हो जाता है।

वक्तव्य—ऊपर के शीर्षक से यह स्पष्ट होता है 'अथैव शोधितस्य मुखकरणमुक्तम्' अर्थात् इस प्रकार से शोधित पारद का मुखकरण कहा है। ऊपर जितने शोधन के सुगम प्रकार कहे हैं वे सब औषधों में प्रयोगार्थ और सामान्य हैं। इस प्रकार शोधित पारद किसी प्रकार की विकृति निर्माण नहीं करता और औषधें प्रभावी बन जाती हैं किन्तु स्वेदनादि आठ संस्कारों के बिना बुभुक्षित बनने की शक्ति नहीं आती है। बुभुक्षित बनाने के लिये आठ संस्कार नितान्त आवश्यक हैं। साधारण संस्कारों से हमने बुभुक्षित होते नहीं पाया है। बुभुक्षा का अर्थ हम यह करते हैं कि जिस धातु का भी ग्रास दिया जावे उसको पारद आत्मसात् कर ले और गालन पातनादि से कम से कम उसका पृथक्करण न हो, और यह बात इनसे से नहीं होती है॥ १७२॥

अन्यन्मतम्—

अथ षड्बिन्दुकीटैश्च[1] रसो मर्द्यस्त्रिवासरम्।
लवणाम्लैर्मुखं तस्य जायते ग्रासलोलुपम्॥ १७३॥

अथेत्यादि। अथेत्यनन्तरम्। 'षड्बिन्दुकीटैः-षड्बिन्दुकीटनाम्नैव प्रसिद्धिर्यथा—'षड्बिन्दुकस्य कीटस्य श्वेताः स्युः पञ्चबिन्दवः। भिन्नवर्णस्तथा चैकः सुस्निग्धश्चातिवर्णतः॥' इति। लवणं-पञ्चलवणम्, अम्लोऽम्लवर्गः स च चाङ्गेरीप्रभृतिको निघण्टुराजे यथा—'चाङ्गेरीलकुचाम्लवेतसयुतं जम्बीरकं पूरकं, नारङ्ग फलशाक-तिन्तिडिकपित्थाम्लं च बीजाम्लकम्। अम्बष्ठासहितं द्विरत्र कथितं पञ्चाम्लकं तद्द्वयं, विज्ञेयं करमर्दनिम्बुकयुतं स्यादम्लवर्गाह्वयम्॥' इति। एभिस्त्रिवासरं यावत्सूतो रसो मर्द्यस्तेन तस्य सूतस्य ग्रासलोलुपं-स्वर्णादिबीजभक्षणेच्छुकं, क्वचित् 'धातुघस्मरः' इति पाठभेदः। मुखं जायते॥१७३॥

अथवा छः बिन्दुवाले कीडे, पाँचों लवण (सेन्धानमक, सचर, बिट, सामुद्र और साभर) और अम्लवर्गोक्त द्रव्य जिनका ऊपर संस्कृत टीका में उल्लेख किया है। इनसे तीन दिन तक अविरत मर्दन करने पर पारे को स्वर्णादिक धातुओं को खाने वाला मुख हो जाता है॥ १७३॥

शार्ङ्गधरोऽपि—

कालकूटो वत्सनाभः शृङ्गीकश्च प्रदीपनः।
हालाहलो ब्रह्मपुत्रो हारिद्रः सक्तुकस्तथा॥ १७४॥
सौराष्ट्रिक इति प्रोक्ता विषभेदा अमी नव।
अर्कसेहुण्डधत्तूरलाङ्गलीकरवीरकाः॥ १७५॥
गुञ्जाहिफेनावित्येलाः सप्तोपविषजातयः।
एतैर्विमर्दितः सूतश्छिन्नपक्षः प्रजायते॥ १७६॥
मुखं च जायते तस्य धातूंश्च ग्रसतेतराम्।
अथवा त्रिकटुक्षारौ राजी लवणपञ्चकम्॥ १७७॥

---

१ 'अथवा बिन्दुलीकीटैः' इत्यपि पाठान्तरम्।

रसोनो नवसारश्च शिग्रुश्चैकत्र चूर्णितैः।
समांशैः पारदादेतैर्जम्बीरोत्थद्रवेण च ॥ १७८ ॥
काञ्जिकैर्निम्बुतोयैर्वा सोष्णखल्वे विमर्दयेत्।
अहोरात्रत्रयेण स्याद्रसे धातुचरं मुखम् ॥ १७९ ॥

कालकूट इत्यादि। अमी कालकूटादयः सौराष्ट्रिकान्ता नवसंख्यका विषभेदाः प्रोक्ताः इत्येषां लक्षणं वैशिष्ट्येन तत्तद्विषपरीक्षकेभ्यः सकाशाद्बोध्यम्। एतेषां सामान्यलक्षणं तु तन्त्रान्तरे यथा—'घनं रूक्षं च कठिनं भिन्नाञ्जनसमप्रभम्। कन्दाकारं समाख्यातं कालकूटं महाविषम् ॥ वत्सनाभं पाण्डुरं च किञ्चिद्रूक्षं घनं तथा। घनं गुरु च निबिडं शृङ्गाकारं च शृङ्गिकम् ॥ प्रदीपनं शिखिशिखाकारं च गुरु चिक्कणम्। चक्राकारं भवेद्रक्तं नीलं हालाहलं मतम् ॥ ब्रह्मपुत्रं पाण्डुरं स्याद्धरिद्राभं हरिद्रकम्। चित्रमुत्पलकन्दाभं सक्तुकं सक्तुवद्भवेत्। सौराष्ट्रिकं शङ्खवर्णं विज्ञेयं विषलक्षणम् ॥' इति। अर्कसेहुण्डप्रभृतयः सप्तोपविषजातयः कथिताः। अर्कः, सेहुण्डः—स्नुही, धत्तूरः, लाङ्गली—कलिहारी, करवीरकः—हयमारकः, गुञ्जा, अहिफेनं—आफूकम्, आढमल्लस्तु अन्यथा व्याख्यानयति यथा—अहिफेनं विषमत्स्यसमुद्भवमिति ज्ञेयम्। तथा हि—'समुद्रे चैव जायन्ते विषमत्स्याश्चतुर्विधाः। तेभ्यः फेनं समुत्पन्नमहिफेनं चतुर्विधम् ॥ केचिद्वदन्ति सर्पाणां फेनं स्यादहिफेनकम् ॥' यथा—'धारणं श्वेतवर्णं च रक्तवर्णं च जारकम्। सारणं पीतवर्णं च कृष्णवर्णं च मारणम्। विषवद्ध्युत्तमं फेनं युज्यते रसकर्मणि॥' इति केचित्तु खाखसजं क्षीरविशेषमिति मन्यन्ते तदभावात्। सिद्धान्ततस्तु खाखसफलजक्षीरवन्निर्यास एव अहिफेनं यथा—रसतरङ्गिण्याम्—'खस्तिलस्य फलानां तु क्षीरणात्खलु दुग्धवत्। निर्यासो योऽभिनिर्याति अहिफेनः स एव हि ॥' इति। एतेषां मध्यादेकद्वित्रिसकलानि वा यथाप्राप्तानि पारदस्य षोडशांशेन संगृह्य मर्दयेदिति। एतैर्विषोपविषैर्विमर्दितः सूतः छिन्नपक्षः—पक्षरहितः प्रजायते। तस्य पारदस्य मुखं च धातुग्रसनयोग्यं जायते। अतो धातून्—स्वर्णादीन् शीघ्रं ग्रसते। कालकूटादीनां द्रवैः सप्त सप्तदिनं मर्दनं प्रक्षालनं चेति गूढार्थदीपिका। अथवा त्रिकं—व्योषम्, क्षारौ—स्वर्जियवक्षारौ, राजी, लवणपञ्चकम्, शार्ङ्गधरे यथा—'सिन्धुसौवर्चलं चैव विडं सामुद्रिकं गडमि'ति। रसोनः—लशुनः, नवसागरः, शिग्रुः, एभिरेकत्र चूर्णितैः पारदात्समांशकैः, सर्वमिलितैः समभागकैर्द्रव्यैः सह जम्बीरोत्थद्रवेण काञ्जिकैः निम्बुतोयैः—निम्बुरसैर्वा सोष्णखल्वे तप्तखल्वे विमर्दयेत्सूतम्। एवं कृते सति अहोरात्रत्रयेण—त्रिरात्रिदिवसेन रसे—पारदे धातुचरं—धातुभक्षकं मुखं स्यात् ॥ १७४–१७९ ॥

कालकूट, वछनाग, सिंगिया, प्रदीपन, हालाहल, ब्रह्मपुत्र, हारिद्र, सक्तुक और सौराष्ट्रिक ये नव विष हैं। आक, थूहर, धतूरा, कलिहारी, कनेर, गुंजा और अफीम ये सात उपविष हैं। इनसे मर्दन किया पारा छिन्नपक्ष और बुभुक्षित हो जाता है। अथवा सोंठ, मिरच, पीपल, सज्जीखार, जवाखार, राई, पाचो नमक (सेन्धानमक, सचर, विड, सामुद्र और साभर), लशुन, नवसागर और सहजना इनका चूर्ण सर्वमिलित पारे के समभाग लेकर, जम्भीरी निम्बू, काजी अथवा निम्बूरस से तप्त खरल में तीन रात और तीन दिन मर्दन करने से पारद को धातुचरमुख हो जाता है ॥ १७४–१७९ ॥

वस्तुतस्तु दीपतस्यैवापरपर्यायो मुखकरणमिति न पृथक् संस्कारः। तत्साधकान्यूनविंशतिकर्माणि, इति नियमभङ्गात् ॥ १८० ॥

वस्तुत इत्यादि। तत्तस्य पारदस्य साधकानि कर्माणि ऊनविंशतिरेवेति, नो चेत, नियमभङ्गान-नियमत्राघ्यात्, अर्थात् सुप्तकरणस्य पृथग् विधानाद्विंशतिसंख्याकानि भवन्ति। अतो दीपनस्यैवापरपर्यायो सुप्तकरणमिति न हि तत. पृथक्सत्ताक संस्कार.॥

सिद्धान्तात. दीपन संस्कार का ही दूसरा नाम सुप्तकरण है, भिन्न नही। पारे के १९ सस्कार कहे है। सुप्तकरण को भिन्न मानने मे २० होते हैं और यह नियमभङ्ग है॥ १८०॥

अथैवं संशुद्धरसे आदौ गन्धकजारणा शिवागमे—

अजीर्णमथ चाबीजं सूतकं यस्तु घातयेत्।
ब्रह्महा स दुराचारी मम द्रोही महेश्वरि॥ १८१॥

अजीर्णमित्यादि। हे महेश्वरि-पार्वति! य. पुरुपो वैद्य, अजीर्ण-स्वर्णादिबीजग्रसन-शक्तिविरहितं चञ्चल नियमनान्तकर्महीनम्, च-पुन, अबीज-स्वर्णरूप्याभ्रकादिबीज-जारणशून्यम्, सूतक-पारदं घातयेत-रससिन्दूरादिकं कुर्यात्, स-रसकर्मसाधको ब्रह्महा-ब्राह्मणहन्ता, दुराचारी-दुष्टाचारशील एतावानेव न किन्तु मम शिवस्य द्रोही शत्रुरिति स्यात. 'तस्मात्सर्वप्रयत्नन जारित मारयेद्रसम्।' इति पाठोऽधिक' क्वचित्॥

इसके पश्चात् उपर्युक्त विधि से भली प्रकार शोधन किये हुए पारद में सर्वप्रथम गन्धक-जारणा प्रस्तुत करते हैं—इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए 'शिवागम' में भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं कि हे देवि, जो वैद्य गन्धक एव सुवर्णादिबीजजारण किये विना ही पारद का मारण (रससिन्दूरादि कूपीपक्व द्रव्यों का निर्माण)करता है। वह ब्रह्महत्यारा और दुराचारी के समान तो है ही, किन्तु मेरा शत्रु भी है और वह कदापि रसशास्त्र की क्रिया में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि विना गन्धक और सुवर्णादि बीजों के जारित किये, पारद का मारण (रससिन्दूरादि का निर्माण) नहीं करना चाहिए॥ १८१॥

अन्यत्रापि—

गुरुशास्त्रे परित्यज्य विना जारितगन्धकात्।
रसं निर्माति दुर्मेधाः शपेत्तं परमेश्वरः॥ १८२॥

तत्र गन्धकजारणा वहिर्धूमान्तर्धूमभेदेन द्विविधा। आद्या यथा-'तत्र षड्गुणगन्धकजारणक्रिया साधीयसी निगद्यते' इत्युक्तं प्रागेव॥ १८३॥

गुरुशास्त्र इत्यादि। गुरुशास्त्रे-गुरुश्च शास्त्रञ्च ते गुरुशास्त्रे गुरूपदिष्ट शास्त्रे लिखितं च परित्यज्य जारितगन्धकात-गन्धकजारितपारदात्, विना यो दुर्मेधाः मूर्खो रस निर्माति तं-पारदकर्मण्यकुशल परमेश्वर. शिव. शपेत्-अभिशापं दद्यात्। शेप सुस्पष्टम्॥१८२-१८३॥

गुरु और शास्त्रोपदेश का परित्याग कर विना गन्धकजारित पारे से जो वैद्य रसकर्म करता है वह उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। गन्धकजारणा भी वहिर्धूम और अन्तर्धूम भेद से दो प्रकार की होती है।

वक्तव्य—रसकर्म का ज्ञान विना गुरु के सर्वथा असम्भव है। जिन्होंने अथक परिश्रम और लगनपूर्वक रसकर्मों को करके अनुभवपूर्वक सफलता प्राप्त की है ऐसे गुरुओं के उपदेश ही सहायक हो सकते हैं अन्यथा रसकर्म की गहन जटिलताएँ साधक के लिये पद पद पर समस्याएँ वनकर उपस्थित होती हैं और उसके धैर्य को च्युत कर किंकर्तव्यविमूढ वना देती हैं। ऐसी व्यामोह उत्पन्न करने वाली रसकर्म की गभीर गुत्थियों का समाधानपूर्वक निराकरण केवल रस-विशेषज्ञ गुरुओं से ही सम्भव है।

इसी प्रकार रसशास्त्र के सैद्धान्तिक पहलुओं को भली प्रकार अवगत करने के लिए नित्यनाथादि रससिद्धों के विभिन्न तन्त्रों का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन भी सर्वथा अनिवार्य है।

'शपेत्त परमेश्वर' अर्थात् पारद यह महान् प्रभावी और अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न द्रव्य है उसके प्रभाव का जब तक विकास नहीं होता है तब तक वह अपने गुणों का लाभ नहीं दे सकता है। जिस द्रव्य के गुणों का विकास बिना किये उसका उपयोग होता है वह उस द्रव्य के लिये अप्रतिष्ठाकर होता है। पारद के गुणों को विकसित करने के लिये गन्धक जारणा सर्वश्रेष्ठ और प्रधान है। गन्धक-जारणा के बिना पारद का गुणोदय होता नहीं और गुणोदय के बिना पारद का मूलोद्देश नष्ट होता है अतः भगवान् शिव अपने अङ्गभूत पारद की प्रतिष्ठा, ख्याति और सर्वजनहितोपयोगी शक्ति के विकासार्थ गन्धक-जारण को महत्त्व देते हुए साधक को सावधान करते हैं कि यदि साधक शास्त्रज्ञान, गुरूपदेश और गन्धक-जारणा के बिना पारद का उपयोग करेगा तो उसको कदापि सफलता नहीं मिलेगी ॥ १८२-१८३ ॥

अब आगे गन्धक-जारणार्थ वालुकायन्त्रों का विधान प्रतिपादित किया जाता है—

प्रथमं वालुकायन्त्रम्—

तन्निमित्तकं सिकतायन्त्रद्वयं कथ्यते। यथा—निरवधिनिष्पीडितमृदम्बरादिपरिलिप्तामतिकठिनकाचघटीमग्रे वक्ष्यमाणप्रकारां रसगर्भिणीमधस्तर्जन्यङ्गुलिप्रमाणितच्छिद्रायामनुरूपस्थालिकायामारोप्य च्छिद्रस्य परितो द्वित्राङ्गुलिमितेन लवणेन निरन्तरालीकरणपुरःसरं सिकताभिरापूर्य वर्धमानकमारोपणीयं क्रमतश्च त्रिचतुराणि पञ्चपाणि वा वासराणि ज्वलनज्वालया पचनीयमित्येकं यन्त्रम् ॥ १८४ ॥

पारदे गन्धकजारणकामनया वालुकायन्त्रद्वयस्यावश्यकत्वमिति प्रतिपादयन्नाह—तदित्यादि। तत्तस्य षड्गुणगन्धकजारणस्य निमित्तक हेतुकम् 'सिकता—वालुकायन्त्रद्वय कथ्यते। यथा—निरवधि-भृशं निष्पीडिता—निश्शेषेण पीडिता मर्दनविधिना मृदुभूता या मृत्-मृत्तिका तयाऽऽर्द्रीकृत यदम्बर—वासस्तत्खण्डादिना, आदिशब्देनात्र कार्पासादीनामपि ग्रहणम्। परिलिप्तां—परितोऽभिवेष्टिताम्। अतिकठिनकाचघटीं—सुदृढकाचकूपीमग्रे—द्वितीययन्त्रे वक्ष्यमाणप्रकारां नातिचिपिटमुखीमित्यादिना निर्देक्ष्यमाणस्वरूपाम्। रसगर्भिणीं रस' पारदो गर्भे यस्यास्ता पूर्वोक्ताम्। काचकूपीमधस्तर्जन्यङ्गुलिप्रमाणितच्छिद्रायां—तलभागे तर्जन्यङ्गुलिसमविवरायाम्। अनुरूपस्थालिकाया—कूपिकाप्रविष्टयनन्तरं बालकापूरणार्थमभित' सावकाशायां हण्डिकायाम्। ता कूपीमारोप्य स्थापयित्वा च्छिद्रस्य—कूपिकातलस्थस्थालिकारन्ध्रस्य परितो द्वित्राङ्गुलिमितेन—चतुरस्रविस्तारेण द्व्यङ्गुलप्रमाणेनोत्सेधेन च ऽयङ्गुलमानेन। लवणेन—सैन्धवेन निरन्तरालीकरणपुर.सर-निरन्तर—घन 'घन निरन्तरं सान्द्रम्' इत्यमर'। या आली श्रेणी तत्करणपुर.सरम्—आलवालकरणपूर्वकमित्यर्थ'। सिकताभि—वालुकाभि, आपूर्य—कूपिकाकण्ठ यावन्मृत्कर्परं पूरण कृत्वा वर्धमानकं—शरावम् 'अस्त्री शरावो वर्धमानक' इत्यमरः। आरोपणीयं—कूपिकामुखपिधानार्थं स्थाप्यम्, इति। किन्तु शरावेण कूपीमुखपिधानन्तु ह्यन्तर्धूमविपाक एव कर्तव्यं नहि बहिर्धूमविपाक इत्यागमप्रमाणम्। पुनस्तदध क्रमतो मन्दमध्यतीक्ष्णक्रमेण त्रिचतुराणि पञ्चपाणि वा वासराणि ज्वलनज्वालया—ज्वलन—अग्निस्तस्य या ज्वाला—शिखा तया पचनीय पाको विधातव्य'। इत्येकं वालुकाख्य यन्त्रम्। किं नाम यन्त्रमित्यत आह रसेन्द्रचूडामणौ यथा—

'स्वेदादिकर्म निर्मातुं वार्तिकेन्द्रैः प्रयत्नतः। यन्त्र्यते पारदो यस्मात्तस्माद्यन्त्रमितीरितम्।' इति। सिकतायन्त्रं रसकामधेनौ यथा—'सप्ताङ्गुलोच्चा मृद्वस्त्रलेपाङ्गुलघनावृताम्। शोपिता काचकलशीं पूरयेत्त्रिपु भागयोः॥ भाण्डे वितस्तिगम्भीरे वालुकासु प्रतिष्ठिताम्। भाण्डस्य पूरयेच्छेषमन्याभिरवगुण्ठयेत्॥ भाण्डवक्त्र मणिकया सन्धि लिम्पेन्मृदा पचेत्। चुल्ल्यां तृणस्य चादाहान्मणिकापृष्ठवर्तिनः। एतद्धि वालुकायन्त्र तद्यन्त्र लवणाश्रयम्॥' इति। क्वचित् पुस्तके 'वर्धमानकमारोपणीयमित्यत्र वर्धमानके चुल्ल्यामिति ज्ञेयम्—कूपिका-विषये यथा—'काचमृत्तिकयोः कूपी हेम्नोऽयस्तारयोरपि।' इति बोध्यम्॥ १८४॥

बहिर्धूम और अन्तर्धूम भेद से गन्धकजारणा दो प्रकार की होती है। षड्गुण गन्धकजारण की पहली उत्तम क्रिया को कहते हैं। एतदर्थ वालुकायन्त्र के दो भेदों को यहाँ बताते हैं—

प्रथम वालुका यन्त्र—भली भाँति पानी में भिगोकर मसलकर मृदु बनाई हुई मिट्टी तथा वस्त्र आदि से उत्तम आतशी शीशी (जो कि द्वितीय यन्त्र में आगे कहे प्रकार की हो) को मृत्कपरोटी कर सुखा ले (पहली सूखने के पश्चात् दूसरी करे इस प्रकार सात कपटमिट्टी का शीशी पर लेप करे) उसमें गन्धक पारे को भली प्रकार भर दें। (शीशी में गन्धक-पारद इतना भरे कि भरने के बाद एक भाग शीशी का खाली रहे, अधिक पदार्थ होने से द्रव्य-पाक के समय बहुत ही असुविधा होती है द्रव्य उफनने लगता है, शीशी के बाहर गिरता है। उसके बाद मिट्टी के कप्पर (ठेकरा जिसमें शीशी रखकर वालुका यन्त्र बनाना है) वह सर्वथा मजबूत हो, लोहे का हो, मिट्टी का हो तो शीशी की भाँति कपरोटी किया हुआ हो और उसके तल भाग में बीचोबीच अङ्गुली जैसा छेद किया हुआ हो, छेद पर गोल अभ्रकपत्र लगाकर, उक्त पारद-गन्धकयुक्त शीशी अभ्रक पत्रयुक्त छेद पर भली प्रकार जमाकर रख दे तत्पश्चात् छिद्र के और शीशी के तल भाग के चारों तरफ तीन अङ्गुल चौड़ा और दो अङ्गुल ऊँचा सेन्धानमक से आलवाल (गड्ढे या प्लेटफार्म जैसा) बनाकर, हाथ से दबाकर उसको जमा दे, पात्र के शेष खाली भाग को शीशी के गले तक बालू से भर दे। बालू साफ धोकर सुखाकर तैयार की हुई होनी चाहिये, उसमें मिट्टी का मिश्रण नहीं होना चाहिये, साथ ही न अधिक मोटी हो और न अधिक बारीक ही हो। यदि अन्तर्धूम-विपाचित करना हो तो शीशी के मुख पर मुख के आकार का मिट्टी के घडे आदि के टुकडे को घिसकर गोल बनाकर रख दे और गुड और चूना दोनों मिलाकर एक कपडे पर लगाकर मजबूत मुख बन्द कर दे। इस यन्त्र को वर्धमान नामक चूल्हे पर रखकर जिसमें मन्द, मध्य और तीक्ष्ण क्रम से अग्नि दी जाती हो ३, ४, ५ और ६ दिन तक अविरत पाक करे॥ १८४॥

हस्तैकमात्रप्रमाणभूगर्भान्तर्निखातां प्रागुक्तकाचघटीं नातिचिपिटमुखीं नात्युच्चमुखीं मषीभाजनप्रायां खर्परचक्रिकया काचचक्रिकया वा निरुद्धवदन-विवरां मृन्मयीं वा घटीं विधाय करीषैरुपरि पुटो देय इत्यन्यद्यन्त्रम्॥१८५॥

अथेदानीं द्वितीयं वालुकायन्त्रमाह—हस्तेत्यादि। हस्तैकमात्रप्रमाणभूगर्भान्तर्निखातां-विस्तृतकरमात्रप्रमाणेन पृथिव्या गर्भान्तरे प्रविष्टा प्रागुक्तकाचघटी—प्रथमयन्त्रोक्ता 'निरव-धिनिष्पीडितमृदम्बरादिपरिलिप्ता रसगर्भिणीमित्युक्तप्रभृतिकाम्' काचकूपी नातिचिपिट-मुखी—न अतिशयेन चिपिट—पृथुकं मुखं यस्यास्ता नात्युच्चमुखी—नात्यर्थमुच्चम्—उन्नतं मुखं यस्यास्ता नातिलम्बमुखीमित्यर्थः। मषीभाजनप्रायां—मषीपात्रसमाना, तदाकारं विशा-लोदरं—ह्रस्वमुखञ्चेति। पुनः किम्भूतां खर्परचक्रिकया कूपीमुखपिधानायाभितो वर्तुला-कारत्वेन विघृष्य स्थूलकुम्भेष्टिकाशकलप्रभृतिकैर्निर्मितया चक्रिकया, काचचक्रिकया वा निरुद्धवदनविवरां—निरुद्धम्—अवरुद्ध वदनविवरं मुखकुहरं यस्यास्ताम्—आच्छादितमुख-

च्छिद्राम्। मृन्मयी–मृत्तिकोद्भवां वा घटीं–काचकूपीसदृशां विधायोपरि करीषैः–छगणैः पुटो देय इत्यन्यत्–द्वितीयं वालुकाख्यं यन्त्रम्। 'गोविट् गोमयमस्त्रियाम्–तत्तु शुष्कं करीषोऽस्त्री' इत्यमर ॥ १८५ ॥

दूसरा वालुका यन्त्र—प्रथम यंत्र में बनाई हुई मृत्कपरोटी आदि से न तो न अधिक निकट मुख की हो और न अधिक लम्बे की हो किन्तु, दावात के आकार की मिट्टी अथवा कांच की शीशी बनाकर उसमें गन्धक-पारद को भर कर मिट्टी अथवा कांच की ही गोल चकिया से उसके मुख को बन्द करके एक हाथ गहरे जमीन के गढे में रखकर ऊपर से गोवरियों का पुट देवे ॥१८५॥

इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए ग्रन्थकार आगे लिखते हैं कि—

'यन्त्रमध्ये तु भूधरः' इति त्रिविक्रमः ॥ १८६ ॥

त्रिविक्रममतं प्रदर्शयति–यन्त्रेत्यादि। यन्त्रेषु मध्ये षड्गुणगन्धकजारणाय भूधर एव श्रेष्ठ इत्याख्यापयति त्रिविक्रमः। क्वचित् 'त्रिविक्रम' इत्यत्र 'त्रिलोचन' इति पाठान्तरम्। भूधरयन्त्रं यथा—'अष्टाङ्गुलमितं गर्तं निम्नञ्च निखनेद्भुवि। द्वादशाङ्गुलविस्तारं पूरयेद् द्व्यङ्गुलं पुनः ॥ वालुकाभिस्तदुपरि शुद्धेशवलिगर्भिणीम्। लोहमूषां निरुद्धास्यां निधाय सिकतोपरि ॥ पूरयेद्वालुकाभिस्तं गर्तं भूमिसमीकृतम्। तदूर्ध्वं ज्वालयेदग्निं त्रिदिनं चोद्धरेत्ततः ॥ जीर्णे गन्धे पुनर्गन्धं तत्र सूतसमं क्षिपेत्। अनेन विधिना भूयो भूधरे वलिजारणम् ॥' इति ॥ १८६ ॥

गन्धक-जारण के लिये दो प्रकार के वालुकायन्त्रों का विधान बताया किन्तु त्रिविक्रम का कहना है कि षड्गुणगन्धक-जारण करने के लिये भूधरयन्त्र ही सर्वोत्तम है। भूधरयन्त्र का उल्लेख ऊपर संस्कृत टीका में किया गया है। उसका भाषान्तर इस प्रकार है—जमीन में आठ अङ्गुल गहरा और और बारह अङ्गुल चौडा गड्ढा खोदकर फिर दो अंगुल उसको वालू से भर देना चाहिये। उसके ऊपर शुद्ध पारद और गन्धक युक्त लोहे की मूषा जिसका मुख भली प्रकार से बन्द किया गया हो, उसको वालू बिछे हुए गड्ढे में रख कर ऊपर से वालू से ढक देना चाहिए। उस गड्ढे को भूमि के समान समतल बना कर उस पर गोवरियों की तीन दिन तक अग्नि देनी चाहिए। स्वाङ्गशीत होने पर मूषा को निकाल कर, उसमें फिर पारद के समान भाग शुद्ध गन्धक डाल कर पूर्वोक्त प्रकार से जारण करना चाहिए। इस प्रकार षड्गुण गन्धक-जारण कर ले। प्रारम्भ में पारद के ऊपर और नीचे द्विगुण गन्धक मूषा में डाले और फिर प्रत्येक वार पारद के समान भाग डाल-डाल कर गन्धक जारण करे। इस विधि से शतगुण और सहस्रगुण गन्धक जारण किया जा सकता है ऐसा शास्त्रकारों का मत है। इस गन्धक-जारण-प्रक्रिया में पारद-गन्धक की कज्जली नहीं बनानी चाहिए केवल दोनों को एकत्र रखा जाना मात्र है ॥ १८६ ॥

'कूर्मयन्त्रे रसे गन्धं षड्गुणं जारयेद् बुधः।' इत्यन्ये ॥ १८७ ॥

कच्छपयन्त्रे षड्गुणं गन्धकं जारयेदिति मतान्तरमाह–कूर्मयन्त्र इत्यादि। बुधः कूर्मयन्त्रे–कच्छपयन्त्रमध्ये रसे–पारदे षड्गुणं गन्धं जारयेदित्यन्य आचार्याः। कच्छपयन्त्रमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं भवति। जलकूर्मयन्त्रलक्षणं रसकामधेनौ यथा—'जलपूर्णं दृढं पात्रं सुविशालं समाहरेत्। तदन्तः खर्परन्तस्य सुविस्तीर्णं नवं दृढम् ॥ विडं दत्त्वा तदुपरि क्षिपेद्वा जम्भजं रसम्। उपरिष्टाद्विडं दद्यात्ततो लोहकटोरिकाम् ॥ अयस्कान्तमयीं वाऽपि पत्तलीभूतविग्रहाम्। उपरिष्टादधोवक्त्रां दत्त्वा सम्यग्विलेपयेत् ॥ खटी पटु सुधां भक्तं पिष्ट्वा सम्यग्विमुद्रयेत्। उपरिष्टाद्वनोत्थानैरङ्गारैः पूर्णखर्परम् ॥' इति। स्थलकूर्म-

लक्षणं रसदर्पणे यथा—'खर्परं पृथुलं सम्यग्विस्तारे तस्य मध्यमे। आलवालं मृदा कृत्वा तन्मध्ये पारदं न्यसेत। जारणार्थं रसस्योक्तं गन्धादीनामशेषतः॥' इति॥ १८७॥

अन्य कुछ आचार्यों का मत है कि पारे में षड्गुण-गन्धक जारण कच्छपयन्त्र द्वारा करे।

कच्छप यन्त्र की विधि का ऊपर संस्कृत टीका में उल्लेख किया गया है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—एक बड़े टब, नाद अथवा गगाल में (इसका आकार गोल होना चाहिए) जल भर दे। उसके ऊपर एक लोहे की कड़ाही इस प्रकार रखे कि उसका तलभाग पानी को भलीभाँति स्पर्श करता हो। कड़ाही के मध्य पेन्दी में एक तोला शुद्ध गन्धक का चूर्ण बिछा दे, ऊपर २० तोला शुद्ध पारद रख दे और उस पारद पर फिर एक तोला गन्धक का चूर्ण छिटक दे। इस प्रकार पारद को शुद्ध गन्धक द्वारा संपुटित कर उसके ऊपर एक लोहे के पतले पत्रे की बनी हुई छोटी कटोरी रखे, यह ध्यान रहे कि वह सब द्रव्य उस कटोरी से आच्छादित हो जाना चाहिए। कड़ाही और कटोरी दोनों के सन्धि-स्थान में खड़ियामिट्टी, सैन्धानमक, चूना और पकाया हुआ चावल इनको मिला कर मजबूत लेप कर दे। सन्धि का लेप सूखने पर ऊपर वन-गोबरी अथवा कोयले की अगार तीन घण्टे दे। स्वाङ्गशीत होने पर खोल कर देखे कि सब गन्धक जल कर कोयले के समान हो गया है या नहीं। यदि कुछ गन्धक जलना अवशेष रहा हो तो पूर्ववत् पुनः जारण करे। इस विधि से जितना चाहिए उतना गन्धक जारण किया जा सकता है॥ १८७॥

आगे कच्छप यन्त्र द्वारा गन्धक जारण में कुछ कमियाँ रह जाती हैं और उनकी पूर्ति कैसे की जावे, इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

अत्र पक्षे रागस्तथा न स्यात्, तेनादौ त्रिगुणं जारयित्वा शेषः कच्छपिकोदरे देयः, तदा रागः साधुः स्यात्॥ १८८॥

कच्छपयन्त्रे षड्गुणबलिजारणेन रागः साधुर्नोत्पद्यतेऽतोऽत्र यन्त्रे प्राक् त्रिगुणं गन्धकं जारयित्वा ततः शेषः त्रिगुणः कूपिकायां रागार्थं जारयेदिति दर्शयन्नाह—अत्रेत्यादि। अत्र पक्षे–कच्छपयन्त्रविषये पारदस्य रागस्तथा न स्यात्। तेन हेतुना आदौ पारदे त्रिगुणं गन्धकं कच्छपिकोदरे जारयित्वा शेषः–अवशिष्टस्त्रिभागः कूपिकोदरे–कूपीयन्त्रे देयः। कूपिकाया अत्राध्याहारः कार्यः, तदा सुसम्बद्धः स्यात्। तदा रागः–रञ्जनं साधु स्यात्। रसेन्द्रचिन्तामणौ तु पाठान्तरं यथा—'अत्र पक्षे रागस्तथा न स्यात्। तेनादौ पञ्चगुणान् जारयित्वा शेषैकः कूपिकादौ जारणीयस्तदा रागः साधु स्यात्।' इति॥ रसेन्द्रचिन्तामणेः पाठः स्पष्टार्थं प्रकटयति तथाऽयं न॥ १८८॥

इस विधान से पारे का रञ्जन जैसा चाहिए वैसा न हो तो प्रथम त्रिगुण गन्धक-जारणा करके शेष त्रिगुण को कच्छपिका यन्त्र में जारण करे तो उत्तम रञ्जन होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त मूलपाठ के अर्थ से विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता है। जो शंका की गई है वह ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। ऊपर कच्छप यन्त्र में गन्धक-जारण का विधान बताया है और उसमें यह शंका की गई है कि इस विधान से रञ्जन ठीक नहीं होता है तो उसमें त्रिगुण गन्धक-जारण करना और शेष त्रिगुण को कूपिका में करना यह कहना ठीक होता है जैसा कि रसेन्द्रचिन्तामणि के पाठ का आशय है किन्तु मूल पाठ में पुनः अवशेष त्रिगुण को भी कच्छपिका यन्त्र में ही जारण करने को कहा गया है यह ठीक नहीं है। तात्पर्य यह है कि पहले त्रिगुण गन्धक-जारण कच्छप यन्त्र में करना चाहिए और शेष त्रिगुण गन्धक-जारण कूपिका यन्त्र में करना चाहिए, ऐसा करने से रञ्जन अच्छा हो जाता है॥ १८८॥

अत्र कज्जलीमन्तरेण केवलगन्धकमपि साम्येन जारयन्ति ॥ १८९ ॥

पूर्वोक्तयन्त्रे यथा कज्जलीमन्तरेणैव गन्धकजारणविधिः प्रदर्शितस्तथैवाग्रेऽपि पारद-तुल्येन गन्धकजारणविधानमुद्दिशन्नाह—अत्रेत्यादि। अत्र-षड्गुणगन्धकजारणे कज्जलीं विनैव केवलगन्धकमपि साम्येन जारयन्ति ॥ १८९ ॥

पहले कहे हुए वालुकादि यन्त्रों में विना कज्जली किये ही गन्धक-जारण किया जाता है यह प्रदर्शित किया गया है। यहाँ भी विना कज्जली किये ही षट्गुण गन्धक जारण करते हैं इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पारद के समान गन्धक का विना कज्जली किये ही जारण बताया गया है।

वक्तव्य—इस ग्रन्थ में गन्धक जारण के अनेक प्रकार के प्रयोग दिये गये है जिनमें दशमांश गन्धक जारण से प्रारम्भ करके षड्गुण गन्धक-जारणा तक बताई गई है। गन्धक-जारणा यह बहुत ही महत्त्व का विषय है। ज्ञात होता है कि आयुर्वेदप्रकाशकार ने इसका महत्त्व भलीभाँति समझा है और इस विषय में प्रचुर अनुभव भी प्राप्त किया है। यह भी अनुभव किया है कि गन्धक-जारणा ही सर्वाद्य और सर्वोपरि है। इसी बात को रसशास्त्र ने भी सर्वत्र प्रमुख स्थान दिया है। रसपद्धतिकार भी गन्धक-जारणा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसकी जारणा अनेक यन्त्रों द्वारा प्रतिपादित करते हुए लिखता है कि—

'स्थलीयन्त्रविधानतश्च मसृणां गन्धस्य संचारणां, यन्त्रे गर्भसमुद्भवेऽथ सिकताहंसे तु कूप्यां पुन। यन्त्रे सैकतसम्भवे च नलिकायन्त्रे हि मूषाभिधे. यन्त्रे भूधरसंज्ञके त्वथ पुन. सोमानले चक्रके॥ यन्त्रे नाभिसुसंज्ञके जलसमुद्भूते दृढे लोहजे, ग्रस्ते मूषिकया कृते सुविमले विद्याधरे डामरे। स्थालीयन्त्रवरे तु धूपनविधौ धूपाभिधे पालिका-यन्त्रे गन्धकजारणां सुविमले कुर्याद्यथायोग्यतः॥'

कहने का तात्पर्य यह है कि गन्धक-जारण जितना महान् है उसके लिए बताये हुए यन्त्र भी उतनी ही महानता रखते हैं उनमें कुछ कठिन-साध्य हैं तो कुछ बहुत ही सरल भी है। कठिनता से भयभीत होकर लोग इस उत्तम प्रयास को छोडते जा रहे हैं। आज देखा यह जाता है कि गन्धक-जारणा की परपरा नष्ट प्राय सी होती जा रही है, किन्तु यह विरति चिकित्सा क्षेत्र के लिए बहुत ही घातक है जब कि विदेशी दवाओं का बाजार उन्नति करता जा रहा है और उनके मुकाबले में हम अपने महत्त्वपूर्ण सशोधनों को छोडते जा रहे हैं। विपरीत इसके हमें कटिबद्ध होकर अपने महत्त्व को प्रस्थापित करना चाहिये। आयुर्वेदप्रकाशकार ने गन्धक जारण के अनेक प्रयोग दिये हैं जिनमें प्रायश सहल और सुबोध हैं। उनके उपयोग से षट्गुण गन्धक-जारण बटी सरलता से हो सकता है। और उसी प्रकार शतगुण और सहस्रगुण गन्धक-जारण भी किया जा सकता है ॥१८९॥

आगे ग्रन्थकार स्वानुभूत षड्गुण-गन्धकजारण करने के लिए सरल विधि का प्रतिपादन करते है—

अथ रससिन्दूरादिष्वनुभूतगन्धकजारणप्रकारमाह—

कूपीकोटरमागतं रसगुणैर्गन्धैस्तुलायां विभुं
विज्ञाय ज्वलनक्रमं तु सिकतायन्त्रे शनैः पाचयेत्।
वारंवारमनेन वृद्धिविधिना गन्धक्षये सिद्धये
सिन्दूराद्युदितोऽनुभूय भणित. कर्मक्रमोऽयं मया ॥ १९० ॥

कूपीकोटरमित्यादि। तुलाया-तोल्यते वस्तुमात्राद्यनयेति सा तुला तस्याम्, रसगुणै.-षड्गुणगन्धकै. सहेति शेष। विभु-सूत, भागैक पारदं, गन्धकञ्च षड्भाग तुलया तोल-यित्वेति भाव। कूपीकोटरं-कूपिकोदरम्, आगतं संप्राप्त विज्ञाय पुनर्ज्वलनक्रम-ज्वलनस्य-

अग्नेर्यं क्रमो मन्दमध्यतीव्राग्निक्रमस्तं ज्ञात्वा सिकतायन्त्रे–वालुकायन्त्रे शनैः–मन्दं मन्दं पाचयेत्। तत्कालमर्यादा यामचतुष्टय यामाष्टकं वा यावद्गन्धकजारणं न भवेत्तावदविरतमग्निं मन्दमेव दद्यादिति तात्पर्यम्। अनेन प्राक्प्रतिपादितेन वृद्धिविधिना–यथा एकं पल सूतं तत्समानभागगन्धकं च कृतसप्तमृत्कर्पटिकायां शुष्कायां दृढकूपिकायां वालुकायन्त्रे मन्दमध्यादिक्रमाग्निना विपचेद्यावद्गन्धक्षये सति। पुनः कूपिकातः पारदं निष्कास्य पूर्ववद्गन्धकं दत्वा जारयेदिति षोढाविधानं कुर्यात्। अन्ये तु भागवृद्धिमभिमन्वते यथा—प्रथमजारणायां पारदसमानभागकं गन्धकं, द्वितीयाया पारदाद् द्विगुणं गन्धकम्, एवं षड्भागं गन्धकं यावद्भवेत्तावज्जारयन्ति, किन्तु अनेन विधिना षड्गुणगन्धकजारणा न साध्वी संपद्यते, अपि तु एकविंशतिगन्धकजारणेति दिक्। वारंवारं गन्धक्षये–गन्धजीर्णे सति सिद्ध्ये–पारदकर्मसाधनाय सिन्दूरादयुदितः–रससिन्दूरादिक्रियया प्रोक्तोऽयं कर्मक्रमः–कार्यप्रणालिर्मया अनुभूय–निर्माणप्रक्रियया स्वानुभवं कृत्वाऽत्र भणितः–प्रोक्तः ॥ १९० ॥

आठ तोले पारा, अड़तालीस तोले गन्धक दोनों को तौल कर अर्थात् जितना पारा हो उससे छः गुणा शुद्ध गन्धक लेना चाहिए। दोनों को सात कपरोटी की हुई आतशी शीशी में भर कर मन्द, मध्य और तीक्ष्णाग्नि क्रम से वालुका यन्त्र में धीरे धीरे पाक करे। अड़तालीस तोले गन्धक जीर्ण होने में दो दिन लगातार अग्नि देनी चाहिए। जब गन्धक का धूआँ शीशी के मुख से निकलना बन्द हो जावे तब गन्धक जारण हो गया समझना चाहिये। यदि उसी द्रव्य को रससिन्दूर में परिणत करना है तो गन्धक का धूआँ निकलना जब बन्द हो जावे तभी शीशी के मुख में डाट लगा देना चाहिए और चार घण्टे तीव्राग्नि देनी चाहिए। रससिन्दूर बन कर तयार हो जाता है।

अथवा एक पल–८ तोले पारा और चार तोले ही गन्धक दोनों को कपरौटी की हुई आतशी शीशी में भर कर क्रमाग्नि से पकाना जब गन्धक-जारण हो जावे अर्थात् शीशी के मुख से गन्धक का धूआँ निकलना बन्द हो जावे तब उसी शीशी में सावधानतापूर्वक उतना ही गन्धक और डाल दे और जारण करता रहे जब तक पारद से छः गुणा गन्धक जीर्ण न हो तब तक वार-वार ऐसा करता रहे, अथवा एक जारण के बाद पारे को शीशी से निकाल कर उसमें उतना ही गन्धक देकर दूसरी शीशी में भर कर पुनः जारण करे किन्तु ऐसा करना लाभकर नहीं, शीशी का वृथा प्रतिवार अपव्यय, परिश्रम और कार्य में व्यवधान मात्र होता है लाभ कुछ नहीं, हाँ कथंचित् पाक करते करते रससिन्दूर बन जावे तो, स्वाङ्गशीत होने पर शीशी फोड़ कर द्रव्य निकालना चाहिए और उस द्रव्य को डमरू यन्त्र में रख कर उसका ऊर्ध्वपातन कर पारदाकर्षण करना चाहिए। तत्पश्चात् उस पारद में और गन्धक मिला कर आतशी शीशी में भर कर फिर जारण करना चाहिए।

अथवा प्रथम जारण में पारद-गन्धक दोनों समान भाग लें और दूसरी जारणा में पारद से दुगुना गन्धक लें। इस प्रकार प्रतिजारणा भागवृद्धि क्रम से छः वार गन्धक जारण करें। ऐसा करने से षट् जारण में पारद में २१ गुणा गन्धक जारित हो जाता है।

यह सिन्दूरादि क्रिया-स्वरूप-विधि ग्रन्थकार ने अपने अनुभव से लिखी है॥ १९० ॥

अत्र सप्तमृत्कर्पटैः समुद्रां कूपिकां कृत्वा वालुकायन्त्रे प्रहरचतुष्टयमग्निं दद्यात्। यथाद्रव्यं वा पुनः पुनरेवं पाकं कुर्यात्। कूपिकायन्त्रं दृढं न भवेत्तदा पुनर्नवीनं संपादयेत्। यदि रससिन्दूरं स्यात्तदोर्ध्वपातनेन हिङ्गुल-

वन्निष्कासयेदित्येके । (अन्येऽपि गन्धकजारणप्रकारा यन्त्राध्याये द्रष्टव्याः) आरोटकमन्तरेण हिङ्गुलगन्धकाभ्यां पिष्टाभ्यामपि सिन्दूररसः संपाद्यः । आरोटकशब्दस्तु शुद्धपर्यायवाचकः ॥ १९१ ॥

अत्रेत्यादि । अत्र षड्गुणगन्धजारणावसरे सप्तमृत्कर्पटै सम्मुद्रां कूपिकां कृत्वा प्रहरचतुष्टयं यावदग्निं दद्यात् । अथवा यथा—यावन्मितं द्रव्यं पारदगन्धात्मकं विशेषतस्तु गन्धकं भवेत्तावत्पाको विधेयः । प्रायशस्तोलकैकं गन्धकं यामैकेन जरति पारद इति दृष्टप्रत्ययः । एवं पुन पुन पाकं कुर्यात् । अत्रोदाहरति यथा—वले, पण्णा भागाना शतभागानां वा मध्यादेकं भागं गृहीत्वा समभागात्मकेन सूतेन सहैकत्रीकृत्य न तु कज्जली कृत्वा मृत्कर्पटयुक्तायां काचकूप्या सन्निवेश्याग्निना मन्दमध्यतीक्ष्णक्रमेण विपचेत् । तज्जीर्णे सति कूपी स्वाङ्गशीतीभूतां स्फोटयित्वा सूतं निष्कास्य द्वितीयभागं गन्धक तस्मिन् दत्त्वा पुनरन्यस्यां कूप्यां प्रपूर्य पूर्ववत् पाक कुर्यादेवं यथेच्छं गन्धकजारण न भवेत्तावद्वारवार विपचेत् । विशेषश्चात्र रसपद्धत्यां यथा—'कूप्या भावितगन्धकं पलमितं शुद्ध रसं षट्पलं, कर्पूरं लघुकोलसमितमिद दत्त्वा मुखे मुद्रणम् । लिप्त्वा मृद्वसनैर्दिनं घनतरैर्दीप्ताग्निना पाचित, जीर्णे गन्धकचन्द्रके मुखमथोद्घाट्य क्षणं पूर्ववत् ॥ दत्त्वा सर्वमिदं पुनर्मृदु पचेदेव शतं जारयेद् , गन्धं चेष्टिकयन्त्रके लघुपुटै सिद्धं रसं तं पुनः ॥' इति । तन्त्रान्तरेऽपि यथा—'गन्धकं सूक्ष्मचूर्णं तु सप्तधा बृहतीद्रवै । भावयेच्चाथ वृन्ताकरसेनैव तु सप्तधा ॥ पलैकं पारद शुद्धं काचकूप्यन्तरे क्षिपेत् । कर्षैकं भावितं गन्धं कर्पूरं माषमात्रकम् ॥ क्षिप्त्वा तत्र मुखं रुद्ध्वा मृदा कूपीं च लेपयेत् । दीप्ताग्निना दिनं पाच्यं मुखमुद्घाटयेत्पुनः ॥ जीर्णे गन्धककर्पूरे दत्त्वा तद्वत्पुन पुन. । एवं शतगुणं जीर्णं गन्धकं जारयेद्रसे ॥' इति । एवं कृते यदि रससिन्दूरं भवेत्तदोर्ध्वपातनेन डमरुयन्त्रविधिना हिङ्गुलात्पारदो यथा निष्कास्यते तथैव तन्मध्यात्सूतं निष्कासयेदित्येके । आरोटकमन्तरेण—शुद्धपारदं विना । आरोटलक्षणं रसरत्नसमुच्चये यथा—'सुशोधितो रसः सम्यगारोट इति कथ्यते ।' इति । टोडरानन्दस्तु—'आरोटसञ्ज्ञां लभते ह्येकवारं मृतस्तु यः ।' इति । हिङ्गुलगन्धकाभ्यां पिष्टाभ्यां कृतकज्जलिकाभ्याम् । अत्र हिङ्गुलगन्धकयो. साम्यं बोध्यं यथा—'भागेऽप्यनुक्ते समता विधेया ।' इति परिभाषा । सिन्दूररस सपाद्य. । मृत्कर्पटलक्षण तु काचकूपिकाया मुद्राकरणार्थं पारदशोधनावसरे विस्तरेणोक्त तथापि प्रस्तुतविषयत्वादत्राधिकं रसकामधेनुतः प्रतिपाद्यते यथा—'मृत्कार्पासककिट्टैश्च मृत्तिका साधिताऽपरा । लाक्षामृच्चूर्णलवणगुडमाषजलादिभि ॥ कार्पासजीर्णतृणतो मेषीक्षीरेण मर्दयेत् । कुक्कुटाण्डरसेनापि मृत्तिकाऽन्या विमर्दिता ॥ काचकूपीविलेपार्थमेते द्वे मृत्तिके वरे । काशीसचूर्णमण्डूरं टङ्कणं नवसादरम ॥ पटूनि पञ्च- निम्बूकरसैः संमर्दयेन्मृदम् । फेनतुल्यं च डमरुयन्त्रलेपे मृदुच्यते ॥ कुलालकरमृत्क्षुण्णा पीतमृच्च करम्भकम् । नरकेशा कागरं च तुषा एतद्विमर्दयेत् । द्राक्षागुडादिशुक्तेन वज्रमूषामृदुच्यते ॥' इति । शैवालभक्ष्योऽप्याह—'तुषं भागद्वयं ग्राह्य भागैक वस्त्रखण्डकम् । मृद च त्रिगुणीकृत्य जल दत्त्वा विमर्दयेत ॥ नरकेशं सम कृत्वा किञ्चित्ताव त्प्रकुट्टयेत् । यावत्सिक्थसमाभास मृत्पिण्डं जायते तथा ॥ यथा न शुष्कतामेति तथा यन्त्रं समाचरेत् । एवं सप्तदिनादूर्ध्व मृदं योगे प्रयोजयेत् ॥ कूपिकादिविलेपार्थ यन्त्रादेश्च भिषक् क्रमात् । जलं बब्बूलनिर्यासं समिता तत्सम कुरु ॥ तयोस्तुल्य लोहकिट्ट शुद्धमञ्जनसन्निभम् । मुद्रा वै वारियन्त्रस्य सिद्ध्यर्थं दुर्लभा कुरु ॥ जलाग्नियोगतो नैव भिद्यतेऽत्र कदाचन । सूतकस्तु न संगच्छेत्प्रलयानि जवेन वै ॥' इति ॥ १९१ ॥

आतशी शीशी जो रससिन्दूर आदि कूपीपक्व रसायन बनाने के काम में आती है उस पर सात चार कपटमिट्टी कर सुखा ले। उसके बाद उस शीशी में पारद और गन्धक दोनों समभाग लेकर भर दे और शीशी का मुख बन्द कर दे। शीशी को वालुकायन्त्र में रखकर चार प्रहर तक अग्नि देवे। इस प्रकार जितना गन्धक जारण करना है बार बार नवीन गन्धक मिलाता जावे और जारण करता जावे। शीशी मजबूत न हो तो नवीन मजबूत कपटमिट्टी की हुई दूसरी शीशी का प्रयोग करे। यदि द्रव्य का रससिन्दूर बन जावे तो ऊर्ध्वपातन यन्त्रविधि से हिङ्गुल की भाँति पारा निकाल लें और फिर उसमें दूसरा गन्धक देकर पूर्वोक्त विधि से जारित करते जावें। इस विधि से षड्गुण या शतगुण चाहे जितना गन्धक जारण किया जा सकता है। प्रायश देखा यह जाता है कि अन्तर्धूमविपाचित गन्धक-जारण मन्द गति से होता है उसमें अग्नि भी अति तीव्र नहीं दी जा सकती है अत. एक तोले गन्धक का बिना कज्जली किये दो घण्टे में जारण होता है। इस हिसाब से जितना द्रव्य शीशी में भरा जावे उसके अनुसार अग्नि दे और शीशी की मुद्रा खोलकर देख ले, यदि रससिन्दूर नहीं बना है तो उसी शीशी में गन्धक और पारद के समान भाग डाल कर शीशी का मुख बन्द कर जारण करता रहे ऐसा पुन' पुन करे। इसके अतिरिक्त गन्धक-जारण के कई प्रकार पहले कह दिये हैं आगे भी कई प्रकार दिये हैं जो यथास्थान देख लें। शुद्ध पारे के बिना, हिङ्गुल-गन्धक की पिष्टी से भी रससिन्दूर बनाया जाता है।

वक्तव्य—संस्कृत टीका में हमने शतगुण गन्धक जारण का सहल और प्रभावी प्रयोग दिया है—गन्धक का बारीक चूर्ण करके खरल में डाल बडी कटकारी के स्वरस में सात बार भावित करे तत्पश्चात् सात भावना ही बैंगन के रस की देवे। इस प्रकार भावित गन्धक १ तोला, कपूर १ माशा और शुद्ध पारद ४ तोला, तीनों को मिलाकर कपरोटी की हुई मजबूत आतशी शीशी में भरकर शीशी का मुख बन्द करके मध्याग्नि से एक दिन (बारह घण्टे) की अग्नि देकर शीशी के मुख को खोलकर उतना ही गन्धक और कपूर दोनों डालकर पुन शीशी के मुख का मुद्रण कर दे और पूर्वोक्त विधिसे अग्नि दे। ऐसे बार बार गन्धक जारण करे। यह विधि शतगुण गन्धक-जारण के लिए बहुत ही उत्तम और सहल है। षड्गुण जारण तो बहुत ही सहल है। ऊपर मूल पाठ में केवल हिङ्गुल और गन्धक दोनों से रससिन्दूर बनाने की विधि का संकेत किया है जो सर्वथा उत्तम और गुणप्रद है किन्तु 'सिद्धभैषज्यमणिमाला'-कार ने तो केवल हिङ्गुल से ही रससिन्दूर बनाया है जैसे कि—**'कूपीं काचमयीं मृदम्बरदृढां चूर्णैश्चतुर्मुष्टिभि, भृत्वा हिङ्गुलजैः समावप यथा-देशं हसन्त्या सखे। ज्वाला यर्हि विनि सरेद्वदनत' कूप्यास्तदा वारिणा, नालीं प्रोक्ष्य ततो गृहाण सहसा चन्द्रोदय नालिकम् ॥' इति।** अर्थात् सात कपडमिट्टी की हुई मजबूत आतशी शीशी में चार पल दर्दरा दर्दरा चूर्ण हिङ्गुल का भरकर कोयले की अगारयुक्त सिगडी पर रखकर पाचन करे। जब शीशी के मुख से ज्वाला निकलने लगे तब समझना चाहिये कि रससिन्दूर तैयार हो गया है। कूपी को अगार से हटाकर उसकी नली पर जल का छींटा देवे। गर्म शीशी की नली पर पानी पडने से शीशी की नली फट जाता है और उसमें से नलिका नामक तैयार चन्द्रोदय ग्रहण कर ले। यह द्रव्य तीन-चार घण्टे में तैयार हो जाता है और इसका रंग रूप बहुत ही उत्तम और आकर्षक होता है। इसकी टिप्पणी में लक्ष्मीरामजी स्वामी ने लिखा है कि **"वञ्चकवैद्यविधीयमानचन्द्रोदयप्रकारोऽयमत्यन्तावधानपूर्वकप्रवृत्त्यर्थं भिषजा प्राकाश्य नीत.।'** अर्थात् ठग-विद्या करने वाले वैद्यों द्वारा बनाया हुआ यह चन्द्रोदय चिकित्सक को सावधानी से समझ कर लेना चाहिये। दु ख है कि प्रायश आज बाजार में इसी की सर्वोपरि सत्ता है जिन के लिए सावधान होने को कहा है। केवल जानकारी मात्र के लिये ही हमने भी यहाँ उनका

उल्लेख किया है। हाँ, जिन प्रयोगों में जैसे—आनन्दभैरव, त्रिभुवनकीर्ति, लक्ष्मीनारायण आदि रसों में हिङ्गुल पड़ता है। हिङ्गुल के स्थान में इस नलिका चन्द्रोदय का प्रयोग किया जावे तो उत्तम होगा॥ १९१॥

अन्यच्च—

त्रिगुणमिह रसेन्द्रमेकमंशं कनकपयोधरतारपङ्कजानाम्।
रसगुणवलिभिर्विधाय पिष्टिं रचय निरन्तरमम्बुभिः कुमार्याः॥ १९२॥

क्रमप्राप्तत्वात्कज्जलीकरणप्रकारमाह—त्रिगुणमित्यादि। इह षड्गुणगन्धकजारणेन रससिन्दूरसंपादनावसरे रसेन्द्रं त्रिगुणं—त्रिभागान्वितं पारदं कनकपयोधरतारपङ्कजानां कनकं-सुवर्णं, पयोधरः-अभ्रकसत्त्वं, तारं-रजतं, पङ्कजं-ताम्रम्, सर्वेषामेकतमस्यैकमंशम्-एकभागात्मकं किन्तु, ममानुभवे तु कनकादीनां प्रत्येकशो ह्येकैकोऽंशो गृह्यते न तु मिलितानामेषामेकतमस्य वा इति गूढाभिसन्धिः। मणिरामोऽपि रसेन्द्रचिन्तामणेष्टीकायामेतदेव मनुते यथा—'कनकादीनामेकमंशं—सर्वेषां भागैकं विकल्पत्वेनैषामन्यतमस्यैकोंऽशो न तु समुदितानां सर्वेषामिति गुरूपदेशः'। रसगुणवलिभिः—षड्गुणगन्धकैः सहैकत्र विधाय—मेलयित्वा निरन्तरं—रात्रिन्दिनं कुमार्या—अम्बुभिः—तन्मध्यभागेन पिष्टिं—कज्जलिकां रचय—संपादय॥ १९२॥

षड्गुणगन्धकजारण में ३ भाग पारा, १-१ भाग सुवर्ण, अभ्रक सत्त्व, चाँदी और ताम्र इन चारों को मिला कर लेना चाहिए, अर्थात् सुवर्णादि चारों की प्रत्येक की तीन-तीन माशा भस्म लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि सबकी भस्म मिल कर पारद के एक भाग में होनी चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि सुवर्णादि चारों की मिलकर तीन माशा भस्म लेनी चाहिए अर्थात् प्रत्येक भस्म ६ ६ रत्ती की मात्रा में लेनी चाहिए। पारद से छै गुणा गन्धक अर्थात् १८ तोले शुद्ध गन्धक लेनी चाहिए। सब द्रव्यों को एक खरल में डाल कर ग्वारपाठे के रस में सतत घुटाई करानी चाहिए। गन्धक और पारद के कण न रहें तब तक मर्दन कराना चाहिए। कज्जली के अनेक प्रकार हो सकते हैं जैसे—एक चतुर्थांश ¼ से लेकर पाँच और षड्गुण तक अर्थात् एक तोले पारद में तीन माशे गन्धक की कज्जली से लेकर छै तोले तक की कज्जली बनाई जाती है॥

आषड्गुणं समादिवलिजारणेन योज्योऽयं योगः, पिष्टिः पात्या कज्जलिकार्थं जारणार्थं च। प्रकारोऽयमधोयन्त्रेणैव सिध्यति, न पुनरूर्ध्वयन्त्रेणेति कज्जली॥ १९३॥

आषड्गुणमित्यादि। समादिबलिजारणेन—पारदात्समभागादिद्विगुणत्रिगुणभागात्मकगन्धकजारणक्रमेण, आषड्गुण—षड्गुणगन्धकजारणपर्यन्तमयं योगो योज्यः। कज्जलिकार्थं जारणार्थं च पिष्टिः पात्या। अयं प्रकारोऽधोयन्त्रेणैव सिध्यति न पुनरूर्ध्वयन्त्रेण इति कज्जली।

रसेन्द्रचिन्तामणिकारस्तु सन्दर्भस्यास्य स्वरूपं किंचिद् भिन्नं कृत्वा दर्शयति व्याख्यानयति च यथा—'आषड्गुणमधरोत्तरसमादिवलिजारणेन योज्येयम्। योगे पिष्टिः पाच्या कज्जलिकार्थं जारणार्थं च॥' इति। अस्यायमभिप्रायः—स्वापेक्षया न्यूनाधिकसमानगन्धकं रसं कज्जलितं कूप्यां भृत्वा तलस्थरससिन्दूरं संपाद्य तत्र पुनरुक्तमानेन गन्धकं दत्त्वा कज्जलितं कूप्यां निक्षिप्य तलस्थरससिन्दूरं संपादयेत्। एवं षड्गुणे बलौ जीर्णे सिद्धं तलस्थरससिन्दूरं डमरुयन्त्रे निक्षिप्य पारदं निष्कास्य तं कज्जल्या योजयेत्।

यदि चेयं पिष्टिर्जारणार्थं-जारणकर्मद्वारा तलस्थरससिन्दूरसंपादनाय योज्या, तदा आपड्गुणमधरोत्तरसमादिवलिजारणेन पाच्या, अधरोत्तरसमादिप्रमाणेन रसे पड्गुण गन्धकं जारयित्वा डमरुयन्त्रेण रसं पृथक्कृत्य पुनस्तत्र समान गन्धक निक्षिप्य तलस्थ-रससिन्दूरं संपाद्यमिति भाव।

प्रयोगार्थकज्जल्या कनकादीन् विहाय रसापेक्षया द्विगुणो गन्धकः प्रक्षेप्यः किं वा कनकादीनां भस्मापि प्रक्षिपेदिति सुगम पन्था । पाकार्थं चाधोयन्त्रे तलस्थरससिन्दूर संपाद्यमिति भाव॥ १९३ ॥

कज्जली का यदि किसी रसादि प्रयोग में उपयोग करना हो तो, सर्वप्रथम पारद को न्यूनाधिक अथवा समान भाग गन्धक जारण-क्रिया से षड्गुण गन्धक-जारित पारद तैयार करके उस पारे से सम भाग गन्धक डाल कर कज्जली बनानी चाहिए। षड्गुणगन्धक जारण के लिए—न्यूनाधिक अथवा सम भाग गन्धक पारद के साथ मिला कर कज्जली करे और उस कज्जली को सात कपरौटी की हुई आतसी शीशी में भर कर भूधर आदि अधोयन्त्र में तलस्थ रससिन्दूर तैयार करे, तत्पश्चात् फिर उसी प्रकार गन्धक मिला कर कज्जली बनाना और भूधर यन्त्र से तलस्थ रससिन्दूर बनाना। यह क्रम षड्गुण गन्धक जारण न हो तब तक चालू रखना। जब षड्गुण गन्धक-जारित तलस्थ रससिन्दूर तैयार हो जावे तब उसको डमरूयन्त्र में रख कर पारद निकाल लेना चाहिए, जिस प्रकार हिङ्गुल से निकाला जाता है तद्वत्। यह पारद कज्जली के रूप में प्रयोगार्थ और जारणार्थ-दोनों के लिए उपयोगी है। यह स्मरण रहे कि यह क्रम केवल अधोयन्त्र से ही साध्य होता है ऊर्ध्वयन्त्र से नहीं॥ १९३ ॥

शीशी और उसको सुदृढ बनाये रखने के लिए जो मृत्कपरौटी की जाती है उसका परिचय साधक को भली प्रकार होना अत्यन्त आवश्यक है। यही बात आगे प्रदर्शित की जा रही है—

काचमृत्तिकयोः कूपी हेम्नोऽयस्तारयोरपि।
कीलालायस्कृतो लेपः खटिकालवणाधिकः॥ १९४॥

संप्रति कूपिकाप्रदर्शनपूर्वकं कूपिकासज्जविधानाय लेपमाह—काचमृत्तिकयोरित्यादि। षड्गुणगन्धकजारणाय काचमृत्तिकयो—काचरचिता, मृत्तिकया वा कूपी योज्या। अथवा राजादिषु धनिकादिगृहेष्वपि हेम्न—सुवर्णस्य, अय—लोहं, तार—रजत तयोरपि कूपिका गृह्यते। एतेन ज्ञायते यदेतेषामन्येषा ना धातूना कूपिकापि भवितुमर्हतीत्यलम्। सम्प्रति तु सर्वत्र मृत्काचलोहकूपिकानामेवोपयोग। खटिकालवणाधिक—खटिका, सौराष्ट्रदेशोद्भवा मृद्वा, लवणं—सैन्धवमेतद्द्वयमधिकं यत्र तादृश कीलालाय—कीलाल—जलम्, अय—लौह-चूर्णं ताभ्यां कृतो लेप सर्वत्र कूपिकादिषु योज्य। अधिकसैन्धवखटिकाचूर्णं लौहचूर्णं च तदर्धं खल्वे दत्त्वा जलेन समर्द्य मृद्वीभूतं चिक्कणीभूत च ज्ञात्वा तेन कूपिकासु लेप कार्य। विशिष्टलेपविधिस्तु प्राक् १९१ गद्यस्य सस्कृतटीकाया प्रतिपादित एव॥ १९४॥

गन्धकादि-जारणार्थ प्रयुक्त होने वाली शीशियाँ प्रायश सुदृढ होनी आवश्यक हैं अत काच, मिट्टी, सुवर्ण, लोह और चान्दी की शीशी लेने की प्रथा रही है। कपरौटी द्वारा उसको मजबूत बनाने के लिए खटिया मिट्टी (मुलतानी मिट्टी और गोपीचन्दन), सेन्धानमक अधिक भाग हो और उससे आधा भाग लोह-चूरा डाल कर जल मे मर्दन कर बनाया हुआ लेप शीशी पर प्रयुक्त होना है। लेपों का पहले ऊर्ध्वाध पातन यन्त्रों के प्रसग में वर्णन किया गया है इसी प्रकार पहले के गद्य १९१ की सस्कृत टीका में उत्तम और सुदृढ लेप दिये हैं जो बहुत ही प्रभावी है॥ १९४॥

आगे वालुकायन्त्र और भूधरयन्त्रों द्वारा सुवर्णाभ्रसत्त्वादि की जारणा प्रतिपादित की जाती है—

अनेन यन्त्रद्वितयेन भूरि हेमाभ्रसत्त्वान्यपि जारयन्ति।
यथेच्छमच्छैः स्वमनोविचारैर्विचक्षणाः पल्लवयन्तु भूयः॥ १९५॥
एतत्त्रिनेत्रादिप्रयोगविषयं न तु पिष्टिमूर्च्छनविषयम्।
क्षालयेदम्लवर्गेण मूर्च्छितं समलं रसम्॥ १९६॥

संप्रति प्रागुक्तयन्त्रद्वितयेन हेमाभ्रसत्त्वजारणविधिं निदर्शयन्नाह—अनेनेत्यादि। विचक्षणाः—कुशला भिषजः, अनेन पूर्वोक्तेन यन्त्रद्वितयेन—वालुकाभूधरयन्त्रद्वयेन यथेच्छम्—इच्छामनतिक्रम्येति, 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वम्। भूरि—प्रचुराण्यपि हेमाभ्रसत्त्वानि—हेम—सुवर्णम्, अभ्रकसत्त्वं, तत्सत्त्वपातनं यथास्थानं वक्ष्ये। अत्र बहुवचनत्वाद् रजतादीनामपि ग्रहणम्। जारयन्ति सुवर्णादिबीजमिति शेषः। तद्भूयोऽच्छैः—निर्मलैः स्वमनोविचारैः—गुरुसकाशात्सक्रियशिक्षितरसशास्त्र—मननसुबुद्धिविज्ञानात्मकस्वान्तःकरणविमर्शैः पल्लवयन्तु—अनेकविधक्रियात्मकशाखाप्रशाखादीन् विस्तारयन्तु। सुतरां स्वाधीतशास्त्रे स्वानुभववैज्ञानिकप्रक्रियाभिरूहापोहकृताभिर्वृद्धिमातन्वन्त्विति भावः। एतद्विधानं त्रिनेत्रादिप्रयोगविषयम्, त्रिनेत्रः—पारदः, स आदिर्येषां प्रयोगाणान्तद्विषयम्। न तु पिष्टिमूर्च्छनविषयम्—पारदमूर्च्छापकत्वम्। किन्तु समलं—सदोषं रसं मूर्च्छितम् अम्लवर्गेण क्षालयेत्॥ १९५-१९६॥

रसकर्म में दक्ष बुद्धिमान् वैद्य पूर्वोक्त (वालुकायन्त्र और भूधरयन्त्र) दोनों यन्त्रों द्वारा बहुत से सुवर्णबीज, अभ्रकसत्त्वबीज आदि का यथेच्छ जारण करते हैं। तत्पश्चात् अपने मनोगत निर्मल विचारों से उस विषय में प्रचुर मात्रा में अनेक क्रियाओं का अनुभव द्वारा विस्तार करते हैं। यह पारे की प्रयोगविषयक चर्चा है, न कि पिष्टि और मूर्च्छना-विषय की। सदोष मूर्च्छित पारे को अम्लवर्ग के द्रव्य-रसों अथवा उष्ण काजी आदि से धो डालने मे ठीक हो जाते हैं।

वक्तव्य—'एतत्त्रिनेत्रादिप्रयोगविषयम्' का तात्पर्य यह है कि ऊपर जिस पारद में सुवर्ण बीज और अभ्रकसत्त्व जारण की चर्चा की है यह केवल प्रयोगों (पारद के द्वारा निर्मित किये जाने वाले त्रिनेत्रादि प्रयोग हैं अर्थात् जिनमें पारे का सयोग होता है उन समस्त प्रयोगों को प्रभावी और सद्य फलदायी बनाने के लिए, ऐसे ही पारे का उपयोग किया जाता है) पिष्टि और मूर्च्छना का यह विषय नही है। पिष्टि और मूर्च्छना का स्वरूप गद्य सख्या १२७ में प्रतिपादित है॥

सर्व प्रकार की जारणाओं में अन्तर्धूमषड्गुणगन्धक-जारणा पारद में सर्वोत्कृष्टता का निर्माण करती है—

अन्तर्धूमविपाचितषड्गुणगन्धेन जारितः सूतः।
स भवेत्सहस्रवेधी तारे ताम्रे भुजङ्गे च॥ १९७॥

अथ सर्वास्वप्येतासु जारणास्वन्तर्धूमषड्गुणगन्धकजारितपारदस्यौत्कृष्ट्यं दर्शयन्नाह—अन्तरित्यादि। स सूतः तारे—रजते, ताम्रे, भुजङ्गे—नागे च सहस्रवेधी भवेत्—अर्थात्स्वप्रमाणतः सहस्रगुणं रजतादिकं सुवर्णं कुर्यादिति तात्पर्यम्। कुतो योऽन्तर्धूमविपाचितषड्गुणगन्धेन—अन्तः—मध्ये यो धूमस्तेन विपाचितः च यत्षड्गुणगन्धं च तदन्तर्धूमविपाचितषड्गुणगन्धः तेन जारितः—षड्गुणगन्धकजारणां परिप्राप्तः, क्वचित् 'षड्गुणगन्धेन' इत्यत्र 'शतगुणगन्धेन' इति पाठभेदः। किन्तु तद् द्वयमप्यसमीचीनं प्रतिभाति, न

कुत्रापि षड्गुणगन्धकजीर्णस्य शतगुणजीर्णस्य वा सहस्रवेधित्वं संभाव्यते। यथाऽत्रैव—'जीर्णे शतगुणे गन्धे शतवेधी भवेद्रस:। सहस्रगुणिते जीर्णे सहस्रांशेन वेधयेत्॥' इति। अत्र षड्गुणगन्धकजारणप्रकरणे षड्गुणगन्धेनेति पाठः स्तयोक्तिरूतत्रापि षड्गुणगन्धेन जारित एव सहस्रवेधी भवेदिति तु तन्योत्कर्षत्वप्रतिपादनार्थैवेति भाव:। देहसिद्धिकरत्वमपि 'षड्गुणगन्धकजारितेनैवोपलभ्यतेऽत' शरीरसाधनाय प्रथम प्रयास: इति ज्ञात्वा पूर्वोक्तपाठ एव श्रेयानित्यवध्येयम्॥ १९७॥

अन्तर्धूम विपाचित विधि से षड्गुण-गन्धक जारित किया हुआ पारा रंजित हो जाता है और और वह अपने से हजार गुने चान्दी, ताम्बा और सीसे को वेधन कर देता है अर्थात् स्वर्ण में परिवर्तित कर देता है।

वक्तव्य—अन्तर्धूम विपाचित षड्गुण गन्धक-जारित पारद उत्तम और प्रभावी होता है उसके प्रयोग से औषधों में अचिन्त्य शक्ति और चमत्कारिक गुणों का समावेश होता है। मृत्यु-मुख में पहुँचे हुए प्राणी को जीवनदान देना सामान्य बात नहीं है। जहाँ पर सभी उपक्रम हाथ टेक देते हैं और ऐसी दशा में यदि कोई कार्य कर गुजरता है तो वह असामान्य और स्तुत्य होता है। संसार उस पर झुक जाता है। एक ही झटके में अर्थात् मृत्युमुख में पहुँचे हुए एक ही रोगी को भला चंगा कर देने से सहसा हजारों लोगों की दृष्टि को वह वेध लेता है। षड्गुणगन्धक जारित पारद में यह गुण सर्वविदित और सर्वशास्त्र सम्मत है। 'षड्गुणे मृत्युजिद्भवेत्', 'षड्गुणे गन्धके जीर्णे सर्वरोगापहो रस:', 'षड्गुणे गन्धके जीर्णे रसो भवति रोगहा।' 'षड्गुणे गन्धके जीर्णे रसो निखिलरोगहा' आदि आयुर्वेदप्रकाश, रसकामधेनु और रससंकेतकलिका आदि के ये उद्गार स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य-जीवन के खतरों के प्रतिकारार्थ अन्तर्धूम विपाचित षड्गुण गन्धक-जारित पारद नितान्त आवश्यक है। इसी अभीष्ट-सिद्धि के लिए षड्गुणगन्धकजारित पारद को यहाँ सहस्रवेधी कहा है। यदि यह फलश्रुति केवल मात्र झुकाव और आकर्षण कर कार्य सिद्धि के लिए नहीं होती तो ग्रन्थकार की कृति में स्वतन्त्र-दोषापत्ति उत्पन्न होती है। जैसे कि इसके आगे ही लिखा है कि 'सहस्रगुणिते जीर्णे सहस्रांशेन वेधयेत्' कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त पाठ पारद के महत्त्व के प्रतिपादनार्थ और स्तुत्यात्मक होने से वह सर्वथा उचित है। और कुछ लोगों ने इस पाठ में परिवर्तन किया है उन्होंने इस रहस्य को समझा नहीं और उतावलापन करके पाठ-परिवर्तन कर दिया है॥ १९७॥

रसरत्नाकरे—

> जीर्णे शतगुणे गन्धे शतवेधी भवेद्रसः।
> सहस्रगुणिते जीर्णे सहस्रांशेन वेधयेत्॥ १९८॥
> एतत्प्रकारस्तु तत्रैव द्रष्टव्यः, प्राधान्यं षड्गुणस्य सर्वसंमतम्॥

इदानीं रसरत्नाकरवचनेनान्तर्धूमजारणासु शतगुणसहस्रगुणगन्धकजीर्णस्योत्कृष्टयं प्रत्यापयन्नाह—जीर्णं इत्यादि। पारदाच्छतगुणे-गन्धे जीर्णे सति रस: शतवेधी भवेत्। स्वमानापेक्षया शतगुणं तारादिकं कनकं विदध्यादिति तात्पर्यम्। तथैव सहस्रगुणिते गन्धे जीर्णे सति सहस्रांशेन वेधयेत्। एतच्छतगुणसहस्रगुणगन्धकजारणस्य प्रकारस्तत्रैव प्रकरणे द्रष्टव्य। अत्र तु देहसिद्धिकरत्वात् षड्गुणस्य—षड्गुणगन्धकजारितस्यैव प्राधान्य सर्वसमतं—सर्वैः सिद्धाचार्यैरनुमोदितमित्यर्थ:। कथ शतवेधित्वं कथं च सहस्रवेधित्वमिति रसहृदयतन्त्रेण प्रदश्यते। यथा—'अष्टानवतिर्भागास्तारस्त्वेकोऽपि कनकभाग स्यात्।

सूतस्यैको भागः शतांशविधिरेष विख्यातः ॥' इति। द्वितीयप्रकारो यथा—'एकोनपञ्चाशद्भागास्तारस्येह तथैव शुल्वस्य। कनकस्यैको भागो वेधश्चैकेन सूतस्य ॥ एवं सहस्रवेधी नियुज्यते कोटिवेधी च। जारणबीजवशेन तु सूतस्य बलाबलं ज्ञात्वा ॥' इति ॥ १९८ ॥

शतगुण एव सहस्रगुणगन्धक-जीर्ण पारा क्रमशः शतवेधी और सहस्रवेधी होता है। यहाँ पर देह-सिद्धिप्रद षड्गुणगन्धकजीर्ण पारद की चर्चा है उसी के आवश्यक विवेचन का प्रधानतः यह प्रकरण है अत एव षड्गुणगन्धकजारणा का ही प्रस्तुत स्पष्टीकरण है, शतगुण और सहस्रगुण का उल्लेख तो केवल प्रसङ्गवश आ गया है, यहाँ का विचार्य विषय यह नहीं है। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण यथा-स्थान किया गया है अतः वहीं देखें।

वक्तव्य—शतगुण और सहस्रगुण का सतवेधित्व और सहस्रवेधित्व होना लिखा है इसका तात्पर्य क्या है? इसका उत्तर संस्कृत टीका में रसहृदयतन्त्रकार के शब्दों में दिया है, जैसे कि—अट्ठानवे भाग चाँदी, एक भाग सोना और एक भाग पारद इन तीनों को इस तादाद में मिलाने को शतांशविधि कहते हैं। इसका दूसरा प्रकार इस प्रकार है, जैसे—उनचास (४९) भाग चाँदी और उतना ही ताम्बा अर्थात् चाँदी और ताम्बा दोनों मिलकर अट्ठानवे तोले हों, एक तोला पारा इस प्रकार मिश्रण करने को शतवेधी कहा जाता है। यही दृष्टिकोण और क्रम सहस्रवेधी, कोटिवेधी आदि में भी उपयोगी है।

देहसिद्धि और लौहसिद्धि ये दोनों आवश्यक और प्रधान हैं। देहसिद्धि के लिये षड्गुणगन्धकजारित पारे की आवश्यकता है और लौहसिद्धि के लिये शतादि जारणाओं की आवश्यकता है किन्तु षड्गुणगन्धकजारण दोनों के लिये आवश्यक है अर्थात् षड्गुणगन्धकजारणा के विना न तो देहसिद्धि मिलती है और न लौहसिद्धि में अधिकार होता है। इसी प्रकार देहसिद्धि के विना लौहसिद्धि भी निरर्थक है। जब शरीर ही आरोग्य और दीर्घजीवी नहीं है तो अर्थ का साधन ही अनावश्यक हो जाता है। सारांश यह है कि षड्गुणगन्धकजारित पारद का सर्वोपरि महत्त्व है और वही देहसिद्धि और लौहसिद्धि की अन्योन्याश्रित कड़ियों का संयोक्ता है ॥ १९८ ॥

षड्गुणगन्धकजारण में किस प्रकार के यन्त्र और क्रम को अपनाने से सरलता और साधुता सम्पन्न होती है। यह अनुभव द्वारा ही प्रतिपादित की जा सकती है। ग्रन्थकार अपने अनुभव से उसका प्रयोग लिखते हैं—

अथ षड्गुणगन्धकजारणायां कच्छपयन्त्रं—

आकण्ठं कलशं भूमौ निखाय जलसंभृतम्।
शरावस्तन्मुखे स्थाप्यो मध्ये च्छिद्रसमन्वितः ॥ १९९ ॥
नीरावियोगिनीं तत्र च्छिद्रे काचविलेपिताम्।
मृन्मूषां स्थापयेत्तस्यामूर्ध्वाधस्तुल्यगन्धकम् ॥ २०० ॥
रसं निक्षिप्य तस्योर्ध्वं शरावेण विमुद्रयेत्।
वन्योपलाग्निं तस्योर्ध्वं ज्वालयेद्गुरुमार्गतः ॥ २०१ ॥
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य पुनस्तुर्यांशगन्धकम्।
दत्त्वा पूर्वक्रमेणैव जारयेत्षड्गुणं बलिम् ॥ २०२ ॥

आकण्ठमित्यादि। जलसंभृत—जलपूरित कलश भूमौ आकण्ठ—कण्ठपर्यन्त निखाय गर्ते स्थापयित्वा तन्मुखे—कलशोपरि मध्ये छिद्रसमन्वितः शरावः—पिधानपात्र स्थाप्यः। तत्र शरावच्छिद्रे नीरावियोगिनीं—नीरं-जलं तस्यावियोगिनी—न वियोगिनी अवियोगिनी तां

संसक्तजलाम् । काचविलेपितां–काचचूर्णविलेपनेन दृढीभूतां मृन्मूषां स्थापयेत् तस्यां मृन्मूषायां रसं निक्षिप्य ऊर्ध्वाधस्तुल्यगन्धकं–पारदसमभाग गन्धकं गृहीत्वा तस्य भाग-द्वयं कृत्वा प्रथमभाग गन्धकं मृन्मूषायामध· स्थापयित्वा तदुपरि पारद संरचय्पुनस्तत्रोपरि द्वितीयभागं गन्धकं दत्त्वा तस्योर्ध्वं–जलपूर्णघटोपरिस्थितमृन्मूषान्वितशरावस्यापरितन-भागमितरशरावेण विमुद्रयेत् । तस्योर्ध्वं वन्योपलाग्निं–वने भवं वन्यं–वन्यं च तदुपलञ्च वन्योपल तेपामग्नि गुरुमार्गतः–मन्दमध्यतीक्ष्णक्रमेण ज्वालयेत् । तत· स्वाङ्गशीत समुद्धृत्य पुनः–भूयस्तुर्यांशगन्धकं–पारदमानतश्चतुर्थांशं गन्ध· दत्त्वा पूर्वक्रमेणैव षड्गुणं बलि-गन्धक जारयेत् ।

विशेष·—मूषालक्षणं रसेन्द्रचूडामणौ यथा—'मुष्णाति दोषान् मूषेयान् सा मूषेति निगद्यते । उपादानं भवेत्तस्या मृत्तिका लोहमेव च ॥' इति । मूषाया महत्त्व तथा–'मूषा-मुखविनिष्क्रान्ता वरमेकापि काकिणी । दुर्जनप्रणिपातेन धिग्लक्षमपि मानिनाम् ॥' मूषार्थं मृत्तिका यथा—'मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा । चिराध्मानसहा सा हि मूषा-र्थमतिशस्यते । तदभावे च वाल्मीकी कौलाली समुदीर्यते ॥ या मृत्तिका दग्धतुषैः शणेन शिखित्रकैर्वा हयलद्दिना च । लातेन दण्डेन च कुट्टिता सा साधारणी स्यात्खलु मूषिकार्थे ॥ श्वेताश्मानस्तुषा दग्धाः शिखित्रा शणकर्पटे । लद्दि किट्टं यथायोग्यं संयोज्या मूषिकामृदि ॥' इति ॥ १९९–२०२ ॥

कच्छपयन्त्र—जल से भरा हुआ घटा कण्ठपर्यन्त जमीन में गड्ढा खोदकर गाड दे और उस घडे के मुख पर छिद्रयुक्त शराव रक्खे, शराव के छिद्र में काच-विलेपित जल से स्पर्श करती हुई-अर्थात् लगती हुई मिट्टी की मूषा रक्खे, मूषा में पारद के बराबर गन्धक लेकर उसके दो भाग करे एक भाग मूषा में पहले बिछा दे उसके ऊपर पारा रख दे और शेष बचा गन्धक का दूसरा भाग पारद के ऊपर डाल दे अर्थात् मूषागत पारद को गन्धक के सपुट (बीच) में रखे, तत्पश्चात् दूसरे शराव से ऊपर से ढक दे अर्थात् नीचे का शराव जो जलयुक्त घडे के मुख पर रखा है जिसमें मूषा रखी गई है उस शराव के आकार का ही दूसरा शराव होना चाहिये ताकि दोनों के मुख भली भाँति मिल सकें । छोटा बडा नहीं होना चाहिये । दोनों के मुखों को मिलाकर मजबूत कपरोटी से सन्धिबन्ध कर दें, अर्थात् मुद्रा लगा दें । मुद्रा सूखने पर उस यन्त्र के ऊपर से वनगोबरी (जगल में गाय, भैंस चरते समय जो गोबर कर देती हैं वह वहीं पडा पडा सूख जाता है उसको वनगोबरी कहा जाता है) की मन्द, मध्य और तीक्ष्ण क्रम से अग्नि दे । स्वाङ्गशीत होने पर पारद को मूषा से निकाल कर पुन पारद से चतुर्थांश गन्धक ऊपर नीचे देकर पूर्वोक्त क्रम से षट्गुणपर्यन्त गन्धक जारण करे ।

वक्तव्य—ऊपर मूषा के दो स्वरूप कहे हैं एक तो मूषा की निर्मिति से सम्बन्धित है जैसे कि–काचविलेपिता–मूषा का जब निर्माण हो चुकता है तब उस पर एक विशेष प्रकार का लेप किया जाता है वह कई प्रकार का होता है और जिन मूषाओं पर यह लेप किया जाता है उनका समावेश 'वर्णमूषा' में होना है जैसे 'क्षितिखेचरलेपिता' इसी का दूसरा पर्याय है 'तूरीपुष्पकासीसाभ्या लेपिता' अर्थात् फूली हुई फिटकरी और कासीस का लेप जिस पर किया जाता है । इसी प्रकार काचविलेपिता का तात्पर्य यह है कि जिस मूषा पर काच को खूब सूक्ष्म पीसकर लेप किया हुआ ह । यह विलेप जिस तरह 'वर्णोत्कर्षक' होता है उसी प्रकार इसमें अग्निसहन की भी विशेष शक्ति निर्माण होती है ।

दूसरा स्वरूप यहाँ कार्य से सम्बन्धित कहा है 'नीरावियोगिनी' अर्थात् मूषा को छिद्रयुक्त

शराव में इस प्रकार रखा जाना चाहिये कि वह नीचे के घटे में जो जल है उसको शराव छिद्र में से होते हुये स्पर्श करता रहे। तात्पर्य यह है कि जल का और मूषा का स्पर्श होते रहना नितान्त आवश्यक है।

मूषा के स्वरूप का लक्षण, उसका उपादान, उसका महत्त्व, उसको बनाने की विधि और उसमें उपयुक्त होने वाले मृत्तिकादि का परिचय ऊपर संस्कृत टीका में दिया गया है॥ १९९-२०२॥

अथान्यप्रकारः—

सूते गन्धं रसैकांशं विक्षिप्य मृदुखल्वके।
तावत्संकुट्टयेत्पिण्डं भवेद्वा ताम्रपात्रके॥ २०३॥
तत्तुल्यं गन्धकं दत्त्वा रुद्ध्वा तल्लोहसंपुटे।
पुटयेद् भूधरे यन्त्रे यावज्जीर्यति गन्धकः॥ २०४॥
एवं पुनः पुनर्गन्धं दद्यादाषड्गुणं बुधः॥ २०४½॥

सूत इत्यादि। सूते रसैकांशं पारदमानात्षडंशं गन्धक मृदुखल्वके-चिक्कणपाषाणघटितखल्वे ताम्रपात्रके वा निक्षिप्य तावत्संकुट्टयेद्यावत्पिण्डं-पिष्टिर्भवेत्। तत्तुल्यं-सूत पिण्डतुल्यं गन्धकं लोहसंपुटे-लोहमूषायां पारदपिण्डोपर्यधश्च दत्त्वा रुद्ध्वा च भूधरे यन्त्रे, भूधरयन्त्रस्य १८६ तमे गद्ये तट्टीकायां चोल्लेखः कृतोऽस्ति। यावत्कालेन गन्धको जीर्यति तावत्कालपर्यन्तं पुटयेत्-अग्निं दद्यात्। एवं पूर्वोक्तविधिना आषड्गुणं-षड्गुणगन्धकजारणावधि बुधो गन्धं पुटं च दद्यादित्यर्थः॥ २०३-२०४½॥

पारद में छठा भाग गन्धक डालकर चिकने पत्थर के खरल अथवा ताम्बे के खरल या पात्र में तब तक घोटे जब तक भली भाँति पिण्ड अर्थात् श्लक्ष्ण कज्जली न बन जावे। उस पिण्ड के बराबर लोहमूषा में नीचे-ऊपर गन्धक देकर उसे बन्दकर भूधरयन्त्र में जब तक गन्धक जीर्ण न हो तब तक पुट देवे। इस प्रकार षड्गुणगन्धकजारण पर्यन्त बार बार गन्धक दे देकर पुट देता रहे।

वक्तव्य—'पिण्ड भवेत्' अर्थात् पारद और गन्धक की घोटाई इस प्रकार मजबूत हाथों से तब तक होनी चाहिये जब तक कज्जली में श्लक्षणता आकर पिण्डाकार न होने लगे। पारद-गन्धक की कज्जली की घोटाई करते समय बीच बीच में उसमें पानी छिडकते जाना चाहिए, ऐसा करने से द्रव्य उछलकर खरल के बाहर नही गिरता है और मर्दन क्रिया निर्भीकता से भलीभाँति होती है। पारद गन्धक की भली प्रकार कज्जली होने से उसको पिण्डस्वरूप मिलता है अत 'पिण्ड' यह पाठ युक्तिसगत है और पिष्टि तथा कज्जलिका काही परिचायक है।

भूधर यन्त्र का वर्णन १८६ के गद्य में विशेपरूप से प्रतिपादित है अत वहाँ पर देखें॥

अथ कच्छपयन्त्रेण गन्धकजारणमाह शार्ङ्गधरः—

मृत्कुण्डे प्रक्षिपेन्नीरं तन्मध्ये च शरावकम्॥ २०५॥
महत्कुण्डपिधानाभं मध्ये मेखलया युतम्।
लिप्त्वा च मेखलामध्यं चूर्णेनात्र रसं क्षिपेत्॥ २०६॥
रसस्योपरि गन्धस्य चूर्णं दद्यात्समांशकम्।
दत्त्वोपरि शरावं च भस्ममुद्रां प्रदापयेत्॥ २०७॥
तस्योपरि पुटं दद्याच्चतुर्भिर्गोमयोपलैः।

एवं पुनः पुनर्गन्धं षड्गुणं जारयेद् बुधः ॥ २०८ ॥
गन्धे जीर्णे भवेत्सूतस्तीक्ष्णाग्निः सर्वकार्यकृत् ॥ २०८½ ॥

मृत्कुण्ड इत्यादि। मृत् कुण्डे-मृन्मयबृहन्मुखभाण्डे-नान्दीत्याख्ये नीरं-जलं प्रक्षिपेत्। तन्मध्ये-मृत्कुण्डान्तर्भागे शरावकं-मृत्कुण्डपिधानार्थं खर्परं स्थापयेत्। कथंभूतं, महत्कुण्डपिधानाभ-बृहत्कुण्डाच्छादकतुल्य मध्ये-अन्तर्भागे मेखलया काञ्च्या युतम्, अर्थात्तस्मिञ्छरावके त्र्यङ्गुलोच्चा मृद्रचिता मेखलाकारा भित्तिः कार्येति भावः। मेखलामध्यं-मेखलाया अन्तर्भागं चूर्णेन-सुधया शुक्तिकाचूर्णेन भस्मना वा लिप्त्वा अत्र चूर्णलेपितमेखलायां रसं-सूतं क्षिपेत्। रसस्योपरि समांशं गन्धस्य चूर्णं दद्यात्। समांशमिति पारदतुल्यं गन्धकमिति ज्ञेयम्। तुल्यताऽत्र प्रत्येकपुटं प्रतीति भावः। अत्र गन्धकविधानं तु अस्यैव संप्रदायतो व्याख्यातम्। अन्यत्र रसस्योपरि चाधश्चेत्यादिमन्त्रः। तदुपरि शरावं दत्त्वा भस्ममुद्रा-विभूतिपांशुलवणाभ्यां कृतामिति संप्रदायः। तस्योपरि चतुर्भिर्गोमयोपलैः-छाणैरित्यर्थः। पुटं दद्यात्। एव विधिना पुनः पुनः षड्गुणं यावद्गन्धं बुधो जारयेत्, अनेन विधिना गन्धे जीर्णे सति सूतस्तीक्ष्णाग्निः-राक्षसवक्त्रवान् सर्वकार्यकृत्-सर्वकर्मसु योग्यो भवेत्।

वक्तव्य.— कच्छपयन्त्रस्य परिमाणं यथा-'प्रसूतगोपलोन्मान सूतकोत्पलकः स्मृतः। लावकः पुटको देय प्रदत्तः सप्तघाटकैः॥ कच्छपस्त्रिगुणैस्तैस्तु कौक्कुटः कच्छपैस्त्रिभिः। कौक्कुटैः पञ्चभिः सिद्धो मेघनादोऽस्य युग्मकैः॥ दुर्गे गजपुटः ख्यातो देय. षष्टिकपालकैः। तैस्तु त्रिगुणितैर्ज्ञेयो दृढाग्निश्च महापुट.॥' इति। शरावोऽत्र लोहमय इति मन्यन्ते केचित्तदुक्त प्राक्। 'उपरिष्टाच्छिद्रं दद्यात् ततो लोहकटोरिकाम्। अयस्कान्तमयी वाऽपि पित्तलीभूतविग्रहामि'त्यादि ॥ २०५-२०८½ ॥

कच्छपयन्त्र—मिट्टी के कुण्डे में जल डालकर उसके बीच तक पहुंचे ऐसे बडे कुण्डे के ढकने तुल्य शराव (सिकोरे) से ढक दे, उस शराव के बीच में मेखलाकार (गोल) तीन अंगुल ऊँची मिट्टी की दीवाल बना कर उसके बीच के भाग को चूना अथवा सीप के चूर्ण से लेप कर उसमें पारा डाले और ऊपर से पारे के समभाग गन्धक का चूर्ण देकर शराव से ढक दे तथा मजबूत राख और सैन्धव नमक की मुद्राकर ऊपर चार बडे बडे उपलों की अग्नि से पुट देवे। इस प्रकार जबतक षट्गुणगन्धक-जारण पूर्णतया नहीं होता है तबतक बार बार गन्धक डालता जावे और पुट देता जावे। षट्गुण-गन्धक-जीर्ण पारा बुभुक्षित एवं समस्त रोगों को नष्ट करने की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है ॥ २०५-२०८½ ॥

रसरत्नाकरे—

संस्थाप्य गोमयं भूमौ पक्वमूषां तथोपरि ॥ २०९ ॥
तन्मध्ये कटुतुम्ब्युत्थं तैलं दत्त्वा रसं क्षिपेत्।
काकमाचीद्रवो देयस्तैलतुल्यः पुनः पुनः ॥ २१० ॥
गन्धकं व्रीहिमात्रं च क्षिप्त्वा तां च निरोधयेत्।
(तत्पृष्ठे श्रावको देयः पूर्णं वा वह्निखर्परम् ॥ २११ ॥
स्वाङ्गशीतलतां ज्ञात्वा जीर्णं तैलं च गन्धकम्।

१ कोष्ठान्तर्गतोऽयं पाठः क्वचित् पुस्तके नोपलभ्यते।

काकमाचीद्रवं चाग्निं दत्त्वा दत्त्वा तु जारयेत् ॥ २१२ ॥
मूषाऽधो गोमयं सान्द्रं दत्त्वा चोर्ध्वं च पावकम् ।
षड्गुणो गन्धको जार्यः सूतस्यैवं मुखं भवेत् ॥ २१३ ॥

संस्थाप्येत्यादि । भूमौ गोमयं संस्थाप्य तथोपरि-गोमयोपरि पक्वमूषां च संस्थाप्य पक्वमूषालक्षणं रसकामधेनौ यथा-'कुलालभाण्डरूपा या दृढैव परिपाचिता । पक्वमूषेति सा प्रोक्ता सा सर्वत्र विपाचने ॥' इति । तन्मध्ये-मूषाया अन्तर्भागे कटुतुम्ब्युत्थं तैलं दत्त्वा तत्र रस-पारदं क्षिपेत् । कटुतुम्बीतैलपातनविधिर्यथा—'कटुतुम्बीति विख्यातां देवि, दिव्यौषधिं शृणु । तस्या बीजानि संगृह्य सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ एकविंशतिवाराणि भाव्य धात्रीरसेन तु । पयसा सहितेनैव विश्वभेषजसंयुतम् । बीज यन्त्रे विनिक्षिप्य तैलं संगृह्य मर्दयेत् ॥' इति । पुनः पुनस्तत्र पारदे कटुतुम्बीतैलतुल्यः काकमाचीद्रव-वायसीस्वरसो देयः । व्रीहिमात्रं-तण्डुलप्रमाणं गन्धकं च क्षिप्त्वा तां पूर्वोक्तां पक्वमूषां च निरोधयेत् । तत्पृष्ठे-पक्वमूषायाः पृष्ठभागे श्रावकः पिधानपात्रं तदुपरि वह्निं च दद्यादिति शेषः । वह्निपूर्णं खर्परं वा दातव्यम् । स्वाङ्गशीतलतां जीर्णगन्धकं तैलं च ज्ञात्वा उद्धरेत् । पुनरपि पूर्वोक्तविधिः कार्यः । पूर्वोक्त-विधिना काकमाचीद्रवं तैलं गन्धकमग्निं च दत्त्वा दत्त्वा मुहुर्मुहुर्जारयेत् । मूषाऽधः सान्द्रं गोमयमूर्ध्वं च पावकम्-अग्निं दत्त्वा षड्गुणो गन्धको जार्यः । एवं कृते सूतस्य मुखं भवेत् । इत्याद्यं जारणम् ॥ २०९-२१३ ॥

जमीन में गीला गोबर रखकर उस पर पक्वमूषा रख दे । मूषा में पारा, कडवी तुम्बी का तैल, तैल के बराबर मकोय का स्वरस और एक चावल के बराबर गन्धक डालकर मूषा को बन्द कर दे, उसके पृष्ठ भाग में अग्नि से भरा ठीकरा रख दे, गन्धक और तैल आदि सब जीर्ण होने पर स्वाङ्गशीतल मूषा को निकाल कर पुनरपि मूषा में पारा, कटुतुम्बी का तैल, मकोय का स्वरस और गन्धक पूर्वोक्त प्रमाण से डालकर गीले गोबर पर मूषा को रखकर ऊपर से अग्नि देवे । यह क्रम तब तक सतत चालू रखना चाहिए जबतक कि षड्गुणगन्धक जारण न हो जावे । इस प्रकार षड्गुणगन्धक-जारित पारद करे तो वह पारा बुभुक्षित हो जाता है । यह अन्तर्धूम गन्धक-जारणा है । इस प्रकार की जारणा को आद्य जारणा कहा जाता है । इस प्रकार षड्गुणगन्धक-जारित पारा शीघ्र ही स्वर्णादि धातुओं को भक्षण करने में समर्थ हो जाता है ॥ २०९-२१३ ॥

अन्तर्धूम विधि से षड्गुणगन्धक जारण के विशेष प्रकारों को जिनमें अधिक परिश्रम और समय की आवश्यकता लगती है । ग्रन्थकार ने अपने स्वानुभव से सफल पाया है और उनका ही यहाँ उल्लेख किया है । अन्तर्धूम विधि से षड्गुण गन्धक जारित पारद के प्रभाव अचिन्त्य और लोकोपकारी हैं । उनके द्वारा सिद्ध पारद मनुष्य-जीवन की समस्त सफलताओं का निर्माता तथा आयु, आरोग्य और अन्तिम ध्येय का साधक होता है । उसके स्पष्ट विवेचन के पश्चात् अब चिकित्सा कर्म में प्रचलित रसादि-प्रयोगों में प्रयुक्त होने वाले पारद जो कि सरलता से साध्य हो सके बहिर्धूम विधि से षड्गुण गन्धक जारण कहते हैं—

अथान्यं यथा—

सूतप्रमाणं सिकताख्ययन्त्रे दत्त्वा बलिं मृद्घटितेऽल्पभाण्डे ।
तैलावशेषं च रसं निदध्यान्मग्नार्धकायं प्रविलोक्य भूयः ॥२१४॥

आषड्गुणं गन्धकमल्पमल्पं क्षिपेद्रसो जीर्णबलिर्बलीयान् ।
रसेषु सर्वेषु नियोजितोऽयमसंशयं हन्ति गदं जवेन ॥२१५॥

अतिदुःखहामन्तर्धूमषड्गुणगन्धकजारणां सम्यग्विलिख्येदानीं चिकित्साकर्मणि प्रचलितेषु येषु केष्वपि रसप्रयोगेषु नियोज्यमानस्य सूतस्य सुसाध्यत्वं वहिर्धूमविधिना षड्गुणगन्धकजारणत्वं प्रदिशन्नाह–सूतप्रमाणमित्यादि । सिकताख्ययन्त्रे–वालुकायन्त्रे । वालुकायन्त्रविधानं १८४ तमे गद्ये द्रष्टव्यम् । मृद्घटितेऽल्पभाण्डे–मृन्मयरचितलघुपात्रे चीनमृत्पात्रे वा सूतप्रमाणं–पारदसमानभाग बलिं–गन्धक दत्त्वा । तद्यन्त्रं चुल्हिकोपरि संस्थाप्य तस्याधोऽग्निं प्रज्वालयेदिति शेषः । पश्चात्तैलावशेषं–प्रक्षिप्तगन्धक द्रुतत्वेन तैलरूपं प्राप्तमिति ज्ञात्वा, अत्र रस–गन्धकसमानभागकं सूतं निदध्यात् । मग्नार्धकायं–तस्मिन् तैले निमग्नोऽर्धकायो यस्य तादृशं पारदं प्रविलोक्य, आषड्गुण–षड्गुणगन्धक जारणपर्यन्तमल्पमल्पं–स्तोकं स्तोक गन्धकं भूयः–वारंवारं क्षिपेत् । एवं विधिना जीर्णबलिः–षड्गुणगन्धकजीर्णो रसो बलीयान्–अतिशयेन बलीति तथोक्तः । अथ पूर्वोक्तः सूतः सर्वेषु रसेषु–रसप्रयोगेषु नियोजितोऽसंशयं जवेन–अतिवेगेन गदं–रोगान् हन्ति । 'षड्गुणे गन्धके जीर्णे सर्वरोगविनाशनम्' इत्युक्तत्वात् । गदमित्यत्र जातित्वादेकवचनम् । इति गन्धकजारणम् ॥ २१४–२१५ ॥

मिट्टी अथवा चीनी के छोटे पात्र में पारे के समभाग गन्धक डालकर उस पात्र को वालुका यन्त्र में रखे और उस यन्त्र को चुल्ही पर रखकर नीचे अग्नि जलावे । गन्धक अग्निसयोग से तेल रूप होने पर उसमें डूबे हुए पारे को देखकर फिर थोडा थोडा गन्धक डालता जाय जब तक कि षड्गुणगन्धक जारण न हो जाये । इस प्रकार से गन्धक जारण किया हुआ पारा अति बलवान् और सम्पूर्ण रसप्रयोगों में डाला हुआ निःसन्देह सब रोगों को नष्ट करने वाला होता है ।

वक्तव्य—रसशास्त्र में षड्गुण गन्धक-जारण का विशेष महत्त्व है । रसवाद और धातुवाद दोनों में गन्धक-जारण सर्वप्रथम और आवश्यक है । गन्धक-जारणा के विना अन्य धातु जारणा न तो सफल ही हो सकती है और न वैसा करना युक्ति-सगत ही है । जो व्यक्ति विना गन्धक जारण किये धातु जारण करते हैं यह अनुभवहीनता का प्रदर्शन है । क्योंकि जब तक पारद में गन्धक जारण नहीं किया जाता है तब तक पारद में क्षुधा ही उत्पन्न नहीं होती है । बुभुक्षा के अभाव में स्वर्णादि धातुओं का जारण भली प्रकार हो नहीं सकता है । अत यह आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है कि सर्वप्रथम पारद में गन्धक-जारण करके अग्निको बढाया जावे । इस वात को 'रसचिन्तामणि' कार स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—

'गन्धकं जारयेत्पूर्वं यन्त्रे कच्छपसञ्ज्ञके । पश्चाद्वै जारयेद् व्योम-हेमप्रभृति यद् भवेत् ॥ पश्चान्नागादयः सर्वे जार्यन्ते रत्नसंकराः । क्रमोऽयं विद्यते सर्वजारणासु न संशयः ॥ विना गन्धेन ये मर्त्याः कुर्वते धातुजारणाः । न क्षुधा जायते सूते जरयन्ति न धातवः । तस्माद्गन्धः पुरा जार्यः सूते वह्निविवृद्धये ॥'

उपर्युक्त क्रम को स्वीकार करते हुए 'आयुर्वेदप्रकाश' कार 'माधव' ने सर्वप्रथम गन्धक-जारणा स्वीकार की है । गन्धक-जारण में ग्रन्थकार ने स्वय सक्रिय अनुभव लिया है और उस अनुभव में जो किंचित् कष्टसाध्य किन्तु बहुगुणी हैं उन विधियों का भी प्रतिपादन किया है और जो सहज साध्य और सरल हैं उन विधियों का विशेष रूप से समावेश किया गया है, जिस से

यह स्पष्ट होता है कि 'आयुर्वेदप्रकाश' का ग्रथन 'माधव' ने ऐसे ही नहीं किया, किन्तु अनुभव और रसशास्त्र की सर्वोत्तम-परम्परा का निर्वाह करते हुए पारद के गुण-विकास के मूलभूत मार्ग का प्रतिपादन किया है। यह 'आयुर्वेदप्रकाश' कार की अपनी सर्वोपरि विशेपता है जिस क्रम को 'रसरत्नाकर', 'रससकेतकलिका' आदि ने स्वीकार किया है उसी का यहा विशिष्ट प्रतिपादन किया गया है ॥ २१४-२१५ ॥

अव, आगे के श्लोक में जारणा क्रम के विधान का सकेत करते हुए एक के पश्चात् दूसरे का जारण आवश्यक है यह दिखाते हुए स्वर्ण-जारण का विधान कहा जाता है—

अथ स्वर्णजारणम् ।

तदुक्तं—

गन्धकजारणमादौ कुर्यादथ जारणं सुवर्णस्य ।
जलधरसत्त्वस्य ततो जारणमथ सर्वलोहानाम् ॥ २१६ ॥

गन्धकसुवर्णयोः पारदे जारणयोग्यत्वाद्गन्धकानन्तरं सुवर्णजारणक्रमानुगतत्वाच्च गन्धकजारणानन्तरं स्वर्णजारणमाह—गन्धकेत्यादि । आदौ–सर्वप्रथमं गन्धकजारणम्, अथेत्यनन्तरं सुवर्णस्य जारणं ततो जलधरसत्त्वस्य–अभ्रकसत्त्वस्य जारणमथ सर्वलोहानां–रजतादीनां जारणं कुर्यात्पारद इति शेपः ॥ २१६ ॥

पारे में सर्वप्रथम गन्धक-जारण करे। इसके वाद क्रमशः सुवर्ण, अभ्रकसत्त्व और चाँदी आदि समस्त धातुओं का जारण करे।

वक्तव्य—सिद्ध नागार्जुन और नित्यनाथादि सिद्ध रसविशेषज्ञों ने यही स्वीकार किया है कि–जारण क्रम की परम्परानुसार सर्वप्रथम गन्धक-जारण, उसके बाद स्वर्ण-जारण तथा अभ्रकसत्त्व-जारण और उसके पश्चात् अवशेष रजतादि धातु और उपधातु एव रत्नों का जारण किया जाता है। जारण परम्परा की दृष्टि से जारणा के दो प्रकार माने गये हैं बालजारणा और वृद्धजारणा। वालजारणा यह नाम ही न्यूनता और अज्ञानता का भावावेशित करता है। वालजारणा उसे कहते हैं जहां प्रथम अभ्रकसत्त्व, गन्धक, स्वर्णमाक्षिक और सुवर्णादि का क्रमपूर्वक जारण किया जाता है। यह जारण-क्रम की परम्परा (बालजारणा) अधम मानी जाती है। बालजारणा क्रम को रसहृदयतन्त्र कारने स्वीकार किया है। वृद्धजारणा यह सज्ञा ही सकेत करती है कि पूर्ण अनुभव के साथ प्राप्त सफलता की यह परिचायक है। इस में वही क्रम है जिसको आयुर्वेदप्रकाश-कारने स्वीकार किया है—जहाँ सर्वप्रथम गन्धकजारणकर सुवर्ण जारण किया जाता है तत्पश्चात् क्रमशः अभ्रकसत्त्व, स्वर्णमाक्षिक, हरिताल और रत्नादि का जारण किया जाता है, यह वृद्धजारणा-क्रम है और इसको सर्वोत्तम माना है। इसी प्रकार निर्मुखा और समुखा जारणा के जो दो प्रकार कहे हैं उनका भी तात्पर्य यही है। निर्मुखा में पारद का मुखकरण जो किया जाता है वह होता नहीं है और समुखा में पारद के दीपनादि सस्कार कर के गन्धक जारण द्वारा मुखकरण किया जाता है और यह प्रधान क्रिया है। जब तक मुखकरण नहीं होता है धातुजारण असमव होता है। इस बात का स्पष्टीकरण ऊपर के श्लोक २१४ की टीका में देखें ॥ २१६ ॥

अथ तदुपयोगिविडकथनम्—

काञ्चनादिग्रसनतीव्रबुभुक्षाकराणि द्रव्याणि विडानि कथ्यन्ते ॥ २१७ ॥

यथा—वज्रिकाण्डं तु वज्राग्रविद्धमष्टाङ्गुलं मृदा।
विलिप्य गोविशाऽल्पाग्नौ पुटितं तत्र शोषितम् ॥ २१८ ॥
त्र्यहं वज्रिविले क्षिप्तो ग्रासार्थी जायते रसः।
ग्रसते गन्धहेमादि वज्रसत्त्वादिकं क्षणात् ॥ २१९ ॥

अथेत्यादि। अथस्वर्णजारणकथनप्रसंगानन्तरम्। पारदस्य बुभुक्षितकरणोपयोगिविडाख्यानम्। सुवर्णादिधातुग्रसनार्थं तीव्रबुभुक्षाजननानि द्रव्याणि-औषधानि विडानि कथ्यन्ते। रसेन्द्रचूडामणौ विडलक्षणं यथा—'क्षारैरम्लैश्च गन्धाद्यैर्मूत्रैश्च पटुभिस्तथा। रसग्रासस्य जीर्णार्थं तद्विडं परिकीर्तितम् ॥' इति। किं नु खलु विडविधानमित्यत आह—किं च विडैरेव जारणाया' सुगमत्वमिति रसहृदयतन्त्रे यथा—'ग्रासं न मुञ्चति न वाञ्छति तं च भूयः, कांश्चिद्गुणान् भजति भुक्तविभुक्तिमात्रम्। यज्जीर्यते प्रचुरकेवलवह्नियोगात्तस्माद्विडैः सुनिविडैः सह जारणा स्यात् ॥' इति।

वज्रिकाण्डमित्यादि। वज्रिकाण्डं-वज्रिणः सकण्टकदण्डमष्टाङ्गुलप्रमाणकं गृहीत्वा वज्राग्रविद्ध-वज्रस्य स्नुहीकाण्डस्य विद्धं कोरितमग्रभागं यत्तदुक्तं लेखनक्रियया कृतमन्तर्भागशून्यं स्नुहीदण्डमिति यावत् कृत्वा तत्र रसगन्धकौ पारदादष्टमांशं गन्धकं ग्राह्यं स्वसम्प्रदायेन गुरूपदेशेन वा प्रक्षिप्य ततो विद्धाग्रभागं स्नुहीखण्डेनैवावरुध्य मृदा-मृत्तिकया च द्व्यङ्गुलपरिणाहं विलिप्य गोविशा-गोमयोपलैः (जातित्वादेकवचनम्) अल्पाग्नौ मन्दाग्नौ पुटितं शोषितं च गन्धकद्रवभागरहितं विदध्यादित्यर्थः। एवं प्रागुक्तरीत्या वज्रिविले-स्नुहीशाखागर्ते त्र्यहं-त्रि-कृत्वा त्रिदिनं यावत्। क्षिप्तो रसः सगन्धपारदो ग्रासार्थी-बुभुक्षितो जायते। स्नुहीकाण्डं प्रतिवारं नवीनं ग्राह्यमिति संकेतः। तेन हेतुनाऽयं सूतो गन्धहेमादि वज्रसत्त्वादिकं च क्षणात्-सत्त्वरमेव ग्रसते। आदिशब्देनात्र रजतताम्रादीनामपि ग्रहणम्। 'वज्रिविले क्षिप्त' इत्यत्र 'वज्रे विनिक्षिप्तः' इति पाठभेदः ॥ २१७-२१९ ॥

स्वर्णजारणविषयक-निर्देश के बाद, सुवर्ण-जारण करने में उपयुक्त होने वाले विडों का वर्णन करना आवश्यक है। विड उन द्रव्यों को कहा जाता है जिनके प्रयोग से पारद में स्वर्णादि ग्रास के भक्षण की शक्ति और भूख उत्पन्न होती है। स्वर्ण यह अत्यन्त कठिन धातु होती हैं अतः स्वर्ण-जारण करने से पहले पारद में विड के योग से वह शक्ति निर्माण करनी चाहिए जिससे स्वर्ण, अभ्रक आदि के ग्रास को भक्षण कर सके और बुभुक्षा उत्पन्न हो सके। प्रायशः क्षार, नवसादर, अम्लपदार्थ, गन्धक, मूत्र और सैन्धव नमक आदि द्रव्य विड कहलाते हैं। यह विड मूषा में पारद के ऊपर और नीचे रखा जाता है। सर्वसाधारणत. विड का भाग पारद से अष्टमांश होता है। न्यूनाधिक मात्रा में भी उसका प्रयोग होता है।

आठ अंगुल थूहर के डण्डे को अन्दर से पोलाकर उस में एक भाग पारा और उससे अष्टमांश गन्धक अर्थात् नीचे-ऊपर गन्धक देना और बीच में पारद को रखना थूहर के टुकडे से ही उसका मुख बन्द कर के मुखसहित पूरे डण्डे पर दो अंगुल मोटी मृत्कपरोटी कर के सुखाना, भली प्रकार सूखने पर गोवरी की मन्दाग्नि में पुट देवे, जब तक गन्धक का द्रव भाग सूख न जावे तब तक। इस प्रकार तीन दिन तक थूहर के डण्डे में रखा हुआ पारा बुभुक्षित हो जाता है। और तत्काल गन्धक, सुवर्ण एवं अभ्रकसत्त्व आदि को खा जाने की शक्ति आ जाती है। यह ध्यान रहे कि थूहर का डण्डा प्रतिदिन नवीन और गीला लेना चाहिए।

वक्तव्य—यह ऊपर हमने प्रतिपादित किया है कि विड का भाग पारद से अष्टमांश होना चाहिए किन्तु ऊपर के पाठ से यह बोध नहीं होता है कि विड का भाग कितना होगा। 'भागेऽनुक्ते सम ग्राह्यम्' इस परिभाषा के अनुसार तो समभाग होना चाहिए किन्तु रसकामधेनु इस का स्पष्टीकरण करती है–**'ऊर्ध्वाधश्च विडं दद्याद्रसेन्द्रादष्टमांशतः। न न्यूनाधिकमाद्द्यादन्यथा दोषकृद्भवेत्॥'** तात्पर्य यह है कि विड पारद से अष्टमाश ही लेना चाहिए न्यूनाधिक नहीं। न्यूनाधिक लेना दोषकारक होता है। यही बात रसप्रकाशसुधाकर कहता है कि–**'स्थापयेत्काचपात्रे तु तदूर्ध्वाधो विडं न्यसेत्। रसस्याष्टमभागेन सम्पुटं कारयेत्ततः॥'** कहने का तात्पर्य यह है कि इनके अतिरिक्त रसरत्नाकर, रसहृदयतन्त्र आदि भी अष्टमाश ही विड की मात्रा का समर्थन करते हैं।

यह भी ध्यान रहे कि भिन्न भिन्न धातुओं के जारणार्थ विड भी भिन्न भिन्न होते हैं। कुछ विड ऐसे भी होते हैं, जो सभी धातुओं के जारण में उपयोगी होते हैं। विड जितना अधिक तेज होता है उतना ही शीघ्र कार्यकारी होता है। अनेकों विड इसी ध्येय से सौ सौ भावना साधित होते हैं। रससाधन के लिए आवश्यक है कि वह विड तयार कर के रखे ताकि कार्य में बाधा और सिद्धि में विकृति उत्पन्न न हो॥ २१७-२१९॥

मूर्च्छाध्यायोक्तषड्गुणबलिजीर्णपिष्टिकोत्थितरसः खल्वेऽत्यन्तं बुभुक्षितो घनहेमवज्रसत्त्वादि त्वरितमेव ग्रसतीत्यन्यप्रकारः। एतद् द्वयमपि कृत्वा व्यवहरन्त्यन्ये॥ २२०॥

मूर्च्छेत्यादि। रसेन्द्रचिन्तामणेर्द्वितीये पारदमूर्च्छनाध्याये प्रतिपादितः षड्गुणगन्धकजीर्णः पिष्टिकोत्थितरसः पिष्टिकया रससिन्दूर सपाद्य तद्डमरुयन्त्रे प्रक्षिप्य पारदाकर्पणविधिना रस निष्कासयेत्। 'खल्वे' इत्यत्र 'खलु' इति पाठान्तरम्। घनम् अभ्रकम्, हेम–सुवर्णम्, वज्रसत्वं–हीरकसत्त्वम्, आदिशब्देन रजतादीना ग्रहणम्। अन्यप्रकारः–द्वितीयोऽय प्रकारः। शेष स्पष्टम्॥ २२०॥

रसेन्द्रचिन्तामणि के पारदमूर्च्छनाध्याय दूसरे प्रकरण में कहा हुआ षड्गुणगन्धकजीर्ण पारद लेकर उसमें समभाग गन्धक मिला कर कज्जली करे और उस कज्जली द्वारा बनाये हुए रससिन्दूर से डमरुयन्त्र द्वारा निकाला हुआ पारा ग्रहण करे, यह पारद बुभुक्षित होता है। इस पारद को खरल में डालकर अभ्रक, सुवर्ण और हीरा आदि का ग्रास देकर मर्दन किया जावे तो वह उस ग्रास को चर जाता है। यह दूसरा विडका प्रकार है। कुछ आचार्य पहले विड प्रकार का और इसका, दोनों का व्यवहार करते हैं॥ २२०॥

अथान्ये विडाः—

सतुत्थं टङ्कणं स्वर्जिः पटु ताम्रे ऽयहोषितम्।
काञ्जकं भावितं तेन गन्धाद्यं चरति क्षणात्॥ २२१॥
विडे सकाञ्जक क्षिप्तो रसः स्मादुसलालसः।
ग्रसते सर्वलोहानि सर्वसत्त्वानि वज्रकम्॥ २२२॥

सतुत्थमित्यादि। सतुत्थ–तुत्थेन सहितं टङ्कण–सौभाग्यक्षारम्, स्वर्जिः–सर्जिक्षारः, पटु सैन्धवलवणम्, काञ्जिक च सर्वमेकत्रीकृत्य ताम्रे–ताम्रपात्रे ऽयहोषितं त्रिदिनं यावत्स्थापितम्, ततस्तेन–तुत्थाद्यकाञ्जिकेन ऽयहोषितद्रव्येण गन्धाद्यं भावितम्।

भावनात्र प्रभाविनी विडनिर्माणार्थमनेकधा कार्या । विडेनानेन भावितं गन्धाद्यं-गन्धक-हेमाभ्रतालप्रभृतिकं क्षणात्-आशु चरति-द्रवतामुपयाति । अथास्मिन् सकाञ्जिके-धान्याम्लसहिते विडे क्षिप्तो रसो ग्रासलालस-सुवर्णादिकवलभक्षणेच्छुको बुभुक्षितः स्यात्तेन हेतुना सर्वलोहानि-स्वर्णादीनि, सर्वसत्त्वानि-समस्तधातूनां सत्त्वानि, वज्रकं-हीरकं च ग्रसते-चरतीत्यर्थः । क्वचित् पुस्तके 'चरति' इत्यत्र 'जरति' इति पाठः ॥२२१-२२२॥

सामान्य विड—काला थोथा, सुहागा, सज्जीखार, सेन्धा नमक और कांजी इन पांचों को काचपात्र में भर कर मुख बन्द करके तीन दिन तक रखे, तीन दिन के पश्चात् इस द्रव्य से गन्धक आदि जो भी कोई धातु जारण करना हो उस उसको भावित किया जावे। भावना जितनी अधिक होगी उतनी ही शक्ति विशेष होगी। गन्धक आदि भावित द्रव्य को पारा तत्काल खा जाता है। अथवा उपर्युक्त तुत्थादि कांजीसहित विड में पारद को डाल कर कुछ दिन रखने से बुभुक्षित हो जाता है और समस्त लोहादि धातु तथा उनके सत्त्व एवं हीरे को ग्रसित करता है ॥ २२१-२२२ ॥

उपर्युक्त तीन अथवा चार विडों को बना कर आगे बडवानल नाम के विड की विधि को कहते हैं—

अथान्यप्रकारः—

> शङ्खचूर्णं रविक्षीरैरातपे भावयेद्दिनम् ।
> तद्वज्जम्बीरजद्रावैर्दिनैकं धूमसारकम् ॥ २२३ ॥
> सौवर्चलमजामूत्रैर्भाव्यं यामचतुष्टयम् ।
> कण्टकारीं च संक्वाथ्य दिनैकं नरमूत्रके ॥ २२४ ॥
> स्वर्जिक्षारं च कासीसं तिन्तिडीकं शिलाजतु ।
> जम्बीरोत्थद्रवैर्भाव्यं पृथग् यामचतुष्टयम् ॥ २२५ ॥
> निस्तुषं जयपालं च मूलकानां द्रवैर्दिनम् ।
> सैन्धवं टङ्कणं गुञ्जां दिनं शिग्रुजटाम्भसा ॥ २२६ ॥
> एतत्सर्वं समांशं तु मर्द्यं जम्बीरजद्रवैः ।
> तद्गोलं रक्षयेद्यत्नाद्विडोऽयं वडवानलः ॥ २२७ ॥
> अनेन मर्दितः सूतः संस्थितस्तप्तखल्वके ।
> स्वर्णादिसर्वलोहानि सत्त्वानि ग्रसते क्षणात् ॥ २२८ ॥

शङ्खचूर्णमित्यादि । शङ्खचूर्णं-शङ्खभस्म, रविक्षीरैः-अर्कदुग्धैर्दिनं यावत्, आतपे-सूर्यघर्मे भावयेत् । तद्वज्जम्बीरजद्रवैः-निम्बूस्वरसैः, धूमसारकं-गृहधूमम्, एकं दिनं यावद्भावयेत् । अजा तस्या मूत्रे सौवर्चलं नाम लवणं यामचतुष्टयं-दिनं यावद्भाव्यम् । नरमूत्रके-मनुष्यमूत्रे कण्टकारीं दिनैकं यावत्संक्वाथ्य स्थापयेत् । कण्टकारीतः षोडशगुणं मूत्रं ग्राह्यं घनं सम्पादनीयमिति । स्वर्जिक्षारं-विश्रुतं, कासीसं, तिन्तिडीकं-चुक्रम् अम्लफलं (कोकम) वा शिलाजतु, एतत्सर्वं द्रव्यजातं यामचतुष्टयं-त्रिंशद्घटिकां यावत्प्रत्येकं पृथक्-भिन्नं भिन्नं, जम्बीरोत्थद्रवैः-निम्बुरसैर्भाव्यम् । जयपालं निस्तुषं-तुषरहितं कृत्वा दिनं यावन्मूलकानां द्रवैर्भावनीयमिति शेषः । शिग्रुजटाम्भसा-शोभाञ्जनमूलत्वक्स्वरसेन दिनम्-एकदिनपर्यन्तं सैन्धवं-लवणं, टङ्कणं-सौभाग्यक्षारं, गुञ्जा चैत-

स्त्रयं भाव्यं पृथगिति शेषः। एवं पृथक्-पृथग् भावयित्वा तदनुभावितं सर्वं द्रव्यमात्रं समांशं-समभागं गृहीत्वा पुनर्जम्बीरजद्रवैर्मर्द्यं, पश्चाद्गुटिकां च सम्पादयेत्। तद्गोलकं यत्नाद्रक्षयेत्। अयं वडवानलाख्यो विडः प्रसिद्धः। अनेन वडवानलनाम्ना विडेन मर्दितः-तप्तखल्वके संस्थितः सूतः स्वर्णादिसर्वलोहानि तेषां समस्तानि सत्त्वानि च क्षणाद् ग्रसते। इति वडवानलो विड॰॥ २२३-२२८॥

वडवानल विड—आक के दूध से नरभस्म को एक दिन सूर्य की धूप में रख कर भावित और शोषित करे, उसी प्रकार निम्बू के रस मे घर के धुवासे को एक दिन भावित करे। बकरी के मूत में सोंचर नमक को चार प्रहर (एक दिन) भावना दे। मनुष्य के मूत में एक दिन कटेरी का क्वाथ करे। कटेरी से सोलह गुणा मनुष्य मूत्र लेना चाहिए। जब अष्टमांश शेष रहे तब कषाय को छान कर कचरे को फेंक दे और कषाय को फिर पका कर उसका घन बना ले। सज्जीखार, हीराकसीस, तिन्तिडीक (टासरिया, चूका अथवा कोकम) और शिलाजीत इन चारों को अलग-अलग जम्मीरी निम्बू के रस से भावित करे। प्रत्येक को एक दिन भावना दे और सूर्य की धूप में रखे। छिलके रहित जमालगोटे के बीजों को मूली के रस से एक दिन भावना दे। सेन्धानमक, सुहागा और गुञ्जा (घुंगची) को एक-एक दिन अलग अलग सहजने के रस की भावना देवे। उपर्युक्त सभी द्रव्यों को भिन्न भिन्न पूर्वोक्त प्रकार से भावित कर के, सबको समान भाग से (बराबर बराबर) लेकर एकत्रित निम्बू के रस में घोट कर गोला बनावे। यह वडवानल नाम का विड तयार हो गया। पारद से अष्टमांश वडवानल विड को मिला कर पारद को विडसहित खरल में डालकर मर्दन करे तो वह पारा सुवर्णादि सम्पूर्ण धातुओं को और उनके सत्त्वों को चरने योग्य हो जाता है॥ २२३-२२८॥

अथ सिद्धलक्ष्मीश्वरतन्त्रोक्तं विडमाह—

मूलकार्द्रकवह्नीनां क्षारं गोमूत्रगालितम्।
वस्त्रपूतो द्रवो ग्रासो गन्धकं तेन भावयेत्॥ २२९॥
शतवारं खरे घर्मे विडोऽयं हेमजारणे॥ २२९½॥

मूलकेत्यादि। मूलक-प्रसिद्धम्, आर्द्रकं-शृङ्गवेरम्, वह्नि'-चित्रक', एषामन्येषां च यथालाभमनतिक्रम्य क्षारः कर्तव्यः। क्षारवृक्षगुल्मौषधिविशेषाः-यथा-'कदलीपलाश-तिलनिचुलकनकसुरदालित्रास्तुकैरण्डाः। वर्षाभूवृषमोक्षकसहिताः क्षारजनकाः॥' इति। तद्विधान च यथा—'आनीय क्षारवृक्षान् कुसुमफलशिफात्वक्प्रवालैरुपेतान्, कृत्वाऽतः खण्डशस्तान् विपुलतरशिलापिष्टगात्रातिशुष्कान्। दग्ध्वा काण्डैस्तिलानां करिसुरभि-हयाम्भोधिरास्राव्य वस्त्रैर्भस्म त्यक्त्वा जल तन्मृदुशिखिनि पचेद्वंशपाकेन धूमः॥ तच्चुष्य-माणं हि सबाष्पबुद्बुदान् यदा विधत्ते क्षणभङ्गुरान् बहून्। तदा क्षिपेत्त्र्यूषणहिङ्गुगन्धकं क्षारत्रय षड् लवणानि भूखगौ॥' इति। गोमूत्रगालित-गोमूत्रे गालयित्वा, वस्त्रपूतो-वाससा निर्मलीभूतो द्रवो ग्राह्यस्तेन वस्त्रपूतक्षारद्रवेण च खरे-प्रचण्डे घर्मे-आतपे गन्धक शतवार भावयेत्। अथ विडो हेमजारणे-सुवर्णजारणे योज्यः। क्षारप्रमाणञ्च भाव्यद्रव्यानुसारम्॥ २२९-२२९½॥

सिद्धलक्ष्मीश्वरतन्त्रोक्त विड—मूली, अद्रक और चित्रक इन तीनों का क्षारविधि से क्षार बनाकर (क्षार बनाने की विधि संस्कृत टीका में ऊपर दी है) उनको गोमूत्र में घोलकर वस्त्र से भलीभाँति छान कर तीक्ष्ण सूर्य की धूप में रखे। जब धूप में रखने से उसमें तीक्ष्णता

उत्पन्न हो जावे तब उससे गन्धक को भावित करे और धूप में रखे, इस प्रकार सौ भावना देकर गन्धक का बिड तैयार करे। यह बिड सुवर्ण-जारण में उत्तम माना जाता है ॥२२६-२२९½।

एवं बिडान्तराण्यपि तन्त्रान्तरादनुसर्तव्यानि ॥ २३० ॥

अन्येषामपि बिडानामन्यतन्त्रान्तरेभ्योऽनुवृत्तिमाह—एवमित्यादि । एवम्-उक्त-प्रकारेणैव बिडान्तराण्यपि-अन्यान्यन्यबिडान्यपि तन्त्रान्तरात्-अन्यतन्त्रेभ्योऽनुसर्तव्यानि-बोध्यानीति भावः । रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'मूलकार्द्रकचित्राणां क्षारैर्गोमूत्रगालितैः । गन्धकः शतशो भाव्यो बिडोऽयं जारणे मतः ॥' तथा-'टङ्कणं शतधा भाव्यं द्रवैः पालाशवृक्षजैः । बिडो वह्निमुखो नाम हितोऽयं सर्वजारणे ॥' 'भावयेन्निम्बुकक्षार देव-दालीफलद्रवैः । एकविंशतिवारं तु बिडोऽयं सत्त्वजारणे ॥' इत्यादि ॥ २३० ॥

विमर्श—इसी प्रकार अन्य वह्निमुख बिड, ज्वालामुखबिड, हंसपाकबिड, शङ्खबिड आदि को रसार्णव, रससार और रसेन्द्रचिन्तामणि-प्रभृतिक रसतन्त्रों से जानकर उनका प्रयोग करना चाहिए ॥ २३० ॥

बुभुक्षित पारद का स्वरूप, ग्रास का प्रमाण और सुवर्ण रूप्यादिधातु और उनके सत्त्वों के चारण तथा जारण के विधान का विवेचन आगे किया जाता है—

चतुःषष्ट्यंशकं हेमपत्रं मायूरमायुना ॥ २३१ ॥
विलिप्तं तप्तखल्वस्थे रसे दत्त्वा विमर्दयेत् ।
दिनं जम्बीरतोयेन ग्रासे ग्रासे त्वयं विधिः ॥ २३२ ॥
शनैः संस्वेदयेद् भूर्जे बद्ध्वा सपटुकाञ्जिके ।
भाण्डके त्रिदिनं सूतं जीर्णस्वर्णं समुद्धरेत् ॥ २३३ ॥
अधिकस्तोलितश्चेत्स्यात्पुनः स्वेद्यः समावधि ।
द्वात्रिंशत्षोडशाष्टांशक्रमेण वसु जारयेत् ॥ २३४ ॥
रूप्यादिषु च सत्त्वेषु विधिरेवंविधः स्मृतः ।
चुल्लिकालवणं गन्धमभावे शिखिपित्ततः ॥ २३५ ॥

अथ ग्रासप्रमाणपूर्वकं स्वर्णरूप्यादिसर्वसत्त्वचारणजारणविधिमाह—चतुरित्यादि । तप्तखल्वस्थे रसे चतुःषष्ट्यंशकं—चतुःषष्टिभागं हेमपत्रं-सुवर्णदलं, मायूरमायुना-मयूरपित्तेन विलिप्तं-विशिष्टप्रकारेण लिप्तं दत्त्वा दिनं यावज्जम्बीरतोयेन-जम्भाम्भसा विमर्दयेत् । ततस्तं सूतं सवस्त्रे भूर्जे बद्ध्वा सपटुकाञ्जिके-लवणकाञ्जिकसहितभाण्डके त्रिदिनं यावच्छनैः-मन्दं मन्दं संस्वेदयेत् । पुनरयं-पूर्वोक्तो विधिर्ग्रासे ग्रासे कर्तव्य इति बोध्यम् । एवं जीर्णस्वर्णं पारदं ज्ञात्वा समुद्धरेत् । तुलया तोलितोऽधिकः स्वमाना-पेक्षया वृद्धश्चेत् पुनः समावधि-समतापर्यन्तं स्वर्णग्रासप्रदानात्प्राग् यावन्मितः पारदो भवेत् तावदेव प्रमाणं भाव्यम्, इति कृत्वा स्वेद्यः । एवं क्रमेण द्वात्रिंशदंशेन, षोडशांशेन, अष्टांशेन च वसु-सुवर्णं जारयेत् । एवंविधो विधिः, रूप्यादिषु-रजतादिधातुषु तत्सत्त्वेषु च जारणे स्मृतः । शिखिपित्ततः-अत्र षष्ठ्यर्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः । अभावे सति चुल्लिकालवणं-नवसादर, गन्धकं वा दद्यात् । चतुरित्यारभ्य विधिरिति यावत् चारणं ज्ञेयम् । तप्तखल्वे हि चारणं भवतीति वचनात्, शनैरित्यारभ्य समुद्धरेदिति यावद् जारणा ज्ञेया ॥ २३१-२३५ ॥

विड का प्रयोग जैसे कि—चौसठवें भाग सुवर्णपत्र (वर्क के) को मोर के पित्त से लेपकर पारे में मिलाकर तप्तखरल में निम्बु के रस से एक दिन मर्दन करे। यह विधि प्रत्येक ग्रास में करनी चाहिए। सुवर्णसहित पारे को भोजपत्र में बाँध कर सेन्धा नमक और काञ्जीयुक्त घडे में तीन दिन तक दोलायन्त्र विधि से मन्द मन्द स्वेदन करे, जब सुवर्ण जीर्ण हो जावे तब पारे को दोलायन्त्र से निकाल कर वस्त्र से भलीभाँति छानकर तौलें। तौलने पर यदि पारा अपने मान से अधिक हो तो, पुनः स्वेदन करे, जब तक कि वह स्वप्रमाण में न आ जावे। १/३२ – १/१६ और १/८ भाग सुवर्ण क्रमशः पारे में जारण करे। यही विधि चाँदी आदि धातुओं और उनके सत्त्वों के जारण की है। यदि मोर का पित्त न मिले तो उसके अभाव में गन्धक और नवसादर लेना चाहिए॥

वक्तव्य—बुभुक्षित पारद किसे कहना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण करते हुए ग्रन्थकार कहता है कि 'अधिकस्तोलितश्चेत्स्यात्पुनः स्वेद्य समावधि।' अर्थात् पारद को स्वर्ण का ग्रास देने के पश्चात् तप्तखरल में मर्दन और दोलायन्त्र में स्वेदन करे, उसके बाद उसको वस्त्र से छान कर और तौल कर देखे। वस्त्र से छानने में यदि स्वर्ण पारद से अलग नहीं होता है तब समझना चाहिए कि पारद और सुवर्ण एक हो गये हैं। इसके पश्चात् उसको ऊर्ध्वपातन यन्त्र से उठाना भी चाहिए यदि पारद स्वर्णसहित ऊपर उठ जाता है तब तो बुभुक्षित हो गया है ऐसा समझना चाहिए और यदि पारद ने स्वर्ण को भस्म के रूप में यन्त्र के तल में छोड़ दिया है और स्वयं ऊपर जा लगा है तो बुभुक्षित नहीं हुआ ऐसा समझना चाहिए। जैसे कि—**'गालनैरूर्ध्वपातैश्चेत्स्वर्णं नायाति दृक्पथम्। मूलमानं च यत्रास्ते जानीयात्त बुभुक्षितम्॥'** किन्तु यहाँ केवल गालन और पातन ही प्रधान नहीं हैं इनके साथ मूलमान का ज्यों का त्यों होना नितान्त आवश्यक है अर्थात् जितना वजन में पारद लिया था उतना ही होना चाहिए, उसमें जो स्वर्ण का ग्रास दिया है उसका वजन बढना नहीं चाहिए, यदि वजन बढता है तो पारद बुभुक्षित नहीं हुआ और उसने स्वर्णग्रास को पचाया नहीं, अतः उसका पुनः स्वेदन करना चाहिए और स्वेदन भी तब तक करते जाना चाहिए जब तक कि वह पारद अपने मूल मान में न आ जावे।

रसहृदयतन्त्र-कार कहते हैं कि जब पारद में ग्रास दिया जाता है और वह समरस हो जाता है तब वस्त्र से छानने और ऊर्ध्वपातन से अलग नहीं होता है और यदि वजन बढता है तब वह बुभुक्षित नहीं हुआ यह तो ठीक है किन्तु गर्भद्रावी अर्थात् अन्तर्द्रुत हो गया है इसलिए वजन तो है पर समरस हो गया है। अब यदि उसको स्वेदित किया जाता है तो वह शीघ्र ही जीर्ण हो जाता है और अपने मूल मान में आ जाता है। जैसे कि—**'समरसतां यदि यातो वस्त्राद्गलितोऽधिकश्च तुलनायाम्। ग्रासो द्रुतः स गर्भे द्रुतवाऽसौ जीर्यते क्षिप्रम्॥'** साराश, यह है कि वस्त्र से छानने और ऊर्ध्वपातन करने से पारद से स्वर्ण अलग न हो, तथा उसका वजन न बढ़े, ये तीनों बातें जब पूर्णतः उपलब्ध हों तभी बुभुक्षित पारद हो गया है यह समझना चाहिए॥ २३१-२३५॥

अथ तप्तखल्वलक्षणम्—

अजाशकृत्तुषाग्निं च खनयित्वा भुवं क्षिपेत्।
तस्योपरिस्थितो लोहखल्वः स तप्तखल्वकः॥ २३६॥

अजाशकृदित्यादि। व्याख्यातमेव पूर्वं विस्तरेण॥ २३६॥

इसकी व्याख्या श्लोक संख्या १६०½ में देखें ॥ २३६ ॥

अथ सिद्धमते दोलायन्त्रेण हेमजारणं यथा—

सग्रासं पञ्चषड्भागैर्यवक्षारैर्विमर्दयेत् ।
सूतं तत्षोडशांशेन गन्धेनाष्टांशकेन वा ॥ २३७ ॥
ततो विमर्द्य जम्बीररसे वा काञ्जिके ऽथवा ।
दोलापाको विधातव्यो दोलायन्त्रमिदं स्मृतम् ॥ २३८ ॥

सग्रासमित्यादि । सग्रासं-ग्राससहितं रसं पञ्च-षड्भागैः यवक्षारैः काञ्जिके इति शेषः । विमर्दयेत् । अथवा तत्षोडशांशेन-पारदात्षोडशभागेन, अष्टांशकेन-अष्टभागेन वा गन्धकेन विमर्द्यस्ततो जम्बीररसे काञ्जिके वा दिनत्रय जीर्णावधि वा दोलापाको विधातव्य इति भावः ॥ २३७-२३८ ॥

दोलायन्त्र—पारद की अपेक्षा चौसठवां १/६४ बत्तीसवां १/३२ सोलहवां १/१६ अथवा आठवाँ १/८ भाग स्वर्ण अथवा रजत का ग्रास दिया गया है उस पारद को पाँच छै भाग जवाखार से काजी में मर्दन करे फिर उस पारे से सोलहवाँ १/१६ अथवा आठवाँ १/८ भाग गन्धक मिड से काजी के साथ मर्दन करे, मर्दन करते करते जब वह द्रव्य कल्क के समान हो जावे तब उसको भोजपत्र में रख कर ऊपर से कपडे की पोटली बना कर दोलायन्त्र विधि से पकाना चाहिए। पाक की काल मर्यादा तीन दिन अथवा ग्रासजीर्ण न हो जावे तब तक की समझनी चाहिए॥२३७-२३८॥

अथान्यत् सिद्धमते कच्छपयन्त्रेण काञ्चनग्रासनं, यथा—

शश्वद्धृताम्बुपात्रस्थशरावच्छिद्रसंस्थिता ।
पक्वमूषा जले तस्यां रसोऽष्टांशविडावृतः ॥ २३९ ॥
संरुद्धो लोहपाव्याऽथ मुद्रितो दृढमुद्रया ।
वालुकां तदुपर्यष्टाङ्गुलमानां विनिक्षिपेत् ॥ २४० ॥
हठात्तदुपरि ध्मातो रसस्तद्गर्भसंस्थितः ।
मायूरमायुना लिप्तं काञ्चनं ग्रसति ध्रुवम् ॥ २४१ ॥

शश्वदित्यादि । शश्वत्-निरन्तरम् , धृतं-धारितमम्बु-जलं यस्मिन् पात्रे तत्रस्थो यः शरावः पिधानपात्र तस्य च्छिद्रे-मध्यगतरन्ध्रनिर्मितपिधानपात्रे संस्थिता पक्वमूषा तल्लक्षणं प्रागुक्तम् । जले भाजनस्य नीरं संसक्ता । तस्या मूषायाम् , अष्टांशविडावृतः अष्टमांशविडसंवृतो रसः, अथेत्यनन्तरम् , लोहपाव्या-लोहपिधानकेन संरुद्धो दृढमुद्रया परिभाषोक्तमुद्राविधानेन मुद्रितस्तदुपरि-मुद्रायुक्तपात्रस्योपरि, अष्टाङ्गुलमानां वालुकां-सिकताराशिं विनिक्षिपेत् । तदुपरि हठात्-तीक्ष्णाग्निना ध्मातः, तद्गर्भसंस्थितः-पक्वमूषान्तःस्थो रसो मायूरमायुना-शिखिपित्तेन लिप्तं समन्ताद् लेपित काञ्चन-सुवर्णं ध्रुव-निश्चयेन ग्रसति । क्वचित्पुस्तके 'काञ्चनग्रसनम्' इत्यत्र काञ्चनकरणमिति पाठान्तरम् । रसेन्द्रचिन्तामणावत्र भिन्नः पाठो यथा—'संरुद्धो लोहपाव्याथ ध्मातो ग्रसति काञ्चनम् । वालुकोपरि पुटो युक्त्या महामुद्रया च निर्वाहः । अतिचिपिटपाव्या पिधाय संलिप्य वह्निना योज्यः ॥' इति ॥ २३९-२४१ ॥

कच्छप यन्त्र—जलसे लबालब भरे हुये घडे के मुखपर छिद्रयुक्त शराव रखकर उस छिद्र में पक्वमूषा को इस प्रकार से रक्खें कि जल का स्पर्श निरन्तर मूषा से बना रहे। मूषा में पारे से आठवें भाग विड में पारा को वेष्टित (लपेट) कर बन्द कर दे और ऊपर लोहे का पतला तवा देकर मजबूत मुद्रा कर दे, तवे पर आठ अंगुल वालू डाल कर ऊपर से तीक्ष्णाग्नि धमन करे। इस प्रकार करने से पारा अपने में स्थित मोर के पित्त से लिये हुए स्वर्ण को निश्चय के साथ खा जाता है।

तात्पर्य यह है कि जल से भरे हुए घडे को कण्ठ तक जमीन में खड्टा खोदकर गाड देना चाहिए। घडे का मुख और जमीन समान स्तर में रहें यह देख ले, फिर उसके मुख पर सच्छिद्र शराव रखकर द्रव्य युक्त मूषा को उस छिद्र में इस प्रकार रखे कि शराव के छिद्र में रखी हुई मूषा पानी को भलीभाँति स्पर्श करती रहे। मूषा-स्थित शराव पर लोहे का तवा इस प्रकार रखे कि शराव के किनारे और तवा दोनों भलीभाँति मिल जावें कहीं अवकाश न रहे उसके बाद तवा और शराव की सन्धि में दृढ मुद्रा करदे और तवे पर आठ अंगुल वालू बिछाकर ऊपर तीक्ष्णाग्नि से जारण करे॥ २३९-२४१॥

उक्तं च—

सच्छिद्रं सलिलापूर्णभाण्डवक्त्रे शरावकम्।
दत्त्वा छिद्रे पक्वमूषा देया नीरावियोगिनी॥ २४२॥
तस्यां विडावृतः सूतो देयो लोहावृते मुखे।
दत्त्वोपरि वालुकां हि मुद्रां दत्त्वा शनैः शनैः॥ २४३॥
ध्मातो ध्मातो ग्रसत्येव काञ्चनं सूक्ष्मतां गतम्।
स्वल्पं स पित्तताप्यार्क्तं शनैर्देयं समावधि॥ २४४॥
देहार्थं धातुवादार्थं प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः॥२४४½॥

सच्छिद्रमित्यादि। सलिलापूर्णभाण्डके-सलिलेन आसमन्तात्पूर्णं यद्भाण्डं तस्य यद्वक्त्रन्तस्मिन्-जलपूरितपात्रे सच्छिद्रशरावक दत्त्वा छिद्रे-शरावरन्ध्रे नीरावियोगिनी-जलस्पर्शकरी पक्वमूषा देया। तस्यां मूषायां विडावृतः-विडसंवेष्टितः सूतो देयः। पुनश्च लोहावृते-लोहनिर्मितपिधानकेनाच्छादिते मुखे सति मुद्रां-दृढां मृत्कर्पटिकां दत्त्वोपरि वालुकां च दत्त्वा शनैः शनैर्ध्मातो ध्मातः-वारवार सूक्ष्मता गतं काञ्चनं सुवर्णं ग्रसत्येव। पुनश्च स्वल्प सपित्तताप्यार्क्तं-मयूरपित्तसहितस्वर्णमाक्षिकं शनैः-मन्द मन्द समावधि। केचित् समावधि-एकतोलकमिते पारदे वीजप्रदानमपि तत्तुल्यमित्यामनन्ति व्याख्यान-यन्ति च। तन्न रमणीय शास्त्रविरोधात्। यथा रसहृदयतन्त्रे जारणावधिविषये—'भवति जलौकाकारस्त्रिशद्भागादविप्लुपश्च विंशत्या। छेदीव षोडशाशादत ऊर्ध्वं दुर्जरो ग्रासः॥' इति पारदसमं यावद्भवेत्तावद् देयम्। एतद्विधानं देहार्थं-रसायनार्थं, किन्तु, अल्पबुद्धयो मूढाः धातुवादार्थं-लोहसिद्धये प्रयच्छन्ति, न पुनर्विज्ञाः॥ २४२-२४४½॥

कच्छपयन्त्र—पानी से भरे हुए घडे को गले तक जमीन में गाड दे और उसके मुख पर छिद्रयुक्त शराव देकर उसके छिद्र पर पक्वमूषा इस प्रकार रखे कि वह जल को शराव के छिद्र से सलग्न रह कर भलीभाति स्पर्श करती रहे। मूषा में विड से सवेष्टित (लिपटा हुआ) पारा रख कर लोहपात्र से मुख बन्द कर दे। ऊपर वालू बिछाकर मजबूत मुद्रा कर धीरे धीरे धमन करे अर्थात् वालू के ऊपर कोयले की अग्नि जलाकर धोंकनी से भली-भाति धमन करे। इस

प्रकार करने से मोर के पित्त और सुवर्णमाक्षिक द्वारा भावित सोने के कंटकवेधी पत्रों को अथवा सुवर्ण वर्क को पारा चर जाता है। इस विधि से थोडे थोडे सुवर्ण का ग्रास देता रहे। सुवर्ण ग्रसित पारेकी यह पहचान है कि जितना पारे का वजन प्रथम था उतना आ रहे, ग्रास प्रदान की हुई वस्तु का वजन न बढे तब समझना चाहिए कि यह पारद ठीक बुभुक्षित हो गया है। यह क्रिया देहवादार्थ की जाती है, न कि धातुवादार्थ। कहने का तात्पर्य यह है कि सुवर्ण-जारण की यह क्रिया केवल रसायन कर्म के लिए ही है। धातुवाद (हल्के धातु से ऊंची कीमत के धातु का निर्माण) के लिए नहीं॥ २४२–२४४½॥

अथ मतान्तरं यथा—

कुण्डाम्भसि लोहमये सविडं सग्रासमीशजं पात्रे।
अतिचिपिटलोहपाट्या विधाय संलिप्य वह्निना योज्यः॥ २४५॥
इयतैव रसायनतात्पर्यं पर्यवस्यति, किन्तु वादस्य न प्राधान्यम्॥

कुण्डाम्भसीत्यादि। कुण्डाम्भसि–जलसंपूरितकुण्डे लोहमये पात्रे सविडं–विडसहितं सग्रासमीशजं–ग्राससहितपारदं प्रक्षिप्य। अतिचिपिटलोहपाट्या–लोहतवकसदृश-चिपिटपात्रेण विधाय संलिप्य–मृत्कर्पटिकया संमुद्रय वह्निना–अग्निना योज्यः, उपरि-ष्टादिति शेषः।

इयतैव–स्वेदनमर्दनमूर्च्छनादिनवसंस्कारानारभ्य स्वर्णजारणपर्यन्तमेव रसायन-तात्पर्यं–यज्जराव्याधिनाशनन्तत्तस्य तात्पर्यं पर्यवस्यति–पर्यवसानं प्राप्नोतीति यावत्, किन्तु वादस्य–वादस्तावत्तात्रादेर्हेमादिकरणं, नाम, तस्य नात्र प्राधान्यमिति॥ इति हेमजारणा॥ २४५–२४६॥

विड एवं ग्रासद्रव्ययुक्त पारेको लोहपात्र में रखकर उस पात्र को जल से भरे कुण्डे पर रख दे और लोहे के तवे से ढक कर मजबूत मुद्रा कर ऊपर से तब तक अग्नि देता रहे, जब तक कि ग्रासद्रव्य पारे में भली-भाँति विलीन न हो जावे। ग्रास का जारण होने से पारद के वजन में वृद्धि नहीं होती है, यदि वृद्धि होती है तो समझना चाहिये कि स्वर्ण-ग्रास का जारण नहीं हुआ है। अत जारणा तक अग्नि देता रहे।

स्वेदनादि से यहाँ तक का यह विषय केवल रसायन से सम्बन्धित है। धातुवाद की प्रधानता यहाँ नहीं है। तात्पर्य यह है कि पारद में देहसिद्धि और लोहसिद्धि इन दोनों को सफल बनाने की शक्ति होती है। 'देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततः स्मृतः' यह साधक की भावना और लगन पर आधारित है वह चाहे जिस सिद्धि की ओर मुड सकता है और उसमें सफलता मिला सकता है। यद्यपि कुछ लोगों की यह मान्यता है कि लोहसिद्धि केवल ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है। यह धारणा साहस और परिश्रम से वंचित लोगों की है तथा ऐसे लोग श्रद्धाविरहित और परावलंबित होते हैं उनमें उत्साह और कुछ कर धीरता से हिम्मत नहीं होती है अत. केवल ईश्वरेच्छा का आवरण रख कर न तो स्वय कुछ करते हैं और न आगे के लोगों की दृढता का संरक्षण ही करते हैं।

'आयुर्वेदप्रकाश'-कारने रसायन सिद्धि में सफल प्रयत्न किया है। विभिन्न प्रकार के अनुभव संग्रह किये है उनकी सफलता की सीमा का स्पर्श किया है। रसायनसिद्धि यह सर्वोपरि है, चिकित्सा क्षेत्र की महान् सफलता का सर्वोपरि साधन है। रसायन सिद्धि के विना धातु सिद्धि कोई मूल्य ही नहीं रखती है। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम

रसायन-सिद्धि को प्रधान माना है और स्वेदनादि अनुवासनान्त नव संस्कारों द्वारा पारद को अपने शुद्ध और निर्मल रूप में प्रगट कर स्वर्ण-जारण तक के अपने सफल अनुभव को प्रस्थापित किया है ॥ २४५–२४६ ॥

इसके आगे देहसिद्धि और लोहसिद्धि की चर्चा की जावेगी। दोनों को सफल बनाने के उद्देश से जारणा के दोनों स्वरूपों का प्रतिपादन किया जाता है—

अथ संप्रत्युभयप्राधान्येन जारणा यथा, तत्र घनसत्त्वजारणम्। यत उक्तं—

घनरहितबीजजारणसंप्राप्तदलादिसिद्धिकृतकृत्याः।
कृपणाः प्राप्य समुद्रं वराटिकालाभसन्तुष्टाः ॥ २४७ ॥
मुक्त्वैकमभ्रसत्त्वं नान्यो रसपक्षकर्तनसमर्थः।
तेन निरुद्धप्रसरो नियम्यते बध्यते च सुखम् ॥ २४८ ॥

घनेत्यादि। व्याख्यातमेव प्राक् ११६ तमे श्लोके। एकं-केवलम्, अभ्रकसत्त्वं मुक्त्वा अन्यः-कश्चिद् द्वितीयो न रसपक्षकर्तनसमर्थः-रसस्य पारदस्य पक्षविच्छेदने क्षमो न भवति। तेन-अभ्रकसत्त्वेन निरुद्धप्रसरः-निरुद्धोऽवरुद्धः प्रसरो गतिर्यस्य स निस्तब्धगतिको नियम्यते-चपलत्वं परित्यज्यते सुखं च बध्यते। विनैकमभ्रकसत्त्वमिति पाठान्तरम् ॥ २४७–२४८ ॥

देहसिद्धि के उद्देश्य से स्वेदनादि स्वर्णजारणान्त विषय का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् अब हम देहवाद एव धातुवादार्थ द्विविध जारणा को प्रधानत॰ कहते हैं। शेप व्याख्या श्लोक ११६ में विस्तार से लिखी गई है, वहीं देखें।

एक अभ्रक सत्त्व के जारण के विना दूसरा कोई भी द्रव्य पारे का पक्षच्छेदन नहीं कर सकता है, अभ्रकसत्त्व जारण करने से ही सुखपूर्वक चाचल्य दोप दूर हो कर पारे का नियमन और बन्धन होता है, अर्थात् अभ्रकसत्त्व जारण करने पर पारद मूर्तिबद्ध हो जाता है।

वक्तव्य—पारद में अग्निस्थायित्व भाव उत्पन्न करना यह विशेष क्रिया है। जब पारद से चाञ्चल्य दोष का परिमार्जन हो जाता है तब वह स्थिरत्व वृत्ति को धारण करता है। पारद के पक्षों का कर्तन केवल अभ्रकसत्त्व ही कर सकता है, अन्य नहीं। अभ्रकसत्त्व-जारण से पारद में जो ऊपर-नीचे दौडने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसका नाश हो जाता है और वह अग्निस्थायी बन जाता है। जैसे कि—'रसहृदये'—**'नाधः पतति न चोर्ध्वं तिष्ठति यन्त्रे भवेन्न चोद्गारी। अभ्रकजीर्णस्तु रसः पक्षच्छिन्नस्तु विज्ञेयः॥'** माधवोपाध्याय ने अपने इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है प्रायश अपने अनुभव के आधार पर ही लिखा है, साथ ही शास्त्र क्रम का भी जहाँ तक सभव हुआ है पूर्णत अनुगमन किया है। स्वेदनादि नव सस्कारों के पश्चात् मुखकरण के लिए गन्धक जारण अत्यन्त और अपरिहार्य है उसके विना पारद में किसी भी धातु के ग्रास को जीर्ण करने की रुचि और सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होती है। गन्धक-जारण से पारद में जब भली भाति बुभुक्षा उत्पन्न हो जाती है तब सुवर्ण का ग्रास दिया जाता है। सुवर्ण ग्रास देने का तात्पर्य यह है कि सुवर्ण यह निर्मल और स्वच्छ धातु है इस लिए ग्रसित होने में विशेष असुविधा नही होगी और पारद को धातु ग्रसन की आदत हो जावेगी। यह शास्त्रक्रम है और इसको ही अपना मूल और प्रधान उद्देश्य बनाकर 'आयुर्वेदप्रकाश' कारने अनुभव की कसौटी पर कसा है जैसे कि पहले कहा है-**'गन्धकजारणमादौ कुर्यादथ जारणं सुवर्णस्य। जलधरसत्त्वस्य ततो जारणमथ सर्वलोहानाम् ॥'** ठीक, यही क्रम 'आयुर्वेदप्रकाश' का है।

अन्य रसतन्त्रकारों ने इसको इतना प्रधान महत्त्व नहीं दिया है और यही हेतु है कि उनके कार्य सम्पादन में बड़ी कठिनता और सन्देह उपस्थित हो जाता है और ऐसी दशा में रससाधक अपने साहस को खो बैठता और विचलित हो कर कार्य से विमुख हो जाता है। इस का परिणाम यह होता है कि अन्य किसी का भी आगे आने का साहस नहीं होता है और यही हुआ है, किन्तु 'आयुर्वेदप्रकाश' का क्रम और अनुभव दोनों एकात्म स्वरूप और सफल है। यह क्रम साधक में निराशा और असफल होने की भावना उत्पन्न नहीं होने देता है। प्रतिदिन प्रत्येक संस्कार से अनुभव की दिशा उज्ज्वल और प्रगतिशील होती जाती है अतः साहस बढ़ता जाता है ॥ २४७-२४८ ॥

धातुवादार्थ किस धातु के लिए किस वर्ण के अभ्रक का प्रयोग सार्थक और आवश्यक है यह आगे कहा जाता है—

रक्तं पीतं च हेमार्थे कृष्णं हेमशरीरयोः ।
तारकर्माणि तच्छुक्लं काचकिट्टं सदा त्यजेत् ॥ २४९ ॥

अधुना धातुवादेऽभ्रकप्रयोगं दर्शयति-रक्तमित्यादि । हेमार्थे-सुवर्णनिर्माणाय रक्तं रक्तवर्णं पीतं-पीतवर्णं चाभ्रमेव योज्यम् । कृष्णं-कृष्णवर्णम् अभ्रकं, हेमशरीरयोः— सुवर्णदेहयोर्द्वयोः प्रयोगे संयोजनीयम् । तारकर्मणि-रजतनिर्माणविधौ तदभ्रकं शुक्लवर्णं प्रशस्यते । काचकिट्टं च सदा सर्वकर्मसु त्यजेत् ॥ २४९ ॥

लाल एवं पीला अभ्रक सुवर्ण बनाने के लिए, कृष्ण अभ्रक सुवर्ण तथा देह-साधन के लिए, श्वेताभ्रक चांदी बनाने के काम में आता है तथा काचकिट्ट सदैव त्याज्य है।

वक्तव्य—लाल, पीला, काला और श्वेत भेद से अभ्रक चार प्रकार का होता है। लाल और पीला अभ्रक सुवर्ण बनाने के उपयोग में आता है, कृष्ण अभ्रक यह सर्वोपयोगी होने से धातुनिर्माण और रसायन निर्माण में उपयुक्त समझा जाता है। श्वेताभ्रक रजत के निर्माण में उपयोगी है। यह सिद्धान्त रसार्णव, रसरत्नसमुच्चय, रसप्रकाश आदि सभी ने स्वीकार किया है। कृष्णाभ्रक ही सर्वश्रेष्ठ है। उसके प्रयोग से ही रसायनवाद और लोहवाद को सफल बनाने के प्रयोग उत्तम होते हैं। अभ्रक की विशेषताओं को अभ्रक के वर्णन में यथास्थान देखें ॥ २४९ ॥

आगे के श्लोक में समुख जारणा के स्वरूप को प्रतिपादित किया जाता है—

त्रुटिशो दत्त्वा मृदितं सोष्णे खल्वेऽभ्रसत्त्वहेमादि ।
चरति रसेन्द्रः क्षितिखगवेतसजम्बीरबीजपूराम्लैः ॥ २५० ॥

संप्रति समुखे रसेऽभ्रसत्त्वादिजारणमाह-त्रुटिश इत्यादि । रसेन्द्रः-सूतः सोष्णे खल्वे-तप्तखल्वे, अभ्रसत्त्वहेमादि-यथासम्भवमभ्रकसत्त्वसुवर्णादि, त्रुटिशः कणशः कृत्वा दत्त्वा च उक्तखल्वे क्षितिखगः-कासीसम् , अन्ये तु स्फटिका कासीसं वा इति समर्थयन्ति । वेतसम्-अम्लवेतसं, जम्बीराम्लं-निम्बूरसं, बीजपूराम्लंबीजपूरस्वरसम्-एभिः समस्तैर्मृदितं सदभ्रकादीन् चरति । प्रबन्धकारो यथा-अम्लस्याभावे पूर्वसाधितकाञ्जिकमपि ज्ञेयम् । क्षितिखगः-कासीसम् ॥ इति ॥ २५० ॥

तप्त खरल में पारद को डाल कर उस में थोडा थोडा (कण-कण) अभ्रकसत्त्व और सुवर्ण आद धातुओं को डालता जावे और हीराकसीस, अम्लवेत, जम्भीरी निम्बू, और बिजोरा

निम्बू के अम्ल जल से भलीभाति मर्दन करे। अभ्र सुवर्णादि जिन धातुओं का ग्रास देना है उनको भी हीराकसीस, अम्लवेत, जम्मीरी निम्बू आदि से पहले भावित कर के तयार रखना चाहिए। भावित धातुओं का कणशः ग्रास देकर मर्दन करने से पारा उनको खा जाता है। निम्बू स्वरसादि अम्ल द्रव्य उपलब्ध न हो तो खट्टी काजी भी उपयोग में ली जा सकती है।

वक्तव्य—साधारणतः अभ्रकजारण के दो प्रकार माने गये हैं (१) पत्राभ्रजारण (२) सत्त्वजारण। निर्मुख, समुख और वासनामुख भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार का होता है। अर्थात् पत्राभ्रजारण तीन प्रकार का और सत्त्वजारण तीन प्रकार का है। जैसे कि–रसार्णव-कार लिखता है कि—

'शृणु देवि, प्रवक्ष्यामि व्योमजारणमुत्तमम्। पत्राभ्रजारणं सत्त्वजारणञ्चेति तद् द्विधा। निर्मुखं समुखं चैव वासनामुखमेव च। एकैकं त्रिविधं तच्च तद्वक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥' इति। पत्राभ्रजारण से अभ्रकसत्त्व-जारण विशेष महत्त्व रखता है। अभ्रक जारण से अभ्रकसत्त्व-जारण दशगुणा अधिक प्रभावी होता है और अभ्रक-द्रुति उससे भी अधिक प्रभावी है। जैसे कि रसकामधेनु-कार लिखता है–**'व्योम्नो दशगुणं सत्त्वं सत्त्वाद्दशगुणा द्रुतिः'**। यही कारण है कि आयुर्वेदप्रकाश-कारने अभ्रकसत्त्वजारण पर ही प्रधान लक्ष्य दिया है और उसी की विधि लिखी है। अभ्रकसत्त्वजारण के निर्मुख, समुख और वासनामुख भेद से तीन प्रकार हैं। समुख अभ्रकजारणा सरल और सुगम होने से ही यहा लिखी गई है। यों ग्रन्थान्तरों में निर्मुख और वासनामुख की विधि लिखी है। केवल ज्ञानार्थ उनको यहा उद्धृत किया जाता है। जैसे कि–**'वैक्रान्तवज्रसंस्पर्शाद् दिव्यौषधिवलेन वा। निर्मुखो भक्षयेद् देवि, घ्राणेन गगनं रसः॥'** (रसार्णव) **'वासनामुखं तु गन्धयुक्तं हेमाभ्रं तारा भ्रमित्यादि च द्वन्द्वलक्षणम्।'** (रसकामधेनु) पत्राभ्र-जारण की विधिया रसकामधेनु और रसार्णव आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं॥ २५०॥

अभ्रकजारणमादौ गर्भद्रुतिजारणं च हेम्नोऽन्ते।
यो जानाति न वादी वृथैव सोऽर्थक्षयं कुरुते॥ २५१॥

अभ्रकेत्यादि। व्याख्यातमेव पूर्वं ११७ तमे श्लोके विस्तरेण।

विशेषश्च–यद्यपि जानन्ति रसशास्त्रविदो हि जारणायां सर्वतः प्राग् गन्धकजारणमेव सर्वतन्त्रकाराः समाद्रियन्ते। यथा हि रसचिन्तामणौ–'विना गन्धेन ये मर्त्याः कुर्वते धातुजारणम्। न क्षुधा जायते सूते जीर्यन्ते धातवोऽपि न। तस्माद्गन्धः पुरा जार्यः सूते वह्निविवृद्धये॥' इत्युक्तत्वादादौ गन्धकजारणा सिध्यति। अत एव ग्रन्थकारः प्राग् लिखति यथा–'गन्धकजारणमादौ कुर्यादथ जारणं सुवर्णस्य। जलधरसत्त्वस्य ततो जारणमथ सर्वलोहानाम्॥' इति। पुनश्चात्र अभ्रकजारणमादावित्याद्युपर्युक्तशास्त्रेण भिन्नं क्रमं प्रकटयतीत्येतेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोर्विरोधः समापततीति नात्र शङ्क्यं कैश्चिदपि।

यतः शरीरसिद्धये यदि चेत्सूतसाधना तदा तु सर्वतः प्राग् गन्धकजारणमेवाभीष्टं, धातुवादार्थं चेत्तत्राभ्रकजारणमिति दिक्।

अथवा वालवृद्धजारणाभेदेन द्विविधा भवति जारणा। रसार्णवे यथा–'जारणा द्विविधा वालजारणा वृद्धजारणा। (अन्या तु खोटवन्धेन धातुभिर्वृ (वृ)द्ध जारणा) तत्रादौ परमेशानि वक्ष्यते वालजारणा॥' तत्र क्रमः–'गगनं जारयेदादौ सर्वसत्त्वमतः परमि'त्यादिना वालजारणा वोध्या।' रसचिन्तामणौ यथा–'गन्धकं जारयेत्पूर्वं यन्त्रे कच्छपसंज्ञके।

पश्चाच्च जारयेद्धेम व्योमप्रभृति यद्यवेदि'त्यादिना वृद्धजारणा। उपर्युक्तप्रमाणैर्ग्रन्थोऽयं न स्वतन्त्रविरोधप्रदर्शको न च परतन्त्रविरोधप्रदर्शकः किन्तु सर्वसम्मत इति सिध्यति। इत्यभ्रकसत्त्वजारणा ॥ २५१ ॥

इसकी स्पष्ट व्याख्या श्लोक ११७ में कर दी गई है ॥ २५१ ॥

अथ गर्भद्रुतिः—

व्योमसत्त्वं समांशेन ताप्यसत्त्वेन संयुतम्।
साकल्येन चरेद्देवि, गर्भद्रावी भवेद्रसः ॥ २५२ ॥

एवं हेमताराभ्रादयः स्वस्वरिपुणा निर्व्यूढाः प्रयोजनमवलोक्य प्रयोज्याः। गर्भद्रुतिमन्तरेण जारणैव न स्यात्। अतस्तल्लक्षणमाह—वह्निव्यतिरेकेऽपि रसग्रासीकृतानां (लोहानां) द्रवत्वं गर्भद्रुतिः ॥ २५३ ॥

अथाभ्रकजारणागर्भद्रुत्योः परस्परं सहचारित्वादेकक्रियासाधनयोग्यत्वादभ्रकजारणानन्तर गर्भद्रुतिमाह—व्योमसत्त्वमित्यादि। हे देवि—शिवे, समांशेन—तुल्यभागेन ताप्यसत्त्वेन—सुवर्णमाक्षिकसत्त्वेन संयुत व्योमसत्त्वम्—अभ्रकसत्त्वम् आदाय विडेन सह तप्तखल्वे मर्दयेत्तेन रसः साकल्येन—सकलेन कृत्स्नभावेन ग्रासं चरेत्। गर्भद्रावी च भवेत्। ग्रस्तद्रव्याणां द्रवो भवति यस्मिन् स गर्भद्रावीति बोध्यम्। एवम्—अमुना प्रकारेण हेम—सुवर्णं, तारं—रजतम्, अभ्रम्, आदिशब्देन अन्येषामपि ग्रहणम्। एते स्वस्वरिपुणा—स्वस्ववैरिणा मारकेणेति यावत्। यथा स्वर्णमारणे नागमाक्षिकौ प्रसिद्धावेवमितरेषामपि मारका अनुसरणीयाः। रसेन्द्रसारसंग्रहे यथा—'नागैः सुवर्णं रजत च ताप्यैर्गन्धेन ताम्रं शिलया च नागम्। तालेन वङ्गं त्रिविध च लोह नारीपयो हन्ति च हिङ्गुलेन ॥' इति। 'निर्व्यूढाः समर्दिताः प्रयोजनमवलोक्य कार्यावश्यक दृष्ट्वा प्रयोज्याः। गर्भद्रुतिमन्तरेण—गर्भद्रुतिविधानेन विना जारणैव न स्यात्। अतस्तल्लक्षणं कथ्यते—वह्निव्यतिरेकेऽपि—अग्नितापं विनापि रसग्रासीकृताना पारदान्तःकवलितानां सुवर्णादीनां द्रवत्व रसवद्द्रवनं गर्भद्रुतिः। तदुक्त रसेन्द्रचूडामणौ यथा—'ग्रस्तस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहृता।' इति। अवलोक्यते तस्या अपि बाह्यान्तर्भेदेन द्वैविध्यम्। उक्त च तत्रैव—'बहिरेव द्रुतीकृत्य घनसत्त्वादिकं खलु। जारणाय रसेन्द्रस्य सा बाह्या द्रुतिरुच्यते ॥' इति। तस्या लक्षणं यथात्रैव—'निर्लेपत्वं द्रवत्व च तेजस्त्वं लघुता तथा। द्रुत योगश्च सूतेन पञ्चधा द्रुतिलक्षणम् ॥' इति। फलं परीक्षा च तन्त्रान्तरे यथा—'गर्भद्रुत्या रहितो ग्रासो जीर्णोऽपि नैकतां याति। एकीभावेन विना न जीर्यते हि सा कार्या ॥ रससमता यदि यातो वस्त्राद्गलितोऽधिकश्च तुलनायाम्। ग्रासो द्रुतः सगर्भे दत्वाऽसौ जीर्यते क्षिप्रम् ॥' इति। यद्यपि द्रुतिविधानविषये बहुप्रपञ्चित शास्त्रकारैः किन्तु द्रुतेरसाध्यत्वमिति ज्ञात्वा नात्राधिकं प्रतिपाद्यते। तदुक्तसाध्यत्व यथा—'द्रुतयोऽपि न सिध्यन्ति शास्त्रे दृष्टा अपि ध्रुवम्। विना शम्भोः प्रसादेन न सिध्यन्ति कदाचन ॥' इति। ॥ २५२–२५३ ॥

गर्भद्रुति—सुवर्णमाक्षिक-सत्त्व के बराबर मिले हुए अभ्रकसत्त्व के पूरे चर लेने पर पारा गर्भद्रावी हो जाता है अर्थात् सुवर्णमाक्षिक-सत्त्व और अभ्रकसत्त्व दोनों को समभाग में लेकर थोडा थोडा पारद में मिलाकर तीनों को तप्त खल में मर्दन करने से अथवा मूषा में रखकर सन्धि बन्द कर दो धोंकनियों की सहायता से खैर की तीक्ष्णाग्नि में तब तक धमन करता रहे

जब तक अभ्रकसत्त्व द्रव होकर पारद में समरस न हो जावे। ऐसा करने से पारा अभ्रकसत्त्व को पूर्णत. भक्षण कर लेता है और गर्भद्रावी हो जाता है। इसी प्रकार सुवर्ण, चाँदी और अभ्रक आदि धातु अपने मारक द्रव्यों द्वारा मार कर (भस्म बनाकर) पारद के साथ मर्दन करने से पारद में समरस हो जाते हैं किन्तु इनका प्रयोग वहीं और उसी क्रम से करना चाहिए जहाँ पर इनका प्रयोजन बताया गया हो। गर्भद्रुति के बिना जारणा हो ही नहीं सकती है। अत अभ्रकजारण के लिए गर्भद्रुति सर्वथा अनिवार्य है। गर्भद्रुति का स्वरूप और लक्षण क्या है इस लिए कहते हैं कि—अग्नि के बिना ही पारद के द्वारा ग्रास किये हुए लोहों का द्रवत्व ही गर्भद्रुति कहाती है।

वक्तव्य—'व्योमसत्त्वं समांशेन ताप्यसत्त्वेन संयुतम्' यह वाक्य इस बात का संकेत करता है कि पारद कभी भी केवल अभ्रकसत्त्व का पूर्ण रूप से भक्षण नहीं करता है उसके साथ स्वर्णमाक्षिक सत्त्व आदि का मेल आवश्यक है। यही हेतु है कि अभ्रकसत्त्व के साथ समभाग में ताम्र और स्वर्णमाक्षिकसत्त्व अथवा केवल माक्षिकसत्त्व का योग दिया जाता है। जैसे कि— **'केवलमभ्रकसत्त्वं ग्रसते यस्मान्न सर्वाङ्गम्। कमलवनमाक्षिकाणां चूर्णं समभागयोजितं मिलति॥'** (र का) स्वर्णादि धातुओं को भी जब जारण किया जाता है और उनको गर्भद्रावी बनाया जाता है तब उनको उनके मारकद्रव्यों से मारकर ही प्रयोग में लिया जाता है। धातु से धातुमारण का प्रयोजन केवल बीज निर्माणार्थ ही है। पारद में धातु का गर्भद्रावी होना उसके मारक द्रव्य द्वारा मारित होने से ही सम्भव है। धातुमारक द्रव्यों का संस्कृत टीका में परिचय दिया गया है। शत्रुलोह से लोह का मारण (भस्म) करना उचित नहीं है। जैसे कि—**'अरिलोहेन लोहस्य मारणं दुर्गुणप्रदम्।'** अर्थात् शत्रुलोह से लोह का मारण दुर्गुणकर होता है। रसायन क्रिया में ही अरिलोहमारित द्रव्य का निषेध है धातुवाद में नहीं है। रसायन क्रिया में भी पारद में जारण करने के लिए उपयुक्त करना अनुचित नहीं है किन्तु रसौषधों में वह अव्यवहार्य होता है।

गर्भद्रुति का स्वरूप बताते हुए ऊपर लिखा है कि—**'वह्निव्यतिरेकेऽपि रसग्रासीकृतानां (लोहानां) द्रवत्वं गर्भद्रुतिः।'** अर्थात् अग्नि के बिना भी पारद द्वारा ग्रास किये लोहों का द्रवत्व ही द्रुति कहाती है। रसेन्द्रचूडामणि-कार द्रुति के लक्षण इस प्रकार करते हैं कि—**'औषधाध्मानयोगेन लोहधात्वादिकं सदा। संतिष्ठते द्रवाकारं सा द्रुतिः परिकीर्तिता॥'** अर्थात् औषधसंयुक्त धातुओं को पारद में जारण करके धमन करने से जो द्रवत्व-निर्माण होता है उसको द्रुति कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्नि के बिना पारद में जरणत्व शक्ति का जो आधान हुआ रहता है उससे जो धातुओं का द्रवत्व होता है वही सर्वोत्तम है। धातुजारण के पश्चात् भी द्रवत्व-निर्माण करने के लिए अग्निसंयोग किया जाता है वह सामान्य विधि का सूचक है।

जिस प्रकार मुख में ग्रास डाला जाता है उसी प्रकार पारद में अभ्रकसत्त्व आदि मिलाया जाता है उसको ही ग्रास कहा है। भोजन ग्रास के सम्यक् पाचन के लिए अनेक रसान्वित होना आवश्यक है उसी प्रकार स्वर्णमाक्षिक, ताम्र आदि का संयोग भी अभ्रकसत्त्व आदि के भली प्रकार जारण होने के लिए आवश्यक है। उदर में आहार पचन होने पर आहारसत्त्व रसधातु में जाता है उसी प्रकार पारद के गर्भ में जीर्ण हुआ अभ्रकसत्त्वादि का ग्रास द्रव हो कर समरसता में परिणत होता है जब तक वह भलीप्रकार द्रव होकर उसके स्वरूप में मिल नहीं जाता है तब तक पारद के वजन में वृद्धि प्रतीत होती है किन्तु जब भली प्रकार जीर्ण हो

जाता है तब ग्रास दिए द्रव्य का वजन नहीं रहता है पारद' अपने ही मूल वजन में कायम रहता है ॥ २५२-२५३ ॥

रसायनवाद और धातुवाद इन दोनों की सिद्धि के लिए सुवर्णवीज, रौप्यबीज तथा शंकरवीज आदि का जारण नितान्त आवश्यक है जब तक इनका जारण नहीं किया जाता है तब तक पारद उपर्युक्त सिद्धि नहीं दे सकता है। एतदर्थ आचार्य वीजों के निर्मापक संस्कारों को आगे कहते हैं—

वीजानां संस्कारः कर्तव्यस्ताप्यसत्त्वसंयोगात् ।
येन द्रवन्ति गर्भे रसराजस्याम्लवर्गेण ॥ २५४ ॥

गर्भद्रुतिविधानाय वीजानां संस्कारमाह-वीजानामित्यादि। ताप्यस्य-सुवर्णमाक्षिकस्य सत्त्वं, सत्त्वलक्षणं रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'क्षाराम्लद्रावकैर्युक्तं ध्मातमारककोष्ठके। यस्ततो निर्गतः सारः सत्त्वमित्यभिधीयते ॥' इति। तत्संयोगात् वीजानां-शुद्धसुवर्णरजतादीनां तदुक्तं वीजलक्षणं रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'निर्वाहणविशेषेण तत्तद्वर्णं भवेद्यथा। मृदुलं चित्रसंस्कारं तद्वीजमिति कथ्यते ॥' तथा च-'शुद्धं स्वर्णञ्च रूप्यञ्च बीजमित्यभिधीयते।' इति। पारदे धातुवेधकत्वापादनाय प्रक्षिप्यमाणयोः शुद्धसुवर्णरजतयोर्वीजसंज्ञेति फलितार्थः। संस्कार'-गुणाधानं कर्तव्यः। येन-संस्कारेण, अम्लवर्गेण च रसराजस्य गर्भे-मध्ये प्रक्षिप्यमाणानि द्रव्याणि द्रवन्ति। तदुक्तमम्लवर्गलक्षण रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'अम्लवेतमजम्बीरनिम्बुक राजनिम्बुकम् । वदर वीजपूर च तिन्तिडी चुक्रिका तथा ॥ चणाम्लं काञ्जिकं तद्वदम्लिका चाम्लदाडिमम्। करमर्दञ्च कोलाम्लमम्लवर्गोऽयमुच्यते ॥' इति ॥ २५४ ॥

चौथाई सुवर्णमाक्षिक सत्त्व के सयोग से शुद्ध सुवर्ण और शुद्ध रजत आदि वीजों का संस्कार करना चाहिए। उसके प्रभाव से पारे के गर्भ में स्थित सुवर्णादि वीज अम्लवर्गोक्त द्रव्यों द्वारा साधित और संस्कारित होने से पारे में द्रव हो जाते हैं।

वक्तव्य—वीजों की निर्माणविधि ओर उनके संस्कार अनेक प्रकार के हैं जैसे कि—(१) सुवर्णमाक्षिक सत्त्व सयोग से, (२) गन्धक योग से, (३) रसक योग से, (४) ताल शिलायोग से, (५) पारद, हिङ्गुल, अभ्रक, सुवर्णमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक, लोहे की पपडी, कंकुष्ठ और शिला योग से (६) अभ्रक, ताल, शङ्ख और वज्रयोग से, (७) चुम्वक लोह और तुत्थके योग से प्रभृतिक अनेक योग शास्त्रकारों ने प्रतिपादित किये हैं। इस विषय को रसहृदयतन्त्रकारने विशेष स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है अतः जिज्ञासु वहीं यथास्थान देखें। रसकामधेनु आदि से यह स्पष्ट होता है कि स्वर्णमाक्षिक सत्त्व चतुर्थांश लेना चाहिए। **'माक्षिकं सत्त्वमादाय पादांशेनं तु जारयेत्।'** यही बात रसरत्नाकर भी स्वीकार करता है जैसे कि—**'ततो माक्षिकसत्त्वं तु पादांशं तत्र जारयेत्।'** इति ॥ २५४ ॥

शिलया निहतं नागं ताप्यं वा सिन्धुना हतम् ।
ताभ्यान्तु मारितं वीजं सूतके द्रवति क्षणात् ॥ २५५ ॥

शिलयेत्यादि। शिलया-मनःशिलया निहतं नागं-सीसकं, अथवा सिन्धुना-सैन्धवलवणेन हत ताप्यं-सुवर्णमाक्षिकं ताभ्या सीसकताप्याभ्यां मारित वीजं-शुद्धसुवर्णरजतं क्षणात्-शीघ्रं सूतके द्रवति ॥ २५५ ॥

मन:शिला से मारा हुआ सीसा, सेन्धे नमक से मारी हुई स्वर्णमाक्षिक इन दोनों से (सीसा और स्वर्णमाक्षिक योग से) मारे हुए शुद्ध सुवर्ण और चाँदी बीज पारे में तत्काल द्रव हो जाते हैं। मन:शिला द्वारा नागभस्म की विधि और सैन्धेनमक द्वारा माक्षिक का मारण आगे आयुर्वेदप्रकाश में बताया है। उसी प्रकार नाग द्वारा सुवर्णभस्म और माक्षिक द्वारा चाँदीभस्म बनाने की विधि भी इसी ग्रन्थ में आगे प्रकाशित है ॥ २५५ ॥

अथ दोलाजारणम्—

पट्वम्लक्षारगोमूत्रस्नुहीक्षीरप्रलेपिते ।
बद्धे बहिश्च वस्त्रेण भूर्जे ग्रासनिवेशितम् ॥ २५६ ॥
क्षारारनालमूत्रेषु स्वेदयेत्त्रिदिनं भिषक् ।
क्रमेणानेन दोलायां जार्यं ग्रासचतुष्टयम् ॥ २५७ ॥
ततः कच्छपयन्त्रेण ज्वलने जारयेद्रसम् ॥ २५७½ ॥

पट्वित्यादि । पटुः–लवणम्, अम्लं–अम्लवर्गोक्तद्रव्यं क्षारः–यवक्षारः, गोमूत्रम्, स्नुहीक्षीरं–सेहुण्डदुग्धम्, एभिः–समभागात्मकैः 'भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यात्' इति परिभाषानुसारम्। अन्ये तु यथासम्भवमानैरित्यामनन्ति । प्रलेपिते भूर्ज्जे–भूर्ज्जपत्रे ग्रासनिवेशितं ग्रासो निवेशितो यस्मिंस्तं–प्रक्षिप्तकवलं रसमिति शेषः । स्थापयित्वा बहिः उपरिष्टात्, वस्त्रेण बद्धे सति क्षारारनालमूत्रेषु–क्षारो यवक्षारः, आरनालं–काञ्जिक, मूत्रं–गोमूत्रम्, एषु प्रत्येकेषु द्रव्येषु, अनेन पूर्वोक्तेन क्रमेण यथा–प्रथम क्षारे, ततः काञ्जिके ततश्च गोमूत्रे दोलाया भिषक् त्रिदिनं स्वेदयेत्। तथा चानेनैव क्रमेण दोलायां ग्रासचतुष्टयं जार्यम्। रससारेऽपि यथा–'अथवा दोलिकायन्त्रे जारणीयो रसेश्वरः ।' इति। ततो ग्रासचतुष्टयजारणानन्तर कच्छपयन्त्रेण ज्वलने–अग्नौ रस जारयेत्। ग्रासदाने एतदपि चिन्त्यम्। 'ग्रासे जीर्णे पुनर्ग्रासमजीर्णे च विवर्जयेत्।' इति। रसेन्द्रचिन्तामणौ तु प्रक्षालनं घर्षणञ्चाधिकं यथा–'उष्णेनैवारनालेन क्षालयेज्जारितं रसम्। तच्च किञ्चिन्मलेऽनष्टे घर्षयेदुत्थिते रसे ॥' इति। मलप्रविष्ट रसमल्पेनैव जम्भरसेन सिक्तं यावदुत्थानं घर्षयेदित्यर्थः। तदा न त्रुटिरिति पुरुसंकेतः। तदुक्तं तन्त्रान्तरे–'ग्रासमिति चारयित्वा गर्भद्रुति ततो भूर्जे। लवणक्षाराम्लसुधासुरभीमूत्रेण कृतलेपे ॥ दृढवस्त्रवाह्यबद्धे दोलास्वेदेन जारयेद्ग्रासम्। सौवीरेणार्धपूर्णे कुम्भे सक्षारमूत्रकैरथवा ॥' इति। अमुना क्रमेण दिवसैस्त्रिभिस्त्रिभिर्जारयेद्ग्रासमित्यादि'। रसरत्नसमुच्चयेऽपि–'पीतासवाम्लं खात्सत्वं कान्त वा तीक्ष्णमेव वा। चतु षष्टितमांशेन प्रमितं क्षिप्तमल्पशः॥ तप्तखल्वेऽम्लयोगेन श्लक्ष्णवत्त विमर्दयेत्। भूर्जे क्षाराम्ललवणस्नुह्यर्कक्षीरलेपिते॥ बद्ध वस्त्रावृते स्विन्नमम्ले समरसे रसम्। धौतमुष्णारनालेन शुष्कमङ्गुलिमर्दितम्॥ पचेत्कच्छपयन्त्रस्थमष्टमांशबिडन्वितम्। स्वप्रमाणरसस्तिष्ठेज्जीर्णे ग्रासे त्वजीर्यति ॥ पातयेदासवाम्लेन मर्दयेत्स्वेदयेच्च तम्। जारणे जारणे वह्निग्रास च परिवर्धयेत्। द्विगुणं योजयेदेव सत्वमभ्रकसंज्ञकम् ॥' इति। तदुक्तं रसरत्नाकरे–'स्वर्णं नाग समावर्त्य माषमात्रं तु घर्षयेदि'त्यादि तत्र विस्तरेण द्रष्टव्यम्।' इति गर्भद्रुतिः ॥ २५६–२५७½ ॥

दोलायन्त्र से जारण—रसकर्मी वैद्य को चाहिए कि वह सैन्धव आदि पाँचों नमक, अम्लवर्गोक्त द्रव्य, तीनों क्षार (जवाखार, सज्जीखार और टंकणखार), गोमूत्र और थूहर का दूध इनसे लेप किये हुए भोजपत्र में स्वर्ण, अभ्रक आदि ग्रास संपुटित $\frac{1}{64}$ वा भाग पारे के रख कर भोज-

पत्र युक्त पारे को चौलडे कपडे में मजबूत बाँधकर चेंडु (गेंद) के समान पोटली बनाना। क्षार, काँजी और गोमूत्र में तीन दिन तक क्रमशः दोलायन्त्र विधि से स्वेदन करे। स्वेदन के पश्चात् उष्ण काँजी से पारद को क्षालन करे (धोवे) उपर्युक्त क्रम से दोलायन्त्र में आगे के श्लोक में कहे हुए चारों ग्रासों का जारण करे। इसके पश्चात् अग्निद्वारा कच्छप यन्त्र में जारण करे।

वक्तव्य—सेन्धानमक आदि पाँचों नमक, अम्लवर्गोक्त द्रव्यों में से जितने मिलें उनका ही उपयोग करना चाहिए। तीनों क्षार और थूहर का दूध इन सबको समभाग में अथवा यथासंभव भाग में लेना चाहिए। स्वेदन के पश्चात् उष्ण काँजी से पारद को धोना और निम्बू के रस में मर्दन करना चाहिए। ऐसा करने से रहा हुआ मल नष्ट होकर पारद निर्मल और बीज जारण के अवशेष अजीर्ण को खो देता है और प्रदत्त ग्रास जारण हो जाता है। सेन्धानमक से थूहर के दूध पर्यन्त के द्रव्यों के कल्कलेपित भूर्जपत्र में विडसहित स्वर्ण, अभ्रक आदि बीज पारद के मान से १/६४ वाँ भाग, १/३२ वाँ भाग, १/१६ वाँ भाग तथा १/८ वाँ भाग तक क्रम से जारण करे। उपर्युक्त क्रम से चारों ग्रासों का जारण करना चाहिए। यह बात ग्रन्थकार ने पहले श्लोक २३१ से २३५ तक के चार श्लोकों में संक्षेपतः दोलायन्त्र द्वारा चार स्वर्णग्रास जारण का विधान प्रतिपादित किया है। उसी प्रकार थोडे भेद से वही बात यहाँ कही गई है। इस विषय को अधिक विस्तार और स्पष्ट भूमिका की दृष्टि से रसकामधेनु और रसरत्नाकरने **'स्वर्णं नागं समाचर्य माषमात्रं तु घर्षयेदि'**त्यादि १२½ साढे बारह श्लोकों में प्रतिपादित किया है। इस विषय में विभिन्न तन्त्रकारों ने अपने मत और अनुभव दिये हैं उनका अधिकांशतः ऊपर संस्कृत टीका में संग्रह किया गया है।

शुद्ध स्वर्ण और अभ्रक सत्त्व आदि पारद के ग्रास होते हैं। ग्रास जारण में यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जबतक पहला ग्रास जीर्ण न हो जावे तबतक दूसरा ग्रास नहीं देना चाहिये। पहला जीर्ण होने पर दूसरा देना चाहिए। जैसे कि—**'ग्रासे जीर्णे पुनर्ग्रासमजीर्णे च विवर्जयेत्।'** (रसकामधेनु) अजीर्ण होने पर अम्लवेतस आदि अम्लद्रव्यों से मर्दन कर पारद में ग्रासशक्ति और तीव्र बुभुक्षा उत्पन्न करे और दूसरा ग्रास देवे। जैसे कि—**'अजीर्णे पातयेत् पिष्टिं स्वेदयेन्मर्दयेत्तथा। वेतसाम्लप्रयोगेण जीर्णे ग्रासं तु दापयेत्।'** (रसार्णव) इस क्रम से पारद से १/६४ वाँ भाग, १/३२ वाँ भाग, १/१६ वाँ भाग और १/८ वाँ भाग स्वर्णादि बीज जारण करे। इसके पश्चात् कच्छपयन्त्र द्वारा अग्नि से पारद में बीज जारण करे। कुछ लोगों की मान्यता है कि पारद में १/४, १/३ तथा १/२ बीज जारण किया जा सकता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक ग्रास के जारण करते समय में ग्रासयुक्त पारद के ऊपर और नीचे पारद से अष्टमांश विड रखना चाहिए। जैसे कि-**'ऊर्ध्वाधश्चाष्टमांशेन ग्रासे ग्रासे विडं क्षिपेत्।'** रसरत्नाकरने कच्छपयन्त्र द्वारा पाँचवें तथा छठें ग्रास आदि जारण करने की विधि कही हैं। कुछ तन्त्रकार तो इससे भी आगे कहते है कि-प्रत्येक जारणा में ग्रास का प्रमाण और अग्नि का प्रमाण बढाते जाना चाहिए और यह क्रम पारद से द्विगुण अभ्रक बीज जारण पर्यन्त समझना चाहिए। जैसे कि **'जारणे जारणे वह्निं ग्रासं च परिवर्धयेत्। द्विगुणं योजयेदेवं सत्त्वमभ्रकसञ्ज्ञकम्॥'** किन्तु आयुर्वेदप्रकाशकार ने चार ही प्रकार के ग्रासचारण मान्य किये है शेष दुर्जर मान कर छोड दिये हैं॥ २५६-२५७½॥

आगे के श्लोक में पारद द्वारा ग्रास ग्रहण करने के उस प्रमाण को दिखाया जारहा है जिसको ग्रन्थकार ने अपने अनुभव द्वारा योग्य पाया है—

अथ ग्रासस्य चारणप्रमाणम्—

चतुःषष्ट्यंशकः पूर्वो द्वात्रिंशांशो द्वितीयकः।
तृतीयः षोडशांशस्तु चतुर्थोऽष्टांश एव च॥ २५८½॥

चतुरित्यादि। पूर्वः-प्रथमो ग्रासः सूताच्चतुःषष्ट्यंशकः-पारदश्चतुःषष्टितोलकपरिमितः स्वर्णादिबीजं तत्र तोलकमितम्। एवं द्वितीयकः-अन्यो द्वात्रिंशांशः-रसो द्वात्रिंशत्तोलकमितः सुवर्णादितोलमितमेवं तृतीयादौ ज्ञेयम्। तृतीयः षोडशांशः, चतुर्थोऽष्टांशः। चतुःषष्ट्यंशकग्रासमानमारभ्याष्टांशसमानपर्यन्तं दोलायां जारणमितोऽधिकं तु कच्छपयन्त्रे इति। ग्रासप्रमाणं नाम पारदगर्भे प्रक्षेप्यमाणानाम् अभ्रकादीनां चतुःषष्ट्यंशकादिप्रमाणनिरूपणम्। तदुक्तं रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'ध्मायमानस्य सूतस्य भोज्यद्रव्यात्मिकामितिः। इयतीत्युच्यते याऽसौ ग्रासमानं समीरितम्॥' इति। यद्यपि ग्रासप्रमाणसाधनेन सूतस्य न काऽपि विशिष्टा संस्कृतिः सम्पद्यते, तथापि प्रमाणाद्ग्रासस्य संस्कृतेर्हेतुत्वं ज्ञेयम्। यथा-अशनद्रव्याणां मानं तृप्तावहेतुकं जायते किन्तु मानापेक्षितभोजनेनैव सम्यग् जरणं समुपलभ्यतेऽन्यथाऽलसविलम्बिकादीनां भयम्, एवं सूतेऽपि समन्वयो विधातव्यः॥ २५८½॥

चौंसठ तोले पारद में एक तोले सुवर्ण तथा अभ्रक आदि बीज का ग्रास देना 'प्रथम ग्रास' कहलाता है। बत्तीस तोले पारद में एक तोले सुवर्णादि का ग्रास देना द्वितीय चारण होता है। तृतीय ग्रास सोलह तोले पारद में एक तोला और चतुर्थ ग्रास आठ तोले में एक तोला कहा जाता है। प्रथम ग्रास से चतुर्थ ग्रास तक बताये गये इन चारो ग्रासों को दोलायन्त्र में जारित किया जाता है। शेष ग्रास जैसे ¼ भाग जो पाँचवाँ ग्रास कहलाता है। ½ भाग छठा ग्रास कहलाता है इत्यादिकों का जारण कच्छप यन्त्र में करना चाहिए। गर्भद्रुति की भाँति चारण भी जारण का ही अङ्ग है यही हेतु है यहाँ चारणा को भिन्न न कहकर प्रतिपादित किया है। जैसे कि—'ग्रासस्य चारणं गर्भद्रावणं तथा। इति त्रिरूपा निर्दिष्टा जारणा वरवार्तिकैः॥' ॥ २५८॥

आगे के श्लोक में ऊपर कहे हुए चार ग्रासों को ग्रहण किये हुए पारद के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम ग्रास-चारित पारद कैसा होता है तथा शेष तीन ग्रास-चारित का स्वरूप कैसा होता है यह परिचय स्पष्ट प्रतीत होता है—

अथ प्रागुक्तचारितग्रासानां फलमाह—

चतुःषष्ट्यंशकग्रासाद्दण्डधारी[1] भवेद्रसः।
जलौकावद् द्वितीये तु ग्रासयोगे सुरेश्वरि॥ २५९॥
ग्रासेन तु तृतीयेन काकविष्ठासमो भवेत्।
ग्रासेन तु चतुर्थेन दधिखण्डसमो भवेत्॥ २६०॥
अन्यत्तु दुर्जरत्वान्न लिखितम्॥ २६१॥

चतुरित्यादि। हे सुरेश्वरि-पार्वति, चतुःषष्ट्यंशकग्रासात्-चतुःषष्टितोलकमिते पारदे तोलकमितसुवर्णादिग्रासप्रदानाद् रसो दण्डधारी-वस्त्रान्न क्षरति एव भवेत्। द्वितीये ग्रासयोगे-द्वात्रिंशत्तोलमिते पारदे तोलकमितसुवर्णादिग्रासकरणात् जलौकावत्-करेण प्रसारितो जलौकावत्प्रसरणशीलो भवेत्तथा हस्तेनाकुञ्चितो जलौकावदाकुञ्चितो जायेत।

१ दण्डधारी भवेदित्यस्य वस्त्रान्न क्षरतीत्यर्थः।

पुनस्तृतीयेन ग्रासेन–षोडशतोलकमितपारदेन, एकतोलकमितसुवर्णादिग्रासेन काकविष्टासमो भवेत्। पुनश्चतुर्थेन ग्रासेन–अष्टतोलकमितसूतेन एकतोलकमितसुवर्णादि ग्रासेन दधिसण्डसमो भवेत्। अन्यत्तु तुर्यांशादिकं दुर्जरत्वान्न लिखितम् ॥ २५९–२६१ ॥

प्रथम चारण किए हुए ग्रासों का फल—भगवान् शिव पार्वती को सबोधित करते हुए कहते हैं कि हे पार्वति, $\frac{1}{64}$ वें ग्रास से पारद दण्डधारी (छानने पर जो वस्त्र से बाहर नहीं गिरता), दूसरे $\frac{1}{32}$ वें ग्रास से पारा जोंक (जोंक जिस प्रकार बढाने और घटाने पर बढ और घट सकती है) के समान हो जाता है। तीसरे $\frac{1}{16}$ वें ग्रास से काक की बीट के समान हो जाता है। चौथा $\frac{1}{8}$ वें ग्रास से दही के समान गाढा तथा बद्ध हो जाता है। दूसरे ग्रासों का उल्लेख इस लिए यहा पर नहीं किया गया कि वे दुर्जर होते हैं अर्थात् सर्वथा जीर्ण नहीं होते हैं।

वक्तव्य—समय की बलिहारी है। 'मनुष्य बली नहि होत है समय होत बलवान। भिल्लन लूटी गोपिका वहि अर्जुन वहि बान।' ठीक, यही समय ही चक्र है जो चक्र नेमी क्रम से अपनी धुरी पर घूमता है। प्रत्येक वस्तु का समय के अनुसार उत्थान होता है और समय से ही पतन भी। एक वह भी समय था जब देवागनाए एव देवदलों का विमानों से भ्रमण का सर्वत्र उल्लेख किया मिलता है फिर पुष्पक विमान की चर्चा और साथ ही राम के बाण ने सात ताल के वृक्षों के भेदन के साथ ही सातों लोकों का भेदन कर पुन राम के पास आने का उल्लेख, ये सब बातें विस्मय पदा करती थी, इतना ही नहीं लोग कहते ये सर्वथा असत्य है किन्तु आज उनका स्वरूप प्रगट होते जा रहा है।

हमारे समक्ष भी समय चक्र का परिणाम है। जैसे कि—

(१) 'जारणे जारणे वह्नि ग्रास च परिवर्धयेत्। द्विगुण योजयेदेव सत्त्वमभ्रकसञ्ज्ञकम्॥'
(२) ''ग्रासो देय सम सम। जीर्णे सम सम देयमेवं जार्य तु षड्गुणम्।' (रसरत्नाकर)
(३) 'तथा च समभागेन ग्रासेनैव च साधयेत्।' (रसप्रकाशसुधाकर)
(४)'··· ·· षष्ठे द्व्यश प्रकीर्तित।' (रसार्णव)
(५)'····पादाशे वध्यते रस।' (रससार)
(६)'····चतुर्थोऽष्टाश एव च।' (आयुर्वेदप्रकाश)
(७) 'गर्भद्रावे निपुणो जरयति बीज कलाशेन।' (रसहृदयतन्त्रम्)

उपर्युक्त प्रमाण इस बात को स्पष्ट प्रगट करते हैं कि पारद सम्बन्धी क्रियाओं में हमारे यहा किस प्रकार उत्थान के पश्चात् पतन प्रारम हुआ है। यह स्थिति भी इतनी सोचनीय और भयावह नहीं थी। क्योंकि **'अकरणान्मन्दकरणमपि वरम्'** कुछ तो भी हुआ करता था और उस साधना में अस्तित्व का आभास मिलता था किन्तु आज तो स्थिति इतनी भयावह हो गई है कि यह विषय जैसे तो कोई मूल्य ही नहीं रखता है। आलस्य, प्रमाद और निष्क्रियता ने अपनेपन को भुलाकर परावलम्बी बना दिया है। आरोग्य और जीवन के प्रधान लक्ष्य को पीछे फेंक कर, अधकार में जो कुछ हस्तगत होता है उसीसे सन्तोष मान लिया जाता है। रसरत्नाकर के समय में समभाग और द्विगुणित बीज जारण जहाँ आसान कार्य था उसका क्रमश ह्रास हो चला और आज वह सर्वथा विस्मृत ही नहीं किन्तु सशयास्पद बन गया है॥ २५९–२६१॥

भगवद्गोविन्दपादास्तु कलांशमेव ग्रास लिखन्ति। यथा—

पञ्चभिरेवं ग्रासैर्घनसत्त्वं जारयित्वाऽदौ।
गर्भद्रावे निपुणो जरयति बीजं कलांशेन॥ २६२॥

तन्मते चतुःषष्टिचत्वारिंशत् त्रिंशद्विंशतिषोडशांशाः पञ्च ग्रासाः । भगवदित्यादि । भगवद्गोविन्दपादाः-श्रीमच्छङ्कराचार्यगुरवः, ग्रासं-सुवर्णग्रासं कलांशमेव-षोडशांशमेव लिखन्ति । यथा-एव पूर्वोक्तप्रकारेण ततो गर्भद्रावे सूते अभ्रकादिधातूनां द्रुतिकरणे निपुण-चतुरो वैद्यः, आदौ-प्रथमम् एभिश्चतुःषष्टिचत्वारिंशत्त्रिंशद्विंशतिषोडशांशैः पञ्चभिर्ग्रासैः कवलैः घनसत्त्वम्-अभ्रकसत्त्व जारयित्वा ततः कलांशेन षोडशभागेन बीज-सुवर्णम् अभ्रकसत्त्वं वा जरयति । तन्मते-श्रीमद्गोविन्दभगवत्पादसम्मतौ गद्योक्ताः पञ्चैव ग्रासाः सन्ति । यथा हि रसहृदयतन्त्रे-'यदि हि चतुःषष्ट्यंशान् ग्रसति रसस्तदा धरेद्दण्डम् । चत्वारिंशद्भागप्रवेशतः पायसाकारः ॥ भवति जलौकाकारस्त्रिंशद्भागादविप्लुपश्च विंशत्या । छेदीव षोडशांशादत ऊर्ध्वं दुर्जरो ग्रासः ॥' इति । अत्र श्रीमद्गोविन्दभगवत्पादास्तु षोडशांशमेव परम कवलमामनन्ति, एतेनानुमीयते यत्खलु तत्समयेऽष्टमांशग्रासो दुर्जरप्राय आसीदिति । रसरत्नाकर-रसप्रकाशसुधाकरयोः काले तु समांशभागात्मक ग्रासं जरयतीत्यनुमीयते । यथा रसरत्नाकरे-" ' ग्रासो देयः समः समः । जीर्णे सम ससं देममेवं जार्यं तु षड्गुणम् ॥' इति । रसप्रकाशसुधाकरेऽपि-'तथा च समभागेन ग्रासेनैव च साधयेत् ।' इति ॥ २६२ ॥

श्रीमद्भगवद्गोविन्दपाद रसहृदयतन्त्र के कर्ता लिखते हैं कि-रसकर्म में चतुर वैद्य पारे से ६४ वें ४० वें ३० वें और २० वें भाग अभ्रकसत्त्व का ग्रास देकर द्रवीभूत हुए पारे में १६ वाँ अश शुद्ध सुवर्णबीज का जारण करे । इस प्रकार इन उपर्युक्त पाँच ग्रासों से पारे की साधना करे । इससे सिद्ध होता है कि इनके समय में इससे अधिक का ग्रास नहीं दिया जाता था । षोडशाश भाग ग्रास की मर्यादा अन्तिम हुआ करती थी, किन्तु कुछ समय ऐसा भी हो चुका है जब कि समाश ग्रास तक जारण किया जाता था । यह बात तन्त्रकारों के वाक्यों से प्रतीत होती है । ऐसे कुछ प्रमाण स्वरूप वाक्य २६१ में हमने उपस्थित किये हैं ॥ २६२ ॥

अथ रञ्जनम्—

तारकर्मण्यस्य न तथा प्रयोगो दृश्यते-

केवलं निर्मलं ताम्रं वापितं दरदेन तु ।
कुरुते त्रिगुणं जीर्णं लाक्षारसनिभं रसम् ॥ २६३ ॥
गन्धकेन हतं नागं जारयेत्कमलोदरे ।
एतस्य त्रिगुणे जीर्णे लाक्षाभो जायते रसः ॥ २६४ ॥

एतत्तु नागसम्बन्धान्न रसायनकर्मणि । किंवा यन्त्रोक्तसिद्धबीजोपरि त्रिगुणताम्रोत्तारणादनु तद्बीजं समजीर्णं सत् तन्त्रेणैव रञ्जयति ॥ २६५ ॥

तारकर्मणीत्यादि । अस्य-रञ्जनसंस्कारस्य तदुक्तं रञ्जनलक्षणं रसरत्नसमुच्चये-'सुसिद्धबीजधात्वादिजारणेन रसस्य हि । पीतादिरागजननं रञ्जन परिकीर्तितम् ॥' इति । तारकर्मणि-रजतनिर्माणविधौ तथा प्रयोगो न दृश्यते यथा सुवर्णनिर्माणायेति शेषः । केवलमेकं निर्मलम्-आरनालाम्लद्रव्यैरुज्ज्वलीकृतं पुनर्दरदेन-हिङ्गुलुना वापितं-भावित सूतापेक्षया त्रिगुणं ताम्रं, जीर्णं सत् , रसं लाक्षारसनिभं-लाक्षारससदृश रक्तवर्णं कुरुते । द्वितीयो विधिः—गन्धकेन-बलियोगेन हतं नागं-सीसकं, कमलोदरे-ताम्राधे दोलायन्त्रेण जारयेत् । एतस्य ताम्रस्य त्रिगुणे जीर्णे सति लाक्षाभ-लाक्षासदृशवर्णो रसो जायते । अन्यत्राप्युक्तम्-'अथवा केवलममलं कमलं दरदेन वापितं कुरुते । त्रिगुणं हि चीर्णजीर्णं

लाक्षारससन्निभं सूतम् ॥' इति । एतत् पूर्वोक्तं, नागसम्बन्धात् सीसकसंयोगात्, रञ्जनं पारदस्येति शेषः । रसायनकर्मणि–देहार्थनिर्मिते रसायने न कर्तव्यम् । किंवा यथोक्तसिद्धबीजोपरि–वक्ष्यमाणसुवर्णबीजे त्रिगुणताम्रोत्तारणाद् बीजापेक्षया त्रिभागाधिकस्य ताम्रस्य जारणादनु तद्बीजं प्रागुक्तहेमबीज, क्वचित् त्रिगुणताम्रजारणादनु तद्द्वयम् । इति पाठः । समजीर्णं सत् , तन्त्रेणैव एकतन्त्रेणैव रञ्जयति । क्वचित् 'स्वतन्त्रेणैव' इति पाठभेदः ॥

रञ्जन संस्कार—इसका चाँदी बनाने में ऐसा प्रयोग नहीं होता जैसा सुवर्ण बनाने में होता है । काञ्जी आदि अम्लद्रव्यों से शुद्ध किये हुए केवल ताम्र को हिङ्गुल की भावना देकर पारद से तिगुने (ताम्र) का जारण किया जाय तो पीपल की लाख के रस के समान पारा लाल हो जाता है अथवा गन्धक के योग से मारा हुआ सीसा ताम्र में ,जारण करे और नाग जारित यह तिगुना ताम्बा पारद में जारण किया जाय तो पारा लाख के रसके तुल्य लाल रग का बन जाता है । इस प्रयोग में सीसे का सयोग होता है अत इसका रसायन कर्म में (देह के लिए) प्रयोग नहीं किया जाता है यह केवल धातुवाद (हल की कीमत की धातु से ऊँची कीमत की धातु का निर्माण करना ही किमियागीरी है) के लिए ही उपयोगी रसायन के लिए नहीं । आगे कहे हुए हेमबीज में त्रिगुण ताम्बे के जारण करने से वह स्वर्णबीज बिना सीसे के सयोग से ही समभाग (पारद के बराबर) जारण करने पर स्वतन्त्र रूप से पारे का रञ्जन कर देता है ।

वक्तव्य—रजन सस्कार उसे कहते हैं जिस क्रिया के द्वारा पारे में पीला, लाल आदि रग दिया जाता है । जैसे कि–शुद्ध सुवर्ण और शुद्ध चाँदी बीज तथा ताम्र, लोह, नाग, खर्पर और गन्धक आदि के जारण करने से पारद में पीला, लाल आदि रङ्ग उत्पन्न होता है उसी का नाम रजन सस्कार है ।

रसशास्त्रकार शुद्ध सुवर्ण और शुद्ध चाँदी को बीज सज्ञा से सम्बोधित करते हैं जैसे कि–'शुद्धं स्वर्णं च रौप्यं च बीजमित्यभिधीयते ।' (र० चू०) बीज भी कल्पित, रञ्जित और पक्वबीज भेद से तीन प्रकार का होता है । रसार्णवकार लिखता है कि शुद्ध सुवर्ण और शुद्ध चाँदी में दो बीज हैं । फिर कल्पित, रञ्जित और पक्वबीज भेद से इनके तीन प्रकार हो गये हैं । 'हेमतारवशाद् बीजं द्विविध तावदीश्वरि । कल्पितं रञ्जित पक्वमिति भूयस्त्रिधा भवेत् ॥' यह स्मरण रहे कि प्रायश रञ्जन सस्कार पक्वबीज में ही किया जाता है । जैसे कि—'रञ्जनं सर्वत्र पक्वबीजे कार्यम् ।' (रसपद्धति स. टीका)

'रसरत्नाकर' पक्व बीज के लक्षणों को इस प्रकार कहते हैं—

'स्वर्णं ताम्रं समं शुद्धं द्रावितं लेपयेत्पुनः । साम्लेन ताप्ययोगेन धमेत्स्वर्णावशेषितम् ।
एवं दशगुणं वाह्य ताम्रं वा तुत्थसत्त्वकम् । पक्वबीजमिति ख्यातं स्वर्णशेषं समाहरेत् ॥'

रञ्जन सस्कार में उपयुक्त होनेवाले विशेष द्रव्यों का विभिन्न तन्त्रों से सग्रह करके नीचे दिया जाता है ताकि साधक को उनका सहज ज्ञान हो सके ।

रञ्जन लोहताप्याभ्यां रसकेन विधीयते । तथा रक्तगणेनैव कर्तव्य शास्त्रवर्त्मना ॥
गन्धरागेण कर्तव्यं पारदस्याथ रञ्जनम् । ताम्रेण रक्तकाचेन रक्तसैन्धवकेन च ॥
अन्धमूषागतं सूत रञ्जयेत्ताप्यकादिभि. । दृष्टिकामन्त्रयोगेन गन्धरागेण रञ्जयेत् ॥
रसकस्य च रागेण तुलायन्त्रस्य योगतः । मर्दनात्तीक्ष्णचूर्णेन रञ्जयेत्पारदं सदा ॥
(रसप्रकाशसुधाकर.)

रक्तगणोक्त द्रव्य तथा कुष्ठादिगण के द्रव्य एव उपर्युक्त द्रव्यों से यथाविधि रञ्जन सस्कार किया जावे तो पारद रञ्जित हो जाता है और किमिया के कार्य में पूर्णत सहायक होता है ॥२६३–२६५॥

अथ हेमवीजम्—

[1]कुनटीहतकरिणा वा रविणा वा ताप्यगन्धकहतेन ।
दरदनिहितासिना वा निर्व्यूढं हेम तद्वीजम् ॥ २६६ ॥
·········वलिना व्यूढं केवलार्कमपि ॥ २६६½ ॥

अथ हेमवीजमाह—कुनटीत्यादि । कुनटी-मनःशिला तया हतो मारितो यः करी नागस्तेन कुनटीहतकरिणा, वा ताप्यगन्धकहतेन—ताप्यं-स्वर्णमाक्षिकं, गन्धकश्च ताभ्यां हतस्तेन रविणा-ताम्रेण, वा-अथवा दरदनिहतासिना-दरदेन-हिङ्गुलुना निहतो योऽसिः-लोह तेन, एभिस्त्रिभिर्व्यस्तैः समस्तैर्वा यथोपलब्धैः, हेम-सुवर्णं निर्व्यूढं-सम्यक् पुटितं, तद्वीजं-यदुक्तवीज सुवर्णसाधनाय भवतीति शेषः । केवलम्-एकम्, अर्कं-ताम्रमपि वलिना-गन्धकेन व्यूढ-पुटितं स्वर्णसाधनाय वीजं सम्पाद्यत इति भावः । केचन तु त्रिपुटमभिलपन्ति ह्यत्र ॥ २६६-२६६½ ॥

हेमवीज—मैनसिल द्वारा मारे हुए सीसे से, अथवा सोनामाखी और गन्धक से मारे हुए तावे से या हिङ्गुल से मारे हुए लोह से तीन वार सुवर्ण को पुट देने पर सुवर्ण वनाने के लिए यह स्वर्णबीज तयार हो जाता है । अथवा गन्धक से पुट दिया हुआ केवल ताम्बा भी सुवर्ण बनाने के लिए काम आता हे ॥ २६६-२६६½ ॥

अथ तारवीजम्—

[2]कुटिलं विमला तीक्ष्णं समं चूर्णं प्रकल्पयेत् ॥ २६७ ॥
पुटित पञ्चवारं तु तारे वाह्यं शनैर्धमेत् ।
यावद्दशगुणं तत्तु तारवीजं भवेच्छुभम् ॥ २६८ ॥

कुटिलमित्यादि । कुटिलं-वङ्गम्, विमला-रजतमाक्षिकं, तीक्ष्णं-लौहम्, एतेषां त्रयाणां कुटिलादीनां समं-तुल्यभागात्मकं चूर्णं प्रकल्पयेत् । पुनः पञ्चवारं हठाग्निना पुटितं तारे द्रवति सति तच्चूर्णं शनैः-मन्दं मन्दं, वाह्यं-मिश्रणीयं, यावद्दशगुणं रजततस्तेषां दशगुणं चूर्णं यावत् । पूर्वोक्त तारवीजं शुभं भवेत् ॥ २६७-२६८ ॥

तारवीज—रागा, रजतमाक्षिक और तीक्ष्ण लोह इन तीनों को समभाग लेकर, चूर्ण करे फिर ग्वारपाठे के रस की भावना देकर तीक्ष्णाग्नि से पॉच पुट देवे तो यह उत्तम रजतवीज तैयार हो जाता है । इसी को पिघली हुई चाँदी में थोडा-थोड़ा मिलाकर धीरे-धीरे मन्दाग्नि से धमन करता रहे, जव तक कि चाँदी मे दसगुना द्रव्य विलीन न हो जावे ॥ २६७-२६८ ॥

सत्त्वं तालोद्भवं वङ्गं समं कृत्वा धमेद् दृढम् ।
तच्चूर्णं वाहयेत्तारे गुणान् यावत्तु षोडश ॥ २६९ ॥
प्रतिवीजमिदं श्रेष्ठं सूतकस्य तु वन्धनम् ।
जारणात्सारणाच्चैव सहस्रांशेन विध्यति ॥ २७० ॥

सत्त्वमित्यादि । तालोद्भवं-हरितालोत्पन्नं सत्त्वं-सारः, वङ्गञ्च समं-हरितालसत्त्ववङ्गयोः समभागं कृत्वा दृढम्-अत्यर्थं धमेदग्निं भस्त्रया प्रज्वालयेत् । ततस्तारे-रजते धमन-

१ कुनटी-मनःशिला, करी नाग, रविस्ताम्रम् असिर्लोहमिति ग्रन्थकार ।
२ कुटिल वङ्ग, विमला-कास्यमाक्षिक, तीक्ष्ण लोहम्, इति ग्रन्थकार ।

योगेन द्रवीभूते सति तच्चूर्णं तयोः-हरितालसत्त्ववङ्गयोश्चूर्णं सूक्ष्मरजः षोडशगुणान् यावत् एकतोलकपरिमिते तारे षोडशतोलकपर्यन्त हरितालसत्त्ववङ्गयोश्चूर्णं वाहयेत्-मिश्रयेत्। इद-प्रागुक्तं प्रतिबीजं-बीज-रजत त प्रतिप्रक्षिप्यमाण बीजमिति। सूतस्य श्रेष्ठं बन्धनसञ्ज्ञक स्यात्। तस्य जारणात्-जारणकर्मत', सारणात्-सारणक्रियात., एवं सहस्रांशेन विध्यति। एकभागात्मकं बीज स्वमानात्सहस्रगुण तालसत्त्ववङ्गादिकं तारे परिणमयतीति भावः॥ २६९-२७०॥

प्रतिबीज—हरिताल का सत्त्व और राँगा दोनों को समान भाग लेकर अग्नि पर रखकर धौंकनी से खूब धमन करे फिर उसी चूर्ण को चाँदी से सोलह गुना अधिक लेकर पिघली हुई चाँदी में धीरे-धीरे मिलादे। हरिताल सत्त्व, राँगा और चाँदी में तीनों जब भली भाँति मिल जावें तब, यह उत्तम पारेका बन्धन करने वाला प्रतिबीज तयार हो गया-ऐसा समझना चाहिए। इसी बीज को पारे में जारण सारण किया जावे तो वह पारा सहस्रांश वेधी हो जाता है अर्थात् अपने मान से हजार गुने हरिताल सत्त्व और राँगे को चाँदी बना देता है॥ २६९-२७०॥

वङ्गाभ्रं वाहयेत्तारे गुणानि द्वादशैव तु।
एतद्बीजे समे जीर्णे शतवेधी भवेद्रसः॥ २७१॥

वङ्गाभ्रमित्यादि। वङ्गाभ्रं-वङ्गं च अभ्रकसत्त्वं च तारे-रजते पूर्वोक्तविधिना द्राविते सति द्वादशैव गुणानि-द्वादशभागानि रजत., एवेतिपदं मर्यादासूचक, वाहयेत्-समेलयेत् एतत्पूर्वोक्ते बीजे वापे समे जीर्णे सति रसः शतवेधी भवेत्। एकभागपरिमित बीजं स्वप्रमाणाच्छतगुणं वङ्गाभ्रकं रजतयतीति तात्पर्यम्॥ २७१॥

दूसरा प्रतिबीज—राँगा और अभ्रक सत्त्व को पिघली हुई चाँदी में चाँदी से बारहगुना पूर्वोक्त विधि से मिला दे तो यह भी एक दूसरा प्रतिबीज तयार होता है। इसको समभाग पारे में जारण करने पर पारा शतवेधी हो जाता है। अर्थात् बीज जारित पारद अपने मान से सौगुने वङ्गाभ्रक सत्त्व को चाँदी बना देता है॥ २७१॥

अथ हेमबीजम्—

नागाभ्रं वाहयेद्धेम्नि दिवाकरगुणं शुभम्।
प्रतिबीजमिदं श्रेष्ठं पारदस्य तु बन्धनम्॥ २७२॥

नागाभ्रमित्यादि। नागं-सीसकम्, अभ्रम्-अभ्रकसत्त्वम्, दिवाकरगुणं-द्वादशगुणितं यावच्छुभं हेम्नि-सुवर्णे द्रवीभूते सति वाहयेत्। इद पूर्वोक्त बीज प्रतिप्रक्षिप्यमाणं बीज प्रतिबीजं पारदस्य श्रेष्ठ बन्धनं भवेदिति पूर्वेणान्वय.। अत्रापि शतवेधित्व सहस्र-वेधित्वञ्चोह्यम्॥ २७२॥

हेमबीज—सीसे और अभ्रक-सत्त्व को पिघले हुए सुवर्ण में सुवर्ण से बारह गुना अधिक मिश्रण करे तो हेमप्रतिबीज तयार होता है। यह पारे के बाँधने में उत्तम माना गया है॥२७२॥

माक्षिकेण हतं ताम्रं तारं वा रञ्जयेन्मुहुः।
तं नागं वाहयेद्बीजे द्विषोडशगुणं तथा॥ २७३॥
एतद्बीजवरं श्रेष्ठं नागबीजं प्रकीर्तितम्।
समजारितमात्रेण सहस्रांशेन विध्यति॥ २७४॥

माक्षिकेणेत्यादि। माक्षिकेण हतं-स्वर्णमाक्षिकेण मारितं ताम्रं-नैपालदेशोद्भवं वा तारं-रजतम्, एतदपि माक्षिकहतं बोध्यम्। एतत्ताम्रादिकं पारदं रञ्जयेत्-राग-प्रापयेत्। क्वचित्पुस्तके 'तारं वा' इत्यत्र 'नागं च' इति पाठान्तरम्। अस्मन्मते तु तत्राऽपि 'नागे च वाहयेन्मुहुः' एतदेव युक्तं प्रतीयते तं नागमित्यादि श्लोकार्धदर्शनेन, नो चेत्स्वर्णमाक्षिकेण मारितं ताम्रं रजतं वा सीसके मिश्रयेत्तं नागं मूषामध्ये प्रक्षिप्य शनैः शनैर्धमन् सन् शतगुणं यावत्ताप्यचूर्णं प्रक्षिपन् मिश्रयेदेवं साधुरर्थः सम्पद्यते। पुनश्च तं नाग-स्वर्णमाक्षिकहतताम्रमिश्रितसीसकं मुहुः-वारंवारम्, बीजे-हेम्नि द्विषोडशगुण-द्वात्रिंशद्गुणं यावद्यथा भवेत्तथा तेन प्रकारेण वाहयेत्। एतत्पूर्वोक्तं बीजवरं सर्वेष्वपि बीजेषूत्तम नागबीजं प्रकीर्तितम्। अस्य बीजस्य समाचरितमात्रेण-सूते समानभागजारितमात्रेण, क्वचित् पुस्तके 'समाचारितमात्रेण' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। तत्रार्थः सम्-सम्यक् आ-समन्तात् चारितमात्रेण-प्रक्षिप्तमात्रेण इति तात्पर्यम्। सहस्रांशेन विध्यति-स्वमानात्सहस्रगुणितं ताम्रादिकं सुवर्णयतीत्यर्थः। विशेषश्चात्र रसरत्नाकरे-'ताप्येन मारयेच्छुल्वं तथा गन्धेन मारितम्। तत्ताम्रं वाहयेन्नागे मूषामध्ये धमन् धमन्॥ शनैः शतगुणं यावत्ताप्यचूर्णं क्षिपन् क्षिपन्। तं नागं वाहयेत्स्वर्णे द्वात्रिंशद्गुणितं क्रमात्॥ स्वर्णशेषं तु तद्बीजं समांशं जारयेद्रसे। अनेनैव तु बीजेन सारयेज्जारयेत्पुनः॥ पूर्ववत्क्रमयोगेन-बन्धनान्तं च कारयेत्। क्रामणेन समायुक्तं सहस्रांशेन योजयेत्। चन्द्रार्कं जायते स्वर्णं देवाभरणमुत्तमम्॥' इति। तन्त्रान्तरे पक्वबीजं यथा—'स्वर्णं ताम्रं समं शुद्धं द्रावितं लेपयेत्पुनः। साम्लेन ताप्यकल्केन धमेत्स्वर्णावशेषितम्॥ एवं दशगुणं वाह्यं ताम्रं वा तुत्थसत्त्वकम्। पक्वबीजमिति स्यात स्वर्णशेषं समाहरेत्॥' इति॥ २७३-२७४॥

नागबीज—सोनामाखीसे मारा हुआ ताँबा अथवा चाँदी (किन्तु यहाँ चाँदी की जगह सीसा होना चाहिए, इसका समाधान हमने संस्कृत टीका में कर दिया है) इन दोनों ताँबे और सीसे को एक साथ मिलाकर एक जीव कर देवे। ताँबा मिला यह सीसा सुवर्ण में बार बार धमन करके सुवर्ण से बत्तीस गुने अधिक तक मिलावे तो यह उत्तम नागबीज तयार होता है। यह बीज पारे में पारद के समान भाग जारण करने पर पारा सहस्रवेधी हो जाता है।

वक्तव्य—कुछ धातुवादी तन्त्रकार तारबीज के वर्णन के पश्चात् हेमबीज का क्रम रखे हुए हैं जो कि नियोजित क्रम के प्रतिकूल जँचता है किन्तु 'आयुर्वेदप्रकाश' कार द्वारा यह क्रम अनुभवसिद्ध क्रम के अनुसार स्वीकृत किया हुआ है यह प्रगट होता है। रसार्णवकार लिखता है कि—'हेमाभ्रं चैव ताराभ्रं शुल्वाभ्रं तीक्ष्णमभ्रकम्। वङ्गाभ्रं चैव नागाभ्रं समसूतेन बन्धयेत्॥' इति। अर्थात् हेमाभ्र, ताराभ्र, ताम्राभ्र, लोहाभ्र, वङ्गाभ्र और नागाभ्र इत्यादि यह प्रायशः बीजों के जारण का क्रम रहा है। इन बीजों के सम जारण से पारद में शतांशवेधी से लेकर सहस्रांशवेधित्व शक्ति का निर्माण होता है। यह विषय आज कौतूहलकारक बना हुआ है। संशोधकों को इधर विशेष ध्यान देना चाहिए॥ २७३-२७४॥

अथ रञ्जनार्थं सारणार्थं च तैलम्—

मञ्जिष्ठा किंशुकं चैव खदिरं रक्तचन्दनम्।
करवीरं तथा दारु सरलो रजनीद्वयम्॥ २७५॥
अन्यानि रक्तपुष्पाणि पिष्ट्वा लाक्षारसेन तु।
तैलं विपाचयेत्तेन कुर्याद्बीजादि-रञ्जनम्॥ २७६॥

मञ्जिष्ठेत्यादि । मञ्जिष्ठा-प्रतीता, किंशुक-पलाशपुष्पं, खदिरं-विख्यातं, रक्तचन्दनं-प्रसिद्ध, करवीरं-रक्ताश्वमार, दारु-देवकाष्ठं, सरल-सरलवृक्षः, रजनीद्वयं-हरिद्रा दारुहरिद्रा च, अन्यानि यथासम्प्राप्तानि रक्तपुष्पाणि-जपाबन्धुजीवपलाशकुसुम्भादिसुमनानि च पिष्ट्वा कल्कं कृत्वा, तन्मान परिभाषानुसार तैलाच्चतुर्थांशम् । तदुक्त तन्त्रान्तरे-'कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृत वा तैलमेव वा । चतुर्गुणे द्रवे साध्यमि'त्यादि पुनर्लाक्षारसेन-तैलाच्चतुर्गुणितालक्तद्रवेण तैल-तिलोद्भवं, तैलपाकविधिना विपाचयेत् । तैलेन बीजादिरञ्जन-सुवर्णादीना रञ्जनसंस्कारं कुर्यात् ॥ २७५-२७६ ॥

रञ्जनतैल—मजीठ, केशूला (पलाशपुराण), खैर, लाल चन्दन, कनेर, देवदारु, चीड, हल्दी और दारुहल्दी तथा इनके अतिरिक्त और लालफूल जितने मिलते हैं उनमें से जो मिल सके, लेकर उन सबको पीपल की लाख के रस के साथ पीसकर तैलपाक विधि से पकावे और उससे सुवर्णादि बीजों का रञ्जन करे ॥ २७५-२७६ ॥

द्विगुण रक्तपुष्पाणां रक्तपीतगणस्य च ।
क्वाथं, चतुर्गुणं क्षीर, तैलमेक सुरेश्वरि ॥ २७७ ॥
ज्योतिष्मतीकरञ्जाक्षकटुतुम्बीसमुद्भवम् ।
पाटलाकाकतुण्डयम्बुमहाराष्ट्रीरसैः पृथक् ॥ २७८ ॥
भेकशूकरमेषाहिमत्स्यकूर्मजलौकसाम् ।
वसया चैकया युक्त षोडशांशैः सुपेषितैः ॥ २७९ ॥
भूलतामलमाक्षीकद्वन्द्वमेलकभेषजैः ।
पाचितं गालितं चैव सारणातैलमुच्यते ॥ २८० ॥

अथ सारणार्थं तैलमाह-द्विगुणमित्यादि । रक्तपुष्पाणां-जपाबन्धुजीवपलाशकुसुम्भादीनां तथा, रक्तपीतगणस्य-रक्तवर्गोक्तद्रव्याणां पीतवर्गोक्तद्रव्याणां च तदुक्तौ रक्तपीतवर्गौ यथा रसरत्नसमुच्चये-'कुसुम्भ खदिरो लाक्षा मञ्जिष्ठा रक्तचन्दनम् । अक्षीवो बन्धुजीवश्च तथा कर्पूरगन्धिनी । माक्षिकञ्चेति विज्ञेयो रक्तवर्गोऽतिरञ्जनः ॥' इति । तथा 'किंशुक' कर्णिकारश्च हरिद्राद्वितयं तथा । पीतवर्गोऽयमादिष्टो रसराजस्य कर्मणि ॥' इति । द्विगुणं-तैलाद् द्विगुणितं क्वाथ तथा क्षीरं-दुग्ध चतुर्गुणम्-तैलाच्चतुर्गुण च गृहीत्वा ततो हे सुरेश्वरि-पार्वति, एकं भागं ज्योतिष्मती, करञ्ज-पूतिकरञ्जः स्वनामख्यात., अक्षः-विभीतक', कटुतुम्बी-तिक्तालाबु., आसाम् ओषधीनां समुद्भव तैलं तैलपातनञ्च ज्योतिष्मतीबीजानि वस्त्रपूतानि कृत्वा पाटलारसेन भावयित्वा कास्यपात्रे सस्थाप्य तीक्ष्णे आतपे रक्षयेत् सन्तप्ते सति स्वच्छवस्त्रेण पीडयित्वा तैल ग्राह्यमित्येवं पृथक्-पृथग् द्रव्यरसै. । पाटला-पाटलिरिति प्रसिद्धा, काकतुण्डी-काकनासा, अम्बु-बालक, महाराष्ट्री-'महाराष्ट्र्यां च तीक्ष्णा मरहट्टिका मता,' इति शालिग्रामनिघण्टुभूषणम् । इत्येताभि ज्योतिष्मती-करञ्जाक्षकटुतुम्बीबीजाना क्रमश. पूर्वोक्तक्रियया ह्येकैकस्य तैलं पातयेत् पृथक् । यद्वा ज्योतिष्मतीकरञ्जाक्षकटुतुम्बीबीजाना समस्ताना व्यस्तानां वा तैलं पृथगेकस्मिन् पात्रे प्रक्षिप्य पाटलादिरसैः पूर्वं पाचयित्वा ततः सारणार्थं तैलं यथोक्तविधिना साधयेदिति । यद्वा ज्योतिष्मत्यादीनां चतुर्णां मध्यादन्यतममेक किञ्चित्तैलं तस्य भागैकं, तस्माद् द्विगुणं पूर्वोक्त क्वाथं, चतुर्गुणञ्च दुग्धं पाटलादिद्रव्यचतुष्टयस्य पृथक् , तैलात् एकैक भाग रसं, भेकः-मण्डूक., शूकरः-वराह', मेषः-प्रसिद्धः, अहिः-सर्पः, मत्स्यः-प्रसिद्धः,

कूर्मः–कच्छपः, जलौका, एषां मध्यादेकस्य कस्यचिदपि जन्तोरेकभागया वसया युक्तं तैलं षोडशांशैः तैलषोडशभागपरिमितैः, भूलता–गण्डूपदः, इति ख्यातः। केचित्तु 'भूलतामलः' इत्येकं पादमामनन्ति व्याख्यानयन्ति च गण्डूपदपुरीषम्। इति। मलमाक्षीक–सिक्थं, द्वन्द्वमेलकभेषजानि–द्वन्द्वमेलापकौषधानि, यथाऽत्रैव–'ऊर्णाटङ्कणगिरिजतुमाहिषीकर्णाक्षिमलेन्द्रगोपककर्कटका द्वन्द्वमेलापकौषधानि।' इति। तैः सुपेषितैः–कृतकल्कैः सह पाचितं–साधितं चतुष्पञ्चदिनावधिरिति शेषः। ततः सिद्धमिति ज्ञात्वा चतुर्गुणेन वस्त्रेण गालितं तत्सारणातैलमुच्यते। श्रीमद्गोविन्दभगवत्पादा अपि लिखन्ति सारणातैलं यथा—'मण्डूकमत्स्यकच्छपमेषजलौकाहिशूकरादीनाम्। संयोज्यैकस्य वसां ततः पचेत्सारणातैलम्॥ ज्योतिष्मतीविभीतककरञ्जकटुतुम्बीतैलमेकस्मात्। द्विगुणितरक्तकषायं क्षीरेण चतुर्गुणेन पचेत्॥ दाडिमपलाशबन्धूककुसुमरजनीभिररुणसहिताभिः। मञ्जिष्ठालाक्षारसचन्दनसहितोऽपि रक्तवर्गोऽयम्॥ विद्रुमभूनागमलं विण्मक्षिकाध्वाङ्क्षशलभानाम्। कर्णमलं महिषीणां क्रमेण कल्कं कलांशेन॥' इति विशेषस्तन्त्रान्तरे यथा–'ज्योतिष्मतीकरञ्जाख्यं कटुतुम्बीसमुद्भवम्। तैलमेकं समादाय मण्डूकवसया समम्।' 'कूर्मशूकरमेषाहिजलौकामत्स्यजाऽपि च। एतेष्वेका वसा ग्राह्ये'ति टीकाकारः॥ 'रक्तवर्गः पीतवर्गः क्वाथ्यः क्षीरैश्चतुर्गुणैः। पुष्पाणां रक्तपीतानामनेकेषां द्रवं हरेत्॥ एतद्द्रावं द्विभागं स्यात्पूर्वक्वाथचतुष्टयम्। पातयेत्काकतुण्ड्युत्थं महाराष्ट्रीद्रवं तथा॥ प्रत्येकं भागमेकैकं पूर्वतैलं वसायुतम्। योज्य भागद्वय तत्र भूलतामलतालकम्॥ द्वन्द्वमेलापयोर्येकं तैलात्षोडशकांशकम्। प्रत्येकं योजयेत्तस्मिन् सर्वमेकत्र पाचयेत्॥ ग्राह्य तैलावशेषं तद्वस्त्रपूत सुरक्षयेत्। विख्यात सारणं तैल रसराजस्य सारणे॥' इति। द्रव्याणां तैलनिष्कासनविधिरपि रसरत्नाकरे यथा–'तैलानां पातन वक्ष्ये सूर्यपाकेन चानलात्। जलयोगेन तैलं तद्ग्रासं योगेषु योजयेत्॥ धत्तूरबीजचूर्णानि वस्त्रपूतानि कारयेत्। समूलोत्तरवारुण्याः कषायेण विलोडयेत्॥ आलिप्य कांस्यपात्रे तु धारयेदातपे खरे। संतप्ते स्वच्छवस्त्रेण पीडयेत्तैलमाहरेत्॥ शिग्रुपुष्पार्ककार्पासबीजानामपमार्जनात्। ग्राह्यं धत्तूरवत्तैलमेकैकस्य पृथक् पृथक्॥ काकतुण्ड्याः समूलाया वाकुचीतैलमाहरेत्। देवदाल्याश्च जालिन्यास्तिक्तकाकोलितो भवेत्॥ अपामार्गकषायेण तैलं स्याद्द्विपमुष्टिजम्। मूलक्वाथैः कुमार्यास्तु तैलं जैपालजं भवेत्॥' इत्यादिः॥ २७७–२८०॥

सारणा तैल—हे पार्वति, गुडहल आदि के लालफूल, कसूमा आदि रक्तगण और केशूला आदि पीतगण का क्वाथ दो भाग, दूध चार भाग और मालकागनी, पूतिकरञ्ज, बहेडा और कडवी तुम्बी का तैल एक भाग लेकर पाढल, कौआठोडी, नेत्रवाला और जलपिप्पली इनका स्वरस अलग-अलग एक-एक भाग, मेंढक, सूअर, मेंढा, साँप, मछली, कछुआ और जोंक इनकी चर्वी एक भाग तथा तैल से सोलहवाँ भाग केंचुवा, सोनामाखी और द्वन्द्वमेलक औषधियों को लेकर कल्क करके उपर्युक्त सबको मिलाकर मन्दाग्नि से पचावे। तैल शेष रहने पर उतारकर छान ले। यह सारणा तैल है।

वक्तव्य—पारद पर सारण संस्कार करने के लिए सारणा तैल की नितान्त आवश्यकता होती है। इस तैल के अभाव में सारण कर्म ही असमव हो जाता है अत. इसका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसमें प्रयुक्त होनेवाले द्रव्य जैसे कि—जितने प्रकार का तैल ग्रहण किया जाता है उन (मालकागनी, करज, बहेडा, कडवी तुम्बी, कपासबीज (सरकी–बिनोला), सहजने के बीज, अर्कबीज इत्यादि) सबका परिचय तथा तैल निकालने की विधि, तैल बनाने की विधि, कल्कित द्रव्यों के साथ पाँच दिन तक मन्दाग्नि से तैल की साधना करे। तैल में प्रयुक्त होने

वाले द्रव्य-रक्तवर्ग, पीतवर्ग, लाल फूल, पीलेफूल, द्वन्द्वमेलक औषधों आदिका विस्तृत वर्णन संस्कृत टीका में दिया हुआ है ॥ २७७-२८० ॥

अथ गन्धर्वतैलमपि रसहृदयस्वरसात् ॥ २८१ ॥

अत्रेत्यादि । अत्र-सारणायां गन्धर्वतैलम्-एरण्डतैलमपि, योज्यमिति तात्पर्यम् । कुतो रसहृदयस्वरसात्-श्रीमद्गोविन्दभगवत्पादाचार्यविरचितरसहृदयनाम्नि तन्त्रे समुपलब्धत्वात् । तद्यथा-'ज्योतिष्मतीविभीतकगन्धर्वाणां च तैलमेकस्य । द्विगुणितरक्तकषायक्षीरेण चतुर्गुणेन पचेत् ॥' इति । तैलनिर्णयो रससारे यथा—'धूर्तभल्लातकालिङ्गविभीताङ्कोलसंभवम् । ज्योतिष्मतीतिलानां च वाकुच्यतसिबीजजम् ॥ तुम्बीपलाशजं तैलं कटुतैलं च राजिजम् । देवदाली करञ्जानामेरण्डकटुतुम्बिजम् । गृहीत्वा सर्वतैलानि यथाप्राप्तानि साधकः ॥' इति ॥ २८१ ॥

रसहृदयतन्त्रकार एरण्डतैल का भी सारणार्थ जो तैल बनता है उसमें अन्य तैलों की भाँति प्रयोग किया है। इसी प्रकार रससार के कर्ता ने धत्तूर के बीजों का तैल, भिलावे का तैल, तरबूजों के बीज का तैल, बहेडे की मज्जा का तैल, अकोल का तैल, बावची का तैल, अलसी, पलाश, राई, सरसों, कलिहारी आदि के तैलों का भी उपयोग कहा है। इसका प्रमाण संस्कृत टीका में है ॥ २८१ ॥

अथ द्वन्द्वमेलकौषधानि—

ऊर्णाटङ्कणगिरिजतुमहिषीकर्णाक्षिमलशक्रगोपकर्कटकाः । इति ॥२८२॥

ऊर्णेत्यादि । ऊर्णा-मेषरोमाणि, टङ्कणं ख्यातं, गिरिजतु-शिलाजतु, महिषी-विश्रुता, तस्याः श्रोत्रमलो नेत्रमलश्च, शक्रगोपः—अतीवशोणो वार्षिकः कीटविशेषः, उक्तं च—'शक्रगोपस्तु वर्षाभू रक्तवर्णेन्द्रगोपकावि'ति । कर्कटकः—कुलीरकः । इमानि सर्वाण्यपि औषधानि द्वन्द्वमेलापकानीति ॥ २८२ ॥

द्वन्द्वमेलक औषधियों के नाम—ऊन, सुहागा, शिलाजीत, भैंस के कान और नेत्र का मल, बीरबहूटी और केकड़ा हैं।

वक्तव्य—शक्रगोप-यह वर्षा के प्रारम्भ में ही देखा जाता है। लाल मखमल के समान रंग का होता है जिसको प्रचलित भाषा में बीरबहूटी नाम से पुकारा जाता है। द्वन्द्वमेलक का तात्पर्य यह है कि स्वर्ण, अभ्रकसत्त्व आदि दो-दो द्रव्यों को मिलाकर एक जीव कर देने वाले जो औषध होते हैं उनको द्वन्द्वमेलक कहा जाता है।

इन द्रव्यों को स्त्री दुग्ध के साथ घोटने से द्वन्द्वमेलापक शक्ति का निर्माण विशेष होता है ऐसा रसहृदयकार का कथन है। जैसे कि—'नारीपयसा पिष्टैः सर्वद्वन्द्वानि हि मिलन्ति ।' इति ॥ २८२ ॥

अथाऽपरम्—

श्वेतपुष्पैर्यथाप्राप्तैर्नानावृक्षसमुद्भवैः ।
रसं चतुर्गुणं योज्यं कङ्गुनीतैलमध्यतः ॥ २८३ ॥
पचेत्तैलावशेषं तु तस्मिंस्तैले निषेचयेत् ।
द्रावितं तारबीजं तदेकविंशतिवारकम् ॥ २८४ ॥

रञ्जितं जायते सम्यग्रसराजस्य रञ्जनम् ॥ २८५ ॥

श्वेतपुष्पैरित्यादि । नानावृक्षसमुद्भवैः—अनेकतरुसमुत्पन्नैः, श्वेतपुष्पैः–धवलवर्णकुसुमजातैः । यथाप्राप्तैः–तथा श्वेतवर्गसमुद्भवैः कुसुमैः । श्वेतवर्गो यथा—'तगरः कुटजं कुन्दो गुञ्जा जीवन्तिका तथा । सिताम्भोरुहकन्दश्च श्वेतवर्ग उदाहृतः ॥' इति । रस–स्वरस कषायं वा चतुर्गुणं—तैलमानाच्चतुर्गुणं, कङ्गुणीतैलमध्यत—ज्योतिष्मतीतैलमध्ये, योज्यं तैलावशेषं यावत् पचेदग्निनेति शेषः । पुनस्तस्मिन् तैले द्रावितं–द्रवीभूत तारबीज रजतवापम्, एकविंशतिवारकं प्रक्षेपणं यावद्भवेत्तावन्निषेचयेत् । तद्रञ्जितं जायते—अनेन रसराजस्य सम्यग्रञ्जनं भवति ॥ २८३–२८५ ॥

रजतबीज रञ्जनतैल—अनेक वृक्षों से मिलनेवाले सफेद फूल अथवा श्वेतवर्गोक्त वृक्षों के फूल इन सबका चार भाग रस, एक भाग मालकागनी के तैल में डालकर मन्दाग्नि से पकावे । जब तैलमात्र अवशेष रहे तब उस तैल में चाँदी को पिघलाकर २१ बार डाले । प्रत्येक प्रक्षेप के समय तैल नूतन होना चाहिए । ऐसा करने से चाँदी का रञ्जन हो जाता है । यह तारबीज पारे का रंगनेवाला होता है ।

वक्तव्य—पहले से रञ्जन तैलों का विषय चला था किन्तु बीच में द्वन्द्वमेलक भिन्न विषय डालकर क्रमभंग सा कर दिया और अब पुनरपि तारबीज का विषय आ गया है, ऐसा असंगत-प्रतीत होता है ? किन्तु यह सच है कि विषयान्तर नहीं केवल एक ही विषय है । द्वन्द्वमेलन के विना बीजों में समरसता और एकात्मभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती है अत द्वन्द्वमेलक द्रव्यों का प्रतिपादन विषय से सर्वथा सम्बद्ध है ॥ २८३–२८५ ॥

अन्यच्च—

कुटिले बलमत्यधिकं रागस्तीक्ष्णे च पन्नगे स्नेहः ।
रागस्नेहबलानि तु कमले नित्यं प्रशंसन्ति[१] ॥ २८६ ॥

अधुना तद्धातूनां जारणफलमाह—कुटिल इत्यादि । कुटिले—वङ्गे स्वभावेनैवाधिकं–प्रचुरं बल सत्त्वं भवतीति शेषः । तीक्ष्णे—लोहे अत्यधिकः—प्रभूतो रागः रञ्जन, पुनः पन्नगे-नागेऽत्यधिकः स्नेहः–स्निग्धत्वम् । अत एवैतेषु कुटिलतीक्ष्णपन्नगेषु जारितेषु सत्सु सूतो बलवान्, रागवान्, तथा स्नेहवांश्च क्रमशो भवति । पुनः कमले–ताम्रे एकस्मिन्नेव रागस्नेहबलानि त्रीण्येवोक्तानि । अत एव रसशास्त्रमर्मज्ञास्ताम्रं नित्य प्रशंसन्ति–स्तुवन्तीत्यर्थः । कुटिलतीक्ष्णपन्नगानां जारणाद्रसे यथा बलरागस्नेहा भवन्ति तथैकनाम्र जारणाद्युगपदेव त्रयो भवन्तीति भावः ॥ २८६ ॥

धातुजारण फल—रांगे में स्वभाव से ही अधिक बल होता है, तीक्ष्ण लोह में राग (ललाई) और सीसे में स्वभाव से ही स्नेह होता है अतः इन तीनों (वङ्ग, लोह और सीसे) के पारे में जारण करने से पारद बलवान्, रागवान् और स्नेहवान् बन जाता है किन्तु ये तीनों भी गुण अकेले ताम्र में होते हैं केवल ताम्र के जारण करने से पारद में बल, राग और स्निग्धता एक साथ आती है । यही कारण है कि धातुवादी (किमियागिर) ताम्र की प्रशंसा करते हैं । वे जब ताम्र आदि से सुवर्ण बनाने में सनद्ध होते हैं तब ताम्र में उन्हें एक साथ तीनों बातें रञ्जन, स्नेहन और बल मिलते हैं जिससे उनके कार्य में प्रचुर प्रमाण में सहायता होती है यही कारण है कि वे ताम्र की सदैव प्रशंसा करते हैं ॥ २८६ ॥

---

१. शंसन्ति धातुविदः इति रसहृदये पाठः । कमले–ताम्रे ।

बलमास्तेऽभ्रकसत्त्वे जारणरागाः प्रतिष्ठितास्तीक्ष्णे।
बन्धस्तु सारलोहे [1]क्रामणमथ नागवङ्गगतम् ॥ २८७ ॥

अभ्रसत्वादीनां योगे रसे व्यवस्थामाह—बलमित्यादि। अभ्रकसत्वे—घनसत्त्वे बलमास्ते—बलं तिष्ठति। कारणानुकूलत्वात्कार्याणामितिन्यायेन पारदोऽपि तज्जारणेन बलवान् भवति। पुनश्च तीक्ष्णे—लोहविशेषे, जारणरागाः—तीक्ष्णस्था जारणे रागाश्च प्रतिष्ठिताः सन्तीत्यर्थः। अतस्तज्जारणेन पारदे रञ्जनत्वमुपपद्यते। सारलोहे—लोहजातावुद्दिष्टे विशिष्टे तीक्ष्णलोहे सुवर्णे रजते वा बन्धः—बन्धनक्रिया जायते। अथेत्यनन्तरम्। नागवङ्गगत—सूते नागे वङ्गे च जीर्णे सति। क्रामणं—क्रामणक्रियोत्पद्यते। विशेषश्चात्र—'नागे स्नेहो बलं व्योम्नि रागस्तीक्ष्णे तथैव च। बलं रागस्तथा स्नेहः कनके च व्यवस्थितः। तस्मात्कनकमेवादौ जारयेद्रससाधकः॥' इति ॥ २८७ ॥

अभ्रकसत्त्व में बल, लोहे में जारण शक्ति और रञ्जकत्व, लोहे के भेदस्वरूप सार लोह अथवा सुवर्ण, चाँदी में बाँधने की शक्ति और सीसा तथा राँगे में क्रामण करने की शक्ति होती है। अत एव अभ्रकसत्त्व, लोह, सारलोह, सुवर्ण-चाँदी, सीसा और वङ्ग आदि द्रव्य पारद में जब तक जारण नहीं किये जाते हैं तब तक पारद में बल, जारणशक्ति, रञ्जन तथा बाँधने की क्रिया का आधान नहीं हो पाता है। सीसा और राँगे के जारण के बिना क्रामण शक्ति पारद में नहीं आती है, यही कारण है कि इनकी पारद में जारणा होती है ॥ २८७ ॥

क्रामति तीक्ष्णेन रसस्तीक्ष्णेन च जीर्यते ग्रासः।
हेम्नो योनिस्तीक्ष्णं रागान् गृह्णाति तीक्ष्णेन ॥ २८८ ॥

सर्वकारणं तीक्ष्णमाह—क्रामतीत्यादि। रसस्तीक्ष्णेन—लोहभेदेन, क्रामति—क्रामणं विदधाति ताम्रादिधातून् सारणक्रियया विध्यतीत्यर्थः। पुनस्तीक्ष्णेन—तीक्ष्णलोहेन सूते ग्रासो जीर्यते। तेन च सूतो बुभुक्षितो भवतीति शेषः। हेम्न—सुवर्णस्य योनिः—उत्पत्तिस्थानं तीक्ष्णम्। अतस्तीक्ष्णेन पारदो रागान्—रञ्जनभावान् गृह्णाति ॥ २८८ ॥

पारा तीक्ष्णलोह जारणा के द्वारा क्रामण करता है अर्थात् सारणक्रिया से ताम्र आदि धातुओं को वेधकर स्वर्ण बना देता है। तीक्ष्ण लोह से ही ग्रास को जारण करने की शक्ति पारद में उत्पन्न होती है अर्थात् बुभुक्षित होता है। तीक्ष्णलोह से ही सुवर्णोत्पादक होता है क्योंकि सुवर्ण की योनि ही तीक्ष्ण लोह है। रञ्जनसंस्कार को ग्रहण करना भी तीक्ष्णलोह-जारण से ही होता है। तीक्ष्णलोह के बिना पारद में यथेच्छ राग (ललाई) नहीं आती है। अतः यह सिद्ध है कि जिनको पारद में इन सब शक्तियों का समावेश अभीष्ट है उनको पारद में तीक्ष्णलोह-जारण करना सर्वथा अनिवार्य है।

वक्तव्य—क्रामण संस्कार के बिना रसायन और धातुवाद के लिए किया हुआ परिश्रम निष्फल होता है। क्रामण संस्कार करने से ही पारद में वह शक्ति आती है जो बीज धातु (क्षेत्र) के अणु-परमाणु में प्रवेशित होकर अपने प्रभाव को प्रगट करता है। सारणा पर्यन्त के समस्त संस्कार करने पर भी क्रामण के बिना पारद धातुओं के बाहर ही वेष्टन करके रहेगा अर्थात् लेपवत् प्रतीत होगा किन्तु अणु-परमाणु में प्रवेश नहीं कर सकेगा। जैसे कि—'इति कृतसारणविधिरपि बलवानपि सूतराट् क्रियायोगात्। सवेष्ट्य तिष्ठति लोहं नो विशति

---

[1] 'सारणमथ नागवङ्गाभ्याम्' इति रसहृदये पाठः।

क्रामणारहितः ॥' जिस प्रकार भोजन और औषध का सेवन करने पर अनुपान के बल पर वह रस-रक्तादि धातुओं में सर्वाङ्गत व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार क्रामण संस्कार से पारद धातुओं के अणु परमाणु में प्रवेशित हो जाता है। जैसे—'अन्नं वा द्रव्यं वा यथानुपानेन धातुषु क्रमते। एवं क्रामणयोगाद्रसराजो विशति लोहेषु ॥' (रसहृदयतन्त्र) अतः पारद के पूर्ण प्रभाव और पूर्ण सफलता के लिए क्रामण संस्कार नितान्त आवश्यक है। इसकी विस्तार-सहित विधि रसहृदयतन्त्र में देखें ॥ २८८ ॥

तदपि च दरदेन हतं हत्वा वा माक्षिकेण रविसहितम्।
वासितमपि वासनया घनवच्चार्यं च जार्यं च ॥ २८९ ॥

तीक्ष्णस्य दरदसंयोगेन गुणोत्कृष्टत्वमाह—तदपीत्यादि। अपीति निश्चयेन। तत्—तीक्ष्णाख्यं लोहं, चकारोऽत्र समुच्चयार्थे। दरदेन—हिङ्गुलुना हतम् अथवा माक्षिकेण—सुवर्णमाक्षिकेण, रविसहितं—ताम्रयुक्तं तीक्ष्णाख्यं लोहं हत्वा च वासनया—वासनाद्रव्येण वासितं—परिभावितं यदा भवेत्तदा घनवत्—अभ्रकसत्त्ववत्[1] चार्यं—चारणीयं, जार्यं—जारणीयं च ॥ २८९ ॥

उपर्युक्त तीक्ष्णलोह को हिङ्गुल से मारे अथवा ताम्रसहित लोह को सोनामाखी से मारकर काञ्जी आदि भावनाद्रव्यों से भावित कर अभ्रकसत्त्व की भाँति पारद में चारण और जारण करे। कुछ लोग 'रविसहितम्' का अर्थ 'अर्कसहितम्' अर्थात् आक के दूध के साथ हिङ्गुल और सोनामाखी से मारने को मानते हैं किन्तु व्यावहारिक और शास्त्रीय दृष्टिकोण से ताम्र ही का संयोग उत्तम और सिद्धिप्रद है ॥ २८९ ॥

सर्वैरेभिर्लोहैर्माक्षिकमृदितैर्द्रुतैस्तथा गर्भे।
बिडयोगेन च जीर्णो रसराजो बन्धमुपयाति ॥ २९० ॥

अथेदानीं रसबन्धनोपायमाह—सर्वैरित्यादि। माक्षिकमृदितैः—सुवर्णमाक्षिकसंयोगेन संपेषितैः। क्वचित् पुस्तके 'माक्षिकमृदितैः' इत्यत्र 'माक्षिकनिहतैः' इति पाठान्तरम्। एभिः प्रागुक्तैः सर्वलोहैः—धातुभिस्तथा गर्भे—रसगर्भे द्रुतैः—सम्यग् विद्रुतैः पुनश्च बिडयोगेन पूर्वोक्तबिडादिना जीर्णो—जारित एवम्भूतस्वैः सुवर्णादिधातुभी रसराजो बन्धमुपयाति।

सोनामाखी से मर्दन किये हुए पूर्वोक्त सुवर्णादि समस्त धातु तथा पारद में बिना अग्नि-संयोग के गर्भद्रुति विधि से भली भाँति द्रुत होनेपर, पहले कहे हुए बिडयोगों से जीर्ण, तीक्ष्ण लोह, स्वर्ण तथा अभ्रक सत्त्व आदि से पारद का बन्धन हो जाता है ॥ २९० ॥

आगे ग्रन्थकार ताम्र से सुवर्ण बनाने की चार विधियाँ बताता है और पारद-रञ्जन के उन नियमों की सीमा निर्धारित करता है जिनके स्वीकार करने से ही ताम्र का स्वर्णरूप में परिवर्तन होता है अन्यथा नहीं—

निर्बीजे समजीर्णे पादोने षोडशांशतया।
अर्धेन पादकनकं पादेनैकेन तुल्यकनकं च ॥ २९१ ॥

अथ ताम्रस्य सुवर्णत्वापादनमिति दर्शयन्नाह—निर्बीज इत्यादि। समजीर्णे—तुल्यसुवर्णग्रासजीर्णे सूते, अर्थात्—उदाहरणार्थं यथातोलकपरिमिते पारदे तावन्तमेव तस्मिन् स्वर्णजारणं कृतं स्यादिति। निर्बीजे—बीजरहितेऽपि ताम्रे तुल्यसुवर्णग्रासग्रसितपारदस्य

१. 'घनवदभ्रकवत्' इति ग्रन्थकारः।

संयोगः स्वप्रमाणाच्छतगुणं द्रवीभूत ताम्र स्वर्णत्वमधिरोहति। पादोने–पादोनस्वर्णग्रासजीर्णे, चतुस्तोलकमिते पारदे त्रितोलकमिते स्वर्णे जारिते सति पोडशांशतया–प्रक्षिप्तषोडशभागसुवर्णबीजेन ताम्रेण सुवर्णं सम्पद्यते अर्थात्सुवर्णस्यैकभागं द्रावितताम्रस्य च पञ्चदशभागमेवं षोडशभागपरिमिते ताम्रे पादोनस्वर्णजीर्णस्य रसस्य शतांशप्रक्षेपः सुवर्णकरो भवतीति भावः। अर्धेन–अर्धसुवर्णग्रासजीर्णेन अर्थात् द्वितोलकमिते पारदे द्व्येकतोलकपरिमिते स्वर्णे जारिते सति तेन सूतेन पादकनकं–पादपरिमितप्रक्षिप्तसुवर्णताम्र सुवर्णं जायते। अर्थात् पूर्वोक्तस्यार्धहेमजीर्णयुक्तसूतस्य त्रितोलकमिते द्रावितताम्रे चैकतोलकमिते स्वर्णे संयुक्ते शतांशप्रक्षेप. सुवर्णजनको भवति। पादेनैकेन–एकपादसुवर्णग्रासजारितेन पारदेन (अर्थात् एकतोलकपरिमित सुवर्णं त्रितोलकमिते सूते जीर्णं स्यात्तेन) तुल्यकनकम्–प्रक्षिप्तसमभागस्वर्णं ताम्रं सुवर्णं भवति। एकपादसुवर्णजारितपारदस्य शतांशप्रक्षेपणेन समभागसुवर्णद्रावितताम्र सुवर्णं भवति। अर्थात् अर्धं सुवर्णम् अर्धं च ताम्रं कृत्स्नेन सुवर्णं भवति। एकपादसुवर्णजारितसूतसयोगेनेति भाव.॥ २९१॥

समभाग सुवर्णग्रासजीर्ण पारा अपने सौगुने बीजरहित द्रविततान्र को सुवर्ण बना देता है। पादोन (चार तोले) पारे में तीन तोला सुवर्णबीजयुक्त ताम्र को अपने से सौगुने अधिक को मिश्रण करने पर सुवर्ण बना देता है। आधा भाग सुवर्ण का ग्रसित किया हुआ पारा (अर्थात् दो तोले पारे में दो तोले सुवर्ण का ग्रास जारण करने पर) वह चतुर्थांश सुवर्ण बीजयुक्त द्रवित ताम्र को अपने से सौगुने को सुवर्ण कर देता है। चार तोले पारे में एक तोला सुवर्ण ग्रसित कराने पर वह पारा समान भाग सुवर्ण बीज प्रदान किये हुए उस ताम्र को अपने से सौगुने को सुवर्ण रूप में परिणत कर देता है।

इस भाँति ये चार विधियाँ ग्रन्थकार ने कही हैं।

इसी प्रकार यत्किंचित् परिवर्तन के साथ रसहृदयतन्त्र, रसेन्द्रचिन्तामणि और रसकामधेनु ने भी माना है। जैसे कि—'**निर्बीजं समजीर्णे पादेनैव पोडशांशेन। अर्धेन पादयोग पादेनैकेन तुल्यकनकं च॥**' (रसहृदय) '**निर्बीज समजीर्णे पादोने षोडशांशन्तु। अर्द्धेन पादकनकं पादेनैकेन तुल्यकनक च॥**' (रसेन्द्रचिन्तामणि और रसकामधेनु)

वक्तव्य—ग्रन्थकार अपने अनुभव के अनुसार धातुवाद (किमियागिरी) अर्थात् न्यून कीमत की धातु से अधिक मूल्यवान् धातु के निर्माण के कुछ प्रकारों को कहता है। इस विषय में श्रीमद्गोविन्दभगवत्पादाचार्य ने अपने रसहृदयतन्त्र में विभिन्न प्रकार से प्रकाश डाला है और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने समय में इस पर अपरिमित अनुभव प्राप्त किया है किन्तु सम्प्रति उस विषय से साधक बहुत ही अधिक दूर हो गये हैं अत उनकी आर्याओं का भाव समझना भी कठिनप्रायसा प्रतीत होता है। रसहृदयतन्त्र का अनुभवी विद्वानों द्वारा विवेचन होना नितान्त आवश्यक है उपर्युक्त आर्या के अनुवाद में ही यह प्रगट होता है कि रसहृदयतन्त्र में जो इसका अनुवाद हुआ है उससे ग्रन्थकार का मन्तव्य अस्पष्ट है॥ २९१॥

समादिजीर्णस्य सारणयोग्यत्वं शतादिवेधकत्वं च। इतो न्यूनजीर्णस्य पत्रलेपाधिकार एव॥ २९२॥

अथात्र विशेषमाह–समादिजीर्णस्येत्यादि। समादिजीर्णस्य–समभागसुवर्णजीर्णपारदस्य, आदिशब्देन द्विगुणादिजीर्णस्य ग्रहणम्। धातुषु सारणयोग्यत्व शतादिवेधकत्वं च–स्वमानाच्छतगुणबीजस्य सुवर्णत्वं भवति। इतः—अस्मात्समादिहेमजीर्णसूतात्,

न्यूनजीर्णस्य–समभागापेक्षया हीनजारितस्य पारदस्य पत्रलेपाधिकार एव ग्रहणं न तु धातुषु धात्वापादनकर्मणीति भावः ॥ २९२ ॥

समान भाग सुवर्ण आदि ग्रासजीर्ण पारा सारणयोग्य तथा शतवेधित्व माना गया है किन्तु इससे हीन सुवर्णादि ग्रासजीर्ण पारा पत्रलेपाधिकार में ही गृहीत होता है। तात्पर्य यह है कि–समभाग सुवर्ण आदि बीज जीर्ण होने पर ही सारण क्रिया की जाती है और उसके पश्चात् ही वह पारा शतादिवेधनकारक होता है। यदि इससे न्यूनमात्रा में सुवर्णबीज का जारण किया जावेगा तो उसका अधिकार केवल पत्रलेप ही का होगा ॥

वक्तव्य—विभिन्न रसतन्त्रों ने यह बात प्रायश सर्वमत से स्वीकार की है कि पारद को निर्बीज रखकर और उसमें सुवर्ण ग्रास न देकर हा साधना की जावेगी तो उसमें वह सफलता कदापि हस्तगत नहीं होगी, जो सबीज और सुवर्ण-ग्रसित पारे से मिल सकती है। इसके समर्थन में **'रसप्रकाशसुधाकार'** कहता है कि—**'समाभ्रे जारिते सम्यग्दण्डधारी भवेद्रस। वालश्च कथ्यते सोऽपि किञ्चित्कार्यकरो भवेत् ॥'** अर्थात् बीजरहित तथा सुवर्ण ग्रास के विना समभाग अभ्रकसत्त्व जारण किया हुआ पारा भी दण्डधारी ही बनता है और उसको **'बालरस'** नाम से सम्बोधित किया जाता है। यद्यपि यह किञ्चित्कार्यकर होता है, किन्तु वैसा नहीं। यही मत रसार्णवकार का है—**'बालस्तु पत्रलेपेन कल्कयोगेन केवल.।'** कहने का तात्पर्य यह है कि—पारद को शत-शहस्रादि वेधन योग्य बनाना हो तो शास्त्रोक्त विधि और मात्रा से बीज का जारण करना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है अन्यथा उचित फल का लाभ नहीं मिलता है और केवल पत्र लेपनाधिकार ही प्राप्त होता है ॥ २९२ ॥

उपर्युक्त विषय को ग्रन्थकार आगे के श्लोक में प्रतिपादित करके बताते हैं—

यथा—

अत्यम्लितमुद्वर्तिततारारिष्टादिपत्रमतिशुद्धम् ।
आलिप्य रसेन ततः क्रामणलिप्तं पुटेषु विश्रान्तम् ॥ २९३ ॥

अत्यम्लितमित्यादि। तारारिष्टादिपत्र-वक्ष्यमाण रसकामधेनूक्तम्। आदिना रजतताम्रादिदल किम्भूतम्–उद्वर्तितं–दलाकारेण पत्तलीकृतम्, अतिशुद्धं–धात्वन्तरसंसर्गहीनम्। पुनश्चात्यम्लितं–पूर्वप्रतिपादिताम्लवर्गैर्बहुशो भावितम्। क्रामणलिप्त–क्रामणाख्यसंस्कारोक्तद्रव्यैः सम्यग् लेपितम्। ततस्तदनन्तरम्। रसेन–संस्काराधानलेपयोग्यताकेन सूतेन आलिप्य–लेपं कृत्वा, पुटेषु विश्रान्त कुर्यात्–पुटं दद्यादित्यर्थः। तारारिष्टलक्षणं रसकामधेनौ यथा–'वङ्गं नागं तथा कान्तं हिङ्गुलं तीक्ष्णमाक्षिकम्। रविनागकपाली च शुद्धं तार च रञ्जयेत। रञ्जयेत्त्रीणि वाराणि तारारिष्ट तु जायते ॥' इति। अस्य लिप्तपत्रस्य पुट प्रायेण चुल्लिकाधस्तात्–चुल्लिकातोऽधो भागे भवतीति भाव. ॥ २९३ ॥

पत्रलेपनविधि—तारारिष्ट, चाँदी और ताँबे आदि के अन्य धात्वन्तर संयोगहीन सूक्ष्मपत्र (वर्क) बनाकर अम्लवर्गोक्त द्रव्यों से अनेक वार भावित करे और क्रामण-संस्कारोक्त औषधियों से लेपन करके फिर उपर्युक्त सुवर्णादि-बीजरहित ग्रास-जीर्ण पारे का लेपन कर पुट देवे। प्रायश इस पुट का विधान चुल्ली के नीचे होता है ॥ २९३ ॥

अर्धेन मिश्रयित्वा हेम्ना श्रेष्ठेन तद्दलं पुटितम् ।
क्षितिखगपटुरक्तमृदा वर्णपुटोऽयं ततो देयः ॥ २९४ ॥

१. 'क्षितखग.–कासीसम्' इति ग्रन्थकार. ।

अर्धेनेत्युपलक्षणम् ।

दलादिसिद्धिमाह–अर्धेनेत्यादि । ततः पुटदानानन्तरं तद्दलं– प्रागुक्त दत्तपुटं तारारिष्टं रजतताम्रादिपत्रं वा पत्रापेक्षयार्धेन–अर्धभागपरिमितेन, श्रेष्ठेन हेम्ना सहस्रधाध्मातेन शुद्धसुवर्णेन द्रवीभूतेन, मिश्रयित्वा तथा पुटितं च कृत्वा पश्चात् क्षितिखगः—कासीस, पटु'–सैन्धवलवणम्, रक्तमृत्–स्वर्णगैरिकम्, एभिर्वर्णपुटोऽय वर्णोत्पादकाख्यो देय. । अर्धेनेति शब्देन न्यूनाधिक्यमपि समिश्रणीयमिति प्रतिपादितम् ॥ २९४ ॥

पूर्वोक्त विधि से पुट दिया हुआ तारारिष्ट रजत, ताम्र आदि पत्र (वर्क) की अपेक्षा आधा भाग शुद्ध सुवर्ण को अग्नि में अनेक बार धमन कर उसमें तारारिष्ट आदि पत्र को मिला कर अथवा पुट देकर, हीराकसीस, सेन्धा नमक और सोना गेरु से वर्णोत्पादक (रंग देने वाला) पुट देवे । 'अर्धेन' यह केवल उपलक्षण मात्र है, किन्तु न्यूनाधिक सुवर्ण का मिश्रण भी इस विधान में किया जा सकता है ।

वक्तव्य—यह वर्णोत्पादक विधान अनेक रसतन्त्रों में कई प्रकार से कहा गया है । ऊपर का विधान तो सर्वसम्मत है ही, किन्तु इससे भिन्न प्रकार भी 'रसहृदयतन्त्र', 'रसार्णव' तथा 'रसेन्द्रचिन्तामणि' में मिलता है । जैसे कि—

'भूपतिवर्तकचूर्णं शिरीषपुष्परसभावितं बहुश. । सद्य. करोति रक्त सितकनकमसितभागेन ॥' 'रसहृदय' कारने राजावर्त भस्म को शिरीष पुष्प के स्वरस से अनेक बार भावित कर प्रयोग करने को कहा है । यही विधि रसार्णव-कारने भी स्वीकार की है । जैसे कि– 'राजावर्तस्य चूर्णं तु शिरीषकुसुमद्रवै. । भावित बहुश' क्षिप्तमशीत्यशेन वर्णदः ।' 'रसेन्द्रचिन्तामणि' कार भिन्न प्रकार से बताया है । जैसे कि–'तारार्कमर्कटशिरःशिलागन्धान् प्रचूर्णयेत् । पचेद् भूय क्षिपन् गन्ध यथा सूतो न गच्छति । पक्वं तद्धेमपत्रस्थं हेमतां प्रतिपद्यते ॥' अर्थात् शुद्ध चादी, ताम्र, हिङ्गुल, मैनसिल और गन्धक इन सब का भली भांति चूर्ण करे और उसमें पारा तथा सुवर्ण मिलाकर आतशी शीशी में पाक करे, जैसे जैसे गन्धक जारण होता जावे वैसे २ शुद्ध गन्धक का चूर्ण डालता जावे और गन्धक जारण करता जावे । इस प्रकार षड्गुण गन्धक का जारण करना चाहिए किन्तु यह ध्यान रहे कि गन्धक के अभाव में पारद न उड़ जावे । निःशेष गन्धक जारण न होने दे जब थोडा गन्धक बचे तभी दूसरा नवीन गन्धक डालता जावे । इस प्रकार पकाया हुआ चादी और ताम्रचूर्ण सुवर्णता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २९४ ॥

अन्यच्च—

रज्जुभिर्भेकवङ्गेभैः स्तम्भयो. सारलोहयोः ।
बध्यते रसवेतण्डो युक्त्या श्रीगुरुदत्तया ॥ २९५ ॥

रज्जुभिरित्यादि । भेक.–अभ्रकं, वङ्ग.–ख्यात', इभ.–सीसकम् , एभिः पूर्वोक्तैः रज्जुभि.–दामरूपबन्धनै' । सारलोहयोः–सुवर्णरजतयो. । स्तम्भयो'–स्थूणस्वरूपयोः श्रीगुरुदत्तया–पारदकर्मणि चतुराचार्यप्रदत्तया युक्त्या रसवेतण्डः–रसमातङ्गो बध्यते ।

यथा मत्तमातङ्गो रज्जुभिः स्तम्भे सम्बध्यते नेतस्ततो गन्तु क्षमो भवति तथैव रसमातङ्गोऽपि भेकाद्यौषधश्रृङ्खलाभि. सुवर्णरजतयोः स्तम्भे बध्यते इति तात्पर्यम् । बन्धनमुक्तिश्च तत्कर्मणि कुशलेभ्यो ज्ञातव्या ॥ २९५ ॥

अभ्रक, रागा और सीसारूपी रस्सियों द्वारा चादी और सोनारूपी स्तम्भों में रसशास्त्र के विशेषज्ञ गुरु द्वारा प्रत्यक्ष समझाई हुई विधि से पारारूपी हाथी का बन्धन किया जाता है। जिस प्रकार मतवाला हाथी मजबूत रस्सी द्वारा खम्भे में बाध कर वशमें कर लिया जाता है उसी प्रकार अभ्रकादि औषधि रूपी रस्सियों से पारद का भी स्वर्ण और चादी रूपी स्तभ में सहज बन्धन किया जा सकता है।

वक्तव्य—'युक्त्या श्रीगुरुदत्तया' का रसशास्त्र में प्रधान स्थान है। रसशास्त्र यह प्रत्यक्ष क्रियासाध्य विज्ञान है केवल पढने से और शास्त्र की परिभाषा एव विधि के भलीभाति समझने से ही सफलता नहीं मिलती है। प्रत्यक्ष कार्य करने से पद-पद पर व्यामोह करने वाली समस्याए उपस्थित होती है उनका समाधान हुए विना कार्य की दिशा धुँधली हो जाती है और उत्साह भग हो कर धैर्य साथ नहीं देता है, ऐसी दशा में एक मात्र दृष्टकर्मा और स्वयकृती गुरु ही प्रधान है अत उसके विना युक्ति और सफलता दोनों नहीं मिल सकती हैं। इसी लिए ग्रन्थ कारने गुरु की विधि का आग्रह किया है ॥ २९५ ॥

शिलाऽङ्घिभागा गन्धेशौ काचकूप्यां सुवर्णकृत्।
कीलालायःकृतो योगः खटिकालेपनाधिकः ॥ २९६ ॥

सुवर्णकृद्योगमाह—शिलेत्यादि । शिलाऽङ्घिभागा-मनःशिलायाश्चत्वारो भागाः, गन्धेशौ-शुद्धपारदगन्धकौ तयोरेकभाग चादाय, काचकूप्यां पूरयित्वा तस्या मुख चावरुध्य। कीलालायःकृतो योगः-कीलालं-जलम्, अयः-लोहं, ताभ्या कृतो योगः-लेपरूपः पुनः किम्भूतः-खटिकालेपनाधिकः-खटिकाकृतोऽधिको लेपः । क्वचित् पुस्तके-खटिकालवणाधिकः-खटिका-श्वेतमृत्तिका, लवणं-सैन्धव, ताभ्याम् अधिको योग इति ज्ञेयम्। ततो भूधरयन्त्रेऽग्निना पचेदिति सुवर्णकृद्भवति ॥ २९६ ॥

मैनसिल चार भाग तथा सस्कारित पारद और शुद्ध गन्धक दोनों एक भाग आतसी शीशी में भरकर उसके मुख पर मुद्रा कर दे। तदनन्तर खडिया मिट्टी जिसमें अधिक हो ऐसा जल और लोह चूर्ण-मिला कर शीशी पर लेप करे और भूधरयन्त्र में अग्नि से पाक करे। इस प्रकार पाक करने से यह प्रयोग सुवर्णकृत होता है ॥ २९६ ॥

मण्डूकपारदशिलावलयः समानाः, संमर्दिताः क्षितिबिलेशयमन्त्रजिह्वैः।
यन्त्रोत्तमेन गुरुभिः प्रतिपादितेन स्वल्पैर्दिनैरिह पतन्ति न विस्मयध्वम् ॥

अथ मतान्तरमाह—मण्डूकेत्यादि । मण्डूक-मण्डूकाख्यमभ्रकं, तल्लक्षण च-यथा-'उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मण्डूकं ध्मातं पतति चाभ्रकम्।' तदिति। पारदः, शिला-मनःशिला, बलिः-गन्धकः, एते सर्वेऽपि समानाः-तुल्याः, क्षितिः-कासीसं, बिलेशयः-सीसकः, मन्त्रजिह्वः-स्वर्णम्। इत्येतैः सार्धं समर्दिता । गुरुभिः-रसशास्त्राचार्यैः प्रतिपादितेन यन्त्रोत्तमेन-भूधरयन्त्राख्येन । तदुक्त-'वालुकागूढसर्वाङ्गगर्त्ते मूषां समन्विताम्। दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद् भूधराह्वयम् ॥' इति। एतेन सपाचिताः। इह धातुवादे स्वल्पैर्दिनैः पतन्ति-सुवर्णतामुपयान्ति। इति न विस्मयध्वम् ॥ २९७ ॥

अभ्रक, पारा, मैनसिल और गन्धक को समान भाग लेकर, हीराकसीस, सीसा तथा सुवर्ण से मर्दन करके रसवेत्ताओं द्वारा कहे हुए उत्तम भूधरयन्त्र से कुछ दिन पकाने पर सुवर्ण बन जाता है, इसमें कोई सशय नहीं है ॥ २९७ ॥

लोहं गन्धं टङ्कणं भ्रामयित्वा, तेनोन्मिश्रं भेकमावर्तयेत्तु ।
तालं कृत्वा तुर्यवङ्गान्तराले, रूप्यस्यान्तस्तच्च सिद्धोक्तबीजे[1] ॥ २९८ ॥
सिद्धमते लोहभेकि तारभेकीति बीजद्वयम् ॥ २९९ ॥

इदानीं सिद्ध बीजद्वयं प्रतिजानीते–लोहमित्यादि । गन्धं, टङ्कणं–सौभाग्यक्षारम् , एतद् द्वयं च भ्रामयित्वा–सम्यक् मर्दयित्वा, तेन–समर्दितवलिटङ्कणेन, लोहं–तीक्ष्णाख्यं, भेकम् अभ्रकम् , उन्मिश्र–सम्यक् मिलित, तदग्नौ आवर्तयेत–द्रावयेत् , इति लोहभेकि नाम सिद्धबीजम् । पुनश्च द्वितीयं तारभेकि यथा–तुर्यवङ्गान्तराले–वङ्गतश्चतुर्थांशं तालं कृत्वा–हरितालयोगेन वङ्ग हत्वेत्यर्थ । तदेव वङ्गं रूप्यस्यान्त –रजतमध्ये दद्यादित्यध्याहारः । तच्च–रूप्यं सिद्धोक्तबीजे–प्रागुक्तबीजे आवर्तयेत् । इद 'तारभेकि' नाम सिद्धबीजम् । अत्र सिद्धमते–सिद्धसम्प्रदाये लोहभेकि तारभेकि चेति बीजद्वयं निश्चितम् । किन्त्वत्र तारभेकीति न साधीयान् भेकस्यासयोगादिति दिक् ॥ २९८–२९९ ॥

लोह, गन्धक और सुहागा को मर्दन करके उसमें अभ्रक को मिलावे और अभ्रक मिले हुए लोह आदि को अग्नि में द्रवित करे तो लोहभेकी नाम का सिद्धबीज तयार होता है । शुद्ध रांगे से चौथाई भाग हरिताल मिलाकर वङ्गभस्म बनावे, इस हरिताल योग से बनी वङ्ग भस्म को चांदी में मिश्रण करे और उस चादी को पूर्वोक्त सिद्धबीज में मिलावे तो 'तारभेकी' नामक सिद्धबीज तयार होता है । सिद्ध नित्यनाथादि रससशोधकों के मत में 'लोहभेकी' और 'तारभेकी' नामक दो बीज माने गये हैं ॥ २९८–२९९ ॥

अथ सिद्धमते खोटमाह–

द्रुतदर्दुरपूतिलोहसेकः कुरुते हिङ्गुलखण्डपक्षखण्डम्[2] ।
शशिहेलिहिरण्यमूषिका ध्रुवमक्षीणधियामनेन [3]लक्ष्मीम् ॥ ३०० ॥

द्रुतेत्यादि । दर्दुर–दर्दुराख्यमभ्र पूतिलोहो–नागवङ्गौ, एतेषां संमिश्रिताना त्रयाणामग्नियोगाच्च द्रुताना तोयरूपाणां, हिङ्गुलखण्डस्योपरिसेकः–चेतनात्मकस्ताप. कृतश्चेत् स तस्य पक्षखण्डं कुरुते हिङ्गुलभस्म भवतीति भावः । कुत्राऽयं सेको विधेय इत्याह–शशी–रजत., हेलिस्ताम्र, हिरण्यं–सुवर्णम् , एतेषा धातूना मूषिका, लोहघटिता, तत्र दरदं स्थापयित्वोपरि सेक. कार्य । अनेन पूर्वोक्तसेकेन, ध्रुवम् अक्षीणधिया रसकर्मणि बहु कृतप्रयासेनाप्यनिर्विण्णचेतसा बुद्धीना वा लक्ष्मीं सफलता कुरुते ॥ ३०० ॥

हिंगुलखण्ड को चाँदी, तांबा और सोने की बनी हुई मूषा में रखकर ऊपर से अभ्रक, सीसा और रांगे को अग्नि-संयोग से गला कर सेक करे तो हिंगुल का पक्षच्छेदन (भस्म) हो

---

१ गन्धं टङ्कण च भ्रामयित्वा समर्थं, तेनोन्मिश्र लोह भेक (अभ्रक) च वह्नौ आवर्तयेत–द्रावयेत् , तत् लोहभेकि नाम सिद्धबीजम् । तुर्यवङ्गान्तराले ताल कृत्वा (तालयोगेन वङ्ग हत्वेत्यर्थ) तद्वङ्ग रूप्यस्यान्तर्दधात , तच्च रूप्य सिद्धोक्तबीजे (पूर्वोक्तबीजे) आवर्तयेत् । इद तु तारभेकि नाम सिद्धबीजम् ॥

२ दर्दुरोऽभ्रक, पूतिलोहौ नागवङ्गौ, तेषा मिलितानां द्रुताना सेको हिङ्गुलखण्डस्योपरि कृतश्चेत्तस्य पक्षखण्ड–पक्षच्छेद करोति हिङ्गुलभस्म जायते इत्यर्थ ।

३ शशी तार, हेलिरर्कस्ताम्र, हिरण्य स्वर्णम्, एतेषा मूषिका ध्रुव लक्ष्मी करोति तेषामुपयुक्त सेकेनेत्यर्थ. ।

जाता है। यह सेक, अनेक रसकर्मों को करने पर भी जो अनुत्साही नहीं हुए हैं उन्हें सफलता प्रदान करता है ॥ ३०० ॥

अथान्यत्सिद्धमते खोटः—

अत्र भेकादिशब्दा धातुवाचका इत्यलं रहस्यप्रकाशेन ॥ ३०१ ॥
गन्धतैलयुगलाऽऽयसमध्ये पूतिवारिवशमेष्यति पिष्टिः ।
तैलभेकवलिकल्पितपिष्टिः संयमः प्लवगपूत्यभिषेकैः ॥ ३०२ ॥
दरदस्यापि पिष्टित्वेन गृहीतत्वात्पूर्वकर्मणि सम्बन्धः ॥ ३०३ ॥

अत्रेत्यादि। अस्मिन् खोटकरणप्रकरणे भेकादिशब्दा, धातुवाचका –अभ्रकादिधातु-निदर्शकाः। इति रहस्यप्रकाशेन–गूढार्थप्रकटनेन, अल–पर्याप्तम्।

आयसमध्ये—लोहसमुद्भवे पात्रे गन्धतैलयुगला–वलितैलसमन्विता पिष्टिर्नाम दरदः। कुतः पारदगन्धकयोः पिष्टिः कृता सैव काचकूप्यां पाचिता चेद्रससिन्दूरो दरदो वा इति संज्ञां लभते। पूतिवारिवश–पूतिलौहौ यौ नागवङ्गौ तयोर्यद्वारि नाम द्रवस्तस्य वशं स्वाधीनम् एष्यति–लोष्टवद्दृढौ स्थिरीभवतीत्यर्थः।

तैलभेकवलिकल्पितपिष्टि'—तैल गन्धकतैलं भेकोऽभ्रकः, वलि'–गन्धक', एभिर्मिलितैः कल्पिता–रचिता या दरदरूपा पारदगन्धकयो पिष्टि' कज्जलिका तस्या' प्लवग-पूत्यभिषेकै' प्लवगोऽभ्रक, पूतिलौहौ–रङ्गसीसकौ तेषां सम्मिलितानां द्रवीभूतानाम् अभि-षेकैः–परिसेचनकै संयमः–वद्धो भवतीत्यर्थः। पूर्वकर्मणि पिष्टित्वेन–कज्जलीरूपेण गृही-तत्वात्, दरदस्यापि–हिङ्गुलस्यापि सम्वन्ध.–प्रयोजनमित्यर्थः'। इति सिद्धमते खोट ॥

यहाँ खोट-प्रकरण के विषय में आये हुए भेकादि शब्द अभ्रक आदि धातुओं के वाचक हैं, यह विषय यहाँ सर्वथा स्मरणीय रखना चाहिए। लोहपात्र में गन्धक तैल सहित पिष्टिरूप हिंगुल को द्रवीभूत सीसे और रागे में मिला दिया जावे तो वह उसके वश में हो जाता है। अर्थात् इनके द्रव में मिलकर एकात्म स्वरूप बन जाता है और अग्नि-सयोग होने पर भी पारा उड़ता नहीं है किन्तु लोहे के समान स्थिर हो जाता है। गन्धक तैल, अभ्रक और गन्धक पारद की बनाई हुई पिष्टि को अभ्रक, रागा और सीसे के सम्मिलित द्रव से सेचन करने पर गुटिका हो जाती है। यह ध्यान रहे कि 'हेमगर्भपोट्टलिका' आदि का प्रायश' इन्हीं में ग्रहण होना है। प्रथम कर्म में पिष्टि रूप से कहे हुए हिंगुल का भी ग्रहण किया गया है। ये सभी सिद्धों द्वारा बताये हुए खोट हैं।

वक्तव्य—'खोट' शब्द का तात्पर्य यह है कि जिस बन्धन सस्कार से पारे को गुटिकाकार बना दिया जाता है और तीक्ष्णाग्नि में रखकर बार बार धोंकनी से धमन करने पर भी बहुत ही स्वल्पांश में उड़ता है उसको खोट या खोटबद्ध पारद कहते हैं। इसके विषय में आगे ग्रन्थकार ने स्पष्ट लक्षण लिखे हैं। जैसे कि—'बद्धो य खोटतां याति ध्मातो ध्मातः क्षय व्रजेत्। खोट

---

१. गन्धतैलयुगला गन्धतैलसहिता पिष्टिर्नाम दरद, पूतिवारिवशमेष्यति–पूतिलौहौ यौ नाग-वङ्गौ तयोर्यद्वारि नाम द्रव, तस्य वशमेष्यति वह्नावनुड्डयनेनेत्यर्थ।

२ 'वशमेति च' ख पुस्तके पाठ।

३ तैलभेकवलिभिर्मिलितै' कल्पिता या दरदरूपा रसगन्धकयो' पिष्टि तस्याः प्लवगपूत्य भिषेकै' प्लवगोऽभ्रक, पूतिलोहौ नागवङ्गौ, तेषां मिलितानां द्रुतानामभिषेकेण संयमो भवतीत्यर्थ।

बद्धः स विज्ञेयः शीघ्रं सर्वविषापहः ॥' खोटबद्ध पारद में समस्त रोगनाशक शक्ति का सचय रहता है तथा सभी विषों के प्रभाव को भी यह क्षीण करता है। अग्नि में रखने से जो उडे नहीं अर्थात् बहुत अधिक क्षीणाग्नि में धमन करने से ही स्वल्पमात्रा में जिसका क्षय सभव है, वह खोटबद्ध कहलाता है ॥ ३०१-३०३ ॥

अन्यत्र—

अधोऽष्टाङ्गुलतश्चुल्ल्याः सिध्यन्ति सिकतावृताः ।
रसगन्धशिलासर्पाः पाकादग्निविपक्त्रिमाः ॥ ३०४ ॥

अध इत्यादि । रसगन्धशिलासर्पा —रसः, गन्धः, शिला-मनःशिला, सर्पः—सीसकश्चेति सिकतावृताः-वालुकायन्त्रे द्रव्यं यथा वालुकाभिरभितो वेष्टित यथा भवति तथेति बोध्यम् । चुल्लया अष्टाङ्गुलतोऽधः पाकात् । अग्निविपक्त्रिमा —अग्निना विपाचिताः सन्त सिध्यन्ति ॥ ३०४ ॥

पारा, गन्धक, मैनसिल और सीसा इनको कूपिका आदि पात्र में भरकर चुल्ली से आठ अगुल नीचे जमीन में खडा खोद कर उसमें चौतरफ से वालुकावृत (बालू से वेष्टित) करके द्रव्य युक्त पात्र के ऊपर आठ अङ्गुल ऊँची स्तर की बालू बिछाना चाहिए अर्थात् द्रव्य पात्र और अग्नि के बीच में आठ अङ्गुल का बालू का व्यवधान होना और उसके ऊपर से अग्नि देकर पाक करना चाहिए। ऐसा करने से अग्नि के ऊपर की जो गर्मी होती है उसकी ऊष्मा से औषध भली प्रकार सिद्ध हो जाती है ॥ ३०४ ॥

खोटान्तरमाह—

सालूरकुटिलार्कस्थरम्भापामार्गभस्मना ।
हस्तीव बध्यते वक्रलोहखण्डिकया रसः ॥ ३०५ ॥

सालूर इत्यादि । सालूरकुटिलार्कस्थरम्भापामार्गभस्मना—सालूरः-अभ्रकं, कुटिल-वङ्गः, अर्कः-ताम्रम् , एषु स्थितो रसः रम्भा कदली, अपामार्गः प्रसिद्धः, अनयोर्भस्मना बध्यते । वक्रलोहखण्डिकया-लोहशृङ्खलया हस्तीव । यथा लोहशृङ्खलया गजो बध्यते तथैव कदल्यपामार्गयोर्भस्मना अभ्रकवङ्गताम्रेषु स्थित पारदो बध्यत इति तात्पर्यम् ॥

अभ्रक, वङ्ग और तावे के मिश्रित चूर्ण में रखा हुआ पारा केला तथा अपामार्ग के क्षार के योग से पूर्वोक्त विधि से अग्नि देने पर बंध जाता है जैसे कि लोहे की टेढ़ी कडीवाली शृङ्खला (जजीर) से हाथी बँध जाता है ॥ ३०५ ॥

खोटान्तरमाह—

भेकभास्करगन्धायोवङ्गस्थः क्षारभस्मना ।
हस्तीव बध्यते लोहवक्रचक्रिकया रसः ॥ ३०६ ॥

भेक इत्यादि । भेकभास्करगन्धायोवङ्गस्थः-भेकः-अभ्रकं, भास्कर-ताम्र, गन्धः प्रसिद्धः, अयः-लोह, वङ्गः, एषु स्थितो रसः क्षारभस्मना-अपामार्गक्षारेण भस्मना वा लोहवक्रचक्रिकया-लोहशृङ्खलिकया हस्तीव बध्यते ॥ ३०६ ॥

अभ्रक, तावा, गन्धक, लोह और रागा इनके चूर्ण में रखा हुआ पारा अपामार्ग के क्षार अथ वा भस्म से बँध जाता है, जैसे कि लोहे की साकल से हाथी बँध जाता है।

वक्तव्य—ऊपर के २०५ और २०६ के दोनों श्लोकों में क्षार और भस्म (राख) का उपयोग बताया है। इन दोनों का उपयोग उसी भाँति किया जाता है और करना चाहिए जिस प्रकार श्लोक २०४ में बालू का प्रयोग किया गया है और उसी प्रकार द्रव्ययुक्त पात्र को चुल्ही के आठ अगुल नीचे खड्डा खोदकर रखना चाहिए और उसके ऊपर आठ अगुल ऊँचा क्षार अथवा भस्म का स्तर देना चाहिए, उस स्तर के ऊपर अग्नि देनी चाहिए। उस अग्नि की मन्द-मन्द ऊष्मा से उसका पाक करना चाहिए। इस प्रकार पारद बद्ध हो जाता है। बालू, क्षार और भस्म का जो प्रयोग किया जाता है वह केवल पारद को अग्नि से सयुक्त होते ही उड न जावे, इससे बचाने के लिए ही होना है। इसके अतिरिक्त चूना तथा अन्य क्षारयुक्त भस्में अथवा क्षारों का भी प्रयोग किया जा सकता है ॥ २०६ ॥

अथ बाह्यं द्रुतय[१]—

एतास्तु केवलमारोटकमेव मिलिता निबध्नन्ति, फलमस्य कल्पप्रमितमायुः। किंवा पूर्वोक्तग्रासक्रमजारिताः, पूर्वोक्तफलप्रदा भवन्ति। उच्यते च-समजीर्णश्चायं शतवेधी, द्विगुणजीर्णः सहस्रवेधी, एवं लक्षायुतकोटिवेधी समनुकर्तव्यः। चतुःषष्टिगुणजीर्णस्तु धूमस्पर्शावलोकशब्दतोऽपि विध्यति ॥ २०७ ॥

एता इत्यादि। एतास्तु-बाह्यद्रुतयस्तु, केवलम्, आरोटकमेव-शुद्धपारदमेव मिलिताः-सयुक्ताः, निबध्नन्ति-सयमयन्ति, अस्य-आरोटकस्य, सेवनफल तु कल्पप्रमितमायुः-कल्पावधि-जीवन नैरुज्येनेति शेष'। रसहृदयतन्त्रे यथा-'द्रुतिबद्धो रसराजो गुञ्जामात्रोऽपि योजितो नित्यम्। एकैकेन पलेन हि कल्पायुपजीवित कुरुते ॥' इति। 'सुशोधितो रस. सम्यगारोट इति कथ्यते।' इति। किंवा पूर्वोक्तग्रासक्रमजारिताः-पूर्वप्रतिपादितग्रासक्रमक्रियया जीर्णा. अर्थात् २५८ श्लोकोक्तक्रियया जीर्णा, तथा २५९ एव २६० श्लोकोक्तफलप्रदा. भवन्ति। उच्यते च-अयं सुशोधितो रस. समजीर्णः स्वसमानभागसुवर्णजारित. शतवेधी-स्वप्रमाणाच्छतगुणं ताम्रादिकं सुवर्णयतीत्यर्थ'। अयमेव क्रमो रजतादीनामपीति दिक्। द्विगुणजीर्ण'-एकतोलकपरिमिते सूते द्वितोलकमितं सुवर्णं जीर्णं भवेत्तर्हि द्विगुणजीर्ण इति। स एव सहस्रवेधी- सहस्रांशेन विध्यति। एवम्-अनेन विधिना लक्षवेधी, अयुतवेधी तथा कोटिवेधी समनुकर्तव्यः सम्यक् प्रकारेण सहस्रवेध्यादिर्यथाकृतस्तथा कर्तव्य इति भाव'। पुनश्च चतु षष्टिगुणजीर्णः-स्वमानाच्चतुरुत्तरषष्टिसख्यात्मकबीजजारित' पारद, धूमस्पर्शावलोकशब्दतोऽपि—धूमस्पर्शनदर्शनशब्देभ्योऽपि ताम्रादिक विध्यति सुवर्णयति, इति। किमुत समिश्रणतो भवतीति। यथा हि रससारेऽपि-'समेन शतवेधी स्याद्, द्विगुणेन सहस्रभित्। चतुर्गुणेन लक्षैक कोटि पञ्चगुणेन च ॥ तत्त्वषोडशभिर्वा द्विर्द्वात्रिंशज्जारितो रस.। वेधयेत्सर्वलोहानि स्पर्शधूमावलोकतः ॥' इति। बाह्यद्रुतिर्नामभेषजयोगेन प्राग् द्रुतस्याभ्रकादेः पारदमध्ये प्रक्षेपस्तल्लक्षणं टिप्पण्या द्रष्टव्यम्। बाह्यद्रुतिप्रकारो रसप्रकाशसुधाकरे यथा-'औषधाध्मानयोगेन लोहधात्वादिक सदा। सन्तिष्ठते द्रवाकार सा द्रुति. परिकीर्तिता। बाह्यद्रुतिविधान हि कथ्यते पुरुमार्गत। अभ्रसत्त्व हि मूषाया वज्रवल्लीरसेन हि ॥ सौवर्चलेन संध्मात रसरूप प्रजायते। अभ्रद्रुतेश्च सूतस्य,

१ 'बहिरेव द्रुतं कुर्यादभ्रसत्त्वादिक खलु। जारणाय रसेन्द्रस्य सा बाह्यद्रुतिरुच्यते ॥ औषधाध्मानयोगेन लोहधात्वादिक सदा। सतिष्ठते द्रवाकार द्रुति' सा परिकीर्तिता ॥' इति ॥

समांशैर्मेलनं मतम् ॥ तेन बन्धत्वमायाति बाह्या सा कथ्यते द्रुतिः। बाह्यद्रुतिक्रियाकर्म शिवभक्त्या हि सिध्यति ॥ गुरोः प्रसादात्स तत महाभैरववन्दनात्। शिवयोरर्चनादेव द्रुतिः सिध्यति बाह्यगा ॥' इति ॥ २०७ ॥

ये बाह्य द्रुतियाँ केवल शुद्ध पारे के साथ मिलाने से ही पारे का बन्धन करती है। इनका फल कल्पान्त आयु प्रदान करना है अथवा पूर्वोक्त २५८ श्लोकोक्त ग्रासक्रम से जारण किया हुआ पारा समस्त फलों को देनेवाला होता है। जैसे कि कहा है—समान भाग सुवर्ण जीर्ण पारा शतवेधी और द्विगुण-जीर्ण सहस्रवेधी होता है। इसी प्रकार अयुतवेधी, लक्षवेधी और कोटिवेधी भी समझना चाहिए। पारे से चौसठ गुना सुवर्णग्रास देने पर वह पारा धूमवेधी, स्पर्शवेधी, अवलोकवेधी और शब्दवेधी तक हो जाता है।

वक्तव्य—बाह्यद्रुति यह पारद का एक संस्कार ही है। अभ्रकसत्त्व, सुवर्ण, लोह आदि धातुओं को सर्वप्रथम औषधों के संयोग से द्रवित (पिघलाकर) स्वेदनादि संस्कारों द्वारा पारद को शुद्ध करके जारणार्थ पारे में जब इनका मेल किया जाता है और द्रवीभूत हुए ये धातु उस पारे में मिलकर एकाकार हो जाते हैं तब गालन-पातन विधि से उस पारे की परीक्षा करनी चाहिए। यदि गालन और त्रिविध पातन से भी इनका स्वरूप यथावत् प्रतीत हो और भिन्नता यत्किंचित् भी न हो तो द्रुति हो गई ऐसा समझना चाहिए। इसका प्रमाण हमने ऊपर संस्कृत टीका में प्रदर्शित किया है। **औषधाध्मानयोगेनेत्यादि**। द्रुति का दूसरा लक्षण यह है कि-जिसमें पांच बातें भलीप्रकार से परिलक्षित हों वह द्रुति कहलाती है-**'निर्लेपत्वं द्रुतत्वं च तेजस्त्वं लघुता तथा। असंयोगश्च सूतेन पञ्चधा द्रुतिलक्षणम्।'** अर्थात् निर्लेपत्वम्-मूलादि संसर्गहीन, अत्यन्त शुद्ध, निर्मल गुणयुक्त तथा किसी भी पात्र में रखने से पात्र को न लगने वाला गुण निर्लेपत्व कहाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब द्रुति उत्तम प्रकार की होती है तब उसमें पात्र में न लगना और स्वच्छता दिखाई देना यह गुण स्वभावतः आ जाता है। द्रुतत्वम्-द्रावक औषधियों के संयोग से धातु, रत्न और उपरत्न आदि द्रवीभूत हो जाते हैं, लोहादि धातु का सर्वांश में भली भाँति द्रुतत्व पतलापन होना ही उत्तम है। तेजस्त्वम्-द्रुत द्रव्य चमकदार और उज्ज्वल होता है। लघुता-जिस धातु की द्रुति बनाई जाती है उसका मूलभूत जो वजन होता है उससे कम हो जाना अर्थात् लोहे के मूल द्रव्य के वजन की अपेक्षा उस की द्रुति होने से उसमें हलकापन आ जाता है। असंयोगश्च सूतेन-जिस किसी द्रव्य लोहादि धातु को द्रवित (पतला) किया जाता है और वह द्रवीभूत द्रव्य जब तक पारद से पृथक् अर्थात् असंयुक्त रहता है तब तक उसकी द्रुति संज्ञा है। जब पारद में उसे मिला दिया जाता है और द्रुत द्रव्य और पारद एकाकार हो जाते हैं उनका पृथक्त्व नष्ट हो जाता है अर्थात् पारद और द्रुत द्रव्य में जो भिन्नता थी वह समाप्त हो गई है दोनों एकाकार में समाविष्ट हो गये हैं केवल पारद का स्वरूप और अस्तित्व दीखता है द्रुत द्रव्य का मिलाप प्रगट नहीं है। किसी भी धातु की द्रुति करने का प्रधान हेतु भी यही है कि उस धातु का द्रावण करके पारद में विलीन करना। यह विलीनीकरण सर्वथा आत्मसात् करना होना है। पारद में उसकी भिन्नता की समाप्ति हो जाती है न वह द्रव्य अलग हो सकता है न उसका उसमें वजन बढता और न पारद के रूप में उसके मिलने पर कोई अन्तर ही प्रतीत होता है। ऐसा जब हो जाता है तब उस धातुका द्रुतत्व नहीं रहता है अर्थात् जब तक उसका 'असंयोगश्च सूतेन' पारद के साथ संयोग नहीं होता है तब तक ही उसका अपना द्रुतत्व है संयोग होने पर केवल पारद का ही द्रुतत्व प्रगट है।

यही हेतु है कि द्रुत द्रव्य का पारद में जारण भलीभाति होता है अत द्रुति का सर्वोपरि महत्त्व है। रसशास्त्र में अनेकों धातु द्रावक-गण हैं जिनके सहयोग से धातुओं का द्रावण लिखा है, उसकी विधियाँ भी अनेक हैं और प्रत्येक विधि के साथ अपना-अपना अनुभव भी है। तदनुसार द्रुतिजीर्ण पारद का कार्यकारी प्रभाव और उपयोगिता स्पष्ट प्रतिपादित है। फल प्राप्ति के महत्त्व और अनुभव को यत्र-तत्र घोषित किया गया है। इन बातों पर विचार करने से यह तो स्पष्ट है कि द्रुतियों का निर्माण सभव था और किया जाता था, अन्यथा केवल कल्पना के घोडे नहीं दौडे हैं और कल्पना भी यदि होती है तो उसका भी कोई आधार होता है। निराधार वस्तु की कल्पना ही नहीं होती **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** अत यह कहना कि द्रुति की केवल कल्पना है वस्तुत ऐसा है नही, यह सर्वथा असत्य है। किन्तु बीच का समय ही ऐसा आ गया जिसने सभव को असभव में पहुँचा दिया और उसका इतना अभाव और दुर्लभत्व स्वीकार कर लिया गया कि **'द्रुतयोऽपि न दृष्टास्तु शास्त्रे दृष्टा अपि ध्रुवम्। विना शम्भोः प्रसादेन न सिध्यन्ति कदाचन॥'** इसी प्रकार के प्रमाण सस्कृत टीका में भी हमने सगृहित किये हैं किन्तु हमारा उन सबके मूल में केवल निष्क्रियता, अनुत्साह, अज्ञानता, और शास्त्र वाक्यों में अविश्वास ही प्रधान है–यह मत हे और इसीलिए यह निराशा तथा महत्त्वपूर्ण ज्ञानराशि का अभाव है। अत लगन और सशोधन-मानस का व्यक्ति इस कार्य में बहुत शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर सकता हे और इसीलिए किसी को आगे आना चाहिए।

रसशास्त्रियों ने बाह्यद्रुति को इतना महत्त्व दिया है कि उसको देखते हुए यह आवश्यक है कि बाह्यद्रुति यह रसशास्त्र का प्राण है उसके बिना शास्त्र की अपूर्णता प्रकट होती है। जैसे कि— **'द्रुतिबद्धो रसराजो गुञ्जामात्रोऽपि योजितो नित्यम्। एकैकेन पलेन हि कल्पायुषजीवित कुरुते॥'** (रसहृदयतन्त्रम्) **'न च बाह्यद्रुतियोगस्तत् कथमिह बध्यते सूत'।'** (रसकामधेनु) **'द्रुतिबन्धः पञ्चमोऽसौ देहलोहकरः सदा। अभ्रद्रुतिविशेषेण विज्ञेयोऽसौ भिषग्वरः॥'** (रसप्रकाशसुधाकर)।

जिस शास्त्र में बाह्यद्रुति का इतना महत्त्व प्रतिपादित किया गया है उसको असाध्य मानकर दूर हटना उचित नहीं है। यही बात ग्रासक्रमजीर्ण पारद के विषय में भी उतनी महत्त्वपूर्ण है। जिसका उल्लेख हमने सस्कृत टीका में किया है। शतवेधी, सहस्रवेधी, अयुतवेधी, लक्षवेधी, कोटिवेधी, धूमवेधी, स्पर्शवेधी, अवलोकवेधी और शब्दवेधी तक पारद को प्राचीनाचार्यों ने स्वीकार किया है और उसके प्रकृष्ट गुणों का स्वागत किया गया है॥ ३०७॥

अथ सारणोच्यते—

अन्धमूषा तु कर्तव्या गोस्तनाकारसन्निभा।
सैव च्छिद्रान्विता मन्दगम्भीरा सारणोचिता॥ ३०८॥

अस्यामेव मूषायां तत्तैलं[1]मपगतकल्कविमलमापूर्य तस्मिन्नधिक[2] मूष्मात्मने द्रुतबीजप्रक्षेपसमकालमेव समावर्तनीयः[3] सूतवर', तदनु सद्यो-मूषाननमाच्छादनीयमेतत्तैलाक्तपटखण्डग्रन्थिबन्धेन, अरुणसितबीजाभ्या-

---

१ तत्तैलं सारणातैलम्। 'सूते सतैलयन्त्रस्थे स्वर्णादिक्षेपण हि यत्। वेधाधिक्यकर लोहे सारणा सा प्रकीर्तिता॥'

२ तस्मिन् सारणातैले, अधिकमूष्मात्मनि सम्यक् प्रतप्ते। ३ 'समावर्जनीय.'।

ममुना सारणकर्मणा मिलितश्चेत्सारितः सम्यक् संयमितश्च विज्ञेयः, प्रतिसारितस्तु द्विगुणबीजेन, तद्वदनुसारितस्तु त्रिगुणबीजेन, अत्रत्रिविधायामेव सारणायामरुणसितकर्मणोः क्रामणार्थमीषत्पन्नगवङ्गौ विश्रणनीयाविति ॥

अन्धमूषा–एतदाख्या गोस्तनाकारसन्निभागोस्तनसदृशाकारा, पुन किम्भूता, छिद्रान्विताछिद्रसहिता, मन्दगम्भीरास्वल्पान्तर्भागा, क्वचित् 'मध्यगम्भीरा' इति साधीयान् पाठ । एवम्भूता मूषा कर्तव्या सैव •सारणोचितासारणकर्मणि योग्येति भावः । अस्यां–प्रागुक्तायामेव मूषायाम्–अन्धमूषाया तत्तैल सारणार्थं (२७७ त. २८०) पर्यन्तश्लोकेषु प्रागुक्तं सारणातैलम्, अपगतकल्कविमलम्–अपगत दूरीकृत कल्क–तैलप्रक्षेपणात्मकौषधीभूतम्, अतएव विमल–मलरहितम्, अर्थात् चतुर्गुणे वस्त्रे गालयित्वा स्वच्छीकृतम् । आपूर्य–भृत्वा, तस्मिन्–सारणातैले, अधिकमूषात्मनि–अतिसप्रतप्ते द्रुतबीजप्रक्षेपसमकालमेव–द्रावितबीजनिक्षेपणसमयावच्छिन्न एव, सूतवरः–शुद्धपारदः समावर्तनीय –प्रक्षेप्तव्य । तदनु सद्यो मूषाननम्–उक्तमूषायन्त्रमुखम्, एतत्तैलाक्तपटखण्डग्रन्थिबन्धेन–सारणातैलार्द्रवस्त्रशकलेन सग्रन्थिकेन, आच्छादनीयम् । अरुणसितबीजाभ्यां ताम्ररजतबीजाभ्यां, अमुना–सारणकर्मणा मिलितश्चेत् , सारित –सारणकर्मकृत । सम्यक् सयमितश्च–बद्धश्च विज्ञेय । पुनर्द्विगुणबीजेन–सूताद् द्विगुणितेन सुवर्णादिबीजेन प्रतिसारितः–प्रतिसारणात्मकसस्कृतिना सस्कृत पारद इति सर्वत्र योजनीय । तद्वदनुसारितस्तु तथैवानुसारणासस्कारसस्कृतः त्रिगुणितबीजप्रदानेन । अत्र–अस्मिन् विषये, त्रिविधायामेव–सारणाप्रतिसारणानुसारणारूपायाम् , अरुणसितकर्मणो–ताम्ररजतविधे• क्रामणार्थं क्रामणसस्काराय, ईषत्पन्नगवङ्गौ किञ्चिन्नागवङ्गौ विश्राणनीयौ सम्मेलनीयौ । सारणाया लक्षणं टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् । विशेषश्च रसप्रकाशसुधाकरे यथा—'अथेदानीं प्रवक्ष्यामि वेधवृद्धेश्च कारणम् । महासिद्धिकरं मत्स्यात्सारणं सर्वकर्मणाम् ॥ धूर्तपुष्पसमाकारा मूषाऽष्टाङ्गुलदीर्घिका । मुखेऽसुविस्तृता कार्या चतुरङ्गुलसम्मिता ॥ मृन्मया साऽपि शुष्का च मध्येऽतिमसृणीकृता । अन्या पिधानिका मूषा सुनिम्ना छिद्रसयुता । शुद्धं सुराजितं सूतं मूषामध्ये निधापयेत् ॥' सारणार्थं पूर्वोक्तविधिना कृत तैल तस्यां मूषाया पूरयित्वा तस्मिन् तैले सुपाचयेत् । 'बीज च कल्कमिश्र हि कृत्वा मूषोपरि न्यसेत् । पिधानेन द्वितीयेन मूषावक्त्र निरोधयेत् ॥ भस्मना लवणेनैव मूषायुग्म तु मुद्रयेत् । मूषिकायास्त्रिभागं हि खनित्वा वसुधां क्षिपेत् ॥ तदूर्ध्वं ध्मापयेत्सम्यग्दृढाङ्गारै• खराग्निना । एव संजारितं बीज रसमध्ये पतत्यलम् ॥ बन्धमायाति सूतेन्द्रः सारितो गुणवान् भवेत् । प्रथमं जारितश्चैवं सारित' सर्वसिद्धिद• ॥ नो जारित• सारितश्च कथं वेधकरो भवेत् । गुरूपदेशतो दृष्टं सारणं कर्म चोत्तमम् । हस्तानुभवयोगेन कृतं सम्यक् श्रुतं न हि ॥' इति गोविन्दभिक्षुणा प्रोक्तं सारणाया• प्रयोजनम्—'इति रक्तोऽपि रसेन्द्रो जारितबीजोऽपि सारणारहितः । व्यापी न भवति देहे लोहेष्वथवाऽपि पण्ढता याति ॥' इति ॥ ३०८–३०९ ॥

सारणा सस्कार—गाय के स्तन के आकार की अन्धमूषा करनी चाहिए क्योंकि सारणा सस्कार के लिए अन्धमूषा का ही प्रयोग होता है अतः उसका आकार-प्रकार और निर्माण का परिचय नितान्त•आवश्यक है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि सारणाकर्मार्थ बनाई हुई अन्ध मूषा छिद्रों से युक्त तथा बीच के भाग में कम गहरी होनी चाहिए। इसी मूषा में पूर्वोक्त २७७

---

१ देयावित्यर्थ• ।

से २८० तक के श्लोकों में बताया हुआ कल्क रहित निर्मल सारणा तैल आधे भाग तक भरकर तीक्ष्णाग्नि से गर्म करे। जब भली भाँति तैल गर्म हो जावे तब पिघले हुए सममाग सुवर्णादि बीजों के साथ ही तत्काल संस्कारित शुद्ध पारद को उसमें (तैल में) मिला दे और उसी समय सारणा तैल से भीजे हुए ग्रन्थि के आकार के बनाये हुए कपड़े के टुकड़े से मूषा के मुख को भली भाँति बन्द कर दे। ताम्र और रजत बीज के साथ इस सारण कर्म द्वारा मिलाया हुआ पारा अच्छी प्रकार सारणा को प्राप्त होकर बंध जाता है। इसी प्रकार से द्विगुण बीज से पारे की प्रतिसारणा करे और त्रिगुण बीज से अनुसारण करे। यहाँ इन तीनों प्रकार की सारणाओं में ताम्र और रजतबीज का क्रामण करने के लिए कुछ थोड़े से सीसे तथा रांगे का मिश्रण करना चाहिए। लाल (ताम्र) बीज के लिए नाग और श्वेत (चाँदी) बीज के लिए वङ्ग का जारण करना चाहिए॥

वक्तव्य—ऊपर जो सारण संस्कार की विधि दी है उसके अतिरिक्त 'रसप्रकाशसुधाकर' कार ने भी गुरुद्वारा भलीभाँति समझकर और स्वयं अपने हाथ से तदनुसार बनाकर अनुभूत की हुई विधि का उल्लेख किया है जिस प्रकार 'आयुर्वेदप्रकाश' कार ने जहाँ तक बना है स्वानुभूत कर्म लिखे हैं उसी प्रकार यशोधर भी दृष्टिकर्मा और स्वयकृती था। वह कहता है कि—

अब मैं सारणा संस्कार की उस विधि का प्रतिपादन करता हूँ जो वेधवृद्धि (हल्की धातु को स्वर्णादि ऊँची धातु का) रूप देने का हेतु, महासिद्धिदायक (देह और लोह के निर्माण द्वारा संसार को उपकृत करनेवाला) सभी पारद के कर्मों में सर्वाग्रणी कहा है उस सारण संस्कार का परिचय आवश्यक है। धतूरा के फूल के समान आकार की मट्टी की ८ अंगुल दीर्घ मूषा बनानी चाहिए। उसका मुख चार अंगुल चौडा हो, क्रमशः कम चौडी (उतार-चढाव) हो, भीतर से चिकनी और साफ हो ताकि उसके रेशों में द्रव्य का प्रवेश न होने पावे। उसको ऊपर से ढकने के लिए दूसरी मूषा बनानी चाहिए जिसके नीचे के भाग में छिद्र हों।

पहली मूषा में भली प्रकार से संस्कृत और सुजारित (जारणा संस्कार किया हुआ) पारद डालें।

'मत्स्य-कच्छप-मण्डूक-जलौका मेष-सूकराः। एकीकृत्य वसामेषामेवं तैलं तु सारणम्॥
भूनागविट् तथा क्षौद्रं वायसानां पुरीषकम्। तथैव शलभादीनां महिषीकर्णयोर्मलम्॥
रसस्य षोडशांशेन चैतेषां कल्कमादिशेत्। पटेन गालितं कृत्वा तैलमध्ये नियोजयेत्।
सारणार्थं कृतं तैलं तस्मिन् तैले सुपाचयेत्॥'

तत्पश्चात् अर्थात् मत्स्य, कछुआ, मेंढक, जोंक, मेंढा और शूअर इन सबकी वसा को एकत्र लेकर इनके साथ सारणा तैल लें। केंचुओं की विष्ठा, शहद, काकविष्ठा, मृत पतंग आदि कीड़े, भैंस के दोनों कानों का मैल, इनमें से व्यस्त-समस्त जितने मिलें उतने लेकर कल्क बनावें। कल्क पारद से षोडशांश १६ वाँ हिस्सा होना चाहिए। सारणा तैल को गर्म करके उसमें उपर्युक्त कल्क मिलाकर पारद जिस मूषा में रखा है उसमें पारद के ऊपर यह डालना चाहिए। मूषा का आधा भाग पूरण हो जावे इतना उसमें भरना चाहिए। तत्पश्चात् दूसरी मूषा को उसके मुख पर रख कर ऊपर की मूषा (सच्छिद्र) में बीज को कल्क से मिलाकर भर दे। फिर ऊपर की मूषा को ढक्कन से ढककर भस्म और लवण मिश्रित मिट्टी से मजबूत मुखमुद्रा करदे। उसके बाद जमीन में गड्ढा खोदकर मूषा को आधी से ज्यादा पौन हिस्से तक जमीन में गाड कर दबा दे। उसके ऊपर कोयले की तीक्ष्णाग्नि देकर द्रावण करे। द्रवित हुआ बीज ऊपर की मूषा के छिद्रों से नीचे गिरने से पारद में संमिलित होता है और वह उसके संयोग से बद्ध हो जाता है।'

इस विषय में अन्य रसतन्त्रों ने भी विभिन्न प्रकार यत्किंचिदन्तर से कहे हैं। रसहृदयतन्त्र में भी सारण कर्म पर बहुत प्रकाश डाला है जो यथास्थान देखा जा सकता है किन्तु उपर्युक्त प्रकार सर्वोत्तम होने से यहा उद्धृत किया गया है ॥ ३०८-३०९ ॥

सारितो जारितश्चैव पुनः सारितजारितः।
सप्तसङ्क (श्रृङ्ख) लिकायोगात्कोटिवेधी भवेद्रसः ॥ ३१० ॥

इत्यादीनि कर्माणि पुनः केवलमीश्वरानुग्रहसाध्यत्वान्न प्रपञ्चितानि ॥

सारित इत्यादि। सारितः-प्रागुक्तविधिनाऽन्धमूषाया सारणया संस्कृतः ततश्च जारित. कच्छपादियन्त्रेषु जारणासंस्कारेण संस्कृतः पुनश्च सारितजारित., भूयोऽपि कृतसारणजारण', एवं मुहुर्मुहुः सप्तसङ्कलिकायोगात्-सप्तधा सारणजारणक्रमयोगत', कोटिवेधी-स्वमानात्कोटयशेन वेधको रसः पारदो भवेत्। इत्यादीनि-एतत्प्रभृतिकानि कर्माणि-सारणाजारणादीनि, पुनः केवलम्, ईश्वरानुग्रहसाध्यत्वात्परमेश्वरदययैव सिद्धिस्तेषामित्यस्माद्धेतोः, न प्रपञ्चितानि-नाधिक कथितानि। सप्तश्रृङ्खलिकाक्रमविधी रसकामधेनौ यथा—'एकवार जारणसारणमारण कृत्वा पुनरुक्तक्रमेण जारणसारण-मारण श्रृङ्खलिका।' अथवा 'जारणा सारणा कार्या पुन. सारणजारणा। अनेन क्रमयोगेन कुर्याच्छृङ्खलिकाक्रमम्। मुखं बद्ध्वा रस बद्धा कोटिवेध प्रयोजयेत् ॥' इति ॥ ३१० ॥

पूर्वोक्तविधि से अन्धमूषा में सारणक्रिया द्वारा सस्कारित और कच्छपादि यन्त्रों द्वारा जारित पारे का क्रमश सात बार सारण और जारण करे। यही सप्तश्रृङ्खलिका योग कहलाता है। इस योग से पारा कोटिवेधी हो जाता है अर्थात् करोड गुने ताम्र और चाँदी आदि को सुवर्ण बना देता है। ये सारणा आदि क्रियाएँ केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही सिद्ध होनेवाली हैं अत. इस विषय में अधिक नहीं लिखा जा रहा है।

वक्तव्य—ससार के यावन्मात्र कार्य ईश्वराधीन हैं। जड-जङ्गम जगत् का एक परमाणु भी ईश्वरहीन नहीं है। सारणा सकार बहु परिश्रम और समय साध्य है साथ ही शास्त्रकृति सशोधन और लगन की प्रबल भावना होनी चाहिए। इन सबके अभाव में यह निराशाजनक दृष्टिकोण उपस्थित हो गया है और केवल ईश्वर अनुग्रह की प्रतीक्षा में ही उसे ठुकराकर सन्तोष माना है जो उचित नहीं है। इसके लिए सशोधकों को विचार करना चाहिए ॥ ३१० ॥

अन्यच्च—

द्रुतयोऽपि न दृष्टास्तु शास्त्रे दृष्टा अपि ध्रुवम्।
विना शम्भोः प्रसादेन न सिध्यन्ति [1]कदाचन ॥ ३११ ॥

द्रुतय इत्यादि। अपीति प्रागुक्तमर्थं प्रतिपादयति, द्रुतयः-धातूनां न दृष्टाः ध्रुवमिति निश्चयेन, शास्त्रे-रसशास्त्रे दृष्टा अपि-लिखिता. सन्त्यपि नानुभूताः किन्तु, शम्भोः-शिवस्य प्रसादेन-प्रसन्नतया, 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' इत्यमरः। विना न कदाचन सिध्यन्ति। अतोऽत्र रसकर्मणि ईश्वरकृपैव बलीयसीति भावः। रसेन्द्रचूडामणावपि-'सुप्रसन्ने महादेवे द्रुतिः कस्य न सिध्यति। दुर्लभा वैष्णवी भक्तिर्दुर्लभ रसबन्धनम्। दुर्लभाऽत्र द्रुतिर्लोके स्वल्पभाग्यवता नृणाम् ॥' इति ॥ ३११ ॥

---

१ श्लोकोऽय क्वचित्पुस्तके नोपलभ्यते।

धातुओं की द्रुति (जलरूप) होते नहीं देखा है यद्यपि शास्त्रकारों ने द्रुतियाँ लिखी हैं तथापि विना भगवान् शिव की अनुकम्पा के द्रुतियाँ कदापि सिद्ध नहीं हो सकतीं।

वक्तव्य—द्रुति के विषय में पहले २०७ श्लोक में विशेष विवेचन कर दिया है। यद्यपि यह श्लोक यहाँ पर अप्रासंगिक है फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सारणा जिस प्रकार से ईश्वराधीन बताई है उसी प्रसंग से इसको भी यहाँ कह दिया गया होगा॥ ३११॥

अथ क्रामणम्—

शिलया निहतो नागो वङ्गं वा तालकेन शुद्धेन।
क्रमशः पीते शुक्ले[1] क्रामणमेतत्समुद्दिष्टम्॥ ३१२॥

शिलयेत्यादि। शिलया—मनोह्वया निहतो नागः—सीसकम्, अथवा शुद्धेन—शोधनविधिना निर्मलीभूतेन तालकेन—हरितालेन मारितं वङ्गं क्रमशः पीते—पीतकर्मणि सुवर्णनिर्माणे, शुक्ले श्वेतकर्मणि-रजतनिर्माणे, एतत् क्रमणाख्य नाम संस्कार ताम्रादिधात्वाद्यणूनामपि सुवर्णादिधातुवर्णादि रूपेण परिणमनं समुद्दिष्टम्। फलं चास्य रसहृदये यथा—'अन्नं वा द्रव्य वा यथानुपानेन धातुषु क्रमते। एवं क्रामणयोगाद्रसराजो विशति लोहेषु॥' तथा रसकामधेनौ रसार्णवे च—'क्रामणेन विना सूतो न क्रमते न च वेधते। देहलोहामयान् सर्वान् वृथा स्यात्केवलः श्रमः॥' 'क्रामणं रसराजस्य वेधकाले प्रदापयेत्। क्रामणं यो न जानाति श्रमस्तस्य निरर्थकः॥' इति। अस्मिन् कृते शतवारेण सततोऽपि परिणतो धातुर्न कथमपि पूर्वभावमासाद्यते।' इति पीत कर्मणि नागः, शुक्लकर्मणि वङ्गं च नियोजितव्यमित्यर्थः। क्रामणद्रव्याणि रससारे यथा—'मधूच्छिष्टं मधूकं च सिता मधु च टङ्कणम्। अश्वकर्णमलं गुञ्जा केशाच्छुच्छुन्दरीवसा॥ स्त्रीरजः स्त्रीपयः शुक्रमिन्द्रगोपश्च भूलता। वसा तैलं शिला गन्धं सारिवा क्षीरिणी विषम्॥ हयादिनाभिकर्पूरं स्नुह्यर्कक्षीर सिक्थकम्। सर्जश्च मृतनागश्च गुडगुग्गुलुतुत्थकमि'त्यादि॥' यथोपलब्धं संगृह्य प्रयोज्यं कर्मणीति दिक्॥ ३१२॥

क्रामण संस्कार—मैनसिल से मारा हुआ सीसा अथवा शुद्ध हरिताल से मारा हुआ रांगा ये दोनों क्रमशः सुवर्ण और चाँदी के बनाने में क्रामण करते हैं।

वक्तव्य—क्रामण संस्कार उसे कहा जाना है जिससे तांबा आदि धातु के अणु-परमाणुओं को स्वर्णादि धातु के वर्ण में परिवर्तन किया जाता है। इस प्रकार से स्वर्ण के रूप में परिवर्तित धातु सौ बार अग्नि में तपाने पर भी अपने पहले रूप को प्राप्त नहीं हो सकता है अर्थात् क्रामण संस्कार के द्वारा हुआ धातु-परिवर्तन सदा-सर्वदा के लिए अपरिवर्तित होता है। ऊपर संस्कृत टीका में क्रामण के महत्त्व को भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। इसके पूर्व २८८ श्लोक की हिन्दी टीका में भी स्पष्टीकरण दिया गया है। क्रामणार्थ उपर्युक्त द्रव्यों का परिचय संस्कृत टीका में दिया है फिर भी रसार्णवकार का मत है कि—'**अरिवर्गहतौ नागवङ्गौ वा क्रामणं परम्।**' अर्थात् अपने शत्रुवर्ग द्वारा मारे हुए नाग और वङ्ग से सर्वोत्तम क्रामण होता है। इसका ही यह प्रधान प्रयोग ऊपर है॥ ३१२॥

अथ खोटमार्गेण जारणवेधनरञ्जनानि—

खोटकं स्वर्णसंतुल्यं समावर्तं तु कारयेत्।
माक्षिकं कान्तपाषाणं शिला गन्धं समं समम्॥ ३१३॥

---

१. 'पीते स्वर्णे, शुक्ले रूप्ये' इति ग्रन्थकारः।

भूनागैर्मर्दयेद्यामं वल्लमात्रं वटीकृतम् ।
एषा विडवटी ख्याता योज्या सर्वत्र जारणे ॥ ३१४ ॥
दरदं माक्षिकं गन्धं राजावर्तं प्रवालकम् ।
शिला तुत्थं च कङ्कुष्ठं समं चूर्णं प्रकल्पयेत् ॥ ३१५ ॥
वर्गाभ्यां 'पीतरक्ताभ्यां कङ्गुणीतैलकैः सह ।
भावयेद्दिवसान् पञ्च सूर्यतापे पुनः पुनः ॥ ३१६ ॥
रञ्जितं मृतखोटं च कल्केनानेन संयुतम् ।
वालुकाहण्डिमध्यस्थं शरावपुटमध्यगम् ॥ ३१७ ॥
त्रिदिनं पाचयेच्चुल्ल्यां कल्को देयः पुनः पुनः ।
रञ्जितो जायते सूतः शतवेधी न संशयः ॥ ३१८ ॥

खोटकमित्यादि । खोटक-संस्कृतपारदं 'पिष्टिवन्धस्तु खोटकः' इत्युक्तलक्षणत्वात् । स्वर्णसतुल्यं-सुवर्णसमभागं पुनः समावर्तं कारयेत्-सुवर्णम् अग्नौ सम्यग्गालयित्वा तदन्तरे खोटाभिधं सूत वाहयेत् । ततो माक्षिक-सुवर्णमाक्षिकं कान्तपाषाणं-कान्तलोहं, शिला-मनोह्वा, गन्धं प्रत्येक सम सम-समभाग गृहीत्वा, भूनागः—गण्डूपदैर्यामं-प्रहरैकं यावत् मर्दयेत् । वल्लमात्र-त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते । वटिकाकारकृतम् । एषा विडवटी-विडाय कृता वटीति ख्याता सर्वत्र जारणे-जारणकर्मणि सदा योज्या । जारणकर्मणि तत्प्रक्षेपमानं तु गुरुतो ज्ञेयमिति ।

वेधनरञ्जने यथा—दरद-हिङ्गुलं, माक्षिकं-सुवर्णमाक्षिक, गन्धं, राजावर्त्तम्-उपरत्नविशेष, प्रवालकं, शिला-मनःशिला, तुत्थं, कङ्कुष्ठं-स्वर्णक्षीरीनिर्यासः, अस्य विशिष्टपरिचय' कङ्कुष्ठवर्णने द्रष्टव्य. । उक्तानामेषां सर्वेषां समचूर्णं-प्रकल्पयेत् । वर्गाभ्यां किम्भूताभ्या पीतरक्ताभ्यां-पीतरक्तवर्गौ सारणार्थं तैलटीकाया प्रागुक्तौ विस्तरश । कङ्गुणीतैलकैः-ज्योतिष्मतीतैलैः सह हिङ्गुलादीनां समतुलितं चूर्णं सूर्यातपे पञ्चदिवसान्-दिनपञ्चकं पुनः पुनर्भावयेत् । ततो रञ्जितं-कृतरञ्जनसस्कारं मृतखोट-शुद्धमारितपारदम् , अनेन-पूर्वोक्तेन कल्केन संयुतं शरावपुटमध्यगं-शरावद्वयपुटान्तर्भाग कृत्वा वालुकाहण्डिमध्यस्थं सिकतायन्त्रमध्ये शरावपुटक धृत्वा चुल्ल्यामारोप्य त्रिदिनं यावत् पाचयेत् । कल्कश्च पुनः पुनर्देयः । पुनरिति शब्देन यावद्रञ्जनं तावत्पाकः कार्यं इति द्योतयति । तेन रञ्जितो सूतो जायते शतवेधी च भवतीति न संशयः ॥ ३१३-३१८ ॥

खोट विधि से जारण, वेधन और रञ्जन को कहते हैं-पिष्टिवन्धनस्वरूप शुद्ध पारे को समान भाग पिघले हुए सुवर्ण वीज में मिलावे, इसके बाद सुवर्णमाक्षिक, लोह चुम्बक, मैनसिल और गन्धक को बराबर बराबर लेकर केंचुओं से एक प्रहर तक मर्दन करके तीन रत्ती की गोलिया बनावे । यह विडवटी के नाम से प्रसिद्ध है । इसका सर्वत्र जारण कर्म में उपयोग होना है ।

हिङ्गुल, सोनामाखी, गन्धक, लाजवर्द, मूगा, मैनसिल, नीलाथोथा और कंकुष्ठ (उसारे रेवन्द) को समान भाग लेकर चूर्ण करे, उस चूर्ण को पीतवर्गोक्त, रक्तवर्गोक्त तथा मालकागनी के तैल के साथ रञ्जन एव मारण सस्कार किये हुए पारे को शराव-सपुट में वन्द करके वालुकायन्त्र में चूली पर रखकर तीन दिन तक पाक करे । जब तक पारे का रञ्जन न हो जावे तब तक वारम्बार पूर्वोक्त कल्क देता रहे और पाक करता रहे । इस प्रकार से रञ्जित हुआ पारा शतवेधी होता है ।

वक्तव्य—स्रोट विधि से की जाने वाली रञ्जन क्रिया को 'रसार्णव' कार 'उद्घाटन' नाम से कहता है। जैसे कि-**'उद्घटः परमः प्रोक्तः सर्वकर्महितः परम्।'** अर्थात् यह उद्घाटन संस्कार सभी कर्मों में परमोत्तम सहायक कहा है। उद्घाटन शब्द का तात्पर्य यह है कि सिद्ध द्रव्य से पारद की कालिमा (कालापन) तथा मैल आदि दूर करके उसके रंग को चमकीला, स्वच्छ और आकर्षक बनाने वाली क्रिया को उद्घाटन कहते हैं। यह क्रिया धातुवेध होने के पश्चात् करने की है क्यों कि जब एक धातु से दूसरी धातु में किसी धातु का परिवर्तन होता है उसका नाम वेध है। वेध होने के पश्चात् और विक्रयार्थ उस धातु को बाजार में ले जाने से पहले उद्घाटन संस्कार करना चाहिए। ऐसा करने से सुवर्णादि धातुओं में यत्किञ्चित् अवशेष रही विकृति या झाई साफ होकर धातु निर्मल हो जाती है। जैसे कि—**'सिद्धद्रव्येण स तस्य कालुष्यादिनिवारणम्। प्रकाशनं च वर्णस्य तदुद्घाटनमुच्यते॥ वेधस्योद्घटनं कार्यं विक्रेयं च परं ततः॥'** इति॥ ३१३-३१८॥

लोहं गन्धं टङ्कणं ध्मातमेतत्तुल्यं चूर्णैर्भानुभेकाहिवङ्गैः।
सूतं गन्धं सर्वसाम्येन कूप्यामीषत्साध्यं चित्त नो विस्मयस्व॥३१९॥

लोहमित्यादि। लोह, गन्ध, टङ्कणम्। एतत्त्रयं तुल्यं, भानुभेकाहिवङ्गैः-ताम्राभ्रकनागवङ्गैः। चूर्णैः-रजोभिस्तत्समानभागैः सह सर्वसाम्येन सर्वेषामेषां लोहादीनां समानं सूतं गन्धं च तयोः पिष्टिर्माह्येति शेषः। तत्सर्वमेकीकृत्य कूप्यां प्रक्षिप्य वह्नौ ध्मातम्, ईषत्साध्यं-स्वल्पपरिश्रमसाध्यम्, इति हे चित्त किंवा चित्ते चेतसि नो विस्मयस्व-मा विस्मयं कुरु। छन्दोभङ्गभयाच्चित्ते इत्यत्र चित्त इति पाठोऽधिकृतः। क्वचित् पुस्तके 'वाऽत्र' इति पाठः। एके तु लोह, गन्ध, टङ्कण, ताम्रम्, अभ्रक, नागं, वङ्ग, सूतं गन्धान्तं सर्वं द्रव्यजातं समानप्रमाणं ग्राह्यमित्यामनन्ति। इति सिद्धमते कल्कः॥ ३१९॥

सिद्धोक्त कल्क-लोह, गन्धक और सुहागा इन सब के समान भाग तांबा, अभ्रक, सीसा और रांगे को लेकर सब के बराबर शुद्ध संस्कृत पारा तथा गन्धक को आतसी शीशी में भरकर किंचित् मात्र धमन करे तो बहुत जल्दी और कम परिश्रम से यह पारा सिद्ध हो जाता है। इसमें हे चित्त, तू कोई विस्मय नहीं समझना, कारण कि ये रासायनिक क्रियाएं सदैव आश्चर्यजनक ही हुआ करती हैं॥ ३१९॥

रसदरदताप्यगन्धकमनःशिलाभिः क्रमेण वृद्धाभिः।
पुटमृतशुल्वं तारे त्रिर्व्यूढं हेमकृष्टिरियम्॥ ३२०॥

रसेत्यादि। रसदरदताप्यगन्धकमनःशिलाभिः-रसः, दरद-हिङ्गुलं, ताप्यं-स्वर्णमाक्षिकं, गन्धकं, मनःशिला चेत्येताभिः क्रमेण वृद्धाभिः-अधिकाभी रसादिभिः पुटमृतशुल्वं-पुटेन मृतं मारितं शुल्वं-ताम्रम्। एवंविधं ताम्रं द्रवीभूते तारे-रजते त्रिर्व्यूढं-त्रिवारं प्रक्षिप्तम्। इयं हेमकृष्टिः-स्वर्णकरणं सुवर्णोत्पादनम्। रसहृदयतन्त्रे यथा-'रसदरदताप्यगन्धकमनःशिलाराजवर्त्तकं विमलम्। पुटमृतशुल्वं तारे निर्व्यूढं हेमकृष्टिरियम्॥' इति। अन्यत्राऽपि-'रूप्यं वा जातरूपं वा रसगन्धादिभिर्हतम्। समुत्थितं च बहुशः सा कृष्टी हेमतारयोः॥ कृष्टी क्षिपेत्सुवर्णान्तर्न वर्णो हीयते तथा। स्वर्णकृष्ट्या कृतं वीजं रसस्योपरि रञ्जनम्॥' इति॥ ३२०॥

शुद्ध पारा, हिङ्गुल, सोनामाखी, गन्धक और मैनसिल में उत्तरोत्तर एक एक भाग अधिक (अर्थात् पारा एक भाग, हिङ्गुल दो भाग, सोनामाखी तीन भाग, गन्धक चार भाग तथा

मैनसिल पाच भाग) लेकर चांगेरी (चूका) के रससे पीस कर ताम्रपत्रों पर उस कल्क का लेप कर पुट देकर भस्म करे। इस प्रकार से की हुई ताम्रभस्म को पिघली हुई चादी में ३ वार मिलाने पर सुवर्ण हो जाता है।

वक्तव्य—'पुटमृतशुल्वम्' से यह स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है कि कितने पुट देने चाहिए। अत इसका यही अर्थ सार्थक है कि जितने भी पुट में ताम्रभस्म हो जाती है उतने ही देने चाहिए। पुट सख्या में सीमित करने से कभी-कभा उपाय कर भी सिद्ध हो सकता है, अत जब भी और जितने भी पुटों से भस्म हो जावे उतने पुट देने चाहिए। इसी अभिप्राय से सख्या विरहित पाठ ग्रन्थकार को अधिक उत्तम जचा, अन्यथा इस से भी प्राचीन रसार्णव-कार पांच पुट देने को लिखता है कि—**'सूतकं दरदं ताप्यं गन्धक कुनटी तथा। गृहीत्वा क्रमवृद्ध्या तु शुल्वपत्राणि लेपयेत्॥ चाङ्गेरीस्वरसैः पिष्ट्वा दापयेत्पुटपञ्चकम्। तच्चूर्णं वाहयेत्तारे हेमकृष्टिरिय भवेत्' ॥ ३२० ॥**

शतांशवेधविधि—

> अष्टानवतिभागं तु रूप्यमेकं च हाटकम्।
> सूतैकेन च वेध स्याच्छतांशविधिरीरितः॥ ३२१ ॥
> चन्द्रस्यैकोनपञ्चाशत्तथा शुद्धस्य भास्वतः।
> वह्निरेको रसश्चैक शतांशविधिरीरित ॥ ३२२ ॥

अथ शताशवेधविधानमाह—अष्टानवतिरित्यादि। रूप्यं-रजतम्। अष्टानवति-भाग पुनरिहैकमेव भाग हाटकं-सुवर्णं च सूतैकेन-सूतस्य दरदादिमिलितस्य भागैकेन वेधः स्यात्। असौ शतांशविधिरीरित। रजतस्य अष्टानवतिभागा कनकस्यैकः सूतस्य चैको भाग इति सर्वे शतांशा अतोऽत्र शतांशवेधः सम्पन्न॥

द्वितीयप्रकार—एकोनपञ्चाशत्—नवाधिकचत्वारिंशद् भागाः चन्द्रस्य—रजतस्य, तथा—तेनैव प्रकारेण शुद्धस्य—विमलस्य, भास्वत—ताम्रस्य, एकोनपञ्चाशद्भागा। वह्निः—सुवर्णम्, एको भागः, रसश्चैको भाग। एषोऽपि शतांशविधिरीरितः। रसहृदयतन्त्रे यथा—'अष्टानवतिर्भागास्तारस्यैकोऽपि कनकभाग स्यात्। सूतस्यैको भाग शताशविधिरेष विख्यात॥ एकोनपञ्चाशद्भागास्तारस्येह तथैव शुल्वस्य। कनकस्यैको भागो वेधश्चैकेन सूतस्य॥' इति ॥ ३२१–३२२ ॥

शताशवेधविधि—अट्ठानवे भाग चाँदी तथा एक भाग सोने को अग्नि के ताप से द्रवित (पिघला) कर एक भाग शुद्ध संस्कृत पारे का वेध करे तो सुवर्ण वन जाता है। इसी का नाम शताशवेध है।

दूसरी विधि—४९ भाग चाँदी तथा ४९ भाग ही शुद्ध ताम्र और एक भाग सुवर्ण इन तीनों को द्रवित (पिघला) कर इनमें एक तोला शुद्ध और सस्कारित पारा मिलाने से सुवर्ण वन जाता है। इसका नाम भी शताश विधि है।

वक्तव्य—वेध का तात्पर्य यह है कि व्यवायी अर्थात् व्यापनशील द्रव्यों के साथ में मिलाकर तथा ऐसे द्रव्यों द्वारा बहु सस्कृत किया हुआ पारद जब लोहादि धातुओं में (हलकी धातु से ऊची धातु बनाने के लिए) प्रयुक्त किया जाता है उसको 'वेध' कहते हैं। वेध के अनेक प्रकार हैं—लेपवेध, क्षेपवेध, कुन्तवेध, धूमवेध और शब्दवेध प्रभृतिक। इस विधि में

क्षेपवेध है जैसे कि—'प्रक्षेपणं द्रुते लोहे वेधः स्यात्क्षेपसंज्ञकः।' (रसार्णव) द्रव किये हुए धातुओं में प्रक्षेप (डालना) पारद का यह क्षेपवेध होता है। वेध का सरल अर्थ है जैसे जैसे वीज का वपन पारद में किया जाता है तदनुसार ही वह पारद उस उस धातु में मिलाने से उसके प्रत्येक अणु-परमाणु को उस वीज के स्वरूप से वेध देता है अर्थात् वीज के स्वरूप में परिणत कर देता है॥ ३२१-३२२॥

द्वावेव रजतयोनिताम्रयोनित्वेनोपचर्येते, एवं सहस्रवेधादयो जारणा-वीजवशादनुसर्तव्याः॥ ३२३॥

विशदयति प्रबन्धकारः—द्वावित्यादि। द्वावेव—पूर्वोक्तौ, शतांशवेधविधी, रजतयोनिः रजतकारणं, ताम्रयोनिः—ताम्रकारणम्। इति नाम्ना उपचर्येते—उपचारात् कथ्येते। एवम्—अमुना प्रकारेणैव, जारणवीजवशात्—जारितवीजानुसारतः, सहस्रवेधि, लक्षवेधि, कोटिवेधिप्रभृतिका अपि तत्तद्योनित्वेनानुसर्तव्याः। यथा प्रोक्तं श्रीगोविन्दभिक्षुणा—'एवं सहस्रवेधी नियुज्यते कोटिवेधी च। जारणवीजवशेन तु सूतस्य वलावलं ज्ञात्वा॥' इति॥३२३॥

उक्त दोनों शतांश वेधविधियाँ रजतयोनित्व और ताम्रयोनित्व नाम से गौणरूप में कही गई हैं इसी प्रकार सहस्रवेधादि जारण किए हुए सुवर्ण, चाँदी आदि वीजों के अनुसार जानने चाहिए। यह क्रिया वीजजारण पर आधारित है जिस प्रकार का और जितनी मात्रा में वीजजारण किया जाता है और उसके द्वारा पारद में जितनी शक्ति का समावेश होता है उसके अनुसार ही क्रिया की सिद्धि भी मानी जाती है अर्थात् पारद में जितना वल होता है उसी के अनुसार सहस्रवेधी और कोटिवेधी माना जाता है॥ ३२३॥

चत्वारः प्रतिवापाः सुलाक्षया मत्स्यपित्तभावितया।
तारे वा शुल्वे वा तारारिष्टेऽथवा कृष्टौ॥ ३२४॥
तदनुक्रामणमृदितः सिक्थकपरिवेष्टितो देयः।
अतिविद्रुते च तस्मिन् वेध्योऽसौ कुन्तवेधेन॥ ३२५॥

संप्रति वेधविधानं प्रतिजानीते चत्वार इत्यादि। कृष्टौ—स्वर्णकृष्टौ, स्वर्णनिर्माणावसरे इति यावत्। आदौ सुलाक्षया—निर्मलालक्तकया पुनश्च कथंभूतया मत्स्यपित्तभावितया—मत्स्यजपित्तेन कृतभावनया, द्रवीभूते तारे वा शुल्वे—ताम्रे अथवा तारारिष्टे। चत्वारः चतुःसंख्यकाः। प्रतिवापाः—प्रक्षेपाः दातव्या इति शेषः। तदनु लाक्षाप्रतिवापप्रदाना-नन्तरम्, क्रामणमृदितः—कान्तरसकदरदरक्ततैलेन्द्रगोपाद्यैः पूर्वोक्तक्रामणद्रव्यैः सम्म-र्दनेन श्लक्ष्णीभूतः सूतः सिक्थकपरिवेष्टितः—मधूच्छिष्टसंवेष्टितश्च तस्मिन् पूर्वप्रतिपादित तारादौ, अतिविद्रुते—अग्निसंयोगात्सम्यग्द्रवतां प्राप्ते सति दातव्यः। पुनश्च कुन्तवेधेन—कुन्तवेधविधिना असौ वेध्यः। रसहृदयतन्त्रे तु—'दत्त्वादौ प्रतिवापं लाक्षामत्स्यादिपित्त-भावनया। तारे वा शुल्वे वा तारारिष्टे तथा कृष्टौ॥ तदनुक्रामणमृदितस्तत्कल्केनापि पिण्डितरसेन। अतिविद्रुते च तस्मिन् वेध्योऽसौ कुन्तवेधेन॥' इति। अधुना तन्त्रा-न्तरेभ्यः प्रतिपाद्यते कुन्तवेधविधिः—'नाग वङ्ग द्रावयित्वा ताम्रं चैव तथा परम्। पारदोऽन्यतमे पात्रे द्राविते सन्नियोजयेत्। कथ्यते कुन्तवेधः स वेधकर्मविशारदैः॥' प्रसगतो वेधलक्षणं तद्भेदांश्च निदर्शयामि रसेन्द्रचूडामणितः—'व्यवायिभेषजोपेतो द्रव्ये क्षिप्तो रसः

१. 'क्रमेण मृदित' इति पाठान्तरम्।

खलु। वेध इत्युच्यते तज्ज्ञः स चानेकविधः स्मृतः॥ लेपवेध' स विज्ञेयः पुटमत्र च सौकरम्। प्रक्षेपणं द्रुते लोहे वेधः स्यात्क्षेपसञ्ज्ञित॰॥ सदंशछतसूतेन द्रुतद्रव्याहृतिश्च या। सुवर्णत्वादिकरणी कुन्तवेधः स कथ्यते॥ वह्नौ धूमायमानेऽन्त॰ प्रक्षिप्तरसधूमत॰। स्वर्णाद्यापादनं लोहे धूमवेध॰ स उच्यते॥ मुखस्थितरसेनाल्पलोहस्य धमनात् खलु। स्वर्णरूप्यत्वजनन शब्दवेध॰ प्रकीर्तितः॥' इति॥ ३२४-३२५॥

शुद्ध और स्वच्छ (लाख में मिट्टी, लकडी के टुकडे, छिलके आदि अनेकों अपद्रव्य मिश्रित होने रहते हैं उन सबको निकाल कर केवल लाख मात्र रहे) ऐसी लाख को मछली के पित्ते की भावना देकर पिघली हुई चाँदी, ताँवा, तारारिष्ट अथवा सुवर्ण कृष्टि में उसके चार प्रतिवाप-देवे। इसके वाद क्रामणगणोक्त द्रव्यों से मर्दन करता जावे जब तक कि वह मृदु न वन जावे। मृदु होने पर उसे मोम से चारों तर्फ (ओर) से वेष्टन (लपेट) दे और पिघले हुए चाँदी आदि पदार्थों में उस पारे को मिला दे तो वह कुन्तवेध हो जाता है।

वक्तव्य—चाँदी, ताम्र, तारारिष्ट (पीले रग के तैयार किये हुए चाँदी के पत्रे जो कटक-वेधी हों, उनकी) इसकी विधि सक्षेपत इस प्रकार है-ताँवा और लोहे का चूर्ण समभाग में एकत्र मिलाकर मूषा में भर कर उसका खोट विधि से खोट बना लेवें। पिष्टीवद्ध पारद को खोट कहा जाता है और उसके विधानानुसार उसे तयार करा लें। तत्पश्चात् सिद्ध हुए खोट का चूर्ण करे और उसका वारवार पाचन करे। जब भली भाँति पाक हो जावे तव उस चूर्ण को शहद के साथ मिलाकर कटकवेधी चाँदी के पत्रों पर लेप कर दे और साधारण गजपुट की अग्नि देवे। इस प्रकार तीन गजपुट देने से, चाँदी के पत्रे पीतवर्ण के हो जाते हैं। यह नारारिष्ट कहलाता है। जैसे कि 'रसार्णव' में लिखा है—'शुल्वचूर्णं तीक्ष्णचूर्णं तुल्यं रुद्ध्वा धमेद्धठात्। तत्खोटं सिद्धचूर्णं तु मर्द्यं पाच्यं च पूर्ववत्॥ तेनैव मधुयुक्तेन तारपत्राणि लेपयेत्। रुद्ध्वा गजपुटे पच्यादेवं वारत्रयं कृते। पीतवर्णं भवेत्तत्तु तारारिष्ट निगद्यते॥' रसकामधेनु में तारारिष्ट के लक्षण कुछ भिन्न दिये हैं। इसका स्पष्टीकरण पूर्वोक्त श्लोक संख्या २९३ की सस्कृत टीका में किया गया है।

अथवा कृष्टि इन, चारों में से किसी को भी विशेप वेधार्थ प्रयोजित करना हो, उसको भलीभाँति द्रवित-कर उसमें मत्स्यपित्त भावित लाख के ४ अथवा अधिक प्रतिवाप देने चाहिए, मत्स्यपित्त भावित का तात्पर्य यह है कि मत्स्यपित्त भावित अथवा मेंढक, भैंस, बकरी, गौ तथा सूकर आदि के पित्ते भी प्रयुक्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त ऊपर सस्कृत टीका में विशेप स्पष्ट किया है॥ ३२४-३२५॥

तदनु सिद्धतैलेनाप्लाव्य भस्मावच्छादनपूर्वकमवतार्य स्वाङ्गशैत्यपर्यन्तमपेक्षितव्य इति॥ ३२६॥

विशिष्टं प्रागुक्त स्पष्टयति तदन्वित्यादि। तदनु-वेधविधिकरणानन्तरम्। सिद्धतैलेन-सारणातैलेन, आप्लाव्य भस्मावच्छादनपूर्वकमवतार्य स्वाङ्गशैत्यपर्यन्तं सम्यक् शीतलता-प्राप्त्यवधि अपेक्षितव्यम्। विशेपश्च रसहृदयतन्त्रे-'तत्तैलार्द्रपटेन स्थगयेत्पललेन भस्मना वापि। विधिवद्वेध्यं द्रव्यं रसराजक्रामणार्थं हि॥' इति॥ ३२६॥

उपर्युक्त वेधन कर्म के पश्चात् सारणादि पूर्वोक्त तैल से भर कर तथा भस्म-राख किं वा मास से आच्छादन कर उतार ले और स्वाङ्गशीतल होने तक उसकी अपेक्षा करे॥ ३२६॥

विद्धं रसेन यद् द्रव्यं पक्षार्धं स्थापयेद्भुवि ।
नगरे तत आनीय विक्रीणीत विचक्षणः ॥ ३२७ ॥

वेधानन्तरं स्थापनविधिमाह–विद्धमित्यादि । रसेन यद्द्रव्यं–ताम्रादिकं विद्धं–वेधितं स्यात् तद् भुवि पक्षार्धं सप्तदिनं यावत् स्थापयेत् । क्वचित् पुस्तके 'पक्षार्धम्' इत्यत्र 'पक्षाहम्' इति पाठान्तरमुपलभ्यते । ततः–सप्ताहमेक भुवि स्थापनानन्तरम् । नगरे–धनिकग्रामे आनीय विचक्षणः—चतुरो विक्रीणीत–विक्रय कुर्यादित्यर्थः । विशेषश्चात्र रसार्णवे यथा–'रसविद्धं तु कनकं पक्षैक स्थापयेद् भुवि । उद्धृत्य पुनरुद्घाट्य विक्रेयं तत्सुरेश्वरि ॥'

शुद्ध सस्कृत पारे से वेधन किये हुए सुवर्णादि द्रव्य को पृथ्वी में सात दिन (अथवा १५ दिन) तक गर्त में दबा के रखे और फिर निकाल कर शहर में लाकर बुद्धिमान् बेच दे ।

वक्तव्य—वेधन किये हुए सुवर्णादि का विधान एक सप्ताह अथवा दो सप्ताह तक जमीन में गाडकर रखने का बताया है । जमीन में गाड कर रखने से वेधित में किसी प्रकार की विकृति होती है तो वह जमीन की ऊष्मा आदि से धातु के बाहर फूट पडती है । यही कारण है कि वेधन क्रिया द्वारा बने हुए स्वर्णादि को जमीन में गाडकर एक सप्ताह अथवा एक पक्ष रखकर उसको निकाल कर उसकी कालिमा और मलिनता को उद्घाटन क्रिया करके दूर करे, ऐसा करने से उस धातु में उत्तम रङ्ग और चमक आ जानी है तथा विक्री के योग्य हो जाता है । जैसे कि– 'वेधस्योद्घाटन कार्यं विक्रेयं च परं ततः ।' (रससारे) यहा वात 'रसार्णव' कारने स्वीकार की है जिसका प्रमाण ऊपर सस्कृत टीका में दिया हुआ है ॥ ३२७ ॥

समर्पितः सैन्धवखण्डकोटरे विधाय पिष्टिं सिकताख्यतस्थुषि ।
विशुद्धगन्धादिभिरीषदग्निना समस्तमश्नात्यशनीयमीशजः ॥ ३२८ ॥

प्रागुक्तसंस्कृतिरहितेन बुभुक्षितविधिमाह–समर्पित इत्यादि । ईशजः–पारद, विशुद्धगन्धादिभिः शोधितगन्धाद्यैः, आदिना लोहादिधातूनामपि ग्रहणम् । पिष्टिं–कज्जलीं विधाय पुनश्च सैन्धवखण्डकोटरे–सैन्धवाख्यलवणशकलनिर्मिते गर्ते, समर्पितः–स्थापितः । पुनः सिकताख्यतस्थुषि–वालुकायन्त्रमध्यगते सति पारदसहितसैन्धवखण्डे । ततः ईषदग्निना–स्वल्पाग्निना सिद्धश्चेत् समस्तमशनीय–भस्मद्रव्यम् । अश्नाति–खादति क्वचित् पुस्तके 'सैन्धवखण्डकोटरे' इति पाठान्तरम् ॥ ३२८ ॥

सैन्धव नमक के टुकडे के गढ़े में रखे हुए पारे को शुद्धगन्धक आदि के साथ कज्जली करके आतसी शीशी में भरकर बालुकायन्त्र द्वारा मन्दाग्नि से सिद्ध करे । इस विधि से तयार हुआ पारा सम्पूर्ण सुवर्णादि भक्ष्य द्रव्यों को खा जाता है ॥ ३२८ ॥

सिद्धमते कल्कमाह—

कर्षाष्टङ्कणकज्जलीहरिरथाद्गन्धस्य च द्वौ रजः
सिद्धाख्यं सकलैः कृतं पलमथ द्वित्रैरहोभिः श्रुतम् ।
भूयो गन्धमृतं चतुर्दशपुटैः स्यादिन्द्रगोपारुणं
तत्तारे लघुना पुटेन पुटनादर्कच्छवीमीहते ॥३२९॥
कर्षा इति वहुवचनात् त्रयः, त्रिधा पत्रलेपनेनेति ज्ञेयम् ॥

कर्षा इत्यादि । टङ्कणं–सौभाग्यक्षारं, कज्जली–पारदगन्धकयोः । पिष्टिरूपा । सा च सूतगन्धकयोः पृथङ् मापकाष्टकेन, कर्तव्या । हरिरथात्–कासीसादेवं कर्षास्त्रयः । अत्र

टङ्कणकज्जलीकार्मीसानां प्रत्येकस्यैकैककर्षमानं बोध्यम्। कर्षा इति बहुवचनत्वात् त्रय एव संमताः। अत्र कज्जली पारदगन्धकयोर्मिलित्वैककर्षात्मिका अन्ये तु 'हरिरथात्' इत्यत्र 'हरिरसै' रिति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च हरे-विष्णो', रस'-वीर्यम्, कारणे कार्योपचारात्, हरितालमिति यावत्। हरितालं हरेर्वीर्यमिति यावत्। गन्धस्य द्वौ कर्षौ एव पूर्वोक्तकज्जल्या वर्मेर्मोलकद्वय सवाद्य पुनः कज्जली विधेयेति भावः। सकलैः-समस्तैष्टङ्कणादिभि कृत सिद्धाख्य रज-चूर्णं द्वित्रैरहोभिः-द्वित्रिदिनैरग्निना श्रुत-परिपक्वम्। अथेत्यनन्तरम् पलं-पलप्रमाणं यावत्, गन्धमृतं-गन्धकमारित यच्चूर्णं तदेव भूयोऽपि पूर्वोक्तप्रकारेण चतुर्दशपुटैः-इन्द्रगोपारुण-वार्षिककीटविशेषस्तत्सदृशशोणवर्णं स्यात। प्रत्येकस्मिन् पुटे द्वौ द्वौ कर्षौ गन्धकस्य दातव्यौ इति तात्पर्यम्। केचन तु 'पलमथ द्वित्ररहोभिः श्रुतम्' इत्यत्र 'पलमथ द्वित्रैश्च लौहैः श्रितम्।' इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च यथारुचि, द्वित्रैर्लौहै-स्वर्णरजतादिभि श्रितम्-आश्रितं, गृहीतमिति यावत्, पलं चेति सर्वं सम्मेल्य पुटेत्। द्वित्रैश्च लौहैरित्येवात्र पाठ साधुरिति भाति। तत्-प्रागुक्तमेतद्बीज पत्रीकृते तारे-रजते लिप्त्वा लघुना पुटेन-भस्त्रया मन्दमन्दपुटनात्। अर्कच्छवी-सूर्यकान्ति भास्वराणवर्णत्वमीहते सुवर्णं भवतीति तात्पर्यम्। 'लघुना' इत्यत्र 'मृदुना' इति पाठभेदो दृश्यते क्वचित। अत्र टङ्कणादीना प्रत्येकः कर्षत्रय लभ्यते किन्तु तन्निराकृत्य टङ्कणादिक प्रत्येक कर्षं गृहीत्वा बहुवचनं सार्थक कर्तव्यं कपिञ्जलालम्भवचनादिति तात्पर्यम। ग्रन्थकार स्वयमेव शङ्कामिमा निरस्यति-यथा कर्षा'-तोलका इति बहुत्वप्रतिपादनात्, त्रय एवोपलभ्यन्ते अर्थात् टङ्कणादयस्त्रिकर्षा'। अस्य सिद्धाख्यकल्कस्य त्रिधा त्रिवारं पत्रलेपनेन-पत्रलेपनविधिना कर्म इति ज्ञेयम्। प्रत्येकस्मिन् पुटे त्रिवार पत्रलेपो विधातव्य इति भाव'॥ ३२९॥

सिद्धमत कल्क—सोहागा, कज्जली और हीराकसीस ये तीनों तीन तोले अर्थात् प्रत्येक वस्तु एक-एक तोला लेना। उसमें दो तोला गन्धक और मिलाकर कज्जली करे, यह सिद्धाख्य रज तैयार हो गया। इसको दो तीन दिन पकावे, इस प्रकार गन्धक द्वारा पकाये हुए चूर्ण में पुन दो तोले गन्धक देकर पकावे, ऐसे चौदह पुट देने से बीरबहूटी के समान लाल रंग हो जाता है। यह ध्यान रहे कि प्रत्येक पुट में दो तोला गन्धक नवीन डालना चाहिए। यह सिद्ध रज कल्क रक्तवर्णी हो गया, उसको चांदी के सूक्ष्म पत्रों पर लेकर गजपुट में फूंकने से सूर्य के समान कान्तिमान सुवर्ण हो जाता है किन्तु स्मरण रहे कि चांदी के पत्रों पर लेप तीन बार करे अर्थात् पहला लेप सूखने पर दूसरा करे और उसके सूखने पर तीसरा करे और उसके पश्चात् गजपुट में फूंकें प्रत्येक पुट में तीन लेप करे। ऐसे तीन गजपुट में फूंके।

वक्तव्य—कुछ तन्त्रकारों ने 'पलमथ द्वित्रैश्च लौहैः श्रितम्' ऐसा पाठ स्वीकार किया है इसका तात्पर्य यह होता है कि सोहागा, कज्जली और हीराकसीस तथा गन्धक इनका तैयार किया हुआ सिद्धाख्य रज को एक पल (४ तोला) शुद्ध सुवर्ण और शुद्ध चांदी के साथ मिलाकर धौंकनी से धमन करके पाक करे। जैसे जैसे गन्धक जारण होता जावे, नवीन गन्धक डालता जावे और पुट देता जावे, इस प्रकार चौदह पुट देने से बीरबहूटी के रंग के समान लाल हो जाता है इसका कल्क बनाकर चांदी के पत्रों पर उपर्युक्त प्रकार से लेप करके पुट देने से उत्तम सुवर्ण हो जाता है॥ ३२९॥

अथ रसचिन्तामणौ—

चत्वारः खर्जिकाभागा यवक्षारस्तथा पुनः।

क्षारिकालवणं दद्यात्तत्तथाविधमेव च ॥ ३३० ॥
काकमाचीरसस्यान्तर्दीयते सर्वमेव तत् ।
शुद्धपित्तलपत्राणि सूक्ष्माणि पलयोर्द्वयोः ॥ ३३१ ॥
तप्ततप्तानि तान्यस्मिन् काकमाचीरसे क्षिपेत् ।
एकविंशतिवाराणि तारतां प्रतियान्ति च ॥ ३३२ ॥
एवं शुभ्राणि जायन्ते रूप्याण्यूनानि किञ्चन ।
आरं तारं समं कृत्वा मृतवङ्गं नियोजयेत् ॥ ३३३ ॥
एकादशविभागेन भवेत्तारं न संशयः ।
एषा राजवती विद्या पुत्रस्यापि न कथ्यते ॥ ३३४ ॥

चत्वार इत्यादि । स्वर्जिकायाः चत्वारो भागाः, तथा-तत्समानभाग एव यवक्षारो ग्राह्यः । पुनश्च क्षारिकालवण 'टङ्कणखार' इति विश्रुतं च तत्समानमेवैकत्र दद्यात् । पुनश्च तत्सर्वमेव-स्वर्जिकादिकं पूर्वोक्त प्रत्येक चतुर्भागमितं तथाविध पूर्वावस्थापन्नमेव, काकमाची तस्या रसस्यान्त-स्वरसमध्ये । दीयते-प्रक्षिप्यते । द्वयो' पलयो' कर्षाष्टकानि शुद्धपित्तलपत्राणि सूक्ष्माणि कृत्वा । तानि च तप्ततप्तानि पुनः पुन, अस्मिन् काकमाचीरसे क्षिपेत् । एवम् एकविंशतिवाराणि-पित्तलदलानि काकमाचीरसे तप्ततप्तानि प्रक्षिप्तानि चेत् तारतां-रजततां प्रतियान्ति एव कृतानि शुभ्राणि-धवलानि, किंचन ऊनानि-हीनानि रूप्याणि जायन्ते । आर-पित्तलं, तारं-रजतं सम कृत्वा तयोर्मध्ये, एकादशविभागेन-एकादशांशेन, मृतवङ्ग-रङ्गभस्म नियोजयेत् । एवं कृते तार-रजत भवेदिति न संशय । एषा राजवती विद्या-रजतनिर्माणकरी विद्या । पुत्रस्यापि न कथ्यते । एतेन ज्ञायते किंचातीव गोपनीयेति भावः । इति राजवती विद्या । रसकामधेनौ-'सौभाग्य च तत कृत्वा श्वेताभ्र चूर्णितं द्वयम् । शिलाद्वयं भवेत्तत्र हरिताल चतुष्टयम् ॥' इत्यधिक' पाठः प्रथमपङ्क्तितोऽग्रे विन्यस्तो दृश्यते ॥ ३३०-३३४ ॥

चादी वनाने की विधि—सज्जोखार, जवाखार और सुहागा में तीनों ४-४ भाग लेकर मकोय के रसमें डाल दे और उस रस में आठ तोले शुद्ध पित्तल के पत्र (कटकवेधी) तपातपाकर २१ वार डालने से चादी वन जाती है । इस प्रकार करने से चादी के कुछ ही कम सफेद वे पत्र बन जाते हैं । पित्तल और चादी को समान भाग लेकर उसमें ग्यारहवाँ भाग वङ्ग भस्म मिलने पर चादी वन जाती है ॥ ३३०-३३४ ॥

अथ हेमवती विद्या—

पारदष्टङ्क एकः स्याद् द्विपलं पीतखर्परम् ॥ ३३५ ॥
मर्दयेत्सुदृढं तावद्रसो यावद्विलीयते ।
पुनर्जम्बीरनीरेण गुडेन च समन्वितम् ॥ ३३६ ॥
शोषयेच्चातपे पिष्ट्वा श्लक्ष्णं कृत्वा च धार्यते ।
अर्कदुग्धस्य दातव्या भावनास्ता यथा तथा ॥ ३३७ ॥
अस्य कल्कस्य सिद्धस्य भाग एकश्च टङ्कण. ।

---

१ 'नष्टपित्तलपत्राणि' इति पाठान्तरम् ।

ताम्रं भागत्रयं दत्त्वा ध्माप्यनामन्धमूषया ॥ ३३८ ॥
सुवर्णं दिव्यतेजः स्यात्कुङ्कुमादतिरिच्यते ।

पारद इत्यादि । पारद., एकटङ्कः–शाणपरिमितः द्विपलम्–अष्टतोलकं पीतखर्परं स्यात् । तावत्कालपर्यन्त सुदृढ मर्दयेत् यावत्कालेन रसो विलीयते–अदृश्यत्वात्पिष्टिरूपो भवति । पुनश्च जम्बीरेण गुडेन च समन्वित पिष्ट्वा श्लक्ष्णं–नवनीतरूपं च कृत्वा आतपे–सूर्यघर्मे धार्यते शोषयेच्च । ततोऽर्कदुग्धस्य यथा प्रागुक्तास्ता.–एकविंशतिसंख्याकास्तथा–तेनैव प्रकारेण भावनाः—द्रवद्रव्येण खल्वस्थपदार्थस्य निमग्नत्व यावत् दातव्या.। अस्य–पूर्वोक्तद्रव्यकल्कस्य सिद्धस्य एको भाग., टङ्कणश्चाप्येक एव भागः । सिद्धकल्कात् भागत्रयं ताम्र दत्वा अन्धमूषया ध्माप्यतां हठाग्निना । एवं कृते सति दिव्यतेज.—भास्वरारुण-वर्णत्वं सुवर्णं स्यात् । वर्णे कुङ्कुमात्–केशरवर्णादतिरिच्यते–उत्कृष्टमावहति ॥३३५–३३८॥

शुद्ध पारा ३ माशा, पीला खपरिया ८ तोला लेकर दोनों को दृढ़ता से तब तक मर्दन करे जब तक कि पारा अदृश्य न हो जावे फिर जमीरी निम्बू का रस और गुड मिला कर धूप में रख कर सुखाना चाहिए ताकि उसमें नवनीत के समान मृदुता बनी रहे। उष्णता के प्रभाव से गुड युक्त द्रव्य मृदु बना रहता है अत एव सूर्य की धूप में उसमें मृदुता बनी रहेगी। इसके बाद आक के दूध की २१ भावना देकर, पूर्वोक्त सिद्ध कल्क एक भाग, सोहागा एक भाग और ताम्र तीन भाग डाल कर अन्धमूषा में तीक्ष्णाग्नि से धमन करे, ऐसा करने से सूर्य के समान कान्तिमान और केशर के रग के समान ही, नहीं अपि तु उसके रग से भी कहीं अधिक उत्तम सुवर्ण होता है।

वक्तव्य—प्रस्तुत प्रयोग में 'पीतखर्परम्' पीले रग के खर्पर का प्रयोग ही आवश्यक समझा गया है। यह विषय धातुवाद का है देहवाद का नहीं है। पीत खर्पर का प्रयोग प्रायश धातु में ही मिलता है। खर्पर–मृत्तिका गुड और पाषाण भेद से तीन प्रकार का होता है। मृत्तिका के स्वरूप का खर्पर ही 'पीत खर्पर' कहलाता है। यह उत्तम होता है और अग्नि में रखने से इसका ह्रास नहीं होता यही हेतु है कि यह सत्त्व रूप और प्रभावशाली होता है। कार्यरूप से खर्पर के दो भेद होते है एक दर्दुर जिसमें दल (स्तर) होते हैं जो सत्त्वपातन के काम में लिया जाता है और जिस का उपयोग स्वर्ण-निर्माण में होता है। दूसरा कारवेल्लक होता है जिसमें दल (स्तर) नहीं होते हैं यह औषधोपयोगार्थ ग्राह्य माना है। यह स्पष्ट होता है कि दर्दुर नाम का खर्पर पीले रग का होता है अत' उसका ही ग्रहण किया जावे तो कोई आपत्ति नहीं है। यह मृत्तिका खर्पर के समकक्षका सत्त्व स्वय होता है इस लिए उसका ग्रहण उचित प्रतीत होता है। 'रसार्णव' कार लिखता है कि—

'मृत्तिकागुडपाषाणभेदतो रसकस्त्रिधा ।
पीतस्तु मृत्तिकाकारो मृत्तिकारसको वरः ॥
क्षीयते नापि वह्निस्थ. सत्त्वरूपो महाबलः ।
सदलो दर्दुर इति निर्दल. कारवेल्लकः ।
द्विधैव स पुन. सत्त्वपातौषध्यादियोगयो ॥' ॥ ३३५–३३८ ॥

अन्या हेमवती विद्या—

शाकवृक्षस्य निर्यासं पलमात्रं समानयेत् ॥ ३३९ ॥
शिग्रुबीजस्य चूर्णस्य रसेन परिमर्दयेत् ।
पलमात्रं च शुल्वस्य पत्रं सूक्ष्मं निधापयेत् ॥ ३४० ॥

बहुशो लेपितं कृत्वा घर्मं दत्त्वा पुनः पुन[१]।
पश्चात्तद्ध्माप्यते पत्रं शुल्वं हेम प्रजायते ॥ ३४१ ॥

शाकवृक्षस्येत्यादि । शाकवृक्षस्य-इति प्रसिद्धतरोः । पलमात्रं-चतुस्तोलकमितं निर्यासं समानयेत् । शिग्रुबीजस्य-शोभाञ्जनफलबीजस्य क्वचित् 'शिग्रुबीजस्य' इत्यत्र 'शिग्रुमूलस्य' इति पाठभेदः । चूर्णस्य रसेन-अङ्गद्रवेण (स्वरसेन) परिमर्दयेत् । शुल्वस्य-ताम्रस्य पलमात्रं तोलकचतुष्टयं सूक्ष्मपत्रं निधापयेत् । तत्पत्रं पूर्वोक्तेन कल्केन बहुशो लेपितं कृत्वा पुनः पुनर्घर्मं-सूर्यातपं दत्त्वा पश्चात् तत्पत्रं ध्माप्यते हठाग्निना । एवं कृते सति शुल्व-ताम्रं हेम-सुवर्णं प्रजायते ॥ ३३९-३४१ ॥

सागवान के झाड के ४ तोले गोंद को सहजने के बीजों के अथवा मूल के स्वरस में मर्दन करके कल्क बनावे फिर ४ तोले तांबे के कटकवेधी पत्रों अथवा वर्कों पर बारबार लेप करे और धूप में सुखाता जावे, इसके बाद उन पत्रों को तीक्ष्णाग्निसे धमन करे । यह ध्यान रहे कि प्रत्येक लेप के पश्चात् धूप में सुखाना और धमन करना क्रमवत् रहे ऐसा करने से अनेकों पुटों के बाद तांबा सुवर्ण बन जाता है ॥ ३३९-३४१ ॥

इतरा हेमवती विद्या—

पारदः सीसको गन्धः कुनट्येतच्चतुष्टयम् ।
बीजपूराम्भसा पिष्ट्वा गाढं दिनचतुष्टयम् ॥ ३४२ ॥
अथ सूक्ष्माणि पत्राणि तानि तारस्य लेपयेत् ।
बीजपूररसेनैतान्यतिमात्रेण तावता ॥ ३४३ ॥
एकाधिका भवेत्पत्रभावना चात्र विंशतिः ।
विशोष्यावर्तयेत्तारं भवेत्तारस्य काञ्चनम् ॥ ३४४ ॥

पारद इत्यादि । पारदः, सीसकः, गन्धः, कुनटी-मनःशिला, एतत् पूर्वोक्तचतुष्टयम् । दिनचतुष्टयं यावत् गाढं बीजपूराम्भसा-मातुलुङ्गरसेन पिष्ट्वा अथेत्यनन्तरं तारस्य-रजतस्य सूक्ष्माणि कण्टकवेधीनि पत्राणि कृत्वा तानि पत्राणि पूर्वोक्तपारदादिचतुष्टयानां कल्केन लेपयेत् । एतानि-प्रलेपितपत्राणि । तावता, अतिमात्रेण-पुष्कलेन बीजपूररसेन एकाधिका विंशतिः-एकविंशतिसंख्याका पत्रभावना-पत्राणां भावना भवेत् । विशोष्य च ततस्तत्र तारं रजतम् आवर्तयेत्-द्रावयेत् । तेन तारस्य-चन्द्रदलस्य काञ्चनं भवेत् ॥

शुद्ध पारा, सीसा, गन्धक और मैनसिल इन चारों को सम भाग लेकर बिजोरे निम्बू के रस में चार दिन तक गाढा मर्दन करे, इसके बाद चांदी के सूक्ष्मपत्रों (कंटकवेधी पत्रों) पर इस कल्क का लेप करे और उन लेप किये हुए पत्रों को बहुत से निम्बूरस की २१ भावना देकर सुखा ले, भली प्रकार सूखने के बाद तीक्ष्णाग्नि में धोंकनी से धमन करके पिघलावे तो द्रवित हुई वह चांदी सुवर्ण बन जाती है ।

वक्तव्य—'भावना चात्र विंशतिः' यहां पर बिजोरे निम्बू की इक्कीस भावना देने का विधान बताया है । भावना का तात्पर्य यह होता है कि द्रव द्रव्य उतना होना चाहिए जितने से भाव्य

---

१ 'विलिप्य शुल्वपत्राणि पुटे क्षिप्त्वा विपाचयेत् । तद् द्रुतं काञ्चनं दिव्यं भवेल्लक्षणसंयुतम् ॥' इति रसकामधेनौ ॥

द्रव्य भली प्रकार से गीला होकर एक जीव हो जावे अथवा उसके ऊपर से द्रव तैरने लगे (भाव्य द्रव्य भली प्रकार भावना द्रव से प्लुत हो (डूब) जावे ।) यह प्रमाण भावना द्रव का होता है । जैसे कि—**'द्रवेण यावता द्रव्यमेकीभूयार्द्रतां व्रजेत्। तावत्प्रमाणं निर्दिष्टं भिषग्भिर्भावनाविधौ ॥'** कहने का तात्पर्य यह है कि २१ भावना जो ऊपर कही हैं उनका स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए भावना का जो मन्तव्य और महत्त्व होता है वह सिद्ध हो सके। प्रत्येक भावना देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व द्रव का भली भाति सशोषण हो चुका है जब सूख जावे तब ही भावना देनी चाहिए ॥ ३४२-३४४ ॥

अन्या हेमवती विद्या—

पारदो दरदो हेममाक्षिको गन्धक शिला ।
एतानि समभागानि काकमाचीरसेन च ॥ ३४५ ॥
मर्दनीयानि गाढानि कारितव्यानि खल्वके ।
पीतपित्तलपत्राणि कृतसूक्ष्माणि तान्यथ ॥ ३४६ ॥
लेपितव्यानि चैतेन चूर्णेनाथ प्रयत्नत ।
मध्यमस्तु पुटो देय क्रियते चूर्णमुत्तमम् ॥ ३४७ ॥
पुनस्तारस्य भागैकं चूर्ण भागद्वयं भवेत् ।
अध ऊर्ध्वमिदं दत्त्वा ध्माप्यते चैकत. कृतम् ॥ ३४८ ॥
भल्लाततैलमध्ये हि क्षिप्यते गालितं च तत् ।
एवं वारद्वयं तारं तत्तैले विनिवेशयेत् ॥ ३४९ ॥
पिञ्जराभं भवेत्तारं समं हेमापि मेलयेत् ।
जायते कनकं रम्यं वर्णयुग्मं विहाय तत् ॥ ३५० ॥

पारद इत्यादि । पारदः, दरद.—हिङ्गुल', हेममाक्षिक.-सुवर्णमाक्षिक , गन्धक., शिला-मनोह्वा, एतानि पारदादीनि समभागानि-पृथक् पृथक् समतुलितानि खल्वके कारितव्यानि, पुन काकमाचीरसेन गाढानि मर्दनीयानि । पीतपित्तलपत्राणि-पीतवर्णस्य पित्तलस्य दलानि कृतसूक्ष्माणि । अथेत्यनन्तरम् । तानि सूक्ष्मपित्तलपत्राणि एतेन-पूर्वोक्तेन चूर्णेन काकमाचीरसमर्दितेन लेपितव्यानि । अथ प्रयत्नतो मध्यम पुटो देय. । स्वाङ्गशीतमथ ज्ञात्वा । उत्तम चूर्णं क्रियते पुनस्तारस्य-रजतस्यैकभागम् , उत्तमचूर्णं भागद्वय भवेत् । इद चूर्णं तारस्याध ऊर्ध्वं च दत्त्वा । एकत. कृतम्-एकत्र स्थापित ध्माप्यते । तच्च-चूर्णसहितरजतपत्र गालित-जलरूप ज्ञात्वा भल्लाततैलमध्ये क्षिप्यते । एवमुक्तविधिना वारद्वय तारं तत्तैले-पूर्वोक्तभल्लाततैले विनिवेशयेत् । तेन तत्तार पिञ्जराभ-हरितालसदृशवर्णं 'पिञ्जर पीतन तालमालं च हरितालके' इत्यमरः । भवेत् । पुनः सम-तत्समानभाग हेमापि-सुवर्णमपि मेलयेत् वर्णयुग्म-वर्णद्वय विहाय तत्तारं रम्यं-सुन्दर कनकं जायते ॥ ३४५-३५० ॥

शुद्ध पारा, हिङ्गुल, सोनामाखी, गन्धक और मैनसिल ये पाचों समभाग लेकर खरल में मकोय का रस डालकर खूब मजबूती से मर्दन करे । इसके बाद पीले पित्तल के सूक्ष्म (कटकवेधी) पत्रों पर उक्त कल्क का लेप करे और मध्यम पुट में फूक कर उत्तम चूर्ण करे । फिर एक भाग चांदी के चूरे के ऊपर-नीचे दो भाग उपर्युक्त चूर्ण देकर, इकठ्ठा कर अग्नि में धौंकनी

से सतत पुट देवे, जब वह द्रव्य पिघल जावे तब भिलावे के तैल में डाल दे। इस प्रकार दो वार भिलावे के तैल में डालने से चान्दी हरिताल के समान पीली हो जाती है। उसको बराबर के सुवर्ण के साथ मिला देने से दोनों धातुओं (पित्तल और चान्दी) का वर्ण जाकर उत्तम सुवर्ण बन जाता है॥ ३४५-३५०॥

अथ रसबन्धनविद्या—

भूलताशिखरीमूलं वारिणा मर्दयेद् दृढम्।
तल्लिम्पेन्मूषिकामध्ये तन्मध्ये निक्षिपेद्रसम्॥ ३५१॥
पञ्चटङ्कप्रमाणं तां मूषामङ्गारके क्षिपेत्।
एवं बद्धो भवेत्सूतो मूषान्तःस्थो दृढो भवेत्॥ ३५२॥

भूलतेत्यादि। भूलता-गण्डूपद रक्तवर्णकोऽहिशिशुसदृशो जलजन्तुविशेषः। शिखरीमूलम्-अपामार्गमूलं वारिणा-जलेन खल्वे दत्वा द्वयोर्दृढ मर्दयेत्। तत्कल्कं भूलताशिखरीमूलकृतं मूषिकामध्ये-मूषिकान्तर्भागे लिम्पेत्। तन्मध्ये-भूलतादिकल्क-प्रलेपितमूषिकाया पञ्चटङ्कप्रमाण-सपादतोलकमितं रसं निक्षिपेत्। ततस्तां-पूर्वोक्तां मूषामङ्गारके-वह्नौ क्षिपेत्-स्थापयेत्। एवं सूतो बद्धो-गुटिकाकारो भवेत्। मूषान्तःस्थः सूतो दृढो भवेदित्यर्थः॥ ३५१-३५२॥

रसबन्धन विधि—केंचुए और अपामार्ग (चिर्चिटे) की जड को जल से भली भाति खरल में डाल कर घोटना चाहिए। कल्क (चटनी सरीखा) होने पर मूषा के अन्दर के भाग को भलीभाति लेप देना चाहिए और उसमें सवा तोले पारे को रखकर उस मूषा को अङ्गार पर रख कर धोंकनी से धीरे धीरे धमन करे तो मूषा में रखा हुआ पारा बद्ध हो जाता है॥ ३५१-३५२॥

अस्य फलम्—

मूषामध्यगतस्तिष्ठेन्मुखरोगविनाशनः।
शरीरे क्रामिते सूते जरापलितजिन्नरः॥ ३५३॥
स्तम्भयेच्छस्त्रसंघातं कामोत्पादनकारकः।
पुनर्नवं वपुः कुर्यात्साधकस्य न संशयः॥ ३५४॥
अतिकामो भवेन्मर्त्यो वलीपलितनाशनः॥ ३५५॥

मूषामध्यगत इत्यादि। मूषामध्यगतः—मूषाया मध्ये गतो दृढतां च प्राप्तस्तर्हि मुख-रोगविनाशनस्तिष्ठेत्। शरीरे क्रामिते सूते-बद्धपारदे सति तत्प्रभावान्नरो जरापलितजित्-वार्धक्य श्वेतकेशत्व च परिहृत्य युवा जायते। तत्प्रभावाच्छस्त्रसंघात स्तम्भयेत्-जडीक्रियेत। कामोत्पादनकारणः—कामशक्त्युत्कर्षकर। एतावन्तमेव न किन्तु स स्वशक्त्या साधकस्य जीर्णशीर्णमपि वपुः-शरीर पुनर्नव-नूतन कुर्यादिति न संशयः। मर्त्यो वली-पलितनाशनः-वार्धक्य त्यक्त्वा अतिकामो-वाजीव प्रमदासु रमणशीलो भवेत्। यथोक्तं श्रीमद्गोविन्दभिक्षुणा-'क्रामति ततो हि सूतो जनयति पुत्रांश्च देवगर्भाभान्। स्त्रीषु च निश्चलकामो भवति वलीपलितनिर्मुक्तः॥' इति रसबन्धनम्॥ ३५३-३५५॥

यह उपर्युक्त मूषा में रखा हुआ बद्ध पारा सेवन करने पर समस्त मुख रोगों को नष्ट करता है। उसका शरीर में क्रामण होने पर बुढापा और बालों की सफेदी को मिटाता है। शस्त्रों के

समूहों का स्तम्भन करने की शक्ति उत्पन्न करता है, कामशक्ति को बढाता है, इतना ही नहीं किन्तु सेवन करने वाले के शरीर को नवीन बना देता है ॥ ३५३-३५५ ॥

अथान्यः प्रकारः—

पुष्पितमनोजमन्दिरमध्ये सूतो नियन्त्रितो युक्त्या ।
बद्धो भवति कियद्भिर्दिवसैः पुष्पप्रभावेण ॥ ३५६ ॥

पुष्पितेत्यादि । पुष्पितमनोजमन्दिरमध्ये—पुष्पित चासौ मनोजमन्दिर तन्मध्ये रजः स्रवणयुक्तयोनिमुखे युक्त्या—क्षौमवस्त्रबद्धपारदोपरि रज प्रवाह सम्यक् पतेत् । एवं विधिना नियन्त्रित—तन्त्रावरुद्धः सूत पुष्पप्रभावेण—रजःप्रभावेण कियद्भिर्दिवसैः—त्रिदिनैरित्यर्थ, बद्धो भवति । इति रसबन्धनम् ॥ ३५६ ॥

पारे को रेशमी वस्त्र में बांधकर नवयौवना रजस्वला स्त्री की योनि में रख दिया जावे तो रज के प्रभाव से कुछ दिन (तीन दिन) में पारा बद्ध हो जाता है ।

वक्तव्य—स्त्रीरज के प्रभाव से पारद-बद्धता युक्तियुक्त है । पारद यह वीर्य स्वरूप है इसका रज के साथ सम्बन्ध होने से उसमें बन्धनत्व आ ही जाता है । रज का अपना प्रभाव है बन्धन करना । जिस प्रकार गन्धक यह रजोविकृति अथवा पार्वती का रज स्वीकार किया गया है और उससे पारद का बन्धन यह दृष्ट प्रत्यय है । ठीक उसी प्रकार स्त्री-रज भी वैसा ही कार्यकारी होता है । पित्त-ताप से पाचित धातुओं से रज की उत्पत्ति होती हैं । जब रज का प्रवाह होता है उसमें उष्णता का स्वाभाविक भाग समिलित रहता है । रज का बन्धन करना यह अकाट्य और सर्वोपरि प्रभाव है यदि यह प्रभाव उसमें न हो तो गर्भोत्पत्ति का सिद्धान्त ही अमान्य हो जाता है अत रज का बन्धन-कारक प्रभाव अक्षुण्ण है और साथ ही योनिगत ऊष्मा भी उसमें विशेष कार्यसाधिका होती है । तात्पर्य यह है कि—ऊपर के पद्य में जिस विधान का उल्लेख किया गया है वह सैद्धान्तिक, व्यावहारिक और अनुभव इन तीनों की सार्थकता प्रतिपादित करता है । इसी बात को कक्षापुटी मत से साहित्यिक भाषा में प्रगट किया गया है कि—

'वसति गिरिगुहायां नैव सिंहो न नागो न भवति खगराजोऽजातपक्षद्वयेन ।
अरुणकिरणवर्णो दृश्यते चाम्बरस्थ', सकलजनप्रसिद्धस्तेन बद्धो रसेन्द्र ॥'

उपर्युक्त श्लोक यह स्पष्ट कहता है कि ससार में यह सर्वविश्रुत है कि आर्त्तव रसेन्द्र का बाधने वाला है ॥ ३५६ ॥

अथान्येऽपि बन्धभेदास्ते यथा—

पञ्चविंशतिसंख्याकान् रसबन्धान् प्रचक्ष्महे ।
येन येन हि चाञ्चल्यं दुर्ग्रहत्वं विनश्यति ॥ ३५७ ॥
रसराजस्य संप्रोक्तो बन्धनार्थो हि वार्तिकैः ।

पञ्चविंशतिसंख्याकानित्यादि । रसबन्धान्—पारदबन्धान् , पञ्चविंशतिसंख्याकान् प्रचक्ष्महे । किं पुनर्हेतुत्वमेषां बन्धनानां प्रकटनस्येत्यत आह—येन येन बन्धनकर्मणा हि इति निश्चयेन चाञ्चल्य दुर्ग्रहत्वं—दुःखेन ग्रहणकारित्वं च विनश्यति—सुग्रहतां यातीत्यर्थः । एतैर्बन्धनैः पारदे निश्चलत्वमुपलभ्यते सुग्रहत्वं च भवतीति भावः । हि यस्माद्धेतोर्वार्तिकैः रसशास्त्राचार्यैं , रसराजस्य बन्धनार्थः—बन्धनानामग्रेप्रवक्ष्यमाणा-

नामर्थो भावोऽभिप्रायः प्रयोजनं वा समीक्ष्य—दुर्महत्त्वं चञ्चलत्वं च येन नश्यति स एव बन्धनार्थ इति गूढाभिसन्धिः ॥ ३५७ ॥

पारे के २५ रसबन्धों को कहते हैं—जिससे चञ्चलता और दुर्ग्रहता आदि पारद के दोष नष्ट हो जाते हैं और पारद के स्वाभाविक गुणों का पूर्ण रूप से लाभ प्राप्त किया जा सकता है जब तक पारद के ये चञ्चलता और दुर्ग्रहता दोष हटाये नहीं जा सकते हैं तब तक पारद के यथोक्त गुणों का लाभ नहीं मिलता है। यही कारण है कि पारे के बन्धन का प्रयोजन रसाचार्यों ने प्रतिपादित किया है ॥ ३५७ ॥

हठारोटौ तथाऽऽभासः क्रियाहीनश्च पिष्टिका ॥ ३५८ ॥
क्षारः खोटश्च पाटश्च कल्कबन्धश्च कज्जली ।
सजीवश्चैव निर्जीवो निर्बीजश्च सबीजकः ॥ ३५९ ॥
शृङ्खलाद्रुतिबन्धौ च बालश्चैव कुमारकः ।
तरुणश्च तथा वृद्धो मूर्तिबन्धस्तथाऽपरः ॥ ३६० ॥
जलबन्धोऽग्निबन्धश्च सुसंस्कृतकृताभिधः ।
महाबन्धाभिधश्चेति पञ्चविंशतिरीरिताः ॥ ३६१ ॥

तानेव बन्धान् नाम्ना निदर्शयन्नाह—हठारोटावित्यादि । हठः, आरोटः, आभासः, क्रियाहीनः, पिष्टिका, क्षारः, खोटः, पाटः, कल्कबन्धः, कज्जली, सजीवः, निर्जीवः, निर्बीजः, सबीजकः, शृङ्खलाबन्धः, द्रुतिबन्धः, बालबन्धः, कुमारबन्धः, तरुणबन्धः, वृद्धबन्धः, मूर्तिबन्धः, जलबन्धः, अग्निबन्धः, सुसंस्कृतबन्धः, महाबन्धश्चेति पञ्चविंशतिसंख्याकाः पारदस्य बन्धाः, ईरिताः—कथिताः ॥ ३५८–३६१ ॥

पारे के २५ बन्धों के नाम–हठ, आरोट, आभास, क्रियाहीन, पिष्टिका, क्षार, खोट, पाट, कल्क, कज्जली, सजीव, निर्जीव, निर्बीज, सबीज, शृङ्खला, द्रुतिबन्ध, बालबन्ध, कुमारबन्ध, तरुणबन्ध, वृद्धबन्ध, मूर्तिबन्ध, जलबन्ध, अग्निबन्ध, सुसंस्कृतबन्ध और महाबन्ध ये पारे के २५ बन्धन हैं ॥ ३५८–३६१ ॥

केचिद्वदन्ति षड्विंशो जलौकाबन्धसंज्ञकः ।
स तावन्नेष्यते देहे स्त्रीणां द्रावे प्रशस्यते ॥ ३६२ ॥

संप्रति षड्विंशं जलौकाबन्धं वदतः प्रति वदतीत्याह–केचिदित्यादि । केचिदाचार्याः वदन्ति–यत्षड्विंशः–षड्विंशतिसंख्याकः, जलौकाबन्धसंज्ञको बन्धोऽस्तीति । स जलौकाभिधस्तावद् देहे–देहकर्मणि नेष्यते न प्रशस्यते किन्तु स्त्रीणां–नारीणां, द्रावे–रतिकालीनशैथिल्योत्पादनकर्मणि प्रशस्यते श्रेष्ठ इत्यर्थः । जलौकाबन्धविधानलक्षणं रसायनसारसंग्रहे यथा–'गन्धं सूते विनिक्षिप्य स्वर्णं वा नागमेव वा । अष्टमांशेन तत्सर्वं मर्दयेत्तप्तखल्वके ॥ शाल्मल्याश्च पञ्चाङ्गरसं तत्र विनिक्षिपेत् । श्लेष्मातकफलं पक्वं कोकिलाक्षस्य बीजकम् ॥ तिलपिण्याकचूर्णं च दत्वा तावद्विमर्दयेत् । जलौका जायते यावत्तदा कर्पूरटङ्कणम् ॥ कपिकच्छुकरोमाणि बाकुचीतैलकं पटु । मागधीं च जले पिष्ट्वा तत्सर्वं तप्तखल्वके ॥ क्षिपेत्पूर्वजलौकां च त्रिसप्ताहं विमर्दयेत् । सा योज्या रतिकाले च नारीणां योनिगह्वरे ॥ मददर्पहरा तासां मदविह्वलकारिका । बाल्ये चाष्टाङ्गुला योज्या यौवने सा दशाङ्गुला ॥ द्वादशाङ्गुलिका योज्या प्रगल्भानां जलौकिका । यो वा तां धारयेन्मूर्ध्नि वीर्यं

नस्य स्थिरं भवेदि'त्यादि ॥ बन्धोऽयं रतिकर्मोपयुक्तत्वान्नात्र बन्धनसंज्ञामलङ्कर्तुमर्हतीति भावः ॥ २६२ ॥

कुछ आचार्य जलौकाबन्ध को २६ वा बन्धन मानते है किन्तु वह अन्य देहादि कार्य में निरुपयोगी होने से देहार्थ प्रयोगों में नहीं लिया जाता है केवल स्त्रियों के द्रावणार्थ ही उसका प्रयोग है, ऐसी मान्यता है ॥

वक्तव्य—'स्त्रीणां द्रावे प्रशस्यते' अर्थात् जलौकाबन्ध स्त्रियों के मैथुन प्रसग में स्त्री का पुरुष से पहले तो वीर्य स्खलित हो, इस भावना या कार्य की पूर्ति करना हो तो उसका उपयोग होना है। मैथुन का यह स्वाभाविक धर्म है कि पुरुष से प्रथम स्त्री का वीर्य स्खलित होता है तो मैथुन का आनन्द दोनों स्त्री और पुरुष को होता है किन्तु पुरुष स्त्री से प्रथम स्खलित हो जाता है तो स्त्री की कामवासना बनी की बनी रह जाती है। उसकी मनोदशा में अनेक प्रकार के ऊल-जलूल विचारों का सग्रह होने लगता है। कामोत्तेजित विचारों का दमन करना पड़ता है, वेगरोध की अवस्था में जितने विकार सभव होते हैं वे होते हैं। ये विकार प्रायश मानसिक अधिक होते हैं जिन की चिकित्सा करने में प्रायशः कठिनता होती है। जो स्त्री प्रमदा, नवोढा और हृष्ट-पुष्ट हो और पुरुष उस से हलका हो तो जलौकाबन्ध का प्रयोग अवश्य करना चाहिए अन्यथा प्रसग में ही पुरुष स्त्री से प्रथम स्खलित हो जाता है तो उस नवोढा को भयकर आघात होता है और उसके मन में अपने प्रियतम के प्रति एक हीन भावना जागृत होती है और वह जीवन भर एक हीन रेखा छोड़ जाती है। अत जलौकाबन्ध की साधना, ज्ञान और प्रयोग नितान्त आवश्यक है। **'स तावन्नेष्यते देहे'** यह कथन भी एक प्रकार से खण्डित हो जाता है क्योंकि जलौकाबन्ध स्त्री-प्रस्खलन में सहायक है और उसकी सहायता से स्त्री की अतृप्त कामवासना से योषापस्मार, उन्माद तथा अन्य अनेकों विकारों से उसको बचाया जा सकता है ऐसी दशा में यह कहना कि **'स तावन्नेष्यते देहे'** अनुपयुक्त प्रतीत होता है किन्तु यह सत्य है कि अन्य बन्धों का जिस प्रकार का फलादेश है वह इसमें उनसे न्यून और मार्गभेद का है। कहने का तात्पर्य यह कि जलौकाबन्ध भी उतना ही आवश्यक है जितना कि अन्य बन्ध हैं ॥२६२॥

अन्यमते चत्वार एव बन्धाः, ते यथा—

पाटः खोटो जलौका च भस्म चापि चतुर्थकम् ।
बन्धश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूतस्य भिषगुत्तमैः ॥ २६३ ॥

पाट इत्यादि । अन्येषामाचार्याणां मते तु पाटबन्धः खोटबन्धः, जलौकाबन्धश्चेति त्रय चतुर्थबन्धश्च भस्मबन्ध , इत्येव भिषगुत्तमैः-श्रेष्ठवैद्यैः सूतस्य चतुर्विधो बन्धो ज्ञेयः। विशेष आनन्दकन्दे-'खोट पाटस्तथा भस्म धूली कल्कश्च पञ्चम' ।' इति । रसार्णवेऽपि-'मूर्च्छितो मृतसूतश्च जलौकाबन्ध एव च। चतुर्थो मूर्तिबन्धस्तु पट्टबन्धश्च पञ्चम' । भस्म सूतश्च खोटश्च संस्कारात्सप्तधा रस' ॥' इति निर्दिशितम् ॥ २६३ ॥

अन्य आचार्यो के मत में पाटबन्ध, खोटबन्ध, जलौकाबन्ध और भस्मबन्ध ये चार ही प्रकार के पारे के बन्धन हैं।

वक्तव्य—ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम २५ रसबन्धों के नाम बताये हैं। उसके आगे अन्य आचार्यो के मतों का उल्लेख किया है। जैसे कुछ लोगों ने जलौकाबन्ध को २६ वा माना है। यह कह कर अब यह बताया है कि कुछ आचार्य केवल चार ही बन्धों को मानते हैं जिनका उल्लेख ऊपर दिया है। इसके अतिरिक्त आनन्दकन्द ने खोट, पाट, भस्म, धूली और कल्क भेद से पाच

बताये हैं। रसार्णवकार सात मानता है। जैसे कि—मूर्च्छित, मृत, जलौका, मूर्तिबन्ध, पट्टबन्ध, भस्मबन्ध और खोटबन्ध ये सात हैं जिनके प्रमाण ऊपर संस्कृत टीका में प्रस्तुत किये गये हैं ॥३६३॥

आगे के श्लोकों में पाटादि चार बन्धों के परिचयात्मक लक्षण कहे हैं—

अस्य लक्षणानि—

पाटः पर्पटिकाबन्धः पिष्टिबन्धस्तु खोटकः।
जलौका पक्वबन्धः स्याद्भस्म भस्मनिभो भवेत् ॥ ३६४ ॥
सूतभस्म द्विधा ज्ञेयमूर्ध्वगं तलभस्म च।
ऊर्ध्वं सिन्दूरकर्पूररसावन्यदधो भवेत् ॥ ३६५ ॥

पाट इत्यादि। पाटः—पाटबन्धाभिधो बन्धः, पर्पटिकाबन्धः—रसपर्पटिकाख्यः, पिष्टिबन्धाभिधोऽयं सूतः खोट इति संज्ञा लभते। जलौकाबन्धस्यैवापरपर्यायः पक्वबन्धः स्यात्। भस्मबन्धस्तु भस्मनिभः–भूतिसदृशवर्णो भवेत्। सूतभस्म–सूतस्य भस्म द्विधा, ऊर्ध्वगं–कूपिकाकण्ठलग्नं, तलभस्म च कूपिकातलभागस्थं च ज्ञेयम्। ऊर्ध्वभस्म सिन्दूर-कर्पूररसौ–रससिन्दूरं रसकर्पूरं चोर्ध्वभस्म सूतस्य तयोर्निर्माणविधिं त्वग्रे वक्ष्ये। अन्यत्–द्वितीयः प्रकारः, अधो भस्मविधिः–अनेकप्रकारो भवेत् यथाऽत्रैव—'नागवल्लीरसैर्घृष्टः कर्कोटीकन्दगर्भगः। मृन्मूषासम्पुटे पक्वः सूतो यात्येव भस्मताम् ॥' इति ॥ ३६४–३६५ ॥

बन्धनों की पहिचान—पर्पटिकाबन्ध को पाट, पिष्टिबन्ध को खोट, पक्वबन्ध को जलौका और रससिन्दूर को भस्मबन्ध कहते हैं। पारे की भस्म दो प्रकार से बनाई जाती है एक ऊर्ध्व भस्म और दूसरी तलभस्म ऊर्ध्व भस्म रससिन्दूर और रसकर्पूरादि होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कूपिका के कण्ठ में लगनेवाले रससिन्दूर, मकरध्वज, चन्द्रोदय, मल्लसिन्दूर, ताल-सिन्दूर प्रभृतिक सभी ऊर्ध्वभस्म होती हैं किन्तु जितनी भी वस्तुएँ कूपिका के तलभाग में तैयार होती हैं वे सब तल भस्म कहाती हैं ॥ ३६४–३६५ ॥

पारद के हठादि जो २५ बन्धन कहे हैं उनके प्रत्येक के लक्षण क्रमशः आगे के श्लोकों में विस्तार सहित कहे जावेंगे—

अथ हठादीनां लक्षणानि—

हठो रसः स विज्ञेयः सम्यक् शुद्धिविवर्जितः।
स सेवितो नृणां कुर्यान्मृत्युं व्याधिसमुद्भवम् ॥ ३६६ ॥

हठ इत्यादि। रसो हठ एतत्संज्ञाभिधो विज्ञेयः। यः सम्यक् शुद्धिविवर्जितः स सेवितः—भक्षितश्चेन्नृणां व्याधिसमुद्भवं–व्याध्युत्पत्तिं मृत्युं वा कुर्यात्। रसकामधेनौ यथा—'अशुद्धसूतो न गुणान् विदध्याद् दध्याद्विदाहं कृमिकुष्ठरोगान्। मन्दत्वमग्नेररुचिं वमिं च जाड्यं मृतिं नन्वतिसेवितश्चेत् ॥' इति ॥ ३६६ ॥

हठबन्धन आदि के क्रमशः लक्षण कहते हैं—हठबन्धनयुक्त पारा वह होता है जो भलीभाँति शुद्ध न किया गया हो और जिसके सेवन करने से मनुष्य रोग एवं मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

वक्तव्य—जिस पारद की शुद्धि किये बिना ही उसका उपयोग किया जाता है तो वह रोग कारक और मारक होता है। जब तक पारद का भलीभांति शोधन संस्कार नहीं किया जाता है तब तक उसकी 'हठबन्ध' संज्ञा होती है। अथवा जिस पारद पर पारदबद्ध करनेवाली औषधियों का प्रयोग कर पारद को बद्ध किया जाता है किन्तु उससे पहले उस पारद का शोधन नहीं किया

गया है सदोष पारद को ही बन्धनकारक औषधियों से बद्ध किया गया है तो वह पारद भी हठ-बद्ध कहलाता है ॥ ३६६ ॥

सुशोधितो रसः सम्यगारोट इति कथ्यते ।
स क्षेत्रीकरणे श्रेष्ठः शनैर्व्याधिविनाशनः ॥ ३६७ ॥

आरोटलक्षणमाह—सुशोधित इत्यादि । रसः, आरोट—एतन्नाम्ना कथ्यते । किं विशिष्टश्चासौ रसः सम्यग्विधिना सुशोधितः—शुद्धिं नीतः शोधनीयद्रव्यैरिति शेषः । स आरोट इति संज्ञां प्राप्तः क्षेत्रीकरणे-देहस्योत्तमविनिर्मितौ श्रेष्ठः । पुनश्च शनैर्व्याधिविनाशनः-मन्दप्रभावेण रोगनाशको भवति । अत्र क्षेत्रीकरणं नाम पारदसेवनयोग्य-शरीरापादनम् । टोडरानन्दस्तु आरोटलक्षणमेतद्विपरीतमेवाचष्टे यथा—'आरोटसंज्ञां लभते ह्येकवारं मृतस्तु यः ।' इति ॥ ३६७ ॥

भली प्रकार शुद्ध किया हुआ पारा जब बन्धनकारक औषधों द्वारा उसका बन्ध किया जाता है तब उसको आरोट बन्ध संज्ञा मिलती है । आरोट बन्ध पारद के सेवन करने से वह पारद भक्षण करने वाले के शरीर को शुद्ध, सुन्दर और मदन करने योग्य बनाकर धीरे धीरे आरोग्यता प्रदान करता है ॥ ३६७ ॥

पुटितो यो रसो याति योगं त्यक्त्वा स्वभावताम् ।
भावितो मायुमूलाद्यैराभासो गुणवैकृती ॥ ३६८ ॥

आभासबन्धं प्रतिपादयन्नाह—पुटित इत्यादि । रसः आभास इति नाम्ना कथ्यते । किंभूतः पुटितः पुटप्रदानकृतश्चेद्यो रसो योगं-प्रयोगविषयं याति किं कृत्वा स्वभावतां-चञ्चलत्वादिकं त्यक्त्वा । पुनश्च गुणवैकृती-गुणविकारयुक्त इत्यर्थः । क्वचित् 'गुणवैकृती' इत्यत्र 'गुणवैकृते' इति पाठः समुपलभ्यते तत्र गुणविकारे, इत्यर्थो योज्यः । 'गुणविकृतेः' इति पाठे गुणविकारस्य हेतुरिति योज्यम् । सर्वेऽपि पाठाः साधीयांसः समानार्थत्वात् । पुनः कीदृशो रसो मायुमूलाद्यैः मायुः-पित्तं तदादिर्येषां तैर्मायुमूलाद्यैः-मूलौषधिभिश्च भावितः । 'मायुमूलाद्यैरि'त्यत्र 'धातुमूलाद्यैः' इति पाठान्तरं दृश्यते तत्र धातुभिः—लोहादिभिरिति बोध्यम् ॥ ३६८ ॥

जो पारा पित्त और औषधियों द्वारा भावित करके पुट देने पर अपने चञ्चलत्व आदि स्वाभाविक गुणों को छोड कर योगकर होता है उसको आभासबन्ध पारा कहा गया है । यह भी विशेष स्मरणीय है कि आभासबन्ध पारा गुणों की अपेक्षा विकारकर अधिक होता है ॥३६८॥

असंशोधितलोहाद्यैः साधितो यो रसोत्तमः ।
क्रियाहीनः स विज्ञेयो विक्रियां यात्यपथ्यतः ॥ ३६९ ॥

क्रियाहीनबन्धलक्षणमाह-असंशोधित इत्यादि । रसोत्तमः क्रियाहीनः-एतद्बन्धाऽभिधो विज्ञेयः । किंभूतो योऽसंशोधितलोहाद्यैः-अशुद्धलोहधात्वादिभिः साधनतां नीतः संस्कृतः, मारित इति यावत् । आदिशब्देन महारसोपरसादीनां ग्रहणम् । स एव रसः, अपथ्यतः अपथ्यसेवनात्, विक्रियां याति रोगोत्पादको भवतीति भावः ॥३६९॥

भली प्रकार शुद्ध किये हुए पारद को बिना शुद्ध किये लोहादि धातुओं की सहायता से बन्धन संस्कारान्वित किया जाता है वह क्रियाहीन कहलाता है । उसके सेवन करने में कदाचित् कुपथ्य हो जाता है तो वह विकार उत्पन्न करता है ।

वक्तव्य—क्रियाहीन का तात्पर्य यह है कि जो सर्वथा शुद्ध और उत्तम सस्कारित पारा है उसमें अनेकों गुणों और क्रियाओं का आधान हो चुका है किन्तु जिन लोहादि धातुओं का भलीभांति शोधनादि नहीं किया गया है उनके द्वारा यदि उस पारद को सस्कारित और बद्ध किया जाता है तो वह पारद असशोधित धातुओंके सयोग से अपने प्राप्त और स्वाभाविक प्रभावों को भूल जाता है उसकी कार्यकरी शक्ति हीन हो जाती है। ऐसी दशामें उसका सेवन पथ्याभ्यास से होता है। तब तो वह पथ्य के प्रभाव से अक्षुण्ण रहने हुए शरीर की क्रियाओं की सहायता करता है किन्तु यदि उसके सेवन-काल में कुपथ्य हो गया और शरीर की क्रियाओं में विषमता आगई तो वह क्रियाहीन पारद भी उसमें सहायक हो जाता है और उस विषमता को बढाने में अपना सहयोग दे डालता है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रियाहीन पारद स्वय अकर्मण्य होता है किन्तु कार्यकारी सहयोग यदि उसे मिल जाता है तो वह उसको पूर्ण वल दे डालता है। अत' इसके सेवन में प्रधानत सात्म्याभ्यास ही सर्वोपरि है अन्यथा सर्वतः खतरा है ॥ ३६९ ॥

तीव्रातपे गाढतरावमर्दात्पिष्टिर्भवेत्सा नवनीतरूपा।
ख्यातः स सूतः किल पिष्टिबद्धः संदीपनः पाचनकृद्विशेषात् ॥ ३७० ॥

पिष्टिकाबन्धलक्षणमाह—तीव्रातप इत्यादि। स सूतः पिष्टिबद्धः—पिष्टिबन्धन॰ नाम्ना ख्यात कोऽसौ यः संदीपन॰—जठराग्निदीपनकारकः, विशेषात्—पाचनकृत् भोज्यभक्ष्यचर्व्यादीनां पचनकारको जायते। तीव्रातपे गाढतरावमर्दात्—अतिशयेन गाढ॰ इति गाढतरस्तेनावमर्द॰ पेषणं तस्मात् सा पारदगन्धकयोरिति शेष॰। नवनीतरूपा॰ पिष्टिर्भवेत्। पिष्टिलक्षणं रसरत्नसमुच्चये यथा—'खल्वे विमर्द्य गन्धेन दुग्धेन सह पारदम्। पेषणात् पिष्टता याति सा पिष्टीति मता परैः॥' रसेन्द्रचिन्तामणावपि—'भागा द्वादश सूतस्य द्वौ भागौ गन्धकस्य च। मर्दयेद् घृतयोगेन जायते गन्धपिष्टिका॥' इति ॥३७०॥

तीक्ष्ण धूप में अतिशय दृढ मर्दन करने से नवनीत के समान हुई पिष्टि को पिष्टिबन्ध पारा कहते हैं। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता और पाचन शक्ति को बढाता है।

वक्तव्य—पिष्टिबद्ध की विवेचना पहले श्लोक १३७ की सस्कृत टीका में भली प्रकार कर दी गई है। पिष्टिबद्ध की विभिन्न विधियां रसशास्त्र में प्रतिपादित हैं। जैसे कि—समान भाग गन्धक और पारे को खरल में डाल कर गोदुग्ध से मर्दन करे। मर्दन मजबूत हाथों से अविरत होना चाहिये। जब भलीभांति पिस जावे तब समझना चाहिए कि पिष्टि हो गई है (र० र० स०)। बारह भाग पारा और दो भाग गन्धक दोनों को खरल में डाल कर गो का घी भी डाले और मर्दन करे, यह भी गन्धपिष्टि है। (र० चि म०)। इसी प्रकार रसकामधेनु आदि में अनेक प्रकार दिये हैं जो यथास्थान देखे जा सकते हैं ॥ ३७० ॥

शङ्खशुक्तिवराटाद्यैर्योऽसौ संसाधितो रसः।
क्षारबद्धः परं दीप्तिपुष्टिकृच्छूलनाशनः ॥ ३७१ ॥

क्षारबन्धं स्पष्टयन्नाह—शङ्खेत्यादि। असौ रस॰ क्षारबद्धः—क्षारबन्धनैर्बद्ध इति ज्ञातव्यः। कीदृश॰—य॰ शङ्खशुक्तिवराटाद्यै॰ ससाधितः—क्षारद्रव्यै॰ सम्यग्विनिर्मितः। पुनः किंभूतः परमत्यन्तं दीप्तिकृत्—जठराग्निप्रदीपनकरोऽत एव पुष्टिकृत्—शरीरपुष्टिविधायकः पुनश्च शूलनाशन॰—शूलरोगापकारको भवतीति शेषः। आदिशब्देन सौभाग्यक्षार॰ नवसारादीनामपि ग्रहणम् ॥ ३७१ ॥

शंख और कौड़ी आदि द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ पारा क्षारबद्ध कहलाता है। यह उदर-शूल और मूत्रकृच्छ्रादि को ठीक करता है॥ ३७१॥

बद्धो यः स्फो (खो) टतां याति ध्मातो ध्मातः क्षयं व्रजेत्।
खोटबद्धः स विज्ञेयः शीघ्रं सर्वविषापहः ॥३७२॥

खोटबन्धं प्रतिपादयन्नाह–बद्ध इत्यादि। य. पारदः खोटबद्धः स शीघ्रं सर्वविषापह–सकलविषापहारक। क्वचित् 'सर्वविषापहः' इत्यत्र 'सर्वगदापहः' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। तत्र समस्तरोगहारकश्च बोध्यः। बद्धश्च स्फोटता गोलाकारत्व याति ध्मातो ध्मात. पुन. पुन प्रध्मातश्च क्षय व्रजेत्। खोटशब्दस्य लोके खंगड-नाम्ना विश्रुतिः। खगडरूपत्व प्राप्ते सति रसेऽग्निस्थायित्वमुपलभ्यते। 'खोटताम्' इति पाठेऽपि पूर्वोक्त एवार्थ। खोटबद्धस्य विशेषलक्षण रसार्णवे यथा–'कुक्कुटाण्डनिभ यत्तु लक्ष्यते सैन्धव यथा। आवर्तिते रसस्तद्वत् खोटबन्धस्य लक्षणम्।' इति॥ ३७२॥

बद्ध किया हुआ तथा गुटिकाकार पारा बार बार धमन करने से कम होता हो तो खोटबद्ध जानना चाहिए। यह सब प्रकार के विषों के विकारों का हरण करने वाला होता है।

वक्तव्य—खोटबद्ध पारे का प्रधान लक्षण यह होता है कि वह अग्नि से स्थायित्व धारण करता है। अन्य पारे के अनुसार ताप मिलने ही उड़ता नहीं है। जैसे कि—'**अग्निमध्ये यदा तिष्ठेत खोटबद्धस्य लक्षणम्।**' अर्थात् अग्नि के मध्य में रखने से जो उड़ता नहीं, स्थिर रहता है वही खोटबद्ध पारा कहलाता है। यह स्थिति उसकी मन्दाग्नि पर ही देखी जाती है किन्तु तीक्ष्णाग्नि में यदि धमन किया जावेगा तो वह शनै शनै क्रमश क्षीण होते होते उड़ जावेगा॥ ३७२॥

द्रुतकज्जलिका [१]मोचापत्रके चिपिटीकृता।
स पाट. पर्पटी सैव बद्धश्चाखिलरोगनुत्॥ ३७३॥

पाटबन्धलक्षणं निदर्शयन्नाह–द्रुतकज्जलिकेत्यादि। स पाटः–पाटबन्ध इति नाम्ना ज्ञातव्य इति शेष.। सैव पर्पटी–पाटबन्धस्यैव पर्पटीति नामान्तरम्। कीदृशी पर्पटी पाटश्च–द्रुतकज्जलिका–द्रवीभूता पारदगन्धकयोः कज्जली मोचापत्रके कदलीदले चिपिटीकृता–चिपिटाकारा विहिता पर्पटिकाविधानवत्। (पर्पटिकाविधान हिन्दीटीकायां ग्रन्थान्तरेभ्य. सगृह्य प्रदर्श्यते।) एवविधिना बद्ध.–पाटबन्ध. सूतः अखिलरोगनुत्–सकलरोगापहन्ता भवतीति भावः। केचन तु 'बद्धश्चाखिलरोगनुत्' इत्यत्र 'बालाद्यखिलरोगनुत्' इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च बालतरुणादिसमस्तव्याधिहृत्। पाटस्य त्रयो भेदा भवन्ति यथा–मृदुपाकेन पक्व. पाटोऽभङ्गो, मध्यपाकेन सरलः, खरपाकेन च रक्तपाटो भवतीति गूढाभिसन्धिः॥ ३७३॥

पारद-गन्धक की कज्जली बनाकर उसको द्रुत (पिघला) कर साफ सुथरे अक्षत केले के पत्ते पर ढाल कर ऊपर नीचे गोबर से दबाकर पपटी सरीखी बनाई जाती है उसको पाट अथवा पर्पटीबद्ध पारा कहते हैं। यह समस्त रोगों को हरण करने वाला होता है॥

वक्तव्य—पाटबन्ध ही पोटबन्ध और पर्पटीबन्ध कहलाता है। केवल पारद और गन्धक द्वारा बनाई हुई कज्जली से जो पर्पटी बनाई जाती है वह रसपर्पटी कहलाती है। द्रव्यभेद से

---

१ 'मोचापत्र कदलीपत्रम्' इति ग्रन्थकार.।

पर्पटियों के अनेक प्रकार हैं जैसे–स्वर्णपर्पटी, विजयपर्पटी, ताम्रपर्पटी, लोहपर्पटी, पञ्चामृतपर्पटी-प्रभृतिक हैं। विभिन्न नाम और गुणों में अन्तर होने पर भी सभी पर्पटियों में मूल पारद और गन्धक ही होते हैं। जिस पर्पटी में पारा अधिक शुद्ध संस्कारित और प्रभावी होगा, उतना ही उस पर्पटी का अचिन्त्य प्रभाव होगा। पारद और गन्धक का उत्तम होना ही पर्पटी का महत्त्व है। एतदर्थ पर्पटी के लिए उपयुक्त पारद और गन्धक का निर्माण तथा पर्पटी बनाने की विधि नीचे दी जाती है। यह विधि शास्त्राधार को लेते हुए यत्किञ्चित् स्वानुभूत और प्रभावी है।

स्वर्ण पर्पटी—

पर्पटी के लिए ग्राह्य पारद—२० तोले रूमी हिङ्गुल लेकर भेड के दूध में तीन दिन मर्दन कर के १-१ तोले की टिकिया बनाकर सुखा ले। यह ध्यान रहे कि टिकियाओं को तीक्ष्ण धूप में न सुखावे अन्यथा उसमें से पारद का कुछ हिस्सा उड जावेगा। भली प्रकार सूखने पर डमरू यन्त्र में रखकर पारद उडाकर ग्रहण कर ले। २० तोले हिङ्गुल से पारद निकालने में १२ घंटे लगते हैं और १६ तोले पारद निकलता है। उस पारद को कपडे से छानकर भागरे के रस में ७ दिन सतत मर्दन करे, सूखने पर कपडे से छानकर त्रिफले के ४० तोले काढे में स्वेदन करे। स्वेदन करने के लिए २० तोले त्रिफले को निम्बू का रस डालकर चटनी की तरह घोटे और त्रिफले के कल्क की लुगदी में पारद को रखकर भोजपत्र में बाँधे उसके ऊपर मोटा कपडा बाधकर दोलायन्त्र की विधि से त्रिफले के क्वाथ में स्वेदन करे। अग्नि मन्द देनी चाहिए जिससे सात घण्टे तक स्वेदन संस्कार होता रहे। स्वागशीत होने पर दोलायन्त्र से पारद लेकर एरंड के पत्तों के रस में सात दिन सतत मर्दन करे और सूखने पर कपडे से छानकर पारद को निकाल ले। तत्पश्चात् २० तोले कटकारी के कल्क की लुगदी में पारद को रखकर भोजपत्र में बाधे और ऊपर कपडा बाधकर दोलायत्र में ४० तोले कटकारी के रस अथवा क्वाथ में स्वेदन करे। स्वागशीतल होने पर दोलायत्र से पारद को निकाल कर मकोय के रस में सात दिन सतत मर्दन करे और सूखने पर कपडे से छानकर पारद को निकाल ले। इसके पश्चात् ग्वार-पाठे के गूदे में भाग की लुगदी बनाकर उसमें पारद को बन्द कर भोजपत्र में बाध देवे और ऊपर कपडा बान्धकर पोटली बना ले फिर दोलायन्त्र में ४० तोले ग्वारपाठे का गूदा भरकर पारद का स्वेदन करे। स्वागशीतल होने पर पारद को निकालकर अग्निमथ (अरणी) के स्वरस में सात दिन मर्दन करे। सूखने पर चित्रक के मूल की छाल की लुगदी में पारद को रखकर भोजपत्र और कपडे में बान्धकर चित्रक के ४० तोले काढे में सात घंटे स्वेदन करे स्वागशीतल होने पर निकाल कर चोपट कपडे से छान लेवे। इतना करने पर १-१॥ तोले पारद का ह्रास होता है विशेष सावधानी रखी जावे तो सभव है कम ह्रास हो किन्तु हमारे अनुभव में ऐसा देखने में आया है। जितना पारद है उसके समान शुद्ध गन्धक मिलाकर कज्जली करे और कपडमिट्टी की हुई आतसी शीशी में भरकर बालुका यन्त्र से रससिन्दूर बना ले। इतने द्रव्य के रससिन्दूर बनाने में दो दिन लगते हैं सभव है यदि अग्नि मद रहेगी तो कुछ समय अधिक भी लग सकता है किन्तु सदैव हम ४७-४८ घंटे में अग्नि बन्द कर दिया करते हैं। स्वागशीतल होने पर शीशी से रससिन्दूर निकाल कर खरल में डालकर खूब मजबूत हाथों से चौबीस घंटे घुटाई करे, उसका जितना द्रव्य हो उतना शुद्ध बचनाग का सूक्ष्म चूर्ण डालकर निम्बू के रस में सात दिन तक घुटाई करे। पश्चात् एक-एक तोले की टिकिया बनाकर धूप में सुखा दे। भली प्रकार सूखने पर डमरू यन्त्र से पारद निकाल ले। पारद को भली प्रकार कपडे से छानकर भृंगराज, मकोय, अरणी और एरण्ड के पत्तों के कल्क की लुगदी में रखकर

क्रमशः १२-१२ घण्टे स्वेदन करे। यह ध्यान रहे कि जिस द्रव्य का स्वेदन करना है उस समय उसी द्रव्य के कल्क की पुटली का उपयोग करे। एक के बाद दूसरे द्रव्य का स्वेदन दे। सर्व प्रथम भृंगराज उसके बाद मकोय, उसके बाद भंगरा और तत्पश्चात् एरण्ड का उपयोग करे। चारों द्रव्यों में स्वेदन देने के बाद बचनाग के सूक्ष्म चूर्ण के साथ उस पारद को चौबीस घण्टे तक मर्दन संस्कार करावे किन्तु केवल बचनाग के चूर्ण से ही। २४ घण्टे के बाद कपडे से छानकर पारद को शीशी में रख दे।

पर्पटी के लिए शुद्ध गन्धक—आमलासार गन्धक २० तोले, गौ का घी १० तोले दोनों को लोहे की कलछी में तपाकर ४० तोले गौ के दूध में डाल देवे। ठंडी होने पर निकालकर गर्म पानी से भली प्रकार गन्धक को धोकर कपडे से पोंछ ले। इसके बाद भृंगराज के स्वरस की सात भावना देवे। यह ध्यान रहे कि भृंगराज के रस को निकालकर काच, पत्थर या मिट्टी के बर्तन में कुछ देर तक निश्चल रखे रहने दे, जब वह निथर जावे तब धीरे-धीरे ऊपर का ग्रहण कर ले, अन्यथा भृंगराज के रस की बहुत सी गार गन्धक में चली जावेगी। इस प्रकार भृंगराज के रस की सात भावना का गन्धक पर्पटी के लिए उपयुक्त समझा गया है।

स्वर्ण पर्पटी बनाने की विधि—पूर्वोक्त संस्कारित पारद ८ तोले लेकर अच्छे पत्थर के अथवा लोहे के खरल में डालकर उसमें एक तोले उत्तम सोने के वर्क लेकर थोडे २ डालकर मर्दन करे जब सब वर्क डाल चुके उसके बाद तीन दिन तक केवल स्वर्ण वर्क मिश्रित पारद की सतत घुटाई करे। तीन दिन के पश्चात् ऊपर की विधि से शुद्ध किया हुआ ८ तोले गन्धक डालकर घोंटे। बीच बीच में थोडे २ पानी का छींटा देता रहे ताकि कज्जली उछले नहीं। कज्जली की सात दिन तक एक समान मजबूत हाथों से घुटाई करे। सात दिन के बाद लोहे की कढाई में गौ का घृत चुपडकर उसमें कज्जली डालकर कोयले की मन्दाग्नि की सिगडी पर लोहे का एक तवा रखे और उसमें दो इञ्च बालू का स्तर कर दे जब वह बालू गर्म होने में आवे तब कज्जली की कढाई उस पर रख दे। कज्जली को कलछी से थोडा २ चलाता रहे, जब वह भली प्रकार द्रव हो जावे तब गोबर पर रखे हुए अक्षत केले के पत्ते पर डाल कर ऊपर दूसरा केले का पत्ता ढँक दे और ऊपर गोबर रख दे। शीतल होने पर निकाल ले। बस, स्वर्ण पर्पटी तैयार हो गई। शीशी में भरकर रख दे।

सेवनविधि—यों स्वर्ण पर्पटी बलाबल और रोगानुसार सर्व साधारण रूप में दी जा सकती है किन्तु पर्पटी कल्प विशेष महत्त्व रखता है। वह रोग और रोगी की दशा एवं बलाबल के के अनुसार विभाजित किया जाता है। यह चिकित्सक के अधिकार पर अवलंबित है जैसा वह उचित समझे उसके अनुसार कल्प का सेवन करावे, तथापि सर्व सामान्य विधि का उल्लेख हम यहां कर देना चाहते हैं।

प्रथम विधि—प्रथम दिन २ रत्ती स्वर्ण पर्पटी १ रत्ती भूनी हुई हींग और एक माशा भूने हुए जीरे का चूर्ण मिलाकर खिलावे और ऊपर से तीन चुल्लू ताजा जल पीने को कहे। दूसरे दिन ३ रत्ती स्वर्ण पर्पटी, १ रत्ती भूनी हुई हींग और एक माशा भूने हुए जीरे के साथ देकर तीन चुल्लू ताजा जल पीने को कहे। इस प्रकार प्रति दिन स्वर्ण पर्पटी एक एक रत्ती बढाता जावे दश रत्ती तक। दश रत्ती पर १० दिन तक स्थिर रखे फिर एक एक रत्ती कम करते हुए एक रत्ती पर लाकर कल्प समाप्त कर दे या फिर आवश्यक समझे तो दूसरा कल्प और करा दे। यह रोगी के रोग और उसकी परिस्थिति पर अवलंबित है। इस प्रकार करने से एक कल्प ३० दिन में समाप्त होता है और दो किये गये तो ६० दिन लगते हैं।

दूसरी विधि—प्रथम दिन एक रत्ती स्वर्ण पर्पटी १ रत्ती भूनी हींग और एक माशा भूना हुआ जीरा लेना। तीनों को मिलाकर सुबह ७॥ बजे मुह में रख कर ऊपर से तीन चुलू पानी पीना और क्रमश १-१ रत्ती बढाकर दश रत्ती तक ले जाना। ग्यारहवें दिन से एक एक रत्ती कम करते हुए एक रत्ती पर समाप्त करना यह इक्कीस दिन का एक कल्प है। इस प्रकार दो तीन कल्प आवश्यकतानुसार किये जा सकते हैं।

पथ्य विधि—स्वर्ण पर्पटी सेवन काल में केवल दूध, मट्ठा या फलों के रस पर ही रहना चाहिए। सबसे अधिक गुणदायक दुग्ध का सेवन ही सिद्ध हुआ है। आम का समय हो तो दुग्ध के साथ आम के रस का प्रयोग अधिक लाभप्रद होता है। हमारे यहा इस पर्पटी के सेवन काल में प्रति दिन १५ और २० सेर तक रोगियों को दुग्ध सेवन करते हुए देखा गया है। नित्य प्रति १२-१३ सेर दूध तो सर्व सामान्य रोगी भी सेवन करते हैं। यह स्वर्ण पर्पटी इतनी प्रभाव करती है कि सेवन करने वालों की जठराग्नि भस्मासुर का रूप धारण कर लेती हैं जितना खावे सब भस्म हो जाता है। हमने सैकडों रोगियों पर यह कल्प दिया है और देते रहते हैं। यह इतना चमत्कारित और प्रभावी आश्चर्यजनक है। यह बात किसी से कहो कि अमुक व्यक्ति १५ सेर दूध पीता है सुनकर आश्चर्य होगा किन्तु इसमें अतिशयोक्ति लेशमात्र भी नही है। प्रतिदिन हमारे यहा दो-चार कल्प किसो न किसी के चालू ही रहते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव चाहे जब लिया जा सकता है। मट्ठा पीने वाले तो बहुत ही अधिक हो जाते हैं। २० सेर प्रति दिन मट्ठा पीना साधारण सी बात है। २७ सेर तक मट्ठा हमने पिलाया है।

जब से स्वर्ण पर्पटी का हम कल्प प्रारभ करते हैं उसी दिन से उस रोगी को हवा और धूप के प्रभाव से दूर रखते हैं। सर्वथा बन्द कमरे में रहते हुए पूर्ण विश्राम का सलाह देते हैं। यह भी अनेकों वार अनुभव हुआ है कि जिस व्यक्ति ने पूरे विधानानुसार पालन नहीं किया है उसे इतना लाभ और भूख का सचार नहीं होता है। अत॰ पर्पटी के पूर्ण गुण प्रकाश और प्रभाव के लिए विशेष आवश्यकता है कि वातातपरहित एकान्त स्थान में रहकर ही इसका सेवन किया जावे अधिक क्या यह कल्प अत्यत प्रभावी, अनुपम और मानव जीवन के लिए अमोघ द्रव्य है। आवश्यकता होने पर अनार, सेब और मोसमी के रस का भी सेवन कराया जा सकता है।

पर्पटी सेवन समय में रोगी को विशेष सावधान रहना चाहिए। यत्किंचित् असावधानी भयकर अपायकर हो सकती है और पर्पटी से जितने लाभ मिलने चाहिए वे नहीं मिलते अपितु नुकसान ही होता है। जब भूख की इच्छा हो तभी खाना चाहिए। आधी रात में भी भूख लगे तो उस समय भी दूध और आधा जल मिला कर पका कर लेना चाहिए। भूख है कि नहीं ? इसका बोध न हो तो निर्बलता, शरीर में झिनझिनाहट के समान मालूम हो, शिरोवेदना या शिर भारी मालूम हो तो भूख लगी है ऐसा समझकर दुग्धपान करना चाहिए। घृत, जीरा, धनिया, सैन्धव नमक से बनाए हुए व्यञ्जन, शालि चावल के भात, काला बैंगन, बथुआ, अद्रख, सुपारी, पका हुआ केला सेवन किया जा सकता है। मूग का यूष भी ग्राह्य है।

अपथ्य—वायु का सेवन, धूप में बैठना या घूमना, क्रोध, चिन्ता, अकाल में भोजन, व्यायाम, थकावट, स्नान, व्याख्यान या अधिक बातचीत करना, कच्चा केला, तिक्त पदार्थ, उष्ण पदार्थ, मैथुन, स्त्री-समाषण, खट्टे पदार्थ, दही, शक्कर, गुड, गन्ने का रस और करेला ये सब सर्वथा त्याज्य हैं।

पर्पटी सेवनकाल में जल पान विशेषत त्याज्य करना चाहिए। कुछ लोगों का तो यहा तक मत है कि गुदप्रक्षालन भी जल से नहीं करना चाहिए किन्तु हम ऐसा नहीं कराते।

पर्पटी कल्प यह रसायन कल्प है अतः इसके सेवनकाल में जो पथ्यकर है उनका सेवन करना चाहिए और जो त्याज्य हैं उनको एकदम छोड देना चाहिए अन्यथा पर्पटी के गुणों का लाभ नहीं मिलता है।

स्वर्ण पर्पटी के गुण—समस्त प्रकार की संग्रहणी विशेषतः पुरानी संग्रहणी में स्वर्ण पर्पटी अमृत के समान फलदायी होती है। जिनको अनाज बिलकुल नहीं पचता है। बहुत ही भारी टट्टी होती है। शरीर में शक्ति का ह्रास हो गया है उनको भी यह पर्पटी कल्प लाभ करता है। अनेकों औषधों के सेवन करने से भी जो संग्रहणी ठीक नहीं होती है उस पर भी हमने इसके प्रयोग से आशातीत लाभ पाया है। जिस संग्रहणी में शोथ भी है उसमें भी अच्छा काम करती है। जीर्णज्वर, अम्लपित्त—अम्लपित्त यदि बहुत ही कष्टसाध्य सा है तो उसमें हम पचामृत—दूध, दही, घृत, शहद और शक्कर निर्मित—का कल्प भी उसी प्रकार देते हैं। पचामृत १० १२ सेर तक नित्य रोगी को दिया जाता है। इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं। हाँ, सुबह और शाम भर्जित तिक्ता (कुटकी) का चूर्ण आधे-आधे तोले की मात्रा में देते हैं।

राजयक्ष्मा के लिए भी हम स्वर्ण पर्पटी का दुग्ध कल्प में प्रयोग करते हैं और दुग्ध से निकाले हुए मक्खन, शहद और वंशलोचन के चूर्ण के साथ स्वर्ण वर्क भी चटाते हैं और प्रायशः अधिकांश को आशातीत लाभ होता है।

ऊपर में उदाहरण के लिए स्वर्णपर्पटी का साद्यन्त प्रयोग लिखा गया है। तदनुसार सभी प्रकार की पर्पटियों का निर्माण और प्रयोग करना चाहिए। जिस पर्पटी में जो द्रव्य विशेष है वे उसी प्रकार डालें जैसे स्वर्ण डाला गया है शेष क्रियाएँ एक समान हैं ॥ ३७३ ॥

स्वेदाद्यैः साधितः सूतः कल्कत्वं समुपागतः।
कल्कबद्धः स विज्ञेयो योगोक्तफलदायकः[1] ॥ ३७४ ॥

कल्कबन्धं निरूपयति-स्वेदाद्यैरित्यादि। सूतः स्वेदाद्यैः—स्वेदमर्दनादिभिः संस्कारैः साधितः। ततश्च कल्कत्वं—कल्करूपं पङ्कभावं वा समुपागतः। एवंभूतोऽयं सूतः कल्कबद्ध इति विज्ञेयः। किञ्चास्य फलं—योगोक्तफलदायकः—योगेन—योगद्वारेण अनुपानद्वारेणेति यावत्। उक्तफलदायकः—पर्पटीवद्गुणविधायकः। अथवा 'योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः' इति तदुपयुक्ताना यत्फलं प्राप्यते तत्फलदायको भवतीति शेषः। कथमित्यत आह—'यज्ञाद्दानात्तपसो वेदाध्ययनाद्दमात्सदाचारात्। अत्यन्तं श्रेयः किल योगवशादात्मसंवित्तिः॥' इति योगमहिमा। 'एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते।' इति पारदस्य। रस-योगयोः साम्यं यथा—'अमृतत्वं हि भजन्ते हरमूर्तौ योगिनो यथा लीनाः। तद्वत्कवलितगगने रसराजे हेमलोहाद्याः॥' इति ॥ ३७४ ॥

स्वेदन और मर्दन आदि संस्कारों के करने से जब पारद संस्कारवशात् कल्क स्वरूप को धारण कर लेता है अर्थात् पारद में कुछ घनता आ जाती है तब उसे कल्कबद्ध पारद कहना चाहिए। यह पारद योगोक्त फल देने वाला है। अर्थात् जिस जिस योग में इस पारद का प्रयोग किया जावेगा उस उस योग के जो गुण—धर्म और फल कहे हैं उनकी यथावत् पूर्ति करने में यह पारद सर्वथा सक्रिय होगा, साथ ही जिस प्रकार अनुपान से इसका सेवन होगा वैसा फल मिलेगा अथवा योग धारण करने वाले योगियों को जो सिद्धि मिलती है वह इससे मिलेगी ॥ ३७४ ॥

---

१ 'योगेन फलदायकः' क।

कज्जली रसगन्धोत्था[1] सुश्लक्ष्णा कज्जलोपमा।
तत्तद्योगेन संयुक्ता कज्जलीबन्ध उच्यते ॥ ३७५ ॥

कज्जलीबन्धं विशदयन्नाह–कज्जलीत्यादि। कज्जलीबन्ध एतदाख्यो बन्धो मयेति शेष उच्यते। किंभूत इत्याह–रसगन्धोत्था–समभागपारदगन्धकसमुत्पन्ना, सुश्लक्ष्णा–अतिचिक्कणा कज्जलोपमा कज्जली–पिष्टिः, ततश्च किंभूता–तत्तद्योगेन तत्तत्पदार्थसयोगेन सयुक्ता। सर्वपदार्थैरेव रसमर्दनेन कज्जली जायते इति तात्पर्यम्। रसरत्नसमुच्चयेऽपि–'धातुभिर्गन्धकाद्यैश्च निर्द्रवैर्मर्दितो रसः। सुश्लक्ष्णः कज्जलाभोऽसौ कज्जलीत्यभिधीयते ॥' इति ॥ ३७५ ॥

शुद्ध किये हुए पारद और गन्धक को चिक्कण एव काजल के समान बनी हुई पिष्टि को कज्जली कहते हैं। यह कज्जली जिस जिस योग में सयुक्त की जाती है अर्थात् कज्जली के योग से जितने रसादि प्रयोग बनते हैं वे सब कज्जली बन्ध कहलाते हैं ॥ ३७५ ॥

भस्मीकृतो नश्यति वह्नियोगाद्रस सजीव खलु संप्रदिष्ट।
संसेवितोऽसौ न करोति भस्मकार्यं जराव्याधिविनाशनं च ॥३७६॥

सजीवबन्धलक्षणमाह–भस्मीकृत इत्यादि। यो रसो भस्मीकृत सन्नपि वह्नियोगात्–अग्निसयोगेन नश्यति–भस्मभावं परित्यज्य पुनर्जीवनत्वमधिरोहति, उत्थितो भवतीति तात्पर्यम्। स सजीवः–सजीवाख्य सम्प्रदिष्ट। असौ संसेवितो भस्मकार्यं जराव्याधिविनाशनं च न करोति। रससिन्दूरादिभस्मनि यद्गुणनिचयं तन्नाप्नोति सजीवबन्धपारदादिति सरलार्थ ॥ ३७६ ॥

सजीवबन्ध के लक्षण—पारा भस्म होने पर भी जब अग्निसंयोग से पुनर्जीवित हो जाता है तो वह सजीव कहलाता है और वह सेवन करने पर बुढापा तथा व्याधियों को नष्ट करने वाले भस्म के कार्यों को नहीं करता है

वक्तव्य—जब तक भस्म किया हुआ पारा निर्जीव (अपुनर्भव) नही होता है तब तक उसका शरीर में क्रामण नहीं होता है शरीर गत धातुओं में प्रवेश पाये बिना भस्म के गुणों का कोई लाभ नही होता और वह रससिन्दूरादि गुणों से विरहित होने से निरर्थक होता है ॥ ३७६ ॥

जीर्णाभ्रको वा परिजीर्णगन्धो भस्मीकृतश्चाखिललोहमौलिः।
निर्जीवनामा हि स भस्मसूतो निःशेषरोगान् विनिहन्ति वेगात् ॥३७७॥

सम्प्रति निर्जीवबन्धलक्षणमाह—जीर्णाभ्रक इत्यादि। हीति निश्चयेन, असौ–वक्ष्यमाणप्रकारको भस्मसूतः–भस्मीभूतो रस, निर्जीवनामा योऽखिललोहमौलि–अखिलेषु समस्तेषु लोहेषु–धातुषु मौलि–श्रेष्ठ। कथं पारद सर्वलोहादिधातुषूत्तम इत्यत आह रसहृदयतन्त्रे 'काष्ठौषध्यो नागे नागं वङ्गेऽथ वङ्गमपि शुल्वे। शुल्व तारे तार कनके कनकं च लीयते सूते ॥ परमात्मनीव नियतं भवति लयो यत्र सर्वसत्वानाम्। एकोऽसौ रसराज शरीरमजरामरं कुरुते ॥' इति देहस्याजरामरविषये सूतस्यैवाधिकारो नत्वन्येषां लोहादिधातूनां तथा। यथा—'तत्स्थैर्ये न समर्थं रसायन किमपि मूललोहादि।' इति कस्माद्धेतो ? स्वयम् अस्थिरस्वभावत्वात् सर्वमपि दाह्य क्लेद्य शोष्यं च स्यात्। स्वयमस्थिरस्वभावं रसायनं कथ देह स्थिरीकुर्यादित्याशय। तर्हि किं रसायनं तत्स्थैर्ये समर्थ

१. 'रसगन्धाभ्याम्' इति पाठ।

मित्याशङ्कायां चोत्तरति शास्त्रकारः—'एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ।' इति । एतेन पारदस्याखिललोहमौलित्वं समर्थ्यते । जीर्णाभ्रकः—जीर्णं जारितं अभ्रकं यस्मिन् स'-अभ्रकजारितः । अथवा परिजीर्णगन्धः—सम्यग्जारितगन्धक. । भस्मीकृत'—अभ्रकेण गन्धकेन वा जारितं कृत्वा भस्मीभूतः, इति तात्पर्यम् । एवभूतो निर्जीवनामा सूतो नि.-शेषान् रोगान् वेगात्—अचिरात् युगपद्वा विनिहन्ति—निःशेषतां नयति ॥ ३७७ ॥

निर्जीवबन्ध के लक्षण—अभ्रक और गन्धकजारण करके भस्म किया हुआ पारा निर्जीव कह-लाता है । यह भस्म सेवन करने पर सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करती है ।

वक्तव्य—पारद में अभ्रक और गन्धक जारण भली प्रकार करके जब उसकी भस्म की जाती है तब वह भस्म (अपुनर्भव) निर्जीव कहलाती है । वह अग्नि के ताप में रखने से उडती नही है । पारद में ताप पाकर उडने का जो स्वाभाविक गुण है वह इससे नष्ट हो जाता है और वह निर्जीव भस्म होती है ॥ ३७७ ॥

रसस्तु पादांशसुवर्णजीर्णः पिष्टीकृतो गन्धकयोगतश्च ।
तुल्यांशगन्धैः पुटित. क्रमेण निर्बीजनामा सकलामयघ्नः ॥३७८॥

इदानी निर्बीजबन्धलक्षणमाह—रस इत्यादि । निर्बीजनामा—निर्बीजाऽभिधो रसः तु शब्दोऽत्र अवधारणार्थे । सकलामयघ्नः—सर्वरोगघ्नो जायते । किंभूत. पादांश-सुवर्णजीर्ण—पादांशं चतुर्थांशं सुवर्णं जीर्णं जारितं यस्मिन् स. पुनश्च किंभूतो गन्धक-योगत. पिष्टीकृतः । पिष्टीकरणप्रकारस्तु १३६ तमश्लोकस्य संस्कृतटीकायां प्रोक्तस्तत्र द्रष्ट-व्यः । ततः क्रमेण पृथक् पृथक् तुल्यांशगन्धैः—समानभागत्रिविधगन्धकैः रक्तपीतशुक्ल-वर्णवद्भिः पुटित' । अत्र सर्वगन्धकाभावे पीतवर्णको ह्यामलासार इत्याख्यो गन्धको ग्राह्यस्तस्य सर्वश्रेष्ठत्वात् सर्वोपयोगित्वाच्चेति भाव' ॥ ३७८ ॥

निर्बीजबन्ध के लक्षण—चौथाई भाग सुवर्ण जारण किए हुए पारे की गन्धक से पिष्टि करे तत्पश्चात् पारे के बराबर भाग गन्धक मिलाकर क्रमश पुट देवे तो यह निर्बीज नाम का रस समस्त रोगों को नष्ट करने की शक्तिवाला तैयार होता है ।

वक्तव्य—पारद से चतुर्थांश सुवर्ण बीज का जारण करके समभाग गन्धक के साथ पिष्टि बनानी चाहिए ।' पिष्टि बनाने के बाद उस पिष्टि को समान भाग गन्धक के बीच में रखकर अर्थात् आधा गन्धक पिष्टि के नीचे और आधा ऊपर देकर पुट देना चाहिए । सम्पुटित द्रव्य के नीचे अग्नि क्रमश देकर उसकी भस्म करना, इसको निर्बीजबद्ध पारद कहते हैं ।' ३७८ ॥

बीजीकृतैरभ्रकसत्त्वहेमताराऽर्ककान्तैः परिजारितो य. ।
हतस्तत. षड्गुणगन्धकेन सबीजबन्धो विपुलप्रभावः ॥ ३७९ ॥

अथ सबीजबन्धलक्षणं प्रदिशन्नाह—बीजीकृतैरित्यादि । योऽभ्रकसत्त्वहेमताराऽर्क-कान्तैरेभिः समस्तै. परिजारितः । किंभूतैरभ्रकसत्त्वहेमादिभि, बीजीकृतै'—बीजभाव प्रापितै । अर्थात् बीजविधानं कृत्वा अभ्रकसत्त्वादिप्रतिपादितधातूना पिष्टिर्विधातव्ये-त्येकोऽर्थ. पिष्टीकृतैरिति पाठान्तरस्य । तत' बीजविधानानन्तरं षड्गुणगन्धकेन हत । सबीजबन्ध.—सबीजबन्धाख्योऽयं सूतो विपुलप्रभावो भवतीति भाव. ॥ ३७९ ॥

सबीजबन्ध के लक्षण—जो पारा बीजस्वरूप अभ्रकसत्त्व, सुवर्ण, चाँदी, ताँबा और कान्तलोह से जारण किया गया हो और फिर षड्गुण गन्धक से मारा गया हो तो वह पारा सबीजबन्ध कहलाता है । यह बहुत ही प्रभावी होता है ।

वक्तव्य—अभ्रकसत्त्व, सुवर्ण, चाँदी, ताम्र और कान्तलौह इन सबको पारद में अच्छी प्रकार जारण करके पिष्टि बनावे और उस पिष्टि से छै गुनी गन्धक पारद सबीजबन्ध नाम से जाना जाता है ॥ ३७९ ॥

वज्रादिनिहतः सूतो हतः सूतः समोऽपरः ।
शृंखलाबद्धसूतस्तु देहलोहविधायकः ॥
(चित्रप्रभावां वेगेन व्याप्तिं जानाति शङ्करः ।) ॥३८० ॥

अधुना शृङ्खलाबन्धलक्षणं प्रदर्शयन्नाह—वज्रादिनिहत इत्यादि । शृङ्खलाबद्धसूतः तु शब्दोऽत्र समुच्चयार्थे देहलोहविधायक-–शरीरसाधको लोहसाधकश्च भवतीति शेषः । अन्ये तु देहलोहविधायक इत्यस्य देहं लोहवद्दृढं दधातीति व्याख्यानयन्ति । शृङ्खला-बद्धपारदस्य वेगेन चित्रप्रभावां–विचित्रप्रभाववर्ती यथोक्तं शास्त्रे 'अचिन्त्यः खलु प्रभावो मणिमन्त्रौषधीनाम् ।' इति । तत्रापि सूतस्यालभ्यप्रभावस्तु सर्वत्रातिरोहित इति प्रतीतिः । व्याप्तिं–शरीरे व्यापनत्वं शङ्कर एव जानाति नान्यः । एतेन सूतस्यातिशय-गुणकारित्वमिति द्योत्यते । किंभूतश्च स वज्रादिनिहतः हीरकादिभिर्मारितो भस्मीभूतः । आदिशब्देन वैक्रान्तादीनामपि ग्रहणम् । अपरः अन्यः हतसूतसमः–वज्रादिभिर्न मारितः किन्तु अन्यैर्मारकद्रव्यैर्भस्मीभूततुल्यः । अत्र वज्रादिमारितश्चोभौ पारदौ ह्येकत्र स्थाने कर्तव्याविति भावः ॥ ३८० ॥

शृङ्खलाबन्ध के लक्षण—पूर्वोक्त ३१० श्लोक में प्रतिपादित शृङ्खलाक्रम के अनुसार हीरा और वैक्रान्त आदि द्वारा मारा हुआ पारा तथा दूसरा गन्धक, अभ्रक एवं काष्ठौषधियों द्वारा मारा हुआ । इन दोनों को समान भाग में लेकर एक जगह में मिलाकर मर्दन करे । विभिन्न विधि से मारित दोनों प्रकार के पारदों का मिश्रण शृङ्खलाबद्ध कहलाता है । यह शृङ्खलाबद्ध पारा देह और लोह दोनों की सिद्धि करनेवाला है । इसकी तत्काल होनेवाली विचित्र व्याप्ति को भगवान् शकर ही जानते हैं ।

वक्तव्य—शृङ्खलाबद्ध का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार साकल की एक कडी दूसरी कडी में फँसती है तभी उसका स्वरूप साकल होता है अर्थात् एक से दूसरे का जुडना ही शृङ्खला बद्ध कहाता है । उसी प्रकार हीरादि से मारित पारद और अभ्रक आदि से मारित पारद इन दोनों का एकत्रीकरण ही शृङ्खलाबद्ध होता है पूर्वोक्त ३१० श्लोक में जिस प्रकार से सारणा और जारणा की शृङ्खला बताई है यह भी ठीक वही क्रम है । यह शृङ्खलाबद्ध पारद महान् प्रभावी और अचिन्त्य शक्तिमान् होता है । क्योंकि इसमें दो प्रकार के पारद के परमाणु एकत्र सगठित किये गये हैं यह एक आसामान्य मिश्रण है और इसकी व्याप्ति भी सर्वथा असामान्य और विचित्र ही है जिस के यौगिक गुणों का केवल भगवान् शिव ही को ज्ञान हो सकता है ॥३८०॥

युक्तोऽपि बाह्यद्रुतिभिश्च सूतो बन्धं गतो वा भसितत्वरूपः ।
स राजिकापादमितो निहन्ति दुःसाध्यरोगान् द्रुतिबद्धनामा ॥३८१॥

साम्प्रतं द्रुतिबद्धलक्षणं निदर्शयन्नाह- युक्त इत्यादि । द्रुतिबद्धनामा–द्रुतिबन्धेन बद्धोऽयं रसराजो दुःसाध्यान्–दुःखेन साधयितुं योग्यास्तान् दुर्धर्षान् रोगान् निहन्ति । कियन्मितो राजिकापादमितः–राजिकायाश्चतुर्थभागात्मकः किंभूतश्च स सूतो बाह्य-द्रुतिभिर्युक्तः । अपि शब्दोऽत्रातिशये । अवश्यं द्रुतिसंपादनीयेति तात्पर्यम् । बन्धं

गतः—बन्धनतां प्राप्तः। चकारोऽत्र समुच्चयार्थे तेनान्तर्द्रुतिभिरपि युक्तो विधेयः। अथवा भसितस्वरूपः—भस्मीभूत. सोऽय द्रुतिवद्धनामा पारद इति। वाह्यद्रुतिं विना सूतस्य बन्धनमेव न भवति यथा रसहृदयतन्त्रे—'न च वाह्यद्रुतियोगस्तत्कथमिह बध्यते सूतः।' इति॥ ३८१॥

द्रुतिवद्ध के लक्षण—वाह्यद्रुतियों से वद्ध एव भस्मस्वरूप हुआ पारा द्रुतिवद्ध कहलाता है। यह राई के चौथाई भाग की मात्रा में सेवन करने पर दु साध्य रोगों को मिटा देता है।

वक्तव्य—गर्भगता द्रुति अथवा अन्तर्द्रुति द्वारा सस्कृत किया हुआ पारा भी उतना ही शक्तिमान होता है जैसा कि ऊपर कहा है। सर्वप्रथम द्रुति की साधना करनी चाहिए और उसके पश्चात् बन्धन सस्कार किया जाता है इस प्रकार की किसी भी द्रुति द्वारा बन्धन किया गया सस्कार द्रुतिवद्धता को पाता है॥ ३८१॥

समाभ्रजीर्णः शिवजस्तु वालः संसेवितो योगयुतो जवेन।
रसायनो भाविगदापहश्च सोपद्रवारिष्टगदान् निहन्ति॥ ३८२॥

अथ वालवन्धलक्षणं निरूपयन्नाह—समेत्यादि। वाल.—वालवन्धनवद्धोऽयं शिवजः—सूतः, तु शब्दोऽत्र पादपूर्त्यर्थम्। योगयुत—योगेन अनुपानेन सहित' ससेवितः सम्यक् प्रकारेण पारदसेवनविधिना भुक्तश्चेत्तर्हि रसायनः—जराव्याधिविनाशकः, भाविगदापहश्च—भाविरोगापहारको भवतीति शेषः। पुनश्च, सोपद्रवारिष्टगदान्—उपद्रवादिभिः सह वर्तन्ते ये गदास्तान्, उपद्रवोऽत्र रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः, तदुक्तं चरके यथा—'व्याधरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालज.। उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते॥' इति। अरिष्ट चात्र मरणविधायकचिह्नम्, यथा—'नियतमरणख्यापक लिङ्गमरिष्टम्।' इति। गदा.—रोगास्तान् निहन्ति किंभूतश्च स वालवद्धः समाभ्रजीर्ण—समानभागाभ्रकजारितः। पूर्वोक्तमभ्रकजारणम्॥ ३८२॥

वालवद्ध के लक्षण—समभाग अभ्रकसत्वजीण पारा की भस्म करने पर वह वालवद्ध सज्ञा को प्राप्त होता है। इस वालवद्ध पारद भस्म का यथानुपान और मात्रा से सेवन किया जावे तो यह बुढापा और रोग दोनों को नष्ट करता है साथ ही इसमें यह भी विशेषता है कि सामने होने वाले रोगों को रोकता है अर्थात् इसके सेवन करने से शरीर में रोग-प्रतिरोधक एव शरीर-सरक्षिणी शक्ति का सग्रह होता है और उससे शरीर में प्रतिक्रियात्मक शक्ति प्रबल होती है तथा किसी भी विकृतिजन्य भावों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। इसके अतिरिक्त अनेक उपद्रव एव अरिष्टयुक्त कठिनतम व्याधियों का परिहार होना है। कहने का तात्पर्य यह है कि वालवद्ध पारद भस्म में आयुर्वेद के प्रधानतम उद्देश्य की पूर्ति करने की परिपूर्ण शक्ति है। आयुर्वेद की प्रधान भूमि और चरम लक्ष्य है-**'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं ह्यातुरस्य च रोगप्रशमनम्।'** यह कार्य वालबद्ध से होता है॥ ३८२॥

ये चार प्रकार के वालवद्ध, कुमारवद्ध, तरुणवद्ध और वृद्धवद्ध उत्तरोत्तर अभ्रक जारण की अवस्थाओं के नाम हे—समभाग अभ्रक जारित पारद की भस्म वालवद्ध कहाती है जिसका ऊपर के श्लोक में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। शेष कुमारवद्ध द्विगुण अभ्रक-जारित पारद की भस्म, तरुणवद्ध चतुर्गुण अभ्रक जारित पारद की भस्म और वृद्धवद्ध षड्गुण अभ्रक जारित पारद की भस्म होती है जिनका क्रमश आगे वर्णन किया जा रहा है—

हरोद्भवो यो द्विगुणाभ्रजीर्ण स स्यात्कुमारो मिततण्डुलोऽसौ।

त्रिसप्तरात्रैः खलु पापरोगसंघातघाती च रसायनश्च ॥ ३८३ ॥

कुमारबन्धं स्पष्टयन्नाह-हरोद्भव इत्यादि । यो द्विगुणाभ्रजीर्णो हरोद्भवः पारदः, मिततण्डुल.-तण्डुलप्रमाणपरिमितः, त्रिसप्तरात्रैः-एकविंशतिदिनैर्यावत् सेवित. पापरोगसंघातघाती-पापसमुद्भवा ये रोगा मसूरिकाकुष्ठादयस्तेषा यः संघात. समूहस्तस्य संघाती सम्यग् हन्ता पुनश्च रसायन -यज्जराव्याधिविनाशनश्च भवतीति शेष. । स एव कुमारः-कुमारबन्धाख्यः स्यात्। क्वचित्प्रबन्धे चतुर्गुणाभ्रकजीर्णः कुमार इति साधितमस्ति। त्रिसप्तरात्रैरित्यत्र सप्तरात्रैरित्येके भाषन्ते। पापरोगसंघातघाती रसेन्द्रचिन्तामणौ यथा-'अथ शुद्धस्य सूतस्य मूर्च्छितस्य मृतस्य च। धवलापिप्पलीधात्रीरुद्राक्षघृतमाक्षिकै. । पापरोगान्तको योगः पृथिव्यामेव दुर्लभ' ॥ ३८३ ॥

कुमारबन्ध के लक्षण—जो पारा अपने से द्विगुण अभ्रक सत्त्वजीर्ण करके भस्म होता है वह कुमारबद्ध कहलाता है। यह एक चावल की मात्रा में २१ दिन सेवन करने पर मसूरिका (चेचक माता) कुष्ठ प्रभृतिक रोगों को नष्ट करता तथा वार्धक्य और शारीरिक रोगों को मिटाता है जीवन को सुखी और प्रफुल्लित करता है।

वक्तव्य—कुमारबद्ध पारद को पापरोग-संघातघाती कहा है। कोषकारों ने और अन्य तन्त्रों ने प्रायश पाप रोग या पापोद्भव रोग मसूरिका, शीतला अथवा कुष्ठ आदि रोगों को माना है। यही कारण है कि मसूरिका जितने भी प्रकार की हो उसमें शीतला-पूजन और आराधना को विशेष स्थान दिया गया है इसी प्रकार कुष्ठादि में भी सूर्योपासना पर अधिक बल दिया है। ये रोग प्रायश. सर्वाङ्गव्यापी होते हैं और एक से दूसरे को लगते हैं। दोषज और कर्मज दो प्रकार की व्याधि होती है उनमें से मसूरिका और कुष्ठ आदि कर्मज होते हैं और दोषज। यह कुमारबद्ध पारद अपने प्रभाव से दोनों प्रकार की व्याधियों में विशेष उपयोगी होता है। रसेन्द्रचिन्तामणि-कार लिखता है कि-शुद्ध, मूर्च्छित और मृत पारद तथा छोटी पीपल, आवला और रुद्राक्ष इन सबको एकत्र मिश्रण कर के शहद और घी समभाग में मिलाकर चाटने से शीतला (माता-चेचक) आदि रोग नष्ट होते हैं। इस प्रयोग के गुणकारी प्रभाव इतने असीम हैं जिनको देख और सुनकर तन्त्रकारों ने इसे पृथिवी में दुर्लभ माना है ॥३८३॥

चतुर्गुणव्योमकृताशनोऽसौ रसायनाग्र्यस्तरुणाभिधानः ।
स सप्तरात्रात्सकलामयघ्नो रसायनो वीर्यबलप्रदाता ॥३८४॥

तरुणबन्ध प्रदर्शयन्नाह-चतुरित्यादि। असौ तरुणाभिधानः-तरुणबन्धबद्धाख्यः, रसायनाग्र्य -रसायनेषु श्रेष्ठः सूतो विद्यत इति शेष.। स तरुणाख्यः सप्तरात्रात्-सप्तदिनाभ्यासात्, सकलामयघ्न.-सर्वरोगापहारको रसायन.-जराव्याधिनिवारकः, वीर्यबल प्रदाता वीर्यस्य-शुक्रस्य बलस्य-पराक्रमस्य च प्रदाता। किंभूतश्चासौ चतुर्गुणव्योमकृताशन.-चतुर्गुणस्य व्योम्नोऽभ्रकस्य कृतम् अशन-भोजन येन स तथोक्तः। रसार्णवेऽपि-'समजीर्णो भवेद्बालो यौवनस्थश्चतुर्गुणम्। यौवनस्थो रसो देवि क्षमो देहस्य रक्षणे ॥' इति ॥ ३८४ ॥

तरुणबन्ध के लक्षण—जो पारा अपने से चौगुना अभ्रकसत्त्व खा चुका हो और फिर उसको भस्म बनाई गई हो उस भस्मीभूत पारद को तरुणबन्ध कहा जाता है। उसके सात दिन के सेवन करने पर वह शरीर के सम्पूर्ण रोगों को दूरकर बल और वीर्य की प्राप्ति कराता है तथा रसायन होता है ॥ ३८४ ॥

यश्चाभ्रकं षड्गुणितं हि जीर्णः प्राप्ताग्निसख्यः स हि वृद्धनामा ।
देहे च लोहे च नियोजनीयः शिवादृते कोऽस्य गुणान् प्रवक्ति ॥ ३८५ ॥

वृद्धबन्धलक्षणमाह-यश्चेत्यादि । स वृद्धनामा-वृद्धबन्धनामकोऽयं पारदः, देहे-देहकर्मणि रोगादौ, लोहे-लोहकर्मणि धातुवादे च नियोजनीय । अस्य वृद्धबद्धस्य सूतस्य गुणान् शिवादृते कः प्रवक्ति न कोऽपीत्यर्थ । एतेनातीवगुणवानिति द्योत्यते । किम्भूतो यः पारद षड्गुणित-षड्गुणाभ्रक जीर्णं पारदमध्ये, इति शेष. । षड्गुणाभ्रकजीर्ण' । तन्त्रान्तरे तु षड्गुणाभ्रकजीर्णो वृद्ध, सप्तगुणाभ्रकजीर्णश्चातिवृद्ध इति निष्पादितम् । पुनश्च कथम्भूत. प्राप्ताग्निसख्य.-प्राप्तम् अग्निना सह सख्य-मैत्री येन स -अग्निसह इति भाव. । यथा रसकामधेनौ-'वृद्ध. षड्गुणजीर्णस्तु तदा कर्म पृथक् पृथक् । वृद्धो विध्यति लोहानि जारितः सारितोऽथवा ॥' इति ॥ ३८५ ॥

वृद्धबन्ध के लक्षण—जो पारा अपने से छगुने अभ्रकसत्त्व को अपने अन्दर जीर्ण करके भस्मीभूत और अग्निस्थायी हो चुका है वह वृद्धबन्ध कहलाता है । इसका देह कार्य और लोहकार्य दोनों में एक समान प्रयोग होता है । इसकी गुण-महिमा भगवान् शिव के बिना कोई नहीं कह सकता है ॥ ३८५ ॥

यो दिव्यमूलिकाभिश्च कृतोऽस्त्यग्निसहो रसः ।
विनाऽभ्रजारणात् स स्यान्मूर्तिबद्धो महारसः ॥ ३८६ ॥
अयं हि जार्यमाणस्तु नाग्निना क्षीयते रस. ।
योजितः सर्वरोगेषु निरौपम्यफलप्रद. ॥ ३८७ ॥

मूर्तिबन्धलक्षण निबन्धयन्नाह-य इत्यादि । स एव महारसः-रसराजः, मूर्तिबद्धो नाम स्यात् । कोऽसौ यो दिव्यमूलिकाभि.-दिव्यौषधिभिः सोमवल्ल्यादिभिस्तासां संख्या त्वनन्ता लक्षणं चात्र प्रसङ्गतो दृश्यते । रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'मन्थानभैरवमहागमसप्रदिष्टा दिव्यौषधीर्वदति संप्रति सोमदेवः । वार्धक्यरोगहरणाय रसायनाख्या. सूतेन्द्रबन्धवधजारणकर्मनिष्ठा' ॥' इति । तासां जातयो यथा-'रसौषध्यो महौषध्य. सिद्धौषध्यस्तथाऽपरा । हितोपदेशनिर्दिष्टप्रकारैराहरेच्च ताः ॥ वृक्षवल्लीलतागुल्मतृणकन्दातकानि च । रसबन्धकरौषध्यः षड्विधाः परिकीर्तिता. ॥' इति ॥ एताभिरत्यग्निसह. प्रचुराग्नितापसहनसक्तः कृत.-कस्मात् अभ्रजारणात् विना केवलदिव्यौषधिभिरेवेति तात्पर्यम् । एवंभूतो रसो मूर्तिबद्धनामा स्मृतः । तस्य फलं चात्र निगद्यते । हि यस्माद्धेतोः । अयं मूर्तिबद्धाख्यो रसोऽग्निना जार्यमाणो न क्षीयते न कदापि क्षीणो भवतीति गम्यते । क्षीणश्चेत्तर्हि मूर्तिबन्धे न्यूनता ज्ञेयेत्यपि ध्वन्यते । पुनः कीदृशः सर्वरोगेषु योजितः सन् निरौपम्यफलप्रद.-सर्वोत्तमफलदायको भवतीति भाव. ॥ ३८६-३८७ ॥

मूर्तिबन्ध के लक्षण—अभ्रकसत्त्व जारण किये बिना ही, केवल सोमलता आदि दिव्यौषधियों द्वारा अग्निस्थायी हुआ पारा मूर्तिबद्ध कहलाता है । यह पारा अग्नि में जारण करने पर भी जब क्षीण नहीं होता है तब समझना चाहिए कि मूर्तिबद्ध हो गया है । मूर्तिबद्ध समस्त रोगों में प्रयोग करने पर अलभ्य फल देता है ।

वक्तव्य—गद्यसख्या १३८ में मूर्तिबद्ध के लक्षण कहते हुए ग्रन्थकार ने पहले लिखा है कि-**'बन्धनं तु स्वाभाविकद्रवत्वे सति वह्निनाऽनुड्डीयमानत्वं मूर्तिबद्धत्वम् ।'** अर्थात् अग्नि पर स्थिर होना ही मूर्तिबद्धता है ॥ ३८६-३८७ ॥

शिलातोयमुखैस्तोयैः सिद्धोऽसौ जलबन्धनात् ।
स जरारोगमृत्युघ्नः कल्पोक्तफलदायकः ॥ ३८८ ॥

जलबन्धलक्षणं निरूपयन्नाह–शिलातोयमुखैरित्यादि । असौ–पारदो जलबन्धनात्–जलबन्धविधिना सिद्धो जलबन्धबद्ध इति ज्ञातव्यः । कैः सिद्धः–शिलातोयमुखैः–शिलोदकादिभिः, तोयैः–जलैः सिद्धः । मुखशब्देनात्र घृतविषतैलामृततप्तचन्द्रोदयादीनि ग्राह्याणीति भावः । शिलातोयलक्षणं रसकामधेनौ यथा–'अतः परं प्रवक्ष्यामि शैलोदकविधिं प्रिये ! । कर्दमाम्भो महीशैलं शिलं चेति चतुर्विधम् ॥ कानिचित्क्षणवेधीनि दिनवेधीनि कानिचित् । पक्षमासादिपण्मासवेधनानि महीतले ॥ क्षिप्तं यदा भवेत्काष्ठं शैलीभूतं च दृश्यते । बहिरन्तश्च देवेशि वेधकं तत्प्रकीर्तितम् ॥ हिङ्गुलं हरितालं च गन्धकं च मनःशिला । एषां गन्धापहारं यत्कुरुते तच्च वेधकम् ॥ गन्धकं तालकं चैव तोयपूर्णे घटे क्षिपेत् । यदा तद्बुद्बुदाकारं तदा शैलोदकं भवेत् । अन्यथा वेष्टकं देवि तन्न ग्राह्यं निरर्थकम् ॥' इति । अधिकं शिलोदकवर्णनं रसार्णवस्य द्वादशपटले द्रष्टव्यम् । पुनः स किंगुणविशिष्ट इत्यत आह–जरारोगमृत्युघ्नः–जरा वार्धक्यं, रोगो–देहे कायिकमानसिकवेदनोत्पादको मृत्युः–प्राणपरित्यागः पञ्चत्वावस्था शरीरस्य तेषां यो नाशकः । कल्पोक्तफलदायकः–शास्त्रोक्तफलविधायकः । क्वचित्पुस्तके–'सराजरोगमृत्युघ्नः' इति पाठः ॥ ३८८ ॥

जलबन्ध के लक्षण—शैलोदक आदि प्रमुख जलों से सिद्ध पारा जलबद्ध कहाता है । यह पारा वार्धक्य, रोग और मृत्यु को नष्ट करता है तथा पारदकल्प में कहे हुए फल को देता है ।

वक्तव्य—ऊपर संस्कृत टीका में रसार्णव के वचनों में शिलातोय का वर्णन दिया है । शिलातोय बहुत ही प्रभावी और उत्कृष्ट जल होता है । उसके बनाने की विधि भी ऊपर दी है । जैसे कि—**गन्धकं तालकं चैव तोयपूर्णे घटे क्षिपेत् । यदा तद् बुद्बुदाकारं तदा शैलोदकं भवेत् ॥'** अर्थात् गन्धक और हरताल दोनों को बारीक चूर्ण करके जल से भरे हुए घड़े में डाल देवे और उसको चूल्हे पर रखकर अग्नि देता रहे जब उसमें उबाल उठने लगे और बुद्बुदे आने लगें तब चूल्हे से उतार कर ठंडा होने देना, उसके पश्चात् धीरे से ऊपर-ऊपर का छानकर स्वच्छ जल ले लेना चाहिए । यह संस्कृत जल शैलोदक कहलाता है । गन्धक और हरताल द्वारा संस्कृत होने से इसमें पारद को बद्ध करने की शक्ति होती है ॥ ३८८ ॥

केवलो लोहयुक्तो वा ध्मातः स्याद् गुटिकाकृतिः ।
अक्षीणश्चाग्निबद्धोऽसौ खेचरत्वादिकृत्स हि ॥ ३८९ ॥

अग्निबन्धलक्षणमाह–केवल इत्यादि । योऽसौ पारदः, अग्निबद्धो नाम विख्यातः स हि यस्माद्धेतोः, अग्निबन्धबद्धः खेचरत्वादिकृत् 'बद्धः खेचरतां याति' इत्यागमविरोधात् । किंभूतः केवलो लोहयुक्तः–स्वर्णादिलोहसहितः सन्, क्वचित्पुस्तके 'केवलो योगयुक्तः' इति पाठान्तरं तन्न सम्यक् 'केवलो लोहयुक्तो वा' इत्यस्य बहुसम्मतत्वात् । अथवा ध्मातश्चेत् गुटिकीकृतः, अक्षीणश्च भवेत् । अत्राग्निबन्धानन्तरं सुसंस्कृतबद्धस्य सूतस्य लक्षणविधानं परमावश्यं पञ्चविंशतिबन्धेषूक्तत्वात् किन्तु, अत्र नोपलभ्यते, इत्यतस्तत्पूर्त्यर्थं रसरत्नसमुच्चयतो निर्दिश्यते यथा—'विष्णुक्रान्ताशशिलताकुम्भीकनकमूलकैः । विशालानागिनीकन्दव्याघ्रपादीकुरण्टकैः ॥ वृश्चिकालीभुशुण्डीभ्यां हंसपादीसहासुरैः । अप्रसूतगवां मूत्रैः पिष्टं बालुकके पचेत् ॥ पक्वमेव मृतैर्लोहैर्मर्दितं त्रिपचेद्रसम् । यन्त्रेषु मूर्च्छा सूतानामेष कल्पः सुसंस्कृतः ॥' इति ॥ ३८९ ॥

अग्निबन्ध के लक्षण—अकेला अथवा सुवर्ण आदि धातुओं से युक्त पारा अग्नि में रखकर धमन करने पर भी क्षीण न होकर गुटिका के आकार का बन जाता है तो वह अग्निबद्ध कहाता है। इस पारद में महान् शक्ति और अनेक अचिन्त्य गुण होते हैं इसमें खेचरत्व गुण विशेष रूप में होता है अर्थात् इसको मुंह में रख लेने से मनुष्य को आकाश में उडने की कला प्राप्त होती है जिसकी सहायता से आकाश में छलांग मार कर कई योजन दूर तक जा सकता है। इसके विशेष गुण आगे लिखी हुई खेचरी गुटिका में देखें।

वक्तव्य—पारद को अकेले अथवा धातुओं या अन्य कुछ पदार्थों के साथ अग्नि में धमन करने का जो ऊपर उल्लेख किया है वह सर्वसाधारण पारद के लिए नहीं है किन्तु इसके लिए विशेष प्रकार के पारद की आवश्यकता है अर्थात् जिस पारद में पूर्वोक्त अनेक संस्कारों का समावेश आवश्यक है जिनके द्वारा पारद में अग्निस्थायित्व भाव उत्पन्न होता है, जिस पारद में अग्निस्थायित्व उत्पन्न नहीं किया गया है वह इस कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है उसमें अग्निबन्ध संस्कार का समावेश नहीं किया जा सकता है ॥ ३८९ ॥

अथ महाबन्धलक्षणमाह—

हेम्नो वा रजतेन वा सहचरो ध्मातो व्रजत्येकता-
मक्षीणो निविडो गुरुश्च गुटिकाकारोऽतिदीप्तोज्ज्वलः।
चूर्णत्वं पटुवत्प्रयाति निहतो घृष्टो न मुञ्चेन्मलं
निर्गन्धो द्रवति क्षणात्स हि महाबद्धाभिधानो रसः ॥ ३९० ॥

हेम्न इत्यादि। स रसः, महाबद्धाभिधानः–महाबन्धेन बद्धः, हीति निश्चयेन ज्ञातव्य इति शेषः। यो हेम्ना–सुवर्णेन रजतेन वा सहचरः–सगतः सन् ध्मातः–अग्नौ प्रध्मातश्चेदेकताम्–अभिन्नत्वं व्रजति। यश्चाक्षीणः–क्षयरहितो निविड–घनो गुरुश्च सर्वेष्वपि रसो परसमहारसेषु श्रेष्ठो गुर्वा, गुटिकाकारः, अतिदीप्तोज्ज्वलः–अतिशयेनोज्ज्वलप्रकाशकश्च स्यात्। पुनर्निहितः सन् पटुवत्–लवणवत् चूर्णत्वं प्रयाति, घृष्टः–घर्षणं परिप्राप्तः सन् मल–मलसादृश्यविकारं कालुष्य च न मुञ्चेत्। पुनश्च क्षणात्–क्षणमात्रत शीघ्रमेवाग्निना ध्मातो द्रवति–जलरूपमधिगच्छति, निर्गन्धो गन्धरहितश्च स्यात्। स रसो महाबद्धाभिधानो भवतीति शेषः। 'निर्गन्धो द्रवति क्षणात्' गन्धको वलि. तेन रहितोऽपि अर्थाद्गन्धकसंयोग विनापि क्षणादल्पकालेनैव द्रवतीत्यर्थः। इति भावोऽपि साधीयान्। इत परं जलौकाबन्धविधानमपि विद्यतेऽन्यतन्त्रेषु तद् द्रष्टुकामो रसरत्नसमुच्चयादिषु यथास्थान विस्तरशो द्रष्टव्यम्। आयुर्वेदप्रकाश-कारेणापि जलौकाबन्धस्य विधानमग्रे प्रतिपादितमस्ति, ग्रन्थविस्तरभियाऽत्र न प्रपञ्चितम्। इति रसबन्धलक्षणम् ॥ ३९० ॥

महाबन्ध के लक्षण—सुवर्ण अथवा चाँदी के साथ अग्नि में धमन करने पर जो पारा गलकर एक हो जावे, तथा अक्षीण अर्थात् अग्नि में धमन करने पर भी जिसका वजन नहीं घटे, वह अक्षीण होता है, जो देखने में घट्ट और ठोस प्रतीत हो, वजन में भारी हो, गुटिका के आकार का हो, अतीव प्रकाशमान अर्थात् तेजस्वी एव चमकदार हो, खरल में डालकर कूटने से नमक के समान चूर्ण होनेवाला हो, घिसने पर जिसमें मैल और कालिमा प्रगट न हो, किसी भी प्रकार की गन्ध का अनुभव न देता हो और अग्नि के सयोग से तत्काल पिघलने वाला हो, वह पारा महाबद्ध कहलाता है।

वक्तव्य—ऊपर पारद के पच्चीस बन्धन कह आये हैं, यह महाबन्ध पच्चीसवा और अन्तिम

वन्ध है। पारद वन्धों के गुण और उपयोग का वर्णन तो ग्रन्थकार ने दिया है किन्तु इन बन्धनों की यथेच्छ निर्माणविधि क्या है उसका खुलासा उस प्रकार नहीं दिया गया है जिसके अनुसार समस्त वन्धों का सपादन किया जा सके। हाँ, वन्धनों के प्रत्येक के स्वरूप और लक्षणों का विवेचन भली प्रकार हुआ है इससे यह तो स्पष्ट है कि यह कोई काल्पनिक नहीं है अर्थात् अनुभव और कृतिसिद्ध है ॥ ३९० ॥

पच्चीस प्रकार के वन्धनों में जलौकावन्ध का उल्लेख या गणना नहीं है। वह छब्बीसवा बन्ध माना गया है। रसरत्नसमुच्चय ने उसका उल्लेख क्रमप्राप्त ही किया है किन्तु आयुर्वेदप्रकाश कार ने जलौकाबन्ध का उल्लेख तो अवश्य किया है किन्तु यहाँ न करके आगे किया है। हमने ग्रन्थ व्यवस्था में व्यत्यय उत्पन्न करना नहीं चाहा और जैसा जिस स्थान पर कोई विषय रखा गया है उसको वहीं रखना उचित समझा है अत. जलौकाबन्ध का विवेचन आगे यथास्थान ही देखें।

इसके आगे रसमूर्च्छना की विधि और उसकी सिद्धि से प्राप्त लाभ का विवेचन करते हैं—

अथ नित्यनाथेन रसमूर्च्छनमुक्तम्—

मेघनादवचाहिङ्गुलशुनैर्मर्दयेद् रसम्।
नष्टपिष्टं तु तद् गोलं हिङ्गुना वेष्टयेद्बहिः ॥ ३९१ ॥
पचेल्लवणयन्त्रस्थं दिनैकं चण्डवह्निना।
ऊर्ध्वलग्नं समादाय दृढवस्त्रेण वन्धयेत् ॥ ३९२ ॥
ऊर्ध्वाधो गन्धकं तुल्यं रसं दत्त्वाऽनले पचेत्।
जीर्णे गन्धे पुनर्देयः षड्भिर्वारैः समः समः ॥ ३९३ ॥
षड्गुणे गन्धके जीर्णे मूर्च्छितो रोगहा भवेत् ॥ ३९४ ॥

मेघनादेत्यादि। मेघनाद—तण्डुलीय', वचा—उग्रगन्धा, हिङ्गु—स्वनामख्यातम्। लशुनम् एभि.—पूर्वोक्तैर्द्रव्यै', रसं मर्दयेत्। नष्टपिष्ट—सम्यक्कल्कीभूतं ज्ञात्वा पुनस्तद्गोलकं वहिर्भागेन हिङ्गुना कल्केन पूर्वप्रतिपादितौषधीनां यद्गोलकं कृतमासीत्तद् वेष्टयेच्चतुरस्रं ततो लवणयन्त्रस्थ सरचय। चण्डवह्निना—तीव्राग्निना दिनैकं यावत्पचेत् पश्चात्स्वाङ्गशीतभवं ज्ञात्वेति शेष। ऊर्ध्वलग्नं रस समादाय ततो रसतुल्यं गन्धकम् ऊर्ध्वाधः पारदस्य दत्त्वा दृढवस्त्रेण—भारतीयकार्पासनिर्मितचतुर्गुणेन वस्त्रेण वन्धयेत्। ततोऽनले—वह्नौ पचेत्। जीर्णे गन्धे सति पुनर्देयः। एवं समः समः पारदसमानभागो गन्धकः षड्भिर्वारैर्देय.। एवं विधिना षड्गुणे—पारदमानात् षड्गुणिते गन्धके जीर्णे सति रोगहा मूर्च्छितः पारदो भवेत् ॥ ३९१–३९४ ॥

मूर्च्छन के लक्षण—चौलाई, वच, हींग और लशुन इन चारों द्रव्यों को मिलाकर पारद को खरल में डालकर खूब मजबूत हाथों से मर्दन करे, जब भलीभाँति कल्क (चटनी के तुल्य) हो जावे तब उसका गोला बनाकर उस गोले को हींग के कल्क से चौतर्फ से एक समान लेप करके लवण यन्त्र में रखकर तीक्ष्ण अग्नि से एक दिन पाक करे और स्वाङ्गशीतल होने पर ऊपर लगे हुए पारे को निकाल कर फिर पारे के समान भाग गन्धक ऊपर-नीचे देकर अर्थात् आधी गन्धक पारे को नीचे विछाना उस पर पारे को रखना और शेष वची हुई गन्धक ऊपर देकर अच्छे मोटे और मजबूत कपडे में बाधकर अग्नि में पाक करे। इस प्रकार समान भाग

गन्धक दे देकर छः बार गन्धक जारण करना चाहिए। यह समस्त रोगों को नष्ट करने वाला मूर्च्छित पारा तैयार हो गया ऐसा समझना चाहिए ॥ ३९१–३९४ ॥

मूर्च्छितलक्षणम्—

कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापलम्।
मूर्च्छितस्तु तदा ज्ञेयो नानावर्णोऽपि च क्वचित् ॥ ३९५ ॥

कज्जलाभ इत्यादि। यदा सूतो घनचापल–घन–काठिन्य चापलं–चपलत्व च विहाय कज्जलाभ–कज्जलसदृशवर्णो भवेत् तदा मूर्च्छित इति ज्ञेयः। पुनश्च नानावर्णोऽपि अनेकाकृतिसहितोऽपि भवति। क्वचित् यथा–हरितालेन पिष्टीभूत. पारदो हरितपीत–वर्णात्मको मन शिलया सह पिष्टः पीतवर्णः, एवमेव शतमल्लादिभिरपि बोध्यम्। इत्येवं नानावर्णो भवतीति। क्वचित् पुस्तके 'दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छित. सुतरां बुधैः।' इति पाठभेद' ॥ ३९५ ॥

कठिनता और चपलता को छोड कर (दूर कर) काजल के समान हुआ पारा मूर्च्छित कहलाता है। कहीं-कहीं पर अनेक वर्ण का पारा भी मूर्च्छित होता है।

वक्तव्य—गन्धक के साथ पारद का मर्दन करने से उसकी काले रग की मृदु, चिकनी, चमकयुक्त और कणरहित (सूक्ष्मयन्त्र से देखने पर भी उसमें कण नहीं होने चाहिए। तात्पर्य यह है कि उसकी घुटाई इतनी गहरी होनी चाहिए जिससे पारद और गन्धक के कण परस्पर में एक-जीव हो जावें) जो कज्जली होती है उसको मूर्च्छित कहा जाता है। जैसे कि—रसेन्द्रसार-सग्रह कार लिखता है कि–'गन्धकेन रसं प्राज्ञः सुदृढ मर्दयेद् भिषक्। कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापलम् ॥ दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छितो रसकोविदैः। असौ रोगचयं हन्या-दनुपानस्य योगत. ॥' मूर्च्छना का दूसरा स्वरूप बताया है–'नानावर्णोऽपि च' अर्थात् न केवल गन्धक के साथ की हुई पिष्टी ही मूर्च्छना होती है जिसका कि रूप काला कहा है अपितु द्रव्य भेद से मूर्च्छना के अन्य रूप भी हैं। जैसे कि–हरताल के साथ की हुई मूर्च्छना का स्वरूप किंचित् हरापन लिए हुए और पीलापन लिए हुए होता है। मैनसिल के साथ पारद की मूर्च्छना का रग पीला होता है इसी प्रकार शखिया आदि द्रव्यों से भी स्वरूप में भिन्नता आती है। किन्तु बहुश में पारद को गन्धक से ही मूर्च्छित करके प्रयुक्त किया जाता है और यही सर्वोपयोगी होने से व्यवहार में प्रचलित है शेष द्रव्यों द्वारा की हुई मूर्च्छना विशेष कार्यवश और एकागी होने से सर्वविदित नहीं है और यही हेतु है कि मूर्च्छना का जो स्वरूप ऊपर कहा गया है वह गन्धक के सहयोग का ही कहा गया है ॥ ३९५ ॥

मूर्च्छितफलम्—

मारितं देहसिद्ध्यर्थं मूर्च्छितं व्याधिनाशने।
रसभस्म क्वचिद् योगे देहार्थे मूर्च्छितं क्वचित् ॥ ३९६ ॥

मारितमित्यादि। मारित–भस्मीभूतं पारदं देहसिद्ध्यर्थं–'ह्यमरीकरोति सुमृतः' इत्यागमनिरोधात्। पुनश्च तं–सूतं व्याधिनाशने यथा–'मूर्च्छित्वा हरति रुजम्' इति प्रमाण्यात्। क्वचिद्योगे–रसायनकर्मणि रसभस्म योज्यते। क्वचित् मूर्च्छितं–सूतं देहार्थे प्रयुज्यते। 'क्वचिद्योगे' इत्यत्र 'क्वचिद्रोगे' इति पाठान्तरम्। विशेषश्चात्र 'बद्धो द्वाभ्यां-प्रयुञ्जीत शास्त्रदृष्टेन कर्मणा' इति ॥ ३९६ ॥

मूर्च्छित का फल—मारा हुआ पारा देह सिद्धि के लिए और मूर्च्छित पारा रोगों के लिए उपयोगी होता है। कहीं पर मारा हुआ पारा रसायनार्थ और मूर्च्छित देहार्थ होता है ॥ ३९६ ॥

अब आगे ग्रन्थकार पारद-भस्म की विधि का प्रतिपादन करता है। रसतन्त्रों में पारद-भस्म के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं। उन भस्मों के रंग और रूप का विवेचन आवश्यक है। यहाँ पर भी यह ज्ञान होता है कि पारद भस्म का रंग कैसा है? किन्तु अन्य तन्त्रों में भी इस पर अवश्य विचार किया गया है। जैसे कि—रसरत्नसमुच्चय-कार कहता है कि—**'देवदालीं हरिक्रान्तामारनालेन पेषयेत्। तद्द्रवैः सप्तधा सूतं कुर्यान्मर्दितमूर्च्छितम्॥ तत्सूतं खर्परे दद्याद्दत्त्वा दत्त्वा तु तद्रसम्। चुल्ल्युपरि पचेच्चाह्नि भस्म स्याल्लवणोपमम्॥'** इति। उपर्युक्त पद्य के अन्तिम भाग **'भस्म स्याल्लवणोपमम्'** से यह स्पष्ट होता है कि नमक के समान श्वेत रंग की पारद-भस्म होती है इसी प्रकार की श्वेत रंग की भस्म का विधान 'आयुर्वेदप्रकाश' कारने भी आगे कहा है। श्लोक ४५६-४५७ में जहाँ मृतसूत के लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया है वहाँ उसके रंग को शुभ्र माना है किन्तु रसेन्द्रसारसंग्रह-कार इसका विशेष और व्यावहारिक स्पष्टीकरण करते हुए कहता है कि—**'श्वेतं पीतं तथा रक्तं कृष्णञ्चेति चतुर्विधम्। लक्षणं भस्मसूतानां श्रेष्ठं स्यादुत्तरोत्तरम्॥'** अर्थात् रंग पर से पारद-भस्मों को देखा जावे तब तो पारद की भस्म चार प्रकार की होती है जो पहली से दूसरी और दूसरी से तीसरी तथा तीसरी से चौथी श्रेष्ठ होती है।

अथ रसभस्मीकरणम्।

तत्रोर्ध्वभस्म यथा रससिन्दूराख्यम्—
सूतः पञ्चपलः स्वदोषरहितस्तत्तुल्यभागो बलि-
र्द्वौ टङ्कौ नवसादरस्य तुवरीकर्षश्च सम्मर्दितः।
कूप्यां काचभुवि स्थितश्च सिकतायन्त्रे त्रिभिर्वासरैः
पक्वो वह्निभिरुद्भवत्यरुणभाः सिन्दूरनामा रसः॥ ३९७॥

सूत इत्यादि। सूतः पञ्चपलः—विंशतितोलकः किम्भूतः स्वदोषरहितः नागादिसप्तदोषशून्यः। तत्तुल्यभागः—तस्य सूतस्य समभागो विंशतितोलकमित एव बलिः—गन्धको ग्राह्यः। नवसादरस्य द्वौ टङ्कौ—कर्षार्धप्रमाणम्। पुनः, तुवरी—काक्षी 'सौराष्ट्री तुवरी कांक्षी मृत्तालकसुराष्ट्रजे।' इति निघण्टुः। तस्याः कर्षः—एकतोलकमिति यावत्। सर्वमेकत्रीकृत्य सम्मर्दितः। कूप्या—काचकूप्याम्, तां च कूपीं सिकतायन्त्रे संस्थाप्य वह्निभिः त्रिभिर्वासरैर्यावत् पक्वः—अरुणभाः शोणप्रभः भास्करारुणवर्णत्वमित्यर्थः उद्भवति। रसोऽयं सिन्दूरनामा—रससिन्दूर इति नाम्ना प्रसिद्धः। कूप्यां काचभुवि स्थितश्चेत्यत्र क्वचित्पुस्तके 'कूपे काचकृते स्थितश्चे'ति पाठान्तरमुपलभ्यते तत्साधु बहुसम्मतत्वात्। विशेषश्चात्र रसपद्धत्यां यथा—'सूतं पञ्चपलं सपादपलकं गन्धं च टङ्कद्वयं, चुल्लीलोणमथो विमर्द्य सकलं काङ्क्ष्यास्तु कर्षं पुनः। यद्वा गन्धसमं तदर्धमथवा यन्त्रे दृढे शार्करे, कूप्यां वस्त्रचतुष्टयं रसवरः सिन्दूरतुल्यो भवेत्॥' इति॥ ३९७॥

रसभस्म के प्रकार—शुद्ध पारा २० तोला, शुद्ध गन्धक २० तोला, आधा तोला नौसादर, एक तोला फूली हुई फिटकिरी। इन सबको खरल में डालकर मर्दन करके,भली प्रकार कज्जली करे और कपडमिट्टी की हुई आतसी शीशी में भर कर बालुकायन्त्र द्वारा तीन दिन तक, अग्नि

देकर पाक करे। मन्द, मध्य और तीक्ष्ण देने से उत्तम लालवर्ण का रससिन्दूर तैयार होता है। यह पारे की ऊर्ध्वभस्म है।

वक्तव्य—यह ध्यान रहे कि ऊपर जितने प्रमाण में पारद और गन्धक का उल्लेख किया है इतने प्रमाण द्रव्य के रससिन्दूर बनाने के लिए तीन दिन परिपूर्ण हैं किन्तु द्रव्यों की मात्रा अधिक होती है तो अग्नि का प्रमाण भी अधिक समय तक अपेक्षित होता है। अधिक द्रव्य का तीन दिन में पूर्णत पाक नहीं हो पाता है अतः उसके लिये समय भी अपेक्षित है। यह पारद की रक्तभस्म का एक प्रकार है॥ ३९७॥

रसराजलक्ष्म्यां तु—

कूपी सप्तमृदंशुकैः परिवृता शुष्काऽत्र गन्धेश्वरौ
तुल्यौ तौ नवसारपादकलितौ सम्मर्द्य तस्यां न्यसेत्।
तां यन्त्रे सिकताख्यके तलबिले पक्त्वाऽर्कयामं हिमां
भित्त्वा कुङ्कुमपिञ्जरं रसवरं भस्माददीतोत्तमम्॥ ३९८॥

कूपीत्यादि। कूपी—काचघटिता, किम्भूता सप्तमृदंशुकैः—सप्तमृत्कर्पटकैः परिवृता शुष्का च परिज्ञाय, अत्र स्वल्पके गन्धेश्वरौ—गन्धकपारदौ किम्भूतौ तुल्यौ—समानभागौ पुनश्च किम्भूतौ नवसारपादकलितौ—नवसारस्य पारदगन्धकाभ्यां चतुर्थांशभाग एतान् सर्वान् समर्द्य तस्या काचघटितायाम्, एतत्सम्मर्दितद्रव्य न्यसेत्। ता सप्तमृत्कर्पटकैर्वेष्टितां द्रव्यपरिपूर्णां काचकूपीं सिकताख्ययन्त्रे तलबिले—यन्त्रस्य यस्तलभागस्तस्मिन् यद्बिलम्—अङ्गुष्ठप्रमाणं छिद्र तस्मिन् छिद्रोपरि स्थापयेदिति शेषः। ततोऽर्कयाम—द्वादशप्रहर यावत् वह्नौ पक्त्वा हिमां—शीतला कूपीं ज्ञात्वा भित्त्वा च कुङ्कुमपिञ्जर—केशरवद्वर्णं रसवरं भस्मोत्तमम्, आददीत॥ ३९८॥

दूसरा प्रकार—सात कपडमिट्टी की हुई आतसी शीशी में समानभाग पारा और गन्धक इनका चतुर्थांश भाग नौसादर मिलाकर की हुई कज्जली भर दे और उस शीशी को बालुका-यन्त्र में रखकर १२ प्रहर तक मन्द, मध्य और तीक्ष्ण क्रम से अग्नि देकर पाक करे। स्वाङ्ग-शीतल होने पर शीशी को फोटकर केशर के समान वर्ण का उत्तम रससिन्दूर ग्रहण करे॥३९८॥

अन्यच्च—

पाके रुद्धं मुखं कूप्या नवसारेण जायते।
ततः शलाकया कुर्यात्कूपिकानाशशान्तये॥ ३९९॥
अनेन विधिना पाका यावन्तोऽस्य भवन्ति हि।
तावन्तो हि गुणोत्कर्षा जायन्ते रसभस्मनः॥ ४००॥

पाक इत्यादि। पाके—परिपाकावस्थाया कूप्याः—काचघटिकायाः, नवसारेण—चुल्लीलवणेन मुख रुद्ध जायते। अत. शलाकया अग्नितप्तया कूपिकानाशशान्तये—नवसारेणावरुद्धकूपीमुखनिरसन कुर्यात्। अस्य अनेन—पूर्वोक्तेन विधिना यावन्त. पाका भवन्ति तावन्त एव गुणोत्कर्षा जायन्ते। विशेष.—रससिन्दूरस्य प्रकारा रसतरङ्गिण्यामनेकश. सन्ति ते तत्रैव द्रष्टव्या। रससंकेतकलिकायामपि यथा—'पारद तत्तृतीयांशं गन्ध दत्वा तु मर्दयेत्। दशांशनवसारेण युत चोन्मत्तवारिणा॥ खल्वे संमर्द्य तत्सर्वं काचकूप्या

निवेशयेत् ॥ गुरूक्तसंप्रदायेन वालुकायन्त्रमध्यगम् । पचेत्पोडशयामाश्च मन्दमध्यहठाग्निना । पक्वः सुशीतलो ग्राह्यो हरगौरीरसो भवेत् ॥' इति ॥ रससिन्दूरस्य मात्राप्रमाणं रसतरङ्गिण्यां यथा—'एकहायनदेशीयं वालकं वीक्ष्य रोगिणम् । गुञ्जाया षोडशो भागस्तत्र मात्रा प्रकल्प्यते ॥ तथा द्विवर्षदेशीये सप्तमो भाग इष्यते । रसहायनदेशीये तृतीयं भागमाहरेत् ॥ द्वादशाब्दकदेशीये गुञ्जार्धं परिकल्पयेत् । गुञ्जामात्रमिता चास्य पूर्णमात्रा प्रशस्यते ॥' इति । गन्धकजीर्णपारदस्य परीक्षा रसतरङ्गिण्यां यथा—'वालुकायन्त्रके काचकूपीमुखात्, रोचनासन्निभो नैति धूमो यदा । सूतपाकक्रियाज्ञानदक्षैर्बुधैर्वेदितव्यस्तदा जीर्णगन्धो रसः ॥ ३९९–४०० ॥

ऊपर की विधि में नवसादर युक्त कज्जली से रससिन्दूर बनाने को कहा है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि नवसादर के धूम से यदि कथंचित् शीशी का मुख बन्द हो जावे और उसमें नवसादर क्षार सचित होकर गन्धक का धूम शीशी के मुख से बाहर न निकलता हो तो एक लोह शलाका गर्म करके शीशी के मुख को साफ कर देना चाहिए। इस प्रकार जितने भी इसके पाक किये जावेंगे उतना ही वह उत्तम, गुणी और सुन्दर रससिन्दूर तैयार होगा ॥

अन्यच्च—

भागो रसस्य त्रय एव भागा गन्धस्य माषः पवनाशनस्य ।
संमर्द्य गाढं सकलं सुभाण्डे तां कज्जलीं काचकृते निदध्यात् ॥ ४०१ ॥
संवेष्ट्य मृत्कर्पटकैर्घटीं तां मुखे सचूर्णां गुटिकां च दत्त्वा ।
क्रमाग्निना त्रीणि दिनानि पक्त्वा तां वालुकायन्त्रगतां ततः स्यात् ॥ ४०२ ॥
बन्धूकपुष्पारुणमीशजस्य भस्म प्रयोज्यं सकलामयेषु ।
निजानुपानैर्मरणं जरां च निहन्ति वल्लक्रमसेवनेन ॥ ४०३ ॥

गन्धस्य भागो नवसादरस्य इति मुख्यः पाठः । भागशब्दस्तु कर्षत्रयवाची इति वृद्धाः । केचन पवनाशन-शब्देन सीसकं व्याचक्षते, तत्तु धातुवादे उपयुज्यते इति ज्ञेयम् । आरुण्योत्पत्त्यै कूपीमुखे मुद्रा कार्या इति केचिद्वदन्ति, अन्ये तु मुद्रामदत्त्वैव रसभस्म संपादयन्ति, यथासंप्रदायं व्यवस्था ॥

भाग इत्यादि । रसस्य भागः, भागशब्दस्तु कर्षत्रयवाची, इति वृद्धाः । एतेन पारदस्यापि कर्षत्रयं सिद्ध्यति, गन्धस्य त्रय एव भागाः कर्षत्रयमेव, एवं पारदगन्धकयोर्द्वयोः साम्यं भवति । रसमञ्जरीकारस्तु 'भागौ रसस्ये'ति पाठान्तरं कृत्वा द्वौ भागौ पारदस्य भागत्रयं च गन्धकस्य गृह्णाति । रसकामधेनावपि यथा—'अर्धपलं शुद्धरसं कर्षत्रितयं विशुद्धगन्धस्य ।' इति । पवनाशनस्य—नागस्य माषः—एकमाषपरिमितो भागो ग्रहीतव्यः । ग्रन्थकारमते 'पवनाशनस्ये'ति पाठोऽरमणीयः । स तु इत्याचष्टे—'गन्धस्य भागो नवसादरस्य' इति मुख्यः पाठः । केचन पवनाशनशब्देन सीसकं व्याचक्षते, तत्तु धातुवादे उपयुज्यत इति ज्ञेयम् । अत्र ग्रन्थकारः पवनाशनशब्दस्य रसायनकर्मणि ह्यरमणीय इति प्रतिपाद्य स्वतन्त्रविरोधं निरस्यति । यथोक्तमत्रैव माधवेन प्राक् 'एतत्तु नागसम्बन्धान्न रसायनकर्मणि ।' इति । तथैव कालनाथशिष्यो ढुण्ढुनाथोऽपि स्वकीयरसेन्द्रचिन्तामणौ माधवमतं समर्थयन् प्रणिगदति यथा—'एतत्तु नागसन्धानं न रसायनकर्मणि ।' इति । क्वचित् पुस्तके 'भागं पवनाशनस्य' इति पाठान्तर-

मुपलभ्यते। अत एव वृद्धाः भागशब्दः कर्षवाची, अर्धपलं शुद्धरस कर्षत्रितयं विशुद्धगन्धस्य, सीसकमात्रमिति वचनात्। पारद-गन्धकं समभागम्, अर्धं वा गन्धक चतुर्थांशं वा दत्त्वा कज्जलीं कुर्वन्ति। मेघनादपादास्तु गन्धक एकभाग., रसोऽप्येकभागः, पादभागस्तु हरिताल, तथैव मन.शिला, एतेषां कज्जलीं कूपिकायां प्रयच्छन्ति। तन्मध्ये नौसादर तोलके माषमात्र प्रयच्छन्ति, अन्यत्पूर्ववत्। सकल पारदादिक गाढ संमर्द्य तां कज्जलीं काचकृते सुभाण्डे निदध्यात्। ता घटीं—काचकूपिका मृत्कर्पटकैः सप्तमृद्वस्त्रैः, यथा—तुषमेकभाग श्वेतमृत्तिकामेकभागा, वस्त्रखण्डमेकभागं कुट्टयित्वा लेपः कार्य.। वस्त्रखण्डानि तु सम्प्रदायात्सप्तैव। सवेष्टय—सम्यग्वेष्टन कृत्वा कूपिकायास्तस्या मुखे सचूर्णां गुटिका दत्त्वा सचूर्णामिति यदा गन्धक्षयो भवति तदा कूपिकामुखे गन्धकस्य रज सञ्चीयते तच्छलाकया निष्काश्य वर्पणे आरुण्योत्पत्तौ मुद्रा कार्येति वदन्ति। किन्तु सम्प्रदायात्कूपिकामुखं चक्रिकया पिधाय रसभस्मकरणविधानं निश्चितमनुभवेन। तामत्र कज्जलीसम्भृता काचघटीं वालुकायन्त्रगता वालुकायन्त्रस्यापि मृत्कर्पटादि, मध्ये छिद्र च कार्यम्। वालुका पञ्चाङ्गुलप्रमाणा देया। ततः क्रमाग्निना—मन्दमध्यतीक्ष्णाग्निना त्रीणि दिनानि यावत् पक्त्वा स्वाङ्गशीतभव च ज्ञात्वा तद्यन्त्रात् कूपिकां बहिर्निष्कास्य स्फोटनविधिना विस्फोटय च, ईशजस्य—पारदस्य बन्धूकपुष्पारुणजपाकुसुमसदृशवर्णम् अर्थात् भास्करारुणवर्णत्व भस्मनि स्यात्। सकलामयेषु प्रयोज्यं किमस्ति वैशिष्ट्यमित्यत आह—निजानुपानैः अग्रे वक्ष्यमाणरससिन्दूरानुपानैर्वल्लक्रमसेवनेन द्वित्रिगुञ्जसेवनेन वा 'त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते' मरण वार्धक्यं च निहन्ति॥ ४०१-४०३॥

रसभस्म का अन्य प्रकार—शुद्ध पारा ३ तोला, शुद्ध गन्धक ३ तोला और सीसा (किन्तु यहां पर नौसादर लेना शास्त्रसम्मत है सीसा नहीं, सीसा केवल धातुवादार्थ ही प्रयुक्त माना गया है रसायन कर्म में उसका प्रयोग नहीं होता है। 'आयुर्वेदप्रकाश' कारने इस बात का पहले स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'एतत्तु नागसम्बन्धात्र रसायनकर्मणि' इस सिद्धान्त को अन्य ग्रन्थकारों ने भी माना है।) एक मासा लेकर तीनों की कज्जली बनाकर आतसी शीशी में भर कर—यह ध्यान रहे कि शीशी पर अच्छा सुदृढ कपडमिट्टी पहले कर के और सुखा कर ही कज्जली भरनी चाहिए—कज्जली युक्त शीशी को बालुका यन्त्र में रख कर तीन दिन तक मन्द, मध्य और तीक्ष्ण अग्नि क्रमश देनी चाहिए जब गन्धक क्षीण हो जावे और नौसादर आदि से कूपी का मुख बन्द होने लगे तब लोहे का गर्म शलाका से शीशी के मुख को साफ कर के किसी गोल टीकरी से जो शीशी के मुख के आकार का हो, रससिन्दूर में ललाई उत्पन्न करने के लिए शीशी का मुख बन्द कर देना चाहिए। ऐसा करने से पारे की यह भस्म गुडहल के फूल के समान लाल हो जावेगी। इसका यथानुपान से सम्पूर्ण रोगों में प्रयोग किया जाता है। तीन रत्ती की मात्रा से इसका सेवन करने पर मृत्यु और बुढापा को हरता है। कुछ वैद्य विना मुद्रा किये ही रससिन्दूर बनाते हैं। यह अपने-अपने सम्प्रदाय की बात है॥ ४०१-४०३॥

अथानुपानानि—

वाते सक्षौद्रपिप्पल्यपि च कफरुजि त्र्यूषणं साग्निचूर्णम्
पित्ते सैलं सितेन्दु व्रणवति तु वरागुग्गुलुश्चारुशुद्धः॥
चातुर्जातेन पुष्टौ हरनयनफला शाल्मलीपुष्पवृन्तं
किंवा कान्तालालाटाभरणमनु रसे पानमेतद्वदन्ति॥ ४०४॥

वात इत्यादि । वाते-प्रकुपितवातजनितव्याधौ मरीचपिप्पल्यौ-शुण्ठीन-मधुना सहिता या पिप्पली तस्या रससिन्दूरे अनुपानं वदन्तीति । अपि च कफजनि-कफरोगे त्र्यूषण-शुण्ठीमरिचपिप्पलीकम्, साग्निचूर्णं-चित्रकमूलचूर्णसहितम् । पित्ते-पित्तजनितव्याधौ सैलम्-एलया सहितं, सितेन्दु-सिता-शीतवार्तेश, इन्दु-कर्पूरम् । पुनः, प्रमेहगि-प्रमेहरोगे वरा-त्रिफला, गुग्गुलुश्चारशुद्ध-सम्यक्शोधितगुग्गुलुः, केन चातुर्जातेन-त्वगेलानागकेशरपत्रजकषायेण, अथवा त्रिफलाकषायेण शोधितो गुग्गुलुः । पुष्टौ-शरीरपुष्टौ कार्श्यहरणे वा हरतगनफला-त्रिफला, शाल्मलीपुष्पचूर्णेन वा रससिन्दूरस्यानुपानमिति एवं कृते सति कान्तालटाभरण-कान्तायाः स्त्रियाः ललाट-मस्तकं तस्याः आभरणमलङ्कारं सिन्दूरमित्यर्थः । रसे-रससिन्दूरे अनु-पश्चात् पानं पातुं योग्यम्, एतत् पूर्वोक्तं मरीचादिपिप्पल्यादिकं वदन्ति । रसायनकर्मणि कुशला इत्यर्थः ॥ २०४ ॥

अनुपान—वात रोग में शहद पिप्पली से, कफ में त्रिकटु, सोंठ, मरिच और चित्रक से और पित्त में इलायची, मिश्री और कपूर के साथ, प्रमेह में त्रिफला के काढ़े से शुद्ध अथवा त्रिफला एवं चातुर्जात (इलायची, नागकेशर, तज और तेजपात) से शुद्ध गुग्गुलु के साथ तथा पुष्टि में त्रिफला और सेमल पुष्प के साथ रससिन्दूर का सेवन यथोक्त फलों को देता है ।

वक्तव्य—विभिन्न द्रव्यों के अनुपान से रससिन्दूर विशेषतया और अधिक उपयोगी होता है यह प्रतिपादित किया है किन्तु यहाँ यह शंका होती है कि जिन द्रव्यों के साथ किसी वस्तु का उपयोग होता है उन वस्तुओं को वे द्रव्य अनुपान नाम से सम्बोधित नहीं किये जा सकते हैं ? अनुपानम्—अनु पश्चात् पानम् इति अनुपानम् अर्थात् किसी द्रव्य के सेवन के पश्चात् जिसका सेवन किया जावे, इस भावना से कि पूर्वसेवित द्रव्य अनुपान से विक्लेदित होकर उसके प्रत्येक अवयव ढीले हो जायें, प्रत्येक अवयव का विकास होकर वह शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो सके, लेकिन द्रव्य का जब तक शरीर धारक पदार्थों से मेल नहीं होता है तब तक वह उचित क्रिया करने में असमर्थ होता है । अनुपान के फल और उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए अष्टाङ्गहृदयकार लिखता है कि—'अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्तिं व्याप्तिं दृढाङ्गताम् । अन्नसङ्घातशैथिल्यविक्लित्तिजरणानि च ॥' अनुपान का यह स्वरूप भक्ष्य-भोज्यादि के लिए प्रयुक्त हुआ है फिर भी इसका व्यापक सन्निवेश सर्वत्र एक सा समान है जो दृष्टिकोण अनुपान का यहाँ है वही सर्वत्र एक समान है । ऊपर जो रससिन्दूर के साथ अनुपानों का उल्लेख हुआ है वह प्रक्षेपसेवन, सहलेहन, सहसेव्य, सहपान आदि संज्ञा के ही अधिकारी हैं इनको अनुपान संज्ञा शास्त्रीय और शाब्दिक सिद्धान्त के अनुसार नहीं प्राप्त होती है । सहपान और अनुपान का स्पष्टीकरण करते हुए रसतरङ्गिणीकार लिखता है कि—'यद्योगेन रसादीनां विभक्ताः परमाणवः । द्रुतमङ्गेषु सर्पन्ति सहपानं तदुच्यते ॥ तत्तद्रोगघ्नभैषज्यं भेषजस्यानुपीयते । यच्च साहाय्यकारि स्यादनुपानं तदुच्यते ॥ सहपानानुपानाभ्यां भेषजं परिबृंहयेत् । येन रोगहरा शक्तिर्भवेद् गुणवती सदा ॥ अलाभेऽप्यर्थमेवात्र सहपानानुपानयोः । मधुना वा जलेनैव भैषज्यं वितरेद्भिषक् ॥'

ज्ञात ऐसा होता है कि अनुपान शब्द यह रूढि मानकर लिया गया है अतः विसङ्गत नहीं है क्योंकि यहाँ शब्दार्थ और परिभाषा की सीमा से अलग होकर केवल ध्येय और मन्तव्य को महत्त्व दिया है । शब्दार्थ जो कुछ हो प्रचलित व्यवहार सर्वत्र श्लोकोक्त भाव का ही समर्थक है ।

अनुपान का सर्वसामान्य सिद्धान्त होता है कि-स्नेह पर रूक्ष, रूक्षपर स्निग्ध, शीतपर उष्ण, उष्णपर शीत, मधुर पर अम्ल और अम्ल पर मधुर इसके अतिरिक्त कुछ द्रव्य विशेष कार्य

कारा और प्रभावी होते हैं ऐसे द्रव्यों के संयोग से रासायनिक द्रव्यों के प्रभाव और गुणगरिमा की कार्यभूमि निर्मित होती है और उसी के अनुकूल शीघ्र गुणकारी बन जाते हैं। पार्थिव द्रव्यों के अपरिमित गुणप्रभावों और गुणों को कार्यकारी दिशा देने के लिये उद्भिज्ज और प्राणिज द्रव्य ही प्रधान हैं। अत ऊपर कहा हुआ अनुपान का सिद्धान्त उचित और व्यावहारिक है ॥ ४०४ ॥

अथ गुणा.—

> अपहरति रोगवृन्दं द्रढयति कायं महद्बलं कुरुते ।
> शुक्रशतानि च सूते सिन्दूराख्यो रसः पुसाम् ॥ ४०५ ॥
> स्मरस्यायुर्नानागदगहनदावानलशिखा
> पर वह्नेस्तेजो बलरुचिरतावल्लिमुदिर' ।
> अपि प्रौढस्त्रीणामतुलबलहारी निधुवने
> रस. सिन्दूराख्यः सकलरसराजो विजयते ॥ ४०६ ॥

अपहरतीत्यादि । सिन्दूराख्य. सिन्दूरनामाय रस' पुसा शरीरे प्राप्ते सति रोगवृन्दं-रोगसमूहमपहरति । काय द्रढयति-दार्ढ्यं प्रापयति । महद्बलं-बृहत्पराक्रमं कुरुते, शुक्रशतानि च शुक्रं-वीर्यम् अग्नि वा शतानि-शतगुणितान्यधिकानि पूर्वापेक्षया सूते-जनयति असौ सकलरसराजः-समस्तेष्वपि रसेषु राजत्वेन विद्यमानः सिन्दूराख्यो रसो विजयते लोके इति शेषः । कोऽत्र हेतुरित्यत आह-रससिन्दूरोऽयं स्मरस्य-कामस्य, आयुषो जीवितस्य च जनयिता, तथा किंभूतो नानागदगहनदावानलशिखा-अनेकविधा ये गदा -रोगास्तेषा यद् गहन वन तस्य यो दावानलो वनाग्निस्तस्य शिखा । अर्थात् नानारोगवनविनाशनेऽग्निशिखातुल्य इत्यर्थ. । वह्ने -जठराग्ने पर तेज प्रदीपयिता । बलरुचिरतावल्लीमुदिर -बलस्य-पराक्रमस्य, रुचिरताया शरीरशोभाया या वल्ली लता तस्या मुदिरो मेघस्वरूपो यथा वनलताया मेघ पोषयिता इत्यर्थ । अपीति निश्चयेन निधुवने-रत्युत्सवे प्रौढस्त्रीणा प्रकर्षेण या ऊढा प्रौढास्ता. स्त्रियस्तासाम् अतुलबलहारी-अपरिमितबलस्यापहारको भवतीत्यर्थ ॥ ४०५-४०६ ॥

अनुपान भेद से रससिन्दूर का सेवन रोगों को नष्ट करता है, शरीर को दृढ और बलिष्ठ बनाता है, तथा सौगुने वीर्य की वृद्धि करता है, कामशक्ति और आयुष्य को प्रदान करता है। अनेक प्रकार के रोगरूपी जगल को नष्ट करने के लिए वन की अग्नि के समान है। तथा जठराग्नि के उत्तम तेज को बढाता है, बल और शोभारूपी लता के लिए मेघ के समान पोषक है और जवान स्त्रियों के रतिक्रीडा में अति बल को हरण करने वाला है ॥ ४०५-४०६ ॥

रससेवनेऽपथ्यमाह—

> कूष्माण्डं कर्कटी कोलं कलिङ्गं करमर्दकम् ।
> करीरं चेति षट् कादीन् वर्जयेद्रससेवक. ॥ ४०७ ॥
> यस्य रोगस्य यो योगस्तेनैव सह योजितः ।
> रसेन्द्रो हरते व्याधीन् नरकुञ्जरवाजिनाम् ॥ ४०८ ॥

कूष्माण्डमित्यादि । रससेवकः कादीन्-ककारादीन्, षट्-पदार्थान् अग्रेवक्ष्यमाणान् वर्जयेदिति तान् विशदयति-कूष्माण्ड, कर्कटी, कोल-बदरीफल, कलिङ्गं, करमर्दकम्-

अम्लफल, करीरम्, इत्येतान् त्यजेद्रसभक्षक । विशेषश्चात्र रसरत्नसमुच्चये यथा–'कण्टारीफलकाञ्जिक च कमठस्तैल तथा राजिका, निम्बूक कतक कलिङ्गकफलं कूष्माण्डक कर्कटी। केकी कुक्कुटकारवेल्लकफलं कर्कोटिकायाः फलम् , वृन्ताकं च कपित्थकं खलु गुणः प्रोक्तः ककारादिकः ॥' इति । अन्यदपि—'कङ्गु· कन्दुककोलकुक्कुटकलकोडा· कुलत्थास्तथा, कण्टारी कटुतैलकूष्णगलकः कूर्म कलाय· कणा । कर्कारु च कठिल्लक च कतकं कर्कोटक कर्कटी, काली काञ्जिकमेप कादिकगण श्रीकृष्णदेवोदित ॥' इत्यादि' । यस्य कस्यापि रोगस्य यो योगस्तेन प्रयोगेणैव सह योजिते रसेन्द्रे नरकुञ्जरवाजिनां–पुरुषहस्त्यश्वाना व्याधीन् हरते ॥ ४०७–४०८ ॥

रस सेवन करने वाले के लिए अपथ्य—कोहडा, ककडी, बेर, तरबूजा (मतीरा), करोंदा और कैर (टींट) आदि छे ककार को पारे का सेवन करने वाला कदापि न खावे । कहने का तात्पर्य यह है कि ककार जिसके आदि में है उन पदार्थों का सेवन रसभक्षी के लिए सर्वथा वर्जित है । ऊपर सस्कृत टीका में दो ककारादि गण दिये हैं उनमें कहे हुए द्रव्यों को नहीं खाना चाहिए । पारद यह महान् और सर्वोपयोगी द्रव्य हे यही कारण है कि जिस रोग में जो योग कहा है उसी के साथ पारद का मिश्रण महान् कार्यकारी और सफलता की सिद्धि देने वाला होता है । पारद न केवल मनुष्य के लिए व्याधिनाशक हे अपि तु हाथी और घोडे आदि प्राणिमात्र के लिए ही परमोपयोगी है । प्राणिमात्र के समस्त रोगों में एक समान कार्य करता है । यह योगवाही होने से जिस किसी योग से इसका प्रयोग किया जाना है यह वही कार्य करता है जो कार्य वह योग करता है ॥ ४०७–४०८ ॥

अथ रसकर्पूरः—

गैरिकतुवरीखटिकासैन्धवगडजं रज· कुडवम् ।
प्रत्येकं दृढहण्ड्यामाधायास्योपरि रसः स्थाप्यः ॥ ४०९ ॥
कुडवमितोऽथ तदूर्ध्वं देया हण्डी तदास्यायतमुखी ।
अथ तत्सन्धेर्मुद्रां कृत्वा तदधो हुताशनो ज्वाल्यः ॥ ४१० ॥
अर्मणषट्कप्रमितैर्दारुभिरनु नातिदुर्बलस्थूलैः ।
अग्नि क्रमेण दद्याद् गुरुदर्शितवर्त्मना द्विनिशाम् ॥ ४११ ॥
तदनु ततो यन्त्रवराद् युक्त्या कर्पूरसंनिभं सूतम् ।
आदाय काचकुम्भे निधाय नवसादरं दद्यात् ॥ ४१२ ॥
संमर्द्य चाथ काष्ठैरर्धार्मणसंमितैः पचेद् घस्रम् ।
चुल्लीडमरुकमध्यं वितस्तिचतुरङ्गुलावकाशं तु ॥ ४१३ ॥
कर्तव्यं क्रमदहनं तदधः प्रज्वालयेन्मध्यम् ।
शशिधवलमुपरिलग्नं युक्त्या संगृह्य रक्षयेद्यत्नात् ॥ ४१४ ॥
वल्लं वल्लार्धं वा गुडेन जीर्णेन रोगिणे दद्यात् ।
दुग्धौदनं तु पथ्यं देयं तस्मै च ताम्बूलम् ॥ ४१५ ॥
हरति समस्तं रोगं कर्पूराख्यो रसो नृणाम् ॥ ४१६ ॥
फिरङ्गकरिकेसरी सकलकुष्ठकालानलोऽ-
खिलव्रणविनाशकृद् व्रणजगर्तपूर्तिप्रदः ।

सुवर्णसमवर्णकृद्बलहुताशतेजस्करः
समस्तगदतस्करो रसपतिः सकर्पूरकः ॥ ४१७ ॥

गैरिकेत्यादि । गैरिक-स्वर्णगैरिक, तुवरी प्रसिद्धा, खटिका-मृद्विशेष', सैन्धवम्-लवणम् , गुडं-शाकम्भरिलवणम् । एतेषां रज', प्रत्येक-प्रत्येकवस्तुन कुडवपरिमित 'चतु'-पलैश्च कुडवम्' इति मानपरिभाषात । गृहीत्वा दृढहण्ड्या-मृन्मयहण्डिकायामाधाय, अस्योपरि कुडवमित'-षोडशतोलकपरिमितो रसः स्थाप्य. । अथ तदूर्ध्वं-तस्या अध स्थितहण्डिकाया उपरि अपरा हण्डी देया । किंभूता तदास्यायतमुखी-अध स्थितहण्डिकाया मुखमुपरितनहण्डिकाया मुखान्तर्भूत स्यात् । तत्सन्धे-हण्डिकाद्वयस्य सन्धेर्मुद्रा कृत्वा तदधो हुताशनः-अग्नि , ज्वाल्य. फर्मणषट्कप्रमितै -षण्णवत्तरनवतिप्रस्थमितै , दारुभि.-काष्ठै किंभूतै.-नातिदुर्बलस्थूलै'-नातितनुभिर्नातिपीनैश्च, अनु-पश्चात् 'पश्चात्सादृश्ययोरनु' इत्यमरः । गुरुशिक्षितमार्गेण द्विनिश-दिनद्वय यावत् । क्रमेण मन्दमध्यतीव्राग्निविधिना अग्नि दद्यात् । तदनु यन्त्रवरात्-डमरुयन्त्रादित्यर्थ । युक्त्या सावधानतया घर्षणेन निष्कास्य कर्पूरसन्निभ-सूतमादाय तत काचकुम्भे निधाय नवसादरं पारदमानाच्चतुर्थांशं दद्यात् । समधं च अर्धार्मणसमितै -अष्टप्रस्थपरिमितैः काष्ठै.-डमरुकमध्य वितस्ति चतुरङ्गुलोर्ध्वं वितस्तिपरिमितावकाशसहित डमरुयन्त्र कर्तव्यम् । तद्यन्त्र चुल्ल्यामारोप्य घस्र-दिन यावत् पचेत् । तदध' क्रमदहनं-क्रमाग्नि प्रज्वालयेत् । पश्चात्स्वाङ्गशीतभवं ज्ञात्वा, उपरिलग्न शशिधवलं चन्द्रवत् धवल रस युक्त्या संगृह्य यत्नात् रक्षयेत् । वल्लं वल्लार्धं वा जीर्णेन-पुराणेन गुडेन संवेष्ट्य रोगिणे एव दद्यात यत् दन्त-तालु-जिह्वादीन् अस्पृशन् भक्षयेद्रोगी । पुनस्तस्मै-रोगिणे पथ्यम्-आहार्यं दुग्धौदन ताम्बूलं च देयम् । असौ कर्पूराख्यो रसो नृणां समस्त रोग हरति । रसपति. सकर्पूरक'-रसकर्पूर इति नाम्ना कथित. । कथम्भूतः फिरङ्गकरिकेसरी-फिरङ्गाख्यो यो रोग' स एव करी-हस्ती तन्नाशाय केसरी-सिंहस्वरूपस्तत्तुल्यफलप्रद. । यथा-'मत्तमातङ्गयूथानां शत हन्ति च केसरी' तथैव । पुनश्च सकलकुष्ठकालानल -अष्टादशकुष्ठरोगाणां कालाग्निः । अखिलव्रणविनाशकृत-समस्तव्रणरोगनिहन्ता । व्रणजगर्तपूर्तिप्रद -व्रणजनितविवरस्य सम्यक् पूरक', अत्राखिलव्रणविनाशकृदित्यनेनैव सर्वव्रणोपचारस्य बोधो भवति । तद्विकारशमनोपायस्य पुनः कथन सातिशय द्योतयति व्रणरोगे रसकर्पूरस्येति भाव.-पुन. किंभूत' सुवर्णसमवर्णकृन्-तत्सेवनेन स्वर्णतुल्यदेहकान्तिर्भवति । बलहुताशतेजस्कर'-बल वर्धको जठराग्निजनक' शरीरे तेजस्करश्च भवतीति शेष. । समस्तगदतस्करः-सकलरोगापहारकः ॥ ४०९-४१७ ॥

रसकर्पूर निर्माण विधि—एक मजबूत मिट्टी की हाण्डी में गेरू, फिटकरी, खड़िया मिट्टी, सेन्धा नमक और साम्भर नमक इन प्रत्येक का चूर्ण १६-१६ तोला रखकर ऊपर से शुद्ध पारा १६ तोला रखना चाहिए और उसके ऊपर बड़े मुख की दूसरी एक हाण्डी रखे। द्रव्य युक्त हाण्डी का मुख ऊपर की हाण्डी के मुख में देकर दोनों के मुखों को भलीभांति मिला दे और मुख में मजबूत मुद्रा कर दे। मुद्रा मजबूत और सावधानी से करनी चाहिए कि कहीं कोई छिद्र या अवकाश न रहे अन्यथा सब द्रव्य उड़ जावेगा। मुख में मुद्रा देकर उसको धूप में सुखाना, सूखने पर कहीं छिद्र या रेखाएँ हो जावें तो उनको भरकर एक कपरोटी और करना और सुखा कर चुल्ही पर चढ़ाकर उसके नीचे ९६ सेर लकड़ियों की जो बहुत मोटी न हों और न सर्वथा पतली और हल्की ही हों, ठोस लकड़ी बब्बूल की हों तो अति उत्तम, गुरु प्रदर्शित मार्ग से

(मन्द, मध्य और तीक्ष्ण क्रम से) दो दिन तक अविरत अग्नि देवे। स्वाङ्ग-शीतल होने पर कपूर के समान ऊपर की हाण्डी में लगे पारे को खुर्च कर निकाल ले और काच की शीशी में भर कर पारे से चौथाई भाग नौसादर मिलाकर भली प्रकार घोट करएक जीव कर ले तत्पश्चात् उस द्रव्य को डमरूयन्त्र में रखकर आधा अर्मण करीबन ८० सेर लकड़ियों से एक दिन तक अग्नि देकर पाक करे, किन्तु यह ध्यान रहे कि चूल्हे के नीचे की जमीन का और डमरूयन्त्र का १६ अङ्गुल का अवकाश रहना बहुत जरूरी है। ऐसी दशा में इस डमरूयन्त्र के नीचे मन्द और मध्य क्रम से अग्नि देना चाहिए। स्वाङ्गशीतल होने पर कपूर के समान श्वेत वर्ण का पारा युक्तिपूर्वक यन्त्र से निकाल कर रखे। रोगी को तीन रत्ती अथवा डेढ रत्ती की मात्रा से पुराने गुड मे भली पकार बन्द करके दाँत, मुख, तालु और जिह्वा आदि से रसकपूर का स्पर्श न हो यह सावधानी रखे। मुख में स्पर्श न हो, इसी वात को वचाने के लिए ही गुड में बन्द करके निगलने को कहा है। गुड की गोली कण्ठ में अटक जावे तो ऊपर से दूध पीकर निगल जाना चाहिए। तत्पश्चात् मुखशुद्धि के लिए नागर पान खाना चाहिए। पथ्य में दूध, चावल और नागर पान खाने को देना चाहिए। यह रसकपूर मनुष्यों के सम्पूर्ण रोगो को दूर करता है। फिरग (गर्मी) रूपी हाथी के लिए सिंह के तुल्य, समस्त कुष्ठरोग का कालाग्नि, समस्त व्रणों को नष्ट करने और उसके घावों को भर देने में उत्तम होता है। तथा सुवर्ण के समान शरीर को कान्तिमान, निर्मल और सुदृढ वनाता है, बल और जठराग्नि के तेज को वढाता है तथा समस्त रोगों का काल होता है॥

वक्तव्य—'वल्ल वल्लार्धं वा' अर्थात् तीन रत्ती अथवा डेढ रत्ती की मात्रा में रसकपूर देने का विधान प्रतिपादित किया गया है। यह मात्रा रसकपूर की वहुत ही अधिक प्रतीत होती है। प्राचीन समय में भी यह मात्रा सभवत उपयुक्त नहीं होती थी क्योंकि पहले के लोग शुद्ध भोजन और मुक्त वातावरण के अभ्यासी होने से ऐसी उग्र दवा को सहन करने में सर्वथा असमर्थ हो सकते हैं उनके शरीर में ऐसे द्रव्यों को पचाने और सह जाने की आदत ही नहीं थी। हाँ, आज का मानव तो फिर भी साहस कर सकता है जिसका जन्मजात अभ्यास ही समस्त विकृतियों से भरा पुरा है। न शुद्ध खाद्य है, न घृत और दुग्ध का अनुभव है, न शुद्ध हवा और पानी का उपयोग करने को मिलता है और न एक घडी की शान्ति अथवा स्वच्छन्दता ही है। औषधों के रूप में भी आधुनिक **'एण्टी वायोटिक'** तथा **सल्फा ड्रग** की भरमार है जिसकी उग्रता रसकपूर से कही अधिक होती है। यह सब होने पर भी मात्रा अधिक है, यह आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार मानना पडता है। एक बात यह भी है कि ऊपर लिखी हुई मात्रा के कथन में भी अवश्य कुछ स्वारस्य होगा। वह यह है कि जिन रोगों में रसकपूर देने को कहा है वे रोग भी भयकर पाजी और विकृत होते हैं उनके जहर से छुडाने के लिए स्वल्पमात्रा का एकदम ही प्रयोग सिद्धिकर नही हो सकता है अत इसका पूर्ण अनुभव ही निर्णायक हो सकता है। रसतरगिणी कार ने रसकपूर के मात्रासह प्रयोग दिये हैं जैसे कि—**'आरभ्य रक्तिकायास्तु चतु षष्ट्यंशतो भिषक्। द्वात्रिंशद्भागपर्यन्तं मात्रामस्य प्रयोजयेत्॥ चूलिकालवण शुद्ध गुञ्जापञ्चकसमितम्। सम च रसकर्पूरं षष्टिलोलकसंमिते॥ जले विनिक्षिपेत्प्राज्ञो मात्रामस्य प्रकल्पयेत्। बिन्दुत्रिंशकतश्चादौ षष्टिबिन्दुमिता पराम्॥'** इत्यादि॥ ४०९–४१७॥

अथ रसकर्पूरस्यापरो विधि'—

शुद्धसूतसमं कुर्यात्प्रत्येकं गैरिकं सुधीः।

इष्टिकां खटिकां तद्वत्स्फटिकां सिन्धुजन्म[1] च ॥ ४१८ ॥
वल्मीकं क्षारलवणं भाण्डरञ्जनमृत्तिकाम् ।
सर्वाण्येतानि संचूर्ण्य वाससा परिशोधयेत् ॥ ४१९ ॥
एभिश्चूर्णैर्युतं सूतं यावद्यामं विमर्दयेत् ।
तच्चूर्णसहितं सूत स्थालीमध्ये परिक्षिपेत् ॥ ४२० ॥
तस्याः स्थाल्या मुखे स्थालीमपरां धारयेत्समाम् ।
सवस्त्रकुट्टितमृदा मुद्रयेदुभयोर्मुखम् ॥ ४२१ ॥
सम्यग्विशोष्य मुद्रां तां स्थालीं चुल्ल्यां निरोधयेत् ।
अग्निं निरन्तरं दद्याद्यावद्दिनचतुष्टयम् ॥ ४२२ ॥
अङ्गारोपरि तद्यन्त्रं रक्षेद्यत्नादहर्निशम् ।
शनैरुद्घाटयेद्यन्त्रमूर्ध्वस्थालीगतं रसम् ॥ ४२३ ॥
कर्पूरवत्सुविमलं गृह्णीयाद् गुणवत्तरम् ।
तं देवकुसुमचन्दन-कस्तूरीकुङ्कुमैर्युक्तम् ॥ ४२४ ॥
खादन् हरति फिरङ्गं व्याधिं सोपद्रवं सपदि ।
विन्दति वह्नेर्दीप्तिं पुष्टिं वीर्यं बलं विपुलम् ।
रमयति रमणीशतकं रसकर्पूरस्य सेवकः सततम् ॥ ४२५ ॥

शुद्धसूतसममित्यादि। सुधीः। गैरिकम्, इष्टिका, खटिका, तद्वत् स्फटिका, सिन्धुजन्म-सैन्धवलवणं, वल्मीक-तदुद्भवा मृत्तिका, क्षारलवण, 'भाण्डरञ्जनमृत्तिका-कुलालागारे विद्यमाना कुम्भादिभाण्डरञ्जनोपयुक्ता च प्रत्येक गैरिकादिक द्रव्य शुद्धसूतसम कुर्यात्। एतानि सर्वाणि गैरिकादीनि सचूर्ण्य वाससा परिशोधयेत्। एभि पूर्वोक्तद्रव्य-चूर्णैर्युत सूत याम यावत् विमर्दयेत्। तच्चूर्णसहित सूत स्थालीमध्ये-स्थाली-काचमयी मृन्मयी वा तस्या परिक्षिपेत्। तस्या सचूर्णपारदयुक्ताया स्थाल्या-घटिकाया मुखे अपरा-तत्तुल्या स्थालीं संयोज्य धारयेत्। सवस्त्रकुट्टितमृदा-कर्पट-कार्पाससहित-मुसलप्रहारादिकुट्टितार्द्रमृत्तिकया, उभयोर्द्वयो स्थाल्योर्मुख मुद्रयेत्, सशोष्य भूयो मुद्रयेत मृत्कर्पटिका कारयेत्। भूयः सशोष्य मुद्रयेदेव सप्तधा मुद्रा कृत्वेति गुरुपरम्परा। मुद्रा सम्यक् विशोष्य ता-स्थालीं चुल्ल्या स्थापयेत्। दिनचतुष्टय यावत् निरन्तरमग्निं दद्यात् तद्यन्त्रं प्रयत्नतोऽहर्निश-रात्रिन्दिनमङ्गारोपरि रक्षेत्। पश्चात् स्वाङ्गशीतभव यन्त्र ज्ञात्वा शनैरुद्घाटयेत्। ऊर्ध्वस्थालीगतं रस कर्पूरवत्सुविमल गुणवत्तर-गुणेषु श्रेष्ठं गृह्णीयात्। त-रसकर्पूर, देवकुसुम-लवङ्गं, चन्दन-श्वेतचन्दनं, कस्तूरी-प्रसिद्धा, कुङ्कुम केशरमेभिर्युक्त खादन् सन् नर सपदि-शीघ्र सोपद्रव-ग्रन्थिवातादि-सहित फिरङ्गव्याधि हरति। तत्प्रभावात् वह्ने-जठराग्नेर्दीप्तिं प्रबलता विन्दति। पुष्टिम्-अङ्गपुष्टिं वीर्यं-शुक्र, बल-पराक्रम च विपुलमिति सर्वत्र योज्यम्। अस्य रसकर्पूरस्य सेवकः सतत रमणीशतक-प्रमदाशतं रमयति। एतेनास्य महद्बलकरत्वं सिध्यति। विशेषो 'भावप्रकाशे यथा-'फिरङ्गसञ्ज्ञक रोग रस. कर्पूरसञ्ज्ञक.। अवश्यं नाशयेदेतद्दृष्ट-

---

१ सिन्धुजन्म-सैन्धव, वल्मीक-तज्जा मृत, क्षारलवण-खारियालोण, भाण्डरञ्जनमृत्तिका कुलाल-गृहे 'कावीस' इति नाम। इति ग्रन्थकार।

पूर्वचिकित्सकाः ॥ लिख्यते रसकर्पूरप्राशने विधिरुत्तमः । अनेन विधिना खादेन्मुखे शोथं न विन्दति ॥ गोधूमचूर्णं सन्नीय विदध्यात्सूक्ष्मकूपिकाम् । तन्मध्ये निक्षिपेत्सूत चतुर्गुञ्जामित भिषक् ॥ ततस्तु पुटिकां कुर्याद्यथा न दृश्यते बहिः । सूक्ष्मचूर्णं लवङ्गस्य ता वटीमवधूलयेत् ॥ दन्तस्पर्शो यथा न स्यात्तथा तामम्भसा गिलेत् । ताम्बूलं भक्षयेत्पश्चाच्छाकाम्ललवणांस्त्यजेत् । श्रममातपमध्वान विशेषात्स्त्रीनिषेवणम् ॥' इति रसकर्पूरः ॥ ४१८–४२५ ॥

रसकपूर की दूसरी विधि—शुद्ध पारे के समान भाग गेरू, ईंट, खड़िया, मिट्टी, फिटकरी, सेन्धानमक, बांबी की मिट्टी, खारी नमक और घडे आदि बर्तनों को रगने की मिट्टी (कावीस) इन प्रत्येक के सूक्ष्म चूर्ण के साथ पारे को एक प्रहर तक मर्दन करके हांडी में भर दे, उस हांडी के मुख पर उसी के बराबर की दूसरी हाडी रखे अर्थात् एक समान मुखवाली दोनों हांडी होनी चाहिए ताकि दोनों के मुख मिलने पर कहीं से अवकाश न रहे, यदि हांडियों के मुख कुछ ऊंचे नीचे हों तो दोनों को घिसकर समान कर लेना चाहिए जिससे बराबर मिल सकें। इसके पश्चात् पुरानी कपास अथवा पुराने कपडे के टुकडे मिलाकर कुटी हुई मिट्टी से दोनों हाण्डियों के मुख में मुद्रा (कपरोटी) कर दे और सूखने पर फिर कपटमिट्टी करे और सुखावे, इस प्रकार सात कपरोटी देकर मजबूत मुद्रा कर दे ताकि कहीं से अवकाश और छिद्र पाकर द्रव्य उड न जावे। कपरोटी की हुई हाडी को चूल्ही पर रखे और चार दिन तक एक सरीखी अग्नि देवे। यह स्मरण रहे कि यन्त्र के नीचे की अग्नि शान्त न होने पावे। चार दिन के बाद स्वाङ्गशीतल होने पर धीरे से ऊपर की हाडी में कपूर के समान लगे हुए निर्मल पारे को खुर्च कर निकाल ले और शीशी में भर ले। आवश्यकता होने पर लौंग, सफेद चन्दन का चूरा, कस्तूरी और केशर के साथ इसका मात्रा से सेवन करे तो यह तत्काल कष्टसाध्य और अनेक उपद्रवों से युक्त फिरग (उपदश गर्मी) के रोग को ठीक करता है। इसका सेवन करनेवाला जठराग्नि की प्रवलता को, शरीर पुष्टि, वीर्य और अतिशय बल को प्राप्त होता है, इतना ही नहीं, किन्तु सौ रमणियों के साथ रमण करने पर भी शक्ति का ह्रास हुआ ऐसा अनुभव नहीं होता है। स्फूर्ति, उत्साह और बल का अनुभव होता है।

वक्तव्य—रसकपूर यह रसशास्त्र का बडा ही प्रभावी और शीघ्र गुणकारी द्रव्य है। यों तो यह समस्त रोगों पर अपने शीघ्र प्रभाव को बताता है किन्तु विशेषत फिरङ्ग (उपदश गर्मी, परमा) तज्जन्य अन्य विकृतिया और उपद्रवों पर तथा कुष्ठ रोग और चर्म रोगों में चमत्कारिक लाभ करता है। रसकपूर के लिए यह सावधानी रखनी पडती है कि वह दांतों को स्पर्श न कर सके। यही कारण है कि उसको गेहू के गीले आटे में अथवा गुड में भली प्रकार बन्द कर के इस प्रकार निगलने को बताया है कि बिना स्पर्श किये गले के नीचे चला जावे। आज कल केप्शूल में भी बन्द करके दिया जा सकता है। पहली रसकपूर की विधि में ग्रन्थकार ने मात्रा का प्रमाण तीन और डेढ रत्ती बताया है किन्तु 'भावप्रकाश'कार तो चार रत्ती की मात्रा का उपयोग बताता है। यह स्मरण रहे कि रोग और रोगी के बलानुसार मात्रा का प्रयोग होता है अत तीन रत्ती और चार रत्ती कोई बन्धनकारक नहीं है और न सर्वथा अनुपयुक्त ही है। भयकर विकृति में भयकर मात्रा ही उपयोगी हो सकती है। हीन मात्रा सद्य गुणावह नहीं होती है। हाँ, यदि रसकपूर की उग्रता को शान्त करना हो तो उसके अनेकों ऐसे विधान है जिससे उग्रता तो रहती नहीं किन्तु गुणों में विशेषता आती है। जैसे कि—

एक तोले रसकपूर को मलमल के कपडे में पोटली के समान बाधकर बडे और ताजे बैंगन (भटे) में गोल काट कर भर दें और वही भटे का कटा हुआ टुकडा पुन. उस छेद पर लगा दें

और सूत के धागे से बांध दें उसके पश्चात् पूरे भंटे को गेहूं के आटे का एक अंगुल मोटा लेप करके पुटपाक विधि से पाक करें, जब आटा लाल हो जावे निकाल कर स्वाङ्ग-शीतल होने पर भंटे से रसकपूर की पोटली निकाल कर दूसरे भंटे में पूर्ववत् पुटपाक करें, ऐसे सौवार करें। उसके बाद रसकपूर के समान भाग केशर, कस्तूरी, लौंग, जायफल, जायपत्री प्रत्येक लेकर बगले पान के रस में घोंट कर काली मिरच के बराबर गोली बना लें। दो दो गोली प्रातः मध्याह्न और सायं काल दें। यह 'सर्वसिद्धिरसायन' नाम की वटी है॥ ४१८-४२५॥

अथ सिन्दूररसः—

शुद्धसूतं तदर्धं तु शुद्धगन्धकमेव हि।
तयोः कज्जलिकां कुर्याद्दिनमेकं विमर्दयेत्॥ ४२६॥
मृत्कर्पटैर्विलिप्तायां कूप्यां कज्जलिकां क्षिपेत्।
वालुकायन्त्रगां यावत्पचेद्यामचतुष्टयम्॥ ४२७॥
गृह्णीयादूर्ध्वसंलग्नं सिन्दूरसदृशं रसम्।

शुद्धसूतमित्यादि। शुद्धसूतं भागैकं, तदर्धं सूतार्धभागं शुद्धगन्धकम्, एवं तयोः-पारदगन्धकयोः कज्जलिकां कुर्यात्। कज्जलिकाविधाने सापेक्षितकालं दर्शयति। दिनमेकं यावद् विमर्दयेत् ततो मृत्कर्पटैः-सप्तमृत्कर्पटकैः समुदायात्, लिप्तायां काचकूप्यां कज्जलिकां क्षिपेत्। पश्चात्तां कूपीं वालुकायन्त्रगां कृत्वा यामचतुष्टयं यावत्पचेत्। स्वाङ्गशीतभवं ज्ञात्वा, ऊर्ध्वसंलग्नं सिन्दूरसदृशं रसं गृह्णीयात्। इति सिन्दूररसः॥

रससिन्दूर विधि-शुद्ध पारा एक भाग, शुद्ध गन्धक आधा भाग दोनों को एक दिन तक खरल में डाल कर मर्दन कर कज्जली करे और कपरोटी की हुई आतसी शीशी में भर कर वालुका यन्त्र में रख कर चार प्रहर तक अग्नि से पाक करे। स्वाङ्गशीतल होने पर सिन्दूर के समान लगे हुए कूपी के कण्ठ से रससिन्दूर (पारद भस्म) को ग्रहण करे।

वक्तव्य—'पचेद्यामचतुष्टयम्' यह काल मर्यादा स्वल्प प्रमाण में लिए हुए द्रव्य की है यदि द्रव्य अधिक होगा तो समय भी अधिक ही लगेगा। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शास्त्र में जिस रसायन की सिद्धि में जो काल-मर्यादा दी है उस पर ही बँध कर कार्य नहीं करना चाहिए। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि शास्त्रोक्त काल-मर्यादा असंगत है किन्तु यह बात अवश्य है कि जिस ग्रन्थकार ने अपने अनुभव से जो कुछ लिखा है उसकी क्रिया करने की शैली, शीशी और अग्नि का भेद तथा वालुकायन्त्र का निर्माण, लकड़ियों और चूल्हे का अन्तर सब उसकी सिद्धि में कारणीभूत हैं अतः स्वयंकर्ता और दृष्टकर्मा ही उसका भलाभांति निर्माण करके लाभ ले सकता है॥ ४२६-४२७॥

अथ रसचिन्तामणी—

नागार्जुनीतिविख्याता दुग्धिका क्षितिमण्डले॥ ४२८॥
तया विमर्दयेत्सूतं दिनमेकं निरन्तरम्।
काकमाचीरसैः कार्यं मर्दनं दोषनाशनम्॥ ४२९॥
पारदो दशटङ्कः स्याद् दशटङ्कश्च गन्धकः।
नौसादरश्च पादः स्यात्त्रयमेकत्र मर्दयेत्॥ ४३०॥

काचस्य कूपके कृत्वा मुखं तस्य निरुध्य च ।
अष्टयामावधिर्यावत्तावत्सूतः प्रपच्यते ॥ ४३१ ॥
एवं निष्पद्यते साक्षात्तरुणादित्यसन्निभः ।
अरुणो भस्मसूताख्यः सर्वकार्यार्थसाधकः ॥ ४३२ ॥
प्रवालकोमलच्छायो नृणामत्यन्तवल्लभः ।
भक्षयेद्रक्तिकाः पञ्च मरिचेन समं रसम् ॥ ४३३ ॥
क्षुद्बोधकारकः प्रायः सद्यः कामाग्निदीपनः ।
ज्वरादिकानयं दोषान् संयोगान्नाशयत्यपि ॥ ४३४ ॥
येषु येषु प्रयुक्तो हि रसो रोगेषु सत्वरम् ।
तांश्च तान्नाशयेच्छ्रेष्ठः समर्थो रसपार्थिवः ॥ ४३५ ॥

नागार्जुनीत्यादि । दुग्धिका–लघुदुग्धिका नागार्जुनीति नाम्ना क्षितिमण्डले विख्याता । 'नागार्जुनी पयोवर्षा योगिनी लघुदुग्धिका' इति निघण्टुः । तया–लघुदुग्धिका–स्वरसेन सूतं दिनमेकं यावन्निरन्तरं विमर्दयेत् । काकमाचीरसैः पारदस्य मर्दनं कार्यम् । तस्माद्दोषनाशनं–कञ्चुक्यादिसप्तदोषरहितो भवति । एवं संशोधितः पारदो दशटङ्कः–सार्धद्वयकर्षमितः शोधितगन्धकश्चापि दशटङ्को ग्राह्यः स्यात् । नौसादरश्च पारदः–सूतभागाच्चतुर्थांशः स्यात् त्रयं–पारदगन्धकनौसादरं चैकत्र मर्दयेत् । ततः काचस्य कूपके तां पिष्टिं कृत्वा तस्य मुखं च निरुध्य चुल्ल्युपरि धृत्वाऽग्निं दद्यात् । अष्टयामावधिर्यावत् वह्निना पाको भवेत्तावत्सूतः प्रपच्यते । एवं कृते साक्षात्तरुणादित्यसन्निभः—रक्तवर्णकं भस्म निष्पद्यते । अथ सूताख्यो रससिन्दूरः सर्वकार्यार्थसाधकः प्रवालकोमलच्छायः कोमलविद्रुमसदृशरक्तवर्णः सूतभस्म नृणामत्यन्तवल्लभो भवति । पञ्चरक्तिका पञ्चगुञ्जापरिमितो मरिचेन–कृष्णमरिचेन समं भक्षयेत् । प्रायः क्षुद्बोधकारकस्तथा सद्यः कामाग्निदीपनः, ज्वरादिकान् दोषान् संयोगान्नाशयति । येषु येषु रोगेषु प्रयुक्तो रसो हीति निश्चयेन सत्वरं तांस्तान् विकारजातान् नानानुपानभेदैर्नाशयेदिति ॥ ४२८–४३५ ॥

रससिन्दूर की अन्य विधि.—जगत में नागार्जुनी यह दूधी के नाम से प्रसिद्ध है उसके रससे और मकोय के रस से पारे के दोष को दूर करने के लिए एक एक दिन अविरत मर्दन करना चाहिए । तत्पश्चात् ४० माशे पारा और ४० माशे शुद्ध गन्धक तथा दश माशे नवसादर इन तीनों को खरल में डालकर मर्दन करके कज्जली करे और कपरोटी की हुई आतसी शीशी में उस कज्जली को भरकर शीशी का मुख बन्द कर दे । तदनन्तर वालुका यन्त्र में शीशी को रख कर आठ प्रहर तक एक सरीखी अग्नि देकर उसका पाक करे । इस प्रकार करने से प्रातः काल के सूर्य के समान पारे की लाल भस्म हो जाती है यह मनुष्यों को अत्यन्त प्रिय एवं सर्व कार्य–सिद्धिप्रद होती है । इस प्रकार से सिद्ध हुए रससिन्दूर की मात्रा, अनुपान और उसके गुण निम्न हैं । रससिन्दूर पाँच रत्ती की मात्रा से काली मिरच के चूर्ण के साथ सेवन करने पर भूख को बढ़ाता, तत्काल कामाग्नि को उत्तेजित करता और ज्वरादि दोषों को दूर करता है । यह रससिन्दूर जिन-जिन रोगों में यथानुपान से प्रयोग किये जाने पर उन उन समस्त रोगों को नष्ट करने में श्रेष्ठ माना गया है । किन्तु यह स्मरण रहे कि उपर्युक्त पाँच रत्ती की रससिन्दूर की कही हुई मात्रा अधिक प्रतीत होती है, साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जो लोग आधी रत्ती की मात्रा का सुझाव देते हैं उनका कथन भी आज के जमाने में उचित नहीं है । आज

की परिस्थिति में रोग भी उतने ही प्रबल होते हैं उन पर स्वल्प मात्रा का प्रयोग कदापि सिद्धिदायक नहीं होता है। ग्रन्थकार ने समवतः पान रत्ती की मात्रा चौबीस घण्टे में तीन बार कर के देने की भावना से प्रतिपादित किया है अतः श्लोक संख्या ४०० की संस्कृत टीका में वर्णित रसतरङ्गिणी के अनुसार भी इसकी मात्रा में कोई विशेष अन्तर नहीं आता है। ग्रन्थकारों के वचनों को बिना अनुभव लिए खण्डित करना ठीक नहीं है ऐसे विषय अनुभव की अपेक्षा रखते हैं अतः उनको प्रत्यक्ष प्रत्यय प्राप्त करके ही सिद्ध करना चाहिए। आयुर्वेद को सघर्ष में डालने की भावना वाली विदेशी पद्धति आज मात्रा की अधिकता से ही कुछ रोगों पर शीघ्र गुण बताने का साहस बटोर रही है ॥ ४२८-४३५ ॥

अथ रसस्य मारणविधिः—

धूमसारं रसं तुरीं गन्धकं नवसादरम्।
यामैकं मर्दयेदम्लैर्भागं कृत्वा समं समम् ॥ ४३६ ॥
काचकूप्यां विनिक्षिप्य तां च मृद्वस्त्रमुद्रया।
विलिप्य परितो वक्त्रे मुद्रां दत्त्वा विशोषयेत् ॥ ४३७ ॥
अधश्छिद्रयुतस्थालीमध्ये कूपीं निवेशयेत्।
स्थालिकां वालुकापूरैर्भृत्वा चाकूपिकागलम् ॥ ४३८ ॥
चुल्ल्यां निवेश्य तदधः कुर्याद्वह्निं शनैः शनैः।
तस्मादप्यधिकं किंचित् पावकं ज्वालयेत् क्रमात् ॥ ४३९ ॥
एवं द्वादशभिर्यामैर्म्रियते रस उत्तमः।
स्फोटयेत्स्वाङ्गशीतं तदूर्ध्वगं गन्धकं त्यजेत् ॥ ४४० ॥
अधःस्थं च मृतं सूतं गृह्णीयात्तं तु मात्रया।
यथोचितानुपानेन सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ४४१ ॥

धूमसारमित्यादि। धूमसारं—गृहधूम, रसं तुरीं—स्फटिका, गन्धकं, नवसादरं च समसमम्। धूमसारादिकं प्रत्येकं तुल्यभागं कृत्वा, अम्लैः—निम्बूचिञ्चाकाञ्जिकाद्यम्लैर्यामैकं यावन्मर्दयेत्। ततः काचकूप्यां विनिक्षिप्य तां च कूपिकां मृद्वस्त्रमुद्रया परितो विलिप्य वक्त्रे मुद्रां दत्त्वा विशोषयेत्। पश्चात् अधश्छिद्रयुतस्थालीमध्ये सच्छिद्रपिन्दिकायुक्तस्थाल्यां कूपीं निवेशयेत्। वालुकापूरैः स्थालिकामाकूपिकागलं—कूपीकण्ठपर्यन्तं भृत्वा चुल्ल्यां निवेश्य तदधो वह्निं शनैः शनैः कुर्यात्। तस्मात् पूर्वोक्तमन्दाग्नितोऽपि किञ्चिदधिकं पावकम्—अग्निं क्रमात्—मन्दमध्यतीक्ष्णविधिना ज्वालयेत्। एवं विधिना द्वादशभिर्यामैरुत्तमः—सर्वश्रेष्ठो रसो म्रियते। स्वाङ्गशीतं यन्त्रं ज्ञात्वा तदूर्ध्वगं गन्धकं त्यजेत्। अधःस्थं मृतं—भस्मीभूतं सूतं गृह्णीयात्। अत्र प्रसङ्गतो रसस्थापनयोग्यपात्राणि प्रदर्श्यन्ते यथा रससङ्केतकलिकायाम्—'दन्ते शृङ्गे मणौ वेणौ रक्षयेत् साधितं रसम्।' इति। तं—मृतं सूतं यथोचितानुपानेन—तत्तद्रोगोक्तानुपानविधिना सर्वकर्मसु योजयेत्। विशेषो रसेन्द्रसारसंग्रहे यथा—'पृथक् समं समं कृत्वा पारदं गन्धकं तथा। नवसारं धूमसारं स्फटिकं मासमात्रकम् ॥ निम्बूनीरेण समर्द्य काचकूप्यां विपाचयेत्। मुखे पाषाणखटिकां दत्त्वा मुद्रां प्रदापयेत् ॥ सप्तभिर्मृत्तिकावस्त्रैः पृथक् संशोष्य वेष्टयेत्। सच्छिद्रायां मृदः स्थाल्यां कूपिकां सन्निवेशयेत् ॥ पूरयेत् सिकतापूरैरागलं मतिमान् भिषक्। निवेश्य चुल्ल्यां

दहनं मन्दमध्यखरक्रमात्॥ प्रज्वाल्य द्वादशं यामं स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत्। विस्फोटयित्वाऽध युक्त्या चोर्ध्वलग्नं वलिं त्यजेत्॥' 'अधःस्थं रससिन्दूरं सर्वकर्मसु योजयेत्॥' इति। केचित्तु धूमसारस्थाने सीसकं पठन्ति तदपि सङ्गतं तन्त्रान्तरदर्शनात्॥ यथा—'पृथक् पृथक् समं कृत्वा पारदं गन्धकं तथा। नवसारं च स्फटिकं सनागं याममात्रकम्॥ निम्बूनीरेण सम्मर्द्य काचकूप्यां विनिक्षिपेत्। बुधश्च वालुकायन्त्रे यामद्वादशक पचेत्॥ स्वाङ्गशीत स्फोटयित्वा ऊर्ध्वलग्नं वलिं त्यजेत्। अध स्थ रससिन्दूर योजयेद्रसकर्मणि॥ इति॥ ४३६–४४१॥

रसमारण की विधि–घर का धुआ, शुद्ध पारा, फूली हुई फिटकरा, शुद्ध गन्धक और नवसादर ये सभी द्रव्य समान भाग लेकर एक प्रहर तक निम्बू आदि अम्लरस से खरल में डाल कर मर्दन करे, तत्पश्चात् कपरोटी की हुई आतसी शीशी में भरकर उसके मुख में मुद्रा लगा दे और सूखने पर ठीकरे की पिन्दी में छेद निकाल कर उस छेद पर शीशी को जमाकर उसके कण्ठ तक बालू भरकर चूली पर चढा कर प्रथम धीरे-धीरे अग्नि दे। तदनन्तर क्रमश मन्द, मध्य और तीक्ष्ण अग्नि दे। इस प्रकार बारह प्रहर अग्नि देने पर पारे की उत्तम भस्म हो जाती है। स्वादशीतल होने पर शीशी को फोड कर ऊपर लगी हुई गन्धक-रजको दूर कर नीचे स्थित मृत पारे को ग्रहण करे। यह पारद भस्म यथोचित मात्रा और अनुपान से समस्त रोगनाशक कार्यों में उपयुक्त होता है॥

वक्तव्य—कुछ लोग ऊपर बताई हुई विधि से तयार होने वाले रससिन्दूर को भी कूपी के कण्ठ में (कण्ठस्थ रससिन्दूर मानते हैं) चिपक कर तयार हुआ कहते हैं किन्तु ग्रन्थकार ने यह तलस्थ रससिन्दूर की विधि कही है कण्ठस्थ की नहीं। यह पारद की तल भस्म कहाती है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि तलस्थ और कण्ठस्थ पारद भस्म की निर्माण विधि एक समान ही है केवल अग्नि का अन्तर है तलस्थ को कम अग्नि देनी पडती है और ऊर्ध्वस्थ (कण्ठस्थ) को अधिक, किन्तु तलस्थ की अग्नि का विशेष ध्यान रखना होता है अन्यथा हीन अग्नि रही तो कच्चा रह जाता है और अधिक हो गई तो कण्ठस्थ हो जाता है। अत॰ अनुभूत ज्ञान की आवश्यकता है॥ ४३६–४४१॥

अथाऽन्यप्रकारः—

काष्ठोदुम्बरिकादुग्धे रसं किंचिद्विमर्दयेत्।
तद्दुग्धपिष्टहिङ्गोश्च मूषायुग्मं प्रकल्पयेत्॥ ४४२॥
क्षिप्त्वा तत्संपुटे सूतं तत्र मुद्रां प्रकल्पयेत्।
धृत्वा तद्गोलक प्राज्ञो मृन्मूषासंपुटेऽधिके॥ ४४३॥
पचेद्गजपुटे तेन सूतको याति भस्मताम्।

काष्ठोदुम्बरिकेत्यादि। काष्ठोदुम्बरिकादुग्धे'—कुठुम्बरीति प्रसिद्धा तस्या दुग्धैः रसं किंचित्–स्वल्पं विमर्दयेत्। तद्दुग्धपिष्टहिङ्गोः—काष्ठोदुम्बरिकादुग्धेन पेषितो हिङ्गुस्तस्य मूषायुग्म–मूषाद्वयं प्रकल्पयेत्। तत्सपुटे–तयोर्मूषयोः सम्पुटे सूतं काष्ठोदुम्बरिकाक्षीरमर्दितं क्षिप्त्वा तत्र मुद्रां प्रकल्पयेत्। प्राज्ञस्तद्गोलकं–हिङ्गुनिर्मितमूषान्तर्निहितपारदम्। अधिके–द्वितीये मृन्मूषासम्पुटे धृत्वा गजपुटेऽग्निना पचेत्तेन सूतको भस्मतां याति।

रसतरङ्गिण्यामपि यथा–'काकोदुम्बरिकादुग्धैर्मावयेद्रामठं भिषक्। तत्कल्केन पुनः प्राज्ञो मूषायुग्मं प्रकल्पयेत्॥ तद्दुग्धमर्दितश्चैव सूतं तत्र विनिक्षिपेत्। मुद्रां कृत्वा

सूतगोलं मृन्मूषाया निधापयेत् ॥ सन्धि विलेपयेद्वह्निमृत्स्नया चाथ शोपयेत् । पचेल्लघुपुटे सनं स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ॥ मूषासन्धि विलिख्याथ कालाञ्जनसमप्रभम् । लाघवादिगुणोपेतं गृह्णीयाद्भस्मसूतकम् ॥' इति । क्वचिन्मृदुपुटेनैवेति पाठान्तरं तत्र लघुगजपुटेनेति बोध्यम् ॥ ४४२–४४३ ॥

रसमारण का दूसरा प्रकार—कठूमर के दूध से पारे को किञ्चिन्मात्र मर्दन करके कठूमर के दूध में पीसे हुए हींग के कल्क की दो मूषा बनानी चाहिए । एक मूषा में पारे को रख कर दूसरी मूषा के मुख को पारदयुक्त मूषा के मुख से मिलाकर दोनों की सन्धियों को बन्द करके मुद्रा कर दे और उस मूषा को मिट्टी की मूषा में रखकर दूसरी मिट्टी की मूषा से सपुट कर सधि ब[illegible] सुखा कर गजपुट में फूक दे तो काले रंग की पारे की भस्म हो जाती है ॥४४२–४४३॥

अथान्यप्रकार:—

अपामार्गस्य वीजानां मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् ॥ ४४४ ॥
तत्संपुटे क्षिपेत्सूतं मलयूदुग्धमिश्रितम् ।
द्रोणपुष्पीप्रसूनानि विडङ्गमरिमेदकः ॥ ४४५ ॥
एतच्चूर्णमधश्चोर्ध्वं दत्त्वा मुद्रां प्रदापयेत् ।
तद्गोलमन्धयेत्सम्यङ् मृन्मूषासंपुटे सुधीः ॥ ४४६ ॥
मुद्रां दत्त्वा शोपयित्वा ततो गजपुटे पचेत् ।
एकेनैव पुटेनैतत्सूतस्य भस्म जायते ॥ ४४७ ॥
तत्प्रयोज्यं यथास्थानं यथामात्रं यथाविधि ॥ ४४८ ॥

अपामार्गस्येत्यादि । अपामार्गस्य वीजाना मूषायुग्मं–मूषाद्वयं प्रकल्पयेत् । तत्सपुटे–तयोर्मध्ये मलयूदुग्धमिश्रित–काकोदुम्बरिकाक्षीरसवलित सूत क्षिपेत् । पश्चात् सुधी. द्रोणपुष्पीप्रसूनानि, विडङ्गम्, अरिमेदकः–विट्खदिर , एतच्चूर्णम्, अपामार्गवीजनिर्मितमूषायां पारदस्याध ऊर्ध्वं च दत्त्वा मुद्रा प्रदापयेत् । ततो मृन्मूषासपुटे तद्गोलक सम्यगन्धयेत् अवरोधयेत् ।· मुद्रा दत्वा शोपयित्वा च गजपुटे वह्निना पचेत् । एकेनैव पुटेन सूतस्यैतद्भस्म जायते । तद्भस्म यथास्थानं, यथामात्र, यथाविधि च–विधिमनतिक्रम्य देशकालवयोवलं दृष्ट्वा प्रयोज्यमिति भाव. ।

विशेषो रसतरङ्गिण्या यथा–'अपामार्गस्य वीजानि नूतनानि विचूर्णयेत् । कल्कीकृत्य पुनस्तेन मूषायुग्म प्रकल्पयेत् ॥ अरिमेद. क्रिमिरिपुर्द्रोणपुष्पी समं समम् । संचूर्ण्य चूर्णमेतेषा मूषामध्ये निधापयेत् ॥ काकोदुम्बरिकादुग्धे सूतं यत्नेन मर्दितम् । चूर्णोपरि तु संस्थाप्य पुनश्चूर्णं प्रदापयेत् ॥ प्रलिप्य रसगोल च मूषायां स्थापयेत्ततः । सन्धिलेप तत. कुर्यादवश्य वह्निमृत्स्नया ॥ सशोष्य चातपे मूषा पुटेद्गजपुटे भिषक् । एकेनैव पुटेनैव रसो यातीह भस्मताम् ॥' इति ॥ ४४४–४४८ ॥

तीसरा प्रकार—अपामार्ग (चिर्चिट) के बीजों की दो मूषा बनावे और उन दोनों के सपुट में कठूमर के दूध में भली भाँति पारे को मिश्रित करके रखे और गोमा के फूल, वायविडङ्ग तथा विट्खदिर के चूर्ण को पारद के ऊपर नीचे देकर मुद्रा कर दे, इसके बाद अपामार्ग बीज की मूषा में बन्द उस (मूषासपुट) गोले को मिट्टी की मूषा में भली भाँति बन्द करके सुखा ले और गजपुट में फूक दे तो एक ही पुट में पारे की उत्तम भस्म हो जाती है । इसका योग्य स्थान में मात्रा और विधि से प्रयोग करे ॥ ४४४–४४८ ॥

अथान्यप्रकारः—

नागवल्लीरसैर्घृष्टः कर्कोटीकन्दगर्भगः ।
मृन्मूषासम्पुटे पक्वः सूतो यात्येव भस्मताम् ॥ ४४९ ॥

नागवल्लीत्यादि । नागवल्लीरसैः–नागवल्ली–ताम्बूलवल्ली तस्याः पत्रस्वरसेन घृष्टो मर्दितः सूतः कर्कोटी–वन्ध्याकर्कोटकी तस्याः कन्दः तद्गर्भगः–मध्ये निहितः सन् पश्चान्मृन्मूषासंपुटे मुद्रयित्वा गजपुटे भस्मतां याति । एवेति संशयराहित्ये । रसेन्द्रसारसंग्रहेऽपि यथा–'भुजङ्गवल्लीनीरेण मर्दयेत्पारदं दृढम् । कर्कोटीकन्दमूषायां संपुटस्थं पुटेद्गजे । भस्म तद्योगवाहि स्यात्सर्वकर्मसु योजयेत् ॥' इति ॥ ४४९ ॥

चौथा प्रकार—पारे को नागरवेल (पान) के रस से मर्दन करके कल्क के समान बना ले और उसको बाँझककोडा के कन्द के गर्भ में अर्थात् बाझककोडा के कन्द में चाकू से गोल छेद करके उसमें भर दे और कन्द के टुकडे से ही उस छेद को बन्द कर दे, तत्पश्चात् पारदयुक्त उस कन्द को मिट्टी की मूषा में बन्द कर दे और गजपुट में फूक दे तो पारा भस्म हो जाता है ॥

अन्यच्च—

पञ्चाङ्गीवर्वरीलिङ्गीद्रवैर्घस्त्रत्रयं रसः ।
मर्दितः पुटितो भस्म स्वर्णवर्णं प्रजायते ॥ ४५० ॥

पञ्चाङ्गीत्यादि । पञ्चाङ्गी–पञ्च अङ्गान्यवयवा यस्याः–'शालिपर्णीपृष्ठपर्णीबृहतीद्वयगोक्षुरैः ।' एतैर्लघुपञ्चमूलैरेतेषां द्रवैः, वर्वरी–वनतुलसी, लिङ्गी–शिवलिङ्गी, आसां त्रयाणां च द्रवैः–अङ्गरसैः, घस्त्रत्रयं–दिनत्रयं मर्दितो रसो मृन्मूषायां मुद्रयित्वा गजपुटे पुटितः सन् स्वर्णवर्णं भस्म प्रजायते ॥

विशेषस्तन्त्रान्तरेभ्यः प्रदर्श्यते—यथा रसप्रकाशसुधाकरे–'अथ मया रसभस्म निगद्यते सकलसूतसुशास्त्रनियोगतः । ससितकृष्णसुपीतसुलोहितं भवति वर्णचतुष्टयभूषितम् ॥' इति । तथैव रसेन्द्रसारसंग्रहेऽपि–'श्वेतं रक्तं पीतकृष्णं श्यामं कञ्चुकभस्मवत् । सर्वेषामुत्तमं कृष्णं जरादारिद्र्यमुत्सृजेत् ॥' तथा च–'श्वेतं पीतं तथा रक्तं कृष्णं चेति चतुर्विधम् ।'' ''' ' श्रेष्ठं स्यादुत्तरोत्तरम् ॥' इति । अत्र रसकर्पूरमिति रसमञ्जरीकारः, श्वेतभस्मेति चन्द्रिकाकारः । रक्तपीतकृष्णनीलपाटलभस्मानि रससंकेतकलिकायां यथा–'औषधान्तरसयोगाद्भवये वर्णविपर्ययम् । रक्तं पीतं तथा कृष्णं नीलं च पाण्डुरारुणम् ॥ निर्गुण्डीरससंयुक्तं चपलेन समन्वितम् । रक्तवर्णं भवेद्भस्म दाडिमीकुसुमोपमम् ॥ भूधात्रीहस्तिशुण्डीभ्यां रसं गन्धं च मर्दयेत् । काचकूप्यां चतुर्यामं पक्वः पीतो भवेद्रसः ॥ सूतं गन्धकसंयुक्तं कुमारीरसमर्दितम् । कृष्णवर्णं भवेद्भस्म देवानामपि दुर्लभम् ॥ वाराहीकन्दसंयुक्तं रसकेन समन्वितम् । श्यामवर्णं भवेद्भस्म वलीपलितनाशनम् । लवणान्तर्विलिप्ताया कूप्या स्यात्पाण्डुरारुणम् ॥' इति ॥ ४५० ॥

पाचवाँ प्रकार—पञ्चागी (सालवन, पिठवन, बडी और छोटी दोनों कटेरी और गोखरू) वनतुलसी और शिवलिङ्गी इनके रस के द्वारा पारद का तीन दिन तक क्रमशः मर्दन करके गोला बनाकर मिट्टी की मूषा में रखे और उसकी मजबूत मुद्रा करके सुखा ले और गजपुट में फूँक ले तो सुवर्ण के समान रंग की पारद की भस्म हो जाती है ।

वक्तव्य—इससे प्रथम और इसके आगे भी पारद-भस्म के ग्रन्थकार ने अनेक प्रकार कहे हैं। किन्तु उपर्युक्त प्रयोग में '**भस्म स्वर्णवर्णं प्रजायते**' यह संकेत किया है कि ऊपर की विधि से

पारे की भस्म सुवर्ण के समान (पीले) रंग की तैयार होती है। रसशास्त्रकारों ने पारे की भस्म के रंग अनेक कहे हैं। जिस प्रकार की औषध का संयोग किया जाता है उसी औषध के परिपाक-परिणाम में जैसा उसका रंग होता है वैसा ही रंग पारद-भस्म का हो जाता है। फिर भी रसशास्त्रियों ने रंगों का उल्लेख किया है। जैसे कि—रसप्रकाशसुधाकर-कार कहता है कि श्वेत, कृष्ण, पीत और रक्त ये चार रंग पारद-भस्म के होते हैं। इसी प्रकार रसेन्द्रसारसंग्रह ने भी चार ही प्रकार की रस-भस्मों को स्वीकार किया है। किन्तु रससंकेतकलिका कार—रक्त, पीत, कृष्ण, नील और पाटल भेद से पाँच रंग की पारद भस्म बताता है। साथ ही उनकी विधियों का उल्लेख भी करता है और उसके स्पष्टीकरण में कहता है कि जिस जिस प्रकार की औषध का संयोग किया जाता है तदनुसार ही उसकी भस्म का रंग होता है अतः पारद की भस्म का रंग औषध संयोग के अनुसार ही निमित्त होता है। इसका स्पष्टीकरण ऊपर संस्कृत टीका में सप्रमाण प्रतिपादित है।

श्वेत, पीत, रक्त और कृष्ण चार प्रकार जो रस-भस्म के कहे हैं। इनका अन्तर्भाव रसकर्पूर, सर्वाङ्गसुन्दर, रसपर्पटी और रससिन्दूर, मकरध्वज आदि में किया जाता है। रसेन्द्रसारसंग्रह ने चारों प्रकार की भस्मों को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहा है अर्थात् कृष्ण भस्म सर्वश्रेष्ठ माना है। रस-पर्पटी जितनी अधिक प्रभावशाली है उतना ही उसका अधिक प्रयोग है। खल्लीय रस प्रयोगों में भी कज्जली के स्थान में रसपर्पटी का प्रयोग किया जावे तो विशेष लाभ होता है। और उसकी विक्रिया भी नहीं होती है ॥ ४५० ॥

अथान्यः प्रकारः—

सूतश्चतुष्पलमितः समशुद्धगन्धः
स्याद्धूमसारपिचुरेक इदं क्रमेण।
संमर्दयेद्विमलदाडिमपुष्पतोयै-
र्घस्रं विमर्द्य सितसोमलमापकेण ॥ ४५१ ॥
एतन्निधाय सकलं जलयन्त्रगर्भे
संमुद्र्य सन्धिमुदितेन पुरा क्रमेण।
आपूर्य यन्त्रमुदकेन दिनानि चाष्टौ
वह्निं क्रमेण तदधो विदधीत विद्वान् ॥ ४५२ ॥
पश्चात्ततो जलमुदस्य रसं तलस्थ-
मादाय भाजनवरे सुभिषङ् निदध्यात्।
संपूज्य शम्भुगिरिजागिरिजातनूजान्
दद्याच्छुभेऽहनि रसं वरमेकगुञ्जम् ॥ ४५३ ॥
ताम्बूलिकादलयुतं ससितं पयोऽनु
पीत्वाऽम्लमापलवणै रहितं सदन्नम्।
अद्यात्कियन्त्यपि दिनानि ततो यथेच्छं
भक्ष्यं भजेदथ नरो विगतामयः स्यात् ॥ ४५४ ॥

सूत इत्यादि। सूतः चतुष्पलमितः—षोडशतोलप्रमितः समशुद्धगन्धः—पारदसमान-भाग एव शोधितगन्धको ग्राह्यः। अत्र धूमसारस्य गृहधूमस्यैकः पिचुः—एकतोलकपरि-

मित. स्यात्। इदं पारदादिकं क्रमेण विमलदाडिमपुष्पतोयैः संमर्दयेत् पुनश्च सितसोमलमापकेण-हेमप्रमितेन श्वेतशतमल्लेन, 'मापको हेम धान्यक' इति परिभाषा। घस्रदिनैक यावत् विमर्द्य। एतत्सकल जलयन्त्रगर्भे निधाय। तल्लक्षण रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'विशालवदने भाण्डे तोयपूर्णे निवेशयेत्। खर्परं पृथुक सम्यक् प्रसरे तस्य मध्यमे॥ आलवालं विडैः कृत्वा तन्मध्ये पारद क्षिपेत्। तदूर्ध्वं च विडं दत्वा मल्लेनारुध्य यत्नत.। पुटेदौचित्ययोगेन म्रियते तन्निगद्यते॥' इति। एतज्जलयन्त्रं कच्छपयन्त्रनाम्ना प्रसिद्ध तन्मध्ये निधाय पुरोदितेन क्रमेण सन्धि संमुद्रय ततो यन्त्रपात्रमुदकेन-जलेनापूर्य विद्वान् तदधः-यन्त्राधोभागे क्रमेण मन्दमध्यतीक्ष्णेन वह्निमष्टौ दिनानि यावद्विदधीत। पश्चात् स्वाङ्गशीतभव ज्ञात्वा ततो जलमुदस्य-निस्सार्य तलस्थं-यन्त्रतले परिप्राप्तं सिद्ध पारद गृहीत्वा भाजनवरे-श्रेष्ठे काचमये स्वर्णमये वा पात्रे सुभिषक् निदध्यात्। तत शम्भुगिरिजागिरिजातनूजान् शम्भुः-शिव', गिरिजा-पार्वती, गिरिजातनूजो गणेश., एतान् प्रथम षोडशोपचारैः सपूज्य। शुभेऽहनि श्रेष्ठ रसमेकगुञ्ज-रक्तिकाप्रमाणं ताम्बूलिकादलयुत-नागवल्लीपत्रवेष्टितं दद्यात्। पश्चात्ससितं-सशर्कर पय' पीत्वा, अम्लम्-अम्लपदार्थं, माषा, लवणमेभिः रहितं सदन्न-श्रेष्ठभोजनमद्यात् कियन्त्यपि दिनानि-मण्डलावधि यावदिति दिक्। यदा नरो विगतामय.-स्वस्थ. स्यात्ततो यथेच्छ मनोनुकूल भक्ष्य भजेत्॥

छठा प्रकार—शुद्ध पारा १६ तोला, शुद्ध गन्धक १६ तोला और घर का धुआ एक तोला इनको खरल में डालकर निर्मल अनार के फूलों के रस में एक दिन मर्दन करके उसमें एक माशा सफेद सखिया डालकर पुन मर्दन कर और कच्छपयन्त्र में रखकर पूर्वोक्त विधि से सन्धि-बन्धन करके यन्त्र में जल भर दे। आठ दिन तक क्रमश. उसके नीचे अग्नि देवे, फिर यन्त्र से जल निकाल दे और यन्त्र के तल भाग में पडा हुआ पारा लेकर उत्तम शीशी में भर कर रख दे। जब प्रयोग करना हो तब सर्वप्रथम शिव, पार्वती और गणेशजी की षोडशोपचार से पूजा करके शुभ दिन में एक रत्ती की मात्रा में पारे को नागर पान में रखकर दबावे और ऊपर से मिश्री मिला हुआ दूध पीवे तथा खट्टे पदार्थ, उडद और नमक रहित पथ्यस्वरूप उत्तम भोजन कुछ दिन तक अर्थात् ४० दिन तक करे जब नीरोग हो जावे तब यथेच्छ मन चाहे सो खावे॥ ४५१-४५४॥

अथ मृतसूतलक्षणम्—

अतेजा अगुरुः शुभ्रो लोहहाऽचञ्चलो रसः।
यदा नावर्तते वह्नौ नोर्ध्वं गच्छेत्तदा मृतः॥ ४५५॥
अचञ्चल इति च्छेदः॥

अतेजा इत्यादि। अतेजा'-प्रकाशरहितः, अगुरुः-लघु', शुभ्रः-स्फटिकाभः, लोहहा-सुवर्णादिधातुभक्षणसमर्थ., मारकश्च। अचञ्चलो यदा वह्नौ न आवर्तते नोर्ध्वं च गच्छेत्तदा मृत'-भस्मीभूतः, इति बोध्यम्। रसकामधेनौ तु-'आर्द्रत्व च घनत्व च तेजो गौरवचापलम्। यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृतसूतकम्॥' इति॥ ४५५॥

मृत पारे के लक्षण—जो पारा तेजरहित, हलका, शुभ्र (सफेद, उज्ज्वल एव स्वच्छ), सुवर्णादि धातुओं को खानेवाला, मारनेवाला और चपलताहीन हो तथा अग्नि में डालने से आवर्तहीन एव ऊपर को न उडने वाला हो उसे मृत पारा समझना चाहिये।

वक्तव्य—मृत पारद की पहचान अर्थात् जब पारा मारक औषधियों के सयोग से मारा (भस्म किया) जाता है तब उसके भलीभाँति मर जाने पर तेजरहित भस्म होती है, पारे में

जो एक प्रकार की चमक होती है वह भस्म में नहीं रहती है। पारद स्वभावत ही वजनदार (भारी) होता है किन्तु भस्म होने से उतना ठोस नहीं रहता है उसमें मूल द्रव्य की अपेक्षा हलकापन आ जाता है। शुभ्र अर्थात् सफेद, स्वच्छ और निर्मल प्रतीत होता है। यों पारद की भस्में अनेक रंग की होती है सफेद ही होनी चाहिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है किन्तु प्रत्येक भस्म में रंग के अतिरिक्त निर्मलता और स्वच्छता रहना आवश्यक है। पारद की जब भस्म हो जाती है तब उसमें सुवर्णादि धातुओं को आत्मसात् करने की शक्ति आ जाती है। चञ्चलता यह पारद का स्वाभाविक दोष है भस्म होने पर उसमें वह भाव नष्ट हो जाता है। अग्नि में रखने से जिससे धूम न निकले, आवर्त न उत्पन्न हो और ऊपर को उडे नहीं अर्थात् ज्यों-का-त्यों अग्निस्थायी बना रहे। कहने का तात्पर्य यह कि पारद के मूलगामी दोष और स्वाभाविक गतियाँ तथा उसकी ठोसता और चमक इन सबका नाश हो जाता है और भस्म स्वरूप में आकर अप्रतिहत गति से कार्य करता है तब उसे भस्म हुआ समझा जाना चाहिए ॥ ४५५ ॥

तन्त्रान्तरेऽपि—

अगुरुरतेजाः शुभ्रो वह्निस्थायी स्थिरोऽधूमः।
हेमादिधातुभोक्ता तत्कर्त्ता स्यान्मृतः सूतः ॥ ४५६ ॥

अगुरुरित्यादि। अधूमः-धूमरहितः। तत्कर्ता-स्वर्णादिसकलधातूनां निर्मापकः स्यादिति। शेष पूर्ववत् बोध्यम् ॥ ४५६ ॥

मृत पारे का दूसरा पहिचान—जो पारे की भस्म हलकी, तेजरहित, सफेद, अग्निस्थायी, अग्नि में डालने पर धूआ न देने वाली तथा समस्त धातुओं को चर जाने वाली अथवा उसमें धातुनिर्माण की शक्ति भी हो, वह पारद का उत्तम भस्म कहलाती है। जब पारद की भस्म किसी औषध के योग से बनाई जाती है तो उसमें इन सब बातों को देखना चाहिए कि भस्म उपर्युक्त लक्षणों से मेल खाती है या नहीं। यदि ऊपर के लक्षण उसमें नहीं बैठते हैं तो वह भस्म नहीं है यह मानना चाहिए और उसका उपयोग नहीं करना चाहिए ॥ ४५६ ॥

अथ गुणा —

रसायनं त्रिदोषघ्नो योगवाह्यतिशुक्रलः।
भस्मसूतोऽखिलातङ्कनाशनस्त्वनुपानतः ॥ ४५७ ॥

रसायनमित्यादि। भस्मसूतो रसायनं-जराव्याध्यादिहरः। त्रिदोषघ्नः-प्रकुपितानां वातपित्तकफाना हन्ता। योगवाही-अनुपानानुयायी, अतिशुक्रलः-बहुवीर्यप्रदः, अनुपानत अखिलातङ्कनाशनः-समस्तरोगापहारक। तन्त्रान्तरे तु-'ग्रहणीगजकर्षणदक्षतरं स्वतिसारहरं क्षयशोथहरम्। जठरानलमान्द्यविनाशकरं परिशीलय सूतभवं भसितम् ॥' इति ॥ ४५७ ॥ इति भस्मसूतगुणा ॥

पारद-भस्म के गुण—पारे का भस्म रसायन, त्रिदोष को नष्ट करने वाला, योगवाही और अतिवीर्य को उत्पन्न करने वाली तथा अनुपान भेद से सम्पूर्ण रोगों को हरने वाली होती है ॥

वक्तव्य—'अखिलातङ्कनाशनस्त्वनुपानतः' अर्थात् अनुपान से पारद की भस्म समस्त रोगों को नष्ट करने की शक्ति रखती है। यहाँ पर यह स्मरण रखने की बात है कि पारद यह प्रभावी और सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है। पारद की शक्ति का कोई थाह नहीं है किन्तु साथ में यह भी बात उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि पारद की सुप्त शक्तियों का जब तक उत्थान या जागरण नहीं किया जाता है तब तक वह कोई मूल्य नहीं रखता है। सुप्त शक्तियों का जागरण और

उत्थान सेन्द्रिय-उद्भिज्ज एव प्राणिज द्रव्यों द्वारा ही प्रायश होता है जब तक ऐसे द्रव्यों का संस्कार एव सयोग पारद से प्रत्यक्षत नहीं कराया जाता है तब तक गुणाधान और क्रियान्तरोत्पत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार विभिन्न द्रव्यों के सयोग से पारदभस्म का विधान है वह भी विभिन्न गुणोत्पत्ति का ही हेतु है। पारद में योगवाही जो एक विशिष्ट गुण है वह उसके प्रभावी शक्ति का द्योतक है। जिस समय में जिस जिस अनुपान और जिस जिस रोग में उसका प्रयोग होता है तदनुसार ही गुण तथा कार्य प्रत्यक्ष प्रगट होता है। यही कारण है कि पारद-भस्म अनुपान भेद से समस्त रोगों के लिए उपकारक सिद्ध होता है। जैसे कि ज्वरनाशार्थ पारद भस्म का प्रयोग करना हो तो निम्न विधि से देनी चाहिए—

'पांशुमुस्तकषायेण सुरसाक्कथितेन वा। कणाक्काथेन वा युक्तो मृतः सूतो हरेज्ज्वरम्॥' ४५७॥

अथान्यन्मतम्—

अङ्कोलस्य शिफावारिपिष्टे कल्के विमर्दयेत्।
सूतं गन्धकसंतुल्यं दिनान्ते तं निरोधयेत्॥ ४५८॥
पुटयेद्भूधरे यन्त्रे दिनान्ते स मृतो भवेत्।

अङ्कोलस्येत्यादि। गन्धकसंतुल्यं सूतम् अङ्कोलस्य शिफावारिपिष्टे-शिफा-जटा तस्याः वारिणा-जलेन स्वरसेन पिष्टे-कृतकल्के तस्मिन् विमर्दयेत् खल्व इति शेषः। दिनान्ते तं सूतगन्धादिनिर्मितं गोलकं मूषासंपुटे निरोधयेत्। पश्चाद् भूधरे यन्त्रे पुटयेत्। एवं दिनान्ते स सूतो मृतो भवेत्॥ प्रहरचतुष्टय यावन्मर्दनं प्रहराष्टक च पाकं कुर्यादिति भावः। रसेन्द्रसारसंग्रहे तु-'श्वेताङ्कोटजटानीरैर्मर्द्यः सूतो दिनत्रयम्। पुटेत्तु चान्धमूषायां सूतो भस्मत्वमाप्नुयात्॥' इति॥ ४५८॥

रसमारण का अन्य प्रकार—अङ्कोल की जड को जल से पीस कर पारे के समान भाग गन्धक डालकर उस अङ्कोल के कल्क में मर्दन करके सायकाल सपुट में बन्द कर भूधर यन्त्र में पुट देने पर दूसरे सायकाल तक २४ घण्टे में पारे की भस्म हो जाती है।

वक्तव्य—भली प्रकार से शुद्ध किया हुआ पारा और गन्धक दोनों को समान भाग लेकर अकोल की जड के स्वरस अथवा क्वाथ से पारदगन्धक का चार प्रहर तक मर्दन करके गोला बनाकर सुखा ले उस गोले को मूषा-सपुट में रखकर सन्धि बन्द करके भली प्रकार सूखने पर भूधरयन्त्र में एक दिन और एक रात की अग्नि देकर पकावे, ऐसा करने से पारद की उत्तम भस्म हो जाती है। यह ध्यान रहे कि पारद गन्धक की प्रथम कज्जली बनाकर ही अङ्कोल के रस में कल्क करे। कज्जली बनाकर कल्क करने से अधिक गुणकारी होता है। कुछ लोग कज्जली के बिना ही दोनों को अङ्कोल के रस में घोट लेते हैं। उनका मत है कि कल्क होने पर कज्जली का स्वरूप स्वय निर्मित हो जाता है। यह परिश्रम से बचने का मार्ग है। **'मर्दन गुणवर्धनम्'** उक्ति के अनुसार प्रथम कज्जली करने से पारद का मूर्च्छन हो जाता है और उसमें एक विशिष्ट क्रिया से गुणों का विकास होता है जो अलक्षित है किन्तु कार्य करने में विशेष महत्त्व रखता है॥

अथान्यच्च—

वटक्षीरेण सूताभ्रौ मर्दयेत्प्रहरद्वयम्।
पाचयेत्तस्य काष्ठेन भस्मीभवति तद्रसः॥ ४५९॥

वटक्षीरेणेत्यादि। सूताभ्रौ-पारदाभ्रकौ प्रहरद्वयं वटक्षीरेण-वटवृक्षदुग्धेन मर्दयेत्खल्वे दत्त्वा। ततस्तस्य-वटवृक्षस्यैव काष्ठेन पाचयेत्। अर्थात् समभाग मर्दित पारदाभ्रकं चुल्ल्युपरिस्थितं खर्परे प्रक्षिप्य वटेन्धनेन सचाल्य भस्म सम्पाद्यम्। एवं कृते तद्रसः भस्मीभवति। क्वचित्पुस्तके प्रहरत्रयमिति पाठान्तरम् ॥ ४५९ ॥

अन्य प्रकार—पारा और अभ्रक दोनों को समानभाग लेकर बड के दूध से दो या तीन प्रहर तक मर्दन करे और उसको मिट्टी के खोपटे में रखकर बड की लकडी की अग्नि से पाक करे और बड की लकडी के डंडे से ही उसे चलाता रहे। इस प्रकार करने से पारद की भस्म हो जाती है ॥ ४५९ ॥

अथान्यच्च—

कटुतुम्ब्युद्भवे कन्दे गर्भे नारीपयःप्लुतः।
सप्तधा म्रियते सूतः स्वेदितो गोमयाग्निना ॥ ४६० ॥

कटुतुम्बीत्यादि। कटुतुम्ब्युद्भवे-तिक्तालाबुसमुत्पन्ने कन्दे गर्भे-कन्दमध्ये नारीपयःप्लुत सूतो गोमयाग्निना सप्तधा स्वेदितो म्रियते ॥ ४६० ॥

अन्य प्रकार—कडवी तुम्बी के कन्द में पारे को रखकर पात्र में स्त्रीदुग्ध भरे। दुग्ध इतना होना चाहिए जिसमें कन्दयुक्त पारा भली भांति डूब जावे तत्पश्चात् उस पात्र के नीचे गोहरी की अग्नि में सात बार स्वेदन करे। प्रत्येक स्वेदन में कडवी तुम्बी का कन्द और दूध नवीन लेना चाहिए। इस प्रकार करने से पारे की भस्म हो जाती है।

वक्तव्य—केवल स्वेदन करने से ही पारद की भस्म हो जाती है यह ऊपर प्रतिपादित किया गया है किन्तु यह सभव प्रतीत नहीं होता है। हाँ, स्वेदन द्वारा पारद में भस्म होने की क्रिया का निर्माण होता है किन्तु भस्म नहीं होती है अत भस्म करने के लिए कटु तुम्बी के कन्द और स्त्रीदुग्ध दोनों में घोटकर गोला बनाना और मूषा में बन्द कर के लघुपुट में फूक देने से भस्म हो जाती है ॥ ४६० ॥

अथान्यच्च—

अपामार्गस्य बीजानि तथैरण्डं च चूर्णयेत्।
तच्चूर्णं पारदे देयं मूषायामधरोत्तरम्।
रुद्ध्वा पचेल्लघुपुटैश्चतुर्भिर्भस्मतां व्रजेत् ॥ ४६१ ॥

अपामार्गस्येत्यादि। अपामार्गस्य बीजानि तथैव ऐरण्डम्-एरण्डबीज, द्वयोः-साम्यमिति भावः। चूर्णयेत्। तच्चूर्णम्-अपामार्गैरण्डयोर्बीजाना पारदे देयम्। कथमित्यत आह-मूषायामधरोत्तरम्-नीचैरुपरि च पारदस्य दत्वा रुद्ध्वा च पचेत् कैरिति चतुर्भिर्लघुपुटैश्चेत्येव भस्मता व्रजेत् ॥ ४६१ ॥

अन्य प्रकार—चिर्चिटे और एरण्ड के बीजों के समान भाग चूर्ण के साथ पारद को अम्ल द्रव्य के साथ घोटकर गोला बनाकर मूषा में नीचे और ऊपर पारद के समान ही चिर्चिटे और और एरण्डबीजों के चूर्ण को देकर उस गोले को मूषा में बन्द करके चार कपोत पुट की अग्नि देने से पारद भस्म हो जाता है ॥ ४६१ ॥

वक्तव्य—पारद के समान भाग चिर्चिटे और एरण्ड दोनों के मिलित बीजों का चूर्ण होना चाहिए। अम्ल द्रव्य से मर्दन करके गोला बनाकर मिलित दोनों बीजों के पारद के समान

भाग चूर्ण का आधा भाग मूषा में बिछाकर उस पर पारद-कल्क का गोला रखना और उसके ऊपर शेष चूर्ण को ऊपर देकर चार पुट देना चाहिए। प्रत्येक पुट में पूर्वोक्त विधि करनी चाहिए। ऐसा करने से भस्म हो जाती है ॥ ४६१ ॥

अथान्यच्च—

खरमञ्जरिवीजान्वितपुष्पकवीजैः सुचूर्णितं कल्कम्।
कृत्वा सूतं पुटयेद् दृढमूषायां भवेद्भस्म ॥ ४६२ ॥

खरमञ्जरीत्यादि। खरमञ्जरिवीजान्वितपुष्पकवीजैः—अपामार्गवीजसहितकमलवीजैः, क्वचित्पुस्तके पुष्पकवीजैरित्यत्र पुष्करवीजैरिति पाठानुरोधात् पुष्पकस्थाने पुष्कर इत्येव साधीयान् पाठः। सुचूर्णितं कल्कं कृत्वा तत्कल्कमध्ये सूतं प्रक्षिप्य खल्वे मर्दयित्वा गोलकं च कृत्वा दृढमूषायां संस्थाप्य पुटयेत्। एवं कृते सति भस्म भवेत् ॥ ४६२ ॥

अन्य प्रकार—अपामार्ग (चिर्चिटे) तथा कमल के बीजों को किसी अम्ल द्रव्य काजी आदि में मर्दन करके कल्क करे और उसी कल्क के साथ पारद को घोट कर गोला बनावे उस गोले को मूषा में बन्द सन्धिबन्द करे और सूखने पर गजपुट की अग्नि देकर भस्म करले यह पारद की उत्तम भस्म होती है ॥ ४६२ ॥

अन्यच्च—

काकोदुम्बरिकाया दुग्धेन विभावितं हिङ्गु।
मर्दनपुटनविधानात् सूतं भस्मीकरोत्येव ॥ ४६३ ॥

काकोदुम्बरिकाया इत्यादि। काकोदुम्बरिकायाः दुग्धेन विभावितं, सुभावनामापन्नं हिङ्गु सूतं भस्मीकरोत्येव, एवेति निश्चयार्थे। कस्मादित्यत आह—मर्दनपुटनविधानात्—मर्दनेन पुटप्रदानेन च। भावनात्र दिनत्रयं यावद्दातव्येतिवृद्धाभिप्रायः। हिङ्ग्वत्र पारदसमं ग्राह्यम्। रघुनाथसम्प्रदाये तु काकोदुम्बरिकादुग्धेन पारदं विमर्द्य तद्दुग्धपिष्टहिङ्गुनिर्मितमूषायां संस्थाप्य पुटं प्रदीयते ॥ ४६३ ॥

अन्य प्रकार—कठूमर के दूध से हींग को भावित करके उसके साथ समभाग पारे का मर्दन करके हींग की ही मूषा में बन्द करके उस मूषा को मृन्मूषा में रखकर सन्धिबन्ध कर गजपुट में फूकने से पारद की भस्म हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कठूमर के दूध से भावित हिङ्गु से ही मर्दन करे और उसी भावित हिङ्गु की मूषा में रखकर पुट देवे तो भस्म हो जाती है ॥

वक्तव्य—उपर्युक्त पारद-भस्म के दश-ग्यारह विधान कहे हैं। इन विधियों से मारा हुआ पारा शास्त्रोक्त गुणों का यथेच्छ फल देने वाला होता है और अनेकों जटिल रोगों में आशु तथा चमत्कारिक कार्य करता है। प्राचीन सिद्ध सम्प्रदाय के विद्वान् और साधुओं द्वारा इस प्रकार के योगो का विशेष प्रयोग होता रहा है। भारतीय जनता इस बात को विशेष अनुभव में लेती रही है। जो रोग असाध्य और कष्ट कर मान कर निराशाजनक होते थे उनको कई साधु महात्मा एक सूई की मात्रा में दवा देकर ठीक कर देते थे ऐसी अनेकों किंवदन्तियाँ सुनी जाती रही हैं। यह चमत्कार इस प्रकार के पारद-भस्मों के ही रहे है। आज कल इन विधियों से पारद-भस्म का निर्माण और प्रयोग प्रायश समाप्त ही हो गया है। पर्पटी, मकरध्वज, रससिन्दूर और रसकर्पूर आदि विधियों से ही प्रयोग होता है जिनकी विधि भी यथास्थान प्रतिपादित है। पर्पटी का विधान प्रस्तुत ग्रन्थ से नहीं है किन्तु हमने टीका में उसका उल्लेख कर दिया है ॥

आयुर्वेदप्रकाश कारने पच्चीस प्रकार के रसबन्धों का विधान प्रथम बता दिया है। जलौकाबन्ध की गणना रसबन्धों में नहीं होती है यही कारण है कि उन पच्चीस रसबन्धों के

प्रकरण में इसको स्थान नहीं दिया। जलौकाबन्ध यह बन्ध नाम के आधार पर छब्बीसवां बन्ध माना है किन्तु इसका विशेष उपयोग रस-कार्यार्थ नहीं है फिर भी जलौकाबन्ध यह जीवन का एक और आवश्यक अग है इसलिए उसका त्याग करना अथवा ग्रन्थ में स्थान नही देना यह उचित नहीं है, साथ ही ऐसे प्रयोग का ग्रन्थ में न रहना भी ग्रन्थकार की कमी का निर्देशक सा हो सकता है।

जलौकाबन्ध की आवश्यकता

पुरुष सदैव शक्ति का गुलाम रहा है वह उसकी प्राप्ति में दिन रात बेचैन रहता है जब उसका उसके साथ सम्बन्ध हो जाता है तभी वह अपने को कृतकार्य समझता है किन्तु वह सदैव अपने महत्त्व को प्रस्थापित करने के लिए अनेक प्रयोग करता है जिससे उसके वर्चस्व की मानमर्यादा सुरक्षित रह सके। यही एक वह प्रयोग है जिससे पुरुष की लज्जा की रक्षा करता है। स्त्री यह शक्ति का स्वरूप है उसके सामने पुरुष सदैव कमजोर ही रहता है किन्तु कमजोरी पर आवरण डालना चाहता है। जलौका स्त्री स्राव के लिए ही प्रायश उपयुक्त पुरुष जब मैथुन करता है तब स्त्री का वीर्य स्खलित होने से पहले ही पुरुष स्खलित हो जाता है तो स्त्री की काम-शान्ति न होकर उसमें उत्पन्न उत्तेजना का बरबश दमन होता है वह सर्वथा असन्तुष्ट और निराश हो जाती है उत्पन्न वेग की अशान्ति से अनेक प्रकार की अपस्मारादि दु साध्य व्याधियाँ होती हैं और उस पुरुष के प्रति एक प्रकार की घृणा और झुंझलाहट पैदा होती है अत इन सबसे बचने के लिए जलौका का प्रयोग उपयुक्त होता है। मैथुन के समय में स्त्रियों को पुरुषों से पूर्व शीघ्र ही स्खलित करने के लिए पारद को विभिन्न औषध से घोटकर जलौका बनाई जाती है जलौका की आकृति भी जोंक के समान ही होती है। जोंक का प्रयोग प्राचीन काल में बहुत हुआ करता था। यही कारण है कि प्राचीन रसग्रन्थों—रसार्णव, आनन्दकन्द, रसरत्नप्रदीप, रसराजलक्ष्मी, रसरत्नसमुच्चय आदि में जलौका के लक्षण, स्वरूप, निर्माण विधि, प्रयोगविधि और उसके प्रशस्तगुण स्पष्टत प्रतिपादित हैं। जलौका योनि में रखने से मदोन्मत्त स्त्रियाँ भी पुरुष से प्रथम ही स्रवित हो जाती है अत एव ग्रन्थकार जलौका का दिग्दर्शन आगे कराते हैं—

अथ जलौकाबन्ध.—

> बालमध्यमवृद्धासु योज्या विज्ञाय तत्क्रमात्।
> नृणां रसवियुक्तानां योषा स्यात्संगमोत्सुका॥ ४६४॥
> बाल्ये चाष्टाङ्गुला योनौ यौवने च दशाङ्गुला।
> द्वादशैव प्रगल्भानां जलौका त्रिविधा मता॥ ४६५॥

बालेत्यादि। तत् क्रमात्–पुर. प्रतिपादितक्रमेण बालमध्यमवृद्धासु–बालास्त्री मध्यमास्त्री, वृद्धास्त्री एतासु विज्ञाय जलौका योज्या। तत्प्रभावं दर्शयति–योषा स्त्री रस वियुक्ताना–नीरसानामपि नृणा संगमोत्सुका स्यात्। तत्क्रमश्चाह—बाल्ये अष्टाङ्गुला, यौवने–युवत्या नार्यां दशाङ्गुला, प्रगल्भाना प्रौढानां च स्त्रीणा द्वादशैव–द्वादशाङ्गुलपरिणाहा जलौका योनौ प्रयोज्या। एव जलौका त्रिविधा मता। शास्त्रान्तरे तु अन्यथा पठित–'बाल्ये षडङ्गुला योज्या यौवने च नवाङ्गुला' इति। बालादिस्त्रीणा लक्षणम्–'बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश। ततस्तु तरुणी ज्ञेया द्वात्रिंशद्वत्सरावधि। तदूर्ध्वमधिरूढा स्यात्पञ्चाशद्वत्सरावधि॥' इति॥ ४६४–४६५॥

जोंक का विधान—बालावस्था, मध्यमावस्था और वृद्धावस्था इन तीन अवस्था वाली स्त्रियों को

जानकर क्रमश जलौका का प्रयोग करे। जोंक के प्रयोग के प्रभाव से नीरस पुरुषों में भी स्त्रियाँ सगमोत्सुक वन जाती हैं। वाला स्त्री की योनि में आठ अङ्गुल की, जवान की योनि में दश अङ्गुल की और प्रौढ की योनि में वारह अङ्गुल की जोंक का प्रयोग करे। इस प्रकार जलौका के तीन भेद हैं।

वक्तव्य—वाला, तरुणी और प्रगल्भा ये तीन भेद अवस्थानुसार स्त्रियों के वताये हैं। १६ वर्ष की ऊपर तक स्त्री बाला कहलाती है, १६ से ३२ वर्ष तक उसकी तरुणी सज्ञा रहती है और ३२ से ५० तक प्रगल्भा तरुणी अर्थात् प्रौढा होती है। पचास के पश्चात् वृद्धा सज्ञा हो जाती है। इस प्रकार अवस्था के तीन भेद हैं उसी प्रकार जोंक के अङ्गुल के हिसाब से भी तीन भेद कहे है। इसको जलौका कहने का तात्पर्य स्पष्ट है कि यह जोंक के आकार प्रकार की ही वनाई जाती है और करीवन करीवन कार्य भी वैसा ही करती है। जोंक जिस प्रकार से खून का स्राव (अर्थात् खीचकर बाहर निकालती है) करती है उसी प्रकार यह भी स्त्री-योनि में रखने से वीर्य का शीघ्र स्राव करती है और कामना-शक्ति को उत्तजना देती है ॥ ४६४–४६५ ॥

जोंक वनाने की विधि तन्त्रान्तरों में अनेक प्रकार की हैं उनके अनेक प्रयोग उपलब्ध हैं। रसरत्नसमुच्चय में जलौका वनाने की आठ नौ विधियाँ दी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल एक ही प्रयोग दिया गया है जो निम्न प्रकार है—

सा यथा—

> मुनिपत्ररसं चैव शाल्मलीवृन्तवारि च।
> जातीमूलस्य तोयं च शिंशपातोयसंयुतम् ॥ ४६६ ॥
> श्लेष्मातकफलं चैव त्रिफलाचूर्णमेव च।
> कोकिलाक्षस्य चूर्णं च पारदं मर्दयेद् बुधः ॥ ४६७ ॥
> जलौका जायते दिव्या रामाजनमनोहरा।
> सा योज्या कामना(क)ले तु कामयेत्कामिनी स्वयम् ॥४६८॥
> सद्यः स्खलनमाप्नोति दु'साध्याऽपि रतेऽङ्गना।

मुनिपत्ररसमित्यादि। मुनिपत्ररसम्–अगस्त्यदलस्वरस तथैव शाल्मलीवृन्तवारि–शाल्मल्याः वृन्तानां कुसुमवन्धनाना वारि–जल, पुनश्च जातीमूलस्य तोयं तथा च शिंशपास्वरससहित श्लेष्मातकफलं तथा त्रिफलाचूर्णम्, एव च कोकिलाक्षस्य–'तालमखाना' इति प्रसिद्धस्य चूर्णं तथा पारदमेतत्सर्वं समभाग गृहीत्वा खल्वे प्रक्षिप्य मर्दयेत् बुधः। एवं कृते सति रामाजनमनोहरा–प्रमदाजनमनोहारिणी दिव्या–उत्तमा जलौका जायते। सा जलौका कामनाले–स्त्रीयोनौ अथवा कामकाले–रत्युत्सवे योज्या। तत्प्रभावात्कामिनी स्वयमेव कामयेत्–निधुवने दत्तचित्ता स्यात्। तत्प्रभावात् रते–रतिकर्मणि स्खलने दु'साध्याऽपि अङ्गना सद्य. स्खलन–वीर्यच्युतिमाप्नोति। विशेषचमत्कारदर्शनाय पारदादष्टमाश सुवर्ण नाग वा क्षिप्त्वा नीलीजलेन विमर्दयेत् पूर्वोक्तविधानं कर्पूरादिभावनारूप कुर्याच्चेति हजारीलालसुकुला'। इति जलौकावन्ध ॥ ४६६–४६८ ॥

जलौका वनाने की विधि—अगस्तिया के पत्तों का स्वरस, सेमल के डठल का स्वरस, जाई (चमेली) के मूल का स्वरस और सीसम के पत्ते का स्वरस तथा लिसोडा के फल,' त्रिफला और तालमखाने इन तीनों का चूर्ण। सर्वप्रथम पारद के सममाग खरल में चूर्ण डालकर अगस्तिया आदि के स्वरस में पारद को घोटे और उसकी जोंक वना ले। यह जोंक बहुत ही उत्तम और

प्रभावी होता है स्त्रियों के मनों पर इसका इतना सुन्दर और आकर्षक असर होता है कि कुछ कहा नहीं जाता। उसका रतिसमय में स्त्री की योनि में प्रयोग किया जावे तो दु साध्यस्त्री भी तत्काल स्खलित हो जाती है। इस योग में यदि स्वर्ण-जारित अथवा नाग-जारित पारद का प्रयोग किया जावे तो अधिक प्रभावी कार्य होता है।

वक्तव्य—जिन स्त्रियों में काम वासना का असर नहीं अर्थात् उसमें एक प्रकार की उदासीनता है ऐसी स्त्रियों में कामवासना का सचार कर उनमें कामातुरता उत्पन्न करके रति के लिए प्रवृत्त करना और पुरुष से प्रथम ही शीघ्र वीर्य का स्राव कराना, तथा मदोन्मत्त प्रमदाओं के काम को रतिकाल में उनकी इच्छा पूर्ति के साथ शान्त करना और मन, बुद्धि तथा शरीर में उत्साह और उमग का सचार करना, प्रधानत जोंक का कार्य है।

ऊपर जो जोंक का प्रयोग दिया है इस प्रकार के विभिन्न रसग्रन्थों में अनेकों प्रयोग उपलब्ध होते हैं जिनको यथास्थान देखा जा सकता है। विस्तारभय से हमने उनका सग्रह यहां नहीं किया है ॥ ४६६-४६८ ॥

अथ खेचरी गुटिका रसचिन्तामणौ—

रसं टङ्कत्रयं शुद्धं कृष्णधत्तूरवीजजे ॥ ४६९ ॥
तैले पलद्वये खल्वे मर्दितं दिनसप्तकम्।
तावद्यावद्भवेत्तस्य जलौकास्वयमुत्तमम् ॥ ४७० ॥
माषान्नपिष्टकेनादौ दृढसूत्रेण वेष्टयेत्।
वर्तिं कृत्वा ततो गाढं शोषयेद्रविणा च ताम् ॥ ४७१ ॥
दशप्रस्थमिते तैले सर्षपस्य विपाचयेत्।
तैलक्षयो भवेद्यावत्तावत्साऽप्यवतार्यते ॥ ४७२ ॥
स्निग्धच्छाये निवेश्याथ शनैः सिद्धां च तां नयेत्।
दुग्धेनापूर्यते कुम्भः शुभस्तत्र निवेशयेत् ॥ ४७३ ॥
विशोष्य सकलं दुग्धं गुटिका यदि तिष्ठति।
वर्करस्य मुखे पश्चाद् गुटिकां तां प्रयच्छति ॥ ४७४ ॥
प्रविष्टा तन्मुखस्यान्तर्ज्वलमानेव तद्धृदि।
व्याकुलं कुरुते कामं देहे स्वास्थ्यं न तस्य वै ॥ ४७५ ॥
उदरस्था यदा स्यात्तु तदाऽसौ म्रियते पशुः।
स्वकीये वदने पश्चाद्धृत्वा शुभ्रां निरामयाम् ॥ ४७६ ॥
योजनानां शतं गच्छेदनायासेन साधकः।
स्त्रीणां शतं तथा गच्छेच्छुक्रस्तम्भकरी मता ॥ ४७७ ॥
मुखस्थायामहो तस्यां प्रहारो नैव जायते।
अन्येऽपि वहवो रोगा मुखस्था दन्तघातिनः ॥ ४७८ ॥
जिह्वातालुगता ये ते कण्ठशालूककादयः।
उपजिह्वा द्विजिह्वा स्यादधिजिह्वा सुदारुणा ॥ ४७९ ॥
सतषष्टिषु ये मध्ये, हृद्रोगाः पीनसादय.।

तांस्तांश्च नाशयत्येषा गुटिका नाम खेचरी ॥ ४८० ॥

रसमित्यादि। खल्वे कृष्णधत्तूरबीजजे पलद्वये-अष्टतोलकमिते तैले पातिते सति टङ्कत्रय-त्रिशाणमित शुद्धं-सप्तदोषविवर्जित रस च तत्र प्रक्षिप्य दिनसप्तक यावत् मर्दित तावत्तस्य-पारदस्योत्तम जलौकारूप भवेत्। तत आदौ मापान्नपिष्टकेन वर्तिं कृत्वा दृढसूत्रेण गुटिकां वेष्टयेद्गाढम्। ततो रविणा-सूर्यातपेन च ता वर्त्ति शोषयेत्। शुष्कां तां सर्पपस्य दशप्रस्थमिते तैले विपाचयेदग्निनेति शेष.। किञ्च तावत्पाकस्य कालावधिरित्यत आह-यावत्कालेन तैलक्षयो भवेत्तावदेव। सा गुटिकाऽपि अवतार्यते चुल्ल्युपरितः। अथ स्निग्धच्छाये शीतलच्छाये निवेश्य सिद्धा तां-वर्त्ति शनैर्नयेत्। तत. शुभः कुम्भः-घटो दुग्धेन पूर्यते तत्र कुम्भे पूर्वोक्तां गुटिकां निवेशयेत्। यदीय गुटिका सकल दुग्धं घटस्थं विशोष्य तिष्ठति तर्हि सुसिद्धा गुटिकेत्यवधेया। अत्र गुटिकाया. प्रभावात्क्षीर वह्नि विनैव निश्शेषतामधिगच्छतीति बोध्यम्। पश्चात्तां कुम्भाद्बहिर्निष्कास्य बर्करस्य मुखे प्रयच्छति साधक इति शेषः। तन्मुखस्यान्त. तस्य मुखमध्ये प्रविष्टा-प्रवेशमापन्ना सती तद्धृदि ज्वलमानेव जायते। सा गुटिका मुखान्तःस्था यावत्स्यात्तावत्तं पशु कामम् अत्यर्थं व्याकुल कुरुते। तस्य देहे स्वास्थ्य नैरुज्य न स्यादिति शेष.। यदेयं गुटिका उदरस्था स्यात्तदाऽसौ बर्करो म्रियते। पश्चात्तन्मुखान्निःसार्य शुभ्रा-स्वच्छां निरामयां साधकः स्वकीये वदने धृत्वा अनायासेन-परिश्रमेण विनैव योजनानां शत-द्विशतगव्यूतिं गच्छेत् तथा स्त्रीणां शतं गच्छेत्-रमेत। तथाऽपि शुक्रस्तम्भकरी-वीर्यस्तम्भनकारिणी मता। अहो इत्याश्चर्यं तस्यां गुटिकायां मुखस्थायां सत्यां प्रहारो-लगुडादिजनिताघातो नैव जायते। अन्येऽपि अनेकरोगा' मुखस्था -मुखोद्भवा' किम्भूता. दन्तघातिनः। तथा ये रोगाः, जिह्वातालुगता.-जिह्वासम्बन्धिन. तालुसम्बन्धिनश्च के ते रोगाः कण्ठशालूकादयः। उपजिह्वा-जिह्वासमीपे याऽन्या जिह्वा सोपजिह्वा, द्विजिह्वाह्वयरोग, यदि कस्यचिदधिजिह्वाख्यो रोग स्यात्। तथा च सप्तषष्टिषु रोगेषु मध्ये ये सुदारुणाः कठिनाः पीनसादयो हृद्रोगाश्च तांस्तांश्च समस्तान् विकारसघान् खेचरी नामैषा गुटिका नाशयति। इति खेचरीगुटीबन्ध.॥ ४६९-४८० ॥

खेचरी गुटिका बनाने की विधि—काले धत्तूरे के बीजों के आठ तोले तैल में तीन टक शुद्ध पारे को सात दिन तक मर्दन करे जब मर्दन करते-करते जलौका के आकार का पारा हो जावे तब उडद के चून को गीला कर के उसमें पारे को भली भाँति बन्द कर दे और ऊपर से सूत के धागे से वेष्टन करके सूर्य की धूप में उस बत्ती को भली भाँति सुखा ले। तत्पश्चात् सरसों के १० सेर में उसको पकावे जब तेल जल जावे तब चूल्हे पर से उसको उतार कर ठंडी छाया मे रख दे। इसके बाद धीरे से उस बत्ती को लेकर अच्छे सुन्दर जलाशहीन दूध से भरे घडे में रख दे जब वह गुटिका सम्पूर्ण दूध को सुखा दे तब उसे उस घडे से निकाल कर बकरे के मुख में रख दे। बकरे के मुख में रखने से उसके हृदय में जलन शुरू हो जाती है और वह अतिशय व्याकुल होते हुए कहीं भी शरीर में शान्ति का अनुभव प्राप्त नहीं करता है। जब वह गुटिका उसके पेट में चली जाती है तब वह बकरा मर जाता है। इसके पश्चात् उसे निरापद जानकर बकरे के पेट से उसको बाहर निकाल कर साधक अपने मुख में रखे तो वह उस गुटिका के प्रभाव से बिना परिश्रम के अनुभव किये सौ योजन जा सकता है। सौ स्त्रियों से मैथुन करने पर भी उसका वीर्य स्खलित नही होता है। मुख में रहने से शरीर पर किसी प्रकार का आघात या प्रहार का ज्ञान नहीं होता है तथा अन्य बहुत से मुख में होने वाले दन्तघाती, जिह्वा और तालु

में होने वाले कण्ठशालूक आदि रोग, उपजिह्वा, द्विजिह्वा और अधिजिह्वा प्रभृतिक ६७ प्रकार के रोगों में होने वाले कफमाप्त रोग तथा हृद्रोग और पीनस आदि समस्त रोगों को यह गुटिका नष्ट कर देती है ॥ ८६९-८८० ॥

अथ पारद-सेवनविधिं व्याख्यास्याम —

क्षेत्रीकृतनिजदेहः कुर्वीत रसायनं मतिमान् ।
विधिना पथ्यविधानादमरदेहतुल्यदेहः स्यात् ॥ ४८१ ॥

क्षेत्रीकृतनिजदेह इत्यादि । विधिना-शास्त्रोक्तविधिना तदुक्तं यथा—'आदौ प्रातः प्रातः सैन्धवयुक्तं घृतं पिबेत त्रिदिनम् । तदनु क्वाथं त्रिदिनं प्रयुञ्जीत केनकीतनुजम् ॥' इत्यादिः । तन्त्रान्तरे च-क्षेत्रीकरणानन्तरं रसायनसेवनायानुकूलकालादिदर्शनमप्युपदिष्टम् । देवयामलकतन्त्रे यथा-'सुमुहूर्ते सुनक्षत्रे त्वनुकूलदिने गृहे । शुक्लपक्षे च पुण्याहे पुण्याहं वाचयेत्सुधी ॥ पूजयेद्योगिनीं चक्रं रसेन्द्रगुरुभैरवौ । विप्रांश्च भोजयेत्पश्चाद्यथा विभवविस्तरम् ॥ रसायनविधानाय कल्पिते स्वगृहोत्तमे । सुधाधौते सुधाशुभ्रे प्रत्यहं मार्जिते गृहे ॥ इत्थं गृहे भूगृहे वा विजने वा समाचरेत् । प्रियं स्वभक्तं निर्लोभमनुरक्तमलोलुपम् ॥ सदाचारं बुधं प्राज्ञं सहायं परिकल्पयेत् । नासहायः प्रकुर्वीत सर्वथा रससाधनम् ॥' इति । क्षेत्रीकृतनिजदेह'-अक्षेत्रं क्षेत्रं क्रियत इति क्षेत्रीकृतश्चासौ निजदेहः शरीरं येन च स तथोक्तः । मतिमान् रसायन-यज्जराव्याधिनाशनं कुर्वीत । कुतः पथ्यविधानात्-पथ्याचरणात् । अमरदेहतुल्यदेहः स्यात् ॥ ४८१ ॥

पारद सेवन की विधि—बुद्धिमान् पाचन, स्नेहन आदि पञ्चकर्मों द्वारा अपने शरीर का क्षेत्रीकरण (शुद्धीकरण) करके शास्त्रोक्त विधि से और पथ्य से रसायन का प्रयोग करे तो अजर एवं अमर देह हो जाता है ।

वक्तव्य—'क्षेत्रीकृतनिजदेह.' अपने शरीर को ४९० में आगे कहे हुए शुद्धीकरण के अनुसार रसायन सेवन योग्य बनाकर रसायन सेवन करना चाहिए । जब तक शरीर को शुद्ध करके ऐसा नहीं बना लिया जाता है कि रसायन के गुणों का यथावत् विकास हो सके तब तक रसायन सेवन करना निरर्थक होता है । इसीलिए रसशास्त्रकारों ने शरीर के क्षेत्रीकरण के लिए जोर दिया है । अर्थात् जब तक खेत को भलीभाँति जोत कर खाद आदि देकर तथा विकृत झाड-झंकाडों को दूर करके तैयार नहीं किया जाता है तब तक बोया हुआ बीज भली प्रकार फलता-फूलता नहीं है उसी प्रकार शरीर को भी रसायनरूपी बीज के पनपने और विकास के लिए तैयार करना ही क्षेत्रीकरण होता है ॥ ४८१ ॥

अक्षेत्रीकरणे सति रसायनं यो नरः प्रयुञ्जीत ।
तस्य क्रामति न रसः सर्वाङ्गदोषकृद्भवति ॥ ४८२ ॥

क्षेत्रीकरणमन्तरेण रसायनप्रयोगो न केवलं फलाभावं करोति किन्तु सर्वाङ्गदोषजनकोऽपि भवतीत्याह—अक्षेत्रीकरण इत्यादि । यो नरः अक्षेत्रीकरणे न क्षेत्रीकरणमक्षेत्रीकरणं तस्मिन् सति देहे रसायनं प्रयुञ्जीत । तस्य शरीरे रसो न क्रामति—स्वगुणान्न प्रकटयति, अपितु सर्वाङ्गदोषकृद्भवति—बाहुचरणादिषु षट्स्वङ्गेषु विकारकृद् जायते ॥ ४८२ ॥

ऊपर यह बात कही गयी है कि क्षेत्रीकरण के बिना रसायन का प्रयोग कोई लाभकर नहीं होता है इसी बात की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार यह भी कहता है कि फलाभाव ही नहीं

किन्तु शरीर-शुद्धि के विना रसायन का प्रयोग दोषकारक भी होता है। जैसे कि—शरीरशुद्धि के बिना जो मनुष्य रसायन का प्रयोग करता है उसके शरीर में रसायन का क्रामण (प्रसरण) तो होता ही नहीं, किन्तु विपरीत इसके सम्पूर्ण देह में विकार हो जाता है ॥ ४८२ ॥

अक्षेत्रीकरणे सूतोऽप्यमृतोऽपि विषं भवेत्।
फलसिद्धिः कुतस्तस्य सुवीजस्योषरे यथा ॥ ४८३ ॥

क्षेत्रीकरणाभावे फलाभावमाह-अक्षेत्रीकरण इत्यादि। अक्षेत्रीकरणे—न क्षेत्रीकरणम् अक्षेत्रीकरणं तस्मिन् देहे, अमृतोऽपि—अमृततुल्यगुणोऽपि सूतः क्वचित्पुस्तके 'अमृतोऽपि' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। विष—विषतुल्यगुणदायकं भवेत्। तस्य—सुधातुल्यगुणस्य सूतस्याक्षेत्रीकरणे शरीरे कुतः—फलसिद्धि—न कुत्रापीति भावः। यथा ऊपरे—क्षारयुक्तायां भूमौ सुवीजस्य फलसिद्धिर्न भवेत्तथैव। यथा रसतरङ्गिण्या—'सुवीजमपि संस्कृतं कृषिविधानदक्षैरिह, प्ररोहति न कर्हिचित् सुविततोषरोर्वं यथा। तथैव सुभिषग्वरैरकृतपञ्चकर्म क्रमे, नरे हि न रसायनं फलति जातु संयोजितम् ॥' इति ॥ ४८३ ॥

विना शुद्धिकरण किये शरीर में अमृत के समान पारे का प्रयोग भी विष के तुल्य हो जाता है जिस प्रकार ऊषर भूमि में सुन्दर वीज के वोने पर भी फलप्राप्ति कहाँ होती है, कहीं नहीं ॥

कर्तव्यं क्षेत्रीकरणं सर्वस्मिंश्च रसायने।
नाक्षेत्रकरणाद्देवि किंचित्कुर्याद्रसायनम् ॥ ४८४ ॥

क्षेत्रीकरणेनैव रसायनाना सिद्धिरिति प्रदर्शयन्नाह-कर्त्तव्यमित्यादि। सर्वस्मिंश्च रसायने—रसायनकर्मणि, क्षेत्रीकरण रसायनसेवनयोग्यपरिष्कृत शरीरं कर्तव्यम्। कुतो हे देवि, अक्षेत्रकरणात्—न क्षेत्रम् अक्षेत्र तस्मात् ल्यब्लोपे तत्कर्मणि पञ्चमी, रसायनं—जराव्याधिविनाशनयोग्यमपि न किञ्चित् कुर्यात् ॥ ४८४ ॥

सम्पूर्ण रसायन कर्म में शरीरशुद्धि बहुत आवश्यक और अनिवार्य है। विना शरीर-शुद्धि के हे देवि, रसायन का सेवन करना निरर्थक और अपायकर होता है। यह गुप्त रहस्य भगवान् शिव ने पार्वती से प्रगट किया है ॥ ४८४ ॥

अथ नित्यनाथः—

पञ्चकर्मपुरा कृत्वा पश्चात्सकलदेहिनाम्।
योजनीयो रसो दिव्यः शीघ्रं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४८५ ॥
नवज्वरेऽतिसारे च गर्भिण्यां वालवृद्धयोः।
न कुर्यात् पञ्चकर्माणि रक्तस्रावं च दाहनम् ॥ ४८६ ॥
पाचनं स्नेहनं स्वेदो वमनं रेचनं तथा।
एतानि पञ्चकर्माणि ज्ञातव्यानि भिषग्वरैः ॥ ४८७ ॥
अमृतं च विषं प्रोक्तं शिवेन च रसायनम्।
पञ्चकर्मभयत्रस्तैः सुकुमारैर्नरैरिह ॥ ४८८ ॥
रेचनान्ते इदं सेव्यं सर्वदोषापनुत्तये।

पञ्चकर्मेत्यादि। सकलदेहिनां पुरा पञ्चकर्म—पाचन, स्नेहनं, स्वेदनं, वमनादिकं च कृत्वा पश्चात् दिव्यः पारदो योजनीयः। तेन च शीघ्र सिद्धि यथोक्त फलप्राप्तिमवाप्नु-

यात्। पञ्चकर्माणि कुत्र न कुर्यादिति प्रतिपादयन्नाह–नवज्वरे–तरुणज्वरे, अतिसारे, गर्भिण्यां, बालवृद्धयोश्च पञ्चकर्माणि–पाचनादीनि न कुर्यात्। पुनश्च पूर्वोक्तेष्वेतेषु रक्तस्राव, दाहनम्–अग्निकर्मापि न कुर्यात्। पाचनं–चित्रकादिद्रव्यैः, स्नेहनं–घृतादिद्रव्यैः, स्वेदः–वस्त्रादिपुटवह्निना, वमनं–मदनफलादिद्रव्यैः। रेचनं–त्रिवृतादिद्रव्यैश्चेति। साधकैरेतानि पञ्चकर्माणि भिषग्वरैर्ज्ञातव्यानि। शिवेन विधिना सेवितं रसायनं सुधासदृशं विधिहीनं तु विषं प्रोक्तम्। इह कर्मणि पञ्चकर्म भयत्रस्तैर्नरैः रेचनान्ते–विरेचनान्तरमेव सर्वदोषापनुत्तये इदं रसायनं सेव्यम्॥ ४८५–४८८॥

रससिद्ध नित्यनाथ का मत है कि—समस्त देहधारियों को रसायन प्रयोग से प्रथम पञ्चकर्म करके अपने शरीर की शुद्धि करनी चाहिए और तत्पश्चात् उत्तम रस का प्रयोग करें तो शीघ्र ही सिद्धि मिलती है किन्तु यह स्मरण रहे कि नवज्वरी, अतिसाररोगी, गर्भिणी, बालक और वृद्ध इनके लिए पञ्चकर्म, रक्तस्राव एवं अग्निकर्म का विधान नहीं है। पाचन, स्नेहन, स्वेदन, वमन और विरेचन ये पञ्चकर्म शरीर–शुद्धि के लिए हैं। साधक का कर्तव्य है कि वह रसायन प्रयोग से पहिले वैद्यों द्वारा इन पञ्चकर्मों को भलीभाँति जान ले। भगवान् शिव का कथन है कि बिना शरीरशुद्धि के अमृत भी विष तुल्य होता है। परन्तु पञ्चकर्म के भय से भयभीत ऐसे सुकुमारों के समस्त दोषों को दूर करने के लिए केवल विरेचन देकर ही रसायन का सेवन करना लिखा है॥ ४८५–४८८॥

अथान्यच्च—

स्निग्धं स्विन्नं विरक्तं च नीरुजं सिद्धभेषजैः।
एतत्क्षेत्रं समासेन रसबीजार्पणक्षमम्॥ ४८९॥

स्निग्धमित्यादि। स्निग्ध–घृतादिस्नेहनद्रव्यैः कृतस्नेहनम्, स्विन्न–विहितस्वेदनकर्म, विरिक्तमिति पदेन वमनं विरेचनं चेति द्वयमेव बोध्यम्। उक्तं हि–'उभयं वा शरीरमलविरेचनाद्विरेचनमिति संज्ञा लभते।' इति। पुनश्च सिद्धभेषजैः–नीरुज–प्राप्तारोग्यं स्यादिति शेषः। एतत्क्षेत्र–परिष्कृतशरीर रसबीजार्पणक्षमं–पारदबीजभक्षणसमर्थं समासेन कथितमिति भावः॥ ४८९॥

अन्य प्रकार—भलीभाँति स्नेहन, स्वेदन और विरेचन कर्म हो जाने पर सिद्धौषधियों द्वारा निरोग हुए मनुष्य का शरीर संक्षेपतः क्षेत्र (शुद्ध) कहलाता है और यही रसबीज अर्पण करने के योग्य है॥ ४८९॥

ऊपर रसायन सेवन करने से प्रथम क्षेत्रीकरण (शरीर शुद्धि) का उल्लेख किया गया है शरीर-शुद्धि के बिना रसायन का सेवन करना निरर्थक ही नहीं, अपितु विकार-कर भी है यह बात ऊपर बताई है। अब आगे शरीरशुद्धि किस प्रकार करनी चाहिए उसके प्रयोगों को और विधान को प्रतिपादित किया जावेगा।

स्निग्धं प्रातस्त्रिदिनं घृतसैन्धवपानेन, स्विन्नं वस्त्रादिपुटवह्निना, विरिक्तमिच्छाभेदिनाराचादिसेवनेन, पलाशबीजजन्तुघ्नगुडमोदकभक्षणेन कीटपातनमपि कर्तव्यम्। सिद्धभेषजैर्नीरुजं संवत्सरमयनं वा परिशीलितैः शृङ्गाराभ्रकलक्ष्मीविलासाद्यभ्रसत्त्वप्रधानप्रयोगैरिति भावः॥ ४९०॥

पूर्वोक्तमेव विस्तरेण प्रपञ्चयति–स्निग्धमित्यादि। प्रातः–प्रभातसमये त्रिदिनं यावत् घृतसैन्धवपानेन स्निग्धं–स्नेहनं कर्तव्यम्। वस्त्रादिपुटवह्निना, आदिना कार्पासमृल्लवण-

प्रभृतीनां ग्रहणम्। एतेषां पुटेन-पोट्टलिकारूपेण वह्निना प्रतप्तेन सेक इति स्विन्नं कर्तव्यम् । इच्छाभेदिरस', नाराचरसः आदिशब्देन अश्वकञ्चुक्यादीनां ग्रहणम् । एतेषां सेवनेन विरिक्त कर्तव्यम्। पलाशबीज, जन्तुघ्नं-विडङ्गं, गुडः-इक्षुविकारः, एषां मोदकभक्षणेन कीटपातनं-क्रिमिनिस्सारणमपि कर्तव्यम् । सिद्धभेषजे' सिद्धौषधिभिः संवत्सर यावत् अथवा अयन-वर्षार्धं यावत् परिशीलितै-अभ्यस्तै', नीरुज-रोगरहितं कर्तव्यम्। किम्भूतै सिद्धौषधिभिः श्रृङ्गाराभ्रक लक्ष्मीविलासादिभिस्तथाभ्रकसत्वं प्रधानं मुख्यत्वेन वर्तते प्रयोगेष्वेषु तै. सिद्धप्रयोगैरिति भावः ॥

स्नेहन आदि का विधान—प्रात काल तीन दिन तक सेन्धानमक और घृत का पान करके स्नेहन करे, वस्त्र, कपास और मिट्टी आदि की पोट्टली से अग्नि द्वारा सेक करके स्वेदन, इच्छाभेदी रस, नाराचरस प्रभृति का सेवन करके विरेचन, मदनफलादि द्वारा वमन और पलाशबीज, वायविडङ्ग तथा गुड इन तीनों को मिलाकर गुटिका बनाना और उसका सेवन करके पेट से कीडों का पातन भी करना चाहिए। इस प्रकार शरीर को अन्तर्बाह्य शुद्ध करके उसको बनाना चाहिए अर्थात् यत्किञ्चित् भी न्यूनाधिक का असर शरीर पर न हो और आकस्मिक प्रहारों को जो देश, काल और स्वभाव भेद से उपस्थित होते हैं उनको सहन करने के लिए, नीरोग अवस्था में छ मास अथवा बारह मास तक श्रृङ्गाराभ्रक और लक्ष्मीविलासादि अभ्रकसत्व प्रधान सिद्धौषधियों का परिशीलन करने के बाद जब कि यह भलीभाँति समझ लिया जावे कि शरीर सर्वथा स्वस्थ, सबल और सक्षम हो गया है तभी रसायन का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा उसका परिणाम सुखकारक नहीं हो सकता है ॥ ४९० ॥

उक्त च—

मृताभ्रं भक्षयेन्मासमेकमादौ विचक्षणः ।
पश्चात्तं योजयेद्देहे क्षेत्रीकरणमिच्छतः ॥ ४९१ ॥

अथ क्षेत्रीकरणमाह-मृताभ्रमित्यादि। विचक्षणः, आदौ रसभक्षणतः, एकं मासं यावत् मृताभ्र भक्षयेत्। मासमित्युपलक्षणं संवत्सरमयन वा इत्यादि स्वयमेव कथितत्वात् पश्चात् क्षेत्रीकरणमिच्छतः-अक्षेत्रं क्षेत्र क्रियत इति क्षेत्रीकरण तदिच्छतः-रसायनसेवनयोग्यपरिष्कृत देह वाञ्छतो नरस्य देहे त सिद्धं पारदं योजयेत् ॥ ४९१ ॥

बुद्धिमान् प्रथम एक मास तक अभ्रकभस्म का सेवन करे। एक मास कहने का तात्पर्य यह है कि उसके शरीर में जब तक रसायन-सेवन की योग्यता न आ जावे तब तक अर्थात् एक साल और छ मास तक भी उसका अखण्ड सेवन आवश्यक हो जाता है। इसके पश्चात् क्षेत्रीकरण की इच्छा से शरीर में रसायन का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार शरीर-शुद्धि और उसकी नीरोगता के साथ सक्षमता को देखकर रसायन का सेवन शास्त्रोक्त फलदायी होता है ॥

इति शुद्धो जातबलः शाल्योदनजाङ्गलादिमुद्गरसैः ।
क्षेत्रीकृतनिजदेहः कुर्वीत रसायनं मतिमान् ॥ ४९२ ॥

अथ विरेचनादिशुद्ध्यनन्तर रसायनभक्षणात्प्राक् शाल्योदनादीनामपि सेवन कर्तव्यमित्याह—इतीत्यादि । इति-पूर्वोक्तविरेचनादिभिः शुद्धः, क्षेत्रीकृतनिजदेह.-रसायनसेवनयोग्यप्राप्तवपुष्क' शाल्योदनजाङ्गलादिमुद्गरसै' शाल्योदन-पक्वशालिः, 'कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ता. शालय. स्मृताः।' इति। जाङ्गलं वातभूयिष्ठं तद्देशवासिजीवानां मांसम्, अथवा 'स्वल्पाम्बुशाखी-देशो जाङ्गल' तद्देशजं लब्धम् तद्देशे वा आवासः

आदिशब्देन मुद्गादीनामन्येषामपि ग्रहणम्। मुद्ग'-प्रसिद्धः, एभिर्जातवलः सन् मतिमान् रसायनं कुर्वीत। तन्त्रान्तरेऽपि 'क्षेत्रीकृतनिजकायः कामं शाल्योदनादिपथ्याशी। लब्धबलो रसभोक्ता विदधीत रसायनं प्राज्ञः॥' इति॥ ४९२॥

उक्त विधि से जब भलीभांति शरीर शुद्ध हो जावे और पथ्यकारक शालि चावलों का भात, जाङ्गल देश के जीवों का मांस तथा मूंग आदि के रसों से बल प्राप्त एवं क्षेत्रीकरण युक्त जिसका शरीर हो गया है ऐसे विद्वान को रसायन का सेवन करना चाहिए॥ ४९२॥

घनसत्त्वपादजीर्णोऽर्धकान्तजीर्णश्च तीक्ष्णजीर्णश्च।
क्षेत्रीकरणाय रसः प्रयुज्यते भूय आरोटः॥ ४९३॥

अथ क्षेत्रीकरणानन्तर रसप्रयोगमाह-घनेत्यादि। घनसत्त्वजीर्णः-चतुर्थांशाभ्रकसत्त्वजीर्ण', अर्धकान्तजीर्णश्च-पादद्वयकान्तलोहभस्मजीर्णं' पारद इति सर्वत्र योज्यम्। तीक्ष्णजीर्णश्च-समभागतीक्ष्णलोहभस्मजीर्ण.। 'भागे ह्यनुक्ते समता विधेये'ति परिभाषा। एवम्भूतो रसः सम्पाद्य'। अत्र प्रथमं क्षेत्रीकरणाय-क्षेत्रीकरणमस्यास्तीति तादृशाय पुरुषाय क्षेत्रीकृतशरीरायेत्यर्थः'। आरोटः-शुद्धपारदः प्रयोज्यः। रसकामधेनौ यथा-'स्वेदनमर्दनशुद्धं सूत वारास्तु पाचयेत्सप्त। इत्यारोट. सूत' क्षेत्रीकरणे प्रयुज्यते प्रथमम्॥' इति भूयो घनसत्त्वादिजीर्णो रसः प्रयुज्यते। गुरुसम्प्रदायानुरोधेनेयं व्याख्या। क्वचित्पुस्तके'आरोट' इत्यत्र 'आरोग्याय' इति पाठान्तरम्॥ ४९३॥

क्षेत्रीकरण किये हुए शरीर वाले के लिए चतुर्थांश अभ्रकसत्त्वजीर्ण, आधा कान्तजीर्ण और समभाग तीक्ष्ण भस्म जीर्ण ऐसे पारे का सर्वप्रथम प्रयोग करना चाहिए और उसके बाद शुद्ध पारद का प्रयोग करना चाहिए॥ ४९३॥

योऽग्निसहत्वं प्राप्तः संजातो हेमतारकर्ता च।
बद्धो रसश्च भुक्तो विधिना सिद्धिप्रदो भवति॥ ४९४॥

य इत्यादि। य पारदोऽग्निसहत्वं-वह्नौ स्थायित्वं प्राप्तो हेमतारकर्ता-हेम्नः-सुवर्णस्य तारस्य-रजतस्यानयोर्द्वयोः कर्ता-समुत्पादको निर्मापकश्च सजातः सन् तथा बद्धो रसो विधिना-शास्त्रोक्तपारदभक्षणविधिना भुक्तश्चेत् सिद्धिप्रदोऽणिमाद्यष्टसिद्धिप्रदायको भवति। अग्निसहत्वादिगुणयुक्तस्य पारदस्य विधिवत्सेवनेनाणिमाद्यष्टसिद्धीनां प्राप्तिर्भवतीति भाव॥ ४९४॥

जो पारा अग्निस्थायी, सुवर्ण तथा चाँदी बनाने वाला और बद्ध हो चुका हो, वह विधानपूर्वक सेवन करने पर अणिमादि आठ सिद्धियों के फल को देने वाला होता है॥ ४९४॥

प्रभाते भक्षयेत्सूतं पथ्यं यामद्वयाधिके।
नोल्लङ्घयेत्त्रियामं तु मध्याह्ने चैव भोजयेत्॥ ४९५॥
ताम्बूलान्तर्गते सूते विड्बन्धो नैव जायते।
सकणाममृतां भुक्त्वा मलबन्धे स्वपेन्निशि॥ ४९६॥

प्रभात इत्यादि। प्रभाते-प्रातः काले सूतं भक्षयेत्। ततो यामद्वयाधिके-पारदभक्षणतः प्रहरद्वयानन्तर पथ्यान्नं भक्षयेत्। त्रियाम-प्रहरत्रय च नोल्लङ्घयेत्। मध्याह्ने निश्चयेन भक्षयेत्। क्वचित् पुस्तके 'मध्याह्ने नैव भक्षयेत्' इति पाठान्तरम्। पारदभक्षणेन विड्बन्धो भवतीति परिहरन्नाह-सूते ताम्बूलान्तर्गते-नागवल्लीदलमध्ये संरक्ष्य

भक्षिते सति विड्वन्धो नैव जायते। यदा कदाचित् मलबन्धे सति सकणाममृतां-पिप्पलीसहितां हरीतकीं भुक्त्वा रात्रौ स्वपेत्। तेन च तद्विकारः शाम्यति ॥४९५-४९६॥

रसभक्षण करने का समय—प्रातःकाल पारे का सेवन करना चाहिए और उसके दो प्रहर पश्चात् पथ्ययुक्त स्वल्प, शुद्ध और सात्म्य भोजन लेना चाहिए। तीन प्रहर तक बिना पथ्य लिए कदापि रहना नहीं चाहिए। मध्याह्न में भोजन अवश्य कर लेना चाहिए। पारद-भक्षण से विड्बन्ध (मलबद्धता) होने की सम्भावना प्रायशः रहती है किन्तु नागर पान में पारे को रखकर खाने से विड्बन्ध नहीं होता है और कदाचित् ऐसा करने पर भी विड्बन्ध हो ही जावे तो रात को सोते समय हरड और पीपल का चूर्ण मिलाकर खावे और सो जावे तो विड्बन्ध की विकृति नहीं होती है। और प्रातः काल भूख अच्छी खुल कर लगती है। टट्टी साफ हो जाती है। मन, आत्मा और इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं ॥ ४९५-४९६ ॥

अथ रसमात्राप्रमितिः—

वल्लमेकं नरेऽश्वे तु गद्याणैकं गजे द्वयम्।
सर्वरोगविनाशार्थं भिषक् सूतं प्रयोजयेत् ॥ ४९७ ॥

वल्लमित्यादि। नरे, एकं वल्लं गुञ्जात्रयं द्वयं वा सर्वरोगविनाशार्थं भिषक् सूतं प्रयोजयेत्। तथैव सर्वत्र ज्ञेयम्। गद्याणैक यावत् 'गद्याणो माषकैः षड्भिरि'ति परिभाषा। गजे-हस्तिनि द्वय-गद्याणद्वयमिति यावत् ॥ ४९७ ॥

रसभक्षण की मात्रा का प्रमाण—मनुष्य को तीन रत्ती, घोडे को छः माशे और हाथी को बारह माशे की मात्रा से पारे का सेवन करना चाहिए। पारद का प्रयोग समस्त रोगों को नष्ट करने के लिए सर्वोपरि माना है।

वक्तव्य—प्रस्तुत पद्य में पारद-भक्षण के लिए जो मात्रा का संकेत किया है वह केवल संकेतमात्र ही है क्योंकि मनुष्य, घोडा और हाथी इन तीन का उल्लेख है इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से प्राणी हैं जिनका उल्लेख नहीं किया है। इतना ही नहीं मनुष्य-मनुष्य में भी विशेष प्रकार का अन्तर होता है। प्रकृति, देश, काल और अवस्था भेद से भी मात्रा में अन्तर होता है अतः ऊपर जो मात्रा का प्रमाण दिया है वह सर्वोपरि, सर्वसंगत और बन्धनकारक नहीं है अतः यह प्रमाण अधिक है या न्यून है इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। मात्रा का प्रमाण तो उसे ही ठीक करना होगा जो योजक होगा। यह तो केवल संकेत है जो कुछ अर्थों में सहायक ही है ॥ ४९७ ॥

मतान्तरम्—

घनसत्त्वकान्तकाञ्चीशङ्करतीक्ष्णाभ्रादिजीर्णस्य।
रसस्य गुञ्जावृद्ध्या माषकमात्रं परा मात्रा ॥ ४९८ ॥

घनेत्यादि। घनसत्त्वम्-अभ्रकसत्त्व, कान्तं-कान्तलोहं, तदुक्तं तन्त्रान्तरे यथा—'यत्पात्राध्युषिते तोये तैलबिन्दुर्न सर्पति। तारेणावर्तते यत्तत्कान्तलोह तदुच्यते ॥' इति। काञ्ची-ताप्य, शङ्करं-ताम्र, क्वचित् पुस्तके 'शङ्करमि'त्यत्र 'सङ्करमि'ति पाठान्तरम्। तीक्ष्णं-विश्रुतम्, अभ्रम्, आदिशब्देन तारादीनामपि ग्रहणम् एभिः पूर्वोक्तैरभ्रसत्त्वादिभिः जीर्णस्य रसस्य गुञ्जावृद्ध्या गुञ्जातो वृद्धिक्रमेण परा मात्रा माषकमात्रं यावद्भवतीति शेषः॥

अन्य प्रकार—अभ्रकसत्त्व, कान्तलोह, सुवर्णमाक्षिक, तावा, तीक्ष्णलोह और अभ्रक आदि का जिस पारद में जारण किया गया है उस पारद का सेवन करने के लिए एक रत्ती की मात्रा

मानी गई है। यह प्रारम्भिक मात्रा है इसकी क्रमशः वृद्धि करते २ एक माशे तक यह दिया जाता है। ग्रन्थकारने इसकी एक मासे की अन्तिम और सर्वोपरि मात्रा कही है। यहां भी योजक अपने अनुभव के अनुसार ही मात्रा का प्रयोग करे॥ ४०८॥

शिवः—

गुञ्जामात्रं रसं देवि हेमजीर्णं तु भक्षयेत्।
द्विगुणं तारजीर्णस्य रविजीर्णस्य च त्रयम्॥ ४९९॥

अथ स्वर्णादिजीर्णपारदस्य मात्राप्रमितिमाह-गुञ्जेत्यादि। स्वयमेव शिवः, देवीति सम्बोधनेन पार्वतीमनुलक्ष्य पारदस्य महिमानं प्राचकथत्। यथा हे देवि, हेमजीर्णं-रसं गुञ्जामात्र, तारजीर्णस्य पारदस्य द्विगुणं गुञ्जाद्वयं, रविजीर्णस्य-ताम्रजीर्णस्य सूतस्य च गुञ्जात्रयं यावत भक्षयेदिति ज्ञेयम्॥ ४९९॥

भगवान शिवका मत है कि हे देवि, पारद की मात्रा विभिन्न होती है जिस प्रकार का पारद होता है उसके अनुसार ही उसकी मात्रा होती है। उदाहरणार्थ जैसे कि-जिस पारद में सुवर्ण जारण किया गया है उसकी एक रत्ती की मात्रा होती है, रजतजीर्ण की दो रत्ती और ताम्रजीर्ण की तीन रत्ती की मात्रा होती है।

वक्तव्य—प्रस्तुत पद्य में सोना, चांदा और ताम्बा-जीर्ण पारद की मात्रा में अन्तर कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य जितना अधिक प्रभावी और उग्र होता है उसकी मात्रा उतनी ही कम होती है यह ऊपर के उदाहरण ने स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार द्रव्य की जिस प्रकार मात्रा होता है उसी प्रकार जिस मनुष्य या प्राणी को वह द्रव्य दिया जाता है उसके अनुसार भी उसमें अन्तर किया जाता है। द्रव्य की अपनी मात्रा होती है किन्तु जिस पर उसका प्रयोग होता है उसकी मात्रा उस से भिन्न होती है अतः मात्रा द्रव्य और सेवन करने वाले की शक्ति के अनुसार ही निश्चित होती है और यह विषय योजक की अपनी स्वतन्त्रता का है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि शास्त्रों में जो मात्रा का प्रमाण दिया है वह निरर्थक है। वह अत्यन्त आवश्यक है और उसी के आधार पर ही योजक की अपनी मात्रा निश्चित होती है उसके बिना तो कल्पना निराधार प्रतीत होती है॥ ४९९॥

फलम्—

तीक्ष्णजीर्णस्य लक्षायुः पलमात्रस्य भक्षणात्।
एवं दशपलं भुक्त्वा तीक्ष्णजीर्णस्य मानवः॥ ५००॥
तदा जीवेन्महाकल्पं प्रलयान्ते शिवं व्रजेत्।
भस्मनः शुल्वजीर्णस्य लक्षायुः पलभक्षणात्॥ ५०१॥
कोट्यायुर्ब्रह्मसायुज्यं वैष्णवं रुद्रजीवितम्।
द्वित्रिचतुःपञ्चषष्ठे महाकल्पायुरीश्वरः॥ ५०२॥

तीक्ष्णेत्यादि। तीक्ष्णजीर्णस्य-तीक्ष्णाख्य लोह तज्जीर्णस्य सूतस्य पलमात्रस्य भक्षणाल्लक्षायुः-लक्षैकवर्षजीवी स्यात्। एव मानवस्तीक्ष्णजीर्णस्य रसस्य दशपलं याव भुक्त्वा तदा सम्प्राप्तबलो महाकल्प यावत् 'द्वे युगसहस्रे द्वे ब्राह्मकल्पौ तु तौ नृणाम्।' इत्यमरः। जीवेन्नीरोगः सन् जगति विहरेत्। प्रलयान्ते कल्पान्ते मरणान्ते वा शिवलोक व्रजेत्। शुल्वजीर्णस्य रसेन्द्रस्य भस्मनः पलभक्षणात् लक्षायुर्भवति। द्विपलभक्षणे

कोटयायुः, त्रिपलभक्षणे सति ब्रह्मसायुज्यं, चतुःपलप्रमाणं ताम्रजीर्णं रसेन्द्रं सेवेत चेत् वैष्णवं-विष्णोरायुः, पञ्चपलभक्षणे रुद्रजीवितं रुद्रायुः प्राप्नुयात्। षष्ठे-षष्ठपलभक्षणे महाकल्पायुरीश्वरसमो भवेदित्यर्थः ॥ ५००-५०२ ॥

उपर्युक्त रसभक्षणका फल-मनुष्य की तीक्ष्णलोहजीर्ण पारे के एक पल (४ तोले) के सेवन से लाख वर्ष की आयु, दश पल (४० तोले) के सेवन से महाकल्प-पर्यन्त आयु होती है और वह प्रलय के अथवा मरण के पश्चात् शिवलोक में पहुँचता है। इसी प्रकार समभाग ताम्र भस्मजीर्ण पारे के एक पल (४ तोले) के खाने से लाख वर्ष की आयु, तथा दो, तीन, चार, पाच और छः पल पारे के खाने से क्रमशः करोड वर्ष की आयु, ब्रह्मायु, विष्णु की आयु, रुद्रायु और महाकल्पायु को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—यह ऊपर जो फल प्रतिपादित किया है इसका स्वानुभव न होने से केवल पारद-सेवन फलातिशयार्थ सा प्रतीत होता है। यह कहा तक युक्त है और इस विषय में आज तक किसीने प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है या नहीं यह अप्रत्यक्ष है। यदि सच में यह सिद्धान्त अनुभव से युक्त होता तो ऐसा व्यक्ति आज भी हम लोगों के सामने अवश्य होता किन्तु ऐसा प्रमाण कहीं है नहीं, फिर भी इस पर प्रयत्न करना चाहिए और अनुभव से इसका निर्णय होना चाहिए। यदि इस विषय को केवल असत्य ही कहा जावे तो भी इसका कोई आधार नहीं है अतः प्रत्यक्ष की महान् अपेक्षा है ॥ ५००-५०२ ॥

अथ हेमजीर्णस्य फलम्—

भस्मनो हेमजीर्णस्य लक्षायुः पलभक्षणात्।
विष्णुरुद्रशिवत्वं च द्वित्रिचतुर्भिराप्नुयात् ॥ ५०३ ॥

भस्मन इत्यादि। हेमजीर्णस्य पारदस्य भस्मनः पलभक्षणात् लक्षायुः स्यात्। द्वित्रिचतुर्भिः-द्वित्रिचतुःपलैः सेवनात् विष्णुरुद्रशिवायुष्यत्वं च प्राप्नुयादित्यर्थः।

सुवर्ण-जीर्ण पारे की भस्म का गुण—सुवर्णजीर्ण पारे की एक पल भस्म के सेवन से मनुष्य की लाख वर्ष की आयु हो जाती है। तथा दो, तीन और चार पल भस्म के सेवन से विष्णु, रुद्र और शिव की आयु को प्राप्त होता है ॥ ५०३ ॥

अस्यानुपानम्—

वह्नेर्बलाबलं ज्ञात्वा हेमजीर्णस्य रक्तिकाम्।
घृतेन मधुना चाद्यात् ताम्बूलं कामिनीं व्रजेत् ॥ ५०४ ॥

वह्नेरित्यादि। वह्नेः-अग्नेः पुरुषस्य च बलाबल-सबलत्वं निर्बलत्वं च ज्ञात्वा हेमजीर्णस्य सूतस्य रक्तिकां यावत् घृतेन मधुना च अद्यात्। ततस्ताम्बूलं-खदिरसुधाक्रमुकैलासहितं नागवल्लीदलं भुक्त्वा कामिनीं व्रजेत्। किन्तु नात्र मैथुनमाचरेदिति स्मर्तव्यं यथा हि-'मैथुनाच्चलिते शुक्रे जायते प्राणसंशयः।' इत्युक्तत्वात् क्वचित्पुस्तके 'व्रजेत्' इत्यत्र 'त्यजेत्' इति पाठान्तर समुपलभ्यते ॥ ५०४ ॥

अनुपान—मनुष्य की अग्नि के बलाबल को तथा मनुष्य के बलाबल और उसकी प्रकृति को देखकर सुवर्ण-जीर्ण पारे की भस्म को एक रत्ती की मात्रा में घी और शहद के साथ खिलावे और ऊपर से नागर पान का बीडा खाकर स्त्री के पास जावे।

वक्तव्य—'कामिनीं व्रजेत्' इसका तात्पर्य मैथुन से नहीं है केवल स्त्री के हाव-भाव और चुम्बनादि से शरीर में पारद का सक्रमण तत्काल होता है इसी बात की पूर्ति के लिए है अन्यथा

वीर्य स्खलित होने पर तो मृत्यु का संशय उपस्थित हो जाता है यह स्पष्ट आगे प्रतिपादित किया है ॥ ५०४ ॥

एको दोषो हि सूक्ष्मोऽस्ति भक्षिते भस्मसूतके।
त्रिसप्ताहाद्वरारोहे कामान्धो जायते नरः॥ ५०५ ॥
नारीसंगाद्विना देवि ह्यजीर्णं तस्य जायते।
मैथुनाच्चलिते शुक्रे जायते प्राणसंशयः ॥ ५०६ ॥

सम्यक् संस्कृतसूतसेवनेन सुरतान्धो जायत इति प्रदर्शयन्नाह—एक इत्यादि। शिवः स्वयमेव पार्वतीं प्रति हे वरारोहे, इति सम्बोधयन्नाह—हीतिनिश्चयेन भस्मसूतके भक्षिते सति एकः सूक्ष्मः—लघीयान् दोषोऽस्ति। किम्भूत त्रिसप्ताहात्—एकविंशतिदिवसेभ्यो नरः कामान्धो जायते। हे देवि, नारीसङ्गाद्विना—स्त्रीसम्पर्कराहित्यात् तस्य—सूतभक्षकस्याजीर्णं—पारदस्यापचनत्वं च जायते। तथा च मैथुनात्—प्रमदाभिरमणात् शुक्रे चलिते सति प्राणसंशयो जायते ॥ ५०५-५०६ ॥

पारे के खाने में किंचित् दोष—पारदभस्म के सेवन में एक ही दोष है। वह यह है कि २१ दिन में मनुष्य कामान्ध हो जाता है। भगवान् शिव कहते हैं कि स्त्री-प्रसङ्ग के बिना हे देवि, पारे का अजीर्ण हो जाता है स्त्री के सम्पर्क में, उससे बात-चीत करने से उसके अङ्ग-स्पर्श से जब शरीर में रोमाञ्च और उनकी आहट होती है तब ही पारद का शरीर में भलीभाँति क्रामण होता है अन्यथा वह ज्यों का त्यों रह कर शरीर में न फैलने से अजीर्णत्व को प्राप्त हो जाता है। इधर दूसरा संकट यह है कि स्त्रीसंग से यदि वीर्यपात हो गया तो प्राण जाने की पारी आजाती है। यह एक विचित्र परिस्थिति है कि सूत के सेवन से कामोत्तेजना होती है और स्त्रीसंपर्क बनाना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है किन्तु साथ ही वीर्यपात होना भयकर खतरा है अतः यह कार्य संयम की सीमातिरेक में पहुँच जाता है ॥ ५०५-५०६ ॥

तस्मादजीर्णशमनोपायमाह—

युवत्या जल्पनं कार्यं तावत्तन्मैथुनं त्यजेत्।
लघुतां शेफसो ज्ञात्वा पश्चादुगच्छन् सुखी भवेत्॥ ५०७ ॥

युवत्येत्यादि। युवत्या—सम्प्राप्तयौवनमदया प्रमदया सह जल्पनं—मनोरमात्मकभाषणमेव कार्यं तावत्—रससेवनपर्यन्तं प्राणसंशयकरं मैथुनं त्यजेत्। पश्चात् शेफसः—लिङ्गस्य लघुतां ज्ञात्वा यथेच्छं विहरन् सुखी भवेत्। तन्त्रान्तरे—'कामिनीनां सहस्रन्तु क्षोभयेद्दिवसान्तरे। नारीसंगाद्वरारोहे देहे क्रामति सूतकः॥ नारीसंगाद्विना देहे ह्यजीर्णं तस्य जायते। मैथुनाच्चलिते शुक्रे त्रिसप्ताहावधिक्रमात्॥ तदा मैथुनतः शुक्रमेहः स्यात्किं बहूच्यते। जायते प्राणसन्देहस्तस्मान्नो मैथुनं चरेत्॥ युवत्या जल्पनं कार्यं तथा चैवाङ्गमर्दनम्। यस्याः स्पर्शनमात्रेण रसः क्रामति विग्रहे॥ यथा यथा ह्लादयते सुस्त्रीरूपनिरीक्षणात्। तथा क्रामति देहेऽस्मिन् सूतकोऽसौ ततः क्रमात्॥' इति ॥ ५०७ ॥

अतः पारदाजीर्ण का शमनोपाय कहते हैं—पारद का क्रामण न हो और वह अजीर्णता के लक्षणों को प्रगट करे तो—स्त्री से केवल भाषणमात्र करना चाहिए किन्तु रस भक्षण करते समय तक मैथुन न करे, लिङ्ग में हलकापन और लघुता आने पर रसजीर्ण हो गया ऐसा जानकर सुखी होवे।

वक्तव्य—तन्त्रान्तरों के मन से स्त्री-समापण, अङ्गमर्दन, अङ्गस्पर्श और स्त्री के सुन्दररूप का अवलोकन ये सब पारद का शरीर में क्रामण करने वाले माने हैं तात्पर्य यह है कि जिस क्रिया से शरीर में रोमाच होता है तथा झनझनाहट होती है उमसे शरीर के प्रत्येक अवयव विकसित होते हैं और पारद को सक्रमण के लिए जगह मिल जाती है। यह कार्य अत्यन्त प्रेम में सरावोर होने से ही होता है। स्त्री-सम्पर्क ही ऐसा है जिसमें प्रत्येक प्राणिमात्र को अभिरुचि और आकर्षण होता है किन्तु यदि स्त्री के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं मनोरजन और रोमाचित होने का साधन हो तो वह भी उतना ही पारद का क्रामक होता है। यह बात आगे के श्लोक से स्पष्ट होती है॥ ५०७॥

ब्रह्मचर्येण वा योगी सदा सेवेत सूतकम्।
समाधिकरणं तस्य क्रामणं परमं मतम्॥ ५०८॥

योगिभिस्तु ब्रह्मचर्यपूर्वक रससेवनं विधातव्य—ब्रह्मचर्येणेत्यादि। अथवा कश्चिद्योगी-योगो यस्यास्तीति 'योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोध.।' सदाऽविच्छिन्न ब्रह्मचर्येण सूतकं सेवेत। तस्य-पारदस्य योगिशरीरे समाधिकरणं-चित्तवृत्तीनां नियमनमेव परमं क्रामणं कथितम्। प्रागजीर्णशमनार्थं सूतस्य शरीरे क्रामणार्थं युवत्या सह जल्पनादिकमुक्तं योगिनां च तन्निषेधाद् ब्रह्मचर्येणेत्यादि पृथग् विधानमिति तात्पर्यम्॥ ५०८॥

योगियों के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक रस-सेवन का विधान—अथवा कोई योगी हो और वह रस सेवन करना चाहे और रस-सेवन में स्त्री सपर्क आवश्यक कहा है क्योंकि उसके विना रस का क्रामण शरीर में होता नहीं और योगी के लिए ऐसा करना असम्भव होता है तब ग्रन्थकार कहता है कि योगी ब्रह्मचर्यपूर्वक सदैव रस का सेवन करे। योगी का समाधिकरण ही पारे का सर्वोत्तम क्रामण होता है।

वक्तव्य—यह ध्यान रहे कि जो खतरा अन्य व्यक्तियों को होता है-शुक्रपात से प्राण सकट उपस्थित हो जाता है वह योगी के लिए नहीं है क्योंकि उस के शुक्रपात का अवसर ही नहीं आता है। अतएव **'क्रामणं परमं मतम्'** यही कारण है कि समाधिकरण को उत्तमोत्तम क्रामण कहा है। समाधिकरण से शरीर के समस्त रोमाच खुले रहते हैं उनमें विकास होता है मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ एकाग्र रहती हैं जिस प्रकार कामुक व्यक्ति एकाग्र होता है उसको चेतन और अचेतन का ज्ञान नहीं होता है उसी प्रकार योगी भी एकाग्र होता है उसमें अन्य किसी वस्तु का प्रवेश असभव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये दोनों कामान्ध और योगी एक ही दशा में होते हैं। योगी यह सर्व प्रकार से उत्तम और निरापद् अवस्था में रहता है और कामान्ध सभी विपत्तियों के घेरे में रहता है॥ ५०८॥

अथ रससेवनकर्तुराहारादिनियममाह—

अत्यशनातिपाने च ह्यतिनिद्रातिजागरे।
स्त्रीणामतिप्रसङ्गं च ह्याध्मानं च विवर्जयेत्॥ ५०९॥
अतिकोपं महाहर्षमतिदुःखमतिस्पृहाम्।
शुष्कवादं जलक्रीडामतिचिन्तां च वर्जयेत्॥ ५१०॥
कूष्माण्डं कर्कटीं चैव कारवेल्लं कलिङ्गकम्।
कुसुम्भिकां च कर्कोटीं कदलीं काकमाचिकाम्॥ ५११॥

ककाराष्टकमेतद्धि वर्जयेद्रसभक्षकः ।
पातकं च न कर्त्तव्यं पशुसंगं च वर्जयेत् ॥ ५१२ ॥
चतुष्पथे न गन्तव्यं विण्मूत्रं न च लङ्घयेत् ।
वराणां निन्दनं देवि स्त्रीणां निन्दां च वर्जयेत् ॥ ५१३ ॥
सत्येन वचनं ब्रूयादप्रियं न वदेद्वचः ।
कुलत्थानतसीतैलं तिलान्माषान्मसूरकान् ॥ ५१४ ॥
कपोतान् काञ्जिकं चैव तक्रभक्तं च वर्जयेत् ।
हेमचन्द्रादयः प्राहुः कुक्कुटानपि वर्जयेत् ॥ ५१५ ॥
लवणाम्ले कटुं तिक्तं पित्तलं च विवर्जयेत् ।
वदरं नारिकेलं च सहकारं सुवर्चलम् ॥ ५१६ ॥
नारङ्गं काञ्चनारं च शोभाञ्जनमपि त्यजेत् ।
न वादजल्पनं कुर्याद्दिवा चापि न पर्यटेत् ॥ ५१७ ॥
नैवेद्यं नैव भुञ्जीत कर्पूरं वर्जयेत्सदा ।
कुङ्कुमालेपनं वर्ज्यं न स्वपेत्कुशलः क्षितौ ॥ ५१८ ॥
न तु हन्यात्कुमारीं च वातलानि च वर्जयेत् ।
क्षुधार्तो नैव तिष्ठेत ह्यजीर्णं नैव कारयेत् ॥ ५१९ ॥
दिवारात्रं जपेन्मन्त्रं नासत्यवचनं वदेत् ।
हितं दुग्धान्नमुद्गाज्यशाल्यन्नादि सदा भजेत् ॥ ५२० ॥
शाकं पौनर्नवं देवि मेघनादं सवास्तुकम् ।
सैन्धवं नागरं मुस्तां पद्मसूलानि भक्षयेत् ॥ ५२१ ॥
आत्मज्ञानं कथा पूजा शिवस्य च विशेषतः ।
एतांस्तु समयाद् भद्रे न लङ्घेद्रसभक्षणे ॥ ५२२ ॥

अतीत्यादि । अत्यशनम्-अतिभोजनम्, अतिपानम्, अतिनिद्राम्, अतिजागरं, स्त्रीणामतिप्रसङ्ग-जल्पनादिभिरतिसेवनम्, आध्मानम्-आनाहो भवेद्येन तदन्नादिकं सर्वं विवर्जयेत् । अतिकोपं, महादर्पम्, अतिदुःखम्, अतिस्पृहाम्, शुष्कवादम्—अकारणकलहं जलक्रीडाम्, अतिचिन्तां च वर्जयेत् । कूष्माण्डं, कर्कटी, कारवेल्लं, कलिङ्गकं, कुसुम्भिका, कर्कोटीं, कदलीं, काकमाचिका चेति ककाराष्टकं रसभक्षको वर्जयेत् । तथा पातकं-ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयादिकं न कर्तव्यं, पशुसङ्ग-महिषोष्ट्रखरादिपशुषु रतिं नाचरेत् । चतुष्पथे न गन्तव्यं, विण्मूत्रं च न लङ्घयेत् । हे देवि, वराणां, स्त्रीणां च निन्दां वर्जयेत् । सत्येन वचनं ब्रूयात् । अप्रियं न वदेत् । कुलत्थान्, अतसीतैलं, तिलान्, माषान्, मसूरकान्, कपोतान्, अत्र सर्वत्र बहुवचनत्वादेभिः पदार्थैर्निर्मितानां सर्वविकाराणां ग्रहणम् । काञ्जिकं, तक्रभक्तं च त्यजेत् । हेमचन्द्रादयो रसतन्त्रकर्तारः प्राहुः किञ्च कुक्कुटानपि वर्जयेत् । लवण-लवणद्रव्यम्, अम्लम्—आम्रचिञ्चादिकं, कटु—मरिचादिकं, तिक्तं—निम्बकिरातादिकं, पित्तल—पित्तकरं द्रव्यजातं च सर्वं विवर्जयेत् । वदरं, नारिकेलं, सहकारम्—आम्रं, सुवर्चलं—सौवर्चललवणं, नारङ्गं, काञ्चनारं, शोभाञ्जनं च त्यजेत् । वादं—वितण्डावादं, जल्पनं—जल्पवादं च न कुर्यात् । दिवा न पर्यटेत् । अपीति शब्देन रात्रावपि बोध्यम् । नैवेद्यं—शिवनि-

मांसं नैव भुञ्जीत । सदा रसभक्षकः कर्पूरमपि वर्जयेत् । कुङ्कुम-केशरं तस्यालेपनं च वर्ज्यम् । कुशलः क्षितौ न स्वपेत । तथा कुमारीं न हन्यात । वातलानि वातकराणि पानान्नभेषजानि च वर्जयेत् । कस्मिंश्चित्पुस्तके 'वातलानि' इत्यत्र 'मातुलानी' इति पाठान्तर-मुपलभ्यते । बुभुक्षितो नैव तिष्ठेत । अजीर्णम्-अधिकभोजनमपि नैव कुर्वीत । दिवारात्रं मन्त्रम्-अघोरमन्त्रं पञ्चाक्षरमन्त्रं वा जपेत । नासत्यवचनं वदेत् । पथ्या दुग्धान्नमुद्गाज्य-शाल्यन्नादि-दुग्धम्, अन्न-गोधूमादिकं, मुद्गम्, आज्यं-घृत, शाल्यन्न-रक्तशाल्यन्नम् । आदि-शब्देन अन्यदपि सात्म्यद्रव्य यत्स्यात् तत्सर्वं भजेत । हे देवि! पौनर्नवं, मेघनादं-तण्डु-लीयक, वास्तुक-चिल्लीशाकं, सैन्धव, नागरं-शुण्ठी, मुस्तं, पद्ममूलानि-कमलमूलानि, दुग्धादीन्येतानि रसभक्षकः सदा भक्षयेत् । पुनः रसभक्षणे दृढमनस्क आत्मज्ञानमा-लभेत । तथा विशेषत शिवस्य पूजा, कथा-तच्चरित्रश्रवण च हे भद्र-पार्वति, एतान्-नियमान् । समयादधिकं वा न लङ्घयेत ॥ ५०९-५२२ ॥

पारद सेवन करने वाले के लिए भोजन आदि का नियम--अतिभोजन, अतिमद्यपान, अति निद्रा, अतिजागरण, अतिस्त्रीप्रसंग, आतप, अतिक्रोध, अतिहर्ष, अतिदुःख, अतिचिन्ता, शुष्क वाद, जलक्रीडा, अतिनिन्दा, कोंहड़ा, ककड़ी, खरबूज (मतीरा), तरबूजा, करेला, बैंगन, करौंदा इन सबका रसभक्षणकर्ता परित्याग कर दे । पाप और पशुगमन न करे, चौराहे में न जाय और न विष्ठा-मूत्र का उल्लंघन करे, सत्पुरुष और स्त्रियों की निन्दा न करे, सत्य बोले किन्तु अप्रिय न बोले । कुलथी, अलसी का तेल, तिल, उड़द, मसूर, कबूतर का मांस, कांजी और खाद्य-पायस न खावे । हेमचन्द्र आदि रसतन्त्रकर्ताओं का मत है कि मुर्गी का मांस भी न खाया जावे । नमक, खट्टा रस, चरपरा, कड़वा, पित्तकारक, बेर, नारियल, आम, सोंचर नमक, लहसुन, कच-नार और सहजना इनका सेवन करे । वितण्डावाद, जलक्रीड़ा और दिन में भी पर्यटन न करे । नैवेद्य और कपूर का परित्याग न करे । केशर के तिलक और भूशयन का त्याग करे, कुमारी को न मारे और न वातकारक वस्तुओं का सेवन करे, न भूखा रहे और न अजीर्ण हो उतना भोजन करे, रात और दिन मन्त्र का जप करे, असत्य कदापि न बोले, हितकारी दूध, अन्न, मूंग, घी, षष्टिक चावल आदि का सदैव सेवन करे, पुनर्नवा का साग, चौलाई, बथुआ, सेन्धानमक, सोंठ, नागरमोथा और कमल के मूलों का सेवन उत्तम है । आत्मज्ञान कराने वाली कथा और शिव-पूजन का अभ्यास विशेष करे ॥ ५०९-५२२ ॥

अथ रसवाग्भटे पारदसेवने पथ्यमाह—

(साधितं पारदं शृङ्गदन्तवेण्वादिधारितम् ।
अर्चयित्वा यथाशक्ति देवगोब्राह्मणानपि ॥ ५२३ ॥
पर्णखण्डे धृतं सूतं जग्ध्वा तदनुपानतः ।
घृतसैन्धवधान्याकजीरकार्द्रकसंयुतम् ॥ ५२४ ॥
तण्डुलीयकधान्याकपटोलालाबुकादिकम् ।
कुस्तुम्बरी मरीचानि सैन्धवं समभागिकम् ॥ ५२५ ॥
व्यञ्जनार्थं कृतं दद्याद्रससेवकभोजने ।)

साधितमित्यादि । साधित पारदं शृङ्गवेण्वादिधारितम्-शृङ्गं-मृगशृङ्ग, दन्तं-हस्तिदन्तं, वेणुः-वंशः, एषां अन्यतमेषु पात्रेषु स्थापितम् । यथाशक्ति देवगोब्राह्मणानर्चयित्वा शङ्करपूजनमपि सर्वथोचितमस्तीति केचित् । ततस्तदनुपानतः-'वाते सक्षौद्रपिप्पल्यपि

च कफरुजि त्र्यूषणं साग्निचूर्णमि'त्यादिना, पर्णखण्डे घृतं सूतं जग्ध्वा ततो घृतं, सैन्धव, धान्याक, जीरकम, आर्द्रकम्, एभिः सहितं सस्कृतं तण्डुलीयक-मेघनादं, धान्याकं-शाकविशेषस्य ग्रहणम् । पटोलपत्रम्, अलाबुका, कुस्तुम्बरी मरिचानि च, व्यञ्जनार्थम्-शाकार्थं कृत समभागिकम, अर्थात् शाकादिकेषु मरिचलवणधान्याकानि यावत्प्रमाणानि भाव्यानि तावन्मितानि स्युरिति रससेवकभोजने दद्यात् ॥ ५२३–५२५ ॥

रसवाग्भट के मत में पारद-सेवन का पथ्य—मृगशृंग, हाथी दांत, वास आदि में रखे हुए सिद्ध पारे को गौ, ब्राह्मण, शिव आदि की यथाशक्ति पूजन करके पान में रखकर पूर्वोक्त अनुपान से सेवन करे। घी, सेन्धानमक, धनिया, जीरा और अदरकसहित चौलाई, धनिया, परवल, तुम्बी, हरी धनिया, मरिच, सेन्धानमक इनका यथायोग्य समभाग व्यञ्जन करके रसभक्षणकर्ता के भोजन में देवे ॥ ५२३–५२५ ॥

गोधूमजीर्णशाल्यन्नं गव्यं क्षीरं घृतं दधि ।
हंसोदकं मुद्गयूपः पथ्यवर्गः प्रकीर्तितः ॥ ५२६ ॥

गोधूमेत्यादि । गोधूम, शाल्यन्नं रक्तशालिधान्य, शाल्यन्न गोधूमं च जीर्णं ग्राह्यम् । क्षीर, घृत, दधि च गव्यं-गोरिदं, सर्वं क्षीरादिक गव्यमेव ग्राह्यम् । हंसोदकं-जलविशेषं तल्लक्षण यथा 'तप्तं तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरश्मिभिः । समन्तादप्यहोरात्रमगस्त्योदयनिर्विषम् । शुचि हंसोदकं नाम निर्मलं जलमुच्यते ॥' इति । मुद्गयूपः-तद्विधि'–'मुद्गानां द्विपलं तोये प्रस्तमर्धाढकोन्मिते । पादस्थ मर्दितं पूतं दाडिमस्य पलेन तत् ॥ युक्त सैन्धवविश्वाह्वधान्यकै' पादिकांशिकैः । कणाजीरकयोश्चूर्णं शन. केनावचूर्णितम् । संस्कृतो मुद्गयूपोऽयं पित्तश्लेष्महरो मत' ॥' इति । पारदसेवनकर्तुरयं पथ्यवर्गः प्रकीर्तित. ॥ ५२६ ॥

पथ्यवर्ग—पुराने गेहूं और साठी चावल तथा गौ का दूध, घी, दही एव हंसोदक नाम का जल और मूंग का यूप यह रससेवनकर्ता के लिए पथ्यवर्ग है ॥ ५२६ ॥

अथ पारदसेवनेऽपथ्यान्याह—

बृहतीबिल्वकूष्माण्डं वेत्राग्रं कारवेल्लकम् ।
माषान्मसूरान् निष्पावान् कुलत्थान् सर्षपांस्तिलान् ॥ ५२७ ॥
बन्धनोद्वर्तनस्नानताम्रचूडसुरासवान् ।
आनूपमांसधान्याम्लं भोजनं कदलीदले ॥ ५२८ ॥
कांस्ये च गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णोष्णं च भृशं त्यजेत् ।

बृहतीत्यादि । बृहती-बृहत्कण्टकारी, बिल्व, कूष्माण्ड, वेत्राग्र-वेत्राङ्कुरं, कारवेल्लक, माषान्, मसूरान्, निष्पावान्-राजमाषान्, कुलत्थान्, सर्षपान्, तिलान्, बन्धन, क्वचित्पुस्तके 'बन्धनमि'त्यत्र 'लङ्घनम्'इति पाठान्तरम् । उद्वर्तन, स्नानं ताम्रचूड-कुक्कुटमांस, सुरा-मद्यम्, आसवम्, आनूपमांस-जलसमीपवासिजीवाना, धान्याम्ल चैतान् सर्वान् पारदसेवक. परिवर्जयेत् । तथा कदलीदले, कांस्ये-कांस्यपात्रे च सात्म्यमपि भोजन त्यजेत् । पुन. किंभूतमाहार त्यजेत्, गुर्वन्न, विष्टम्भि-विष्टम्भजनकं, तीक्ष्णोष्ण द्रव्यं भृश त्यजेत् । सामान्यत. पथ्यज्ञानाय तन्त्रान्तरेण युक्ति. सम्पाद्यते–'अत्यम्लकटुतिक्तैश्च सूत. स्रवति सेवितैः । अत्यम्ललवणाहारैर्मन्दवीर्यो भवेद्रसः ॥' इति ॥ ५२७–५२८ ॥

पारे के सेवन में त्याज्य वस्तुएँ-बडी कटेरी, बेल, कोहडा, बेत का अकुर, करेला, उडद,

मसूर, वडे उडद, कुलथी, सरसों, तिल, वन्धन, उबटना, स्नान, मुर्गे का मांस, मल, आनर, जलसमीपवर्ती जीवों का मास, धनिया, खट्टा रस, केले अथवा कांसी के पात्र में भोजन, पचने में भारी, विष्टम्भी तथा तीक्ष्ण और उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों का सेवन न करे ॥ ५२७-५२८ ॥

वर्जयित्वा निषिद्धं तु विचित्ररसभुग्भवेत् ॥ ५२९ ॥
स्रवति न यथा रसेन्द्रो न च नश्यति जाठरो वह्निः ॥ ५३० ॥

अथ विचित्ररसयुतं भोजनमाह–वर्जयित्वेत्यादि । पारदसेवयितेति शेषः । निषिद्धं–निषेधितं यद्द्रव्यजातं तत्सर्वं वर्जयित्वा विचित्ररसभुग्भवेत् विचित्रान् विविधान् रसयुक्तानाहारादिकान् भुनक्तीति विचित्ररसभुक् जायेत ॥ अर्थान्निषिद्धवर्जितभोजनसेवनात् रसेन्द्रो देहाद्बहिर्न स्रवति पुनर्जाठरो वह्निरपि न नश्यति ॥ ५२९-५३० ॥

निषिद्ध द्रव्यों को छोडकर अनेक रसमिश्रित भोजन को हितकर माना है जिसके द्वारा न पारे का पतन हो और न जठराग्नि का ह्रास ही हो ॥ ५२९-५३० ॥

यद्यज्ञानात्कथमपि नागादिकलङ्कितो रसो भुक्तः ।
तत्स्रावणाय विज्ञः पिबेच्छिफां कारवेल्लभवाम् ॥ ५३१ ॥

अथाज्ञानादशोधितपारदभक्षणे तद्विषशमनोपायमाह–यदीत्यादि । यदि कथमपि अज्ञानात् नागादिकलङ्कितः–नागादिदोषसहितो रसो भुक्तश्चेत्तदा तत्स्रावणाय चतुरो रोगी कारवेल्लभवां शिफा–जटां कारवेल्लमूलमित्यर्थः । प्रस्तरे जलेन पिष्ट्वा प्रपिबेदित्यर्थः ॥

भूल से अशुद्ध पारे के खा लेने से उत्पन्न विष की शान्ति—यदि कथंचित् नागादिसप्तदोषयुक्त पारे का सेवन किया जाय तो उसके स्रावणार्थ करेले की जड को जल से घोटकर पीवे ॥ ५३१ ॥

अथ रसाजीर्णे शमनोपायमाह—

रसाजीर्णे महाव्याधींल्लक्षयेद्भिषगुत्तमः ।
अभ्यङ्गमनिलक्षोभे तैलैर्नारायणादिभिः ॥ ५३२ ॥
अरतौ शीततोयेन मस्तके परिषेचनम् ।
तृष्णायां नारिकेलाम्बु मुद्गयूषं सशर्करम् ॥ ५३३ ॥
उद्गारे सति दध्यन्नं कृष्णजीरं ससैन्धवम् ।
कार्षिकं स्वर्जिकाक्षारं कारवेल्लीरसप्लुतम् ॥ ५३४ ॥
गोमूत्रसैन्धवयुतं तस्य संस्रावणं परम् ।

रसेत्यादि । रसाजीर्णे सति । रसाजीर्णलक्षणं रसकामधेनौ यथा–'रसराजे त्वजीर्णे तु प्रत्ययोऽस्य भवेत्प्रिये । मूर्च्छाशोफौ भ्रमः कम्पश्छर्दिर्मोहो ज्वरस्तथा ॥ हिक्कावेपथुशूलानि निद्राऽऽलस्यमरोचकः । लिङ्गस्तम्भो ह्यतीसारः कासश्वासविजृम्भिकाः ॥ कर्णास्यचक्षुःकुक्षौ च वृषणोदरमूर्धनि । मन्ददाहो विबन्धश्च जातः सर्वाङ्गसश (च) यः । अन्यांश्चैव महाव्याधीन् रसाजीर्णे तु लक्षयेत्' ॥ इति । उत्तमो भिषक् महाव्याधीन्–दुःसाध्य रोगान् लक्षयेत् । अनिलक्षोभे–पारदाजीर्णेन क्षुभिते वाते सति तैलैर्नारायणादिभिः, आदिशब्देन विषगर्भादीनामपि ग्रहणम् । अभ्यङ्गं कुर्यादिति शेषः । अरतौ–ग्लानौ मस्तके शीततोयेन परिषेचनं कुर्यात् । तृष्णायां सत्यां नारिकेलाम्बु तल्लक्षणं यथा–'स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं बस्तिशोधनम् । वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नारिकेलोदकं गुरु ॥' इति । मुद्गयूषं च द्वयोः सशर्करं पिबेत् । उद्गारे सति ससैन्धवं कृष्णजीरकयुक्तं दध्यन्नं भक्षये-

रिति शेषः। तन्त्रान्तरे तु 'उद्गारे सति दध्यन्नं कृष्णमीन सजीरकम्।' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। अन्यच्च तस्याजीर्णस्य पारदस्य पर सन्नावण बहिर्नि सारणं यथा—कार्षिक स्वर्जिकाक्षार, चतुर्गुणकठिल्लकस्वरससप्लावितं तथा गोमूत्रसैन्धवयुत पिबेत्तेन बहिर्निर्गच्छति ॥ ५३३–५३४ ॥

रसाजीर्ण की शान्ति—रसाजीर्ण होने पर बहुत सी असाध्य व्याधियां हो जाती हैं। वातप्रकोप में नारायणादि तैलों का अभ्यङ्ग, ग्लानि में मस्तक पर ठंडे जल का परिषेचन, तृष्णा में नारियल का जल और शक्कर मिला मूंग का यूष, उद्गार (डकार) में दही से युक्त अन्न, कालाजीरा, सेन्धानमक और एक तोला सज्जीखार को चौगुने करेले के रस में तथा सेन्धानमक के साथ गोमूत्र में मलस्रावणार्थ देना चाहिए ॥ ५३३–५३४ ॥

तस्य रसाजीर्णस्य—

> कर्कोटीसिन्धुगोमूत्रं कारवेल्लीरसप्लुतम् ॥ ५३५ ॥
> सौवर्चलसमायुक्तं रसाजीर्णे पिबेन्नरः ॥ ५३६ ॥
> शरपुङ्खां सुरदालीं पटोलबीजं च काकमाचीं च।
> एतेषामेकतमं क्वथितमजीर्णे रसायने तु पिबेत् ॥ ५३७ ॥

कर्कोटीत्यादि। कर्कोटी—वन्ध्याकर्कोटकी, सिन्धु—सैन्धवलवण, गोमूत्र, कारवेल्लीरसप्लुत, सौवर्चलसमायुक्त च रसस्याजीर्णे सति नरः पिबेत्तेन तस्याजीर्णं प्रशाम्यति। अत्र कर्कोटीगोमूत्रकठिल्लकाना त्रयाणा चतुर्गुणो द्रवो प्राह्यः सैन्धवसौवर्चलयोः कर्ष इति तात्पर्यम् ॥ रसायने अजीर्णे सति शरपुङ्खा—प्लीहशत्रुः, सुरदाली—देवदाली, पटोलबीजं, काकमाची चैतेषा शरपुङ्खादीनामेकतम क्वथित पिबेत्तद्दोषपरिहारायेति भावः ॥५३५–५३७॥

दूसरा प्रकार—ककोटा, गोमूत्र और करेले का रस इन तीनों को सेन्धा नमक और संचर नमक से चौगुना लेकर पीने से रसाजीर्ण की शान्ति होती है तथा सरपुखा, देवदाली, परवल के बीज और मकोय इनमें से किसी एक का क्वाथ रसाजीर्ण में पावे ॥ ५३५–५३७ ॥

हारीतं प्रत्यात्रेयः—

> धान्यादीनां च सर्वेषां यवगोधूमषष्टिकाः।
> नेष्टास्तु विदलाः सर्वे मुक्त्वा मुद्गांस्तथाऽऽढकीम् ॥ ५३८ ॥

धान्यादीनामित्यादि। सर्वेषां धान्यादीना मध्ये यवगोधूमषष्टिका श्रेष्ठाः—स्वभावत एव हितकराः। तन्त्रान्तरे यथा—'शालीना लोहित शालि षष्टिकेषु च षष्टिकः। शूकधान्येष्वपि यवो गोधूमः प्रवरो मतः ॥' इति। नेष्टास्तु—स्वभावत एवाहितकरास्तु मुद्गांस्तथाढकीं मुक्त्वा सर्वे विदला—शिम्बीधान्याकाः स्मृता इति शेषः। यथा—'शिम्बीधान्ये वरो मुद्गो मसूरश्चाढकी यथा।' इति ॥ ५३८ ॥

सम्पूर्ण धान्यों में जौ, गेहूं और साठी चावल उत्तम होते हैं तथा मूँग, मसूर और अरहर को छोड़कर द्विदल धान्य सभी नेष्ट हैं ॥ ५३८ ॥

> आज्यं स्नेहे मधुषु मधुरं चेक्षुजाते हि यत्स्या-
> च्छ्रेष्ठं खण्डं वत वरसितं क्षारयुक्तं न तत्स्यात्।
> हिङ्गु श्रेष्ठं सकलसुरभौ सैन्धवं सिन्धुजेषु
> रागे यूषाः प्रवररजनीसूरणार्द्राश्च कन्दे ॥ ५३९ ॥

आज्यमित्यादि। स्नेहे–स्नेहद्रव्ये तैलादि आज्यं–घृतं, चरके यथा–'सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः। एभ्यश्चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्॥' इति अन्यत्राऽपि–'नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्तते। यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्॥' इति। मधुषु–मधुररसयुक्तेषु इक्षुजातम्–इक्षुरससमुद्भवं यन्मधुरं द्रव्यं स्यात्तच्छ्रेष्ठम्। तेष्वपि खण्डं, किम्भूतं वरसितं–सर्वास्वपि सितासु वर श्रेष्ठं तद्वरसितम्। पुनश्च किम्भूतं क्षारयुक्तं न स्यात्तदेतत्खण्डं श्रेष्ठं स्यात्। यथा तन्त्रान्तरे–'खण्डं तु विमलं श्रेष्ठं चन्द्रकान्तसमप्रभम्'इति। सकलसुरभौ–सर्वेष्वपि सुगन्धिद्रव्येषु हिङ्गु श्रेष्ठं तथा सिन्धुजेषु–सिन्धुसमुद्भवेषु सैन्धवलवणं श्रेष्ठमित्यध्याहारः। रागे—रागषाडवसट्टकादिके यूषाः श्रेष्ठाः कन्दे–समस्तेष्वपि कन्देषु रजनी–हरिद्राकन्दं, सूरणं–सूरणकन्दम्, आर्द्रं–शृङ्गवेरं च श्रेष्ठम्॥ ५३९॥

स्नेहोंमें घी, मधुर द्रव्यों में ईख से उत्पन्न समस्त मीठी वस्तुएँ और उनमें भी खाँड, तथा उससे भी अधिक क्षाररहित बूरा, सपूर्ण सुगन्धि द्रव्यों में हींग, सिन्धु से उत्पन्न वस्तुओं में सेन्धा नमक, राग, षाडव और सट्टक आदि में यूष और कन्दों में हलदी, सूरणकन्द तथा अदरक उत्तम होता है॥ ५३९॥

अशुभं पत्रशाकं तु सर्वाणि द्विदलानि च।
संस्कृतानि विधानेन न स्युर्दोषकराणि च॥ ५४०॥

अशुभमित्यादि। पत्रशाकं सकलमशुभं रसायनसेविनां विशेषतस्तु द्विदलानि शिम्बीधान्यानि च सर्वाणि अशुभानि किन्तु तान्येव विधानेन–यथोक्तविधिना संस्कृतानि च दोषकराणि न स्युः। अत्राऽऽशङ्कते कि चाशुभान्यपि कानिचिद् द्रव्याणि विधानेन संस्कृतानि कथं शुभानि जायन्ते। तदुक्तं चरके यथा–'गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्काराद् सविपर्ययम्। व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिकाः॥' इति। अनेन ज्ञायते किं च विधिना कृतसंस्कारवशादशुभस्य शुभं शुभस्याशुभ भवतीति भावः॥ ५४०॥

पत्ती के शाक और सपूर्ण द्विदलधान्य अहितकर होते है किन्तु वे ही जब विधानपूर्वक सस्कारित किये जावें तो निर्दोष एव हितकारी होते हैं॥ ५४०॥

केशादिजुष्टं कृतशीतमुष्णं शाकावरान्नैर्बहुलं महोष्णम्।
निशोषितं यल्लवणाधिकं च सन्त्याज्यमन्नं रससेविभिस्तत्॥५४१॥

केशादिजुष्टमित्यादि। यदन्नं केशादिजुष्टं–रोमपतनात्संदूषितम्, आदिशब्देन नख सिकतादीनामपि ग्रहणम्। कृतशीतमुष्ण–पूर्वं चोष्णं पश्चाच्छीतीकृतमिति कृतशीत पुनश्चोष्णम्। तन्त्रान्तरे यथा-'घृतं तैल च पानीय कषायं व्यञ्जनादिकम्। पक्त्वा शीतीकृत चोष्णं तत्सर्वं स्याद्विषोपमम्॥' इति। पुनः कीदृश शाकावरान्नैः शाक–पत्रादिशाकमवरान्न—स्वभावतोऽहितकरमन्न तैर्बहुल–सकर, महोष्ण, तथा–निशोषित रात्र्युषितम् अर्थात् सायन्तने पक्वमन्नं प्रातर्भुज्यते तदिति भावः। लवणाधिकं च तदन्न रससेविभिः सत्याज्यम्॥ ५४१॥

पारद सेवन करनेवालों के लिए त्याज्य अन्न—बाल, नख, कंकर आदि से युक्त, एक बार गरम करने पर ठडे को पुन गरम किये जाने पर, पत्तीका शाक और अहितकारी द्रव्यों से युक्त, अधिक उष्ण, रात का बासी और जिस में नमक अधिक हो वह अन्न रस खानेवालों को त्याग देना चाहिए॥ ५४१॥

तक्रं हितं स्नेहगतं तथा दधि गोक्षीरजातं सकलं हितं स्यात् ।
मुक्त्वा च तैलाम्बुसुरारनालं स्यादम्बुपानं न हितं रसायने ॥ ५४२ ॥

तक्रमित्यादि । रसायने स्नेहगतं-घृतयुक्तं तक्रं हित तथा दध्यपि घृतयुक्तं गोक्षीरजातं तु सकलमपि वस्तुजातं हितं स्यात् । तैलाम्बुसुरारनालं च मुक्त्वा, अम्बुपानं रसायन कर्मणि न हितं स्यात् ॥ ५४२ ॥

रसायन-सेवन में भक्ष्य और अभक्ष्य—रसायन सेवन में घृतसहित-छाछ और दही उत्तम हैं । तथा गौके दूध की बनी सभी वस्तुएं श्रेष्ठ हैं । केवल तैलयुक्त जल, सुरा और कांजी का जल का पान। रसायन करने में अहितकर है ॥ ५४२ ॥

तैलं च चित्रागिरिजाभवं यत्सुस्वादहीनं शटितामदग्धम् ।
विनष्टदुग्ध त्वशुभं च सर्वं खादेत्कदाचिन्न रसायनी नरः ॥ ५४३ ॥

तैलमित्यादि । चित्रातैल, गिरिजा-अतसी तत्तैल, यद्द्रव्यं सुस्वादहीनं, शटितं-कुथितम् , आमम्-अपक्वं, दग्धं, विनष्टदुग्ध-शकलीभूतदुग्धं, सर्वमशुभम्-असात्म्य च रसायनी-रसभक्षको नरः कदाचिदपि न खादेत् ॥ ५४३ ॥

चित्राका तैल, अलसीका तैल, जो भी स्वादहीन द्रव्य हो वह, सड़ा हुआ, कच्चा, जला हुआ, फटा दूध और सपूर्ण असात्म्य द्रव्य इनको रसायनसेवी मनुष्य कदापि न खावे ॥ ५४३ ॥

पुष्पजातं फलं सर्वं मधुरं मांसशर्करम् ।
पाकयुक्तमशीर्णं च श्रेष्ठमुक्तं रसायने ॥ ५४४ ॥

रसायनसेविने प्रशस्तान् पदार्थानाह—पुष्पजातमित्यादि । पुष्पजातं, सर्वं मधुरं फलम् । अथवा सर्वं मधुर द्रव्यं, तथा मांसशर्करं, पाकयुक्तं-पक्व, पचनशीलं वा अशीर्णम्-अगलित च क्वचित्पुस्तके 'अशीर्णमि'त्यत्र 'अजीर्णमि'ति पाठभेदः । एतत्सर्वं रसायने श्रेष्ठमुक्तम् ॥ ५४४ ॥

रसायनसेवी के लिए हितकर भक्ष्य—फूल एवं सपूर्ण मीठे फल तथा समस्त मधुर वस्तुएँ, पका हुआ फल, बिना गला, मास और शक्कर ये सभी रसायनी के लिए उत्तम हैं ॥ ५४४ ॥

असितायाः सवत्सायाः प्राहुर्दुग्धं जलैः शृतम् ।
बलवृद्धिकरं वृष्यं श्रेष्ठमुक्तं रसायने ॥ ५४५ ॥

असिताया इत्यादि । असिताया -कृष्णाया' । केचन तु 'असिताया' इत्यत्र, 'अकृष्णाया' इति पाठभेदः । सवत्साया गोर्जलैः शृतं दुग्धं बलवृद्धिकरं-बलकर शरीरवृद्धिकरं च । वृष्यं-शरीरपुष्टिकर प्राहु., रसतन्त्रकर्तार इति शेष. । तथा रसायने श्रेष्ठमुक्तम् ॥ ५४५ ॥

जल मिलाकर पकाया हुआ बछडेवाली काली गौका दूध रसायन में बलवृद्धि और शरीरपुष्टि के लिए उत्तम है ॥ ५४५ ॥

गव्यं सुदुग्ध सलिलार्धकेन संपाच्य तत्क्षीणजलं सुशीतम् ।
खण्डेन वा शर्करया समेतं रसेन्द्रभोक्ता प्रपिबेत्सदैव ॥ ५४६ ॥

अथ रससेवनावसरे गव्यदुग्धप्रशंसामाह—गव्यमित्यादि । गव्य-गोरिदं गव्यं सुदुग्धम् । तल्लक्षणं यथा—'स्वादु शीत मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम् । गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्य दशगुणं पयः ॥' इति । सलिलार्धकेन-दुग्धप्रमाणादर्द्धजलप्रक्षेपणेन

सपाच्य, तत्क्षीणजलं ज्ञात्वा चुल्ल्युपरितः समुत्तार्य सुशीतं कृत्वा खण्डेन वरसितेन शर्करया वा समेतं रसेन्द्रभोक्ता सदैव प्रपिवेत् यथेच्छमिति शेषः ॥ ५४६ ॥

गायका सुन्दर दूध आधा जल डालकर पकावे जब पानी जलकर केवल दूध अवशेष रहे तब ठंडा होनेपर शक्कर अथवा खांड मिलाकर रससेवी सदैव पीवे ॥ ५४६ ॥

अथाष्टविधं सुपथ्यजलमाह—

दिव्यान्तरिक्षं धुनिजं च कौपं स्वयं विशीर्णाद्रि शिलातलोद्भवम् ।
तडागजं सारसमौद्भिदं यत्तोयं मतं त्वष्टविधं मनोरमम् ॥५४७॥

दिव्यान्तरिक्षमित्यादि । दिव्य-दिवि भवं दिव्यं चान्तरिक्षं च दिव्यान्तरिक्षम्, तल्लक्षण यथा-'दिव्यं चतुर्विधं प्रोक्तं धारजं करकाभवम् । तौषारं च तथा हैमं तेषु धारं गुणाधिकम् ॥' इति । 'धाराभि· पतित तोयं गृहीतं स्थूलवाससा । शिलायां वा सुधायां वा धौतायां पतितं च तत् ॥ सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके काचनिर्मिते । भाजने मृन्मये वापि स्थापित धारमुच्यते ॥ धारं नीरं त्रिदोषघ्नमनिर्देश्यरसं लघु । सौम्य रसायन बल्यं तर्पणं ह्लादि जीवनम् ॥ पाचनं मतिकृन्मूर्च्छातन्द्रादाहश्रमक्लमान् । तृष्णां हरति चात्यर्थं विशेषात्प्रावृषि स्थितम् ॥' इति । चरके च यथा-'शीत शुचि शिवं मृष्टं विमल लघु षड्गुणम् । प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ॥' इति । धुनिजं-नादेयं यथा-'नद्या नदस्य वा नीर नादेयमिति कीर्तितम् ।' चरके यथा-'नद्याः पाषाणविच्छिन्नविक्षुब्धविमलादकाः । हिमवत्प्रभवा· पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविता· ॥ नद्य पाषाणसिकतावाहिन्यो विमलोदका· । मलयप्रभवा याश्च जल तास्वमृतोपमम् ॥' इति । कौपं-कूपोद्भवं, तल्लक्षण यथा-'भूमौ खातोऽल्पविस्तारो गम्भीरो मण्डलाकृति । बद्धोऽबद्धः स कूप· स्यात्तदम्भः कौपमुच्यते ॥ कौप पयो यदि स्वादु त्रिदोषघ्न हितं लघु । तत्क्षारं कफवातघ्न दीपनं पित्तकृत्परम् ॥' इति । स्वयं विशीर्णाद्रि-नैर्झरजल, तल्लक्षणं यथा-'शैलसानुस्रवद्वारिप्रवाहो निर्झरो झरः । स तु प्रस्रवणश्चापि तत्रत्य नैर्झरं जलम् ॥ नैर्झरं रुचिकृन्नीर कफघ्न दीपनं लघु । मधुरं कटुपाकं च वातलं स्याच्च पित्तलम् ॥' इति । शिलातलोद्भव-चौण्ड्यजलं तल्लक्षण-'शिलाकीर्णं स्वय श्वभ्र नीलाञ्जनसमोदकम् । लतावितानसंछन्न चौण्ड्यमित्यभिधीयते ॥ चौण्ड्य वह्निकर नीर रूक्षं कफहरं लघु । मधुर पित्तनुद्रुच्यं पाचनं विशदं स्मृतम् ॥' इति । तडागजं जल तल्लक्षणं-'प्रशस्तभूमिभागस्थो बहुसवत्सरोपित· । जलाशयस्तडाग· स्यात्ताडागं तज्जल स्मृतम् ॥ ताडागमुदक स्वादु कषाय कटुपाकि च । वातलं बद्धविण्मूत्रमसृक्पित्तकफापहम् ॥' इति । सारस-सरसि भव जलं, तल्लक्षणं-'नद्या· शैलादिरुद्धाया यच्च संश्रित्य तिष्ठति । तत्सरोजलसञ्ज्ञं च तदम्भ· सारस स्मृतम् ॥ सारस सलिल बल्यं तृष्णाघ्न मधुरं लघु । रोचनं तुवरं रूक्षं बद्धमूत्रमलं स्मृतम् ॥' इति । औद्भिद जल, तल्लक्षणं-'विदार्य भूमिं निम्नां यन्महत्या धारया स्रवेत् । तत्तोयमौद्भिदं नाम वदन्तीति महर्षयः ॥ औद्भिदं वारि पित्तघ्नमविदाह्यतिशीतलम् । प्रीणनं मधुरं बल्यमीषद्वातकरं लघु ॥' इति । यत् पूर्वोक्तं तोयमष्टविधं तद्रससेवनकर्त्रे मनोरमम् । कस्मिन्नृतौ कीदृश नीरं विशेषत· पथ्यतममिति तन्त्रान्तरतः प्रदश्यते यथा-'तत्र वर्षास्वन्तरिक्षमौद्भिद वा सेवेत महागुणत्वात्, शरदि सर्वप्रसन्नत्वात्, हेमन्ते सारसं ताडागं वा, वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा ग्रीष्मेष्वेव, प्रावृषि चौण्ड्य मनवमनभिवृष्टं संस्कृत वा सर्वं चे'ति गङ्गाधरः ॥ ५४७ ॥

आठ प्रकार का जल—दिव्यान्तरिक्ष' (धाराजल, कारक, तौषार और हैम इन भेदोंसे दिव्य जल चार प्रकार का है)। धुनिज (नद अथवा नदी के जल को धुनिज कहते हैं।), कौप (अल्प विस्तार, गहरी और मण्डलाकारका पृथिवी खोद कर बनाये हुए का नाम कूप है उसका जल यदि मीठा हो तो त्रिदोषघ्न, हितकारी हलका और दीपन होता हे), स्वय विशीर्णाद्रि (झरने के जल का नाम स्वय विशीर्णाद्रि है यह रुचिकारक, कफ को नष्ट करनेवाला, दीपन और हलका होता है)। शिलातलोद्भव (यह चौण्ड्य नामक जल है। यह जल अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, रूक्ष, कफनाशक और मधुर होता है)। ताडागज (तालाब का जल मधुर, कषैला, कटुपाकी और वायुकर होता है)। सारस (सरोवर का जल तृष्णाको नष्ट करनेवाला, वलकारक, मीठा और हलका होना है)। औद्भिद (भूमि फोडकर बडे प्रवाह के साथ निकलने वाला जल औद्भिद्र होता हैं यह जल पित्त को शान्त करने वाला, अविदाही अतिशीतल होता है)। उपर्युक्त भेदों से जल के आठ प्रकार हैं। वर्षा ऋतु में अन्तरिक्ष और औद्भिद जल, शरद में सब प्रकार के जल, हेमन्त में सरोवर और तालाब का जल, वसन्त और ग्रीष्म में कुए तथा झरने का जल, प्रावृट् ऋतु में चौण्ड्य जल उत्तम होता है ॥ ५४७ ॥

अन्यच्च—

अक्षारं स्वादु मृष्टं दिनमणिकिरणैर्वासरे तप्तमादौ
रात्रौ शीतांशुरोचिस्त्रिविधसुपवनान्दोलितं दोषहीनम्।
कर्पूरै राजचम्पैरतिशयविमलैः पाटलैलासुपुष्पै-
स्त्वग्धान्यैर्वासितं यद्वरशिशिरजलं सूतसेवी पिबेद्धि ॥ ५४८ ॥

अक्षारमित्यादि। अक्षारं, स्वादु, मृष्टं—शोधित, पुन. कीदृशम्र आदौ वासरे दिवसे दिनमणिकिरणै.—सूर्यरश्मिभिस्तप्त पुनश्च रात्रौ शीतांशुरोचिः—चन्द्रप्रभाभि' कृतशीलमित्यर्थ'। 'रोचिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः।' इत्यमर.। पुनस्त्रिविधसुपवनान्दोलितं—त्रिप्रकारकेण शीतलमन्दसुगन्धात्मकेन शुद्धवायुना आन्दोलितं दोषहीनं—कालेन पक्वम· दोषमित्यर्थ.। पुन' कीदृशं कर्पूरै, राजचम्पै—बृहच्चम्पापुष्पै., पाटला—सेवती गुलाब.—सुरपुन्नागो वा, एला ख्याता, अनयो. सुपुष्पैरतिशयविमलैर्वासित त्वक्—दालचीनीति, धान्यैर्धान्याकै' कृत यद्वरशिशिरजल तत्सूतसेवी पिबेत् ॥ ५४८ ॥

अन्य जल की परीक्षा—जो जल खारा न हो, मीठा, निर्मल, दिन में सूर्य की किरणों से सतप्त और रात में चन्द्र-किरणों से शीतल, तीन प्रकार की शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु से हिलाया हुआ, दोपरहित, कपूर, चम्पा, पाटला (गुलाब), इलायची, आदि के फूलों से अतिनिर्मल एव सुगन्धित तथा अतिशीतल और दालचीनी, धनिया आदि से सुवासित जल को पारे का सेवन करनेवाला पीवे ॥ ५४८ ॥

श्रीनारायणसंज्ञकेन च वलातैलेन चान्येन वा
कार्यं मर्दनकोविदै रसभुजां मल्लैः सदा मर्दनम्।
चातुर्जातलवङ्गकुङ्कुमनिशामुरतासुमांसीभवै-
श्चूर्णैर्भृष्टमसूरमुद्गयवजैरुद्वर्तनं कारयेत् ॥ ५४९ ॥

अथ पारदसेविने मर्दनोद्वर्तनविधिमाह—श्रीनाराणसञ्ज्ञकेनेत्यादि। श्रीनारायणसञ्ज्ञकेन तैलेन तस्य विधिस्तु यथास्थानं द्रष्टव्यः। वलातैलेन, अन्येन—प्रसारण्यादितैलेन वा

मर्दनकोविदैः-मर्दनकर्मणि कुशलैर्मल्लै रसभुजां सदा मर्दनं कार्यम् । मर्दनानन्तरं चातुर्जातं-त्वगेलापत्रकेशरं, लवङ्गं, कुङ्कुमं-केशराख्यं, निशा-हरिद्रा, मुस्ता, सुमांसी, एतेषां द्रव्याणां कृतैश्चूर्णैस्तथा भृष्टैः-सुपक्वैः मसूरः, मुद्गः, यव. तज्जैश्च चूर्णैरुद्वर्तनं कारयेत् ॥ ५४९ ॥

रससेवन कर्ता के लिए मालिश और उबटन का विधान—रस खाने वाले अपने शरीर में मालिश करने में चतुर एव पहलवानों से नारायण तेल, बलातैल अथवा दूसरे किसी वातनाशक तैल की नित्य मालिश करावे और तत्पश्चात् दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर, लौंग, केशर, हल्दी, नागरमोथा, जटामासी, इनका चूर्ण तथा भूने हुए मसूर, मूँग और जौ के चून का उबटना बना कर शरीर पर मर्दन करावे ॥ ५४९ ॥

सौख्योष्णैः सलिलैर्द्रुतं रसभुजां स्नानं सुजीर्णेऽशने
वात पित्तकफौ निहन्ति बलकृत्त्वग्वर्णकृद्बृंहणम् ।
रूपद्योतिकरं मन.प्रशमनं कामस्य संवर्धनं
नारीणां च मनोहरं श्रमहरं देहे रसक्रामणम् ॥ ५५० ॥

अथ स्नानस्य गुणानाह-सौख्योष्णैरित्यादि । सौख्योष्णैः-सुखस्य भावं सौख्यं सौख्यं तदुष्ण च सौख्योष्णन्तै. सौख्योष्णैरिति विग्रहः । सलिलैः जलैः, अशने-भोजने सुजीर्णे सति रसभुजां स्नानं शीघ्रमेव वातं, पित्तकफौ च निहन्ति । पुनश्च बलकृत्, त्ववर्णकृत्-त्वचः सुवर्णकर, बृंहणं, रूपद्योतिकरं. मनःप्रशमनं—मनसो रागादिविषयेभ्यो विनिवारकम् अथवा ह्लादकरं, कामस्य संवर्धनं, द्रुतमिति सर्वत्र योज्यम् । नारीणां च मनोहरं भवति । श्रमहरम्-आयासघ्नं पुनर्देहे रसक्रामणं च करोति स्नानमिति ज्ञेयम् ॥

स्नानविधि और फल-रससेवी सुखोष्ण जल से भोजन के जीर्ण होने पर तत्काल स्नान करे । यह स्नान वात, पित्त और कफ को नष्ट करता है, बल को बढाता, त्वचा को सुन्दर बनाता, शरीर को पुष्ट करता, रूपकी द्युति को चमकाता, मन को प्रसन्न रखता, कामोत्तेजन करता, स्त्रियों के मन को हरण कर्ता, थकावट को दूर करता और शरीर में रस (पारद) का क्रामण करता है ॥ ५५० ॥

अथ देहसिद्धिदानन्यानपि रसेन्द्रप्रयोगान् व्याचक्ष्महे । श्लोकद्वयं तत्र प्रागध्येतव्यं मृतपरीक्षार्थं, यथा—

कचकचिति न दन्ताग्रे कुर्वन्ति समानि केतकीरजसा ।
योग्यानि हि प्रयोगे रसोपरसलोहचूर्णानि ॥ ५५१ ॥

कचकचीत्यादि । दन्ताग्रे संलग्नानीति शेषः । कचकचिति-सिकताभक्षणोत्पन्नशब्दवत्करचकरचेति शब्दं न कुर्वन्ति । तथा च केतकीरजसा-केतकीपुष्पपरागेण समानि रसोपरसलोहचूर्णानि रसा.-अभ्रवैक्रान्तमाक्षिकादयः, उपरसाः-गन्धाश्मगैरिककासीसादय', लोहा'-स्वर्णताराररताम्रादयः, एतेषां चूर्णानि-भस्मानि प्रयोगे योग्यानि भवन्ति ॥

देहसिद्धि को देनेवाले पारे के अन्य प्रयोगों को कहते हैं परन्तु इस विषय में सर्वप्रथम इन दो पद्यों का जानना अत्यावश्यक है । रस, उपरस, धातु और उपधातु आदि की भस्मों की पहिचान—जो दांतों के अग्र भाग में रखकर चबाने से केतकी के रज के समान करच-करच शब्द न करें वे सभी रस आदि की भस्में प्रयोग करने के योग्य हैं ॥ ५५१ ॥

वल्मीककूपतरुतलरथ्यादेवालयश्मशानेषु ।
जाता विधिनाऽपि हृता ओषध्यः सिद्धिदा न स्युः ॥ ५५२ ॥

कुत्सितस्थानजानामोषधीनामग्राह्यत्वमाह—वल्मीकेत्यादि । वल्मीकं-बहुशिखराकारं सर्पगृहं, कूप, तरुतलं-वृक्षस्याधोभागे यावच्छाया पतति तावद्भागं ग्रहीतव्यम् । रथ्या-प्रतोली, देवालयः, श्मशानम्, एषु स्थानेषु जाता ओषध्यः, विधिनापि हृताः सिद्धिदा न स्यु. । ओषधिग्रहणविधि'—'गृह्णीयात्तानि सुमनाः शुचिः प्रात. सुवासरे । आदित्यसम्मुखो मौनी नमस्कृत्य शिवं हृदि ॥' इति ॥ ५५२ ॥

ओषधिग्रहणविधि—बाम्बी, कूँआ, वृक्ष के नीचे की, गली कुचली की, मन्दिर की, श्मशान की उत्पन्न ओषधि विधिसहित लाई हुई भी कार्य में नहीं वर्तना चाहिए क्योंकि वे सिद्धिप्रद नहीं होती ॥ ५५२ ॥

अथ सर्वप्रयोगयोग्यतया रसेन्द्रमारणाय शाम्भवी मुद्रामभिदध्मः—

अधस्ताप उपर्यापो मध्ये गन्धकपारदौ ।
यदि स्यात्सुदृढा मुद्रा मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ॥ ५५३ ॥
यदि कार्यमयोयन्त्रं दिह्यात्तं मृत्स्नया तदा ।
समे गन्धेन रोगघ्नो द्विगुणे राजयक्ष्मजित् ॥ ५५४ ॥
जीर्णे गुणत्रये गन्धे कामिनीदर्पनाशनः ।
चतुर्गुणेन तेजस्वी सर्वशास्त्रविशारद' ॥ ५५५ ॥
भवेत् पञ्चगुणे सिद्धः षड्गुणे मृत्युजिद्भवेत् । इत्याद्युक्तमेव ॥

अध इत्यादि । यस्य मध्ये गन्धकपारदौ दत्त्वा तदध-यन्त्राधोभागे तापः-अग्निः । उपर्याप'-जलानि च । यदि कथमपि सुदृढा-जलाग्निसहा सजितमुद्रा स्यात्तदा मन्द-भाग्योऽपि भिषक् सिध्यति-सूते बलिजारणकार्यं साधयतीत्यर्थ' । यदि चेद्रसेन्द्रे गन्धक-जारणार्थं लोहयन्त्रं कार्यं स्यात्तदा तन्निर्माणाय विशिष्ट लोह तीक्ष्णादिकमपेक्ष्यते पुनश्च त पारद यन्त्रे चेत् तदिति साधीयान् पाठो यन्त्रशब्दस्य क्लीबत्वात् , यन्त्रं मृत्स्नया-प्रशस्तया मृदा मदनमुद्रया वा दिह्यादग्नि च दद्यादिति शेषः । शेष व्याख्यातमेव प्राक् । मदनमुद्रालक्षण यथा रसकामधेनौ—'औदुम्बराख्यवटदुग्धपलं पल च लाक्षापलं त्वृषिपलं त्वथ सुम्बकस्य । सकुट्यमानमतसीफलतैलमिश्र सूतस्य जारणविधौ मदनाख्यमुद्रा ॥' इति । अन्यविशेष'—'मधूच्छिष्टं प्रस्थमित, लौहचूर्णं च प्रस्थमितं, गुग्गुलुदुग्धमपि ताव-न्मात्रं, वस्तुचतुष्टयमेतदेकीकृत्य दिनत्रय कुट्टयित्वा गोलक विदध्यात्तच्च जलपूर्णघटे सस्थाप्य घट च चुल्ल्यामारोप्य तीव्राग्निना तावत्पचेद्यावत्तद्गोलक जले प्लवेत् । यदा गोलक पानीये निमज्जेत्तदाऽग्नि निर्वाप्य जले शीतीभूते गोलकं निःसार्य तेन मुद्रां कुर्यात् ॥ इति ।'

अत्राय भाव'—लोहघटाभ्यन्तरे पारदगन्धकौ प्रक्षिप्य तल्लौहघटवदन पृष्ठलग्नलोह-मयालवालकमावर्तयुक्तमन्यलोहघटमुख यथा गिलेत्तया द्वयो सन्धिरोध विधाय सुदृढां च मुद्रा कृत्वा बलिजारण कुर्यात् ॥ ५५३-५५५ ॥

सम्पूर्ण प्रयोगों के योग्य रसमारणार्थ शाम्भवी मुद्रा कहते हैं—यन्त्र के बीच में पारद और गन्धक को रखकर यन्त्र के नीचे अग्नि और ऊपर जल देकर सिद्ध करे, यदि मुद्रा अधिक दृढ

होगी तो यह अवश्य यथावत् सिद्ध होगा। यदि यह यन्त्र लोहे का बनाया जावे तो भी इस पर मिट्टी का लेप देना अनिवार्य है। इस विधि से गन्धक-जारण करे ॥ ५५३–५५५ ॥

अथ गन्धामृतरसः—

भस्मसूतं द्विधा गन्धं शतं कन्याम्बुमर्दितम् ॥ ५५६ ॥
रुद्ध्वा लघुपुटे पाच्यमुद्धृत्य मधुसर्पिषा।
निष्कं खादेज्जरां मृत्युं हन्ति गन्धामृतो रसः ॥ ५५७ ॥
समूलं भृङ्गराजं च छायाशुष्कं विचूर्णयेत्।
तत्समं त्रिफलाचूर्णं सर्वतुल्या सिता भवेत् ॥ ५५८ ॥
पलैकं भक्षयेच्चानु वर्षान्मृत्युजरापहः।

भस्मसूतमित्यादि। भस्मसूतं तस्मात् द्विधा–द्विगुणितं गन्धम्, इति गन्धामृतो रसः। शतं–शतवारं, कन्याम्बुमर्दितं यथावत्पिष्टमिति विज्ञाय चक्रिकां कृत्वा छायायां शुष्कीकृत्य ततो लघुपुटे रुद्ध्वा पाच्यम्। तत उद्धृत्य मधुसर्पिषा-विषमाभ्यां घृतमधुभ्यां सह निष्क-टङ्कप्रमाणमात्रं, 'स्याच्चतुर्माषकै शाणः स निष्कष्टङ्क एव च।' इति परिभाषा। खादेत् गन्धामृत नामधेयो रसः। स जरां–वार्धक्यम्, मृत्यु च हन्ति। पुनश्च समूलं भृङ्गराजं छायाशुष्क कृत्वा विचूर्णयेत्। तत्समं त्रिफलाचूर्णं च विमिश्रय तत्र सर्वतुल्या सिता योज्या। अनु–गन्धामृतरसस्य पश्चात् प्रातः-सायं कालद्वयं वर्षं यावत् पलैकं चूर्णं भक्षयेत्। एवं स मृत्युजरापहः स्यात् ॥ ५५६–५५८ ॥

गन्धामृत रस—पारे की भस्म एक भाग, उससे द्विगुण शुद्ध गन्धक दोनों को सौ बार ग्वार-पाठे के रस में मर्दन करके लघुगजपुट में बन्द कर दे और पकावे इसका एक टकमात्रा से शहद और घृत के साथ वार्धक्य तथा मृत्युनाशार्थ सेवन करे। इसकी पूर्ण सफलता के लिए भांगरे के पञ्चाङ्ग को छाया में सुखाकर चूर्ण कर ले, इस चूर्ण के बराबर त्रिफला चूर्ण और दोनों के समभाग मिश्री मिलाकर एक पल की मात्रा से गन्धामृत के अनुपान में एक वर्ष तक सेवन करे तो यह बुढापा और मृत्यु को जीतता है ॥ ५५६–५५८ ॥

अथ हेमसुन्दररसः—

मृतसूतस्य पादांशं हेमभस्म प्रकल्पयेत् ॥ ५५९ ॥
क्षीराज्यमधुना मिश्रं माषैकं कान्तपात्रके।
लेहयेन्मासषट्कं तु जरामृत्युविनाशनम् ॥ ५६० ॥
वाकुचीचूर्णकर्षैकं धात्रीफलरसप्लुतम्।
अनुपानं सदा लिह्यात् स्याद्रसो हेमसुन्दरः ॥ ५६१ ॥

मृतेत्यादि। मृतसूतस्य, सर्वत्र रसप्रकरणे मृतसूतेन रससिन्दूरं चन्द्रोदयो वा ग्रहीतव्य (सम्प्रति कनकस्योत्थानासम्भवाच्चन्द्रोदयोऽपि रससिन्दूरायते) पादांश हेम-भस्म प्रकल्पयेत्। कान्तपात्रके–तीक्ष्णायसपात्रे तदभावे तु केवले लोहपात्रे। क्षीराज्य-मधुना मिश्रं माषैकं माषषट्क यावल्लेहयेत्। तस्य जरामृत्युविनाशनं भवति। तत्कर्म यथा चरकेऽनुपानफलम्–'अनुपान तर्पयति प्रीणयति ऊर्ज्जयति पर्याप्तिमभिनिर्वर्त्तयति भुक्तमवसादयति, अन्नसंघातं भिनत्ति, मार्दवमापादयति, क्लेदयति, जरयति सुखपरि-णामितामाशुरस्य जनयतीति ॥' यथाऽन्नस्यानुपानं तथैवान्येषां द्रव्यादीनामिति दिक्।

हेमसुन्दररसोऽयं सदा लिह्यात्, अस्यानुपानं-कर्षैकं वाकुचीचूर्णं, धात्रीफलरसप्लुतम्, अत्रामलकीफलरसस्य चत्वारः कर्षाः ॥ ५५९-५६१ ॥

हेमसुन्दर रस—रससिन्दूर में उससे चौथाई भाग सुवर्ण भस्म मिलाकर एक माशे की मात्रा से लोहपात्र में दूध, घी और शहद के साथ छ मास तक सेवन करने से मृत्यु और बुढापा नष्ट होता है। भावार्थ यह है कि रस-सेवन के बाद आमले के ४ तोले रस में एक तोले बावची के चूर्ण को मिलाकर चाटे॥ ५५९-५६१ ॥

अथ मृत्युञ्जयरसः—

वलिः सूतो निम्बूरसविमृदितो भस्म सिकता-
ह्वये यन्त्रे कृत्वा समरविकणाटङ्कणरजः।
त्रिघस्रं लुङ्गाम्भोलवकदलितः क्षौद्रहविषा-
वलीढो माषैकं दरयति समस्तं गदगणम् ॥ ५६२ ॥
जरां वर्षैकेण क्षपयति च पुष्टिं वितनुते
तनौ तेजस्कारं रमयति वधूनामपि शतम्।
रसः श्रीमान्मृत्युञ्जय इति गिरीशेन कथितः
प्रभावं को वाऽन्यः कथयितुमपारं प्रभवति ॥ ५६३ ॥

वलिरित्यादि। वलिः-शुद्धगन्धकः, सूतः-अष्टसंस्कारितः शुद्धपारदस्तदभावे हिङ्गुलाकृष्टपारदो ग्रहीतव्यः। निम्बूरसविमृदितः शुष्कश्च सिकताऽह्वये यन्त्रे भस्मरससिन्दूरं कृत्वा तत्सम रविः-ताम्रभस्म, कणा-पिप्पली, टङ्कणम्, एषां रजः पूर्वोक्ते रससिन्दूरे मेलयित्वा ततस्त्रिघस्रं-दिनत्रयं यावत् लुङ्गाम्भोलवकदलितः-मातुलुङ्गाम्भसो लवैः-कणैः सह कदलितः[1]-पिष्ट, मातुलुङ्गद्रवं कणशो दत्त्वा त्रिदिनं मर्दित इत्यर्थः।

अत्राऽयं सारः-निम्बूरसविमृदितशुद्धपारदगन्धककज्जली काचकूप्यां निवेश्य सिकतायन्त्रे। तल्लक्षणं यथा-'भाण्डे वितस्तिगम्भीरे मध्ये निहितकूपिके। कूपिकाकण्ठपर्यन्तं वालुकाभिश्च पूरिते॥ भेषजं कूपिकासंस्थं वह्निना यत्र पच्यते। वालुकायन्त्रसंज्ञं हि यन्त्रमेतद् बुधैः स्मृतम्॥' इति। रससिन्दूरं सम्पाद्य तत्तुल्यं ताम्रादिद्रव्यं दत्त्वा पुनर्निम्बूद्रवेण दिनत्रयं मर्दयेत्। एष मृत्युञ्जयनामा रसो भवति। रसोऽसौ माषैकं यावत् क्षौद्रहविषा विषमभागेनावलीढः-भक्षितः समस्तं गदगणं रोगसमूहं दरयति-नाशयति। वर्षैकेण यावद्भक्षितः स पथ्येन जरां क्षपयति-अपनयति। पुष्टिं च वितनुते-विस्तारयति। तनौ शरीरे तेजस्कारं वितनुते। तथा वधूनामपि शतं रमयति। असौ श्रीमान् रसो मृत्युञ्जय इति नाम्ना गिरीशेन कथितः। एवम्भूतस्यास्य अपारं प्रभावं शिवातिरिक्तः कथयितुं को वा प्रभवति न कोऽपीत्यर्थः॥ ५६२-५६३ ॥

मृत्युञ्जय रस—शुद्धगन्धक और पारे को समभाग लेकर निम्बू रस से मर्दन कर सुखा ले, फिर कपरोटी की हुई आतशी शीशी में भरकर वालुका यन्त्र में भस्म बनावे, तत्पश्चात् समभाग ताम्रभस्म, पीपल और सुहागा का फूला मिलाकर ३ दिन तक बिजोरे निम्बू के रस में घोटकर एक मासे की मात्रा में घृत और शहद के साथ चाटे। इसके सेवन से समस्त रोग नष्ट होते हैं। एक वर्ष लगातार इसके सेवन करने से यह बुढापा को दूर कर शरीर को पुष्ट, तेजस्वी तथा सौ

---

१ ग्रन्थकारः—लुङ्गाम्भोलवकदलित इति मातुलुङ्गद्रवं कणशो दत्त्वा त्रिदिनं मर्दयेदित्यर्थः।

स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति प्रदान करता है। यह मृत्युञ्जय रस [illegible] हुआ है इसके अपार प्रभाव को दूसरा नहीं जान सकता ॥ ५६२-५६३ ॥

अथानन्दसूतरसः—

शुद्धं रसं समविषं प्रहरं विमर्द्य
तद्गोलकं कनकचारुफले निधाय ।
दोलागतं पच दिने विषमुष्टितोये
प्रक्षाल्य तत्पुनरपीह तथा क्रियात्तम् ॥ ५६४ ॥
तत्सूतके गिरिशलोचनयुग्मगन्धं
युक्त्याऽवजार्य कुरु भस्म समं च तस्य ।
वैक्रान्तभस्म जयपालनवांशकार्धं
सर्वं विषं द्विगुणितं मृदितं च खल्वे ॥ ५६५ ॥
घस्रत्रयं कनकभृङ्गरसेन गाढ-
मावेश्य भाजनतले विषधूपभाजि ।
भृङ्गद्रवेण शिथिलं लघुकाचकूप्या-
मापूर्य रुद्धवदनं सिकताख्ययन्त्रे ॥ ५६६ ॥
तां वासरार्धमुपदीप्य निसर्गशीतां
दृष्ट्वा विचूर्ण्य गदशालिषु गालिमात्रम् ।
आनन्दसूतमखिलामयकुम्भिसिंहं
गद्याणकार्धसितया सह देहि पश्चात् ॥ ५६७ ॥
रोगानुरूपमनुपानमपि प्रकामं
क्षोणीभुजां प्रचुरपूजनमाप्नुहि त्वम् ।
कीर्त्या दिशो धवलय स्फुरदिन्दुकान्त्या
वैद्येश्वरेति विरुदं भज वैद्यराज ॥ ५६८ ॥

शुद्धमित्यादि । हे वैद्यराज, शुद्धं रसं, समविषं-विषसमानभाग, धत्तूररसे प्रहर यावद्विमर्द्य गोलकं विदध्यात् । तद्गोलकं च कनकचारुफले, निधाय विषमुष्टितोये-कुपीलो· स्वरसे क्वाथे वा दोलागत विधिना दिनं यावत् पच । ततस्तत्प्रक्षाल्य जलेन । पुनरपीह तथा द्विवारं पूर्ववत् समस्तं कर्म प्रागुक्तविधिना द्वितीयवारं विदध्यादिति भावः । एवं संस्कृते पारदे गिरिशलोचनयुग्म षड्गुणं गन्धकं दत्वा युक्त्या काचकूप्यादौ स्थापनविधा- नेनावजार्य भस्म कुरु । पुनस्तस्य पारदस्य भस्मसमं, वैक्रान्तभस्म, जयपालं नवांशकार्ध- सार्धचतुर्भाग सर्वं-समस्तौषधिभिर्द्विगुणितं[1] विष-वत्सनाभाख्यं च खल्वे कनक-धत्तूर, भृङ्गम्, अनयोर्द्वयो रसेन घस्रत्रयं यावद्गाढं मृदितम् । तदनु सर्वं लघुकाचकूप्यामापूर्य संरुद्ध्य च भृङ्गद्रवेण शिथिलं यथा स्यात्तथा लिप्ते विषधूपभाजि-विषधूमेन सम्यग्धूपिते

१ ग्रन्थकार'—तथा द्विवारमिति पूर्ववदखिल द्वि कुर्यादिति भाव. । गिरिशलोचनयुग्मेति षड्गुणगन्धक, युक्त्येति काचकूप्युदरे ॥ इत्यानन्दसूतरस ॥

भाजनतले निधाय 'रुद्धवसनम्' इत्यत्र 'रुद्धवदनमि'ति पाठान्तरमुपलभ्यते। वालुकाभिः कूपिकाकण्ठपर्यन्तमापूर्य तां-कूपीं वासरार्धं यावत्तदधोऽग्निमुपदीप्य-प्रज्वाल्य, निसर्गशीतां दृष्ट्वा तद्द्रव्यमादाय विचूर्ण्य ततो गदशालिषु-रोगयुक्तेषु, शालिमात्रं-तण्डुलोन्मितमानन्दसूतमखिलामयकुम्भिसिंहम्-अखिलं समस्तमामयो-रोगः स एव कुम्भी-गजस्तदर्थं यथा सिंह-केसरी तद्वत्तं गद्याणकार्धसितया-पणमापकपरिमितशर्करया सह देहि। अस्यानुपानमपि रोगानुरूपं क्षोणीभुजां राज्ञां प्रकाम-यथेच्छ प्रचुरपूजनं त्वमाप्नुहि। स्फुरदिन्दुकान्त्या स्फुरच्चन्द्रशोभया दशदिशो धवलय तथा वैद्येश्वरेति विरुद-पदवीं भज॥ ५६४-५६८॥

आनन्दसूत रस—शुद्ध पारा उसके समभाग शुद्ध वच्छनाग दोनों को एक प्रहर मर्दन कर धतूरे के उत्तम फल में भरकर दोलायन्त्र-विधि से कुचले के रस में पकावें, तत्पश्चात् यन्त्र से निकालकर धोवे और फिर उक्त विधि से दो बार पकावे। इसके बाद उस पारे में षड्गुण गन्धक जारण करे और उसके बराबर वैक्रान्तभस्म के ४३ भाग जमालगोटा तथा सबसे दुगुना शुद्ध वच्छनाग डालकर ३ दिन तक धतूरा और भागरे के रस से भलीभाँति मर्दन कर विष की धूनी दिये हुए पात्र में रखकर भागरे के रस से ढालकर आतसी शीशी में भरकर मुख बन्द कर दे और वालुकायन्त्र में एक दिन पाक करे, स्वाङ्गशीतल होने पर चूर्ण करके शीशी में भर ले। आवश्यकता होने पर समस्त रोगों में एक चावल की मात्रा से ३ माशे मिश्री के साथ दे। यह आनन्दसूत सपूर्ण रोगरूपी हाथियों के लिए सिंह स्वरूप है। इसका अनुपान रोगानुसार है। इसके प्रयोग से वैद्य राजाओं से पूजा प्राप्त करता है॥ ५६४-५६८॥

अथ प्राणिकल्पद्रुमगोलरसः—

सूतं गन्धं कान्तपाषाणमिश्रं ब्राह्मैर्बीजैर्मर्दयेदेकघस्रम्।
गोलं कृत्वा टङ्कणेन प्रवेष्ट्य पश्चान्मृत्स्नागोमयाभ्यां धमेत्तम्॥५६९॥
शुष्के यन्त्रे सत्त्वपातप्रधाने किट्टे सूतो वद्धतामेति नूनम्।
वद्धं पश्चात्क्षारकाचप्रयोगाद्धेम्ना तुल्यं सूतमावर्तयेत्तु॥५७०॥
वक्त्रे खोटः स्थापितो वत्सरार्धं रोगान् सर्वान् हन्ति सौख्यं करोति।
यद्वा दुग्धे गोलकं पाचयित्वा दद्याद् दुग्धं पिप्पलीभिः क्षये तत्॥५७१॥
लोहे पात्रे पाचयित्वा तु देयं शुष्के पाण्डौ कामलापित्तरोगे।
वाते गोलं व्योषवातारितैले पक्त्वा तैलं गन्धयुक्तं ददीत॥५७२॥
भार्गीमुण्डीकासमर्दाटरूषद्रावैर्गोलं पाचयेच्छ्लेष्मनुत्त्यै।
कासे श्वासे तं च दद्यात्कषायं माध्वीकाक्तं पिप्पलीचूर्णयुक्तम्॥५७३॥
यस्मिन् रोगे यः कषायोऽस्ति चोक्तस्तस्मिन् गोलं पाचयित्वा कषाये।
दद्यात्तत्तद्रोगनाशाय पथ्यं तत्तद्रोगे कीर्तितं यत्तदेव।
उक्तो गोलः प्राणिकल्पद्रुमोऽयं पूजां कृत्वा योजयेद्भक्तियोगात्॥५७४॥
युक्त्या प्रागग्निसहत्वं कृत्वा पश्चाद्धमेदित्यर्थः।

सूतमित्यादि। सूत शुद्धम्, शुद्ध गन्धक च अत्र द्वयो साम्यता। कान्तपाषाणमिश्र ब्राह्मैर्बीजैः-पालाशबीजैरेकघस्र यावन्मर्दयेज्जलेनेति शेष। गोलं कृत्वा टङ्कणेन आवेष्टय पुनश्च मृत्स्नागोमयाभ्या च लेप कुर्याच्छुष्के सति तं गोलकं सत्त्वपातप्रधाने

यन्त्रे धमेत् युक्त्या प्रागग्निसहत्वं कृत्वा पश्चाद्धमेदित्यर्थः। एवं ध्मातः किट्टे-किट्टतामनुगते सति सूते नूनमिति निश्चयेन बद्धतां गुटिकास्वरूपमेति, पश्चात् सूत क्षारकाचप्रयोगात् संद्राव्य हेम्ना तुल्यं-समसुवर्णपत्रमावर्तयेत्। पुनरेवमावर्तित. खोटस्वरूपो वत्सरार्धं यावद्वक्त्रे स्थापितः सन् सर्वान् रोगान् हन्ति तथा सौख्यं च करोति। यद्वा गोलकं पिप्पलीभिः सह दुग्धे पाचयित्वा तत् दुग्ध क्षये दद्यात्, पुन. शुष्के-खरीभूते पाण्डौ कुम्भकामलाख्ये, कामलापित्तरोगे 'कामला बहुपित्तैषे'ति वचनात्। लौहे पात्रे गोलं दुग्धमध्ये प्रक्षिप्य पाचयित्वा च देयम्। वाते-वातव्याधौ व्योपवातारितैले-त्रिकटुकल्कसिद्धे एरण्डतैले गोलं पक्त्वा तत्तैलं गन्धयुक्त-शुद्धगन्धकमिश्रितं दद्दीत। श्लेष्मनुत्यै भार्गी-भारङ्गीति लोके, मुण्डी-गोरखमुण्डी, कासमर्दः, आटरूप.-वृषक., एषां द्रावैः-स्वरसैः क्वाथैर्वा गोलक पाचयेत्तज्जल च दद्यादिति शेष.। तं-भार्ग्यादिकषायं कफनाशार्थं तथा माध्वीकाक्तं-मधुसहितं पिप्पलीचूर्णयुक्त च श्वासे कासे च दद्यात्। यस्मिन् रोगे यः कषायश्चोक्तोऽस्ति तस्मिन् कषाये गोलं पाचयित्वा तत्तद्रोगनाशाय दद्यात्। तत्तद्रोगे यत् यत् पथ्यं कीर्तित तत्तदेव दद्याद्। अयं प्राणिकल्पद्रुमनामा गोल उक्तः स शिवस्य भक्तियोगात् पूजा कृत्वा सर्वत्र योजयेत्। एरण्डतैलमात्रा प्रकृत्यनुसार प्रकल्पनीया। यथा-'उत्तमस्य पल मात्रा त्रिभिश्चाक्षैश्च मध्यमे। जघन्यस्य पलार्द्धेन स्नेहक्काथ्यौषधेषु च॥' इति। शुद्धगन्धकज द्वित्रिमाषक मुखे प्रक्षिप्य तैलमिद दुग्धमिश्रं पेयमन्यथा वमनभयम्। रसस्यास्य यद्यपि व्याख्यान विस्तरशो विहितमेव तथापि चिकित्सकैरेव तद्यथायथविधिर्बोध्य.॥ ५६९-५७४॥

प्राणिकल्पद्रुमगोल रस-शुद्धपारा, शुद्ध गन्धक और शुद्ध कान्तपाषाण भस्म इन सब को समभाग लेकर पलाशके बीजों से एक दिन मर्दन करके गोला बनावे और ऊपर से सोहागा लपेट दे, तत्पश्चात् मिट्टी और गोबरका लेपकर धूप में सुखावे और सत्त्वपातन प्रधान यन्त्र में रखकर धमन करे, इस प्रकार धमन करने पर पारा किट्टता को प्राप्त हो कर बद्धस्वरूप हो जाता है। फिर इस पारे को क्षार तथा काचके प्रयोग से द्रावण कर समभाग सुवर्ण के पत्रों (वर्कों) में मिला दे। बद्ध पारे को छ महीने तक मुँह में रखने से सपूर्ण रोगों को नष्ट करके सौख्य-प्रदान करता है। अथवा बद्ध पारे की गोली को दूध में पीपल के साथ पकाकर क्षय रोग में देना। लोहे के पात्रमें दूध भरकर उसमें गोले को पकाना और वह दूध कुम्भकामला में देना, सोंठ, मिरच, पीपल सहित एरण्ड के तेल में पकाकर वह तेल गन्धक मिलाकर वात रोग में हितकर है। भारंगी, गोरखमुण्डी, कसोंदी और अडूसा इनके रसमें गोले को पकाकर कफनाशार्थ प्रयोग करना तथा इसी कषाय को शहद और पीपल के चूर्णके साथ खासी और श्वास में देना। इतना ही नहीं, किन्तु जिस रोग में जो कषाय कहा हो उसमें गोले को पकाकर उस रोग के नाशार्थ देना और पथ्य भी रोगानुसार ही देना चाहिए॥ ५६९-५७४॥

अथ त्रिनेत्ररस.—

> रसगन्धकताम्राणि [1]सिन्दुवाररसैर्दिनम्।
> मर्दयेदातपे पश्चाद्वालुकायन्त्रमध्यगम्॥ ५७५॥
> रुद्ध्वा मूषागतं यामत्रयं तीव्राग्निना पचेत्।
> तद्गुञ्जा सर्वरोगेषु पर्णखण्डकया सह॥ ५७६॥

---

१. सिन्दुवारो 'निर्गुण्डी' इति भाषायाम्। इति ग्रन्थकारः।

दातव्या देहसिद्ध्यर्थं पुष्टिवीर्यबलाय च।

रसेत्यादि। रसगन्धकताम्राणि समानभागानि गृहीत्वा सिन्दुवाररसैः-निर्गुण्डीस्वरसैर्दिनं यावदातपे मर्दयेत्। पश्चात् मूषामध्ये रुद्ध्वा वालुकायन्त्रमध्ये यामत्रयं तीव्राग्निना पचेत्। एवं सिद्धे रसे तद्गुञ्जापरिमिता मात्रा पर्णखण्डिकया सह सर्वरोगेषु दातव्या। देहसिद्ध्यर्थं, पुष्टिवीर्यबलाय च। क्वचित् पुस्तके 'रसोऽयं हेमताराभ्यामपि सिध्यति कन्यया' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते ॥ ५७५-५७६ ॥

त्रिनेत्र रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और ताम्रभस्म इनको समान भाग लेकर निर्गुण्डी के रस से धूप में रख कर एक दिन घोटे, तत्पश्चात् मूषा में बन्द करके वालुका यन्त्र में तीन प्रहर तीक्ष्णाग्नि से पाक करे, इसकी एक रत्ती की मात्रा है। नागर पान के साथ समस्त रोगों में देहसिद्धि और शरीर-पुष्टि के लिए तथा बल-वीर्य के लिए सेवन करे ॥ ५७५-५७६ ॥

अथ शार्दूलरसः—

रसस्य द्विगुणं गन्धं शुद्धं सम्मर्दयेद्दिनम् ॥ ५७७ ॥
[1]अष्टलोहं तु प्रत्येकं मृतं सूतसमं क्षिपेत्।
ब्राह्मी जया च निर्गुण्डी विषमुष्टिः पुनर्नवा ॥ ५७८ ॥
नीलिका गिरिकर्ण्यर्ककृष्णधत्तूरकं यवाः।
वासा च काकमाची च द्रवैरासां विमर्दयेत् ॥ ५७९ ॥
गुञ्जात्रयं चतुष्कं वा सर्वरोगेषु योजयेत्।
रोगोक्तमनुपानं वा कवोष्णं वा जलं पिबेत् ॥ ५८० ॥

रसस्येत्यादि। रसस्य द्विगुणं शुद्धं गन्धकं खल्वे दत्त्वा दिनं यावत् सम्मर्दयेत् कज्जलीं कुर्यादित्यर्थः। पुनश्च मृतमष्टलौह-स्वर्णताररताम्रतीक्ष्णनागवङ्गरीतिकांस्यभेदभिन्नं प्रत्येकं सूतसमं क्षिपेत्। नन्वष्टलोहशब्देनैवाष्टलौहानां बोधो भवति, किमर्थं पुनः प्रतिलोहशब्दग्रहणम्? तदुच्यते लौहं लौहं प्रतीत्यर्थेनैवाष्टलौहानां भिन्नत्वेन पारदतुल्यमानमवगम्यते, अन्यथाऽष्टानां लौहानां समुदितमानं भवेदिति तात्पर्यम्। ब्राह्मी, जया-अग्निमन्थः, निर्गुण्डी-सिन्दुवारः, विषमुष्टिः-कुपीलु, पुनर्नवा, नीलिका, तदभावे सनामुकीति केचित्। गिरिकर्णी, अर्कः, कृष्णधत्तूरक, यवा-इन्द्रयवा, वासा-आटरूष, काकमाची च चकारत्रयं समुच्चयार्थं, आसामोषधीनां द्रवैर्विमर्दयेत्। गुञ्जात्रयं गुञ्जाचतुष्टयं वा सर्वरोगेषु योजयेत्। अनुपानं वा रोगोक्त-प्रतिरोगं यादृशमनुपानं कथितं तादृशं पिबेत्। अथवा कवोष्णं जलं पिबेत् ॥ ५७७-५८० ॥

शार्दूल रस—शुद्ध पारा एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर एक दिन मर्दन कर कज्जली करे, तत्पश्चात् सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, लोह, सीसा, वङ्ग, पीतल और काँसे की भस्म प्रत्येक बराबर डालकर ब्राह्मी, अरणी, निर्गुण्डी, कुचला, पुनर्नवा, नील अथवा सनायपत्ती, विष्णुकान्ता, आक, काला धत्तूरा, जौ, अडूसा और मकोय इनके रसों की भावना देकर ३-४ रत्ती की मात्रा से सम्पूर्ण रोगों में प्रयोग करे। अनुपान रोगानुसार अथवा किंचित् उष्ण जल पीवे ॥ ५७७-५८० ॥

अथामृतार्णवरसः—

सूतभस्म चतुर्भागं लोहभस्म तथाष्टकम्।

---

१. अष्टलोह स्वर्णादि। इति ग्रन्थकार.।

ऊर्ध्वं पयोऽग्निमधरे विनिधाय धीराः
सिद्धिं समग्रमतुलां स्वकरे कुरुध्वम् ॥ ५९० ॥

अष्टांशेत्यादि। हे धीराः रसशास्त्रकोविदाः, शिखिमूषिकायाम्—अग्नौ मूषायाम्, अष्टांशहेमरजते—अष्टमांशं स्वर्णं रजतं च 'अष्टांशहेमरजते' इत्यत्र 'अष्टांशकेऽग्नि हरते' इति पाठान्तरम्। तस्मिन् षड्गुणबलिं क्रमशः सञ्जार्य चाधिकं—शतगुणपर्यन्तमिति भावः। केन विधिना जारयित्वा इत्यत आह—ऊर्ध्वं पयः अधरेऽग्निं विनिधाय क्रमेण षड्गुणगन्धकमितोऽप्यधिकं वा जार्यं समग्रम्। यथोक्तं प्राक्—अधस्तात् उपर्यपि इत्यादि। तथाऽतुलां अपरिमितां सिद्धिं रसायनसिद्धिं धातुवादसिद्धिं च स्वकरे कुरुध्वम्। अष्टांशेत्युपलक्षणेन चतुर्थांशसमांशयोरपि ग्रहणम्। रसायनार्थं (शरीरसिद्ध्यै) अष्टमांशसुवर्णजीर्णे सति रसे प्रथमं गन्धकस्य पञ्चगुणान् जारयित्वा पश्चाच्छेषं चैकगुणं काचघटिकायां सिकतायन्त्रेण चन्द्रोदयरीत्या साधयेत् धातुवादे च विशेषतः शतगुणाधिकं गन्धकं जारयेच्छेषं सर्वं पूर्ववदिति भावः ॥ ५९० ॥

सिद्धलक्ष्मीश्वर रस—पारे से आठवां भाग सुवर्ण और चांदी को मूषा में रखकर अग्नि में जारण करना, इसके बाद क्रमशः षड्गुण अथवा अधिक शतगुणतक पूर्वोक्त विधि से गन्धक जारण करना। जारणविधि यह है कि पारे के ऊपर जल और नीचे अग्नि देकर पूर्वोक्त रीति से सम्पूर्ण गन्धक जारण करे तो वह पारा अतुल सिद्धिप्रद होता है ॥ ५९० ॥

अथ चतुर्मुखो रसः—

रसगन्धकलोहाभ्रं समं सूतार्धहेम च।
सर्वं खल्वतले क्षिप्त्वा कन्यास्वरसमर्दितम् ॥ ५९१ ॥
आवेष्ट्यैरण्डपत्रैस्तु धान्यराशौ दिनत्रयम्।
संस्थाप्य च तदुद्धृत्य सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ ५९२ ॥
एतद्रसायनं श्रेष्ठं त्रिफलामधुसंयुतम्।
तद्यथाग्निबलं खादेद्वलीपलितनाशनम् ॥ ५९३ ॥
एकादशविधं शोषं कासं पञ्चविधं तथा।
कुष्ठमष्टादशविधं पाण्डुरोगान् प्रमेहकान् ॥ ५९४ ॥
शूलं श्वासं च मन्दाग्निं हिक्कां चैवाम्लपित्तकम्।
आढ्यवातं व्रणान् सर्वान् विसर्पं विद्रधिं तथा ॥ ५९५ ॥
अपस्मारं ग्रहोन्मादान् सर्वार्शांसि त्वगामयान्।
क्रमेण शीलितो हन्ति वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ॥ ५९६ ॥
पौष्टिकं बल्यमायुष्यं पुत्रप्रसवकारणम्।
चतुर्मुखेन देवेन कृष्णात्रेयाय सूचितम् ॥ ५९७ ॥

इति श्रीसौराष्ट्रदेशोद्भवसारस्वतकुलावतंसोपाध्यायमाधवविरचितायुर्वेदप्रकाशे सूतसाधनाध्यायः प्रथमः समाप्तः ॥ १ ॥



रसेत्यादि। रसं शुद्धं, शुद्धगन्धकं, लोहभस्म, अभ्रकभस्म प्रत्येकं समम्। हेम च सूताङ्घ्रि-पारदाच्चतुर्थांश ग्रहीतव्यम्। सर्वं रसादिकं खल्वतले क्षिप्त्वा कन्यास्वरस मर्दितं कृत्वा क्वचित्पुस्तके-'त्रिफलातुलसीब्राह्मीरसैश्चानु विमर्दयेत्' इत्यधिकः पाठः॥ ततश्चक्रिका विधाय संशोष्य च पुनरेरण्डपत्रैरावेष्ट्य तदुपरि सूत्रेण च बद्ध्वा धान्यराशौ दिनत्रय यावत् संस्थाप्य तदुद्धृत्य च रक्तिकाद्वयादिक्रमेण यथाग्निबल त्रिफलामधुसयुतं रसायन सर्वरोगेषु योजयेत्। तत्पूर्वोक्त रसायनमहणोऽपि भक्षितश्चेद्वलीपलितनाशनं-त्वक्सङ्कोच केशश्वेतत्वं च नाशयति। एकादशविध शोष-क्षयरोग, पञ्चविध कासं, तथाष्टा-दशविधं कुष्ठं, पाण्डुरोगान् पञ्चविधान्, विंशतिप्रमेहरोगान्, शूलमष्टप्रकारक, श्वासं पञ्चविधं, मन्दाग्नि त्रिविधं, हिक्का, पञ्चविधाम्, अम्लपित्त गतिभेदेन त्रिविधम्, आढ्यवातम्-ऊरुस्तम्भरोग, सर्वान् व्रणान्-शरीरसद्योनाडीव्रणाख्यान्, विसर्पं, विद्रधिं षड्विधा, तथा-पस्मार चतुर्विध, ग्रहोन्मादान्-ग्रहजनितोन्मादव्याधीन्, सर्वार्शांसि, त्वगामयान्, क्रमेण-वर्धनह्रासनक्रमेण शीलितोऽसौ रस इन्द्राशनि -वज्रो वृक्षं यथा हन्ति तथा पूर्व-प्रतिपादितान् सर्वरोगानेष रसो नाशयति। तथा च पौष्टिक, बल्यम्, आयुष्यं, पुत्रप्रसव-कारण च। चतुर्मुखेन देवेन ब्रह्मणा कृष्णात्रेयाय सूचितम्। अस्मिन्रसे त्रिफलाचूर्णं माषक-परिमित मधु च मिश्रणोपयोगीति दिक्॥ ५९१-५९७॥

श्रीसूर्याङ्घ्रिसरोजसक्तमनसः सारल्यभावाम्बुधे'
श्रीकेदारबुधस्य तस्य तनयेनायं प्रबन्धो मुदा।
व्याख्यातो गुलराजमिश्रविदुषा विद्वज्जनानन्दकृ-
दध्याय प्रथमोऽगमत्सुविरतिं स्वर्गौकसा भाषया॥

चतुर्मुख रस-शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, लोहभस्म अभ्रकभस्म, प्रत्येक समभाग और पारे से चौथाई भाग सुवर्ण इन सबको खरल में डालकर ग्वारपाठे के रस में मर्दन कर गोला बनावे उस गोले को एरण्ट के पत्तों में लपेट कर तीन दिन तक धान्यराशि में रखे। तीन दिन के बाद निकाल कर इसका सम्पूर्ण रोग में प्रयोग करे। यह उत्तम रसायन है। इसको जठराग्नि और बल देखकर त्रिफला एव शहद के साथ सेवन करे। यह शरीर की झुर्रियाँ और बाल की सफेदी को हरता है तथा ग्यारह प्रकार का क्षय, पाच प्रकार की खाँसी, अठारह प्रकार के कुष्ठ, पाच प्रकार के पाण्डु, बीस प्रकार के प्रमेह तथैव शूलरोग, श्वास, मन्दाग्नि, हिचकी, अम्लपित्त, मूढवात, सभी प्रकार के व्रण, विसर्प, विद्रधि, अपस्मार, ग्रहोन्माद, सब प्रकार के बवासीर और त्वचा के रोग इन सबको क्रमश सेवन करने पर नष्ट कर देता है, जैसे कि इन्द्र का वज्र वृक्ष को। यह प्रयोग शरीर में पुष्टि, बल और आयुष्य प्रदान करके पुत्रोत्पत्ति करने वाला है। यह रस भगवान् ब्रह्मा ने पुनर्वसु के प्रति कहा है॥ ५९१-५९७॥

इत्यायुर्वेदप्रकाशे सुस्पष्टार्थप्रकाशिनी हिन्दीटीकाया सूतसाधनाध्याय. प्रथम समाप्त।



ततो देवगणैरुक्तं गन्धकाख्यो भवत्वयम् ॥ ६ ॥
रसस्य बन्धनार्थाय जारणाय भवत्वयम् ।
ये गुणाः पारदे प्रोक्तास्ते चैवात्र भवन्त्विति ॥ ७ ॥
इत्ययं गन्धको नाम विख्यातः क्षितिमण्डले ।
बलिना सेवितः पूर्वं प्रभूतबलहेतवे ॥ ८ ॥
वासुकिं कर्षतस्तस्य तन्मुखज्वालया द्रुता ।
वसा गन्धकगन्धाढ्या सर्वतो निःसृता तनोः ॥ ९ ॥
गन्धकत्वं च संप्राप्ता तस्माद्बलिवसा स्मृता ।

श्वेतद्वीप इत्यादि । पुरा क्षीरपयोनिधेः—क्षीरसमुद्रस्य श्वेतसमुद्रनाम्ना संप्रति सङ्केतितस्य तीरे इदानीं सिसल्यादिदेश इति कथयितुं पार्यते । तत्र सखिभिः सार्धं क्रीडन्त्याः देव्याः पार्वत्याः रजः—आर्तवं प्राभवत् । मूलपाठे 'अभवन्' इति पाठोऽरमणीय इति चिन्त्यम् । कर्तुरेकवचनत्वात्क्रियाया अप्येकवचनत्वमिति राद्धान्तः । तत 'अभवदि'त्युचितः पाठः । बहुलं तद्रजोऽतीवसुगन्धि सुमनोहरं च तेन रजसा युक्तं दुकूलं—वस्त्रं क्षीरसागरे स्नातायाः यत्सखिभिर्धौतं तत्र क्षीराब्धौ पार्वत्यास्तद्रजो गन्धकं जातम् । पुनश्च क्षीराब्धिमथनेनैतद्गन्धकम्, अमृतेन सह समुत्पन्नं किं कुर्वन् सन् निजगन्धेन तान् समुद्रमन्थनोद्यतान् सर्वान् देवदानवान् हर्षयन् सन् । क्वचित्पुस्तके 'हर्षयन् देवदानवान्' इत्यत्र 'हर्षयामास दानवान्' इति पाठान्तरम् । ततो देवगणैर'य गन्धकाख्यो जगति प्रसिद्धो भवतु' इत्युक्तम् । किमर्थम्, अयं रसस्य बन्धनार्थाय जारणाय च । ये रसायनात्मका गुणाः पारदे प्रोक्ताः ते चैवात्र—गन्धकेऽपि भवन्तु इत्येवं प्रकारेण सुप्रसन्ना देवगणाः प्रोचुः । इत्ययं गन्धकः क्षितिमण्डले विख्यातः । पूर्वमयं गन्धको बलिना, यदर्थं भगवतः श्रीविष्णोर्वामनावतारः समभूत्तेन प्रभूतबलहेतवे सेवित आसीदिति शेषः । पुनश्च भक्षितः स एव गन्धकस्तस्य—बलेः सर्वतस्तनोः शरीरतो वसा तैलरूपा निःसृता गन्धकगन्धाढ्या कस्मात्, तन्मुखज्वालया—वासुकि—मुखोष्मणा द्रुता—संगलिता, किं कुर्वतस्तस्य बलेः वासुकिनामानं सर्पं कर्षतः पुनश्च सैव गन्धकत्वं संप्राप्ता तस्मात्कारणादस्यैवाख्या बलिवसेत्यपि स्मृता, एतेन ज्ञायते किंचास्य बलिवसाऽपि पर्याय इति भावः ॥ ३–९ ॥

गन्धक की उत्पत्ति और नाम—भगवान् शिव कहते हैं कि पहले श्रीमद्भागवतोक्त क्षीरसमुद्र के निकट अपनी सहेलियों सहित खेलती हुई पार्वती जी के रजःस्राव हुआ । वह रज अतीव सुगन्धित एवं मनोहर था । उस रज से जो वस्त्र भीगा था उस वस्त्र को पार्वती जी के समुद्र में स्नान करने के पश्चात् सखियों ने क्षीरसागर में धो डाला, वही रज घुल कर समुद्र के जल में मिश्रित हुआ था गन्धक बन गया । जब देव-दानवों ने अमृत-प्राप्ति के लिए मिलकर समुद्र का मन्थन किया तब यह गन्धक भी समुद्र मन्थनावसर पर अमृत के साथ अपनी सुगन्धि से सम्पूर्ण देवताओं और राक्षसों को प्रसन्न करता हुआ निकला । उस समय देवताओं ने प्रसन्न होकर कहा कि यह पारे को बद्ध करने और जारण करने के लिये जगत् में गन्धक नाम से विख्यात होगा । जो गुण पारे में कहे हैं वे गन्धक में भी होंगे इसलिए यह गन्धक नाम से प्रसिद्ध हुआ । सर्वप्रथम इसे राजा बलि ने बलप्राप्त्यर्थं सेवन किया था अत उसका नाम 'बलिवसा' ऐसा भी हुआ

वक्तव्य—गन्धक के ऊपर दिये हुए वर्णन में यद्यपि यथार्थता है किन्तु भाषा का और वर्णन-शैली का आलङ्कारिक मोड होने से आधुनिक विचार के लोगों को जरा अटपटासा प्रतीत होता है। भावों की दूरगामी दृष्टि भी विषय के अवगाहन में अवकुण्ठित होती है अत. उसका स्पष्ट स्वरूप जो ऊपर जिस दृष्टिकोण से दिया है उसका विवेचन किया जाता है।

श्वेतद्वीप में गन्धक की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई है यह बात ऊपर कही गई है। श्वेतद्वीप इटली के दक्षिण में जो सिसिली द्वीप है समवत यही वह द्वीप है। वहाँ के लोग प्रायश बहुत ही अधिक गोरे होते हैं और इसीलिए इसे श्वेतद्वीप यह सज्ञा उपलब्ध होती है। यह स्थान अत्यन्त सुन्दर और मनोहर है। ऐसी धारणा है कि इस समुद्र-तट में अनेक रत्न और खनिज धातुओं का सग्रह है। समव है उस समय यह स्थान अतीव रम्य और मनमोहक रहा हो। वहाँ के विभिन्न जाति के वृक्ष, लता, गुल्म और वेणु रहे हों, उनमें विचरण करने वाले वायु के सघर्ष से अनेक प्रकार का ध्वनियों का उद्गम सुन्दर, मधुर और कर्णप्रिय होने से वहाँ के लोगों को यह अनुभव हुआ हो कि गायन, वादन और नृत्य का क्या ही अनुपम समा बँधा हुआ है और इससे उनको महान् हर्ष हुआ हो, ऐसी स्थिति में समीप ही कहीं ज्वालामुखी का स्फोट हुआ और उससे भूगर्भ द्वारा धातु-उपधातुओं से युक्त गर्म पानी का मनोहर लाल रङ्ग का रमणीक झरना उद्भूत होकर बहना प्रारम हुआ। गन्धक का खनिज और हायड्रोग्यास ये दोनों पानी में मिलने पर तथा भूगर्भ की गर्मी से गन्धक के लाल होने से झरने का वह पानी लाल रग का और गर्म बहना प्रारभ हुआ। गम और लाल रग पानी का वह झरना नाचे, ऊपर, आडे, तिर्छे सभी दिशाओं में चलत हुये अन्त में समुद्र में जा कर मिश्रित हुआ। यह झरना जहाँ जहाँ स बहते हुए आगे बढ़ा उस उस भूभाग को जमीन लाल हो गइ। जिस भाग से वह झरना बहा उसम जो नाले, गड्ढे अवरोध के स्थान थे उनमें झरने के साथ बहने वाले गन्धक का अधिकाश भाग यत्र-तत्र रुक गया और शेष गन्धक का सब भाग झरने के साथ समुद्र में पहुच गया। समुद्र में पहुचने पर उसमें रहने वाला हायड्रोजन वायु आक्सीजन स मिलकर उसका पानी होगया और गन्धक अलग होकर समुद्र के नीचे बैठ गया। यही हेतु है कि गन्धक खदान और समुद्र भाग दोनों से मिलता है।

गन्धक का ज्ञान लोगों को बहुत काल से रहा है। सस्कृत में शुल्वारि नाम गन्धक का है। शुल्वारि का अर्थ है ताम्र का शत्रु ताम्र मारण म गन्धक विशेष उपयोगी है। ताम्रपत्रों पर गन्धक का लेप करके उसको अग्नि में तपाते रहने स भस्म हो जाता है। गन्धक के द्वारा ताम्र का भस्म शीघ्र होता है अत एव इसे शुल्वारि कहा है। अग्रेजी में गन्धक को सल्फर कहते है अग्रेजी का यह सल्फर शुल्वारि का ही अपभ्रश है अथवा उसी से निकला है। (Sulphur) का वैज्ञानिक सकेत (S) होता है।

गन्धक की उत्पत्ति श्वेत द्वीप (सिसिली) में मानी है। सप्रति भी ससार की ९० प्रतिशत गन्धक की माग की पूर्ति सिसिली से ही पूरी होती है। पहले गन्धक सिसिली से ही सर्वत्र भेजा जाता रहा है अन्यत्र कहीं नहीं मिलता था। आज तो बहुत से देशों में गन्धक उपलब्ध होता है किन्तु फिर भी स्वल्प प्रमाण में ही है। सिसिली से गन्धक लेना बन्द कर दिया जावे तो ससार में गन्धक का अभाव हो जावे और गन्धक का कार्य रुका पडा रहे अत आज भी गन्धक का व्यापार प्रायश- सिसिली और जापान द्वारा ही चलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिसिली में ही गन्धक पर्याप्त मात्रा में होता है और उसी से सब देशों की पूर्ति होती है। यों अन्य कुछ धातुओं के साथ मिलित भी गन्धक मिलता है।

स्वर्णमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक, विमल, सस्यक, कासीस, तुत्थ, नीलाञ्जन, स्रोतोञ्जन, दर्दुर जाति का रसक, हरिताल, मैनसिल, हिङ्गुल आदि गन्धक के सयोग से बने हुए ये द्रव्य हैं। इसी प्रकार जगम वर्ग में अडे की जर्दी, रक्त, दूध और पित्ता आदि में गन्धक का मिश्रण होता है। उद्भिज्जों में राई वर्ग, गाजरवर्ग, प्याज, लशुन आदि में भी गन्धक थोडे अश में पाया जाता है।

गन्धक ११५° ० टैंपरेचर पर पतला होता है, ४४०° ० टैंपरेचर पर गन्धक में उबाल आता है और उसका ग्यास बनता है और वह उडने लगता है। इस प्रकार उडाकर ग्रहण किया हुआ गन्धक शुद्ध होता है, इसको पुष्प गन्धक कहा जाता है।

गन्धक को अधिक ताप देने से उसका रग काला हो जाता है तथा २५०° ० टैंपरेचर पर गन्धक कठिन और काला रग का हो जाता है। ऊपर कही हुई उष्णता से अर्थात् २५०° ० टैंपरेचर से अधिक ताप दिया गया तो गन्धक कठिन होकर पुन. द्रव अवस्था में आ जाता है। ४००° ० टैंपरेचर से गन्धक उबलने लगता है और उसकी वाष्प बन जाती है। ५००° ० टैंपरेचर से गन्धक लाल रग का हो जाता है। ३५०° ० टैंपरेचर से गन्धक को गर्म करके शीतल जल में डाल देने से गन्धक मृदु अर्थात् नरम हो जाता है उसको नरम गन्धक अथवा प्लास्टिक सल्फर कहा जाता है। समवत इसी को आयुर्वेद का 'वलिवसा' नाम का गन्धक समझना चाहिए।

रसरत्नसमुच्चय की टीका में कुलकर्णीजी लिखते हैं कि—सिसिली की खानों में से जो खनिज गन्धक निकलता है उसमें शुद्ध गन्धक की मात्रा तीस प्रतिशत से अधिक नहीं होती है। शेषभाग मिट्टी, बालू और कङ्कण आदि पदार्थों का होता है। ऐसे खनिज को भट्ठे में जलाते हैं। ये भट्ठे कुम्हार के आँवे के सदृश अथवा ईंटों के भट्ठों के सदृश होते हैं। इनका फर्श पक्का और ढलवा होता है। इन भट्ठों में बीचोबीच और नीचे से ऊपर तक खुला हुआ एक वायुद्वार होता है। इन भट्ठों के पेंदों में आग लगाई जाती है। इस आग से गन्धक का कुछ अंश जल कर धुएँ के रूप में चला जाता है किन्तु इस कारण जो गर्मी उत्पन्न होती है वह शेष गन्धक को पिघला देती है जिससे पिघला हुआ गन्धक पक्के फर्श पर बह कर नीचे के स्थानों में इकट्ठा होता है और वहाँ से निकास-मार्ग के द्वारा बाहर निकाल कर लकडी के ढाँचे में ढाला जाता है। ये ढाँचे प्रायश. बडे बडे बत्ती के आकार के होते हैं। यह गन्धक साधारण कार्य के लिए पर्याप्त शुद्ध होता है और व्यापार का साधारण और सस्ता गन्धक यही होता है (इसको डडा गन्धक कहते हैं अर्थात् यह डडे के आकार का होता है) बिल्कुल शुद्ध गन्धक को प्राप्त करने के लिए इस गन्धक को बडे आकार के लोहे के भबके में रखकर उबालते हैं तब यह भाप बनकर उडता है। इस भाप को ईंटों के बने हुए बडे-बडे कमरों में ले जाते हैं। वहाँ भाप के ठडा हो जाने पर शुद्ध गन्धक प्राप्त होता है। पहले-पहल कमरा ठण्डा रहता है तब गन्धक का भाप तत्काल ठण्डा होकर गन्धक का सुन्दर और दानेदार चूर्ण प्राप्त होता है किन्तु कुछ समय के बाद कमरा भी तप्त हो जाता है जिससे गन्धक का वाष्प द्रवीभूत होकर कमरे के फर्श पर इकट्ठा होता है और वहाँ से निकास-मार्ग द्वारा उसको निकाल कर और ढाँचे में डालकर बत्ती के रूप में बनाया जाता है। अग्रेजी में इसको रोल सल्फर (Roll Sulphur) कहते हैं और आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसको आवलासार गन्धक कहते हैं। यह पर्याप्त शुद्ध होता है फिर भी आयुर्वेद की विधियों से इसका शोधन करना अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है। बिना शुद्ध किये गन्धक विकारों का परिमार्जन नहीं होता है साथ ही शोधन से केवल मल का ही परिहार नहीं होता है उसके गुणों का विकास और कार्य करने की शक्ति का भी संग्रह होता है।

मूलत गन्धक एक ही प्रकार का होता है किन्तु ताप के कारण शुद्ध गन्धक अनेक रूपों का हो जाता है। आगे चार प्रकार जो गन्धक के कहे हैं समवत ये चार प्रकार ताप-भेद से ही निर्मित होते हैं। साधारणत. इसके दाने अष्टफलकीय होते हैं किन्तु इसको पिघला कर जब धीरे धीरे ठण्ढा होने देते हैं तब इसके सूची के आकार के दाने बन जाते हैं। धारा के रूप में द्रव किये हुए गन्धक को द्रवावस्था में ही जब जल में गिरा दिया जाता है तब रबड के समान लचीला नम्र गन्धक प्राप्त होता है। यह भी कुछ समय के पश्चात् अष्टफलकीय बन जाता है। समवत इस नम्य गन्धक को ही **'दुर्लभः कृष्णवर्णश्च'** और **'रक्तश्च शुकतुण्डाख्यः'** ताप भेद से ही प्राप्त किया जा सकता है।

गन्धक का सकेत—S, परमाणुभार—३२, परमाणुवन्धन क्षमता—२, मेल्टिंग पॉइण्ट—११५°८ टैंपरेचर, बॉयलिंग पॉइंट—४४०°८ टैंपरेचर।

गन्धक-उत्पत्ति के अन्य स्थान

बम्बई, सिंध और कराची के पास गन्धक मिलता है, ब्रह्म देश के उत्तर भाग में विशेष गन्धक मिलता है। हैदराबाद के दक्षिण भाग मुद्नूर में काफी गन्धायस उपलब्ध है जिससे गन्धक निकाला जाता है। आसाम के लखीमपुर और मुकसा के उत्तर भाग में गन्धक मिलता है। काश्मीर में भी कहीं कहीं गन्धक मिलता है। मद्रास में गोदावरी जिला और त्रावणकोर में गन्धक प्राप्त होता है। बिहार और उडीसा में मयूरभञ्ज तथा सिंघभूम जिलों में काफी गन्धक मिलता है। उत्तर प्रदेश के कुमायू जिला और जौनसर जिला में गन्धक मिलता है। पाकिस्तान में रावलपिंडी और डेरागाजीखान में गन्धक होता है। इसी प्रकार बलूचिस्तान में भी गन्धक होता है। बद्रीनाथ की यात्रा के मार्ग में जहा जहा गर्म पानी के झरने होते हैं वहा गन्धक मिलता है।

गन्धक का व्यवहार

आयुर्वेदीय रस शास्त्र की दृष्टि में गन्धक का प्रधान उपयोग पारद के बन्धन और धातुओं के मारणार्थ ही विशेषत किया गया है किन्तु आज कल गन्धकाम्ल बनाने के लिए गन्धक का विशेष और प्रधानत. उपयोग किया जाता है। आप यह देखेंगे कि आज गन्धकाम्ल कितना बडी उपयोगी वस्तु बनी हुई है। किसी देश की औद्योगिक प्रगति के ज्ञान का अनुमान वहाँ पर खर्च होने वाले गन्धकाम्ल की मात्रा से सहज किया जा सकता है। आज के युग के व्यापार के अनेकों महत्त्वपूर्ण पदार्थ गन्धकाम्ल से ही निर्मित होते हैं। शोरे का तेजाब नमक का तेजाब आदि अनेकों गन्धकाम्ल की सहायता से ही सपन्न होते हैं। रसतरगिणी कारने भी गन्धकाम्ल की विधि दी है और उसका विभिन्न स्थानों में उपयोग बताया है॥ ३-९।

अथ गन्धकनामानि—

> गन्धको गन्धिकश्चापि गन्धपाषाण इत्यपि।
> सौगन्धिकश्च संप्रोक्तो बलिर्बलिवसाऽपि च॥ १०॥

गन्धक इत्यादि। शेष स्पष्टम्॥ १०॥

गन्धक के नाम–गन्धक, गन्धिक, गन्धपाषाण, सौगन्धिक, बलि और बलिवसा है॥ १०॥

अथ गन्धकस्वरूपम्—

> चतुर्धा गन्धक प्रोक्तो रक्तः पीत. सितोऽसितः॥ ११॥
> रक्तो हेमक्रियासूक्तः शुकतुण्डनिभो वरः।

पीतश्चामलसाराख्यः श्रेष्ठो रसरसायने ॥ १२ ॥
श्वेताऽत्र खटिका प्रोक्ता लेपने लोहमारणे ।
दुर्लभः कृष्णवर्णश्च स जरामृत्युनाशनः ॥ १३ ॥

चतुर्धेत्यादि । गन्धकश्चतुर्धा भवति । रक्तः, पीतः, श्वेतः कृष्णवर्णश्चेति । हेमक्रियासु धातुवादेषु च रक्तवर्णको गन्धकस्तत्रापि शुकतुण्डनिभः–लाक्षारसनिभो यः शुकतुण्डाख्यः स श्रेष्ठः । यदुक्तं रसप्रकाशसुधाकरे–'लाक्षारसनिभो रक्तः शुकतुण्डः स कथ्यते । धातूनां रञ्जनं कुर्याद्रसबन्धं करोत्यलम् ॥' इति । पीतश्चामलसाराख्यः स रसरसायने श्रेष्ठः । श्वेताऽत्र खटिका प्रोक्ता । खटिकैव न किन्त्वत्र खटिकाकारेति बोध्यम् । लेपने–व्रणादिलेपनकर्मणि, लोहमारणे च श्रेष्ठा इति शेषः । यथा–'श्वेतस्तु खटिकाकारो लेपनाल्लोहमारणम् । जायते नात्र संदेहश्चानुभूत मया खलु ॥' इति । कृष्णवर्णश्च दुर्लभोऽस्तीति शेषः । स च जरामृत्युनाशनः । ग्रन्थान्तरे तु रक्तस्यापि दुर्लभत्व निगदितम् । तन्त्रान्तरे द्विविधमेव गन्धकमित्यप्युक्तं यथा–'गन्धकं द्विविधं प्रोक्तं लोणीयं चाम्लसारकम् । योग्यं चैवाम्लसारं हि रसमार्गे गुणात्मकम् ॥' इति ॥ ११–१३ ॥

गन्धक के स्वरूप—गन्धक चार प्रकार का होता है यथा–लाल, पीला, सफेद और काला । लाल गन्धक सुवर्ण बनाने के काम आता है और वह तोते की चोंच के समान रग का और उत्तम होता है । पीला गन्धक आमलासार के नाम से प्रसिद्ध है । यह रस और रसायन में श्रेष्ठ माना है । खडिया मिट्टी के तुल्य जो सफेद रग का गन्धक होता है । यह व्रणादि के लेप में और लोह-मारण में लिया जाता है । काला गन्धक दुर्लभ है । वह बुढापा और मृत्युको जीतने (नष्ट करने) वाला होता हे ।

वक्तव्य—यह बात हमने पहले भी कही है कि गन्धक के चार भेद जो कहे हैं वे रग भेद से कहे हैं । हमारे विचार से मूलत· गन्धक नाम का द्रव्य एक ही हे समवत तापभेद से ही रगों में भेद होता है जो कि पहले बता चुके हैं । कितनी उष्णता से गन्धक के रंग में कैसा परिवर्तन होता है । अतः गन्धक तयार करने के तरीके पर ही निर्भर करते हैं । जिस गन्धक को कम शुद्ध किया जाता है अर्थात् गन्धक में मिट्टी, कड्कड या खडिया मिट्टी की अशुद्धि रह गई होगी वह श्वेत गन्धक होगी, सभवत· यह प्राकृतिक गन्धक भी हो सकता हे इसमें अशुद्धियां अधिक होने से ही इसका खाने के लिए उपयोग नहीं बताया हे यह केवल व्रणादि के लेप (मलहम) आदि में और धातुओं के मारण में प्रयुक्त होता है । दूसरा गन्धक पीला सा होता है यह आवलासार गन्धक कहलाता है । आंवलासार–ताजे आवले जैसा कुछ हरापन लिये हुए पीले रग का होता है । खनिज गन्धक का शोधन करने पर ही इसकी प्राप्ति होती है । शुक पुच्छ भी इसकी उपमा है अर्थात् तोते के पंख या पूछ के रग का होता है । शास्त्रकारों ने और व्यापारियों ने इसको शुद्ध गन्धक माना है । लाल गन्धक और कृष्ण गन्धक ये दोनों लोहवाद और देहवाद के लिए उपयोगी माने हैं किन्तु इनका मिलना दुर्लभ लिखा है । हो सकता है यह नम्य या नरम गन्धक ही हो जो द्रवित हुए गन्धक को जल आदि में पतली धारा से गिरा कर तयार किया जाता है किन्तु यह अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सकता है यही कारण है कि यह दुर्लभ माना गया हो ॥ १३ ॥

अथ शुद्धगन्धकगुणाः कथ्यन्ते—

गन्धाश्माऽतिरसायनः समधुरो ह्युष्णो विपाके कटुः
कण्डूकुष्ठविसर्पदद्रुदलनः संदीपनः पाचनः ।

आमोन्मोचनशोषणो विषहरः सूतेन्द्रवीर्यप्रदो
गौरीपुष्पभवस्तथा कृमिहरः सत्त्वात्मकः सूतजित् ॥ १४ ॥

गन्धाश्मेत्यादि। गन्धाश्माऽतिरसायनः समधुरः, उष्णः–उष्णवीर्यो विपाके कटुः। कण्डूकुष्ठविसर्पदद्रुदलनः, संदीपनः, पाचनः–षड्विधभक्ष्यभोज्यचोष्यलेह्यादीनां सम्यक् पाचयिता। आमोन्मोचनशोषणः–आमस्योन्मोचनः स एव शोषण इति पूर्ववद् ज्ञेयम्। विषहरः, सूतेन्द्रवीर्यप्रदस्तथा कृमिहरः, सत्त्वात्मकः–सत्त्वस्वरूपः, गौरीपुष्पभवः–पार्वतीरजःसमुत्पन्नः सूतजिच्च भवतीति शेषः ॥ १४ ॥

शुद्ध गन्धक के गुण–शुद्ध गन्धक मधुर पदार्थों के साथ सेवन करने से अतिरसायन, गरम तथा विपाक में कटु होता है। खुजली, कुष्ठ, विसर्प और दाद (गजकर्ण) का नाश करने वाला और संदीपन (अग्नि को दीप्त करने वाला), पाचन, आम को शोषण करने वाला, विषहर, पारे में शक्ति पैदा करने वाला, कृमिनाशक, सत्त्वात्मक (स्वयं सत्त्वस्वरूप होता है) और पारे को जीतने वाला है तथा यह गन्धक पार्वतीजी के रज से उत्पन्न हुआ माना जाता है ॥ १४ ॥

अन्यच्च—

गन्धकः कटुकस्तिक्तो वीर्योष्णस्तुवरो रसः ॥ १५ ॥
पित्तलः कटुकः पाके कण्डूवीसर्पजन्तुजित्।
हन्ति कुष्ठं क्षयं प्लीहकफवातान् रसायनः ॥ १६ ॥

गन्धक इत्यादि। गन्धकः कटुकः, तिक्तः, वीर्योष्णः तुवरः, सरः, पित्तलः पाके कटुकः, कण्डूवीसर्पजन्तुजित्, कुष्ठं, क्षयं, प्लीहकफवातांश्च हन्ति तथा रसायनो भवति ॥ १५–१६ ॥

दूसरा भेद—गन्धक कटु, तिक्त, उष्णवीर्य, तुवररसी, पित्त को उत्पन्न करने वाला, पाक में कटु होता है। खुजली, वीसर्प, कृमि, कुष्ठरोग, क्षय, प्लीहा और कफवात के रोगों को नष्ट करने वाला और उत्तम रसायन होता है।

वक्तव्य—श्लोक १४ में गन्धक को मधुर कहा है किन्तु प्रस्तुत श्लोक में मधुर का उल्लेख नहीं है। इससे यह सहज शंका होती है कि मधुरता गन्धक में है या नहीं। रसरत्नसमुच्चय और रसेन्द्रसारसंग्रह आदि रसतन्त्रकारों ने भी **'गन्धाश्मातिरसायनः समधुरः'** इत्यादि पाठ को माना है। श्री यादवजी महाराज ने भी 'रसामृतम्' में लिखा है कि **'गन्धको मधुरः पाके कटुरुष्णो रसायनः'** किन्तु इसके भाषान्तर में असावधानता हो गई है जैसे कि—**'गन्धक कटु, मधुरविपाक'** यथार्थ में गन्धक मधुर और कटु विपाक लिखना था और यही ऊपर के श्लोक का तात्पर्य भी है। अब प्रधान प्रश्न पर विचार करना है कि सच में गन्धक यह मधुररसी है या नहीं। यदि गन्धक को मधुररसी मान लिया जावे तो रसतन्त्रकारों के मतों में भेद प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि गन्धक के वीर्य, विपाक और अनुरस पर विचार करने से भी गन्धक का मधुररसी होना सिद्ध नहीं होता है। सारांश यह है कि ग्रन्थकारों में मतभेद बिल्कुल नहीं है टीकाकारों ने जिस प्रकार के अर्थ किये हैं वे ही भ्रामक हो गये हैं। जिस पाठ को विवादास्पद टीकाकारों ने किया है सच में देखा जावे तो वह पाठ यत्किंचित् भी विवाद्य नहीं हैं इतना स्पष्ट है जैसे कि–**'गन्धाश्माऽतिरसायनः समधुरो'** अर्थात् मधुर सहित गन्धक अति रसायन होता है। मोटी बुद्धि से भी देखा जावे तो 'समधुरः' कहने का ग्रन्थकारों का तात्पर्य ही क्या है? यदि गन्धक को मधुररसी ही कहना हो तो 'मधुर' ही कहने से कार्य होता

था 'समधुरः' क्यों कहा ? और 'समधुरः' का अर्थ मधुररसी कहना सर्वथा प्रमाद है। **'गन्धाश्माऽतिरसायनः समधुरः'** इसकी पुष्टि में आगे कहा हुआ सातवा गन्धक कल्प जिसको 'गन्धक रसायन' नाम से सबोधित किया जाता है उसमें मधुर रस का सयोग है जैसे कि गो के दूध की तीन भावना हैं तथा पूरा प्रयोग तयार होने पर समभाग मिश्री मिलाई जाती है और इसी लिए इसको रसायन कहा है। रसेन्द्रसग्रह की सस्कृत टीका में श्रीपन्त जी ने इस बात को स्पष्ट किया है—**समधुरः-'मधुरगुणयुतः, मधुरेण शर्करादिना युतश्च'** किन्तु वही पन्तजी भाषा करने के समय यह सब भूल गये और 'रस में मधुर है' यह अपने ही कथन के विरुद्ध दूसरे ही क्षण में चले गये। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वे संस्कृत शब्द का सस्कृत टीका में यथार्थ समझे हैं हिन्दी में चाहे जो कुछ लिख दिया हो। तात्पर्य यह है कि गन्धक मधुररसी नहीं है यह उपर्युक्त विषय का स्पष्ट द्योतक है ॥ १५-१६ ॥

अथ शोधितगन्धकगुणाः—

> **शुद्धो गन्धो हरेद्रोगान् कुष्ठमृत्युजरादिकान्।**
> **अग्निकारी महानुष्णो वीर्यवृद्धिं करोति हि ॥ १७ ॥**

शुद्ध इत्यादि। शुद्धो गन्धकः, कुष्ठमृत्युजरादिकान् रोगान् हरेत्, तथाग्निकारी, महानुष्णो, वीर्यवृद्धिं च करोति ॥ १७ ॥

शुद्ध गन्धक के गुण—शुद्ध गन्धक कुष्ठ, मृत्यु और बुढापा आदि रोगों को हरण करता है॥

अथाशोधितगन्धकदोषाः—

> **अशुद्धगन्धः कुरुते च कुष्ठं तापं भ्रमं पित्तरुजं तथैव।**
> **रूपं सुखं वीर्यबलं निहन्ति तस्माद्विशुद्धो विनियोजनीयः ॥ १८ ॥**

अशुद्धेत्यादि। अशुद्धगन्धकः कुष्ठं, तापं, भ्रमं-चक्रारूढमिव, पित्तरुज च कुरुते। तथैव रूपं, सुख, वीर्यबलं च निहन्ति। तस्मात्सर्वत्र विशुद्धो गन्धको विनियोजनीयः।

अशुद्ध गन्धक के दोष—अशुद्ध गन्धक कुष्ठ, सताप, भ्रम और पित्तज व्याधियों को उत्पन्न करता है तथैव देहकान्ति, सुख, वीर्य और बल को नष्ट करता है अतः गन्धक का प्रयोग शुद्ध करके ही करना चाहिए अशुद्ध का कदापि नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—प्रमादवश अशुद्ध गन्धक का प्रयोग हो जावे और उसकी विकृति उत्पन्न हो जावे तो उसको दूर करने के लिए गौ के दूध में गो का ही घी मिलाकर पीवे -सव विकार शान्त हो जाते हैं। जैसे कि—**'विकारः संप्रजायेत गन्धकाच्चेत्तदा पिबेत्। गोघृतेनान्वितं क्षीरं सुखी स्यात्स च मानवः' ॥ १८ ॥**

अथ गन्धकशोधनं कथ्यते—

> **गन्धः सक्षीरभाण्डस्थो वस्त्रे कूर्मपुटाच्छुचिः।**
> **अथवा काञ्जिके तद्वत्सघृते शुद्धिमाप्नुयात् ॥ १९ ॥**

गन्ध इत्यादि। वस्त्रे-दुग्धपात्रमुखबद्धे वाससि स्थापितो गन्धः कूर्मपुटाद्गलितः सक्षीरभाण्डस्थः-दुग्धपूरितपात्रमध्ये पतितः सन् शुचिः-शुद्धो भवतीति शेषः। कूर्मपुट यथा-सदुग्धभाण्डमुखं वस्त्रेण बद्ध्वा तत्र च सिकताकृतिगन्धकं निक्षिप्य खर्परेणाच्छाद्य सन्धिलेप विधाय ततो यन्त्रं भूम्यन्तर्निधायोपरिष्टाद्गोमयाग्निना लघुपुट देयमिति मणिरामः। अथवा तद्वत्-पूर्वोक्तक्रियया काञ्जिके सघृते पात्रे शुद्धिं लभेत ॥ १९ ॥

गन्धक की शुद्धि—दूधसहित पात्र पर रखे हुए गन्धक को कच्छपपुट से वस्त्र द्वारा शुद्ध करे अथवा घृतसहित काञ्जी में पूर्वोक्त विधि से शुद्ध करे।

वक्तव्य—चौडे मुख के बर्तन में एक सेर दूध भर कर उसके मुख में मोटा खादी का वस्त्र बाँध दे और वस्त्र पर गन्धक का चूर्ण एक पाव बिछा दे उसके ऊपर मिट्टी का खपडा अथवा लोहे का तवा रख दे और दुग्धयुक्त बर्तन और तवे की सन्धियों को गेहूँ के आटे से भलीभाँति बन्द कर दे और दुग्धयुक्त पात्र को जमीन में गाड दे और तवे पर गोवरियों की अग्नि देवे। ऐसा करने से तवे के गर्म होने से गन्धक पिघल कर दुग्ध युक्त बर्तन में गिर जावेगा। शुद्ध भाग गन्धक का पिघलकर कपडे से छन कर दुग्ध में जा गिरेगा और अशुद्ध भाग मिट्टी, कङ्कण या धातु आदि का जो मिश्रण होगा वह सब कपडे पर रह जावेगा। अथवा इसी प्रकार दूध की जगह में काञ्जी भरकर भी गन्धक की शुद्धि की जाती है। अथवा एक बर्तन में एक सेर काञ्जी भर कर उसके मुख पर पतला कपडा बाँध दे और एक पाव गन्धक को एक छटाक घी के साथ लोहे की छोटी कटाही में अग्नि में गर्म करे। जब गन्धक पिघल कर पानी सरीखा हो जावे तब उस कपडे युक्त काञ्जी के पात्र में डाल दे। कपडे से छन कर सभी गन्धक काञ्जी में गिर जावेगा और गन्धक का विकृत भाग उस कपडे में रह जावेगा। यह गन्धक शुद्ध हो गया ऐसा जानकर इसका सर्वत्र उपयोग करे॥ १९॥

अथ शोधनयोग्यगन्धकलक्षणम्—

शुकपिच्छसमच्छायो नवनीतसमप्रभः।
मसृणः कठिनः स्निग्धः श्रेष्ठो गन्धक उच्यते॥ २०॥

शुकेत्यादि। शुकपिच्छसमच्छायः, नवनीतसमप्रभः, मसृणः-चिक्कणः, कठिनः, स्निग्धश्च एवंभूतो गन्धकः श्रेष्ठ उच्यते॥ २०॥

शोधनयोग्य गन्धक—तोता की पंख के समान वर्ण (रंग) का, मक्खन के समान मृदु, चिकना, कठिन और स्निग्ध गन्धक उत्तम होता है। ये सभी लक्षण आँवलासार गन्धक में मिलते हैं अतः शुद्धि के लिए इसी का सदा उपयोग करना चाहिए॥ २०॥

अथान्यमते शोधनम्—

लोहपात्रे विनिक्षिप्य घृतमग्नौ प्रतापयेत्।
तप्ते घृते समानं तु क्षिपेद्गन्धकजं रजः॥ २१॥
विद्रुतं गन्धकं ज्ञात्वा तनुवस्त्रे विनिक्षिपेत्।
यथा वस्त्राद्विनिःसृत्य दुग्धमध्येऽखिलं पतेत्॥ २२॥
शीतो निष्कासितो धौतो जलं वस्त्रेण शोषयेत्।
एवं नैर्मल्यमापन्नो गन्धकः शुद्ध उच्यते॥ २३॥
एवं वारत्रयं शोध्यो भिन्ने दुग्धे प्रयत्नतः।
भक्षणार्थं हि भिषजा योगार्थं सकृदेव च॥ २४॥

लोहपात्र इत्यादि। लोहपात्रे घृतं विनिक्षिप्य तं घृतसहितकटाहं चाग्नौ प्रतापयेत्। घृते प्रतप्ते सति समानं गन्धकजं रजः क्षिपेत्। लोहदण्डिकया काष्ठदण्डिकया वा चालयेत् विद्रुतं गन्धकं ज्ञात्वा तनुवस्त्रे-क्षीरभाण्डमुखसंवेष्टिते सूक्ष्मवस्त्रे विनिक्षिपेत् यथा गन्धको वस्त्रात् विनिःसृत्य समस्तो दुग्धमध्ये पतेत् तथेति। शीतो निष्कासितो वारिणा

धौतश्च वस्त्रेण शोषयेत्। नैर्मल्यमधिगतो गन्धकः शुद्ध इत्युच्यते। एवं प्रयत्नतो वारत्रयं शोध्यः किन्तु प्रत्येकस्मिन् प्रक्षेपणे घृतदुग्धादिकं नवीनं योज्यम्। तत् विशिष्टशोधनं त्रिवारात्मकं भक्षणार्थमेव, योगार्थं च सकृदेव ॥ २१-२४ ॥

दूसरा शोधन प्रकार—लोहे के वर्तन में घी डालकर अग्नि में तपावे, जब घी पिघल जावे तब घी के समान भाग गन्धक का चूर्ण डाले और गन्धक के भलीभाँति द्रव-पिघल कर पनले होने पर दूध के पात्र पर पतला और मजबूत कपड़ा बाँधकर उस पर पिघले हुए गन्धक को डाल दे, जब सपूर्ण गन्धक छनकर दूध में गिर जावे और ठंडा हो जावे तब निकाल कर गर्म जल से धो डाले और कपड़े से भलीभाँति पोंछ दे, इस प्रकार करने से गन्धक शुद्ध हो जाता है। ठीक, इसी प्रकार तीन वार गन्धक का शोधन करे। प्रत्येक शोधन में घृत और दूध नवीन लेना चाहिए। यह तीन वार गन्धक शोधन का जो विधान है केवल खाने के लिए ही गन्धक का प्रयोग करना हो तो है अन्यथा यदि योगों के लिए ही शोधन करना है तो एक वार ही पर्याप्त हैं। रसादि बनाने के लिए एक वार ही करना चाहिए ॥ २१-२४ ॥

वस्त्रनिर्गालितशुद्धस्य प्रयोजनमाह वाग्भटः—

एवं संशोधितः सोऽयं पाषाणानम्बरे त्यजेत्।
घृते विषं तुषाकारं स्वयं पिण्डत्वमेति च ॥ २५ ॥

एवमित्यादि। सोऽयं गन्धकः, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सशोधितः सन् पाषाणान्-खनिसम्बन्धजन्यप्रस्तरादिमलान्, अम्बरे-वस्त्रे त्यजेत्, तथा विषत्वं च घृते। अवशिष्टः स्वयं निर्मलगन्धकस्तु तुषाकारं पिण्डत्वमेति ॥ २५ ॥

ऊपर कही हुई विधियों से शुद्ध किया हुआ यह गन्धक खानजन्य जो उसमें मिट्टी और पत्थर आदि के मल होते हैं उनको वस्त्र में छोड़ देता है और विष को घृत में त्याग देता है। समस्त मलों दोषों से निर्मुक्त हुआ निर्मल गन्धक स्वयं तुषाकार होकर पिण्डत्व को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—गन्धक की शुद्धि के लिए प्रधानतः अग्नि, घृत, दुग्ध और वस्त्र का उपयोग होता है। इन चारों का सापेक्ष्य उपयोग है क्योंकि खनिज गन्धक में सामान्यतः तीन प्रकार की अशुद्धियाँ होती हैं जैसे कि-(१) अग्नि पर गन्धक के पिघल जाने पर भी न पिघलने वाले कङ्कड-पत्थर आदि खनिज द्रव्य या फिर बाहर से आकर गन्धक में मिलने वाले द्रव्य (२) अग्नि से गन्धक के साथ द्रव होने वाले और साथ में ही घी में घुल जाने वाले तथा दूध, काजी और जल आदि द्रव में मिल जाने वाले द्रव्य (३) अग्नि से द्रव होने वाले किन्तु घी में न मिलने वाले होकर दूध और काजी में घुलने वाले द्रव्य। ये उपर्युक्त तीन प्रकार की जो अशुद्धियाँ कही गई हैं उनका प्रतिकार अग्नि, घृत, दुग्ध और वस्त्र द्वारा पूर्णतः होता है। पहले प्रकार की कङ्कड-पत्थर आदि खनिज अशुद्धि का निवारण वस्त्र द्वारा हो जाता है और शेष का दूध और घृत द्वारा हो जाता है। यों गन्धक में दो प्रकार की अशुद्धियों का भी उल्लेख मिलता है-**'गन्धे मलद्वयं दृष्टं शिलाचूर्णं विषं तथा। शोधितव्यस्ततो यत्नादभिज्ञेन यथाविधि ॥'** कङ्कड, पत्थर मिट्टी तथा खनिजन्य पार्थिव मल आदि। विष-सखिया, हरिताल और मनःशिला तथा अन्य विषैले द्रव्य। यही कारण है कि गन्धक की शुद्धि अनिवार्य है ॥ २५ ॥

अथास्य कूर्मपुटेन शोधनं विशदं यथा—

साज्यभाण्डे पयः क्षिप्त्वा मुखं वस्त्रेण बन्धयेत्।
गन्धकं पृष्ठदेशे तु श्लक्ष्णचूर्णितमर्पयेत् ॥ २६ ॥

छादयेत्पृथुदीर्घेण खर्परेणैव गन्धकम् ।
सन्धिरोधः प्रकर्तव्यो भाण्डखर्परयोर्मृदा ॥ २७ ॥
भाण्डं निक्षिप्य भूगर्ते किञ्चिद्रक्षेद्बहिर्मुखम् ।
ज्वालयेत् खर्परस्योर्ध्वमग्निं खलु वनोपलैः ॥ २८ ॥
ततः क्षीरे द्रुतं गन्धं शीतं धौतं जलेन तु ।
निर्जलं वस्त्रघृष्टं तु शुद्धं योगेषु योजयेत् ॥ २९ ॥

साज्येत्यादि । साज्यभाण्डे पयः क्षिप्त्वा तस्य पात्रस्य मुखं वस्त्रेण बन्धयेत् । वस्त्रोपरि श्लक्ष्णचूर्णितं गन्धकमर्पयेत् । ततः पृथुदीर्घेण खर्परेणैवाच्छादयेत्ततो मृदा भाण्डखर्परयोः सन्धिरोधः कर्तव्यः । ततश्च शुष्कं कृत्वा पूर्वोक्तभाण्डं किञ्चिद्बहिर्मुखं भूगर्ते निक्षिप्य ततो वनोपलैः खर्परस्योर्ध्वमग्निं ज्वालयेत् । ततो द्रुतं गन्धं क्षीरे पतितं शीतं पुनर्जलेन धौतं वस्त्रघृष्ट-पटेन प्रोञ्छितं निर्जलं शुद्धं योगेषु योजयेत् ॥ २६–२९ ॥

तीसरा गन्धक का शोधन प्रकार—घृतयुक्त पात्र में दूध डालकर पात्र के मुख को वस्त्र से बाँध दे और उसके ऊपर गन्धक का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर डाल दे । उसके ऊपर बडे ठीकरे से आच्छादन करके और मिट्टी के पात्र जिसमें घी और दूध भरा है तथा ठीकरा जो कि आच्छादनार्थ रखा है दोनों का सधिरोध करदे तत्पश्चात् उस पात्र को जमीन के खड्डे में कुछ मुख बाहर रहे ऐसा रखकर ठीकरे के ऊपर वन गोबरियों की अग्नि जलावे । जब गन्धक जलकर दूध में गिर जावे तब ठण्डा होने पर जल से धोकर वस्त्र से पोंछ कर सुखा डाले तो गन्धक शुद्ध हो जाता है, इसे सब कार्यों में बरत सकते हैं ।

वक्तव्य—इस प्रकार करने से गन्ध में जितने प्रकार की अशुद्धियाँ, जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है, शुद्ध हो जाती हैं और गन्धक सर्वथा शुद्ध हो जाता है । इसी विधि से यदि सौ वार शुद्धि कर ली जावे तो गन्धक में एक विशेष प्रकार का गुणाधान होता है उष्णता से गन्धक के अनेक विभिन्न रूप होते रहते हैं किंचित पीलाद्रव, उसके पश्चात् उदारङ्ग तथा लाल और उसके बाद काला और अपारदर्शक तथा फीकापन लिए हुए होता है । शास्त्रकारों ने काले रग के गन्धक को जरामृत्यु-नाशन और दुर्लभ कहा है । सप्रति ऐसा देखा जाता है कि मूलतः गन्धक काला और लाल नहीं होता है जितनी उष्णता से उसकी विशेष शुद्धि होती है वैसे-वैसे ही उसके रग में परिवर्तन होता है अत प्रभावी औषधों का तात्पर्य यही है कि उनको शुद्धि और संस्कारों के द्वारा प्रकृष्ट अवस्था में लाना चाहिए । यही हेतु है कि शतवार गन्धक का शोधन विशेष प्रबल होता है । और गन्धक अपनी सुगन्धि को भी छोड देता है ॥ २६–२९ ॥

मतान्तरम्—

गन्धको द्रावितो भृङ्गरसे क्षिप्तो विशुध्यति ।
सप्तधैवं भक्षणार्थं योगार्थं सकृदेव तु ॥ ३० ॥
इति शुद्धो हि गन्धाश्मा नापथ्यैर्विकृतिं व्रजेत् ।
अपथ्यादन्यथा हन्यात्पीतं हालाहलं यथा ॥ ३१ ॥

गन्धक इत्यादि । द्रावितो गन्धको भृङ्गरसे क्षिप्तः सन् विशुध्यति । एवं भक्षणार्थं-केवलंकगन्धकसेवनं चेत्तर्हि सप्तधा विशोधयेत् । योगार्थं तु सकृदेव । इति शुद्धो गन्धाश्मा अपथ्यैर्विकृतिं नाप्नुयात् । अन्यथाऽपथ्यात् हन्यात् । यथा हालाहलं विषं पीतं मारयति तथा ॥ ३०–३१ ॥

चौथा प्रकार—गन्धक को पिघला कर भागरे के रस में डालने से शुद्ध हो जाता है। यह शोधन केवल गन्धक खाना हो तो सात बार करे और प्रयोग में वर्तना हो तो एक बार करे। इस प्रकार से शुद्ध किया हुआ गन्धक कदापि कुपथ्य होने पर भी विकार उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा कुपथ्य होने से हालाहल विष के तुल्य हो जाता है।

वक्तव्य—भृंगराज के रस में गन्धक की शुद्धि तभी उत्तम होती है जब प्रथम उसका पहले कहे हुए विधान से घृत और दुग्ध के साथ शोधन कर लिया जावे। रसपर्पटी आदि प्रयोगों में जो गन्धक का उपयोग किया जाता है वह गन्धक भृङ्गराज रस में सात बार शोधन किया हुआ ही ग्राह्य होता है। **'योगार्थं सकृदेव तु'** यह सिद्धान्त अन्य रसादिकों के लिए ही उपर्युक्त होता है किन्तु पर्पटियों के लिए नहीं ॥ ३०-३१ ॥

अथ गन्धककल्पार्थं गन्धकगन्धनाशनप्रकार.—

विचूर्ण्य गन्धकं क्षीरे घनीभावावधि पचेत् ।
सूर्यावर्तरसं चापि पुनर्दत्वा पचेच्छनैः ॥ ३२ ॥
पश्चाच्च पातयेत् प्राज्ञो जले त्रैफलसंभवे ।
जहाति गन्धको गन्धं निजं नास्तीह संशयः ॥ ३३ ॥
इत्थं विशुद्धस्त्रिफलाज्यभृङ्गमध्वन्वितः शाणमितो हि लीढः ।
गृध्राक्षितुल्यं कुरुतेऽक्षियुग्मं करोति रोगोज्झितदीर्घमायु. ॥ ३४ ॥
अत्र पथ्यं तु दुग्धोदनम् ।

विचूर्ण्येत्यादि। गन्धकं सूक्ष्म विचूर्ण्य घनीभावावधि क्षीरे पचेत। तत सूर्यावर्तरसं सुवर्चलास्वरसं दत्वा पुनः शनैः पचेत्। पश्चात्प्राज्ञ. त्रैफलसम्भवे जले पातयेत्। तत्प्रक्षेपणेन गन्धको निज गन्ध जहाति। इह कथने नास्ति सशय.। तन्त्रान्तरे त्वितोऽपि सुगमः प्रकार –'ततः शुद्ध समुद्धृत्य स्वेदयेत्त प्रयत्नत'। नवमाल्यरसेनथ देवदाल्या रसेन च ॥ वज्र्यर्कपयसा सार्धमम्लवर्गेण सयुत.। स्वेदितो मर्दितो गन्धो गन्धहीनस्तदा भवेदिति ॥' इत्थ विशुद्ध' सन् शाणमित.-मापकचतुष्टय यावल्लीढः-भक्षितो गन्धकः, मात्राऽधिकमत्र प्रतीयते किन्तु कालवयोवल दृष्ट्वा प्रयोगो विधेयो मात्राया.। त्रिफलाज्यभृङ्गमध्वन्वित.-अक्षियुग्म-गृध्राक्षितुल्य दूरदर्शि कुरुते तथा रोगोज्झित दीर्घमायुश्च करोति। अत्र गन्धककल्पसेवनावसरे दुग्धोदन पथ्यं भवति ॥ ३२-३४ ॥ इति प्रथमो गन्धककल्प. ॥

गन्धक कल्प के लिए गन्धक का गन्धनाशनविधान—गन्धक को सूक्ष्म-बारीक पीसकर दूध में गाढा होने तक पकावे, फिर सूरजमुखी के फूल का रस देकर पकावे तत्पश्चात् त्रिफले के कषाय में मन्द-मन्द पकावे। ऐसा करने पर गन्धक अपनी सुगन्धि को छोड देता है। इस प्रकार से शुद्ध किया हुआ गन्धक त्रिफला चूर्ण, घृत, भृगराज का रस और शहद मिलाकर चार माशे की मात्रा से चाटे तो गिद्ध के समान नेत्र और रोग रहित आयु हो जाता है। इस में सेवन काल तक दूध और चावल का ही पथ्य ग्रहण करे ॥ ३२-३४ ॥

अथ द्वितीयो गन्धककल्प —

शुद्धो गन्धो निष्कमात्रः सदुग्धः सेव्यो मासं शौर्यवीर्यप्रवृद्ध्यै ।
षण्मासात्स्यात्सर्वरोगप्रणाशो दिव्या दृष्टिर्दीर्घमायुः सुरूपम् ॥३५॥

शुद्ध इत्यादि। सदुग्धः-दुग्धेन सह वर्तत इति सदुग्धः शुद्धो गन्धको निष्क-

मात्र-शाणपरिमितमात्रो मासं-त्रिंशद्दिनं यावच्छौर्यवीर्यप्रवृद्धयै सेव्यः। अस्य गन्धस्य नियमतः षण्मासात् सेवनतः सर्वरोगप्रणाशः स्यात्तथा च दिव्या दृष्टि. नेत्रशक्तेरद्भुतं प्राबल्यं दीर्घमायुः सुरूप-गात्रसौन्दर्यं च स्यात् ॥ ३५ ॥

दूसरा गन्धक कल्प—चार माशे शुद्ध गन्धक दूध के साथ शूरता और वीर्य की वृद्धि के लिए एक मास तक सेवन करे। यदि इसका छः मास तक सेवन किया जावे तो सपूर्ण रोगों का नाश होकर दिव्य दृष्टि, दीर्घायु और सुन्दर शरीर हो जाता है ॥ ३५ ॥

अथ गन्धकतैलम्—

आवर्त्यमाने पयसि दद्याद् गन्धकजं रजः।
तज्जातदधिजं सर्पिर्गन्धतैलं नियच्छति ॥३६॥
गन्धतैलं गलत्कुष्ठं हन्ति लेपाच्च भक्षणात्।

आवर्त्यमान इत्यादि। पयसि आवर्त्यमाने—वह्निसयोगादुत्क्वाथ्यमाने सति गन्धकजं रजो दद्यात्। तज्जातदधिज—तस्माद् दुग्धाज्जातं दधि तदुत्पन्न सर्पिर्गन्धतैल नियच्छति। अर्थात् तज्जं सपिरेव गन्धकतैलवद् द्रवीभवतीति भावः। एतत् गन्धतैल शरीरे मर्दनात्, भक्षणाच्च गलत्कुष्ठ हन्ति। क्वचित् पुस्तके 'अनेन पिण्डिका कार्या रसेन्द्रस्योक्तकर्मसु' इत्यधिक. पाठ ॥ ३६ ॥

गन्धक का तेल—दूध जब उबलने लगे तब गन्धक का चूर्ण उसमें डाल दे, उस दूध के दही से निकाले हुए घी को गन्धक तैल कहते हैं। यह तैल लेप करने और खाने से गलित कुष्ठ को नष्ट करता है ॥ ३६ ॥

अथ तृतीयो गन्धककल्पः—

चूर्णीकृत्य पलानि पञ्च नितरां गन्धाश्मनो यत्नत-
स्तच्चूर्णं त्रिगुणे तु मार्कवरसे छायाविशुष्कीकृतम्।
यत्स्याच्चूर्णमथाभयामधुघृतं प्रत्येकमेषां पलं
वृद्धो यौवनमेति मासयुगलं खादन्नरः प्रत्यहम् ॥ ३७ ॥

चूर्णीकृत्येत्यादि। शुद्धगन्धकस्य पञ्च पलानि नितरां चूर्णीकृत्य यत्नतस्त्रिगुणे मार्कवरसे—भृङ्गराजस्वरसे भावित सम्प्धेति शेष। ततश्च छायाविशुष्कीकृत यत्स्याच्चूर्णं तद्-भया—हरीतकी, मधु, घृतं चैषा त्रयाणा प्रत्येक पलप्रमाणम्, एव सर्वं यथावच्चैकीकृत्य देशकालवयोबल च दृष्ट्वा मात्रया मासद्वय यावत् प्रत्यहं खादन् नरो वृद्धोऽपि यौवनमेति ॥ ३७ ॥

तीसरा गन्धक कल्प—पाच पल शुद्ध गन्धक पीसकर पन्द्रह पल भांगरे के रस की भावना देकर छाया में सुखाना। तत्पश्चात् हरड, शहद और घी इन तीनों को एक-एक पल प्रमाण में पॉच पल गन्धक के चूर्ण के साथ मिलाकर यथायोग्य मात्रा से दो मास तक नित्य सेवन करे तो वृद्ध भी युवा बन जाता है ॥ ३७ ॥

अथ चतुर्थो गन्धककल्पः—

यो गन्धाश्मविचूर्णितं पिबति ना तैलेन कर्षोन्मितं
नित्यं चोष्णजलावसेचनरतः काले यथा प्रत्यहम्।

सप्ताहत्रितयान्निहन्ति सकलाः पामादिसर्वारुजो
नित्याभ्यासवशाद्विनष्टसकलक्लेशोपतापः पुमान् ॥ ३८ ॥

य इत्यादि । यो नरः-पुरुषो गन्धाश्मविचूर्णित कर्षोन्मित तैलेन नित्यं पिबति पुनश्च प्रत्यहं यथाकाले-प्रातः काले, 'कालेऽनुक्ते प्रभातं स्यादिति' वचनात् । उष्णजलावसेचनरतश्चेदेवं सप्ताहत्रितयात्-एकविंशतिदिनाभ्यासात् सकला' पामादिरुजो निहन्ति । तथा चास्य नित्याभ्यासवशात् विनष्टसकलक्लेशोपतापः-विनष्टा'-नाश गता. सकला-समस्ताः क्लेशोपतापाः-दु'खसन्तापादयो यस्य स पुमान् भवेदिति शेषः ॥ ३८ ॥

चौथा गन्धक कल्प—जो मनुष्य नित्य प्रति प्रातः काल १ तोला शुद्ध गन्धकचूर्ण को तिल के तैल के साथ पीता है और उष्ण जल से स्नान करता है तो पाँव (पामा) आदि रक्त विकारजन्य उसकी समस्त पीडाएँ २१ दिन में नष्ट हो जाती हैं अथवा इस प्रकार गन्धक का पथ्य के साथ नित्य सेवन किया जावे तो मनुष्य के क्लेश और सन्तापादि शारीरिक व्याधियाँ कदापि नहीं होती हैं ॥ ३८ ॥

अथ पञ्चमो गन्धककल्पः—

यो वाऽप्युग्रमतिः सुचूर्णितमिदं गन्धाश्म कृष्णासमं
पथ्यातुल्यमपि प्रपूजितगुरुर्भूतेशपूजारतः ।
आहारादिषु यन्त्रणादिरहितः स्यात्पुष्टिवीर्याधिकः
प्रोत्फुल्लाम्बुजनेत्रयुग्मविलसच्चामीकराभासुरः ॥ ३९ ॥

य इत्यादि । यो वा प्रपूजितगुरु', भूतेशपूजारत-शिवभक्त', उग्रमतिः पुरुषः, इदं सुचूर्णित कृष्णासम-पिप्पलीचूर्णसमभाग गन्धक तैलेन पिबति, इत्येको योग' तथा पथ्यातुल्य-हरीतकीचूर्णसमभाग गन्धकज रजस्तैलेन पिबति, इति द्वितीयो योगः ॥ सकला अपि पामा नश्यन्ति । अत्र ‡आहारादिषु-भोजनविहारप्रभृतिकेषु यन्त्रणादिरहितः स्यात् । पुष्टिवीर्याधिक' प्रोत्फुल्लाम्बुजनेत्रयुग्मविलसत्-विकसितकमलनेत्रद्वयशोभित , चामीकराभासुर.-सुवर्णवच्छरीरकान्तिः स्यात्तत्सेवनेनेति ॥ ३९ ॥

पाँचवा प्रकार—अथवा जो बुद्धिमान् पुरुष, शुद्ध गन्धक में समभाग पीपल का चूर्ण मिला कर तेल से पीवे, अथवा समभाग हरड का चूर्ण मिलाकर तेल से गन्धक को पीता है तो भी पामा (खुजली) आदि समस्त वेदनाएँ दूर हो जाती है। इसमें विशेषता यह है कि किसी भी प्रकार की पथ्यापथ्य की विशेष यन्त्रणा (बन्धन) नहीं है। इसके सेवन से शरीर हृष्ट, पुष्ट एव सुन्दर हो जाता है।

वक्तव्य—शुद्ध गन्धक के सेवन में विशेष पथ्य का बन्धन नहीं होता है। पथ्य का बन्धन तो इसलिए आवश्यक माना है कि कहीं उसमें अशुद्धि तो न रह गई है किन्तु यहाँ तैल का अनुपान होने से सामान्य अशुद्धि रह भी गई हो तो भी वह विकारकर नहीं हो सकती है।

ऊपर अनुपान भेद से दो योग दिये हैं किन्तु 'रसजलनिधि'कार गन्धक के विभिन्न अनुपानों से विभिन्न रोगों का परिहार बताता है—'मोचाफलेन त्वग्दोषं, चित्रकेन वलक्षयम् । आटरूपककषायेण क्षयकासान् जयेद्भृशम् ॥ मन्दानल संहरति त्रिफलाक्वाथसयुतः । ऊर्ध्वगान् सकलान् रोगान् हन्ति शीघ्रं सुगन्धक ॥' अपि च-'सुगन्धको निष्कमितस्तु दुग्धैः सेव्यो हि मास बलवीर्यवृद्धयै । वर्षार्धयोगाग्निखिलार्त्तिनाशं दीर्घायुष नेत्रसुखं

ददाति ॥' कहने का तात्पर्य यह है कि भली प्रकार शुद्ध किया हुआ गन्धक अनेक रोगों को अनुपान भेद से ठीक करता है।

अनुपानरहित केवल गन्धक की शरीर पर क्या क्रिया होती है और उसका उपयोग क्या है ? इस विषय में भारतीय रसायन शास्त्र के कर्ता श्री देसाई जी लिखते हैं कि—'गन्धक सजीव प्राणी के शरीर पर लगाने से हाइड्रोजन सल्फाइड् (H_2S) बाहर निकलता है अत एव बहिर्भाग में उसका उपयोग किया जाता है तो गन्धक यह दाहजनक और कृमिघ्न होता है। यह दो ड्राम की मात्रा में पेट में देने से आमाशय में ज्यों का त्यों रहता है और पित्त तथा पैंक्रियाटिक् ज्युस् (अग्निरस) इनमें थोडा मिलता है वहाँ से यह रक्त में जाता है और त्वचा के रास्ते से बाहर आता है, इसका कुछ भाग मूत्रपिंड के मार्ग से बाहर निकलता है और कुछ श्वासोच्छ्वास नलिका की श्लेष्मत्वचा से बाहर आता है और इस प्रकार बाहर आने पर वह उसको उत्तेजित करता है। आगे वह बृहदन्त्र से गुदा की ओर जाते हुए यत्किंचित् दाह उत्पन्न करता है और स्वल्प प्रमाण में विरेचक भी होता है अर्थात् मल को नरम (मृदु) करके टट्टी साफ लाता है। यह इसका विरेचक गुण बवासीर (अर्श रोग) में विशेष उपयोगी होता है कारण यह है कि बवासीर में यह गुदमार्ग की शिराओं के लिए शामक कार्य करता है इसलिए उन शिराओं में भली प्रकार सकोचन होता है।

गन्धक त्वचा के रोगों में उत्तम उपयोगी होने वाले रेचक के लिए सर्वश्रेष्ठ जुलाब की औषधि है। गन्धक श्लेष्म नि सारक है यही हेतु है बहुत पुराने श्वास-नलिकाशोथ में यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। गन्धक के समस्त गुण कान्दा (प्याज) खाने को देने से विशेष रूप से प्रगट होते हैं। प्याज को काटकर एक वर्तन में भरकर वन्द करके अग्नि पर सिजा कर यदि खाने को दिया जावे तो उत्तम प्रकार से श्लेष्म-नि.सारण क्रिया करता है। अपस्तम्भ के पुराने अभिष्यन्द में इसके समान दूसरी उत्तम कोई औषध नहीं है। इसी प्रकार जीर्ण आमवात में गन्धक पेट में दिया जाता है और बाहर रोगग्रस्त स्थानों में लेप के रूप में लगाया भी जाता है। गृध्रसी (साएटिका) में भी पूरे पेर में गन्धक का लेप देकर ऊपर से बाँधा जाता है ॥ ३९ ॥

अथ षष्ठो गन्धककल्पः—

कलांशव्योषसंयुक्तं शुद्धगन्धं विचूर्णितम् ॥ ४० ॥
अरत्निमात्रवस्त्रे तद्विप्रकीर्य विवेष्टयेत्।
सूत्रेण वेष्टयित्वाऽथ यामं तैले निमज्जयेत् ॥ ४१ ॥
धृत्वा संदंशतो वर्तिं मध्ये प्रज्वालयेच्च ताम्।
द्रुतो निपतितो गन्धो विन्दुशः काचभाजने ॥ ४२ ॥
तां द्रुतिं प्रक्षिपेत् पत्रे नागवल्ल्यास्त्रिविन्दुकाम्।
वल्लेन प्रमितं शुद्धं सूतेन्द्रं च विमर्दयेत् ॥ ४३ ॥
अङ्गुल्या च सपत्रां तां द्रुतिं सूतं च भक्षयेत्।
करोति दीपनं तीव्रं क्षयं पाण्डुं च नाशयेत् ॥ ४४ ॥
कासं श्वासं च शूलार्तिं ग्रहणीमपि दुर्धराम्।
आमं विनाशयत्याशु लघुत्वं प्रकरोति च ॥ ४५ ॥

कलांशेत्यादि। विचूर्णित शुद्धगन्धं, कलाशव्योपसयुक्तं-गन्धभागात् षोडशांशत्रिकटुचूर्णसहितम्, अरत्निमात्रवस्त्रे-विस्तृतकनिष्ठेन मुष्टिनोपलक्षितो हस्तस्तत्प्रमाणवाससि

तत् चूर्ण विप्रकीर्य वेष्टयेत्। गन्धरजोभिः सह सुवेष्टितं वर्तिरूपं तद्वस्त्रं सम्यक् दृढीकरणाय पुनः सूत्रेण वेष्टयित्वा याम यावत्तैले निमज्जयेत्। तत स्निग्धां तां वर्तिं मध्ये संदंशतः-सदंशयन्त्रेण धृत्वा तस्या भागद्वयं प्रज्वालयेत। प्रज्वलिताया च तस्यां द्रुतः सन् गन्धः काचभाजने बिन्दुशो निपतितः स्यात्ता गन्धकद्रुतिं नागवल्ल्याः पत्रे त्रिबिन्दुका प्रक्षिपेत्। तत्र वल्लेन प्रमितं शुद्ध सूतेन्द्र च अङ्गुल्या विमर्दयेत्। पश्चात्तां-गन्धकद्रुतिं ताम्बूलीदलसहिता सूत च भक्षयेत्। यद्भक्षणफल तीव्रमग्निदीपन करोति। क्षय पाण्डुरोगं च नाशयेत्। पुनश्च कासं, श्वास, शूलार्तिं, दुर्धरां ग्रहणीम्, आमम् आमविकारं चाशु विनाशयति। 'विशोषयति' इति पाठान्तरम्। लघुत्वं च प्रकरोति ॥४०-४५॥

छठा गन्धक कल्प—शुद्ध गन्धक के चूर्ण में पोटशास त्रिकटु (सोंठ, मिरच और पीपल) का चूर्ण मिलाकर एक हाथ वस्त्र पर उस गन्धक युक्त चूर्ण को बिखेर दे और वस्त्र को गोल वर्तिकाकार समेट कर सूत के धागे से चौतर्फे से बाँधकर एक प्रहर तक तिलतैल में डुबोकर रखे। तत्पश्चात् सण्डसीसे उस वर्त्ती को बीच में पकड़ कर काच के बर्तन पर रखे और उसके दोनों छोरों को दोनो ओर से जलादे तो गन्धक पिघल कर बूंद-बूंद काच के बर्तन में गिरेगा। इसे गन्धक की द्रुति कहते हैं। उस द्रुति को ३ बिन्दु नागर पान में रखकर उसमें ३ रत्ती शुद्ध पारा मिलाकर अङ्गुलि से मर्दन कर नागर पान सहित सेवन करे। इसके सेवन स तीव्र जठराग्नि होती है, तथा क्षय और पाण्डुरोग का नाश होता है। खासी, श्वास, शूल, असाध्य संग्रहणी और आमविकार इनको तत्काल नष्ट कर के शरीर में हल्कापन पैदा करती है॥ ४०-४५॥

अथ सप्तमः सर्वोत्तमो गन्धककल्प —

शुद्धो बलिर्गोपयसा त्रिवारं ततश्चतुर्जातगुडूचिकाद्भिः।
पथ्याक्षधात्र्यौषधभृङ्गनीरैर्भाव्योऽष्टवारं पृथगार्द्रकेण ॥४६॥
सिद्धे सितां योजय तुल्यभागां रसायनं गन्धकसंज्ञितं स्यात्।
धातुक्षयं मेहगणाग्निमान्द्यं शूलं तथा कोष्ठगतांश्च रोगान् ॥४७॥
कुष्ठान्यथाष्टादशरोगसंघान्निवारयत्येव च राजरोगम्।
कर्षोन्मिते सेवित एति मर्त्यो वीर्यं च पुष्टिं बलमग्निदीप्तिम् ॥४८॥
वमनै रेचनैः पूर्वं देहशुद्धिं समाचरेत्।
जाङ्गलानि तु मांसानि छागलानि प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥
लवणाम्लानि शाकानि द्विदलानि तथैव च।
स्त्रियश्चारोहणं यानं सदा चैतानि वर्जयेत् ॥ ५० ॥

शुद्ध इत्यादि। शुद्धो बलिर्गोपयसा त्रिवारं क्वचित् 'त्रिवारम्' इत्यत्र 'विभाव्य' इति पाठभेदः। ततः चतुर्जातं-त्वगेलापत्रकेशरं, तथा गुडूचिका एषाम् अद्भिः कषायैस्तथा पथ्याक्षधात्र्यौषधभृङ्गनीरैः पृथक् पृथगष्टवार तथार्द्रकेण चाष्टधा विभाव्यः। एवं सिद्धे सति तस्मिन् तुल्यभागा सितां योजय। असौ गन्धकसज्ञित रसायन स्यात्। इद रसायन धातुक्षय मेहगणाग्निमान्द्यं चाष्टविध शूल तथा कोष्ठगतान् रोगान्। कोष्ठलक्षण यथा-स्थानान्यामाग्निपक्वाना मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुक-फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥' इति। अष्टादशकुष्ठानि, तथा चान्यान् रोगसघान्, राजरोग-राजयक्ष्माण च एवेत्यसशयेन निवारयति कर्षोन्मिते गन्धकरसायने सेविते सति मर्त्यो वीर्यं, पुष्टिं-देहपुष्टि, बलम्, अग्निदीप्तिं च प्राप्नोति। पूर्वं रसायनसेवनतो वमनैः, रेचनैश्च देहशुद्धिं समा-

चरेत्। तदुपरि, जाङ्गलानि,–जाङ्गलदेशोद्भवानि मांसानि, छागलानि–अजामांसानि च प्रयोजयेत्। लवणानि, अम्लानि, शाकानि, द्विदलानि–सर्वद्विदलधान्यानि, स्त्रियः–स्त्रीसेवनम्, आरोहणं वृक्षादिषु, यानं चैतानि सदा वर्जयेत्॥ ४६–५०॥

सातवाँ गन्धक कल्प—शुद्ध गन्धक को तीन वार गाय के दूध में भावित करके फिर चातुर्जात (दालचीनी, इलायची, तेजपात और नागकेशर), गिलोय, हरड, वहेडा, आमला, सोंठ तथा भृङ्गराज के रस से पृथक्-पृथक् आठ वार भावित करे और भली प्रकार सूखने पर समान भाग मिश्री मिला दे। यह गन्धक रसायन तयार होगया। इसका एक तोले की मात्रा से मनुष्य सेवन करे तो धातुक्षय, २० प्रकार का प्रमेह, अग्निमान्द्य, शूलरोग, सम्पूर्ण कोठे के रोग, अठारह प्रकार के कोढ और क्षयरोग इन सवका नाश होता है। गन्धक रसायन के सेवन से वीर्य की वृद्धि होती है, देह की समस्त धातुओं की पुष्टि होती हे, वल वढता है और अग्नि प्रदीप्त होती है। किन्तु गन्धक रसायन सेवन करने से पहले वमन-विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि के विना यथोक्त फल नहीं होता हे। पथ्य में जङ्गली जीवों का मास तथा वकरे के मास का अधिक प्रयोग करना चाहिए। लवण, अम्ल, शाक, द्विदलधान्य तथा स्त्री-प्रसङ्ग का सर्वथा त्याग करदे, जव तक इसका सेवन करे तव तक॥ ४६–५०॥

अथाष्टमो गन्धककल्पः—

वातारितैलसंयुक्तस्त्रिफलाकौशिकेन तु।
गन्धको रससंयुक्तो जराव्याधिविनाशनः॥ ५१॥
मासमात्रप्रयोगेण शृणु वक्ष्यामि तद्गुणान्।
अर्शोभगन्दरश्चैव तथा श्लेष्मसमुद्भवाः॥ ५२॥
नश्यन्ति व्याधयः सर्वे मासेनैकेन गन्धकात्।
षण्मासस्य प्रयोगेण देवतुल्यो भवेन्नरः॥ ५३॥
हंसवर्णाश्च ये केशा वली चैव प्रलम्बिनी।
चला दन्ता मन्ददृष्टिर्वलशुक्रादिसंक्षयः॥ ५४॥
निर्जित्य यौवनं याति भ्रमरा इव मूर्धजाः।
दिव्यदृष्टिर्महाप्राणो वराह इव कर्णयोः॥ ५५॥
चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्योऽसौ वलेन वलविक्रमः।
दृढदन्तश्च वज्राङ्गो द्वितीय इव शङ्करः॥ ५६॥
तस्य मूत्रपुरीषेण शुल्वं भवति काञ्चनम्।

वातारीत्यादि। गन्धक. शुद्धो वातारितैलसयुक्त–एरण्डतैलसहित. त्रिफला, कौशिकेन–गुग्गुलुना, रससंयुक्तश्च 'भागेष्यनुक्ते समता विधेया' इति। उक्तविधिना विनिर्मितो गन्धो मासमात्रप्रयोगेण जराव्याधिविनाशनं करोति। तद्गुणान् श्रृणु वक्ष्यामि। अर्श, भगन्दर, तथा श्लेष्मसमुद्भवा. सर्वे व्याधय., एकेन मासेन गन्धकात्–गन्धकसेवनान्नश्यन्ति। तथास्यैव गन्धकस्य षण्मासस्य प्रयोगेण नरो देवतुल्यो भवेत्। ये केशाः, हंसवर्णाः–शुक्लाः, प्रलम्बिनी–लम्बायमाना, वली–गात्रसंकोचनम्, दन्ता. चलाः, मन्ददृष्टि, वल, शुक्रं च आदिना रसरक्तादिधातूना संक्षय., एतान् समस्तान्निर्जित्य यौवनं याति। मूर्धजाः केशाः, भ्रमरा इव श्यामा भवन्तीति शेष। दिव्यदृष्टि., महाप्राणः,

अतिबलवान्, कर्णयोर्वराह इव भवति। चक्षुषा बलेन च तार्क्ष्यतुल्यः, दृढदन्तः, वज्राङ्गः, द्वितीयः शङ्कर इव भवति। तस्य मूत्रपुरीषेण शुल्वं काञ्चनं भवति ॥ ५१-५६ ॥

आठवां गन्धक कल्प—शुद्ध गन्धक, एरण्ड तेल, त्रिफला, गूगल और शुद्ध पारा इन सबको समान भाग लेकर गोली बना ले। प्रथम पारद गन्धक की कज्जली करे फिर त्रिफला का चूर्ण, गूगल और एरण्ड तेल डाल कर खूब घोटे एकजीव होने पर गोली बनाले। यह छ: मासा से एक तोले तक की मात्रा से सेवन करने पर बुढापा और व्याधियों को नष्ट करता है तथा बवासीर, भगन्दर, कफ के समस्तरोग तत्काल नष्ट हो जाते हैं। छ महीने तक इसका सेवन किया जावे तो मनुष्य देवता के समान शक्तिशाली हो जाता है तथा हंस के समान सफेद बाल, लम्बी-लम्बी झुर्रियां, हिलते हुए दाँत, मन्द दृष्टि, बल और वीर्य का क्षय इनको तत्काल नष्ट कर के युवा बन जाता है। भवरे के समान मस्तक के बाल, दिव्य दृष्टि, अतिबलवान्, बराह के समान सुनने वाला और गरुड के समान नेत्र वाला, दृढ दांतों वाला, बज्र के समान देह वाला, इतना ही नहीं किन्तु दूसरे शकर के समान बन जाता है। उसके मल और मूत्र से ताम्बा भी सुवर्ण हो जाता है ॥ ५१-५६ ॥

अथ नवमो गन्धककल्प —

गन्धकस्य पलं चैकं रसस्यार्धपलं तथा ॥ ५७ ॥
कुमारीरससंघृष्टं दिनैकं गोलकीकृतम्।
अन्धमूषाधृतं ध्मातं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥ ५८ ॥
मासमात्रप्रयोगेण जरादारिद्र्यनाशनम्।

गन्धकस्येत्यादि। गन्धकस्यैकं पलं तथा रसस्यार्धपलं गृहीत्वा दिनैक यावत् एके एकविंशतिदिनमित्यामनन्ति। कुमारीरससघृष्ट पश्चाद्गोलकीकृत तदन्धमूषाधृतम् अग्निना पुटित च ततो मधुसर्पिषा सार्धं लेहयेत्। मासमात्रप्रयोगेण जरादारिद्र्यनाशन करोति ॥ ५७-५८ ॥

नवा गन्धक कल्प—शुद्ध गन्धक १ पल, शुद्ध पारा ½ पल दोनों को एक दिन ग्वारपाठे के रस में घोंट कर गोला बना कर अन्धमूषा में बन्द कर के अग्नि में धमन करे, सिद्ध हुआ जान कर निकाल कर शीशी में रखे और शहद तथा घी के साथ ४-४ रत्ती की मात्रा में नित्य प्रति एक मास तक सेवन करे तो बुढापा और दारिद्र्य का नाश होता है ॥ ५७-५८ ॥

अथ दशमो गन्धककल्पः—

त्रिफला गन्धकं भृङ्गं समभागानि कारयेत् ॥ ५९ ॥
संवत्सरप्रयोगेण जीवेच्चन्द्रार्कतारकम्।

त्रिफलेत्यादि। त्रिफला, गन्धकं शुद्धं, भृङ्ग—भृङ्गराजचूर्णं चैतानि समभागानि कारयेत्। अस्य संवत्सरप्रयोगेण चन्द्रार्कतारकं यावज्जीवेत् ॥ ५९ ॥

दशवा गन्धक कल्प-त्रिफला, शुद्ध गन्धक और भृङ्गराज का चूर्ण तीनों को समान भाग लेकर एकत्र मर्दन करके आधे तोले से एक तोले तक की मात्रा में शहद और घी के साथ नित्य प्रति एक साल तक सेवन करने पर मनुष्य सूर्य, चन्द्र और तारों की आयु को प्राप्त होता है ॥

अथैकादशो गन्धककल्प.—

गन्धकस्य पलं चैकं पिबेत्क्षीरेण संयुतम् ॥ ६० ॥
संवत्सरप्रयोगेण जीवेच्चन्द्रार्कतारकम्।

अवध्यः सर्वभूतानां द्वितीय इव शङ्करः ॥ ६१ ॥

गन्धकस्येत्यादि । शुद्धगन्धकस्यैकं पलं गोदुग्धेन साकं संवत्सर यावत् पिबेत्तेन सर्वभूतानामवध्यो द्वितीयः शङ्कर इव भवेच्चन्द्रार्कतारकं यावज्जीवेच्च ॥ ६०-६१ ॥

ग्यारहवां गन्धक कल्प—एक पल अर्थात् ४ तोले शुद्ध गन्धक को गाय के दूध के साथ नित्य प्रति एक साल तक सेवन करने पर मनुष्य चन्द्रमा, सूर्य और तारों की आयु को प्राप्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों से अवध्य हो जाता है ॥ ६०-६१ ॥

अथ गन्धकतैलम्—

अर्कक्षीरैः स्नुहीक्षीरैर्वस्त्रं लेप्यं तु सप्तधा ।
गन्धकं नवनीतेन पिष्ट्वा लिम्पेच्च वस्त्रके ॥ ६२ ॥
तद्वर्तिर्ज्वलिता दंशधृता धार्या त्वधोमुखी ।
तैलं पतत्यधोभाण्डे ग्राह्यं योगेषु योजयेत् ॥ ६३ ॥

अर्कक्षीरैरित्यादि । अर्कक्षीरैः, स्नुहीक्षीरैश्च प्रत्येकेन सप्तधा वस्त्रम्—अरत्निमात्रं लेप्यं घर्मे शोषयेदिति शेषः । अर्कक्षीरैः संशोष्य सप्तधा संप्लाव्य तथा स्नुहीक्षीरैश्चैव कुर्यादिति भावः । ततो नवनीतेन गन्धकं पिष्ट्वा तद्वस्त्रके लिम्पेत् । ततो वर्त्तिं कृत्वा तद्वर्त्तिः संदंशयन्त्रेण गृहीता ज्वलिता चाधोमुखी धार्या । अधो भाण्डे तैलं पतति बिन्दु-रूपेण तद् ग्राह्यं योगेषु योजयेत् ॥ ६२-६३ ॥

गन्धक तैल—आक और थूहर के दूध से, वस्त्र को ७-७ बार लेप देवे । अर्थात् आक के दूध के सात लेप और सात ही थूहर के दूध के । पहले लेप के भली प्रकार सूखने पर दूसरा लेप करे । तत्पश्चात् गन्धक को मक्खन अथवा घी के साथ पीसकर उसी वस्त्र पर एक अंगुल मोटा लेप कर दे और वस्त्र की बत्ती बनाकर बीच में सण्डासी से पकड़ कर उसके दोनों छोर जलाकर एक काच के पात्र के ऊपर उसको नीचे को मुख कर पकड़ कर रखे । जैसे जैसे बत्ती जलेगी वैसे-वैसे बून्द बून्द गन्धक तैल नीचे पात्र में गिरेगा, उस तैल को लेकर योगों में प्रयोग करे ॥

अथ द्वादशो गन्धककल्पः—

गन्धको मरिचैस्तुल्यः षड्गुणत्रिफलान्वितः ।
सम्याकमूलजद्रावैर्मर्दितोऽखिलरोगहा ॥ ६४ ॥

गन्धक इत्यादि । मरिचैस्तुल्यो गन्धकः षड्गुणत्रिफलान्वितस्ततोऽय गन्धकः शम्याकमूलजद्रावैः—कृतमालमूलस्वरसैर्मर्दितोऽखिलरोगहा, व्यवहारोऽत्र द्विविध इति श्रूयते—एकस्तु शम्याकमूलकाष्ठेन मरिचत्रिफलादीना भङ्गावन्मर्दनं, द्वितीयस्तु तन्मूल-स्वरसेन चतुर्गुणेन पानमिति ॥ ६४ ॥

बारहवाँ गन्धककल्प—शुद्धगन्धक, उसके समान भाग काली मिरच और उससे छ गुना त्रिफले का चूर्ण मिलाकर अमलतास के मूल के स्वरस से मर्दन करके सेवन करे तो यह गन्धक समस्त रोगों का नाश करता है ।

वक्तव्य—एक गन्धक, मरिच और त्रिफला चूर्ण तीनों को अमलतास की जड के स्वरस में भाग के समान घोटकर लेने को कहते हैं और दूसरे गन्धक, मरिच और त्रिफले के चूर्ण को मिलाकर अमलतास की जड के स्वरस के साथ पीने को कहते हैं । यों कोई विशेष अन्तर नहीं है ॥ ६४ ॥

अथ कण्डूत्यां त्रयोदशो गन्धककल्पः—

शम्याकमूलजद्रावैः संघृष्टो गन्धकोत्तमः ।
लिप्तो देहे ध्रुवं कण्डूकुष्ठपामादिनाशनः ॥ ६५ ॥

शम्याकेत्यादि । गन्धकोत्तमः, शम्याकमूलजद्रावः—आरग्वधमूलजस्वरसैः संघृष्टो देहे लिप्तो ध्रुवं कण्डूकुष्ठपामादिनाशनः, आदिना विसर्पादिरोगाणां ग्रहणम् ॥ ६५ ॥

तेरहवाँ गन्धक कल्प—शुद्ध गन्धक को अमलतास की जड़ के स्वरस में मर्दन करके शरीर पर लेप करने से कण्डू (खुजली), कुष्ठ और पामा आदि रक्तविकारों को नष्ट करने में यह उत्तम है ॥ ६५ ॥

अथ पामादौ चतुर्दशो गन्धककल्पः—

द्विनिष्कप्रमितो गन्धः पीतस्तैलेन शोधितः ।
पश्चान्मरिचतैलाभ्यामपामार्गजलेन च ॥ ६६ ॥
पेषयित्वा वलिं सर्वदेहे लिप्त्वा प्रयत्नतः ।
घर्मे तिष्ठेत्ततो रोगी मध्याह्ने तक्रभक्तकम् ॥ ६७ ॥
अद्याद्रात्रौ तु सेवेत वह्निं प्रातः समुत्थितः ।
महिषीच्छगणैर्देहं संलिप्य स्नानमाचरेत् ॥ ६८ ॥
शीतोदकेन पामादि कण्डूकुष्ठं प्रशाम्यति ।

द्विनिष्केत्यादि । शोधितः गन्धो द्विनिष्कप्रमितः—माषकाष्टकपरिमाणस्तैलेन पीतः पश्चान्मरिचतैलाभ्यामपामार्गजलेन च वलिं पेषयित्वा प्रयत्नतस्तं गन्धकं सर्वदेहे लिप्त्वा रोगी ततो मध्याह्ने घर्मे तिष्ठेत् । तक्रं भक्तं च भक्षयेत् । दिनस्य तृतीययाम इति शेषः पुनश्च रात्रौ वह्निं सेवेत । प्रातः समुत्थितो महिषीच्छगणैर्देहं सकलं संलिप्य शीतोदकेन स्नानमाचरेत् । तेन पामादि कण्डूकुष्ठं प्रशाम्यति ॥ ६६–६८ ॥

चौदहवाँ गन्धक कल्प—चार माशे शुद्ध गन्धक तिलतैल के साथ मिलाकर पीवे तत्पश्चात् काली मिरच, तैल और ओंगे के रस से गन्धक को पीस कर सम्पूर्ण शरीर में लेप करे और धूप में बैठे, केवल छाछ और चावल का तीसरे पहर भोजन करे । रात्रि में अग्नि तापे प्रातःकाल उठ कर भैंस के गोबर को सारे शरीर में मल कर ठंडे जल से स्नान करे तो पामा आदि समस्त खुजली और कुष्ठ शान्त हो जाते हैं ।

वक्तव्य—यह प्रयोग निरन्तर सात दिन करने से कठिन से कठिन खुजली नष्ट होजाती है । शरीर पर लेप करके धूप में एक प्रहर तक बैठना चाहिए । यदि धूप का समय (ग्रीष्मकाल) हो, भयंकर धूप पड़ती हो अथवा दुर्बल व्यक्ति या सुकुमार हो तो धूप में नहीं बैठना चाहिए किन्तु शरीर में उसका मर्दन खूब करना चाहिए ताकि वह शरीर के रोमांचों में प्रवेश पा सके । धूप में बैठने का हेतु भी यही है ॥ ६६–६८ ॥

अथ हिङ्गुलस्य नामलक्षणगुणोत्पत्तिशोधनानि—

हिङ्गुलं दरदं म्लेच्छं हिङ्गुलश्चूर्णपारदम् ॥ ६९ ॥
सुरङ्गं रसगर्भं च बर्बरं रक्तमप्यथ ।
दरदस्त्रिविधः प्रोक्तश्चर्मारः शुकतुण्डकः ॥ ७० ॥
हंसपादस्तृतीयः स्याद्गुणवानुत्तरोत्तरः ।

चर्मारः शुकवर्णः स्यात्सपीतः शुकतुण्डकः ॥ ७१ ॥
जपाकुसुमसंकाशो हंसपादो महोत्तमः ।

हिङ्गुलमित्यादि । रक्तान्तानि नवनामानि हिङ्गुलस्येति । अथ दरदस्त्रिविधः प्रोक्तः । चर्मार, शुकतुण्डकस्तृतीयो हसपादश्च स्यात् । उत्तरोत्तर—चर्मारतः शुकतुण्डः, शुकतुण्डतो हसपादो गुणवान् । चर्मारनामा हिङ्गुलः शुकवर्ण स्यात् । सपीत –शुकवर्णतायामपि सपीतत्वं स शुकतुण्डक' स्यात् । जपाकुसुमसंकाशो हसपादो नाम हिङ्गुलो महोत्तमो भवतीति शेषः ॥ ६९–७१ ॥

अब हिङ्गुल के नाम, लक्षण, गुण, उत्पत्ति और शोधन कहते हैं—हिङ्गुल, दरद, म्लेच्छ, चूर्णपारद, सुरङ्ग, रसगर्भ, वर्वर और रक्त ये हिंगुल के सस्कृत नाम हैं । हिंगुल तीन प्रकार का होता है—चर्मार, शुकतुण्ड और हसपाद । ये तीनों गुणों में उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं किंचित् मात्र तोते की पख के समान, हरित झाईं देनेवाला चर्मार, कुछ पीलापन लिए हुए तोते के मुख के समान शुकतुण्ड और गुडहल के फूल के तुल्य लाल वर्ण वाला हिंगुल हसपाद तथा उत्तम होता है ।

वक्तव्य—हिंगुल के चर्मार, शुकतुण्ड और हसपाद ये तीन प्रकार कहे हैं किन्तु रसरत्नसमुच्चय और रसप्रकाश सुधाकर आदि दो ही प्रकार मानते हैं । वे शुकतुण्ड और चर्मार को एक मानते हैं । जैसे कि—'हिङ्गुलः शुकतुण्डाख्यो हसपादस्तथाऽपरः । प्रथमोऽल्पगुणस्तत्र चर्मारः स निगद्यते ॥' (र० र० स०) । 'दरदः शुकतुण्डाख्यो हंसपादस्तथाऽपरः । चर्मारः प्रथमः प्रोक्तो हीनसत्त्व' स उच्यते ॥' (र० प्र० सु०) । कहने का तात्पर्य यह है कि शुकतुण्ड नाम का हिंगुल अल्पगुणी होता है और इसी को चर्मार कहा जाता है । हसपाद यह सर्वोत्तम होता है, यह बात सर्वसम्मत है ।

हिंगुल पारद और गन्धक का यौगिक होता है । पारद प्राप्त करने का हिंगुल ही प्रधान खनिज है । सम्प्रति खनिज और कृत्रिम दो प्रकार के हिंगुल उपयोगार्थ ग्रहण किये जाते हैं किन्तु खनिज हिंगुल बाजार में मिलना असभवप्राय हो गया है । खनिज हिंगुल जितना उत्तम और गुणों में श्रेष्ठ होता है उतना कृत्रिम नहीं । रसतरङ्गिणी-कार लिखता है कि—'प्रथमः खनिजोऽन्यस्तु कृत्रिमो हिङ्गुलो मतः । खनिजः खनितो जातः कृत्रिमो रसगन्धजः ॥' खनिज हिंगुल यह भूगर्भ में स्वभावत तैयार होता है । इसके प्राप्त करने के स्थान—ज्वालामुखी के पास गन्धक मिलता है । ज्वालामुखी पहाड के पत्थरों में हिंगुल होता है । ज्वालामुखी पहाड के पास गर्म पानी के झरने होते हैं । उनमें से हिंगुल वह कर आता है और उसका थर जमता है । तिब्बत में पहाडों के अन्दर स्फटिकमय हिंगुल मिलता है ।

हिंगुल का काठिन्य २½, विशिष्ट गुरुत्व ८ होता है । गन्धकरहित, रुचिरहित, पानी और दारू में न मिलनेवाला, हवा में रखने से किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता । तपाने से उदा अथवा लाल रग देता है । खुली हवा में तपाने से इसमें से नीले रग की ज्वाला निकलती है, गन्धक जलने की सुगन्धि आती है और उसमें से पारा पृथक् होता है । पारद का प्रधान खनिज हिंगुल ही है । खनिज हिंगुल रसशास्त्र का एक सर्वोत्तम द्रव्य रहा है । हिंगुल से पारद निकाल कर उपयोग में लेने की जो विधियाँ कही है और हिंगुलाकृष्ट पारद की जो उत्तमता कही है-यह खनिज हिंगुल से ही समझनी चाहिए । किन्तु दुःख है कि आज यह हिंगुल बाजार में अप्राप्य है । सम्प्रति जो हिंगुल मिलता है वह कृत्रिम है जिसको रूमी हिंगुल कहते हैं ।

कृत्रिम हिंगुल इस समय सूरत और कलकत्ता आदि में बनाया जाता है। कृत्रिम हिंगुल की विधि का आगे वर्णन करेंगे ॥ ६९-७१ ॥

हिङ्गुलगुणाः—

तिक्तं कषायं कटु हिङ्गुलं स्यान्नेत्रामयघ्नं कफपित्तहारि।
हृल्लासकुष्ठज्वरकामलाश्च प्लीहामवातौ च गरं निहन्ति ॥ ७२ ॥

तिक्तमित्यादि। हिङ्गुलं तिक्तं कषायं कटुरसं च स्यात्। पुनश्च नेत्रामयघ्नं, कफपित्तहारि, हृल्लासम्–उपस्थितवमनत्वं, कुष्ठं, ज्वरं, कामलां, प्लीहामवातौ, गरं–कृत्रिमविषं च निहन्ति ॥ ७२ ॥

हिंगुल के गुण—हिंगुल कषैला, चरपरा और तिक्तरसयुक्त होता है। नेत्ररोग, कफ, पित्त, जीमचलाना, कुष्ठ, ज्वर, कामला, प्लीहा, आमवात और कृत्रिम विष को नष्ट करता है ॥ ७२ ॥

अथाशुद्धदरदस्य दोषाः—

अशुद्धो दरदः कुर्यादान्ध्यं क्षैण्यं क्लमं भ्रमम्।
मोहं मेहं च संशोध्यस्तस्माद् वैद्यैस्तु हिङ्गुलः ॥ ७३ ॥

अशुद्ध इत्यादि। अशुद्धो हिङ्गुल आन्ध्यं, क्षैण्यं, क्लमं–ग्लानिं, भ्रमं–चक्रारूढमिव, मोहं सज्ञानाशत्वं वैचित्यं वा, मेहं–प्रमेहरोगं च कुर्यात्। तस्मात् वैद्यैः हिङ्गुलः संशोध्यः ॥ ७३ ॥

अशुद्ध हिंगुल के दोष—अशुद्ध हिंगुल खाने पर अन्धता, क्षीणता, ग्लानि, चक्कर, मूर्च्छा, और प्रमेहरोग को करता है। अतः वैद्य का कर्तव्य है कि हिंगुल शुद्ध करके ही प्रयोग में लावे ॥

अथ हिंगुलशोधनम्—

मेषीक्षीरेण हिङ्गुलमम्लवर्गैश्च भावयेत्।
सप्तवारं प्रयत्नेन शुद्धिमायाति निश्चितम् ॥ ७४ ॥

मेषीत्यादि। हिङ्गुलं मेषीक्षीरेणाम्लवर्गैश्च, अम्लवर्गो यथा–'अम्लवेतसजम्बीरलुङ्गाम्लं चणकाम्लकम्। नारङ्गं तिन्तिडीकं च चिञ्चापत्रं च निम्बुकम् ॥ चाङ्गेरी दाडिमश्चैव करमर्दं तथैव च। एष चाम्लगणः प्रोक्तो वेतसाम्लसमायुतः ॥' इति। प्रयत्नेन सप्तवारं यावद्भावयेत् तेन निश्चितं शुद्धिमायाति ॥ ७४ ॥

हिंगुल की शुद्धि—भेड़ के दूध और अम्लवर्गोक्त किसी द्रव्य की सात भावना देने से हिङ्गुल शुद्ध हो जाता है।

वक्तव्य—हिंगुल-शुद्धि के लिए भेड के दूध की सात भावना देनी चाहिए। भावना का तात्पर्य यह है कि भाव्य द्रव्य भली प्रकार लुप्त हो जावे तत्पश्चात् उसका मर्दन करना और धूप में सुखाना, सूखने पर पुनः भावना देना इस प्रकार सात भावना देनी चाहिए। हिंगुल की शुद्धि के लिए भेड का दूध, कांजी और जम्बीरी निम्बू आदि अम्ल द्रव्यों का उपयोग होता है ॥

वाग्भटः—

सप्त कृत्वाऽऽर्द्रकद्रावैर्लकुचस्याम्बुनाऽपि वा।
शोषितो भावयित्वा च निर्दोषो जायते खलु ॥ ७५ ॥

सप्तेत्यादि। हिङ्गुल इति शेषः। आर्द्रकद्रावैर्लकुचस्याम्बुना वा सप्त कृत्वा भावयित्वा

च शोधितः सन् खलु निर्दोषो जायते। आर्द्रकलकुचयोरेकतमस्य सप्त भावना देया इति भावः॥ ७५॥

दूसरा प्रकार—अद्रक अथवा लकुच (बटहल) के रस की सात भावना देने पर भी हिङ्गुल शुद्ध हो जाता है॥ ७५॥

अथ मारणम्—हिङ्गुलं तनुवस्त्रकञ्चुकगतं कृत्वा, पटरञ्जनकन्दमध्यस्थं कृत्वा, मृदा संवेष्ट्य, पुटपाकविधानेन दशवनोपलैः पुटेत्, एवं शतपुटानि। ततः शतपुटान्येवं वनवृन्ताकस्य, ततः शतपुटान्येवं मन्दारफलस्य, ततः शतपुटान्येवमिन्द्रवारुणिकाफलस्य, ततः शतपुटान्येवमम्लवेतसफलस्य, ततः सिद्धो जातश्चात्यरुणवर्णो भवति। रक्तिकैकामस्य पर्णखण्डेन त्रिगन्धादिसुगन्धिद्रव्यैर्यथालाभं भक्षयेत्। द्विगुणाग्निर्द्विगुणकामः कासश्वासक्षयज्वरादिनाशश्च॥ ७६॥

हिङ्गुलमित्यादि। शेष सुस्पष्टम्॥ ७६॥

हिङ्गुलमारण प्रकार—हिङ्गुल को पतले कपड़े में लपेट कर कपडे की गेंद सरीखा करके नील के कन्द में रख दे और ऊपर से मिट्टी का एक अङ्गुल मोटा लेप लगा दे, पुटपाक विधि से दश वनगोवरियों की अग्नि देवे, इस प्रकार नील के कन्द में रख-रखकर सौ पुट देवे। अर्थात् नील कन्द को चाकू से गोल काट कर छेद करना उसमें कपडे में बन्धे हुए हिंगुल को रख कर नील कन्द के टुकडे से ही बन्द करके मिट्टी का लेप करना और पुटपाक विधि से सौ पुट देना। इसके बाद उसी प्रकार भटकटैया के सौ पुट देना, आक के फल के सौ पुट देना, इन्द्रवारुणी के फल (गडतुम्बा-जस्तुम्बा) में रखकर सौ पुट देना और अम्लवेतस के फल के भी सौ पुट देना। कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त पाँच द्रव्यों के पांच सौ पुट देने से हिङ्गुल सिद्ध होने पर सर्वथा लाल वर्ण का होता है। इसकी एक रत्ती की मात्रा नागर पान और त्रिगन्धादि (दालचीनी, इलायची और पत्रज आदि) यथोपलब्ध सुगन्धि द्रव्यों के साथ खावे। इसके सेवन से द्विगुण जठराग्नि तथा कामशक्ति बढती है। और यह खाँसी, श्वास, क्षय तथा ज्वरादिकों को नष्ट करता है॥ ७६॥

तिक्तोष्णं हिङ्गुलं दिव्यं रसगन्धसमुद्भवम्।
मेहकुष्टहरं रुच्यं बल्यं मेधाग्निवर्धनम्॥ ७७॥

तिक्तेत्यादि। रसगन्धसमुद्भवं-पारदगन्धकाभ्यां निर्मितं हिङ्गुल, दिव्य सर्वोत्तम, तिक्तोष्ण मेहकुष्ठहर, रुच्य, बल्य, मेधाग्निवर्धन च भवतीति शेषः॥ ७७॥

हिङ्गुल के गुण—पारा-गन्धक सयोग से उत्पन्न हिङ्गुल तिक्त, उष्ण एव उत्तम होता है। प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करता तथा रुचि, बल, मेधा और अग्नि को बढाता है।

वक्तव्य—'**रसगन्धसमुद्भवम्**' हिङ्गुल-यह रस और गन्धक के सयोग से बनता है। इसके खनिज और कृत्रिम दो प्रकार हैं। खनिज के विषय में पहले लिखा जा चुका है, कृत्रिम हिङ्गुल किस प्रकार बनता है इसके विषय में आगे ग्रन्थकार लिखता है, जिससे स्पष्ट उसके निर्माण का ज्ञान हो जाता है॥ ७७॥

अथ हिङ्गुलोत्पत्तिः, सा च रसपद्धत्युक्ता लिख्यते—

अशुद्धपारदं भागं चतुर्भागं च गन्धकम्।

लोहपात्रे ह्युभौ क्षिप्त्वा क्षणं मृद्वग्निना पचेत् ॥ ७८ ॥
तस्मिन् मनःशिलाचूर्णं पारदाद्दशमांशकम् ।
क्षिप्त्वा चाल्यमयोदर्व्या ह्यवतार्य सुशीतलम् ॥ ७९ ॥
ततस्तु खण्डशः कृत्वा काचकूप्यां निरुध्य च ।
वस्त्रमृत्तिकया सम्यक्काचकूपीं प्रलेपयेत् ॥ ८० ॥
सर्वतोऽङ्गुलमानेन छायाशुष्कां च कारयेत् ।
वालुकायन्त्रगर्भे तु दिनं मृद्वग्निना पचेत् ॥ ८१ ॥
क्रमवृद्धाग्निना पश्चात्पचेद्दिवसपञ्चकम् ।
सप्ताहात्तु समुद्धृत्य हिङ्गुलः स्यान्मनोहरः ॥ ८२ ॥

अशुद्धेत्यादि । अशुद्धपारदं भागमेकं गन्धकं चाशुद्धं चतुर्भागं क्वचित् 'नवभागम्' इति पाठान्तरम् । उभौ-पारदगन्धकौ लोहपात्रे क्षिप्त्वा मृद्वग्निना क्षणं यावत् पचेत् । ततस्तस्मिन्-पाके पारदाद्दशमांशक मनःशिलाचूर्णं क्षिप्त्वा अयोदर्व्या चालय ततोऽवतार्य चुल्ल्युपरितः सुशीतलं यदा भवेत्ततस्तु खण्डशः कृत्वा काचकूप्यां निरुध्य तां च कूपीं वस्त्रमृत्तिकया सर्वतोऽङ्गुलमानेन सम्यक् प्रलेपयेत् । छायाशुष्कां च कारयेत् । पश्चात् दिवसपञ्चकं क्रमवृद्धाग्निना-मन्दमध्यतीक्ष्णाग्निभिः पचेत् । पुनः सप्ताहात् समुद्धृत्य मनोहरो हिङ्गुलः स्यात् ॥ ७८-८२ ॥

हिङ्गुल की उत्पत्ति—अशुद्ध पारा एक भाग, अशुद्धगन्धक चार भाग, दोनों को लोहे के पात्र में डालकर एक क्षण भर स्वल्पाग्नि से पकावे तत्पश्चात् पारे से दशवा हिस्सा मैनसिल का चूर्ण उसमें डाल कर लोहे की कलछी से चलाकर ठंढा होने पर उतार ले । इसके बाद उसके छोटे छोटे टुकडे करके काचकूपी में भरकर ऊपर से एक अङ्गुल ऊँची कपरोटी कर छाया में सुखा कर वालुकायन्त्र में एक दिन मन्दाग्नि से पकावे फिर पाच दिन तक मन्द, मध्य और तीक्ष्ण अग्नि देवे अर्थात् एक दिन स्वल्पाग्नि देकर फिर क्रमश मन्द, मध्य और तीक्ष्णाग्नि छै दिन देवे । इस विधि से बनाया हुआ हिङ्गुल एक सप्ताह में उत्तम तयार होता है ।

वक्तव्य—ऊपर कृत्रिम हिङ्गुल निर्माण की विधि ग्रन्थकार ने 'रसपद्धति' से उद्धृत की है । यह विधि एक प्रकार से शिलासिन्दूर के समान है । इसमें केवल पारद और गन्धक दोनों को अशुद्धावस्था में ग्रहण किया गया है किन्तु इस प्रकार का कृत्रिम हिङ्गुल बहुत ही उत्तम होता है और ऐसे हिङ्गुल से निकाला हुआ पारद श्रेष्ठ समझा जाता है । सम्प्रति बाजार में जो हिङ्गुल मिलता है वह इस प्रकार का नही होता है । उसका निर्माण निम्न प्रकार से किया जाता है—

पारद ६ भाग, गन्धक १ भाग, इन दोनों को एक बड़े लोहे के पीपे में डालकर कई घंटे तक हिला हिला कर भली प्रकार मिलाते हैं । यह मिश्रण काला होता है तत्पश्चात् उसको मिट्टी के ऊँचे वर्तन में डालकर उस वर्तन के मुख पर लोहे की तश्तरी देकर उसके नीचे मन्दाग्नि देते हैं । रससिन्दूर उडकर वर्तन के गले में आकर जम जाता है उसको निकाल कर अलग कर लिया जाता है फिर पारा और बारीक पीसा हुआ गन्धक इनको घोटकर मिट्टी के उसी वर्तन मे डालकर गर्म वालू पर उसे तपाया जाता है जब फजूल गन्धक का भाग उड जाता है तब वर्तन के मुख पर लोहे की तश्तरी रखकर अग्नि तीव्र कर देते हैं ऐसा करने से रससिन्दूर के आकार का द्रव्य वर्तन के गले में आकर लग जाता है । यही हिङ्गुल तयार हो गया ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार के कृत्रिम हिङ्गुल का निर्माण सम्प्रति कलकत्ता और सूरत में होता है ।

इसी प्रकार की रससिन्दूर की विधि जयपुर के राजवैद्य श्रीकृष्णरामजी भट्ट ने अपनी 'सिद्ध-भेषजमणिमाला' में दी है वे भी लिखते हैं कि—

'त्रिपलश्चपलो गन्ध पलार्धं कज्जलीं द्वयोः। कूप्यां भृत्वाऽऽलमात्रार्धमुपर्याकीर्य कम्पयेत्॥ विमुद्रय वालुकायन्त्रे पचेद् द्वादशयामकम्। जायते रससिन्दूर. सिन्दूरसदृशच्छवि.॥' इति।

अर्थात् तीन पल (१२ तोला) पारा, आधा पल (२ तोला) गन्धक दोनों की कज्जली बनाकर कपरोटी की हुई आतशी शीशी में भर कर उसके ऊपर २ तोले हरताल का चूर्ण डालकर कूपी को भली प्रकार हिला दे ताकि हरिताल का चूर्ण द्रव्य में मिल जावे फिर उस शीशी को वालुकायन्त्र में रख कर बारह प्रहर तक तीक्ष्णाग्नि में पाक करे तो सिन्दूर के रंग का रससिन्दूर तयार हो जाता है॥ ७८-८२॥

अन्यच्च—

ऊर्ध्वपातनयुक्त्या तु डमरुयन्त्रपाचितम्।
हिङ्गुलं तस्य सूतं तु शुद्धमेव न शोधयेत्॥ ८३॥
निम्बपत्ररसैर्निम्बूरसैर्वा याममात्रकम्।
घृष्ट्वा दरदमूर्ध्वं तु पातयेत्सूतयुक्तिवत्॥ ८४॥
तत्रोर्ध्वपिठरीलग्नं गृह्णीयाद् रसमुत्तमम्।
शुद्धमेव हि तत्सूतं सर्वकर्मसु योजयेत्॥ ८५॥
हिङ्गुलस्य शोधनमेव दृष्टं रसग्रन्थेषु, नान्यत् क्रियान्तरमिति दिक्॥८६॥

ऊर्ध्वेत्यादि। ऊर्ध्वपातनयुक्त्या हिङ्गुल डमरुयन्त्रपाचितं कृत्वा तस्य सूतमाहरेत्। तत्सूत नागादिसप्तदोषरहितमेव, अतस्तं न शोधयेत्। दरद निम्बपत्ररसैर्निम्बूरसैर्वा याममात्रकं यावत् घृष्ट्वा सूतयुक्तिवत्–हिङ्गुलाकृष्टपारदविधानवत् ऊर्ध्वपातनयन्त्रे पातयेत्। तत्रोर्ध्वपिठरीलग्नम् उत्तम रस गृह्णीयात्। शुद्धमेव तत्सूतं सर्वकर्मसु योजयेत्॥ ८३–८६॥

दूसरा प्रकार—अथवा ऊर्ध्वपातन-विधि से डमरु यन्त्र में पारद ६ भाग और गन्धक १ भाग दोनों की कज्जली करके पाक करे तो हिंगुल बन जाता है। इस हिंगुल से निकाला हुआ पारा शुद्ध होता है उसको शुद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हिंगुल को शुद्ध करने की जो विधि कही है अर्थात् नीम की पत्ती के रस अथवा नीम्बू के रस में एक प्रहर तक घोटकर ऊर्ध्वपातन यन्त्र से पारे को उड़ावे, ऊपर की हाँडी में लगे हुए पारे को ग्रहण करे। यह पारा सर्व प्रयोग में उपयुक्त कहा है। रसग्रन्थों में हिंगुल का शोधन ही पाया जाता है अन्य क्रियायें नहीं।

वक्तव्य—रसरत्नसमुच्चय में हिंगुल के सत्त्व-पातन का उल्लेख है किन्तु हिंगुल से पारद का निकालना ही उसका सत्त्वपातन है। हिंगुल का सत्त्व पारद ही है अन्य कुछ नहीं अत हिंगुल से पारद निकालने का विधान सर्वत्र है॥ ८३–८६॥

हिंगुल के वर्णन के साथ गिरिसिन्दूर का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु मूलग्रन्थ में उसको समाविष्ट नहीं किया गया है। यह द्रव्य जानने योग्य भी है इसका पारद से निकट सम्बन्ध होने से भी इसकी जानकारी अपेक्षणीय है, साथ ही यह द्रव्य यत्किंचित् विवाद सा भी बना हुआ है अत. हम तन्त्रान्तरों से उसका यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझते हैं—

गिरिसिन्दूरम्—

महागिरौ शिलान्तःस्थो रक्तवर्णश्च्युतो रसः।
सूर्यतापेन संशुष्को गिरिसिन्दूरसंज्ञकः॥ (र प्र. सु अ. ६)
महागिरिषु चाल्पीयःपाषाणान्तःस्थितो रसः।
शुष्कशोणः स निर्दिष्टो गिरिसिन्दूरसंज्ञया॥ (र. चू. अ. ११)

उपर्युक्त पाठ के अनुसार ही 'रसरत्नसमुच्चय' का भी पाठ है। आगे उसके गुण इस प्रकार दिये हैं—

त्रिदोषशमनं भेदि रसबन्धनमग्रिमम्।
देहलोहकरं नेत्र्यं गिरिसिन्दूरमीरितम्॥

अर्थात् बडे बडे पर्वतों के पत्थरों के बीच में कभी-कभी सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के उत्ताप से शुष्क थोडा सा पारद लालरंग की अवस्था में उपलब्ध हो जाता है, इसको गिरिसिन्दूर कहते हैं। गिरिसिन्दूर यह त्रिदोष को शमन करने वाला, मल का भेदन करने वाला रस बन्धन-कार्य में सर्वोत्तम होता है तथा देहसिद्धि और लोहसिद्धि के लिए उपयोगी एवं नेत्ररोगों में लाभ पहुंचाता है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि बाजार में मिलने वाला सिन्दूर जिसका कि व्रणादि-संशोधनार्थ मलहम आदि में उपयोग होता है तथा जो रंगने तथा पेण्ट करने के कामों में आता है वही गिरिसिन्दूर है किन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। सिन्दूर और गिरिसिन्दूर ये दोनों द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं इस विषय में रसरत्नसमुच्चय की टीका में श्रीकुलकर्णी जी ने जो स्पष्टीकरण दिया है वह उचित है अतः हम उनके मत को यहाँ उद्धृत करते हैं—

गिरिसिन्दूर के उपर्युक्त वर्णन से अनुमान होता है कि गिरिसिन्दूर पारद और आक्सिजन का यौगिक है, जो खनिज के रूप में बहुत अल्पमात्रा में कहीं कहीं अन्य खनिजों के साथ या पत्थरों के बीच में पाया जाता है। कुछ लोगों का भ्रम है कि यह सीस धातु और आक्सिजन का यौगिक है जो सिन्दूर के नाम से सर्वत्र काम में लाया जाता है। रंग सादृश्य के कारण अज्ञलोगों को भ्रम हो जाना कोई बडी बात नहीं है। प्राचीन रसवैद्यों को सिन्दूर अर्थात् नागगर्भ सिन्दूर या नागसिन्दूर और गिरिसिन्दूर या रसगर्भ इन दोनों के भेद, लक्षण और उपयोग अवश्य ही ज्ञात थे। गिरिसिन्दूर को नागसिन्दूर समझना बडी भारी भूल है।

गिरिसिन्दूर को खनिज पारद-आक्साइड मानने के लिए अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। जैसे कि—**'पाषाणान्तःस्थितः शुष्कशोषणो रसः'** अर्थात् यह पारद खनिज है, सूखा और लाल होता है और क्वचित् ही पाया जाता है इसमें पारद के कण भी होते हैं इस लिए इसको 'रसगर्भ' कहा गया है। गिरिसिन्दूर को त्रिदोषशामक और नेत्रों के लिए उपकारी माना है। यह बात सिन्दूर में कतई नहीं पायी जाती है। सिन्दूर के गुणों पर ध्यान देने से भी स्पष्ट होता है। जैसे कि—**'सिन्दूरमुष्णं वीसर्पकुष्ठकण्डूविषापहम्। भग्नसंधानजननं व्रणशोधनरोपणम्॥'** अर्थात् सिन्दूर से गिरिसिन्दूर के गुण सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि न तो यह नेत्रों के लिए उपयोगी और न त्रिदोषशामक ही है। इतना ही नहीं, सिन्दूर का प्रायशः मलहम बनाने में ही उपयोग होता है, खाने में नहीं होता है॥

अथाभ्रकस्य नागभेदशोधनमारणसत्त्वपातनानि व्याख्यास्यामः॥ ८७॥

इस के आगे ग्रन्थकार अभ्रक के नाम, उसके भेद (कितने प्रकार का अभ्रक होता है)

शोधन मारण (अभ्रक भस्म के विधान), सत्त्वपातन, उसका महत्त्व, अभ्रक का उत्तम, मध्यम और अधम होने का परिचय तथा उत्पत्ति आदि को कहते हैं ॥ ८७ ॥

पुरा वधाय वृत्रस्य वज्रिणा वज्रमुद्धृतम् ।
विस्फुलिङ्गास्ततस्तस्य गगने परिसर्पिताः ॥ ८८ ॥
ते निपेतुर्घनध्वानाः शिखरेषु महीभृताम् ।
तेभ्य एव समुत्पन्नं तत्तद्गिरिषु चाभ्रकम् ॥ ८९ ॥
तद्वज्रं वज्रजातत्वादभ्रमभ्ररवोद्भवात् ।
गगनात्पतितं यस्माद् गगनं च ततो मतम् ॥ ९० ॥

पुरेत्यादि । वृत्रासुरस्य वधाय वज्रिणा-इन्द्रेण वज्रमुद्धृतं ततस्तस्य वज्रस्य विस्फुलिङ्गा-अग्निकणा, गगने परिसर्पिता घनध्वाना महीभृतां-पर्वतानां शिखरेषु निपेतुस्तेभ्य एव तत्तद्गिरिषु यत्तत्पर्वतेषु वज्रस्य विस्फुलिङ्गाः पतितास्तत्तत्पर्वतेष्वभ्रक समुत्पन्नम् । वज्रजातत्वात्तद्वज्राभ्रक जातम्, अभ्ररवोद्भवात् अभ्रम्, गगनात्पतित तस्मात् गगनमिति व्याख्यातम् ।

अत्र विशेष —'देव्या रजो भवेद्गन्धो धातु शुक्र तथाऽभ्रकम् ।' इति वचनेन देव्याः सकाशादभ्रस्योत्पत्तिः समुद्भाव्यते, तत्रान्तरेऽपि–'कदाचिद्गिरिजादेवी हर दृष्ट्वा मनोहरम् । अमोचयत्तदा वीर्यं तज्जात श्वेतमभ्रकम् ॥ श्वेत रक्त तथा पीत कृष्ण तद्भूमिसङ्गमात् । पिनाकं दर्दुर नाग वज्राभ्र च चतुर्विधम् ॥ ध्मात वह्नौ दलचय पिनाकं विसृजत्यलम् । फूत्कारं भुजगः कुर्याद्दर्दुर भेकशब्दवत् ॥ चतुर्थं खेचर वज्र नैवाग्नौ विकृतिं भजेत । तस्माद्वज्राभ्रकं श्रेष्ठ व्याधिवार्धक्यमृत्युजित् ॥' इति ॥ ८८–९० ॥

पहले जब वृत्रासुर को मारने के लिए इन्द्र ने वज्र उठाया तब उससे निकले हुए अग्निकण आकाश में घूमने लगे और वे मेघ के तुल्य शब्द करते हुए पर्वतों के शिखरों पर गिरे, उन्हीं से पहाड़ों में अभ्रक उत्पन्न हुआ । वह वज्र से उत्पन्न हुआ । वह वज्र से उत्पन्न हुआ इस लिए वज्राभ्रक, मेघवत् शब्द से उत्पन्न हुआ अत अभ्रक और आकाश से गिर पड़ा इस लिए गगन ये नाम हुए ।

वक्तव्य —यह भी मान्यता है कि देवी पार्वती के रज से गन्धक उत्पन्न हुआ और उसके शुक्र धातु से अभ्रक । जिस प्रकार पारद भगवान् शिव का वीर्य माना जाता है उसी प्रकार देवी पार्वती से गन्धक और अभ्रक दोनों उत्पन्न हुए माने जाते हैं । इस शास्त्र में इन तीन द्रव्यों को ही प्रधान स्थान प्राप्त है ये तीन यदि छोड दिये जावें तो रसशास्त्र की बुनियाद ही न रहे । (कुछ लोग 'धातुः शुक्र तथाऽभ्रकम्' इसका अर्थ करने में प्रमाद करते हैं उनका यह कहना है कि ब्रह्मा के वीर्य से अभ्रक उत्पन्न होता है अर्थात् ब्रह्माका वीर्य ही अभ्रक है किन्तु यह अर्थ कदापि सगत और व्यवहार्य नहीं है । आगे भी तन्त्रान्तरों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'कदाचिद्गिरिजा देवी हर दृष्ट्वा मनोहरम् । अमोचयत्तदा वीर्यं तज्जात श्वेतमभ्रकम् ॥' इत्यादि पूरा विवरण सस्कृत टीका में देखें । उपर्युक्त प्रमाण पार्वती के वीर्य से अभ्रक की उत्पत्ति को सिद्ध करता है ॥ ८८–९० ॥

आगे ग्रन्थकार वर्ण, गुण और कार्य भेद से अभ्रक के चार प्रकारों का वर्णन करते हैं—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्तत्स्याच्चतुर्विधम् ।
क्रमेणैव सितं रक्तं पीतं कृष्णं च वर्णतः ॥ ९१ ॥

प्रशस्यते सितं तारे रक्तं तत्तु रसायने ।
पीतं हेमनि कृष्णं तु गदेषु द्रुतयेऽपि च ॥ ९२ ॥
पिनाकं दर्दुरं नागं वज्रं चेति चतुर्विधम् ।
कृष्णाभ्रं कथितं प्राज्ञैस्तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ९३ ॥

अथाभ्रकस्य वर्णभेदेन चतुर्विधत्व नामभेदेन च षोडशविधत्वमाह–अहेत्यादि । यथा मनुष्येषु ब्राह्मण क्षत्रिय-विट् शूद्रा इति चत्वारो वर्णा भवन्ति तथैव श्वेतरक्तपीत-कृष्णवर्णभेदैरभ्रकस्यापि ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रेति क्रमेण चतुर्विधत्वम् । सित तारं रजत-कर्मणि, रक्त रसायने, पीत सुवर्णनिर्माणकर्मणि प्रशस्यते । कृष्णाभ्रक तु गदेषु द्रुतकर्मणि च प्रशस्यते । प्राज्ञैः पिनाक, दर्दुर, नाग, वज्रं चेति कृष्णाभ्रक चतुर्विधं कथितम् । तेषा पिनाकादीनां लक्षणमुच्यते । कृष्णाभ्रकस्य यथा चत्वारो भेदास्तथैव सितरक्तपीतादीना प्रत्येकेषाम्, एवं षोडशभेदा भवन्ति, इति भावः । यदाह यशोधरः–'अनेन विधिना प्रोक्ता भेदा सन्तीह षोडश ।' इति ॥ ९१–९३ ॥

अब अभ्रक के वर्णभेद से चार प्रकार और नाम भेद से सोलह प्रकार कहते हैं—जिस प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण होते हैं, ठीक, इसी प्रकार से अभ्रक भी श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण इन वर्णों से क्रमशः चार प्रकार का है । श्वेताभ्रक चान्दी बनाने के कार्य में, रक्ताभ्रक रसायन कर्म में, पीताभ्रक सुवर्ण-निर्माणार्थ और कृष्णाभ्रक सम्पूर्ण रोगों में तथा द्रुति कर्म में उत्तम कहा है । कृष्णाभ्रक भी पिनाक, दर्दुर, नाग और वज्राभ्रक भेद से चार प्रकार का है । इनके लक्षण आगे कहेंगे । इस प्रकार प्रत्येक श्वेताभ्रक आदि के चार-चार भेद हैं अतः सब मिलकर अभ्रक के १६ भेद होते हैं । जिनका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है ॥ ९१–९३ ॥

मुञ्चत्यग्नौ विनिक्षिप्तं पिनाक दलसंचयम् ।
अज्ञानाद्भक्षणं तस्य महाकुष्ठप्रदायकम् ॥ ९४ ॥

पिनाकाभ्रलक्षणं तद्दोषाश्च–मुञ्चतीत्यादि । पिनाकम् अग्नौ विनिक्षिप्तं दलसंचयं मुञ्चति । तस्याज्ञानात् भक्षणं महाकुष्ठप्रदायक भवतीति शेषः ॥ ९४ ॥

पिनाकाभ्रक–यह अभ्रक अग्नि में डालने पर पत्रों को छोडना शुरू कर देता है और अज्ञानतावश, इसके खा लेने पर महाकुष्ठ हो जाता है ॥ ९४ ॥

दर्दुर त्वग्निनिक्षिप्तं कुरुते दर्दुरध्वनिम् ।
गोलकान् बहुशः कृत्वा तत्स्यान्मृत्युप्रदायकम् ॥ ९५ ॥

मण्डूकाभ्रलक्षण तद्दोषाश्च–दर्दुरमित्यादि । दर्दुर तु अग्निनिक्षिप्त भेकवत्स्वनं कुरुते । तस्याभ्रकस्याज्ञानाद्भक्षण बहुशः गोलकान्–अर्बुदान् कृत्वा शरीर इति शेषः । मृत्युप्रदायक स्यात् ॥ ९५ ॥

मण्डूकाभ्रक–यह अग्निसयोग को प्राप्त होकर मेढक के समान शब्द करता है । इसके भक्षण से गलगण्डादि रोग उत्पन्न होकर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है अतः इसकी पहचान कर के ही अभ्रक का उपयोग करना चाहिए ॥ ९५ ॥

नागं तु नागवद्वह्नौ फूत्कारं परिमुञ्चति ।
तद्भक्षितमवश्यं तु विदधाति भगन्दरम् ॥ ९६ ॥

नागाभ्रलक्षणं तद्दोषाश्च—नागमित्यादि। नागाभ्रं तु वह्नौ प्रक्षिप्तं सर्पतुल्यं फूत्कारशब्दं परिमुञ्चति। तदभ्रकमज्ञानाद्भक्षितमवश्य भगन्दरं विदधाति ॥ ९६ ॥

नागाभ्रक—यह अभ्रक अग्नि में डालने पर नाग के तुल्य फूत्कार शब्द करता है, इस के सेवन से भगन्दर हो जाता है ॥ ९६ ॥

वज्रं तु वज्रवत्तिष्ठेन्न चाग्नौ विकृतिं व्रजेत्।
सर्वाभ्रेषु वरं वज्रं व्याधिवार्धक्यमृत्युजित् ॥ ९७ ॥

वज्राभ्रलक्षण तद्गुणाश्च—वज्रमित्यादि। वज्राभ्रकं चाग्नौ प्रक्षिप्तं वज्रवत्तिष्ठेत्। अन्याभ्रकसमान विकृतिं नाप्नुयादतः सर्वाभ्रेषु वज्राभ्रक वरं व्याधिवार्धक्यमृत्युजिच्च भवतीति शेषः ॥ ९७ ॥

वज्राभ्रक—यह अग्नि पर वज्र के समान स्थिर रहता है किसी भी प्रकार की विकृति नही होती। यह सभी अभ्रकों में उत्तम एव व्याधि, बुढापा और मृत्यु को हरण करने वाला होता है।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोकों में पिनाक, मण्डूक, नाग और वज्र ये चार प्रकार के अभ्रक प्रतिपादित किये गये हैं। उनके लक्षण बताते हुए कहा है कि—जिस अभ्रक को अग्नि में तपाने पर उसके दल-पत्र अपने आप अलग होने लग जाय उसको पिनाक, जो अभ्रक अग्नि में तपने पर नाग-सर्प के समान आवाज करे वह नाग, जो मण्डूक-मेंढक के समान अग्नि सयोग से उछल-उछल कर उसके परत बाहर और नीचे गिरने लगे उसको मण्डूक और जो अभ्रक अग्नि से किसी प्रकार की विकृति तथा विशेष अवस्था को प्राप्त न होकर ज्यों का त्यों अग्नि में स्थिर रहे तथा उसके रग में भी किसी प्रकार का कोई अन्तर न हो उसको वज्राभ्रक कहते है। पिनाकादि अभ्रक क जो चार प्रकार बताये गये हैं ये चारो अभ्रक की स्वाभाविक बनावटें हैं। अभ्रक की बनावट में ४ या ६ प्रतिशत जलांश रहता है। अभ्रक को जब तेज अग्नि में तपाया जाता है तब उसका सपूर्ण जलीय भाग वाष्प बनकर उडने लगता है। जल की भाप के निकलने में अभ्रक की जैसी बनावट होती हैं उसके अनुसार ही वह जल वाष्प बाहर निकलता है। पिनाक, मण्डूक, नाग, वज्राभ्रक ये जो चार भेद अभ्रक के हैं इन सब में जल की मात्रा भिन्न भिन्न स्वरूप में होती है। अग्नि की तीव्रता के कारण अभ्रक का जलीय भाग वाष्प होकर जब अभ्रक से निकलने लगता है तब उसके पटदे (पत्र) अलग होने लगते हैं अर्थात् अभ्रक के छोटे छोटे टुकडे हो जाते हैं जहाँ जहाँ जलीय भाग का वाष्प अवरोध पाता है वह निकलने को प्रस्तुत होता है और उस अवरोधक भाग को चकनाचूर करके बाहर हो जाता है। यह क्रिया अभ्रक के उन-उन खण्डों के टूटने के समय जिस प्रकार का विशिष्ट अभ्रक और उसकी विशिष्ट बनावट के कारण ही विभिन्न स्वरूप की दिखलाई देती है और उसके अनुसार ही उसके प्रकार माने जाते हैं जैसे कि—पिनाक—जिस अभ्रक की बनावट दलदार—पडदे अथवा परतों के स्वरूप की होती है उसको जब अग्नि में तपाया जाता है तब उसकी जलीय वाष्प इन परतों से होकर निकल जाती है। अग्निसयोग से ये दल बहुत जल्दी खुले हो जाते है और जलांश नष्ट हो जाता है तथा अभ्रक के सभी परत ढाले होकर अलग-अलग हो जाते हैं। इसी हेतु से उसके लिए 'विमुञ्चति दलोच्चयम्' कहा है।

मण्डूक—इस जाति के अभ्रक में बहुत लम्बे-चौडे और सुदृढ परत नहीं होते हैं इसकी बनावट में किसी विशेष प्रकार की रचना नहीं होती है इसका गठन ऊबड-खाबड और क्रम रहित छोटे छोटे परतों में होता है। यही कारण है कि इसको जब अग्नि में तपाया जाता है तब इसका जलीय भाग किसी विशिष्ट गति या दिशा से नहीं निकलता है और उसके निकलने

के मार्ग का कोई नियत क्रम न होने से जलीय वाष्प की मात्राशक्ति अवरोध के कारण बढ जाती है परिमाण यह होता है कि उसमें तीव्र विस्फोट होता है और उसके साथ अभ्रक के खण्ड-खण्ड होकर इधर-उधर उछलने लगते हैं। टुकडे उछल-उछल कर अग्नि के बाहर जा जा कर गिरते हैं अर्थात् जैसे मेंढक उछलता है उसी प्रकार ये भी उछलते है अत. इस अभ्रक को मण्डूक जाति का अभ्रक कहा है।

नाग— इस जाति के अभ्रक में परतें अधिक मजबूत होते हैं और ऐसे कुछ विशिष्ट सिरा समूहों द्वारा उसकी स्वाभाविक बनावट होती है कि उसको अग्नि में तपाने से उसका जलीय भाग किसी सिरा के एक नियत मार्ग से अथवा किसी एक विशिष्ट भाग से बडे वेग के साथ बाहर निकलता है उस समय जो शब्द होता है वह नाग के समान फुस्स फुस्स करके उत्पन्न होता है। यह शब्द-साम्य ही उसके नामकरण का हेतु है।

वज्राभ्रक—इस जाति के अभ्रक की बनावट बहुत ही लचीली, ढीली और पोली होती है यही हेतु है कि इसको अग्नि के तीव्रताप में गर्म करने पर उसका जलीय अश बडी सुगमता से नष्ट हो जाता है सम्भवत इसकी रचना ही एक विशिष्ट प्रकार सच्छिद्रतायुक्त हो और इसी लिए इसके जलीय अश के सरलता से निकल जाने में किसी प्रकार का अवरोध भी न होता हो। जलीय भाग के निकलने में अवरोध का अभाव और परतों के ढीलेपन की विशेषता ये दोनों बातें होने से न तो इसके पडदे छूटते हैं, न सर्प के समान 'फुस्स' कर के शब्द ही होना है और न मेंढक के समान इसमें किसी प्रकार की उछल कूद ही सभव होती है। न रग बदलना है, न अन्य अभ्रकों की भांति इसमें किसी प्रकार की विकृति का ही निर्माण होता है। अग्नि में सतप्त होता हुआ यह अभ्रक विना किसी परिवर्तन के स्थिर रहता है अत एव इसको वज्राभ्रक कहा जाता है।

ऊपर कहे हुए पिनाक, मण्डूक, नाग और वज्र ये जो अभ्रक के चार प्रकार हैं इनका परिचय और लक्षणात्मक विश्लेपण अग्नि द्वारा ही प्रगट किया जा सकना है। चारों प्रकार के अभ्रकों में प्रत्येक के चार वर्ण (रग) होते हैं। श्वेत, पीत, रक्त और कृष्ण वर्ण के पिनाकादि चारों अभ्रक होते हैं। इस प्रकार अभ्रक के सोलह भेद हो जाते हैं। प्रत्येक अभ्रक में श्वेतादि जो चार वर्ण होते हें उसका प्रधान कारण विभिन्न प्रकार के अभ्रकों में उपलब्ध होने वाला रासायनिक सङ्गठन का भेदमात्र ही है जिस अभ्रक में लोहे की मात्रा अधिक होती है वह देखने में काला-सा लाल अथवा काला दिखलाई देता है, लोहे की मात्रा कम होने से अभ्रक में लाल रग दीखता है और जिस अभ्रक में लोहे की मात्रा अत्यन्त ही न्यून होती है वह पीला या श्वेत होता है। काले रग के अभ्रक में लोहे की मात्रा बहुत ही अधिक होती है और यही कारण है कि सत्त्वपातन के लिए काला अभ्रक ही विशेष उपयोगी समझा जाता है। अभ्रक सत्त्व में लोहे की मात्रा ही विशेष होती है और इसी लिए वह देहसिद्धि और लोहसिद्धि में व्यवहार्य माना जाता है।

नीचे लिखे हुए तत्त्वों में से अभ्रक में कोई भी पाँच, छ अथवा इससे भी अधिक तत्त्व उपलब्ध होने हैं। अभ्रक में बालू के साथ ही साथ अलुमिनम, सोडियम या पोटासियम, कभी कभी रूबीडियम, सीझियम या लिथियम, हैड्रोजन, मैग्नेशियम, लोह और विरल मात्रा में क्रोमियम, मैंगेनीजम, बेरियम, फ्लोरीन और टिलरियम ये सब तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इस पर से यह देखा जाता है कि अभ्रक का सङ्गठन बहुत ही जटिल और विचित्र होता है। अभ्रक का काठिन्य २॥ और विशिष्ट गुरुत्व २–९ होता है। अभ्रक ताप और विद्युत् चालक नहीं होता है। अभ्रक के दल दानेदार अणुओं से निर्मित होते हैं। अभ्रक के

पत्र आसानी से अलग किये जा सकते हैं। इसके पतले परत बडे ही लचीले, स्थिति स्थापक और कडे होते हैं। अभ्रक के पतले परत चमकदार होते हैं वे मोती के समान कांतियुक्त होते हैं। इनका आकार ऊबड-खाबड होता है। अभ्रक स्फटिक के समान और पारदर्शक होता है इसमें एक के ऊपर दूसरे ऐसे परत होते हैं ॥ ९७ ॥

अन्यत्रापि—

यदञ्जननिभं क्षिप्तं न वह्नौ विकृतिं व्रजेत्।
वज्रसंज्ञं हि तद्योग्यमभ्रं सर्वत्र नेतरत् ॥ ९८ ॥
अभ्रमुत्तरशैलोत्थं बहुलत्वं गुणोत्तरम्।
दक्षिणाद्रिभवं स्वल्पसत्त्वमल्पगुणोत्तरम् ॥ ९९ ॥

यदित्यादि। यदभ्रकमञ्जननिभं वह्नौ विकृतिं न व्रजेत्। तदभ्रकं वज्रसंज्ञं सर्वत्र कर्मणि योग्यं नेतरत्। 'उत्तरशैलोत्थम्'इत्यत्र 'पूर्वशैलोत्थम्'इति पाठभेदः। अभ्रं बहुसत्त्व गुणोत्तरं, दक्षिणाद्रिभवं स्वल्पसत्त्वम् अल्पगुणि च भवति ॥ ९८–९९ ॥

अन्य प्रमाण–जो अभ्रक काजल के समान काला है और अग्नि में तपाने से भी विकार को प्राप्त नहीं होता है वह वज्राभ्रक कहाता है। उसी का सर्वत्र समस्त कार्यों में उपयोग होता है, अन्य का नहीं। उत्तर दिशा के पहाडों का अभ्रक उत्तम और बहुगुणी तथा दक्षिण के पहाडों का अल्पगुणी होता है ॥ ९८–९९ ॥

अभ्रग्रहणे विशेष —

अभ्रं गृहीतं खनितो भिषग्भिः संखन्य सम्यक् पुरुषप्रमाणम्।
तद्भारवत्सत्त्वफलप्रदं स्याद्गुणाधिकं स्वल्पगुणं ततोऽन्यत् ॥ १०० ॥

अभ्रमित्यादि। पुरुषप्रमाणं यावत् सम्यक् संखन्य भिषग्भिः खनितो यदभ्रं गृहीतं तदभ्रं गुरु, सत्त्वफलप्रदं, गुणाधिकं च स्यात्। ततोऽन्यत्स्वल्पगुणं भवति ॥ १०० ॥

अभ्रक के ग्रहण करने की विशेषता–एक पुरुष प्रमाण गहरी खोदी हुई खदान का अभ्रक ही वैद्यों को लेना चाहिए। वजनदार अभ्रक उत्तम और बहुगुणा होता है तथा इसके विपरीत अल्पगुणी और निकृष्ट होता है।

वक्तव्य—'पुरुषप्रमाणम्' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि अभ्रक जितनी अधिक गहरी खदान से प्राप्त किया जावेगा उतना ही अधिक उत्तम होगा। जमीन की गहराई में रहने वाला अभ्रक धूप, हवा और पानी के कारण जो उसमें निःसत्त्वता आने की आशंका होती है उससे बचा रहता है और वजनदार होता है। जमीन के एकदम ऊपरी भाग में उपलब्ध होने वाले अभ्रक में मिट्टी और पत्थर का अधिकांश स्वभावतः ही आ जाता है अतः वह अग्राह्य होता है उससे सत्त्व भी बहुत ही न्यून और अल्पगुणी निकलता है। यही हेतु है कि ग्रन्थकार ने गहरी खदान से अभ्रक लेने का सुझाव दिया है। साथ ही जो अभ्रक चिकना, मोटे दल वाला, उत्तम वर्ण वाला, वजनदार और जिसके दल (परतें) बिना कष्ट के ही पृथक् हो सकें, ऐसा अभ्रक उत्तम होता है। जैसे कि— **'स्निग्धं पृथुदलं वर्णसंयुक्तं भारतोऽधिकम्। सुखनिर्मोच्यपत्रं च तदभ्रं शस्तमीरितम् ॥'** (इति रसरत्नसमुच्चय) ॥ १०० ॥

अथ वज्राभ्रकगुणाः—

अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायुष्करं धातुविवर्धनं च।
हन्यात्त्रिदोषव्रणमेहकुष्ठप्लीहोदरग्रन्थिविषक्रिमींश्च ॥ १०१ ॥

रोगान् हन्ति द्रढयति वपुर्वीर्यवृद्धिं विधत्ते
तारुण्याढ्यं रमयति शतं योषितां नित्यमेव।
दीर्घायुष्मान् जनयति सुतान् विक्रमैः सिंहतुल्यान्
मृत्योर्भीतिं हरति सततं सेव्यमानं मृताभ्रम् ॥ १०२ ॥

अभ्रमित्यादि। शेषं सुस्पष्टम् ॥ १०१-१०२ ॥

वज्राभ्रक के गुण-वज्राभ्रक कसैला, मीठा, शीतल, आयु और धातुओं को बढाने वाला होता है। त्रिदोष, व्रणरोग, प्रमेह, कुष्ठ, प्लीहा, उदर, गलगण्ड, विष और कृमिरोगों को नष्ट करता है तथा शरीर को दृढ और शुक्र की वृद्धि कर के मनुष्य को तरुण बनाता है। अभ्रक भस्म के सेवन प्रभाव से मनुष्य सौ स्त्रियों से नित्य प्रति रमण करता हुआ सिंह के तुल्य पराक्रम वाले चिरजीवी पुत्रों को उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं नित्य अभ्रक सेवन करने पर अकाल मृत्यु का भय नहीं रहता है ॥ १०१-१०२ ॥

अथाशुद्धस्य मारणे दोषमाह—

पीडां विधत्ते विविधां नराणां कुष्ठं क्षयं पाण्डुगदं च शोथम्।
हृत्पार्श्वपीडां च करोत्यशुद्धमभ्रं हि तद्वद्गुरु वह्निहृत्स्यात् ॥१०३॥

पीडामित्यादि। अशुद्धमभ्रं नराणां शरीर इति शेषः। विविधा पीडां कुष्ठप्रभृतिक रोगसंघं च विदधाति, तथैव गुरु, जठराग्निनाशकश्च स्यात्। क्वचित् 'तज्जाठरवह्निहृत्' इति पाठान्तरम् ॥ १०३ ॥

अशुद्ध अभ्रक के दोष—अभ्रक की शुद्धि किये बिना ही यदि उसकी भस्म बनाई जावे और उसका सेवन किया जावे तो मनुष्यों के शरीर में अनेक प्रकार की वेदनाएं (व्याधियां), कुष्ठ, क्षय, पाण्डुरोग, शोथ, हृद्रोग और पार्श्ववेदना हो जाती है। अशोधित अभ्रक भस्म भारी होती है और मन्दाग्नि को उत्पन्न करती है

वक्तव्य—अभ्रक यह बहुत ही प्रभावी द्रव्य है इसका विधिपूर्वक सेवन करने से अनेक कष्टसाध्य रोगों का नाश होता है, आयु और आरोग्य की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यदि इसका विना शोधन और मारण के सेवन किया जाता है तो यह कालकूट विष के समान कार्य करता है तथा कष्टसाध्य व्याधियों को उत्पन्न कर जीवन को दुःखमय बना देता है अतः शोधन करना नितान्त आवश्यक है ॥ १०३ ॥

अथ मृताभ्रस्यापि लक्षणगुणदोषानाह—

निश्चन्द्रकं सुसूक्ष्मं च लोचनाञ्जनसंनिभम्।
तदा तु मृतमित्युक्तमभ्रकं नान्यथा मृतम् ॥ १०४ ॥

निश्चन्द्रकमित्यादि। निश्चन्द्रकं, सुसूक्ष्मं, लोचनाञ्जनसंनिभं नेत्रे यथाऽञ्जनं सम्यग् स्वान्न स्पृशति तथा चिक्कणं भवेत्तदा मृतमित्युक्तं स्यात्, अन्यथा न मृतमिति ज्ञेयम् ॥

अभ्रकभस्म के लक्षण—जो भस्म निश्चन्द्र (चन्द्रिका रहित हो अर्थात् भस्म बनने के पश्चात् जिसमें चमक न दीखे), सुसूक्ष्म-सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्रों में प्रविष्ट होने लायक हो, और नेत्रों में जो अञ्जन लगाया जाता है वह जिस प्रकार कणरहित और मृदु होता है उसी के तुल्य मृदु और कणरहित सुचिक्कण हो, ऐसा अभ्रक भस्म उत्तम होता है, अन्यथा वह भस्म नहीं हुआ और [illegible] नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—उत्तम अभ्रक भस्म के लिए उसमें तीन बातें होनी अत्यन्त आवश्यक हैं निश्चन्द्र, सुसूक्ष्म और नेत्राञ्जन के समान। निश्चन्द्र-मूलभूत धातुओं में जो एक प्रकार की कान्ति और आभा होती है तथा भस्म करने के पश्चात् भस्मों में जो चमकीले कण दीखते हैं जिनका विशेष स्पष्ट ज्ञान सूर्य की किरणों के सामने करने से होता है उसको चन्द्रिका कहा जाता है। उसका जब अभाव हो जाता है-भस्मों में किसी प्रकार की चमक नहीं रहती है तब वह निश्चन्द्र होती है।

सुसूक्ष्म-भस्मार्थ ग्रहण किये द्रव्य का भली प्रकार शोधन कर के भस्म-निर्माण विधि से उसको पुट देना चाहिए। द्रव्य का मारण अथवा भस्मीकरण जब तक यथोचित नहीं होता है तब तक धातु का अथवा मारित या भस्मीकृत द्रव्य का स्वल्पतम हिस्सा या कणसमूह पूर्व स्वरूप का ही बना रह जाता है। ये अभस्मीभूत कण जब तक भस्म नहीं होते हैं तब तक भस्मीभूत कणों की अपेक्षा कुछ बडे होते हैं और मर्दन करने पर भी उनकी कठोरता नष्ट नही होती है और सूक्ष्म सत्ता की उपलब्धि नही होती है ऐसी दशा में उसका मर्दन और पुटन अपेक्षित होता है जब भली प्रकार भस्म बन जाती है तब वह रेखापूर्ण, वारितर, अपुनर्भव हो जाती है। जो धातु की भस्म तर्जनी और अगूठे के बीच में रखकर रगडने पर तर्जनी और अगूठे की रेखाओं में प्रवेश कर जाती है तब उसे रेखापूर्ण और सूक्ष्म कहा जाता है। यह भस्म सेवन करने से शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव-घटकों तक पहुँचने में विलम्ब नहीं करती है। जल पर डालने पर भी वह तैरती रहती है कारण कि धातु के समस्त अणु-परमाणु एकात्म होने से इतने स्वल्प और हल्के हो जाते हैं कि न तो उनका विभेद होता है और न वे तत्काल किसी द्रव्य से प्रभावित होते हैं। **'अङ्गुष्ठतर्जनीघृष्टं यत्तद्रेखान्तरे विशेत्। मृतलोहं तदुद्दिष्टं रेखापूर्णाभिधानतः॥' 'मृत तरति यत्तोये भस्म वारितर हि तत्।'** अर्थात् जब भली प्रकार भस्म बन चुकती है तब उसको खूब घोट कर महीन सूक्ष्म रेशमी कपडे मे छान लेना चाहिए, ऐसा करने पर वह काजल के समान सूक्ष्म हो जाती है और वह आख में लगाई जाती है तो आख में रडकती या चुभती नही है तब समझना चाहिए कि भस्म उत्तम हो गई है। भली प्रकार बनी हुई भस्म दाँतों के बीच में रखकर दाँतों को चलाया जाना है तो उसमें 'कच कच' शब्द नही होता है जिस प्रकार कि केतकी के रज के चबाने से होता है। **'कचकचिति न दन्ताग्रे कुर्वन्ति समानि केतकीरजसा। योज्यानि हि प्रयोगे रसोपरसलोहचूर्णानि॥'** कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी धातु की भस्म की परीक्षा के लिए उस भस्म का निश्चन्द्र, सुसूक्ष्म-रेखापूर्ण, वारितर, अपुनर्भव और अञ्जन के समान होना अनिवार्य है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि भस्म किसी भी विशिष्ट स्वाद अर्थात् रसरहित होना चाहिए। अम्ल, कषाय आदि कोई रस उसमें नहीं होना चाहिए। साराश, यह है कि भस्म स्वादरहित और जीभ को न लगे ऐसी होनी चाहिए। जब तक उपर्युक्त लक्षण न हो तब तक पुट देना चाहिए॥ १०४॥

अन्यच्च—

> मृतं निश्चन्द्रतां [1]यातमरुणं चामृतोपमम्।
> सचन्द्रं विषवज्ज्ञेयं मृत्युकृद् व्याघ्ररोमवत्॥ १०५॥

मृतमित्यादि। निश्चन्द्रम्, अरुणवर्णं भस्म चामृतोपम भवति। शेषं स्पष्टम्॥१०५॥

---

१ व्याघ्रश्मश्रुरोम यद्वन्मारयति तद्वदित्यर्थः, इति ग्रन्थकारः।

दूसरा प्रमाण-लाल वर्ण की और निश्चन्द्र अभ्रक भस्म अमृत के समान होती है। चन्द्रिकायुक्त अभ्रक भस्म विष और व्याघ्र रोम के समान मृत्युप्रद होती है। जिस अभ्रक भस्म में चन्द्रिका है उसका सेवन नहीं करना चाहिए। अभ्रक की चन्द्रिका काच के कण के अनुसार तीक्ष्ण होती है उसके सेवन से आतडे में छेदन होता है जिस प्रकार व्याघ्र के मूछों के राल से छेदन क्रिया होती है उसी प्रकार अभ्रक की चन्द्रिका भी घातक होती है अत इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि अभ्रक भस्म निश्चन्द्र हुआ है या नहीं ॥ १०५ ॥

अस्य मारणे पुटसंख्यामाह—

शतादिस्तु सहस्रान्तः पुटो देयो रसायने।
दशादिस्तु शतान्तः स्याद् व्याधिनाशनकर्मणि ॥ १०६ ॥
सहस्रपुटपक्षे तु भावना पुटनं भवेत्।
मर्दनं तु तथा न स्यादिति प्राचां हि संमतम् ॥ १०७ ॥

शतादिरित्यादि । रसायने-जराव्याधिविनाशनकर्मणि शतादिस्तु-शतसंख्यातः समारभ्य सहस्रान्तः पुटो देयः, व्याधिनाशनकर्मणि दशपुटसंख्यात॰ समारभ्य शतावधिः पुट॰ स्यात् । सहस्रपुटपक्षे भावना पुटन भिन्नभिन्नमारकद्रव्याणां भावनापूर्वकं पुटदान भवेत् अर्थात् मारकद्रव्यद्रवव्यतिरिक्तादभ्रकस्यैव केवलस्य खल्वे दत्वा पेषणं तथा करण हि प्राचा न संमत भवेत् किन्तु प्रतिपुटं भावना प्रदातव्या मारकद्रव्यद्रवेणेति राद्धान्तस्तेषामिति भावः ॥ १०६-१०७ ॥

अभ्रकभस्म करने में पुटसख्या—रसायन कर्म के लिए यदि अभ्रक भस्म बनानी हो तो १०० से १००० पुट तक देना चाहिये। व्याधिनाशार्थ बनाना हो तो दश पुट से लेकर सौ पुट तक की अभ्रक भस्म बनानी चाहिए। जहां पर हजार पुट दिये जाते हैं वहा पर केवल मारक द्रव्यों के रसों की भावना देकर ही पुट देना चाहिए खरल में डालकर उसका विशेष मर्दन नहीं करना चाहिए। यह भी ध्यान रहे कि भावना द्रव्य के साथ में अभ्रक का मर्दन इतना निषिद्ध नहीं है किन्तु द्रव्य के विना ही केवल अभ्रक का खल में मर्दन करना निषिद्ध है। कुछ लोग पुटसख्या पूरी करने की दृष्टि से यों ही जिस किसी द्रव अथवा जल में घोटकर टिकिया बनाकर पुट-सख्या की पूर्ति करते हैं यह सर्वथा अव्यवहार्य अपायकर है। इस प्रथा को रोकने की दृष्टि से ही प्राचीनों ने यह मत प्रगट किया है।

वक्तव्य—रसायन कर्म के लिए सौपुटी अभ्रक से हजारपुटी तक का व्यवहार मान्य है अर्थात् सौपुटी से कम पुट की अभ्रक भस्म का रसायनार्थ प्रयोग नहीं करना चाहिए। रोग-नाशार्थ प्रयोग में डालने के लिए दशपुटी अभ्रक भस्म से सौ पुट तक की ग्राह्य होती है। तात्पय यह है कि निश्चन्द्र होने से अभ्रक भस्म का प्रयोग किया जा सकता है और निश्चन्द्र दश पुट में होना सभव है यदि उचित मार्ग से किया जावे तो। यों तो शास्त्रकारों ने एक ही पुट में अभ्रक भस्म का विधान कहा है और निश्चन्द्र भी होती है। इसी ग्रन्थ में यह विधान आगे आप देखेंगे ॥ १०६-१०७ ॥

अथास्यानुपान मात्राप्रमितिश्च—

वेल्लव्योषसमन्वितं घृतयुतं वल्लोन्मितं सेवितं
दिव्याभ्रं क्षयपाण्डुरुग्ग्रहणिकाशूलं च कुष्ठामयम्।

ऊर्ध्वश्वासगदं प्रमेहमरुचिं कासामयं दुर्धरं
मन्दाग्निं जठरव्यथां विजयते योगैरशेषामयान् ॥ १०८ ॥

वेल्लेत्यादि । दिव्याभ्र, वेल्लः–विडङ्ग, व्योषः–त्रिकटु ताभ्यां समन्वितं घृतयुत चात्र विडङ्गव्योषयोर्भारग्रहण रोगापेक्षया साधारणतया तु माषद्वयं त्रिमाषं वा । वल्लोन्मित–त्रिगुञ्ज गगनभस्म सेवितं पद्योक्तान् व्याधीन् विजयते । शेषं स्पष्टम् ॥ १०८ ॥

अभ्रक भस्म और उसका अनुपान तथा मात्रा—उत्तम अभ्रकभस्म ३ रत्ती तक वायविडङ्ग, सोंठ, मिरच और पीपल मिलाकर घृत के साथ सेवन करने से क्षय, पाण्डु, संग्रहणी, शूल, कुष्ठ, ऊर्ध्वश्वास, प्रमेह, अरुचि, कष्टसाध्य खांसी, मन्दाग्नि और उदर की पीडा इन सबको नष्ट करती हैं। इसी प्रकार रोगानुसार विभिन्न सहपान और अनुपानों से यह अभ्रक भस्म शरीरगत समस्त रोगों में लाभ पहुंचाती हैं केवल योजना का औचित्य ही अपेक्षणीय है ॥

वक्तव्य—विडंग और व्योष की मात्रा का यहां उल्लेख नहीं किया है किन्तु रोगानुसार दोषदृष्टि से दो मासा अथवा तीन मासा चारों द्रव्य मिलित रूप में ग्रहण करना चाहिए। घृत की मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है जितने घृत में ये सभी द्रव्य मिलकर चाटने लायक हो सकें उतना घृत लेना चाहिए। यहां अभ्रक की मात्रा वल्लोन्मित लिखी है। लीलावती ग्रन्थकारने वल्ल को तीन गुञ्जा लिखा है रसरत्नसमुच्चय ने भी तीन गुञ्जा का ही वल्ल माना है 'त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते' परिभाषाप्रदीप ने दो गुञ्जा का और राजनिघण्टुने डेढ गुञ्जा का वल्ल कहा है किन्तु यह विषय ऐसा है कि सम्प्रति हमें यहां तीन गुञ्जा ही रसशास्त्र की दृष्टि से सर्वसम्मत जचता है ॥ १०८ ॥

अथ शोधनम्—

वज्राभ्रकं धमेद्वह्नौ ततः क्षीरे विनिक्षिपेत् ।
सप्तधा भिन्नपत्रं तत्तण्डुलीयाम्लयोर्द्रवैः ॥ १०९ ॥
भावयेदष्टयामं तदेवं शुध्यति चाभ्रकम् ।

वज्राभ्रकमित्यादि । सुगमम् ॥ १०९ ॥

अभ्रक की शुद्धि—वज्राभ्रक को अग्नि में धमन करके ७ वार दूध में डाले, जब अभ्रक पत्र अलग-अलग हो जावें तब चौलाई के मूल-स्वरस और अम्लद्रव्यों की आठ प्रहर तक भावना देवे, इस प्रकार से अभ्रक शुद्ध हो जाता है।

वक्तव्य—वज्राभ्रक को खूब अग्नि में धौंकनी से धमन करके तपावे और दूध में सात वार बुझावे। ऐसा करने से अभ्रक के दल–परतें अलग-अलग हो जाती हैं। अभ्रक की परतों के आजू-बाजू अथवा अवकाश में जो अपद्रव्य–पत्थर, मिट्टी अथवा अन्य कुछ विकृति होती है वह धुल कर छूट जाती है, अभ्रकपत्र एकदम स्वच्छ और पारदर्शक बन जाते हैं तथा उनमें मृदुता और मधुरता आ जाती है। इसके पश्चात् उनको कूटकर चौलाई के मूल स्वरस में भावित करना और फिर कांजी अथवा निम्बू के रस में आठ प्रहर तक भावना देना, ऐसा करने से अभ्रक शुद्ध हो जाता है और वह धान्याभ्रक बनाने के लिए उपयुक्त होता है ॥ १०९ ॥

वज्राभ्रं वह्निसन्तप्तं विक्षिप्तं सप्तसप्तधा ॥ ११० ॥
गोदुग्धे त्रिफलाक्वाथे काञ्जिके सुरभीजले ।
मलतः शुद्धिमायाति प्रक्षिप्तं वा त्रिधा त्रिधा ॥ १११ ॥

वज्राभ्रमित्यादि। वज्राभ्रमग्नौ तापितं सप्तसप्तधा विनिक्षिप्तं प्रत्येकस्मिन्, गोदुग्धे, त्रिफलाक्काथे, काञ्जिके, सुरभीजले-गोमूत्रे, न तु कन्दुरुकीकषाये वा 'गन्धिनी गजभक्ष्या तु सुवहा सुरभी रसा। महेरणा कुन्दुरुकी सल्लकी ह्लादिनीति चे'त्यमरः। अथवा गोदुग्धादिषु त्रिधा त्रिधा प्रक्षेपणेनापि मलतो-दोषतः शुद्धिमायाति ॥११०-१११॥

दूसरी विधि—वज्राभ्रक को अग्नि में तपा-तपा कर ७-७ अथवा ३-३ वार गोदुग्ध, त्रिफला का कषाय, काजी और गोमूत्र प्रत्येक में बुझावे तो शुद्ध हो जाता है।

वक्तव्य—गोदुग्ध, त्रिफला का क्वाथ, काजी और गोमूत्र इन चारों में ७-७ वार अभ्रक को गर्म कर के बुझावे अथवा ३-३ वार तो शुद्धि हो जाती है॥ ११०-१११॥

रसमञ्जर्याम्—

> अथवा बदरीक्काथे ध्मातमभ्रं विनिक्षिपेत्।
> मर्दितं पाणिना शुष्कं धान्याभ्रादतिरिच्यते॥ ११२॥

अथवेत्यादि। शेषं स्पष्टम्॥ ११२॥

तीसरी विधि-अथवा केवल बदरी (बेर) के कषाय में अभ्रक को तीक्ष्णाग्नि में तपा तपा कर ७ वार अथवा ३ वार प्रक्षेपण करे तो शुद्ध हो जाता है। बेर के कषाय में बुझाव देकर हाथ से भलीप्रकार मर्दन करे तो अभ्रक का चूर्ण हो जाता है धान्याभ्रक के तुल्य।

वक्तव्य—ऊपर में अभ्रक शोधन के तीन विकल्प दिये गये हैं जिनमें शोधन की प्रक्रिया का भलीभांति प्रतिपादन किया गया है और यह भी रसशास्त्रों का प्रधान आग्रह है कि शोधन के बिना किसी द्रव्य की भस्म अथवा उपयोग नहीं करना चाहिए। यह जिस प्रकार का आग्रह है उसका अपना महत्त्व भी सर्वोपरि है अत इस विषय का सक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। रस-शास्त्र में रस, उपरस, धातु, उपधातु, रत्न, उपरत्न, विष, उपविष आदि का विशेष रूप से ग्रहण किया गया है और इनका शोधन और मारण का विधान भी प्रधान रूप से प्रतिपादित होता है। विभिन्न द्रव्यों के शोधन और मारण विभिन्न हैं तथा अनेक रसतन्त्रकारों ने अपने अनुभव से विभिन्न द्रव्यों और क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण करके उनका उल्लेख किया है। एक ही द्रव्य के शोधन और मारण के विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार कहे हैं तो कुछ ग्रन्थकारों ने एक ही ग्रन्थ में भी अनेक प्रकार कहे हैं। एक ही द्रव्य के एक ही आचार्य द्वारा शोधन और मारण के विभिन्न प्रकार जब तन्त्रों में देखे जाते है तो कुछ व्यक्ति को सहज शका होती है कि ऐसा क्यों? और इनमें से कौन सा प्रकार सर्वोत्तम और ग्राह्य है? तन्त्रकारों ने विभिन्न प्रकार के मार्गों का जो अवलम्बन किया है उसका क्या हेतु है? शोधन और मारण से किस उद्देश्य की पूर्ति होती है? एक द्रव्य के अनेक प्रकार के शोधन और मारण किस दिशा के सूचक होते हैं? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं जिनका यथार्थ और प्रत्यक्ष उत्तर तो तभी दिया जा सकता है, जब कि इस विषय पर सामूहिक रूप से खोज करके अनुभव सगृहीत हो किन्तु व्यक्तिगत अनुभव और अनुमान की दृष्टि से विचार किया जाता है।

ऊपर कहे हुए रसोपरसादि द्रव्यों के शोधनार्थ प्रायश तैल, तक्र, काजी, गोमूत्र, त्रिफला-क्वाथ, कुलथी, कषाय, गोदुग्ध, दुग्ध, गोबर, घृत, ग्वारपाठा, अम्लद्रव्य, आदि का प्रयोग किया जाता है। इन द्रव्यों के स्वाभाविक रस, गुण, वीर्य और प्रभाव का परिणाम नो ग्राह्य होती है, जिससे पार्थिव द्रव्यों में उद्भिज्ज और प्राणिज द्रव्यो का मेल होने से एक विशेष प्रकार की सुप्त और लुप्त शक्ति का उत्थान होकर सेन्द्रिय गुणों का विकास होता है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता है तब तक पार्थिव द्रव्यों में सेन्द्रिय शक्ति का सचार सदिग्ध रहता है।

यही कारण है कि द्रव्यों के भस्म निर्माण में भी विभिन्न द्रव्यों की विभिन्न भावनाएँ स्वीकार की गई हैं साथ ही उन मारक द्रव्यों की भावना के पश्चात् अग्नि में पुट देने से मारणार्थ गृहीत द्रव्य के कठिन और जटिल अण्वात्मक अवयव-घटकों का मारण तो होता ही है किन्तु भावना द्रव्य का गुणाधान भी प्रधान होता है। यही हेतु है कि कुछ विशिष्ट द्रव्यों द्वारा शोधन और मारण के प्रकार और दोष रोगपरत्व दृष्टि से कहे गये है। कुछ देश और काल की अपेक्षा रखे हुए हैं, कुछ सुगमता और अल्प परिश्रम साध्यता की दृष्टि से प्रतिपादित हैं। कुछ ऐसे है जो जिस साधक ने अपने अनुभव में साध्य और सफल पाया उसने उसका सर्वोपकारार्थ प्रतिपादन कर दिया है। भारतीय रसशास्त्र में द्रव्यों के शोधन और मारण का प्रधान ध्येय है कि वह द्रव्य प्राणिमात्र के दुःख, दर्द, रोग, बुढापा और मृत्यु को दूर कर के आरोग्य का निर्माण करने में सहायक बने। सेवन करने में किसी प्रकार की अडचन न हो और परिणाम में किसी भी प्रकार का अपाय उत्पन्न न करे। मात्रा स्वल्प हो, खाने में अरुचि न हो और तत्काल रोगों को मिटा कर चिरस्थायी आरोग्य का निर्माण कर सके। जो भी कोई द्रव्य हो उसका शरीर-घटकों पर शीघ्र परिणाम तभी हो सकता है जब वह रक्ताणुओं में भलीभाति मिलकर रक्ताभिसरण क्रिया द्वारा समस्त शरीर के रोगों को मिटाने में शीघ्रता करे। यह क्रिया उसी औषध से सम्भव हो सकती है जो घुलनशील हो, उसके घटक द्रव्य इतने एकात्म और सूक्ष्म हो चुके हों कि उनकी सर्वत्र अप्रतिहतगति बन गई हो। इस प्रकार के उद्देश्य के साधनार्थ ही रसशास्त्रकारों ने पार्थिव द्रव्यों पर अथक परिश्रम और विशाल अनुभव से यह खोजा है कि भली प्रकार के उचित शोधन एवं मारण के परिणामस्वरूप निर्मित औषध ही आरोग्यकर हो सकती है। शोधन करने से धातुगत विकृति और अपद्रव्यों का निर्मूलन तो होता ही है उसमें विशिष्ट संस्कार होने से गुणोदय भी अवश्य होता होगा। साथ ही मृदुता और भङ्गुरत्व को भी निर्माण होता है जिसके कारण से धातु के कूटने और पीसने में सरलता होती है और भस्म बनने में विशेष अडचन नहीं होती। इसके अतिरिक्त किस द्रव्य के झुझाव में क्या परिवर्तन होता है यह बात स्पष्टतः नहीं कही जा सकती है, केवल द्रव्यों के गुणधर्मोंपर से ही अनुमान हो सकता है। उसका विवेचन पूर्ण स्वरूप से करना यहां सर्वथा असंभव है। अतः दिग्दर्शन मात्र दिया गया है॥ ११२॥

अथैवं शुद्धस्य धान्ययोगेन सूक्ष्मीकरणं, तस्य धान्याभ्रकमिति संज्ञा, तत्प्रकारो यथा—

पादांशशालिसंयुक्तमभ्रं बद्ध्वाऽथ कम्बले।
त्रिरात्रं स्थापयेन्नीरे क्लिन्नं वै मर्दयेत्करैः॥ ११३॥
तन्नीर एव यत्नेन यावत्सर्वं स्रवेत्ततः।
कम्बलाद्गलितं सूक्ष्मं वालुकासदृशं च यत्॥ ११४॥
तद्धान्याभ्रकमित्युक्तं मारणं चाप्यथो भवेत्।

अत्र नीरं तु काञ्जिकमेव, यत उक्तं वार्तिककृता—

चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रबद्धं हि काञ्जिके।
निर्यातं मर्दनाद्यत्तद्धान्याभ्रमिति कथ्यते॥ ११५॥

पादांशेत्यादि। पादांशशालिसंयुक्तं शालिधान्यस्यैको भागः, शुद्धाभ्रस्य चत्वारो भागास्तान् कम्बले बद्ध्वा नीरे-काञ्जिके त्रिरात्रं स्थापयेत्। यदा क्लिन्नं भवेत्तदा तन्नीर एव यत्नेन करैर्मर्दयेद्यावत्सर्वमभ्रकणसमूहं स्रवेत्। ततः काञ्जिके समस्ताभ्रचूर्णस्रवणा

नन्तरं कम्बलाद्गलितं सूक्ष्मं रजो यद्भवेदिति शेषः। तदभ्रं, धान्याभ्रकमिति नाम्ना कथितम्, अथैवं धान्याभ्रककरणानन्तरं मारणं चापि भवेत्।

धान्याभ्रस्य द्वितीयः प्रकारो यथा—

चूर्णाभ्र-शुद्धाभ्रकचूर्णं स्वमानाच्चतुर्थांशशालिसंयुक्तं वस्त्रबद्ध चतुर्गुणितेन-स्थूलकार्पासादिभारतीय वाससा बद्धम् अथवा ऊर्णपटेन बद्धं, काञ्जिके कराभ्यां सम्यङ् मर्दनान्निर्यातं यत्तद्धान्याभ्रमिति कथ्यते ॥ ११३-११५ ॥

धान्याभ्रक की विधि—उपर्युक्त विधि से भलीभाँति शुद्ध किये हुए अभ्रक का धान्य योग से सूक्ष्मीकरण ही धान्याभ्रक कहलाता है। जैसे कि—चार भाग शुद्ध अभ्रक, एक भाग तुषों सहित चावल, दोनों को कंबल (ऊनी वस्त्र) में बाँध कर काञ्जी से भरे हुए पात्र में तीन दिन तक रखे, जब भलीभाँति गल जावे तब उसी काञ्जीयुक्त पात्र में रखी हुई उस अभ्रक और धान्य युक्त पोटली को मजबूत हाथों से खूब मर्दन करे जब तक पूरा अभ्रक वस्त्र से बाहर निकल कर काञ्जी में न गिर जावे तब तक उस को हाथों से मसलता रहे। कम्बल से छनकर निकले बालू के समान सूक्ष्म अभ्रक-कण काञ्जी के पात्र में आजावेंगे (पात्र को थोड़ी देर निश्चल रखा रहने दें। जब समस्त अभ्रक कण पात्र के तल भाग (पैंदे) में बैठ जावें, तब काञ्जी को धीरे-धीरे ऊपर से निकाल देना चाहिए, फिर थोड़ा पानी डाल कर हिला कर छोड़ दे, पानी स्थिर हो जावे और अभ्रक पूरा नीचे बैठ जावे. तब पात्र से पानी को इस प्रकार सावधानी से निकाल दे कि अभ्रक के कण बाहर पानी के साथ न बह जावें। इसके पश्चात् पात्र को धूप में रख दे, सूखने पर अभ्रचूर्ण को निकाल ले। यह धान्याभ्रक कहलाता है। इसी बात का समर्थन करते हुए वार्तिककार लिखता है कि-शुद्ध अभ्रक ४ भाग, तुषयुक्त चावल १ भाग, दोनों को मोटे खादी के वस्त्र में बाँध कर काञ्जी में (तीन दिन) रख कर हाथ से मर्दन करने पर वस्त्र से छन कर निकला हुआ सूक्ष्म अभ्रक धान्याभ्रक कहलाता है ॥ ११३-११५ ॥

अथैवं संस्कृतस्य मारणमुच्यते—

धान्याभ्रकस्य भागैकं द्वौ भागौ शुद्धटङ्कणात्।
पिष्ट्वा तदन्धमूषायां रुद्ध्वा तीव्राग्निना पचेत् ॥ ११६ ॥
स्वभावशीतलं चूर्णं सर्वयोगेषु योजयेत्। इत्येकपुटि[1] ॥ ११७ ॥

धान्याभ्रकस्येत्यादि। धान्याभ्रकस्यैकं भागं, शुद्धटङ्कणात् द्वौ भागौ सर्वं चैकीकृत्य पिष्ट्वा च तदन्धमूषायां तल्लक्षणं यथा-'अन्धमूषा तु कर्तव्या गोस्तनाकारसन्निभा। पिधानकसमायुक्ता किञ्चिदुन्नतमस्तका ॥ पत्रलेपे तथा भागे द्वन्द्वमेलापके तथा। सैव छिद्रान्विना मन्दगम्भीरा सारणोचिता ॥'इति। रुद्ध्वा तीव्राग्निना पचेत्। स्वभावशीतलं ज्ञात्वा तच्चूर्णं सर्वयोगेषु योजयेत् ॥ ११६-११७ ॥

अभ्रकमारण—धान्याभ्रक १ भाग, शुद्ध सुहागा २ भाग दोनों को पीस कर अन्धमूषा में भर कर बन्ध कर के तीक्ष्णाग्नि में पकावे ठंडा होने पर निकाल कर खरल में भलीभाँति पीस कर रख ले, यह अभ्रकभस्म तयार हो गया इसका सभी योगों में प्रयोग किया जा सकता है।

---

१. एकश्चासौ पुटश्च एकपुटः सोऽस्त्यस्मिन्निति एकपुटि, अभ्रकभस्मेत्यस्य विशेषणमेतत् एकपुटयोरादौ पूर्वकालैकेत्यादिना समानाधिकरणतत्पुरुषः, ततोऽदन्तत्वादिन्प्रत्ययः। एवं दशपुटी यावदपि ज्ञेयमिति यादवाचार्याः।

वक्तव्य—ऊपर कही हुई धान्याभ्रक की विधि से धान्याभ्रक तयार कर ले। उसमें से एक भाग धान्याभ्रक, शुद्ध सुहागा दो भाग अर्थात् धान्याभ्रक से शुद्ध सुहागा दुगुना होना चाहिए। दोनों को एकत्र मिला कर खरल में डाल कर खूब मर्दन करे, जब दोनों पिसकर एकजीव हो जावें, तब अन्धमूषा में भरकर बन्ध करके तीक्ष्णाग्नि में धमन करें। अग्नि की समय मर्यादा द्रव्य के तौल पर विशेष आधारित है। धान्याभ्रक ५ तोला और शुद्ध सुहागा १० तोला इतने द्रव्य के तयार होने में ४ घण्टा सतत और तीक्ष्ण अग्नि की विशेष आवश्यकता है। पत्थर के कोयले की अग्नि रही तो निश्चित ४ घण्टे में अभ्रक भस्म हो जाती है। इस विधि से केवल एक ही पुट में निश्चन्द्र अभ्रक भस्म हो जाती है। इसका सर्वत्र प्रयोग किया जा सकता है। यदि इसे विशेष उपयोगी बनाना हो तो गर्म पानी से खूब भली प्रकार धो डालना चाहिए। पानी में धोने से सुहागा का बहुत सा भाग निकल जाता है और केवल अभ्रक मात्र रह जाता है किन्तु धोने में विशेष सावधानी होनी चाहिए कहीं अभ्रक ही न चलाजावे अत. पानी में डाल कर दो-तीन घण्टे के बाद हाथ से खूब मसल देना और फिर दो-तीन घण्टे उसको स्थिर रखा रहने देना। पानी स्थिर हो जावे और अभ्रक नीचे बैठ जावे तब ऊपर-ऊपर का पानी धीरे-धीरे निकाल देना और धूप में सुखा कर रख लेना। अब इस पर आप चाहे जैसे द्रव्यों के पुट देकर उपयोगी बना सकते हैं। अभ्रक का निश्चन्द्र होना ही बडा कठिन होता है किन्तु इस विधि से एक ही पुट में अभ्रक निश्चन्द्र हो जाता है। (एकपुटी अभ्रक-भस्म) ॥११६-११७॥

मृत्पात्रे तु समावर्त्य समटङ्कणमभ्रकम् ॥११८॥
ढालयेत् पयसि क्षिप्रं पिष्टं निश्चन्द्रतां व्रजेत् ।

मृत्पात्र इत्यादि। समटङ्कणमभ्रकं गृहीत्वा मृत्पात्रे समावर्त्य पयसि क्षिप्रं ढालयेत् ततः पिष्टं निश्चन्द्रतां व्रजेत् ॥ ११८ ॥

दूसरी विधि—शुद्ध किया हुआ धान्याभ्रक और बिना शुद्ध किया हुआ सोहागा दोनों समान भाग एकत्र लेकर मिट्टी के पात्र में पिघला कर तत्काल दूध में डाले और उसी समय खूब मजबूत हाथों से मर्दन करे तो निश्चन्द्र अभ्रक भस्म हो जाती है। खरल में डाल कर दूध सहित तब तक सतत घुटाई करे जब तक कि दूध सूख न जावे। सूखने पर रेशमी कपडे से छान कर रख ले। यह अभ्रक भस्म सर्वत्र प्रयोग की जा सकती है। ऊपर के अभ्रक-भस्म से यह भस्म सौम्य और अधिक हृद्य होती है ॥ ११८ ॥

धान्याभ्रकं समादाय शोषयित्वा तु मर्दयेत् ॥ ११९ ॥
अर्कक्षीरैर्दिनं मर्द्यमर्कमूलद्रवेण वा ।
चक्राकारं ततः कृत्वा शोषयेदातपेन तु ॥ १२० ॥
वेष्टयेदर्कपत्रैश्च सम्यग्गजपुटे पचेत् ।
पुनर्मर्द्य पुनः पाच्यं सप्तवारं प्रयत्नतः ॥ १२१ ॥
ततो वटजटाक्काथैस्तद्वद्देयं पुटत्रयम् ।
म्रियते नात्र संदेहः सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ १२२ ॥

धान्याभ्रकमित्यादि। धान्याभ्रकं गृहीत्वा शोषयित्वा चार्कक्षीरैरर्कमूलद्रवेण वा दिन यावत् खल्वे दत्वा मर्दयेत्। ततश्चक्राकारं कृत्वा आतपेन शोषयेत्। अर्कपत्रैश्च वेष्टयेत्ततः सम्यक् गजपुटे पचेत्। एव पुन. पुनर्मर्द्य पाच्यं च गजपुटे सप्तवारं यावत्

प्रयत्नतः ततः पूर्ववद्वटजटाक्वाथैः पुटत्रयं देयम्, एवं दशपुटैरभ्रकं म्रियते । पश्चात् सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ ११९-१२२ ॥

तीसरी विधि—धान्याभ्रक को सुखाकर एक दिन तक आक के दूध अथवा उसकी जड के स्वरस या क्वाथ में घोटे, जब टिकिया बनाने योग्य हो जावे तब छोटी-छोटी चकत्तिया बना कर धूप में सुखावे। भली भांति सूखने पर उन चकत्तियों को आक के पत्तों में लपेट कर गजपुट में फूँक दे। इस प्रकार से आक के दूध के सात पुट देवे अर्थात् आक के दूध में घोटे और पुट देवे। प्रत्येक मर्दन के बाद छोटी-छोटी टिकिया बनाना और धूप में सुखाना भली भांति सूखने पर मिट्टी के दो तवों में बन्द करके पुट देवे। स्वाङ्गशीतल होने पर निकाल कर फिर इसी प्रकार करे, ऐसे-आक के दूध के सात पुट देने चाहिए। उसके पश्चात् वट की जड की छाल के कषाय के तीन पुट देने चाहिए। इस प्रकार दस पुट में निःसन्देह अभ्रक निश्चन्द्र और भस्मीभूत हो जाता है, इसका सभी रोगों में प्रयोग करने से लाभ होता है ॥ ११९-१२२ ॥

अथ वाग्भटः—

धान्याभ्रं कासमर्दस्य रसेन परिमर्दितम् ।
पुटितं दशवारेण म्रियते नात्र संशयः ॥ १२३ ॥
तद्वन्मुस्तारसेनापि तण्डुलीयरसेन च । इति दशपुटि ।

धान्याभ्रमित्यादि । धान्याभ्र कासमर्दस्य रसेन परिमर्दितं पुटितं च दशवारेण म्रियते । तद्वन्मुस्तारसेन तण्डुलीयरसेन च मर्दितं पुटितं दशवारेण भस्मी भवतीति भावः ॥

चौथी विधि—धान्याभ्रक को कसौंदी के रस से (एक दिन) मर्दन करना और छोटी-छोटी चकत्तिया बनाकर धूप में सुखा देना जब भलीभांति सूख जावें तब मिट्टी के तस्तरी सरीखे दो तवों में रखकर पत्थर के कोयलों की तीक्ष्ण अग्नि में पुट देवे। स्वाङ्गशीत होने पर निकाल कर फिर पूर्वोक्त विधि से भावनापूर्वक दस पुट देने से अभ्रक की निश्चन्द्र-भस्म हो जाती है। इसी प्रकार नागरमोथा और चोलाई के रस में मर्दन करके दस पुट देने से अभ्रक भस्म हो जाता है।

वक्तव्य—भस्म बनाने में द्रव्य की टिकिया छोटी और चपटी बनानी चाहिए। उनको भली प्रकार सुखाना चाहिए। बडी टिकिया होने से उनका पाक ठीक नहीं होता है। टिकिया गीली रहने से रंग काला हो जाता है और कठोरता आ जाती है भस्म मृदु नहीं बनती है। द्रव्य को स्वभाव शीत होने से पहले ही पुट से बाहर निकाल लिया जाता है तो भी भस्म के रंग में अन्तर पड जाता है और टिकिया कडक हो जाती है। मिट्टी की तस्तरी सरीखे दो तवों में रखकर टिकियों को गजपुट में दिया जाता है तो अग्नि बराबर लगती है और भस्म अच्छी और शीघ्र होती है। भस्म करने के लिए पारा, गन्धक और हरताल आदि कोई उडनशील द्रव्य ग्रहण नहीं किया गया हो तो टिकिया जिस पात्र में रखकर पुट देना है उस पात्र की सन्धियों को कपड मिट्टी से बन्ध नहीं करना चाहिए। किन्तु उडनशील द्रव्य मारणार्थ प्रयुक्त किये हों तो कपड-मिट्टी अवश्य करनी चाहिए। उडनशील द्रव्ययुक्त को भी आखिर के दो चार पुटों में बिना सन्धिबन्ध के ही फूकना चाहिए। भावना द्रव्य का स्वरस और कषाय भलीभांति स्वच्छ करके ही डालना चाहिए। उसके नीचे का घन पदार्थ नहीं डालना चाहिए ॥ १२३ ॥

धान्याभ्रकं समादाय मुस्ताक्वाथैः पुटत्रयम् ॥ १२४ ॥
तद्वत्पुनर्नवानीरैः कासमर्दरसैस्तथा ।
नागवल्लीदलैस्तद्वत्सूर्यक्षीरैः पुटत्रयम् ॥ १२५ ॥

काथैर्वटजटोत्थैश्च त्रिः पुटेन्मुसलीजलैः।
त्रिर्गोक्षुरकषायेण त्रिः पुटेद्वानरीरसैः ॥ १२६ ॥
मोचाकन्दरसैः पाच्यं त्रिवारं कोकिलाक्षजैः।
रसैः पुटेत्ततो लोध्रैः क्षीरादेकं पुटं मुहुः ॥ १२७ ॥
दध्ना घृतेन मधुना स्वच्छया सितया तथा।
एकमेकं पुटं दद्यादभ्रस्यैवं मृतिर्भवेत् ॥ १२८ ॥
सर्वरोगहरं व्योम जायते योगवाहकम्।
कामिनीमददर्पघ्नं शस्तं पुंस्त्वोपघातिनाम् ॥ १२९ ॥
वृष्यमायुष्करं शुक्रवृद्धिसन्तानकारकम्।

धान्याभ्रकमित्यादि। धान्याभ्रकं समादाय मुस्ता क्काथैः पुटत्रयं, तद्वत् पुनर्नवानीरै स्तथा कासमर्दरसैः, तद्वत् नागवल्लीदलैः, सूर्यक्षीरैः-अर्कदुग्धैः पुटत्रयं, वटजटोत्थैः क्काथैः, मुसलीजलैः, गोक्षुरकषायेण, वानरीरसैः-कपिकच्छुकषायैः, मोचाकन्दरसैः-कदलीकन्दद्रवैः, कोकिलाक्षजैः स्वरसैः, ततो लोध्रैः रसैश्च प्रत्येकैः त्रिः पुटेन्मुहुः। क्षीरात्-गोदुग्धेनैकं पुटं दध्ना, घृतेन, मधुना, स्वच्छया, सितया, एकैकं प्रत्येकस्य पुटं दद्यादेव-मेकचत्वारिंशतित्पुटप्रदानेनाभ्रस्य मृतिर्भवेत्। एवंभूतं व्योमभस्म सर्वरोगहरं योग-वाहकं च भवति। तथा कामिन्या मददर्पघ्नं, पुंस्त्वोपघातिनां शस्तं, वृष्यं-शरीरोपचय-करम्, आयुष्करं, शुक्रवृद्धिसन्तानकारकं च स्यात्। इत्येकचत्वारिंशत्पुटि ॥ १२४-१२९ ॥

पाँचवी विधि—धान्याभ्रक को नागरमोथा, पुनर्नवा, कसौंदी, नागरपान, आक का दूध, वड की जटा का काढा, मुसली का स्वरस, गोखरू, कौंच, केलाकन्द, तालमखाना और लोध इनके रस अथवा काढे के प्रत्येक के ३-३ पुट देवे, तत्पश्चात् दूध, दही, घी, शहद और मिश्री का एक एक पुट देने से अभ्रकभस्म हो जाती है। यह भस्म सर्वरोगनाशक, योगवाही (जिस प्रकार के योग के अनुपान, सहपान आदि से दी जावे वैसा ही कार्य करती है अर्थात् जिस प्रकार का इसके साथ संयोग किया जावेगा तदनुसार फल देगी; किन्तु साथ ही अपने विशिष्ट गुण को पूर्णतः सुरक्षित रखती है), स्त्रियों के मद को चूर्ण करनेवाली, नपुंसकता को नष्ट करने वाली, शरीरपुष्टि, आयु और वीर्य की वृद्धि और प्रजोत्पादक होती है ॥ १२४-१२९ ॥

दुग्धत्रयं[1] कुमार्यम्बु गङ्गापुत्रं[2] नृमूत्रकम् ॥ १३० ॥
वटशुङ्गमजारक्तमेभिरभ्रं सुमर्दितम्।
शतधा पुटितं भस्म जायते पद्मरागवत् ॥ १३१ ॥ इति शतपुटि।

दुग्धेत्यादि। दुग्धत्रयं-स्नुह्यर्कवटक्षीरं, कुमार्यम्बु, गङ्गापुत्र-मुस्तकं, नृमूत्रकं, वट-शुङ्ग-न्यग्रोधाङ्कुरम्, अजारक्तं चैभिः पूर्वोक्तैरभ्रं सुमर्दितं शतधा अग्निपुटं च पद्मरागवत् भस्म जायते ॥ १३०-१३१ ॥

शतपुटी अभ्रकभस्म—वड का दूध, थूहर का दूध, आक का दूध, नागरमोथा, मनुष्य का मूत्र, वड की कोंपल और बकरी का रक्त (खून) इनसे अभ्रक को मर्दन करके सौ सौ वार पुट देने से पद्मराग के समान लाल भस्म हो जाती है। प्रत्येक द्रव्य के १४-१४ पुट देने से

---

१ दुग्धत्रयमिति वटदुग्ध, स्नुहीदुग्धं च। २. गङ्गापुत्र-भद्रमुस्ता, इति ग्रन्थकार.।

यह कार्य हो जाता है। जहाँ तक बने उल्लिखित क्रम से ही औषधियों का पुटार्थ ग्रहण करना चाहिए॥ १३०-१३१॥

श्रीगोविन्दपादास्तु अन्यान्येव गगनमारकाणि भेषजानि लिखन्तिः यथा— अर्कदुग्धं १, वटदुग्धं २, सेहुण्डदुग्धं ३, घृतकुमारी ४, पञ्चाङ्गुलमूलपत्राणि ५, काकमाची ६, मुस्ता ७, वटप्ररोहः ८, वस्तशोणितं ९, विल्वमूलपत्राणि १०, अग्निमन्थः ११, टिण्डुकः १२, पाटली १३, श्रीपर्णी १४, शालिपर्णी १५, पृश्निपर्णी १६, कण्टकारी १७, कदम्बः १८, बृहती १९, गोक्षुरः २०, तिलपर्णी २१, खरमञ्जरी २२, गुडः २३, सिद्धार्थको धवलः २४, पालङ्क्या २५, मालती २६, गोमूत्रम् २७, हरीतकी २८, धात्री २९, विभीतकः ३०, तालीशपत्रं ३१, चित्रकमूलपत्रं ३२, जलकुम्भी ३३, तालमूली ३४, वृषः ३५, वाजिगन्धा ३६, अगस्त्यपत्रं ३७, भृङ्गराजः ३८, कदलीकन्दरसः ३९, सप्तपर्णः ४०, देवदारु ४१, गुडूची ४२, धत्तूरः ४३, कासमर्दकः ४४, मातुलानी ४५, लोध्रः ४६, तुलसी ४७, दूर्वा ४८, मूषकपर्णी ४९, रजनी ५०, दाडिमपल्लवा ५१, वोण्टा ५२, शङ्खपुष्पी ५३ नागवल्ली ५४, पिण्डीतगरं ५५, श्वेतपुनर्नवा ५६, हिलमोचिका ५७, मण्डूकपर्णी ५८, तिक्तिका ५९, मदनः ६० इत्यादिभिर्मर्दनपुटनैरेकैकेनाप्यभ्रको मारणीयः। इति अभ्रकमारणीयगणः। आभिर्यथालाभं सहस्रपुटा देयाः। यथासंख्यं च प्रत्येकं सप्तदश पुटाः प्रायशो भवन्ति। एवं सहस्रसंख्या पूर्यते॥ १३२॥ इति सहस्रपुटि॥

श्रीत्यादि। तु-पुनः यथाप्राप्तं व्यस्तैः समस्तैर्वा सहस्रपुटा देयाः। यथाक्रमं च प्रत्येकं सप्तदश पुटाः प्रायशो भवन्तीति सरलार्थः। एवं विंशत्यधिकसहस्रसङ्ख्या जायते षष्ट्यौषध्यः सप्तदशसङ्ख्याया विभाजिताश्चैतेषामिति तात्पर्यम्। विशेषस्त्वत्र रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'पाठा शुक्लपुनर्नवाऽमृतलता हसा रसाजीविनी, कौमारी वटपाद-निम्बुसुरसा गन्धाश्मचूर्णं बला। गोजिह्वा हिलमोचिका च रजनी भेका विशाला हिमो, निर्गुण्डी घननादिनी मधुरसा शृङ्गी च धेन्वादिनी॥ चाङ्गेरी गिरिकर्णिका च वदरी जम्बीरपूरार्द्रकं, श्रीपर्णी च करण्टिका कुनटिका काकाण्डिका माचिका। एतेषां स्वरसैर्विमर्दनवशान्नागाह्वयैव पुटैः र्लोहं याति मृतिं तथाऽभ्रमपि वै नैवापरा स्यान्मृतिः॥' इति॥ १३२॥

श्रीमद्गोविन्द भगवत्पादाचार्य के मत में अन्य ६० औषधियाँ अभ्रक मारण के लिए कही गई हैं जो कि मूल में लिखी हैं। सुगम होने से उनका भाषा में उल्लेख नहीं किया गया है। इनका यथाप्राप्त १००० भावनापूर्वक पुट देना चाहिए। यह स्मरण रहे कि पहले ग्रन्थकार ने यह स्पष्टीकरण कर दिया है कि जहाँ हजार पुट देना हो वहाँ केवल मारक द्रव्य की भावना ही दी जावे उसका विशेष मर्दन नहीं करना चाहिए। ऊपर जो औषधियाँ कही हैं प्रत्येक का क्रमश १७-१७ पुट देना चाहिए॥ १३२॥

यथारुणभस्मन आकाङ्क्षा भवति चेत्तत्प्रकारो रसपद्धत्या—

अथ नागवलाभद्रमुस्ताक्वाथैर्वटस्य च।
दुग्धैर्वटजटातोयैर्हरिद्रावारिणाऽपि च॥ १३३॥

मञ्जिष्ठाक्वाथतोयेन सर्वैरेभिर्यथाक्रमम् ।
पुटितं भावनायोगाच्चरमे पुटने मुहुः ॥ १३४ ॥
जायते ह्यरुणं चाति भस्म वज्राभ्रकोद्भवम् ।

अथेत्यादि । अथ नागबला-गाङ्गेयी, भद्रमुस्ता-नागरमुस्ता, अनयोः क्वाथैः, वटस्य दुग्धैर्वटजटातोयैर्हरिद्रावारिणा तथा मञ्जिष्ठाक्वाथतोयेन च एभिः-पूर्वोक्तैः समस्तौषधिभिर्यथाक्रम् उत्तरोत्तरक्रमेण मुहुः चरमे पुटने पुटद्वये त्रये वा उर्वरिते भावनायोगात् पुटितं अत्यरुणं वज्राभ्रकोद्भवं भस्म जायते । अत्र वैद्यवरः श्रीबिन्दुस्तु ह्यन्येषां मतं प्रकटयन् अन्यथैव पठति व्याख्यानयति च-'गाङ्गेयीवटदुग्धमूलसलिलैः पीतारुणा वारिणा, तत्केचित्तु विभावयन्ति चरमे द्वित्र्येकपाकान्तरे । वर्णार्थं, त्वथ तद्वपुर्वलकरं वृष्यं प्रमेहापहमिति' व्याख्या-गाङ्गेयी-नागबला मुस्ता वा, वटदुग्धं-न्यग्रोधदुग्धम्, अथवा तस्य मूलसलिलैः, तथा पीता-हरिद्रा, अरुणा-मञ्जिष्ठा, अनयोर्वारिणा क्वाथेन भावयन्ति केचित् । द्वित्र्येकपाकान्तरे चरमपुटद्वये त्रये वा उर्वरिते भावना देयेत्यर्थः ॥ १३३-१३४ ॥

अभ्रक भस्म यदि लालवर्ण की बनानी हो तो, नागबला नागरमोथा, वड की जटा, हलदी और मजीठ इनका क्वाथ तथा वड के दूध की भावना दे देकर पुट देवे किन्तु यह ध्यान रहे कि जब अभ्रक भस्म बनकर तयार हो जावे उसके बाद ही आखिर के दो-तीन पुट, इनकी भावना देकर, देने चाहिए । इन पुटों के देने के बाद यदि और किन्हीं द्रव्यों के पुट दिये जावेंगे तो वर्ण में अन्तर आ जावेगा ॥ १३३-१३४ ॥

अथैवं मृतस्याभ्रकस्यामृतीकरणाख्यः संस्कार उक्तः । अरुणभस्मनस्तु पुनरमृतीकरणेन गुणवृद्धिर्वर्णहानिश्च भवति ॥ १३५ ॥

अथेत्यादि । सुगमम् ॥ १३५ ॥

इसके बाद अभ्रक-भस्म का अमृतीकरण संस्कार कहते हैं किन्तु लाल भस्म में अमृतीकरण करने से गुणवृद्धि और वर्णहानि होती है ।

वक्तव्य—जब अभ्रक की भली प्रकार की भस्म हो जाती है, उसके पश्चात् यह अमृतीकरण संस्कार क्या है ? शास्त्रोक्त विधि से यह सिद्ध मान लिया जाता है कि अभ्रक की उत्तम भस्म हो गई है तब वह तो अमृत के समान हो ही गई फिर यह विशेष संस्कार किस लिए और इसके करने से जिस अभ्रक भस्म के वर्ण का निर्माण किया जाता है और यह अमृतीकरण उस वर्ण की हानि कर देता है तब इससे लाभ क्या ? अमृतीकरण संस्कार भी प्रायशः अभ्रक और ताम्र के लिए ही देखने में आता है । कारण यह है कि अभ्रक और ताम्र ये दोनों द्रव्य विशेष प्रभावी हैं । इनमें यत्किंचित् भी अपक्वता या दोष रह जाता है तो वह भयकर अपाय कर हो सकता है अतः अवशेष रहे दोष के परिहारार्थ अमृतीकरण किया जाता है । अमृतीकरण करने से शेष दोष का नाश हो जाता है और गुणों की वृद्धि हो जाती है अर्थात् अवगुण का नाश हो गुणवृद्धि होती है । जैसे कि—**'लोहादीनां मृतानां वै शिष्टदोषापनुत्तये । क्रियते यस्तु संस्कारो ह्यमृतीकरणं मतम् ।'** इसके अतिरिक्त अग्नि की तीक्ष्णता से भस्म में जो एक प्रकार की कठोरता उत्पन्न हो जाता है वह अमृतीकरण से दूर होकर मृदुता का निर्माण होता है तथा शरीर घटकों में घुल मिल कर कार्य करने की औषध क्रिया की निर्मिति होती है । अभ्रक भस्म में चन्द्रिका रह जाना स्वाभाविक है और सचन्द्र अभ्रक भस्म का सेवन भयकर अपायकर है अतः यदि अमृतीकरण कर लिया जाता है तो अवशेष चन्द्रिका दोष का परिहार हो जाता है ।

चन्द्रिका में जो एक प्रकार की तीक्ष्णता और कठोरता होती है जिससे शरीर के अवयवों और आँतों में छिद्र हो जाने का भय माना जाता है वह दोष अमृतीकरण करने के पश्चात् नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ताम्र की उष्णता और वामकता अमृतीकरण से नष्ट हो जाती है अतः अमृतीकरण संस्कार अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है। सब धातुओं का न किया जावे तो अभ्रक और ताम्र का तो करना ही चाहिए। उसकी विधि नीचे दी जा रही है॥

तद्यथा—

त्रिफलोत्थकषायस्य पलान्यादाय षोडश।
गोघृतस्य पलान्यष्टौ मृताभ्रस्य पलान् दश॥ १३६॥
एकत्र्यं लोहपात्रे तु पाचयेन्मृदु वह्निना।
द्रवे जीर्णे समादाय सर्वरोगेषु योजयेत्॥ १३७॥

त्रिफलेत्यादि। त्रिफलोत्थकषायस्य षोडशपलान्यादाय तथा गोघृतस्याष्टौ पलानि, मृताभ्रस्य दशपलानि च, पुनर्लोहपात्रे एकत्र्य कृत्वा मृदुवह्निना पाचयेत्। द्रवे जीर्णे सति समादाय सर्वरोगेषु योजयेत्॥ १३६-१३७॥

अमृतीकरण विधि—त्रिफला का काढ़ा १६ पल, गाय का घी ८ पल, अभ्रकभस्म १० पल इन तीनों को एक लोहे के पात्र में डाल कर स्वल्पाग्नि से पाक करे, द्रव भाग जीर्ण होने पर निकाल कर सर्वत्र प्रयोग करे॥ १३६-१३७॥

अथान्यत्राऽपि—

वराम्बु गोघृतं चाभ्रं कलाषड्दिक्समांशकम्।
मृद्वग्निना पचेल्लौह्याममृतीकरणं त्विदम्॥ १३८॥

वरेत्यादि। वराम्बु-त्रिफलाकषाय कला षोडशतोलकमितं गोघृतं षट्तोलकम्, अभ्रं च दिक्समांशकं दशतोलकं लौह्याम्–लोहस्य लघुकटाहे, एकत्र कृत्वा मृद्वग्निना पचेत्। इदममृतीकरणं जायते॥ १३८॥

दूसरी विधि—त्रिफला का काढ़ा १६ तोला, गाय का घी ६ तोला और अभ्रकभस्म १० तोला इन तीनों को लेकर लोह-पात्र में स्वल्पाग्नि से पाक करे। यह अभ्रकभस्म का अमृतीकरण संस्कार है॥ १३८॥

गोघृतेनैवामृतीकरणमुक्तं तद्यथा—

तुल्यं घृतं मृताभ्रेण लोहपात्रे विपाचयेत्।
घृते जीर्णे ततश्चूर्णं सर्वकार्येषु योजयेत्॥ १३९॥

तुल्यमित्यादि। मृताभ्रेण तुल्यं गोघृतं, लोहपात्रे एकत्र विधाय मन्दाग्निना विपाचयेत्। घृते जीर्णे सति ततश्चूर्णं सर्वकार्येषु योजयेत्॥ १३९॥

केवल गोघृत से ही अभ्रक का अमृतीकरण—गाय का घी और अभ्रक-भस्म दोनों को समान भाग लेकर लोहे के पात्र में स्वल्पाग्नि से पकावे। जब द्रव भाग नष्ट हो जावे तब इसका सर्वत्र प्रयोग करे॥ १३९॥

अथाभ्रकसेविनां वर्ज्यपदार्था कथ्यन्ते—

क्षाराम्लविदलं कोलं कर्कटीकारवेल्लकम्।
वृन्ताकं च करीरं च तैलं चाभ्रे विवर्जयेत्॥ १४०॥

क्षारेत्यादि । स्पष्टम् ॥ १४० ॥

अभ्रक सेवन में वर्ज्य वस्तुएँ—क्षार, अम्ल, विदल अन्न (चना, उडद आदि जिनके दो दल अलग-अलग होते हैं), ककडी, करेला, भटा (बैंगन), कैर (टैंटी) और तेल इनको और इनके बने पदार्थों को अभ्रक सेवन करनेवाला न खावे ॥ १४० ॥

चूर्णीकृतं गगनपत्रमथारनाले
धृत्वा दिनैकमवशोष्य च सूरणस्य ।
भाव्यं रसैस्तदनु मूलरसैः कदल्याः
पादांशटङ्कणयुतं शफरैः समेतम् ॥ १४१ ॥
पिण्डीकृतं तु बहुधा महिषीमलेन
संशोष्य कोष्ठगतमाशु धमेद्धठाग्नौ ।
सत्त्वं पतत्यतिरसायनजारणार्थं
योग्यं भवेत्सकललोहगुणाधिकं च ॥ १४२ ॥

चूर्णीकृतमित्यादि । गगनपत्रं चूर्णीकृत विधाय, आरनाले-काञ्जिके दिनैक धृत्वा अवशोष्य च सूरणकन्दस्य रसैर्भाव्यं तदनु कदल्या मूलरसैः संभाव्य पादांशटङ्कणयुतं शफरैः-पादिकैर्मत्स्यैः समेतं महिषीमलेन कर्णमलेन वा केचित्, बहुधा-पिण्डीकृतं तस्य तोलकतोलकमितान् गोलकान् विधायेत्यर्थः । संशोष्य कोष्ठगतम्-अधःपातनकोष्ठिकायन्त्रे रचितमाशु हठाग्नौ धमेत् । अति-भृशम् अभ्रसत्त्वं पतति तद्रसायनजारणार्थं योग्य भवेत् । समस्तेभ्यो लोहादिधातुभस्मगुणेभ्योऽप्यधिकगुणकरमिति तात्पर्यम् । अधःपातनकोष्ठिकायन्त्रलक्षण रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'दृढभूमौ चरेद्गर्तं वितस्त्या सम्मित शुभम् । वर्तुल चाथ तन्मध्ये गर्तमन्यं प्रकल्पयेत् ॥ चतुरङ्गुलविस्तारनिम्नत्वेन समन्वितम् । गर्ताद्धरणिपर्यन्त तिर्यङ्नालसमन्वितम् ॥ किञ्चित्समुन्नत बाह्ये गर्ताभिमुखनिम्नकम् । मृच्चक्रं पञ्चरन्ध्राढ्य गर्भगर्तोपरि क्षिपेत् ॥ आपूर्य कोकिलैः कोष्ठी प्रधमेदेकभस्त्रया । पातालकोष्ठिका ह्येषा धातूना सत्त्वपातिनी ॥' इति । सत्त्वपातनविधौ रसपद्धतिटीकायामप्युक्तो यथा-'कासमर्दतण्डुलीयकवासापुनर्नवाकाण्डवल्लीहसपादीमत्स्याक्षीभिर्भावयित्वा शोषयित्वा पलमात्रगोधूमचूर्णं क्षुद्रमत्स्यटङ्कणादिक दत्त्वा, मर्दयित्वा पश्चाच्छोषयित्वा, महिषीगवाजगजाश्वविट्पञ्चक गृहीत्वा, तेन सह मर्दयित्वा, तिन्दुकप्रमाणान् गोलकान् कृत्वा, अधःपातनकोष्ठ्या ध्मात्वा सत्त्वं निपातयेत् । तस्मात्किट्ट गृहीत्वा स्फोटयित्वा क्षुद्रकणिकान् गृहीत्वा, पश्चाद्रोमयेन टङ्कणेन सह विमर्दनं विधाय, गोलकान् विधाय ध्मात्वा, पुनः क्टि्टात् खकान्निष्कास्य, तान् घनकास्यसदृशान् खकान् कृत्वा, काञ्जिकाम्ले शोधयित्वा, मूषामध्ये दत्त्वा, अन्धमूषा कृत्वा, सम्यक् पुनर्धमेत् । तत्सत्त्व चूर्णं कृत्वा, गोघृतेन खर्परे भृष्ट्वा, यावत्तृणदाहो भवति तावद्भर्जनं कृत्वा, पश्चाद्वटस्कन्धकषायगन्धकेन समर्द्य, पुनस्त्रिफलादिभिः पूर्वोक्तादिभिर्भावयित्वा विंशतिवार षष्टिवारं शतवार पुटयित्वा सत्त्वभस्म संपाद्यम् । तच्च सर्वेषु रोगेषु योजनीयम् । महत्सुखकर च भवति । अन्येऽपि प्रकारा ग्रन्थान्तरतो ज्ञेया ।'

---

१ पिण्डीकृत तु बहुधेत्यस्य व्याख्या-तिन्दुकप्रमाणान् बहुपिण्डान् गोलकान् कृत्वेत्यर्थं । कोष्ठगतमिति व्याख्या-अधःपातनकोष्ठ्या स्थापितम् , इति ग्रन्थकार. ॥

केचित्तु अमारितादभ्रादेव सत्त्वपातनमभिमन्वते यथा–यतोऽमारितादभ्रादधिकं सत्त्वं निष्कास्यते न तु शतधा सहस्रधा वा पुटितादभ्रात्तत्सत्त्वस्यापि भस्मीभावात् ॥१४१–१४२॥

अभ्रक की सत्त्वपातनविधि—अभ्रक के पत्तों का चूर्ण करके एक दिन तक काँजा में रखकर सुखा ले तत्पश्चात् सूरणकन्द और केले के मूल रस की क्रमश भावना देकर अभ्रक से चौथाई भाग सुहागा और छोटी मछलियाँ मिलाकर कुन्दरू के बराबर के बहुत से गोले भैंस के गोबर अथवा कर्णमल में बनाकर सुखा ले, सूखने पर कोष्ठिकायन्त्र में रखकर तीक्ष्णाग्नि से धमन करे तो तत्काल अभ्रकसत्त्व पातन हो जाता है। यह रसायन जारण के लिए उत्तम तथा सपूर्ण लोह-भस्मों से अधिक गुणी होता है ॥ १४१–१४२ ॥

एवं पतिते सत्त्वे ततः किं कार्यं तदाह—

कणशो यद्भवेत्सत्त्वं मूषायां प्रणिधाय तत् ।
मित्रपञ्चकयुग्ध्मातमेकीभवति घोषवत् ॥ १४३ ॥
घृतमधुगुग्गुलुगुञ्जाटङ्कणमेतत्तु मित्रपञ्चकं नाम ।
मेलयति सप्तधातूनङ्गाराग्नौ तु ध्मानेन ॥ १४४ ॥

कणश इत्यादि। कणशः–कणिकास्वरूपं यत् सत्त्वं भवेत् तत्सत्त्व समभागमित्रपञ्चकसहित मूषायां प्रणिधाय तीव्राग्नौ ध्मातं सत्, घोषवदेकीभवति। घृतं, मधु, गुग्गुलु, गुञ्जा, टङ्कण चैतत्पञ्चक मित्रपञ्चकनाम्ना प्रसिद्धम्। एभिरङ्गाराग्नौ ध्मानेन सप्तधातून् स्वर्णादिलोहसप्तक मेलयति किमुतोऽभ्रकसत्त्वस्येति भावः। तु शब्देन मृतधातुमुज्जीवयतीत्यपि द्योत्यते ॥ १४३–१४४ ॥

अभ्रकसत्त्व का एकीकरण—अभ्रकसत्त्व के कणों को समान भाग मित्रपञ्चक में मिलाकर मूषा में रखे और धमन करे तो गोले के समान इकट्ठा हो जाता है। घी, शहद, गूगल, गुञ्जा और सोहागा यह मित्रपचक कहलाता है इसके सयोग से धमन करने पर सातों धातुएँ मिल जाती हैं ॥

अथास्य सत्त्वस्य शोधनमारणमाह—

अयोवच्छोधनं तस्य मारणं तद्वदेव तु ।
यद्वा–मारितं ताम्रवद्गन्धपारदाभ्यां नियोजयेत् ॥ १४५ ॥

'मारणं तद्वदेव तु' व्याख्या—त्रिफलादिभिर्लोहवद्भावयित्वा विंशतिवारं षष्टिवारं शतवारं वा पुटयित्वा सत्त्वभस्म संपाद्यं भक्षणार्थं, रसे जारणार्थं तु शोधयित्वा जार्यमिति ग्रन्थकार ॥ १४६ ॥

अथ इत्यादि। सुगमम् ॥ १४५–१४६ ॥

अभ्रक सत्त्वका शोधन और मारण लोहे के तुल्य होता है अथवा तावे के समान अभ्रक सत्त्व का मारण भी गन्धक और पारे के सयोग से करके प्रयोग करे। त्रिफलादिकों से लोहे के समान भावना देकर २०, ६० और १०० पुट देकर अभ्रक सत्त्व की भस्म करे। यह केवल भक्षण के लिए है। पारे में जारणा करने के लिए तो शुद्ध अभ्रक सत्त्व ही ग्रहण होता है ॥ १४५–१४६ ॥

अथास्य गुणा—

शिशिरं सत्त्वमभ्रस्य त्रिदोषघ्नं रसायनम् ।
विशेषात्पुंस्त्वकारि स्याद्वयसः स्तम्भनं परम् ॥ १४७ ॥
नानेन सदृशं किञ्चिद्भैषज्यं पुंस्त्वकृत्परम् ।

सत्त्वसेवी वयःस्तम्भं लभते नात्र संशयः ॥ १४८ ॥

शिशिरमित्यादि । अभ्रस्य सत्त्व शिशिर, त्रिदोषघ्न, रसायनं, विशेषात् पुंस्त्वकारि, अत्यर्थं वयसः स्तम्भन च स्यात् । अनेन-अभ्रकमत्त्वेन सदृश द्वितीय पुंस्त्वकृत् किञ्चित् भेषज्यं नास्ति । सत्त्वसेवी वयःस्तम्भ लभते ॥ १४७-१४८ ॥

अभ्रकसत्त्व के गुण—अभ्रकसत्त्व ठंढा, रसायन और त्रिदोषघ्न होता है तथा विशेषतः पुंस्त्वकारी तथा वयःस्थापक है। इस के समान जगत में दूसरा पुंस्त्वकर कोई औषध नहीं है। अभ्रकसत्त्व का सेवन करनेवाला अवश्य वयःस्थापन को प्राप्त होता है ॥ १४७-१४८ ॥

अथान्यच्च—

सर्वेषामुपपूर्वाणां रसानां सत्त्वमारणम् ।
कर्त्तव्यं भस्मसूतेन गन्धकेनाग्निगर्भके ॥ १४९ ॥
यत्रोपरसभागोऽस्ति रसे तत्सत्त्वयोजनम् ।
कर्त्तव्यं तु गुणाधिक्याद्रसज्ञत्वमभीप्सता ॥ १५० ॥

सर्वेषामित्यादि । उपपूर्वाणा सर्वेषा रसाना अभ्रादीनां सत्त्वमारण भस्मसूतेन गन्धकेन च सार्धं अग्निगर्भके कोकिलाङ्गारमध्ये कर्त्तव्य रसज्ञत्वमभीप्सता भिषजा, यत्र रसे-लक्ष्मीविलासादिके उपरसभागोऽस्ति तत्र तेषामुपरसानां सत्त्वयोजन कर्त्तव्यम्, गुणाधिक्यात्-प्रचुरफलदायित्वाच्च ॥ १४९-१५० ॥

सम्पूर्ण उपरसों के सत्त्व का मारण पारद भस्म और गन्धक से अग्नि में करे। जिस रस में उपरस का भाग कहा हो वहां पर उसके सत्त्व का प्रयोग करना अधिक गुणकारी होता है ॥

अथ सामान्यतः सर्वेषां सत्त्वपातनमुच्यते—

गुडः पुरस्तथा लाक्षा पिण्याकं टङ्कणं तथा ।
ऊर्णा सर्जरसश्चैव क्षुद्रमीनाः समांशकम् ॥ १५१ ॥
सत्त्वपातनवर्गेण संयुक्तं खल्वमध्यके ।
एतत्सर्वं तु संचूर्ण्य छागदुग्धेन पिण्डिकाः ॥ १५२ ॥
पाषाणमृत्तिकादीनां लोहानां च पृथक् पृथक् ।
अन्येषामप्यसाध्यानां व्योमसत्त्वस्य का कथा ॥ १५३ ॥

गुड इत्यादि । शेषं स्पष्टम् ॥ १५१-१५३ ॥

सम्पूर्ण उपरसों के सत्त्वपातन का सामान्य प्रकार—गुड, गूगल, लाख, खली, सुहागा, ऊन, राल और छोटी मछलियाँ इनको समान भाग लेकर सत्त्वपातन वर्ग के साथ खरल में चूर्ण करके बकरी के दूध से चकत्तियां बनाकर तीक्ष्णाग्नि में धमन करने से सभी उपरस अवश्य सत्त्व को छोड देते हैं। पत्थर, मिट्टी आदि तथा लोहों का सत्त्वपातन भिन्न भिन्न होता है, इस विधि से अभ्रक का ही नहीं, किन्तु अन्य असाध्य वस्तुओं का भी सत्त्वपातन हो जाता है ॥

अथ सत्त्वप्रसङ्गाद् द्रुतयोऽपि लिख्यन्ते, अत्र केचिद्वदन्ति—

द्रुतयो नैव जायन्ते शास्त्रे प्रोक्ता अपि ध्रुवम् ।
विना शम्भोः प्रसादेन न सिद्ध्यन्ति कदाचन ॥ १५४ ॥

इत्येवमस्तु, तथाऽपि शास्त्ररूढत्वात्कदाचिद्भाग्ययोगाच्छङ्करभक्त्या सिद्ध्यन्ति, अतो मयाऽत्र लिख्यन्ते, यथा ॥ १५५ ॥

अत्रेत्यादि । व्याख्यातमेव पूर्वम् ॥ १५४-१५५ ॥

इस पद्य की भाषा पहले प्रथम अध्याय श्लोक २९५ में कर दी है ॥ १५४-१५५ ॥

यथा—

अगस्त्यपत्रनिर्यासैर्मर्दितं धान्यकाभ्रकम् ।
सूरणोदरमध्ये तु निक्षिप्तं लेपितं मृदा ॥ १५६ ॥
गोष्ठभूमौ खनित्वा तु हस्तमात्रे हि पूरितम् ।
मासान्निष्काशितं तत्तु जायते पारदोपमम् ॥ १५७ ॥

अगस्त्येत्यादि । धान्याभ्रकम् अगस्त्यपत्रनिर्यासैः खल्वे मर्दित पुनः सूरणोदरमध्ये निक्षिप्त ततो मृदा लेपित शुष्कं च कृत्वा गोष्ठभूमौ हस्तमात्रे खनित्वा तत्र पूरितं तद्द्रव्यं मासान्निष्काशितं च पारदोपमं जायते । इत्यभ्रकद्रुति ॥ १५६-१५७ ॥

अभ्रक की द्रुति—धान्याभ्रक को अगस्तिया के पत्तों के रस में मर्दन कर सूरणकन्द में रख कर मिट्टी से लेप करे और गाय के स्थान में एक हाथ खड्डा खोदकर गाड दे, एक महीने पर निकाले तो पारे के समान द्रव हो जाता है ॥ १५६-१५७ ॥

निजरसवहुपरिभावितसुरदालीचूर्णमात्रवापेन ।
द्रवति, पुनः संस्थानं भजेत गगनं न कालेऽपि ॥ १५८ ॥

निजेत्यादि । निजरसेन-स्वीयस्वरसे वहु-शतधा परिभावितं सुरदालीचूर्णमात्रम् तस्यावापेन-प्रक्षेपणेन गगनं द्रवति । एव द्रुत च तत्पुनः कालेऽपि-वहुसमये व्यतीतेऽपि संस्थानं-कठिनस्वरूपा स्वां पूर्वतनीमाकृतिं न भजते । सुरदाली देवदाली । इत्यभ्रद्रुतिः ॥ १५८ ॥

अभ्रकद्रुति का दूसरा प्रकार—अपने ही अङ्गरस से अनेक भावना दिये हुये देवदाली के केवल चूर्ण का प्रतिवाप देने से अभ्रक द्रवित हो जाता है और वह पुन. पूर्व अवस्था को प्राप्त नहीं होता ॥ १५८ ॥

निजरसशतपरिभावितकञ्चुकिकन्दोत्थचूर्णपरिवापात् ।
द्रुतमास्तेऽभ्रकसत्त्वं तथैव सर्वाणि लोहानि ॥ १५९ ॥

अभ्रकसत्त्व वह्निसंयोगेन द्रुतमास्त इति प्रतिपादयन्नाह-निजेत्यादि । निजरसेन-स्वीयद्रवेण शतपरिभावितं-शतवार सम्यग्भावितं यत् कञ्चुकिकन्दोत्थचूर्णं तस्य परिवापात्-प्रक्षेपणतोऽभ्रकसत्त्वं द्रुतमास्ते-द्रवरूप यथावदवतिष्ठते, तथैव सर्वाणि लोहानि स्वर्णादिधातूनि द्रुतान्यवतिष्ठन्ते ॥ १५९ ॥ इत्यभ्रकसत्त्वद्रुति सर्वलोहद्रुतिश्च ॥

तीसरा प्रकार—अपने ही स्वरस से १०० भावना दिये हुए कञ्चुकीकन्द के चूर्ण का अभ्रक सत्त्व में प्रतिवाप देने से द्रवित हो जाता है । इसी प्रकार से अन्य लोह भी ॥ १५९ ॥

अथानेकद्रुतिमेलनमाह—

कृष्णागुरुणा मिलितै रसोनसितरामठैरिमा द्रुतयः ।
सोष्णे मिलन्ति घृष्टाः स्त्रीकुसुमपलाशबीजरसैः ॥ १६० ॥

कृष्णेत्यादि। इमाः-प्रागुक्ताः सर्वा द्रुतयः कृष्णागुरुणा मिलिताः रसोनसितरामठैः-लशुनश्वेतहिङ्गुभिः, स्त्रीकुसुमपलाशबीजरसैः-स्त्रीकुसुम-स्त्रिया रजः पलाशबीजरसैश्च सोऽपि-तप्तखल्वे घृष्टा सन्तो मिलन्ति, पारस्परिक विभिन्नद्रव्यजन्यत्वादिभेदमपहाय एकीभवन्ति ॥ १६० ॥

अनेक द्रुतियों का मेलनप्रकार—पूर्वोक्त द्रुतियां काली अगर, लशुन, सफेद हींग, स्त्री का रज और पलाश के बीजों के रस से तप्तखल्व में मर्दन करने से एक हो जाती हैं ॥ १६० ॥

अथ मुक्ताफलानां द्रुतिं तथाऽन्येषामपि रत्नानां द्रुतिप्रकारमाह—

मुक्ताफलानि सप्ताहं वेतसाऽम्लेन भावयेत्।
जम्बीरोदरमध्ये तु धान्यराशौ निधापयेत् ॥ १६१ ॥
पुटपाकेन तच्चूर्णं द्रवते सलिलं यथा।
कुरुते योगराजोऽयं रत्नानां द्रावणं प्रिये ॥ १६२ ॥

मुक्ताफलानीत्यादि। मुक्ताफलानि वेतसाऽम्लेन सप्ताहं यावद्भावयेत्, पुनः जम्बीरोदरमध्ये निधाय धान्यराशौ निधापयेत। ततः पुटपाकेन पक्वं तच्चूर्णं द्रवते यथा सलिलं, हे प्रिये, अयं योगराजो रत्नानां द्रावणं कुरुते ॥ १६१-१६२ ॥

मोती और अन्य रत्नों की द्रुति का विधान—मोतियों को ७ दिन तक अम्लवेत की भावना देकर जम्भीरी निम्बू में भरकर धान्यराशि में गाड दे तत्पश्चात् पुटपाक करने से यह चूर्ण पानी के समान द्रवित हो जाता है। हे प्रिये, यह प्रयोग सपूर्ण रत्नों का द्रावणकर्ता है ॥ १६१-१६२ ॥

अगस्त्यपुष्पनिर्यासैर्मर्दितं सूरणोदरे।
गोष्ठभूस्थं घनं मासं जायते जलसन्निभम् ॥ १६३ ॥

इत्यपि धान्याभ्रकद्रुतिः। द्रुतीनां प्रयोगं तु रसेन्द्रे जारणार्थमुपयुज्यन्त इति ज्ञेयम् ॥

अगस्त्येत्यादि। अगस्त्यपुष्पनिर्यासैर्मर्दितं घनम् अभ्रं सूरणोदरे-छिद्रं विधाय तच्छिद्रे घनं भृत्वा तत्कन्दं गोष्ठभूस्थं मासं यावत्स्थापितं जलसन्निभं जायते ॥ १६३ ॥

धान्याभ्रक की द्रुति—धान्याभ्रक को अगस्तिया के फूल के निर्यास से मर्दन करके सूरणकन्द में बन्द करदे और गाय के स्थान में एक मास तक गाड कर रखे तो जल के समान पतला हो जाता है। यह भी धान्याभ्रक की द्रुति है। द्रुतियों का प्रयोग पारद जारण में ही किया जाता है ॥ १६३ ॥

अथाभ्रकस्य महाप्रयोगानाह—

लक्ष्मीविलासाभ्रकं तु शृङ्गाराभ्रकमेव च।
सम्यङ्मारितमित्यादि नित्यनाथोदिताभ्रकम् ॥ १६४ ॥
एते महाप्रयोगाश्च वीर्यस्तम्भाधिकारके।
लिखितास्ते मया नेह पुनरुक्त्या प्रकीर्तिताः ॥ १६५ ॥

लक्ष्मीत्यादि। लक्ष्मीविलासाभ्रकं शृङ्गाराभ्रकमेव। सम्यङ्मारितमित्यादि,। नित्यनाथोदिताभ्रक-रसरत्नाकराख्ये ग्रन्थे प्रतिपादितं चैते महाप्रयोगाः-लक्ष्मीविलासादयः वीर्यस्तम्भाधिकारके लिखिताः, अत्र पुनर्न प्रकीर्तिताः ॥ १६४-१६५ ॥

अभ्रक के महाप्रयोग—लक्ष्मीविलासाभ्रक, शृङ्गाराभ्रक और सम्यङ्मारिताभ्रक इत्यादि प्रयोग नित्यनाथ के रसरत्नाकर ग्रन्थ में वीर्यस्तम्भनाधिकार में कहे गये हैं। पुनरुक्तिभय से मैंने यहाँ पर उनको नहीं कहा है ॥ १६४-१६५ ॥

अन्यच्च—

निश्चन्द्रमभ्रकं भस्म धात्रीव्योपविडङ्गकम्।
भृङ्गाम्बुना जलैर्वाऽपि खल्वे मर्द्यं द्वियामकम् ॥ १६६ ॥
गुटिकां कारयेच्छ्लक्ष्णां छायाशुष्कां सुरक्षयेत्।
एकैकां भक्षयेत्प्राज्ञो वर्षमेकं निरन्तरम् ॥ १६७ ॥
द्वितीये तु पुनर्वर्षे भक्षयेद्गुटिकाद्वयम्।
एवं संवत्सरेणैव गुटिकैकां विवर्धयेत् ॥ १६८ ॥
त्रिवर्षस्य प्रयोगोऽयमभ्रकस्य प्रकीर्तितः।
अनेन क्रमयोगेन व्योम्नः शतपलं नरः ॥ १६९ ॥
अद्याद्भवेन्न संदेहो वज्रकायो महाबलः।
मासत्रयेण रक्ताख्यं क्षयं श्वासं सुदारुणम् ॥ १७० ॥
पञ्चकासांश्च हृच्छूलं ग्रहण्यर्शोगदांस्तथा।
आमवातं तथा शोषं पाण्डुरोगं सुदारुणम् ॥ १७१ ॥
मृत्युकल्पं महाव्याधिं वातपित्तकफोद्भवम्।
हन्त्यष्टादशकुष्ठानि नृणां पथ्याशिनां ध्रुवम् ॥ १७२ ॥

निश्चन्द्रेत्यादि। निश्चन्द्राभ्रक भस्म, धात्री, व्योषः, विडङ्गकम् एषां साम्यं स्यात्, एतत्सर्वमेकीकृत्य भृङ्गाम्बुना अथवा केवलेन नीरेणापि खल्वे द्वियामकं यावन्मर्द्यं ततः श्लक्ष्णां सचिक्कणां गुटिकां कारयेत् पश्चात्प्राज्ञो निरन्तरं वर्षमेकं यावत्, एकैकां गुटिकां भक्षयेत्। पुनर्द्वितीये तु वर्षे गुटिकाद्वयं भक्षयेत्। एवं संवत्सरेणैव गुटिकैकां विवर्धयेत्। त्रिवर्षस्याभ्रकस्यायं प्रयोगः प्रकीर्तितः। अनेन क्रमयोगेन नरो व्योम्नः—अभ्रकभस्मनः शतपलम् अद्यात्। तेन वज्रकायः, महाबलो भवेदिति न संदेहः। अस्य मासत्रयसेवनेन सुदारुणं रक्ताख्यं क्षयरोगं, श्वासं, पञ्चकासांश्च हृच्छूलं, ग्रहणीम्, अर्शोगदान्—षडर्शांसि, तथा आमवातं, शोषं, सुदारुणं पाण्डुरोगं, वातपित्तकफोद्भवं, मृत्युकल्पं महाव्याधिम् अष्टादशकुष्ठानि च पथ्याशिनां नृणां ध्रुवं हन्ति ॥ १६६-१७२ ॥ इत्यभ्रककल्पः ॥

दूसरा अभ्रकप्रयोग—निश्चन्द्र अभ्रकभस्म, आमला, सोंठ, मरिच, पीपल और वायविडङ्ग इनको समान भाग लेकर भागरे का रस अथवा जल से खरल में दो प्रहर घोटकर सुन्दर गोलियां बनाकर छाया में सुखावे, उनमें से एक एक गोली नित्य प्रति एक वर्षतक खावे। दूसरे वर्ष दो-दो गोली और तीसरे वर्ष तीन-तीन गोली खावे, इस प्रकार प्रतिवर्ष एक-एक गोली बढाता जावे, यह अभ्रक का प्रयोग तीन वर्ष का है। इस क्रम से १०० पल अभ्रक मनुष्य खा लेवे तो निःसन्देह वज्रकाय और महाबलिष्ठ हो जाता है। इसके ३ मास के प्रयोग से रक्तक्षय, कष्टसाध्य श्वास, पांच प्रकार की खासी, हृदय का शूल, संग्रहणी, बवासीर, आमवात, शोष, कष्टसाध्य पाण्डुरोग, त्रिदोष से उत्पन्न मृत्यु के तुल्य महाव्याधि और अठारह प्रकार का कुष्ठ इन सब रोगों को पथ्य से सेवन करनेपर यह प्रयोग अवश्य नष्ट कर देता है ॥ १६६-१७२ ॥

इसके आगे हरताल का वर्णन, उत्पत्ति और रासायनिक संघटन आदि का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

वंशपत्री हरताल का वर्णन—

यह जहरीली होती है। इसके पत्र (दल) चिकने, चमकदार और सोने के समान पीले होते हैं। पत्र एक के ऊपर दूसरा लगा हुआ भी होता है। पत्रों का पृथक् करण शीघ्र किया जा सकता है। इस को वंशपत्री हरताल कहते हैं। इसी का दूसरा नाम बगदादी हरताल भी है। यह हरताल ईरान से आता है और वही विशेष उत्तम और औषध कार्य के लिए उपयोगी होता है।

हरताल की उत्पत्ति—

यह नैसर्गिक खनिज द्रव्य होता है। खनिज द्रव्य के पीले (Prism) प्रिझम-तालमय स्फटिक तुल्य रवे होते हैं। काशगर और स्वात के उत्तर के पहाड़ों में पिंट हरिताल मिलता है।

हरताल का विलीनीकरण—

हरताल तेजाब में डालने से घुल जाता है, जवाखार में भी एकदम घुल जाता है और अॅमोनिया में सहज ही विलीन हो जाता है।

सोमल, हरताल और मैनसिल रासायनिक दृष्टि से तीनों एक जाति के द्रव्य हैं—यों ये तीनों द्रव्य देखने में भिन्न हैं किन्तु रासायनिक दृष्टि से इन तीनों द्रव्यों में आर्सेनिक नाम का एक ही तत्त्व मिलता है। सोमल-आर्सेनिक और आक्सीजन इन दो पदार्थों के संयोग से बनता है किन्तु हरताल और मैनसिल इन दोनों द्रव्यों में आर्सेनिक और गन्धक ये दो तत्त्व मिलते हैं। हरताल और मैनसिल इन दोनों के रासायनिक मिश्रण का प्रमाण न्यूनाधिक होने से दोनों के गुण-धर्म और रंग में अन्तर हो गया है। सोमल-सोमल की संघटना, रासायनिक सूत्र, और रासायनिक नाम-इसमें प्रति दो परमाणु आर्सेनिक के और तीन परमाणु ऑक्सिजन तत्त्व के होते हैं। इसका रासायनिक सूत्र (As_2O_3) होता है और रासायनिक नाम ऑर्सेनियम ऑक्साईड अथवा व्हाइट आर्सेनिक होता है। गौरीपाषाण, मल्ल, फेनाश्म और संखिया इत्यादि इसके पर्यायवाची नाम हैं।

यह काश्मीर प्रान्त, चित्राल, दार्जिलिंग के आस पास, बिहार में हजारीबाग प्रभृतिक स्थानों में आर्सेनिक न्यूनाधिक प्रमाण में लोहमाक्षिक में उपलब्ध होता है। संप्रति जो बाजार में सोमल मिलता है वह प्रायश यूरोप आदि देशों से तथा चीन और जापान से हिन्दुस्तान में आता है।

हरिताल की संघटना, रासायनिक सूत्र और रासायनिक नाम—इसमें प्रति दो परमाणु आर्सेनिक और तीन परमाणु गन्धक सत्त्व के होते हैं। इसका रासायनिक सूत्र (As_2So_3) होता है। इसका रासायनिक नाम 'आर्सेनिक ट्राइ सल्फाइड' है। व्यापार में इसको 'पीत आर्सेनिक ऑर्पिमेंट' अथवा हरताल कहते हैं।

तबकी हरताल- इसमें ३ भाग सोमल और २ भाग गन्धक होता है। यह कृत्रिम (बनावटी) हरताल होती है। सोमल और गन्धक दोनों को शुद्ध करके भली प्रकार घोट कर डमरू यंत्र में रख कर मंदाग्नि से पकाने से ऊपर उडकर लगने पर स्वांगशीतल होने पर निकाल लेना चाहिए। इस प्रकार निर्मित हरताल को शुद्ध नहीं करना चाहिए क्योंकि शुद्ध द्रव्यों से ही निर्मित है। इसकी पूर्ण विधि रसतरंगिणी-कारने लिखी है। यह बहुत ही अधिक विषैली होती है इसका औषधि कर्म में प्रायश प्रयोग नहीं किया जाता है। औषध के लिए पत्री हरताल ही उपयोगी है॥

आगे ग्रन्थकार हरिताल के नाम, लक्षण, गुण, शोधन और मारण को कहता है—

अथ हरितालस्य नामलक्षणगुणशोधनमारणानि वक्ष्यन्ते—

हरितालं तु तालं स्यादालं तालकमित्यपि ।
हरितालं द्विधा प्रोक्तं पत्राख्यं पिण्डसंज्ञकम् ॥ १७३ ॥
तयोराद्य गुणैः श्रेष्ठं ततो हीनगुणं परम् ।
स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धं सपत्रं चाभ्रपत्रकम् ॥ १७४ ॥
पत्राख्यं तालकं विद्याद् गुणाढ्यं तद्रसायनम् ।
निष्पत्रं पिण्डसंकाशं स्वल्पसत्त्वं तथा लघु ।
स्त्रीपुष्पहारकं स्वल्पगुणं तत् पिण्डतालकम् ॥ १७५ ॥

हरितालमित्यादि । शेषं सुगमम् ॥ १७३–१७५ ॥

अब हरताल के नाम, लक्षण, गुण, शोधन और मारण कहते हैं—हरताल, ताल, आल और तालक इत्यादि उसके नाम हैं। हरताल दो प्रकार की है एक पत्री हरताल ,और दूसरी पिण्डी हरताल, इन दोनों में पहली पत्री हरताल उत्तम और गुणों में श्रेष्ठ है, दूसरी उससे हीनगुणी होती है। पत्री हरताल सुवर्ण के समान वर्णवाली, भारी, चिकनी, अभ्रक के तुल्य पत्रोंवाली, उत्तमगुणी और रसायन होती है। पिण्डी हरताल पत्रों से रहित, पिण्डे के समान आकारवाली, अल्पसत्त्ववाली, हलकी, स्त्रीरज को नष्ट करनेवाली और स्वल्पगुणी होती है ॥ १७३–१७५ ॥

तालकगुणाः—

हरितालं कटु स्निग्धं कषायोष्णं हरेद्विषम् ।
कण्डूकुष्ठादिरोगास्रकफपित्तकचव्रणान् ॥ १७६ ॥

हरितालमित्यादि। कण्डू–पामा, कुष्ठादिरोगम् आदिशब्देनात्र विसर्पप्रभृतीनामं ग्रहणम् अस्र–रक्तविकारं, कफ पित्तं-कचव्रणांश्च समस्तान् हरेत् । शेषं स्पष्टम् ॥ १७६ ॥

हरताल के गुण—हरताल चरपरी, चिकनी, कसैली और उष्ण होती है तथा विष, पामा, कोढ, रक्तविकार, कफ, पित्त और रोम में होनेवाले व्रणों को नष्ट करती है ॥ १७६ ॥

अथाशुद्धस्यासम्यङ्मारितस्य च दोषानाह—

हरति च हरितालं चारुतां देहजाताम् ।
सृजति च बहुतापानङ्गसङ्कोचपीडा ॥
वितरति कफवातौ कुष्ठरोगं विदध्या-
दिदमशितमशुद्धं मारितं वाऽप्यसम्यक् ॥ १७७ ॥

हरतीत्यादि । अशुद्धम् अथवा सम्यक् मारितमपि हरितालं खादितं देहजाता चारुतां–सुन्दरता हरति, अङ्गसङ्कोचपीडा शरीराकुञ्चनकरान् विकारान् , बहुतापाश्च शरीरे सृजति, कफवातौ वितरति । कुष्ठरोग च विदध्यात् ॥ १७७ ॥

अशुद्ध तथा भलीभाँति भस्म न हुई हरताल के दोष—अशुद्ध और भली प्रकार भस्म न हुई हरताल का भक्षण शरीर की सुन्दरता को नष्ट करता है, शरीर में सुकड़न, सन्ताप और अतिशय पीड़ा करता है, कफ-वात को उत्पन्न करता है तथा कुष्ठरोगकारक होता है ॥ १७७ ॥

शोधितं हरितालं तु कान्तिवीर्यविवर्धनम् ।
कुष्ठादिपापरोगघ्नं जरामृत्युहरं परम् ॥ १७८ ॥
अशुद्धतालमायुघ्नं कफमारुतमेहकृत् ।
तापस्फोटाङ्गसङ्कोचान् कुरुतेऽतो विशोधयेत् ॥१७९॥

अथ शुद्धाशुद्धयोर्गुणावगुणौ चाह—शोधितमित्यादि । शोधितं हरितालं कान्तिवीर्यविवर्धनं कुष्ठादिपापरोगघ्नं परं जरामृत्युहरं भवतीति शेषः । अशुद्धतालम् आयुघ्नं कफमारुतमेहकृत् तापस्फोटाङ्गसङ्कोचांश्च कुरुते, अतो विशोधयेत् ॥ १७८–१७९ ॥

शुद्ध और अशुद्ध हरताल के गुण तथा अवगुण—शुद्ध की हुई हरताल शरीरकान्ति और वीर्य को बढ़ाती है कुष्ठ आदि सम्पूर्ण पापरोगों को नष्ट करती है तथा बुढ़ापा और मृत्यु को हरनेवाली है । अशुद्ध हरताल आयु को नष्ट करती है, कफ, वायु और प्रमेह को पैदा करती है तथा शरीर में सन्ताप, फोटा और अङ्गसकोच करती है, इसलिए हरताल का शुद्ध करके प्रयोग करना चाहिए ॥ १७८–१७९ ॥

अथ मृतलक्षणम्—

तालं मृतं तदा ज्ञेयं वह्निस्थं धूमवर्जितम् ।
सधूमं न मृतं प्राहुर्वृद्धवैद्या इति स्थितिः ॥ १८० ॥

इयं परीक्षा वृद्धानां मुखेभ्य एव श्रुत्वा मया पद्येन निबद्धा परं रसशास्त्रेषु कुत्रापि न दृष्टा, भवतु सत्येयं, न ह्यमूला प्रसिद्धिरिति न्यायात् ॥

तालमित्यादि । शेषं स्पष्टम् ॥ १८०–१८१ ॥

हरतालभस्म की परीक्षा—हरताल भस्म को अग्नि में डालकर देखना चाहिए, यदि अग्नि में डालने से उसमें धुआँ न निकले तो हरताल भस्म उत्तम हुई समझना चाहिए । यह परीक्षा वृद्ध वैद्यों के मुख से सुनकर मैंने (माधवोपाध्याय ने) पद्यबद्ध कर दी है परन्तु शास्त्र में यह कहीं भी देखने को नहीं मिलती । यह सत्य हो सकती है क्योंकि-प्रायशः प्रसिद्धियाँ निर्मूल नहीं हुआ करती हैं-ऐसा सिद्धान्त है ॥ १८०–१८१ ॥

अथ तालकशोधनम्—

तालकं कणशः कृत्वा बद्ध्वा पोटलिकां ततः ।
दोलायन्त्रेण यामैकं सचूर्णे काञ्जिके पचेत् ॥ १८२ ॥
यामैकं दोलया तद्वत्कूष्माण्डस्वरसे ततः ।
तिलतैले तथैयामं यामं च त्रैफले जले ॥
दोलायन्त्रे चतुर्यामं पक्वं शुध्यति तालकम् ॥ १८३ ॥

तालकमित्यादि । तालकं कणशः कृत्वा पोटलिकां बद्ध्वा ततः सचूर्णे काञ्जिके यामैकं यावत् दोलायन्त्रेण पचेत् । तद्वत् कूष्माण्डस्वरसे पचेत्, ततः तिलतैले यामं पचेत् । पुनश्च त्रैफले जले पचेत्, एवं चतुर्यामं पक्वं तालकं शुध्यति ॥ १८२–१८३ ॥

हरताल की शुद्धि—हरताल के कण-कण करके पोटली में बाँधकर चूनासहित काञ्जी, कूष्माण्ड (कोहड़ा), तिल का तैल और त्रिफले का कषाय इन चारों में अलग अलग एक-एक प्रहरतक दोलायन्त्र से पकावे तो हरताल शुद्ध हो जाती है ॥ १८२–१८३ ॥

अथ तालकस्य मारणविधिः—

पत्राख्यं तालकं शुद्धं पौनर्नवरसेन तु ।
खल्वे विमर्दयेदेकं दिनं पश्चाद्विशोषयेत् ॥ १८४ ॥
संशोष्य गोलकं कृत्वा चक्राकारमथापि वा ।
ततः पुनर्नवाक्षारैः स्थल्यामर्धं प्रपूरयेत् ॥ १८५ ॥
तत्र तद्गोलकं कृत्वा पुनस्तेनैव पूरयेत् ।
स्थालीं चुल्ल्यां समारोप्य क्रमाद्वह्निं विवर्धयेत् ॥ १८६ ॥
दिनान्यन्तरशून्यानि पञ्च वह्निं प्रदीपयेत् ।
एवं तन्म्रियते तालं मात्रा तस्यैकरक्तिका ॥ १८७ ॥
अनुपानान्यनेकानि यथारोगं प्रयोजयेत् ।

किंचिद्यथा—

गुडूच्यादिकषायेण गदानेतान् व्यपोहति ॥ १८८ ॥
सोपद्रवं वातरक्तं कुष्ठान्यष्टादशापि च ।
फिरङ्गदेशजं जन्तोर्हन्ति रोगं सुदुस्तरम् ॥ १८९ ॥
विसर्पमण्डलं कण्डू पामां विस्फोटकं तथा ।
वातरक्तकृतान् रोगानन्यानपि विनाशयेत् ॥ १९० ॥
एतद्भेषजसेवी तु लवणाम्लौ विवर्जयेत् ।
तथा कटुरसं वह्निमातपं दूरतस्त्यजेत् ॥ १९१ ॥
लवणं यः परित्यक्तुं न शक्नोति कथंचन ।
स तु सैन्धवमश्नीयान्मधुरोपरसो हि सः ॥ १९२ ॥
इति भावप्रकाशीयं हरितालभस्म बहुभिर्बहुशोऽनुभूतमस्ति ।

पत्राख्यमित्यादि । शेषं सुस्पष्टम् ॥ १८४–१९२ ॥

हरताल की मारणविधि—शुद्ध तवकी हरताल को पुनर्नवा के रस में एक दिन मर्दन करके चकत्ती के समान चपटा गोला बनाकर सुखा ले तत्पश्चात् पुनर्नवा के क्षार अथवा राख से हाडी के आधे भाग को भर दे और उसमें गोला रखकर ऊपर से हाडी को कण्ठ तक पुनर्नवा के क्षार से भर दे और चूल्ही पर चढाकर मन्द, मध्य और तीक्ष्ण क्रम से पाच दिन तक अविराम अग्नि देवे, इस प्रकार हरताल भस्म हो जाती है। इसकी एक रत्ती की मात्रा रोगानुसार नानानुपान से सेवन करे। गुडूच्यादि कषाय से–सोपद्रव वातरक्त, अठारह प्रकार का कुष्ठ, फिरंगरोग, विसर्प, मण्डल, कण्डू (खुजली), पामा, फोडे फुन्सी तथा वायु और रक्त से उत्पन्न अन्य दूसरे रोगों को यह तत्काल मिटा देती है। इसका सेवन करने वाला नमक और खट्टी वस्तुओं को छोड दे तथा चरपरी चीजें और अग्नि के ताप को दूरही से त्याग दे। जो नमक को नही छोड सकता हो वह सेन्धा नमक खावे क्योंकि उसका उपरस मीठा होता है ॥ १८४–१९२ ॥

अथ लघुयोगतरङ्गिण्याम्—

जम्बीरद्रवमध्ये तु प्रक्षाल्य नटमण्डनम् ।
दशांशं टङ्कणं दत्त्वा खण्डशः परिमेलयेत् ॥ १९३ ॥

चतुर्गुणे दृढे पट्टे निबध्य प्रहरद्वयम् ।
दोलायन्त्रेण संस्वेद्य प्रदीपप्रतिमेऽनले ॥ १९४ ॥
काञ्जिके चूर्णतोये च कूष्माण्डाम्बुनि तैलके ।
त्रिफलाम्बुनि तत्पश्चात् क्षालयित्वाम्लवारिणा ॥ १९५ ॥
ततः पलाशमूलत्वग्वारिपिष्टं प्रशोषयेत् ।
महिषीमूत्रसंपिष्टं पुनस्तं परिशोषयेत् ॥ १९६ ॥
तं गोलकं शरावाभ्यां संपुटीकृत्य यत्नतः ।
खातगजपुटे पक्त्वा स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ॥ १९७ ॥
अजादुग्धे पुनः पिष्ट्वा शोषयेद् गोलकीकृतम् ।
आकण्ठं भस्म पालाशं हण्डिकायां विनिक्षिपेत् ॥ १९८ ॥
चूर्णस्य कुडवं सम्यग् दत्त्वा तत्र विचक्षणः ।
स्थापयेद् गोलकं तत्र पुनश्चूर्णं च भस्म च ॥ १९९ ॥
यथा धूमो वहिर्याति न तथा तां विमुद्रयेत् ।
द्वात्रिंशत्प्रहरानग्निं चुल्ल्यां भक्तवदर्पयेत् ॥ २०० ॥
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य संचूर्ण्य नटमण्डनम् ।
हिमकुन्देन्दुसंकाशं निर्धूमं कृष्णवर्त्मनि ॥ २०१ ॥
रक्तिकाऽस्य प्रदातव्या पुराणगुडयोगतः ।
पथ्यं च चणकस्योक्ता रोटिका षष्टिकौदनम् ॥ २०२ ॥
निर्लोणं किंचनाप्यन्यन्न खादन्नेकविंशतिम् ।
तिष्ठेद्दिनानि निर्वाते सर्वव्यापारवर्जितः ॥ २०३ ॥

अथ फलम्—

पुण्डरीकं गलत्कुष्ठं श्वित्रं कापालिकं तथा ।
काकणमृष्यजिह्वं च स्फोटमौदुम्बरं तथा ॥ २०४ ॥
वातरक्तं च पाण्डुं च दद्रूं पामां विचर्चिकाम् ।
विसर्पमथ चार्शांसि विपादीं च भगन्दरम् ॥ २०५ ॥
सर्वथा क्रमशो हन्ति सेवितं हरितालकम् ।
अन्यानपि व्रणान् सर्वानन्धकारमिवांशुमान् ॥ २०६ ॥

जम्बीरेत्यादि । नटमण्डनं–हरिताल, जम्बीरद्रवमध्ये प्रक्षाल्य दशांशं टङ्कणं दत्त्वा खण्डशः परिमेलयेत् । चतुर्गुणे दृढे वाससि निबध्य प्रहरद्वयं यावत् काञ्जिके दोलायन्त्रेण अनले–अग्नौ, प्रदीपप्रतिमे–मन्द इत्यर्थः । संस्वेद्य पुनश्च, चूर्णतोये, तथैव–कूष्माण्डाम्बुनि तद्वत्तैले तथैव त्रिफलाम्बुनि एवं सर्वेषु द्विद्वियामं मन्दानले संस्वेद्य तत्पश्चादम्लवारिणा क्षालयित्वा ततः पलाशमूलत्वग्वारिपिष्टं प्रशोषयेत् । महिषीमूत्रसंपिष्टं च तं हरिताल गोलकं विधाय पुनः परिशोषयेत् । ततो यत्नतः शरावाभ्यां संपुटीकृत्य खातगजपुटे गजपुटलक्षणं रसेन्द्रचूडामणौ यथा–'राजहस्तप्रमाणेन चतुरस्रं च निम्नकम् । पूर्णं चोप-

लसाहस्रैः कण्ठावध्यथ निक्षिपेत् ॥ विन्यसेत् कुमुदिं तत्र पुटनद्रव्यपूरिताम् । पूर्वच्छगणतोर्द्धानि गिरिण्डानि विनिक्षिपेत् । एतद्गजपुटं प्रोक्तं महागुणविधायकम् ॥' इति । पश्चात् स्वाङ्गशीतं बुद्ध्वा समुद्धरेत् । पुनः अजादुग्धैः पिष्ट्वा गोलकीकृतं शोषयेत् । पश्चात् हण्डिकायां भस्म पालाशं स्थाल्यर्द्धभागं यावत् विनिक्षिपेत् तत्र-चूर्णस्य कुडवपरिमितं सम्यक् दत्वा विचक्षणः चूर्णोपरि गोलकं स्थापयेत् पुनश्चूर्णं पूर्वप्रमाणं दद्यात्, पलाशभस्म च हण्डिकाकण्ठं यावत् पूरयेत् । यथा धूमो वहिर्भागं न याति तथा तां स्थालीं विमुद्रयेत् । तां च चुल्ल्यां समारोप्य भक्तवत् द्वात्रिंशत्प्रहराग्निमर्पयेत् । स्वाङ्गशीतं ज्ञात्वा, समुद्धृत्य संचूर्ण्य, नटमण्डनं हिमकुन्देन्दुसकाशं-कर्पूरोज्ज्वलं, निर्धूमं कृष्णवर्त्मनि-अग्नौ स्थापितमिति शेषः । अस्य-हरितालभस्मनः पुराणगुडयोगतः रक्तिकापरिमिता मात्रा प्रदातव्या । पथ्यं चणकस्य रोटिका उक्ता षष्टिकौदनं निर्लोणं-किञ्चनापि अन्यत् न खादन् सन्, एकविंशतिम् अहानि निर्वाते सर्वव्यापारवर्जितस्तिष्ठेत् । फलं चास्य-पुण्डरीकादिकान् सर्वरोगान् हन्ति यथा सूर्योऽन्धकारम् ॥ १९३-२०६ ॥

दूसरी विधि—जमीरी निम्बू के रस में हरताल को धोकर उससे दसवा भाग सुहागा मिलाकर मजबूत चौलडे वस्त्र में बाँधकर दोलायन्त्र से काजी, चूना का पानी, कोहडा, तैल और त्रिफले के कषाय में दो दो प्रहर मन्दाग्नि से स्वेदन करे । इसके बाद निंबू अथवा काँजी से धोकर पलाश के मूल की छाल के रस में पीस कर सुखा ले तत्पश्चात् भैंस के मूत्र में पीसकर सुखावे, सूखने पर उस गोले को दो शरावों के सपुट में बन्द करके सातगजपुट में फूक दे । स्वाङ्गशीतल होने पर निकाल कर फिर बकरी के दूध से घोटे और गोला बनाकर सुखा ले । पलाश की राख से हाडी को आधे तक भर दे उस पर एक कुडव चूना बिछाकर गोले को रखे और उस पर उतना ही चूना और देकर पलाश की राख से हाडी को कण्ठ तक भर के भलीभाँति दबा दे ताकि धुआँ बाहर न जा सके । चूल्हे पर हाडी को रख कर ३२ प्रहर तक एकसी अग्नि देकर स्वाङ्गशीतल होने पर हरताल की सफेद भस्म को ग्रहण करे । इस भस्म को पुराने गुड के साथ एक रत्ती सेवन करावे । २१ दिन तक नमकरहित चने की रोटी और साठी चावल का ही सेवन करे । याद रहे कि नमकरहित दूसरे किसी भी अन्न को न खावे । २१ दिन तक सब कामकाज से दूर और निर्वातस्थान में रहे । इसका सेवनफल-पुडरीक, गलत्कुष्ठ, श्वित्र, कापालिक, काकण, ऋष्यजिह्वक और उदुम्बर नाम के कुष्ठरोग तथा फोडे-फुन्सी, वातरक्त, पाण्डु, दाद, पामा, विचर्चिका, विसर्प, बवासीर, बिवाई और भगन्दर इनको क्रमशः हरताल सेवन नष्ट करता है ॥

अथ मात्रापरिमितिः—

रोगी तण्डुलपरिमितां मात्रां सितोपलाजीरकचूर्णानुपानेन सह भक्षयेत् पथ्यं पूर्वोक्तं षष्टिकौदनं गोदुग्धं वा । अष्टभागेन तस्य तु रक्तिपरिमिता मात्रा, गुणास्तु पूर्वस्मादधिकतराः ॥ २०७ ॥

विशेषस्तु—

राजयक्ष्मादिकान् रोगान् विजित्य कुरुते वपुः ।
वज्रतुल्यं जरां हत्वा नृणां पथ्याशिनां ध्रुवम् ॥ २०८ ॥

रोगीत्यादि । तस्य-हरितालभस्मनः अष्टभागेन रक्तिपरिमिता मात्रा गोदुग्धेन सह सेविता । शेषं सुस्पष्टम् ॥ २०७-२०८ ॥

मात्रा का प्रमाण—हरताल एक चावल की मात्रा से मिश्री और जीरे के चूर्ण के साथ सेवन करे । पथ्य पूर्वोक्त साठी चावल और गाय का दूध है । हरतालभस्म एक रत्ती का आठवाँ भाग

गाय के दूध के साथ लेने पर अधिक गुणकर होती है। विशेषता यह है कि क्षयादि संपूर्ण रोगों को और बुढ़ापा को नष्ट करके पथ्यसहित सेवन करनेवालों के शरीर को वज्र के समान बना देती है ॥ २०७-२०८ ॥

अथ सिद्धमते—

तवक्याख्यं हरितालं महिषीमूत्रे, घृतकुमारीरसे, चूर्णतोये, शरपुङ्खारसे, कूष्माण्डरसे, निम्बूरसे च पृथक् पृथक् षट्प्रहरं संशोध्यम्, इति शुद्धिः। अथ मर्दनं–कूष्माण्डरसेन दिनानि २१, कागदीनिम्बूरसेन दिनानि २१, धत्तूररसेन दिनानि २१, सहदेवीरसेन दिनानि २१, पलाशरसेन दिनानि २१, बदरीमूलरसेन दिनानि २१, आर्द्रकरसेन दिनानि २१, गोभीरसेन दिनानि २१, छिक्किणीरसेन दिनानि २१, हुलहुलरसेन दिनानि २१, नागार्जुनीरसेन दिनानि २१, भृङ्गराजरसेन दिनानि २१, एरण्डमूलरसेन दिनानि २१, ब्रह्मदण्डीरसेन दिनानि २१, श्वेतलशुनरसेन दिनानि २१, पलाण्डुरसेन दिनानि २१, स्वर्णवल्लीरसेन दिनानि २१, काकमाचीरसेन दिनानि २१, बलारसेन दिनानि २१, वज्रीदुग्धेन दिनानि २१, अर्कदुग्धेन दिनानि २१, एवं दिनसंख्या ४४१ एतैर्वर्ष एकः १, मासौ द्वौ, दिनानि २१ भवन्ति। एतत्कर्तुं कर्तुमशक्तश्चेत्तेन दिनशब्दो भावनापरतया बोध्यः। ततश्चक्रिकां कृत्वा तां घर्मशुष्कां कारयेत्, ततोऽतिदृढां हण्डीं मृत्कर्पटैरेकविंशतिवारं लेपयेत्। ततस्तस्यां हण्डिकायां पिप्पलस्य विभूतिं पूरयेदङ्गुष्ठपरिमितं यावत्, तदुपरि तां चक्रिकां दृढां संस्थाप्य तदुपरि पुनस्तद्विभूत्याऽतिदृढं पूरयेदाकण्ठम्, ततो मुद्रां कृत्वा, क्रमविवर्धितमग्निं दद्यात्प्रहराणां चतुःषष्टिम्, अष्टौ दिनानीति यावत्, सिद्धं भस्म भवति, तद्यत्नतः संरक्षयेत्। शिवस्य महतीं पूजां कृत्वा, देवगोब्राह्मणवैद्यान् पूजयित्वा, तस्य मात्रां तण्डुलपरिमितां गुञ्जापरिमितां वा भक्षयेत्, यथारोगमनुपानानि, पथ्यं लवणाम्लतीक्ष्णतैलवर्ज्यं प्रोक्तवत् ज्ञेयम्। अस्य फलश्रुतिः–त्रिसप्ताहान्मण्डलैकेन वा श्वेतप्रभृत्यष्टादशकुष्ठानि, यावन्तो रक्तविकाराः, त्रयोदशसन्निपाताः, अपस्मारादयो यावन्तः पापरोगाः, भगन्दरनाडीव्रणप्रभृतयो महाव्रणाः, प्रशीर्णं वातरक्तम्, उपदंशफिरङ्गाद्या लिङ्गरोगाः, श्लीपदग्रन्थिप्रभृतयः सर्वाङ्गशोफाः, सूतिकावातरोगप्रभृतयः सर्वशीतवातविकाराः, श्वासकासाद्या वातविकाराः, दुष्टपीनसप्रभृतयः प्रतिश्यायाः, अर्श आदयोऽष्टौ महारोगाः, वह्निमान्द्यजा ग्रहणीप्रभृतयः, मधुमेहाद्याः सर्वे प्रमेहाः, मेदोवृद्ध्यर्बुदगण्डमालाद्याः कठिनविकाराः, आमवातगृध्रस्याद्या मूढविकाराः, राजयक्ष्माद्याः शोषाः, किं चाशीतिसंख्या वातरोगाः, अनुपानभेदेन चत्वारिंशत्पित्तरोगाः, विंशतिसंख्याकाः कफजा रोगाः, दशरक्तजा रोगाः शीघ्रं प्रणश्यन्ति जराव्याधिविनाशश्च भवति, दिव्यदेहः कान्तिधृति-

मान् सत्त्वसंयुतः कामिनीकामदर्पघ्नस्तार्क्ष्यदृष्टिः शूरो वदान्यश्च भवतीति सिद्धमते हरितालमारणम्। सिद्धार्यैस्तु हरितालश्चतुर्विधः प्रोक्तः—वृग-दादी १, गोदन्ती २, तवकी ३, पिण्डतालश्च ४ एते पिण्डाख्यात् क्रमेण श्रेष्ठतरा ज्ञेयाः ॥ २०९ ॥

तवकीत्यादि। क्रमविवर्धितं—मन्दमध्यतीक्ष्णक्रमेण, प्रोक्तवत् मण्डलैकेन—एकमण्डलेन, मण्डलशब्दस्तु चत्वारिंशद्दिनात्मकः, उपदंशफिरङ्गाद्या लिङ्गरोगाः—अत्र केचन महाशया उपदंशफिरङ्गयोरभेदमामनन्ति, प्रतिपादयन्ति चोपदंशस्यैवापरपर्यायः फिरङ्ग इति, अतोऽत्र चिन्त्यमेतत् वस्तुतः फिरङ्गोपदंशयोरभेदः स्यात्तर्हि द्वयोर्नामग्रहणं विफलम्, अतोऽत्र निगद्यते किं चोपदंशफिरङ्गयोर्बह्वन्तरं यथा तयोर्विज्ञानपूर्विका सम्प्राप्तिः प्रतिपाद्यते—'हस्ताभिघातान्नखदन्तपातादधावनादत्युपसेवनाद्वा। योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधोपचारैः॥' इति। 'फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्। तस्मात् फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः॥ गन्धरोगफिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्। फिरङ्गिणोऽङ्गसंसर्गात्फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः॥' इति। एतेन तयोर्भेदः प्रदर्श्यते। अर्श आदयोऽष्टौ महारोगाः—यथोक्ताः सुश्रुतसंहितायाम्—'वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्। अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्। अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः॥' इति। शेषं स्पष्टम् ॥ २०९ ॥

सिद्धमत हरताल—तवकी हरताल को भैंस के मूत्र, ग्वारपाठा, चूने का पानी, शरपुंखा का रस, कोहडा और निम्बु रस में अलग-अलग छः-छः प्रहर शोधन कर उसके बाद कूष्माण्ड (कोहडा), कागदी निंबू, धतूरा, सहदेई, पलाश, बेरी का मूल, अदरख, गोभी, नकछिकनी, हुलहुल, नागार्जुनी, भृङ्गराज, एरण्डमूल, ब्रह्मदण्डी, सफेद लहसुन, कान्दा, सुवर्ण बेल, मकोय और खरेटी इनके रसों में तथा थूहर और आक के दूध में २१–२१ दिन तक अविराम मर्दन करे। इस प्रकार कुल ४४१ दिन तक घोटे अर्थात् एक वर्ष, दो महीने और २१ दिन तक घुटाई करे। यदि इतना कष्ट करने में असमर्थ हो तो दिन संख्या के स्थान में भावना देकर तयार कर ले। चकत्तिया बनाकर धूप में सुखावे, तत्पश्चात् एक सुदृढ हाडी लेकर २१ कपरोटी करे और उसमें अंगूठे जितनी गहरी पीपल की राख बिछाकर उसके ऊपर वे सब चकत्तिया रखकर ऊपर वही पीपल की राख हाडी के कण्ठ तक दबा दबा कर भर दे और माटी मुद्रा देकर मन्द, मध्य और तीक्ष्ण क्रम से चौसठ प्रहर अग्नि देवे अर्थात् आठ दिन तक अग्नि देने से हरताल की सुन्दर भस्म हो जाती है। उसे सावधानता से रखे। भगवान् शिव की भलीभांति पूजा करके तथा देवता, गौ, ब्राह्मण और वैद्यों की पूजा करके इसको चावल अथवा रत्ती के बराबर की मात्रा से सेवन करे, अनुपान रोगानुसार है जो कि प्रथम विधि में बताये हैं। लवण, अम्ल, तीक्ष्ण और तैल का परित्याग करदे। इसके २१ दिन अथवा ४० दिन के सेवन से श्वेतादि १८ प्रकार के कुष्ठ रोग, समस्त रक्तविकार, १३ प्रकार के सन्निपात, अपस्मार आदि सम्पूर्ण पापरोग, भगन्दर और नाडीव्रण आदि महाव्रण रोग, सडा हुआ वातरक्त, उपदंश और फिरङ्ग आदि लिङ्ग के रोग, श्लीपद (हाथीपाव) और ग्रन्थि आदि सर्वाङ्गशोथ, प्रसूति और वातरोग प्रभृतिक शीतजन्य वायुरोग, श्वास और कास आदि वायु के विकार, दुष्ट पीनस आदि प्रतिश्यायरोग, बवासीर आदि ८ महारोग, ग्रहणी आदि मन्दाग्नि के रोग, मधुमेह को आदि लेकर २० प्रकार के प्रमेह, मेद, वृद्धि (अण्डवृद्धि), अर्बुद और गण्डमाला आदि कठिन विकार, आमवात और गृध्रसी आदि

मूढ विकार, क्षय आदि शोषविकार, किंबहुना ८० प्रकार के वातरोग, ४० प्रकार के पित्तरोग, २० प्रकार के कफरोग और १० प्रकार के रक्तविकार यथानुपानभेद से तत्काल नष्ट हो जाते हैं और बुढापा तथा व्याधि का नाश होता है। दिव्य शरीर, कान्ति, धैर्य और बलयुक्त होकर, स्त्रियों के काममद को चूर्ण करनेवाला तथा गरुड के समान दृष्टिवाला, शूर-वीर और दाता होता है। सिद्धादिकोंने हरताल के चार भेद माने हैं बुगदादी, गोदन्ती, तबकी और पिण्डी-हरताल ये चारों उत्तरोत्तर हीनगुणी हैं।

वक्तव्य—हरिताल के सेवन करने पर तज्जन्य किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न हो जावे तो मिश्री और जीरे का चूर्ण समभाग का बना कर तीन माशे की मात्रा में शहद के साथ दिन में तीन बार लेवे अथवा कूष्माण्ड (कोहडे) का रस २-२ तोले मिश्री मिलाकर दिन में तीन बार लेवे तो अशुद्ध हरिताल अथवा अपक्व हरिताल या मात्राधिक्य के कारण उत्पन्न विकार शान्त हो जाते हैं। इनका कम से कम तीन दिन तक सेवन करना चाहिए। जैसे कि—

'ससितं जीरकं क्षौद्रं कूष्माण्डं स्वरसं तु वा।
अश्नीयात्तालविकृतौ त्रिवारं स्वेकवासरे॥
अजाजीं शर्करायुक्तां सेवते यो दिनत्रयम्।
विकृतिं तालजां हन्याद् यथा दारिद्र्यमुद्यमः॥' २०९॥

अथ तालकसत्त्वपातनविधिः—

लाक्षा राजी तिलाः शिग्रुष्टङ्कणं लवणं गुडम्।
तालकार्धेन संमिश्रय छिद्रमूषानिरोधितम्।
पुटेत्पातालयन्त्रेण सत्त्वं पतति निश्चितम्॥ २१०॥

लाक्षेत्यादि। एतत्सर्वं लाक्षादिकं पृथक् पृथक् तालकार्धेन-हरितालप्रमाणापेक्षयार्धं संमिश्रय। शेषं सुबोधम्॥ २१०॥

हरताल की सत्त्वपातनविधि—लाख, राई, तिल, सहजना, सुहागा, सेन्धानमक और गुड इन प्रत्येक को हरताल से आधा लेकर एकत्र मिश्रण करके छिद्रमूषा में बन्दकर पातालयन्त्र से पुट देनेपर हरताल का सत्त्वपातन हो जाता है॥ २१०॥

अथ रसपद्धत्याम्—

कुलित्थक्वाथटङ्कणमहिषीघृतमधुयुक्तं हरितालं शुद्धं दध्याज्येन भावितं हण्डिकायां क्षिप्त्वा, उपरि मल्लं सच्छिद्रं दत्त्वा, सन्धिलेपं कृत्वा, क्रमेण वह्निं यामचतुष्टयं दद्यात्, यावन्नीलः पीतो वा धूमो ह्यागच्छति ततः पाण्डुरे धूमे दृष्टे सति एकप्रहरमात्रं छिद्रं गोमयेनाच्छाद्य तीव्रमग्निं दद्यात्। यामान्ते चोद्घाट्य पाण्डुरधूमेऽदृष्टे सति अग्निं पूर्णं कुर्यात्, पश्चाच्छीतां स्थालीमुत्तार्य सत्त्वं ग्राह्यम्॥ २११॥

कुलित्थेत्यादि। शेषं सुबोधम्। तन्त्रान्तरे 'रक्तकृष्णसितवर्णतालकसत्त्वपातनमप्युपलभ्यते। हरितालसत्त्वमेव गौरीपाषाण इति वृद्धोपदेशः। तन्त्रान्तरोक्तं रसमाणिक्यमप्यत्रैव ज्ञेयं तस्यापि सत्त्वरूपत्वात्। रसेन्द्रसारसंग्रहे यथोक्तम्-'तालकं वंशपत्राख्यं कूष्माण्डसलिले क्षिपेत्। सप्तधा वा त्रिधा वापि दध्ना चाम्लेन वा पुनः॥ शोधयित्वा पुनः शुष्कं चूर्णयेत्तण्डुलाकृति। ततः शरावके पात्रे स्थापयेत्कुशलो भिषक्॥ बदरी-

पल्लवोत्थेन कल्केन लेपयेद् भिषक्। अरुणाभमध.पात्रं तावज्ज्वाला प्रदीयते। स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य माणिक्याभं भवेद् ध्रुवम्॥' इति॥ २११॥

दूसरी विधि—शुद्ध हरताल को घी और दही से भावित करके कुल्था का कषाय, सोहागा, भैंस का घी और शहद मिलाकर हाडी में भर दे और ऊपर से छिद्रयुक्त शराव देकर सन्धि-बन्धन करके क्रमश' मन्द, मध्य और तीक्ष्ण अग्नि चार प्रहरतक जबतक नाला और पीला धुआ हाडी से निकलता रहे तबतक देवे जब सफेद धुआ दीखने लगे तब एक प्रहरतक शराव के छिद्र को गोबर से बन्द करके तीक्ष्ण अग्नि देवे, एक प्रहर के बाद छिद्र को खोल दे और सफेद धुआ न दीखनेपर अग्नि को बन्द कर दे, स्वाङ्गशीतल होनेपर हाडी को उतारकर सत्त्व को ग्रहण करे॥ २११॥

अन्यच्च—

> जेपालसत्त्ववातारिबीजमिश्रं च तालकम्।
> कूपीस्थं वालुकायन्त्रे सत्त्वं मुञ्चति यामतः॥ २१२॥

जेपालेत्यादि। शेष सुगमम्॥ २१२॥

तीसरी विधि—शुद्ध हरताल को जेपालसत्त्व और एरण्ड के बीजों के साथ मिलाकर शीशी में भर दे और वालुकायन्त्र से एक प्रहर में सत्त्वपातन करे॥ २१२॥

अथ मन.शिलाया नामलक्षणगुणा' शोधनं च—

> मनःशिला मनोगुप्ता मनोह्वा नागजिह्विका।
> नेपाली कुनटी गोला शिला दिव्यौषधिः स्मृता॥ २१३॥
> तालकस्यैव भेदोऽस्ति मनोह्वा च तदन्तरम्।
> तालकं त्वतिपीतं स्याद्भवेद्रक्ता मनश्शिला॥ २१४॥
> मन.शिला त्रिधा प्रोक्ता श्यामाङ्गी कणवीरिका।
> द्विखण्डाख्या च तासां तु लक्षणानि निबोधत॥ २१५॥
> श्यामा हिङ्गुलवद्रक्ता किंचित्पीताऽतिदीप्तिका।
> कणवीरा रक्तवर्णा चूर्णरूपाऽतिभारयुक्॥ २१६॥
> किंचिद्रक्ता च गौरा च द्विखण्डा भारवत्तरा।
> त्रिविधासु च श्रेष्ठा स्यात्कणवीरा मन शिला॥ २१७॥

मनःशिलेत्यादि। स्पष्टमन्यत्। रसरत्नसमुच्चये तु किंचिद्वैपरीत्य यथा—'श्यामा रक्ता सगौरा च भाराढ्या श्यामिका मता। तेजस्विनी च निर्गौरा ताम्राभा कणवीरका॥ चूर्णीभूताऽतिरक्ताङ्गी सभारा खण्डपूर्विका। उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा भूतिसत्त्वप्रकीर्तिता॥' इति। त्रिविधासु कणवीरा मन.शिला श्रेष्ठा स्यात्॥ २१३-२१७॥

अब मैनसिल के नाम, लक्षण, गुण और शोधन कहते हैं—मन.शिला, मनोगुप्ता, मनोह्वा, नागजिह्विका, नेपाली, कुनटी, गोला, शिला ये मैनसिल के नाम हैं। मैनसिल और हरताल में केवल इतना ही भेद है कि हरताल अतिशय पीली और मैनसिल लाल होती है। मैनसिल तीन प्रकार की है श्यामाङ्गी, कणवीरिका और द्विखण्डा। श्यामाङ्गी मैनशिल हिंगुल के समान लाल होती है। कुछ पीली अति चमकदार, लाल, चूर्णाकृति और अतिशय भारी कणवीरा तथा कुछ लाल, गोरी और अतिशय वजनदार द्विखण्डा होती है॥ २१३-२१७॥

अथ गुणाः—

मनःशिला गुरुर्वर्ण्या सरोष्णा लेखनी कटुः ।
तिक्ता स्निग्धा विषश्वासकासभूतकफास्रनुत् ॥ २१८ ॥

मनःशिलेत्यादि । लेखनी-लेखनकर्मकरी, 'धातून्मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत् । लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ॥' इति । शेषं सुबोधम् ॥ २१८ ॥

मैनसिल के गुण—मैनसिल भारी, वर्ण को सुन्दर करने वाली, रेचक, उष्ण, लेखन, चरपरी, कटवी और रक्तविकारों को ठीक करती है ॥ २१८ ॥

अशुद्धमनःशिलादुर्गुणाः—

मनःशिला मन्दबलं करोति जन्तुं ध्रुवं शोधनमन्तरेण ।
मलस्य बन्धं किल मूत्ररोधं सशर्करं कृच्छ्रगदं च कुर्यात् ॥ २१९ ॥

मनःशिलेत्यादि । सुगमम् ॥ २१९ ॥

अशुद्ध मैनसिल के दोष—बिना शुद्ध की हुई मैनसिल के सेवन से मनुष्य के शरीर में मन्दबल, मल-मूत्र की रुकावट, पथरी और मूत्रकृच्छ्रता होती है ॥ २१९ ॥

अथ मनःशिलाशोधनम्—

पचेत्त्र्यहमजामूत्रे दोलायन्त्रे मनःशिलाम् ।
भावयेत्सप्तधा पित्तैरजायाः शुद्धिमृच्छति ॥ २२० ॥

पचेदित्यादि । अन्यत्स्पष्टम् । दोलायन्त्रविधानं चात्र यथा-मनःशिलां कणशः कृत्वा कदलीदलैः संवेष्ट्य तदनु चतुर्गुणेन वस्त्रेण च पोट्टलीं बद्ध्वा मूत्रपूरिते भाण्डे विधिवत्स्वेदयेद्यावद्दिनत्रयं भवति । दिनग्रहणेन रात्रिरपि गृह्यते । तेनाहोरात्रमपि स्वेदयेदित्यभिप्रायः । एके तु—दिनत्रयमेव न तु रात्रौ स्वेदनं विहितम् । यतो रात्रावदृढत्वे दग्धादिभयात्, इत्याढमल्लः । तथा हि तन्त्रान्तरे—'सुदृढे कदलीपत्रे वस्त्रखण्डे चतुर्गुणे । तन्मध्ये तान् विनिक्षिप्य बध्नीयाच्च सुपोट्टलीम् ॥ क्षाराम्लमूत्रवर्गेण स्वेदयेच्च दिनत्रयम् । तथा स्वेदः प्रकर्तव्यो मज्जयेत्पोटली यथा । भवेन्न च तलस्पर्शा भाण्डस्यापि कदाचन ॥' इति मन्यन्ते । ततो दोलायन्त्रप्रमाणमपि-'द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्धस्य तस्य च । मुखे तिर्यक् कृते दण्डे बद्द्रव्यं सूत्रलम्बितम् । स्वेदयेत्तन्मध्यगतं दोलायन्त्रमिति स्मृतम् ॥' इति ॥ २२० ॥

मैनसिल की शुद्धि—मैनसिल को बकरी के मूत में दोलायन्त्र से ३ दिन तक पकावे, इसके बाद बकरी के पित्त की ७ भावना देवे तो शुद्ध हो जाती है ॥ २२० ॥

अथ मतान्तरम्—

जयन्तिकाद्रवे तैले दोलायन्त्रे मनःशिला ।
दिनमेकमजामूत्रे भृङ्गराजरसेऽपि च ॥ २२१ ॥

जयन्तीत्यादि । सुबोधम् ॥ २२१ ॥

दूसरी विधि—अरणी का रस और तेल में दोला यन्त्र से मैनशिल को १ दिन पकावे अथवा बकरी का मूत और भागरे के रस में १ दिन पकावे तो शुद्ध हो जाती है ॥ २२१ ॥

मतान्तरम्—

अगस्त्यपत्रतोयेन भाविता सप्तवारकम् ।

शृङ्गवेररसैर्वापि विशुध्यति मनःशिला ॥ २२२ ॥

अगस्त्येत्यादि। अगस्त्यपत्रतोयेन सप्तवारकं भाविता मनःशिला ॥ २२२ ॥

तीसरी विधि—अगस्तिया के पत्तों के रस की अथवा अदरख के रस की ७ भावना देने से मैनसिल शुद्ध हो जाती है ॥ २२२ ॥

मतान्तरम्—

भृङ्गागस्त्यजयन्तीनामार्द्रकस्वरसेषु च ।
दोलायन्त्रेण संस्विन्ना विशुध्यति मनःशिला ॥ २२३ ॥

भृङ्गेत्यादि। शेषं सुबोधम्। तन्त्रान्तरे त्वधिकं लभ्यते 'क्षालयेदारनालेन सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ इति' ॥ २२३ ॥

चौथी विधि—भागरा, अगस्तिया, अरणी और अदरख इनके स्वरसों में दोलायन्त्र से स्वेदन करने पर मैनसिल शुद्ध हो जाती है ॥ २२३ ॥

अथ मनःशिलासत्त्वपातनम्—

तालवच्च शिलासत्त्वं ग्राह्यं तैरेव चौषधैः ।

रसपद्धत्याम्—अष्टमांशेन गुडगुग्गुलुलोहकिट्टेन सर्पिषा सह मर्दयित्वा मूषायां दत्त्वाऽन्धयित्वा कोष्ठ्यां ध्माता सत्त्वं मुञ्चेत् ॥ २२४ ॥

तालवदित्यादि। हरितालसदृशं च सिलासत्त्वं तैरेव हरितालसत्त्वपातनैरेवौषधैश्च ग्राह्यम्। शेषं सुस्पष्टम्। एतत्सत्त्वं गौरीपाषाणो वर्तत इति वृद्धसङ्केतः। अस्याः सत्त्वमस्थिरं भवति। यदुच्यते ग्रन्थान्तरे—'चौरं हंसं शिला काची कासीसं तालकं तथा।' इति ॥ २२४ ॥

मैनसिल का सत्त्वपातन—हरताल के सत्त्वपातन के तुल्य ही उन्हीं औषधियों से मैनसिल का भी सत्त्वपातन करे। रसपद्धति में लिखा है कि मैनसिल से ८ वा भाग गुड, गूगल और लोहकिट्ट लेकर घी के साथ मर्दन कर मूषा में बन्द कर के धमन करे तो मैनसिल सत्त्व को छोड देती है ॥ २२४ ॥

अथ स्रोतोऽञ्जनस्य नामभेदगुणशोधनानि—

अस्य 'सुरमा' इति भाषायां नाम ।
अञ्जनं वामनं चापि कपोताञ्जनमित्यपि ॥ २२५ ॥

अञ्जनमित्यादि। स्पष्टम्। 'वामनम्' इत्यत्र 'यामुनम्' इति पाठान्तरम् ॥ २२५ ॥

अब सुरमा के नाम, भेद, गुण और शोधन को कहते हैं—अञ्जन, वामन और कपोताञ्जन ये सुरमे के नाम हैं ॥ २२५ ॥

स्रोतोऽञ्जनं तु द्विविधं श्वेतकृष्णविभेदतः ।
तत्र स्रोतोऽञ्जनं कृष्णं सौवीरं श्वेतमीरितम् ॥ २२६ ॥

स्रोतोऽञ्जनमित्यादि। शेषं सुबोधम् ॥ २२६ ॥

सुरमा के भेद—स्रोतोञ्जन के दो भेद हैं सफेद और काला। स्रोतोञ्जन काला और सौवीराञ्जन सफेद होता है ॥ २२६ ॥

अत्र केचित्पञ्चभेदान् पठन्ति—

स्रोतोञ्जनं च सौवीरमञ्जनं च रसाञ्जनम् ।
नीलाञ्जनं तदन्यच्च पुष्पाञ्जनकमेव च ॥ २२७ ॥

स्रोतोञ्जनमित्यादि । पञ्चाञ्जनान्यामनन्ति केचन, माधवोपाध्यायस्तु स्रोतोञ्जनस्यैव भेदद्वयं मनुते तयोरन्तरभावादिति भावः । तथाप्यन्यतन्त्रेपूक्तत्वाद् ग्रन्थाध्येतृजनसुकरत्वादेषां लक्षणगुणशोधनसत्त्वपातनानीतरतन्त्रेभ्यो दृश्यन्ते ग्रन्थकर्त्रेति तात्पर्यम् ॥ २२७ ॥

कुछ लोगों के मत में इसके पाँच भेद माने जाते हैं जैसे कि-स्रोतोञ्जन, सौवीराञ्जन, रसाञ्जन, नीलाञ्जन और पुष्पाञ्जन ॥ २२७ ॥

अथैषां लक्षणम्—

वल्मीकशिखराकारं भिन्नमञ्जनसंनिभम् ।
घृष्टं तु गैरिकच्छायमेतत्स्रोतोञ्जनं स्मृतम् ॥ २२८ ॥
स्रोतोञ्जनसमं ज्ञेयं सौवीरं तत्तु पाण्डुरम् ।
अथवा धूम्रवर्णाभं सौवीराञ्जनमुच्यते ॥ २२९ ॥

वल्मीकेत्यादि । वल्मीकशिखराकार भिन्नं-भङ्गे कृते सति, अञ्जनसनिभं-कज्जलद्युति, घृष्टं-घर्पणे कृते सति गैरिकच्छायमेतत् स्रोतोञ्जनं स्मृतम् ॥ २२८-२२९ ॥

इनके लक्षण—बाम्बी के शिखर के आकार वाला, तोडने पर काजल के समान काला और घिसने पर गेरू के तुल्य कुछ ललाई देने वाला हो, वह स्रोतोञ्जन होता है । सौवीराञ्जन सफेद अथवा कुछ धूसर वर्ण का होता है ॥ २२८-२२९ ॥

अथोभयोर्गुणाः—

स्रोतोञ्जनं स्मृतं स्वादु चक्षुष्यं कफपित्तनुत् ।
कषायं लेखनं स्निग्धं ग्राहि छर्दिविषापहम् ॥ २३० ॥
हिध्माक्षयास्रहृच्छीतं सौवीरमपि तादृशम् ।
द्वयोरञ्जनयोः किन्तु श्रेष्ठं स्रोतोञ्जनं स्मृतम् ॥ २३१ ॥

स्रोतोञ्जनमित्यादि । स्पष्टमन्यत् ॥ २३०-२३१ ॥

स्रोतोञ्जन तथा सौवीराञ्जन के गुण—स्रोतोञ्जन मीठा, नेत्रों के लिए हितकारी, कफपित्त को नष्ट करने वाला, कसैला, लेखन (कोठे अथवा नेत्रों के अन्दर चिपके हुए दोषों को खुर्च कर बाहर निकालने वाला), चिकना, ग्राही (स्तम्भक), वमन और विष को दूर करनेवाला, हिचकी, क्षय और रक्त को नष्ट करने वाला तथा ठंडा होता है । सौवीराञ्जन के भी यही गुण हैं । किन्तु दोनों में स्रोतोञ्जन उत्तम है ॥ २३०-२३१ ॥

अथोभयोः शोधनम्—

त्रिफलावारिणि स्वेद्यं तद्द्वयं शुद्धिमृच्छति ।
भृङ्गराजरसे वाऽपि स्रोतः सौवीरकं शुचि ॥ २३२ ॥

त्रिफलेत्यादि । शेषं सुबोधम् । भृङ्गराजरसेऽपि स्रोतोञ्जनं, सौवीरकाञ्जनं च शुद्धतां याति ॥ २३२ ॥

त्रिफला के कषाय अथवा भृङ्गराज के रस में स्वेदन करने पर स्रोतोञ्जन और सौवीराञ्जन दोनों शुद्ध हो जाते हैं॥ २३२ ॥

अथानयोः सत्त्वपातनम्—

स्रोतःसौवीरयोः सत्त्वं गृह्णीयात्कुशलो भिषक्।
मनःशिलाविधानेन तन्नेत्र्यं परमं मतम् ॥ २३३ ॥

स्रोत इत्यादि। शेष सुबोधम् ॥ २३३ ॥

स्रोतांजन और सौवीराञ्जन का सत्त्वपातन मैनसिल की विधि से करे। यह नेत्रों के लिए परम हितकारी है ॥ २३३ ॥

अथ रसाञ्जनोत्पत्तिनामगुणाः कथ्यन्ते—

दार्वीक्वाथमजाक्षीरपादपक्वं यदा घनम्।
तदा रसाञ्जनं ख्यातं नेत्रयोः परमं हितम्।
तार्क्ष्यजं तार्क्ष्यशैलं च रसगर्भं रसाञ्जनम् ॥ २३४ ॥

दार्वीत्यादि। दार्वीक्वाथ—दारुहरिद्राकषायम् अजाक्षीरपादपक्व-क्वाथमानापेक्षया चतुर्थांशेन अजादुग्धेन पाचितम्। यद्वा-दार्वीक्वाथ तुल्यभागेन, अजादुग्धेन सह पक्व, यथा भावमिश्राः-'दार्वीक्वाथसम क्षीरं पादं पक्त्वा यथा घनम्। तदा रसाञ्जनाख्य तन्नेत्रयोः परमं हितम् ॥' इति। एके तु दार्वीक्वाथस्य मानापेक्षया चतुर्गुणितमजादुग्धमामनन्ति। अमी त्रयोऽपि प्रकारा रसाञ्जननिर्माणविधौ श्रेष्ठा., उत्तरोत्तर चाधिकं चक्षुष्याः, सम्प्रति त्रयोऽपि प्रचलिता॰ सन्ति। प्राचीनकाले तु रसाञ्जनमिदं दार्वीक्वाथखर्परयोगेन विरच्य व्यवहार कुर्वन्त आसस्ततः खर्परपदार्थे सदेहात्मके जाते सति दार्वीक्वाथेनाजादुग्धेनास्य विरचनं प्रारब्ध यदुक्तं चूडामणिना-'खर्परं दार्विकाक्वाथसंभूतं तु रसाञ्जनम्। दार्वीक्वाथमजाक्षीरे पक्व सान्द्रं रसाञ्जनम् ॥' इति ॥ २३४ ॥

रसाञ्जन वनाने की विधि—दारुहल्दी के काढे से चौथाई भाग बकरी का दूध मिलाकर पकावे। जव गाढा हो जावे तव उतार ले। यह रसाञ्जन होता है। यह नेत्रों के लिए परम हितकारी हे। तार्क्ष्यज, तार्क्ष्यशैल, रसगर्भ और रसाञ्जन ये इसके नाम हैं।

वक्तव्य—रसाञ्जन को लेकर चरक-सुश्रुतादि आर्ष सहिताओं के टाकाकारों के समय से ही मतभेद हे। सप्रति वैद्य-समाज में रसाञ्जन के नाम से रसौंत का ही व्यवहार प्रायश किया जाता हे। रसौंत यह दारुहरिद्रा के घनसत्त्व का नाम है। रसाञ्जन निर्माण की विधि शास्त्र में इस प्रकार उपलब्ध होती है-'दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जनाख्य तन्नेत्रयोः परमं हितम् ॥' अथवा-'दार्वीक्वाथमजाक्षीरपादपक्वं यदा घनम्। रसाञ्जनमिति प्राहुर्नेत्रयोः परम हितम् ॥' 'खर्परं दार्विकाक्वाथसभूत तु रसाञ्जनम्। दार्वीक्वाथमजाक्षीरे पक्व सान्द्रं रसाञ्जनम् ॥'

ऊपर दिये हुए रसाञ्जननिर्माण के कुछ प्रमाणों से आप यह अनुभव करेंगे कि इसके निर्माण में भी कई मत हैं। साथ ही वगाल के कविराज रसौंत को रसाञ्जन के नाम से व्यवहार में नहीं लाते हैं।

अञ्जनादिगण सुश्रुत सूत्रस्थान अ ३८ में आए हुए रसाञ्जन शब्द की व्याख्या में डल्हणाचार्य लिखते हैं कि 'रसाञ्जनं दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमम्। अन्ये त्वेव वदन्ति-रसाञ्जनं द्विविधं स्रोतोऽञ्जनं कृष्णपाषाणाकृतिधातुद्रव्यम्। अन्यद्दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमम्।' अर्थात

उद्दरण के समय में **रसाञ्जन** शब्द से कई वैद्य रसौंत को और कई वैद्य रसौंत और कृष्ण पाषाण सदृश धातु द्रव्य स्रोतोञ्जन दोनों को 'रसाञ्जन' नाम देते थे और रसाञ्जन को स्रोतोञ्जन का एक पर्याय मानते थे। किन्तु यह मान्यता इसलिए संगत नहीं है कि सुश्रुत सू. अ. ३८, ४५ में प्रतिपादित प्रियङ्ग्वादि गण में रसाञ्जन और स्रोतोञ्जन दोनों का समावेश मिलता है। रसाञ्जन और स्रोतोञ्जन में भेद न मानने वाले बंगाल के वैद्य सम्प्रति भी काले सुर्मे को ही रसाञ्जन मानते हैं और उसकी जगह में उसका ही व्यवहार करते हैं। स्व० डॉ० वामन गणेश देशाई ने 'भारतीय रसशास्त्र' नामक अपनी पुस्तक पृ. २३० में पारद की पीत भस्म (यलो ऑक्साइड् ऑफ् मर्क्युरी) को रसशास्त्रोक्त रसाञ्जन माना है। इसी प्रकार रसरत्नसमुच्चय की व्याख्या (पृ. ५९-६०) में श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णीजी आयुर्वेदाचार्य ने लिखा है कि 'रसौंत दारुहल्दी के क्वाथ से बनी हुई वस्तु है। काष्ठौषधि से बनी हुई वस्तु जिसमें पारद या अन्य किसी भी खनिज का कोई भी सम्बन्ध न हो रसशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ में नहीं लिखी जा सकती है। अर्थात् रसौंत नेत्र रोगों में हितकर होते हुए भी रसाञ्जन नहीं हो सकता है। रसाञ्जन कोई ऐसी वस्तु होगी जिसमें पारे का कुछ प्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य होगा। उसके पर्याय नामों से भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। रसगर्भम् (जिसके गर्भ में रस है), रसाग्रजम् (जो उसके अग्रभाग पर उत्पन्न होता है), रसोद्भवम्-(जिसकी पारद से उत्पत्ति है), अग्निसारम् (अग्नि की सहायता से जो सार द्रव्य प्राप्त होता है)-इन शब्दों से अनुमान होता है कि यह अग्नि की सहायता से बना हुआ पारद का कोई विशेष यौगिक है। संभवतः यह आजकल का 'यलो ऑक्साइड ऑफ् मर्क्युरी' होगा जो पारद को मूषा में रखकर खुली हवा में धीरे धीरे तपाने से वायु में के ऑक्सिजन के साथ पारद का संयोग होकर पारद के ऊपरी पृष्ठ पर पीले रंग के चूर्ण के रूप में पाया जाता है।......पिछली कई शताब्दियों से केवल ग्रन्थप्रामाण्य के आश्रित चलते रहने के कारण और उपलब्ध ग्रन्थों में इसके बनाने की विधियों का उल्लेख न होने के कारण तथा परंपरा भी छूट जाने के कारण अज्ञानवश पारद के पीत ऑक्साइड् के बदले में दारुहल्दी से बनाया हुआ रसौंत प्रयुक्त होने लगा और सौभाग्यवश नेत्र रोगों को दूर करने का गुण उसमें भी होने के कारण यह भ्रम पक्का ही हो गया। अब हम लोगों को अवश्य ही पारद के पीत ऑक्साइड् को बनाकर उसका उपयोग नेत्र रोग चिकित्सा में करना चाहिए। वास्तव में ऐलोपैथी में इसका उपयोग मरहम के रूप में जीवाणुओं का नाश करने और आँखों की पलक की कण्डू आदि हटाने के लिए प्रतिदिन किया जाता है। यदि स्वयं बनाने में कष्ट मालूम पड़े तो केमिष्ट के यहाँ से खरीद कर भी इसको काम में ला सकते हैं।'

श्री कुलकर्णीजी के रसाञ्जन-यह रसौंत नहीं इस कथन से हम सहमत नहीं हो सकते। उनकी 'रसाञ्जन यह रसौंत नहीं केवल 'यलो ऑक्साइड ऑफ् मर्क्युरी' ही हो सकता है-इसकी सिद्धि में केवल बुद्धि की कसरत ही प्रतीत होती है। रसाञ्जन के पर्यायवाची शब्दों के जो अर्थ किये हैं, उनमें रस शब्द से पारद का सम्बन्ध समीप को छोड़ कर दूर के विषय को पकड़ा है। यहाँ रस शब्द का तात्पर्य दारुहल्दी के रस से है न कि पारद से। जब रसाञ्जन के पर्यायों से उनमें रस शब्द होने मात्र से यह कल्पना करना कि यह पारद का ही यौगिक हो सकता है तब 'रसौंत' शब्द में भी रस शब्द है यह भी पारद का यौगिक होना चाहिए।

श्रीकुलकर्णीजी का यह कहना कि 'रसौंत दारुहल्दी के क्वाथ से बनी हुई वस्तु है। काष्ठौषधि से बनी हुई वस्तु जिसमें पारद या अन्य किसी भी खनिज का कोई सम्बन्ध न हो रसशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ में नहीं लिखी जा सकती है।'

उपर्युक्त कथन से आपका तात्पर्य यह है कि पारद का यौगिक होने से ही रसाञ्जन रसशास्त्र में स्थान पा सका अन्यथा उसका रसशास्त्र में उल्लेख न होता। हम श्रीकुलकर्णीजी से यह पूछना चाहते हैं कि कङ्कुष्ठ, कम्पिल्लक, अग्निजार और रक्तबोल आदि अनेकों द्रव्य ऐसे हैं जो काष्ठौषधिजन्य हैं और प्राणिज भी हैं किन्तु रसशास्त्रों में उनको सम्मानपूर्वक स्थान मिला हुआ है। आपने रसरत्नसमुच्चय की व्याख्या लिखी है उसमें भी अनेकों द्रव्य ऐसे हैं जो खनिज और पारद से सम्बन्ध नहीं रखते हैं। उनमें आपने ऐसा कोई प्रश्न उपस्थित नहीं किया कि यह रसशास्त्र की सीमा के बाहर का है। रसाञ्जन पर ही न जाने आपने यह आक्षेप क्यों लगा दिया कि यह काष्ठौषधिजन्य होता तो प्राचीन रस ग्रन्थों में स्थान नहीं पाता। तात्पर्य यह है कि आपके 'रसाञ्जन यह रसौत है' इसके विरुद्ध जितने तर्क हैं वे सगत नहीं बैठते हैं। हमारे मत से रसौंत यह रसाञ्जन है और रसाञ्जन यह रसौत पहले है फिर चाहे जो भी हो।

स्व० श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य लिखते हैं कि 'श्री कुलकर्णीजी के कथनानुसार यलो आक्साइड् ऑफ् मर्क्युरी' रसशास्त्रोक्त रसाञ्जन हो सकता है, परन्तु 'रसौंत रसाञ्जन नहीं हो सकता' यह उनका मत ठीक नहीं है।' इस विषय में स्व० आचार्य जी ने अनेकों प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि 'ऊपर के लेख से मालूम होगा कि चरक-सुश्रुत में वर्णित रसाञ्जन रसौंत ही हो सकता है, यलो ऑक्साइड् ऑफ् मर्क्युरी नहीं हो सकता।' (देखें रसामृत पृ १३७)॥

अथ गुणाः—

[1]रसाञ्जनं कटु श्लेष्मविषनेत्रविकारनुत्।
उष्णं रसायनं तिक्तं छेदनं व्रणदोषहृत्॥ २३५॥

रसाञ्जनमित्यादि। शेष स्पष्टम्॥ २३५॥

रसाञ्जन के गुण—रसाञ्जन चरपरा, कफ, विष और नेत्रविकारों को नष्ट करने वाला, उष्ण, रसायन, कडवा, छेदनकारक और व्रणदोषनाशक है॥ २३५॥

अथ नीलाञ्जनपुष्पाञ्जनलक्षणम्—

नीलाञ्जनं स्मृतं नीलवर्णं स्निग्धं च भारवत्।
पुष्पाञ्जनं रीतिकिट्टमिति केचिद्वदन्ति हि॥ २३६॥
रञ्जनानि तु सर्वाणि नेत्र्याणि परमं तथा।
विषघ्नानि विशेषाच्च हिध्माध्मानहराणि च॥ २३७॥

नीलाञ्जनमित्यादि—नीलाञ्जनं नीलवर्णं, स्निग्धं भारवच्च स्मृतम्। पुष्पाञ्जनं, रीति-किट्टं-पित्तलकिट्टमिति केचिद्रसममंज्ञा वदन्ति, नेदं माधवमतम्। शेषं सुस्पष्टम्॥ २३७॥

नीलाञ्जन और पुष्पाञ्जन के लक्षण—नीलाञ्जन नीले रंग का, चिकना और भारी होता है। पुष्पाञ्जन को कुछ लोग पीतल का किट्ट कहते हैं। सब प्रकार के अञ्जन नेत्रों के लिए परम हितकारी, विषघ्न और विशेष करके हिचकी और आफरा को नष्ट करने वाले हैं॥ २३६-२३७॥

अथ नीलाञ्जनशुद्धिः—

नीलाञ्जनं चूर्णयित्वा जम्बीररसभावितम्।
दिनैकमातपे शुद्धं भवेत्कार्येषु योजयेत्॥ २३८॥

---

१ अत्र रसाञ्जन 'रसवत' इति भाषाया प्रसिद्धम्॥

नीलाञ्जनमित्यादि। शेषं सुबोधम् ॥ २३८ ॥

नीलाञ्जन की शुद्धि—नीलाञ्जन को पीसकर जंबीरी निम्बू के रस में एक दिन भावना देकर धूप में सुखाने से वह शुद्ध हो जाता है, इसका सर्वत्र प्रयोग करे ॥ २३८ ॥

अन्यच्च—

अथवा भृङ्गजद्रावे स्विन्नानि सकलान्यपि।
अञ्जनानि विशुध्यन्ति सत्त्वं तेषां शिलासमम् ॥ २३९ ॥

अथवेत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ २३९ ॥

अथवा भागरे के रस में सब अञ्जनों को स्वेदित करने से शुद्ध हो जाते हैं और उनका सत्त्व-पातन मैनसिल के समान होता है ॥ २३९

षष्ठं कुलित्थाञ्जनमित्युक्तं राजनिघण्टौ—

कुलित्था दृक्प्रसादा च चक्षुष्या च कुलित्थका।
कुकुलाली लोकहिता कुम्भकारी मलापहा ॥ २४० ॥

कुलित्थेत्यादि। अन्यत्स्पष्टम् ॥ २४० ॥

छठ कुलित्थाञ्जन के विषय में राजनिघण्टुकार लिखते हैं कि कुलथी, दृष्टि को प्रसन्न करनेवाली और नेत्रों के लिए हितावह होती है, इसके नाम कुलथी, कुकुलाली, लोकहिता, कुम्भकारी और मलापहा हैं ॥ २४० ॥

अथ कुलित्थगुणाः—

कुलित्थिका तु चक्षुष्या कषाया कटुका हिमा।
विषविस्फोटकण्डूतिव्रणदोषनिबर्हणी ॥ २४१ ॥

इति वनकुलित्थाञ्जनं, 'चाकसू' इति पाश्चात्त्याः, चिमड़, इति भाषा। निस्तुषीकृतवनकुलित्थाच्चूर्णं पटेन संशोध्य शिशूनां नेत्ररोगे योजनीयम् ॥ २४२ ॥

कुलित्थिकेत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ २४१-२४२ ॥

कुलथी के गुण—कुलथी नेत्रों के लिए हितकारी, कषैली, चरपरी और शीतल होती है तथा विष, फोडे, खुजली और व्रणदोष को नष्ट करती है ॥ २४१-२४२ ॥

अथ टङ्कणक्षारः (सुहागा) इति भाषा। तस्य नामलक्षणगुणशुद्धि—

सौभाग्यं टङ्कणक्षारो धातुद्रावकमुच्यते।
टङ्कणोऽग्निकरो रूक्षः कफघ्नो वातपित्तकृत् ॥ २४३ ॥

सौभाग्यमित्यादि। सुबोधम् ॥ २४३ ॥

अब सुहागा के नाम, लक्षण, गुण और शुद्धि को कहते हैं—सौभाग्यक्षार, टङ्कणक्षार और धातुद्रावक ये सुहागा के नाम हैं। सुहागा जठराग्निवर्धक, रूक्ष, कफ को नष्ट करनेवाला और वातपित्तकारक है ॥ २४३ ॥

अशुद्धटङ्कणगुणाः—

अशुद्धष्टङ्कणो वान्तिभ्रान्तिकारी प्रयोजितः।
अतस्तं शोधयेदेव वह्नावुत्फुल्लितः शुचिः ॥ २४४ ॥

अशुद्ध इत्यादि। शेषं सुगमम् ॥ २४४ ॥

अशुद्ध सुहागा का सेवन वमन और भ्रम को उत्पन्न करता है, इस लिए उसको शुद्ध करके ही प्रयोग करें। सुहागा अग्नि में फुलाने मात्र से शुद्ध हो जाता है ॥ २४४ ॥

अथ गुणान्तरम्—

टङ्कणो वह्निकृत्स्वर्णरूप्ययोः शोधनः परः।
विषदोषहरो हृद्यो वातश्लेष्मविकारनुत् ॥ २४५ ॥
अपरो नीलकण्ठाख्यष्टङ्कणः पूर्वटङ्कणात्।
श्रेष्ठो नीलच्छविः किञ्चिच्छोधनं तस्य पूर्ववत् ॥ २४६ ॥

टङ्कण इत्यादि। स्पष्टमन्यत् ॥ २४५-२४६ ॥

सुहागा के और गुण—सुहागा अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, सोना और चांदी का उत्तम शोधक, त्रिदोषहारक, हृदय के लिए हितकारी और वायु तथा कफ के विकारों को नष्ट करनेवाला है। दूसरा सुहागा नीलकण्ठ नाम से प्रचलित है यह पूर्वोक्त सुहागा के गुणों से अधिक श्रेष्ठ है। इसका शोधन पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए ॥ २४५-२४६ ॥

अथ राजावर्तः

'लाजावर्त' (लाजवर्द) इति भाषा, 'रेवटी' इति च।

राजावर्तः स्मृतः कैश्चिद्बुधैरुपरसे तथा।
रत्नजातौ स्मृतः कैश्चिल्लक्षणं तस्य कथ्यते ॥ २४७ ॥
राजावर्तो द्विधा प्रोक्तः सरक्तो नीलमाश्रितः।
कथितः स गुरुः श्रेष्ठस्तदन्यो हीन उच्यते ॥ २४८ ॥

राजावर्त इत्यादि। कैश्चिद्बुधैः राजावर्त उपरसे स्मृतः यथाऽत्रैव-'राजावर्तकचुम्बकौ च स्फटिका शङ्खः खटी गैरिक'मित्यादिः।' तथा कैश्चिद्रसमर्मज्ञैः, रत्नजातौ स्मृतः। तदुक्तं रसरत्नसमुच्चये—'वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः। चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्तश्च सप्तम इत्यादिः।' शेषं स्पष्टम्।

केचित् ननु राजावर्तोऽयं कुत्रचिन्महारसेषु कुत्रचिदुपरसेषु कुत्रचिच्च रत्नेषु दृश्यते। अत्रापि कथन्नैकस्मिन्नेव यस्मिन्कस्मिंश्चित्प्रकरणे प्रोक्तः। उच्यते-महारसोपरसप्रकरणान्ते रत्नप्रकरणादौ चामुं विलिखन्नाचार्यः सर्वं समर्थयतीति। राजावर्त्तः खनिजो रत्नं चेत्यतो रसोपरसप्रकरणान्ते रत्नप्रकरणादौ च लिखित इति नव्याः ॥ २४७-२४८ ॥

अब लाजावर्त्त (लाजवर्द) को कहते हैं—लाजवर्दको कुछ लोग उपरसो में तो कुछ रत्नजाति में मानते हैं। लाजावर्त दो प्रकार का होता है एक लाल तथा दूसरा कुछ नीला है। नीले रंग का लाजवर्द भारी और श्रेष्ठ होता है दूसरा हीनगुणी है।

वक्तव्य—जो लाजवर्द कुछ ललाई और हरापन लिये नीले रंग का, भारी, कड़ा, स्वच्छ और चमकदार हो, जिस पर बीच बीच में सुनहरी छींटे हों तथा बीच में पत्थर का अंश न हो, वह अच्छा होता है। इस विशिष्ट गुरुत्व २½ और काठिन्य ५½ होता है ॥ २४७-२४८ ॥

अथ गुणाः—

राजावर्तः कटुस्तिक्तः शिशिरः पित्तनाशनः।
प्रमेहनाशकः प्रोक्तश्छर्दिहिक्कानिवारणः ॥ २४९ ॥

राजावर्त इत्यादि। शेषं स्पष्टम् ॥ २४९ ॥

लाजवर्द चरपरा, कटुवा, शीतल, पित्त को नष्ट करनेवाला, प्रमेहनाशक, छर्दि और हिचकी को नष्ट करनेवाला है ॥ २४९ ॥

अथ शोधनमारणम्—

> गन्धाश्ममातुलुङ्गाम्लश्रृङ्गवेररसेन च ।
> शुध्यति म्रियते चैव पुटितो नात्र संशयः ॥ २५० ॥

गन्धाश्मेत्यादि। राजावर्तो गन्धाश्मना, मातुलुङ्गाम्लेन-जम्बीरद्रवेण, श्रृङ्गवेररसेन च पृथक्-पृथक् विचूर्णितः सन् शुध्यति पुटितश्च, सप्तधेति शेषः। म्रियते।

राजावर्त का शोधन और मारण, गन्धक, बिजौरा निम्बू और अदरक इनके रस की भावना देने से लाजवर्द शुद्ध और ७ बार पुट देने से भस्म हो जाता है ॥ २५० ॥

अथ सत्त्वपातनम्—

> मनःशिलाज्यसंमिश्रः पाच्य पात्रे हि लोहजे ।
> पश्चाच्च महिषीक्षीरैर्मित्रपञ्चकसंयुतम् ॥ २५१ ॥
> मर्दयित्वाऽथ पिण्डं तु कृत्वा मूषानिवेशितम् ।
> ध्मातस्तु खदिराङ्गारैः सत्त्वं मुञ्चति तद्गतम् ॥ २५२ ॥

मनःशिलेत्यादि। अन्यत्स्पष्टम् ॥ २५१-२५२ ॥

लाजवर्द का सत्त्वपातन—मैनसिल और घी मिलाकर लोहे के पात्र में पकाना तत्पश्चात् भैंस के दूध से मित्रपञ्चकसहित लाजवर्द का मर्दन कर गोला बनाकर मूषा में रख खैर के अङ्गारों में धमन करे तो सत्त्वपातन होता है ॥ २५१-२५२ ॥

अथ चुम्बकः

स तु पाषाणजातिः। उक्तं च—

> कान्तलोहाश्मभेदाः स्युश्चुम्बकभ्रामकादयः ।
> चुम्बकः कान्तपाषाणोऽयस्कान्तो लोहकर्षकः ॥ २५३ ॥

कान्तेत्यादि। कान्तलोहाश्मभेदाः-कान्तायसपाषाणप्रकाराः, चुम्बकभ्रामकादयश्चत्वारः स्युः। यथा-'चुम्बकः, अयस्कान्तं चुम्बयेत्तत्कान्तं तु चुम्बकं मतम्' यदुक्तं लोहपद्धतावपि-'विन्ध्याद्रौ चुम्बन्त्यायसकीलकम्।' इति। कान्तपाषाणः, अयस्कान्तः, लोहकर्षकश्चेति। विशेषस्तु रसरत्नसमुच्चये-'भ्रामकं चुम्बकं चैव कर्षकं चैव द्रावकम्। एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तं च पञ्चमम्॥ एकद्वित्रिचतुष्पञ्च सर्वतो मुखमेव तत्। पीतं कृष्णं तथा रक्तं त्रिवर्णं स्यात्पृथक्पृथक्॥ क्रमेण देवतास्तत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। स्पर्शवेधी भवेत्पीतं कृष्णं श्रेष्ठं रसायने॥ रक्तवर्णं तथा चापि रसबन्धे प्रशस्यते। भ्रामकं तु कनिष्ठं स्याच्चुम्बकं मध्यमं तथा॥ उत्तमं कर्षकं चैव द्रावकं चोत्तमोत्तमम्। भ्रामयेल्लोहजातं यत्तत्कान्तं भ्रामकं मतम्॥ चुम्बयेच्चुम्बकं कान्तं कर्षयेत्कर्षकं तथा। साक्षाद्यद्द्रावयेल्लोहं तत्कान्तं द्रावकं भवेत्। तद्रोमकान्तं स्फुटिताद्यतो रोमोद्गमो भवेदि'त्यादि ॥ २५३ ॥

चुम्बक लोह—यह एक पत्थर की जाति का होता है। कान्तलोह के चुम्बक और भ्रामक आदि कई अन्वर्थक नाम हैं।

वक्तव्य—यह चुम्बक धर्मयुक्त लोहे का खनिज है। इसमें लोहे के तीन परमाणुओं के साथ ऑक्सिजन के चार परमाणु संयुक्त रहते हैं। चुम्बक पत्थर से जो लोहा निकाला जाता है उसमें चुम्बक गुण नहीं होता है। चुम्बक पत्थर से निकाले हुए लोहे को समस्त जाति के लोहों में उत्तम माना है। कान्तलोह सर्वोत्तम होता है ॥ २५३ ॥

अथ गुणाः—

चुम्बको लेखनः शीतो मेदोविषजरापहः।
कण्डूपाण्डूदरक्षैण्यमोहमूर्च्छायरोगहृत् ॥ २५४ ॥

चुम्बक इत्यादि। जघन्यारसुगमम् ॥ २५४ ॥

गुण—चुम्बकलोह लेखन, ठंडा, मेदो, विष को नष्ट करने वाला, खुजली, पाण्डुरोग, उदर, क्षीणता, मोह और सञ्ज्ञा नाश को दूर करता है ॥ २५४ ॥

अथास्य शोधनमुपयोगश्च—

शोभाञ्जनरसे साम्लवर्गे दोलागतो दिनम्।
शुध्यति पाचितः कान्तपाषाणः पारदोपकृत् ॥ २५५ ॥

शोभाञ्जनेत्यादि। साम्लवर्गे शोभाञ्जनरसे च कान्तपाषाणो दोलागतो दिनं यावत्पाचितः शुध्यति। शुद्धश्च पारदोपकृत्–रस उपकारको भवतीति शेषः ॥ २५५ ॥

शोधन विधि—चुम्बकलोह सहजने के रससहित अम्लवर्ग में दोलायन्त्र से एक दिन स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है। यह चुम्बकलोह पारा के काम में आता है ॥ २५५ ॥

अथ स्फटिका

'फिटकड़ी' इति भाषा। तस्या नामलक्षणगुणशोधनानि—

स्फटिका च स्फटी प्रोक्ता श्वेता शुभ्रा च रङ्गदा।
दृढरङ्गा च रङ्गाङ्गा रङ्गदृढा च कथ्यते ॥ २५६ ॥

स्फटिकेत्यादि। स्पष्टम् ॥ २५६ ॥

फिटकडी के नाम—स्फटिका, स्फटी, श्वेता, शुभ्रा, रङ्गदा, दृढरङ्गा, रङ्गाङ्गा और रङ्गदृढा हैं ॥ २२६ ॥

अथ गुणाः—

स्फटिका तु कषायोष्णा वातपित्तकफव्रणान्।
निहन्ति श्वित्रवीसर्पान् योनिसङ्कोचकारिणी ॥ २५७ ॥
स्फटिका निर्मला श्वेता श्रेष्ठा स्याच्छोधनं क्वचित्।
न दृष्टं शास्त्रतो, लोका वह्नावुत्फुल्लयन्ति हि ॥ २५८ ॥

स्फटिकेत्यादि–स्पष्टम्। विशेषस्तु रसप्रकाशसुधाकरे—'धान्याम्ले तुवरी क्षिप्ता त्रिदिनैः शुद्धिमृच्छति। क्षारैरम्लैश्च मृदिता ध्माता सत्त्वं विमुञ्चति ॥' इति। अत्र स्फटिकायाः काञ्जिकजले त्रिदिनं प्रक्षेपणेन शुद्धिः सा स्वरमणीया यतो द्रवसंयोगेन द्रवीभूतत्वादनुपलभ्या। अतोऽस्याः शोधनं वह्नावुत्फुल्लनमेव परमरमणीयमिति स्वानुभवः ॥ २५७–२५८ ॥

फिटकड़ी के गुण—फिटकड़ी कसैली, उष्ण, वात, पित्त और कफ के व्रणों को नष्ट करने वाली, श्वेतकुष्ट और विसर्प को मिटानेवाली है। फिटकड़ी श्वेत तथा निर्मल उत्तम होती है। फिटकड़ी का शोधन शास्त्र में कहीं नहीं मिलता किन्तु लोग अग्नि में फुलाकर उसे व्यवहार में लेते हैं ॥ २५७-२५८ ॥

अथ शङ्खस्य नामलक्षणगुणशोधनानि—

शङ्खः समुद्रजः कम्बुः क्षुद्रः शङ्खनकः स्मृतः।
द्विधा स दक्षिणावर्तो वामावर्तः शुभेतरः ॥ २५९ ॥
दक्षिणावर्तशङ्खस्त पुण्ययोगादवाप्यते ।
तिष्ठति यद्गृहेऽसौ वै स लक्ष्म्या भाजनं भवेत् ॥ २६० ॥
दक्षिणावर्तशङ्खस्तु त्रिदोषघ्नः शुचिर्निधिः ।
ग्रहालक्ष्मीक्षयक्ष्वेडक्षामताक्ष्यामयापहः ॥ २६१ ॥
शङ्खः क्षारो हिमो ग्राही ग्रहणीरोगनाशनः ।
नेत्रपुष्पहरो वर्ण्यस्तारुण्यपिटिकाप्रणुत् ॥ २६२ ॥
अशुद्धो गुणदो नैष शुद्धोऽम्लैः स गुणप्रदः।
शङ्खश्च विमल श्रेष्ठश्चन्द्रकान्तिसमप्रभः ॥ २६३ ॥

अम्लैः काञ्जिकादिभिर्दोलायन्त्रे स्विन्नः सन् शुध्यतीत्यर्थः ।

शङ्ख इत्यादि। शेष सुबोधम् ॥ २५९-२६३ ॥

अब शंख के नाम, लक्षण, गुण और शोधन कहते हैं—शंख, समुद्रज, कम्बु, क्षुद्र और शंखनक ये शंख के नाम हैं। शंख दो प्रकार का होता है एक दक्षिणावर्त और दूसरा वामावर्त। दक्षिणावर्त शंख पुण्योदय से ही उपलब्ध होता है जिसके घर में दक्षिणावर्त शंख रहता है वह लक्ष्मी का पात्र होता है तथा त्रिदोषघ्न, ग्रहदोष, दरिद्रता, क्षय, विष, क्षीणता और नेत्रों के रोग को नष्ट करने वाला एवं शुद्ध होता है। शंख—खारा, ठंढा, ग्राही, संग्रहणीनाशक, आँख के फूले को काटने वाला, वर्ण के लिए उत्तम और युवानपिटिकाओं को नष्ट करने वाला होता है। अशुद्ध शंख—यह गुण नहीं कर सकता, जब अम्लपदार्थों से शुद्ध किया जाता है तभी गुणप्रद होता है। शंख चन्द्रमा की कान्ति के समान उज्ज्वल एवं निर्मल उत्तम होता है।

वक्तव्य—ग्रन्थकार ने शंख की मारण (भस्म)-विधि नहीं दी है अतः ग्रन्थकारों से यहाँ दी जाती है—

'वह्नौ प्रोत्फुल्लयेत् किंवा सम्यग् लघुपुटे पचेत्।
कुन्दवज्जायते भस्म सर्वयोगेषु योजयेत् ॥'

अर्थात् शंख भस्म बनाने के लिए ऊपर लिखी हुई विधि से शुद्ध करके उनको कोयलों की तीव्र आँच में रखकर जलावे यह ध्यान रहे कि जहाँ पर शंखों को जलाया जावे वहाँ खुला हवा होनी चाहिए ताकि अग्नि खूब धधकती रहे। जब शंख लावा के समान फूल जावे तब निकाल कर ठंढा होने दें उसके बाद भली प्रकार पीसकर रख दें। दूसरी विधि-अथवा शुद्ध शंख के छोटे छोटे टुकड़े करके दो मिट्टी के शरावों में रखकर लघुपुट में फूँक दें। कुन्द के समान श्वेत भस्म होने से पीसकर रख ले। इस भस्म को निम्बू रस की भावना देकर सूखने पर पीसकर रख ले तो विशेष लाभदायक होती है ॥ २५९-२६३ ॥

अथ खटिका 'खडी' इति भाषा—

खटिका खटिनी चापि लेखनी च निगद्यते ।
खटी गौरखटी चेति द्विधाऽद्या मलिना स्मृता ॥ २६४ ॥
मृदुपाषाणसदृशा खटी शुभ्राऽधिका गुरुः ।
खटी दाहास्रनुच्छीता मधुरा विषशोथजित् ॥ २६५ ॥
कफघ्नी नेत्रयो. पथ्या लेखने वालकोचिता ।
पाषाणखटिका तद्वद् व्रणपित्तास्रजिद्धिमा ॥ २६६ ॥
लेपादेते गुणा प्रोक्ता भक्षिता मृत्तिकासमा ।
खटी गौरखटी द्वे च गुणैस्तुल्ये प्रकीर्तिते ॥ २६७ ॥

खटिकेत्यादि । खटिका, खटिनी, लेखनी चेति निगद्यते । खटी, गौरखटी चेति द्विधा भवति । तत्राद्या खटी मलिना, द्वितीया गौरखटी अधिका शुभ्रा, मृदुपाषाणसदृशा लेखने-लेखनकर्मणि वर्णमालादिलेखनविधावित्यर्थः । वालकोचिता शिशूनां योग्या । शेषं स्पष्टम् ॥ २६४-२६७ ॥

खडिया मिट्टी के नाम और गुण—खटिका, खटिनी और लेखनी ये खटिया के नाम हैं । खडी दो प्रकार की होती है, खडी और गौरखडी भेद से । पहली मलिन और दूसरी कोमल पत्थर के समान, अधिक सफेद तथा भारी होती है । खडी-दाह और रक्त को बन्द करती है, ठंढी, मधुर, विष तथा शोथ को नष्ट करने वाली, नेत्रों के लिए हितकारी, कफदोष को हरने वाली तथा वालकों के लेखन कर्म में उचित होती है । पत्थरखडी भी इन्हीं गुणों वाली है, रक्तपित्त को नष्ट करने वाली और शीतल होती है, ये गुण खडिया मिट्टी के लेप करने से होते हैं खाने पर तो मिट्टी के तुल्य होती है । खडी और गौरखडी दोनों गुणों में एक सरीखी होती हैं ॥२६४-२६७॥

अथ गैरिकम् 'गेरु' इति भाषा—

गैरिकं रक्तधातुश्च गैरेयं गिरिजं तथा ।
द्विविधं गैरिकं प्राहुः स्वर्ण सामान्यगैरिकम् ॥ २६८ ॥
परैस्तृतीयमप्युक्तं पाषाणाख्यं हि गैरिकम् ।
सुवर्णगैरिकं रक्ततरं शिष्टं तु रक्तकम् ॥ २६९ ॥

गैरिकमित्यादि । गैरिक द्विविधं प्राहुः रसशास्त्रज्ञा', एक स्वर्णं द्वितीयं सामान्यम् । परैः-अन्यतन्त्रकारैस्तृतीयमपि, पाषाणाख्यं गैरिकमुक्तम् । सुवर्णगैरिकम् अत्यन्तशोणितवर्णं रससिन्दूरादिधातुसदृश भवति । अवशिष्टं सामान्यादिकं रक्तक कथितम् विशेषो रसरत्नसमुच्चये-'पाषाणगैरिक चैक द्वितीय स्वर्णगैरिकम् । पाषाणगैरिक प्रोक्त कठिन ताम्रवर्णकम् । अत्यन्तशोणितं स्निग्धं मसृण स्वर्णगैरिकम् ॥' इति ॥ २६८-२६९ ॥

गेरु के नाम—गैरिक, रक्तधातु, गैरेय और गिरिज ये गेरु के नाम हैं । गेरु दो प्रकार का होता है सोनागेरु तथा सामान्यगेरु । कुछ तन्त्रकारों ने पाषाणगेरु कहकर इसके तीन भेद माने हैं । सोनागेरु अतिशय लाल होती है ॥ २६८-२६९ ॥

अथ गुणा :—

गैरिकद्वितयं स्निग्धं मधुरं तुवरं हिमम् ।
चक्षुष्यं दाहपित्तास्रकफहिक्काविषापहम् ॥ २७० ॥

अतिकण्डूहरं रूक्षं तथा प्रोक्तमुदर्दनुत् ।
पाषाणगैरिकं त्वन्यद्धिक्काऽलक्ष्मीविषापहम् ॥ २७१ ॥
सुवर्णगैरिकं श्रेष्ठं द्वितीयाद् गैरिकात्परम् ।
गैरिकं किञ्चिदाज्येन भृष्टं शुद्धं प्रजायते ॥ २७२ ॥

गैरिकेत्यादि । सुगमम् । तन्त्रान्तरे तु 'गैरिकं तु गवां दुग्धैर्भावित शुद्धिमृच्छति ।' यद्यप्यस्य सम्प्रदायात्सत्त्वपातन नैव भवति तथाऽपि रसरत्नसमुच्चये रसवाग्भटोऽन्येषां मत प्रदर्शयन्नाह-'कैरप्युक्त पतेत्सत्त्व क्षाराम्लस्विन्नगैरिकात् । उपतिष्ठति सूतेन्द्र एकत्वं गुणवत्तरम् ॥' इति । किन्त्वत्रैव नन्दिनोक्तं 'सत्त्वरूपं हि नन्दिना परिकीर्तितम् ।' इति नन्दिमते सत्त्वपातनस्यावश्यकता नास्ति, अयमेव पक्षो माधववाग्भटयोः सम्मतः ॥

गेरु के गुण और शुद्धि—दोनों प्रकार का गेरु-चिकना, मधुर रसवाला, कसैला, शीतल, नेत्रों के लिए हितकारी, दाह, पित्त, रक्त, कफ, हिचकी और विषनाशक होता है, तथा अतिशय खुजली और उदररोग नष्ट करता एवं रूक्ष होता है । तीसरा पाषाणगेरु भी हिचकी, दरिद्रता और विषनाशक होता है । सोनागेरु सर्वोत्तम है । गेरू लोहा और ऑक्सिजन का यौगिक होता है । घी के साथ किञ्चित् मात्र अग्नि में भूनने से सभी गेरु शुद्ध हो जाते हैं ॥ २७०–२७२ ॥

अथ कासीसम्—

तत्तु भस्मवन्मृत्तिकाऽम्ला ।
कासीसं धातुकासीसं पांसुकासीसमित्यपि ।
किंचित्तदेव पीतं तु पुष्पकासीसमुच्यते ॥ २७३ ॥
कासीसद्वयमम्लोष्णं तिक्तं च तुवरं तथा ।
वातश्लेष्महरं केश्यं नेत्र्यं कण्डूविषप्रणुत् ॥ २७४ ॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीश्वित्रनाशनं परिकीर्तितम् ।
सकृद्भृङ्गाम्बुना स्विन्नं कासीसं निर्मलं भवेत् ॥ २७५ ॥

तदित्यादि । कासीसं द्विविध भवति । एकं पांसुकासीसं, द्वितीयं पुष्पकासीसं च । यदुक्त पद्मनाभसूनुना-'कासीसं प्रथमं हि सैकतमिदं पुष्पाख्यमन्यत्तथा ॥' इति । रसरत्नसमुच्चयेऽपि-'कासीसं वालुकाद्येकं पुष्पपूर्वमथापरम् ।' इति । ग्रन्थान्तरे तु सित-श्यामपीतभेदेन त्रिविधमुपलभ्यते कासीसम् , किन्त्वत्र तु द्विविधमेव गृहीत माधवेन द्वयोर्मध्य एव तृतीयस्यान्तर्भावित्वात् ।

विशेषः—'साराम्लवगुरुधूमाभं सोष्णवीर्यं विषापहम् । वालुकाद्यमि'ति । 'पुष्पकासीस श्वित्रघ्न केशरञ्जनम्' इति । 'पुष्पादिकासीसमतिप्रशस्तं सोष्णं कषायाम्लमतीव नेत्र्यम् । विषानिलश्लेष्मगदव्रणघ्नं श्वित्रक्षयघ्नं कचरञ्जन च ॥' इति । 'कासीसं शुद्धिमाप्नोति पित्तैश्च रजसा स्त्रिय । तुवरी सत्त्ववत्सत्त्वमेतस्यापि समाहरेत् ॥ वलिना हतकासीस कान्तं कासीसमीरितम् । उभयं समभाग हि त्रिफलावेल्लसयुतम् ॥ विषमांशघृतक्षौद्र-प्लुतं शाणमित प्रगे । सेवित हन्ति वेगेन श्वित्रं पाण्डु क्षयामयम् ॥ गुल्मप्लीहगदं शूलं मूलरोगमशेषत' । रसायनविधानेन सेवित वत्सरावधि । आमसशोषणं श्रेष्ठं मन्दाग्नि-परिदीपनम् ॥' इति रसवाग्भटः ॥ २७३–२७५ ॥

कासीस राख के समान खट्टी मिट्टी होती है । (कासीस प्राकृतिक रूपमें मिलता है और भारत

वर्ष में यह प्राचीन काल में कृत्रिम भी तयार होता था। आजकल यह लोहे और गंधकाम्ल (सल्फ्युरिक एसिड) के योग से बडे कारखानों में बनाया जाता है और यही बाजार में मिलता है।) कासीस, धातुकासीस और पांसुकासीस ये उसके नाम हैं। किञ्चित् मात्र पीली पुष्पकासीस होती है। कासीस दो प्रकार की होती है पांसुकासीस तथा पुष्पकासीस भेद से। दोनों भी प्रकार की कासीस अम्ल, उष्ण, कडवी, कषैली, वायु-कफ को नष्ट करने वाली, केश तथा नेत्रों के लिए हितकारी, खुजली और विषनाशक, मूत्रकृच्छ्र, पथरी और सफेद कुष्ठ को नष्ट करती है। एक वार भांगरे के रस में स्वेदन करने से कासीस शुद्ध हो जाती है। विलायती दवा बेचने वालों के यहाँ 'सल्फेट आफ् आयन्' के नाम से मिलता है जो शुद्ध होता है। इसका औषध में प्रयोग किया जाता है ॥ २७३-२७५ ॥

अथ रसकः

'खपरिया' इति भाषा—

रसकस्तुत्थभेदः स्यात्खर्परं चापि तत्स्मृतम् ।
ये गुणास्तुत्थके प्रोक्तास्ते गुणा रसके स्मृताः ॥ २७६ ॥
खर्परो द्विविधो ज्ञेयो दर्दुरः कारवेल्लकः ।
सदलो दर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेल्लकः ॥ २७७ ॥
दर्दुरः सत्त्वपाते स्यादौषधे कारवेल्लकः ।

रसक इत्यादि । शेषं सुगमम् ॥

विशेषः—रसपद्धतौ यथा—'द्विरसुत्थं तु मयूरखर्परभिदा तत्राद्यमाहुः शिखि-ग्रीवाकान्ती'त्यादिः। रसरत्नसमुच्चयटीकायां यथा—'अतिप्राचीनग्रन्थेषु रसार्णवादिषु रसकनाम्नैव व्यवहारः। ततो नव्येषु खर्परव्यवहारस्ततः परं केचिदेनं तुत्थभेदमाहुः, केचिच्च यशदमाहुः। वस्तुतस्तु रसार्णवे रसकस्य तुत्थो रीतिकृच्च नाम वर्तते, तस्मात्कारणादायुर्वेदसमुन्नत्यभावाच्च निजनिजग्रन्थनव्यत्वप्रकटीकरणाच्चैष व्यतिक्रमो जातः। यावदवधि संप्रदायः स्थिरः आसीत्तावत्पर्यन्तं रसके, खर्परे, तुत्थे, यशदे च नासीत्काचिदनुपपत्तिः, भङ्गतां गते संप्रदाये पृथक्पृथग्रूपेण वर्णितेषु रसकादिषु शब्देषु समुत्पन्नो भ्रम इति' भाति। रसार्णवस्थतुत्थादिपर्यायाणामयमभिप्रायः 'तुत्थ' आवरणे धातोः सिद्धस्तुत्थशब्द आवरकवाचक आवरकश्च पत्रं जवनिका वा, एष पर्यायो दर्दुरमभिलक्ष्य कृत इति मन्ये तस्य पत्राकारत्वात्। अस्योपादानकारणं यशदं वर्तत एवेतिहेतोर्यशदं रीतिकृच्च पर्यायः, रसकामधेनौ रसप्रकाशसुधाकरादौ च रसकतुत्थकपदार्थानां पृथक्पृथगेवास्ति वर्णनं, यद्येतेषामेकत्वमवान्तरभेदत्वं वा स्यात्तर्हि पृथक्पृथग्वर्णनमेव कृतं न स्यात्। यत्तु यत्र क्वचित्खर्परवर्णनं तत्र 'यशदवङ्गवज्ज्ञेयम्' इति प्राचीनवचनं प्रमाणम्। अत्रायुर्वेदप्रकाशे च खर्परयशदवर्णनं कुर्वता माधवेन द्वयोर्भिन्नपदार्थत्वं प्रतिपादितम्। सम्प्रति तु 'जिंक कार्बोनेट' नाम्ना 'केलोमैन' नाम्ना वा व्यवहारः। सम्प्रदायपरास्तु बहवो वैद्या रसकस्थाने यशदं, तुत्थं वा व्यवहरन्ति। यशदव्यवहार एव समीचीन इति मन्ये। यद्यपि रसकसत्त्वमपि यशदमेव भवति तथापि यशदधात्वपेक्षया रसकसत्त्वरूपयशदस्य महद्वैलक्षण्यमिति सत्यपि वृद्धसङ्केते सम्प्रत्येतादृशी दशैव दृश्यते। यथान्यत्रापि—'मृत्तिकागुडपाषाणभेदतो रसकस्त्रिधा। पीतस्तु मृत्तिकारसको वरः। गुडाभो मध्यमो ज्ञेयो पाषाणाभः कनिष्ठकः॥ सदलो दर्दुर इति निर्दलः कारवेल्लकः। द्विधैव स

पुनः सत्त्वपातौषध्यादियोगयोः ॥' इति । तत्र मृत्तिका (Elaming) गुड, (Reegincore) पाषाण, (Blende) इति विख्यातः । असौ रसकः खर्परो वा इदानीं यं जिङ्क ओट (Zincote) कथयन्ति एतान्येकान्येव द्रव्याणि सन्ति । यशद–खर्पर–नाम्ना वा यदापणे मिलति तत्खर्परसत्त्वं रसकसत्त्वमेवास्ति । यथोक्त तन्त्रान्तरेषु–'सत्त्व कुटिल (रङ्ग) सकाशं मुञ्चत्येव न संशयः । रसको नेत्ररोगारी रीतिकृत्ताम्ररञ्जकः ॥ रसको रञ्जक...... त्रिदोषघ्नस्तु...तत्सत्त्वं नेत्रदोषविनाशनम् ॥' इति रसार्णवः । 'सत्त्वं वङ्गाकृति ग्राह्य रसकस्य मनोहरम् ।' 'वङ्गाभं पतितं सत्त्वं समादाय नियोजयेत् ।' खर्परे विद्रुते ज्वाला भवेन्नीला सिता यदि ।' 'रक्तगुल्मं च नारीणां प्रदरं सोमरोगकम् । योनिरोगानशेषांश्च विषमान्वै ज्वरानपि ॥' इति रसरत्नसमुच्चयः । 'यशदं रङ्गसदृशं रीतिहेतुश्च तन्मतम् ।' भा. प्र. नि. । 'यशदप्रभमत्यच्छं सत्त्व पतति ॥' 'यशद' प्रभवः ।' र. यो. त. ॥ खर्पर-वर्णने नीलसितयोर्ज्वालयोरुल्लेखोऽस्ति तदेव वर्णनं 'जिङ्क' ज्वालायाः सुष्ठु सादृश्यमावहति । तथैव प्रदरसोमविषमज्वरादिनाशिनी शक्तिः, यशद (जिङ्क) भस्मन्यपि विद्यते न वेति तु खर्परवर्णनादेव प्रतीयते । उपर्युक्तप्रमाणै रसकसत्त्व यशदमेवेति विशद भवति । एके तु खर्परस्थाने खर्परसत्त्वं (यशद) भ्रमात्मकमित्यामनन्ति । यतो भेषजविधौ ग्रहणयोग्यकारवेल्लके यशदभागस्यातिरिक्ताः 'सिलिका' दयो ये खनिजाः सन्ति तेऽधिक-महत्त्वप्रदा इत्यादिः । किन्तु नायं पक्षो रमणीयः । यथा–'यत्रोपरसभागोस्ति रसे तत्सत्त्व-योजनम् । कर्तव्य तत्फलाधिक्यं रसज्ञत्वमभीप्सता ॥' इत्यत्रैव प्रागुक्तमस्ति । अतः खर्परस्थाने रसकसत्त्व यशदाख्यमेव ग्रहीतव्यमिति निर्णीतोऽर्थः ।

'देशाई' महोदयास्तु स्वकीये 'भारतीयरसशास्त्रे' रसकतो यशदस्य सत्त्वपातनं प्रतिपादयन्तो लिखन्ति यद्रसक मृत्तिकाख्यं क्षोदयित्वा भ्रूण्ठौ स्थापयेत्तेन तदन्तरस्था सूक्ष्मछिद्रभूता यदा भवेत्तदा शुष्क विधायोष्णं कुर्यात् । तेन कोकिलसार=(कार्बन् डाइ-ऑक्साइड्) नामको वात उड्डीय तुत्थपुष्प (झिन्क् आक्साइड्) भवति ॥

पाषाणभरसकं कुट्टयित्वा त्रियामं चतुष्टय यावदालोडयेत्ततोऽनावृत्ते परावृत्ते तवके तापयेत्, तेन गन्धकभागो विनश्य यशदपुष्पं (झिन्क् आक्साइड) भवति । एतदेव रसक खर्परं चेत्यपि तेषामभिमतम् ॥ २७६–२७७ ॥

खपरिया का परिचय—रसक यह तुत्थ (नीला थोथा) का भेद है इसको खपरिया भी कहते हैं । जो गुण तुत्थ में होते हैं वे खपरिया में भी होते हैं । खर्पर दो प्रकार का है दर्दुर और दूसरा कारवेल्लक । जिसमें दल (अभ्रक के समान पत्ते पत्ते हों) वह दर्दुर और जिसमें दल न हों वह कारवेल्लक होता है । सत्त्वपातन में दर्दुर और औषधकार्य में कारवेल्लक का प्रयोग होता है ॥ २७६–२७७ ॥

अथ गुणाः—

रसक सर्वमेहघ्नः कफपित्तविनाशन ॥ २७८ ॥
नेत्ररोगक्षयघ्नश्च लोहपारदरञ्जनः ।

रसक इत्यादि । अन्यत्सुगमम् ॥ २७८ ॥

खपरिया के गुण—खर्पर सपूर्ण प्रमेहों को नष्ट करनेवाला, कफपित्तनाशक, नेत्ररोग और क्षय को हरनेवाला, धातु और पारे का रञ्जन करनेवाला है ॥ २७८ ॥

अथान्यत्रापि—

खर्परं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु ॥ २७९ ॥

लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तनुत् ।
विषाश्मकुष्ठकण्डूनां नाशनं परमं मतम् ॥ २८० ॥

खर्परमित्यादि । सुस्पष्टम् ॥ २७९-२८० ॥

खपरिया चरपरा, खारा, कषेला, वमनकारक, हलका, लेखन, मल को फोडनेवाला, शीतल, नेत्रों के लिए हितकारी, कफ और पित्त का नाशक, विष, पथरी, कुष्ठ और खुजली को नष्ट करता है ॥ २७९-२८० ॥

अन्यच्च—

नागार्जुनेन संदिष्टो रसश्च रसकावुभौ ।
श्रेष्ठौ सिद्धरसौ ख्यातौ देहलौहकरौ परम् ॥ २८१ ॥
रसश्च रसकश्चोभौ येनाग्निसहनौ कृतौ ।
देहलोहमयीसिद्धिर्दासी तस्य न संशयः ॥ २८२ ॥
अशुद्धखर्पर कुर्याद्वान्ति भ्रान्ति विशेषतः ।
तस्माच्छोध्य प्रयत्नेन यावद्वान्तिविवर्जित ॥ २८३ ॥

नागार्जुनेत्यादि । नागार्जुनेन रसो रसकः—खर्परश्च, उभौ श्रेष्ठौ संदिष्टौ । सिद्धरसौ सूतखर्परौ क्रियासिद्धिं गतौ, परं देहलोहकरौ—शरीरं लोहवद्दृढविधायकौ ख्यातौ। रसश्च रसकश्च उभौ—सूतखर्परौ, येन-भिषजा; अग्निसहनौ कृतौ तस्य देहलोहमयी सिद्धिः अनुचरी जायत इति न सशय. । रसस्याग्निस्थायित्वविधायका बहुशः प्रकाराः प्रागुक्ता अतोऽत्र न पुनरुच्यन्ते ग्रन्थविस्तरभिया, किन्तु रसकस्थायिकरणप्रकारो दृश्यते यथा—'शुद्धं किंचुलजं सत्त्वं तद्रसैर्वापि मर्दितम् । स्थैर्यं भजेत्स रसको नान्यैः कोटिशतैरपि ॥' इति । शेषं स्पष्टम् ॥ २८१-२८३ ॥

नागार्जुन का कहना है कि पारा और खर्पर ये दोनों उत्तम रसायन होते हैं । सिद्ध होने पर देह तथा लोह के लिए सर्वश्रेष्ठ हैं । जिसने पारा तथा खपरिया को अग्निस्थायी कर लिया है उसकी देहसिद्धि और लोहसिद्धि दोनों दासी के समान हैं । अशुद्ध खर्पर विशेषतः वमन और चक्कर पैदा करता है अत सावधानतापूर्वक जब तक उसका वामक दोष दूर न हो जावे तब तक शुद्ध करे ॥ २८१--२८३ ॥

अथ शोधनम्—

नृमूत्रे वाऽथ गोमूत्रे जम्भाम्ले वा ससैन्धवे ।
सप्ताहं त्रिदिनं वाऽपि पक्व शुध्यति खर्पर' ॥ २८४ ॥

नृमूत्र इत्यादि । शेषं सुगमम् । विशेषो यथा रसपद्धतौ—'द्विस्तुत्थ तु मयूरखर्परभिदा तत्राद्यमाहु. शिखि । ग्रीवाकान्ति तदम्लवर्गलुलितं स्नेहेन सिक्त पुनः । दोलायां परिपक्वमश्वसुरभीमूत्रे दिनं शुध्यति ॥' इति ॥ २८४ ॥

खपरिया की शुद्धि—खपर को मनुष्य के मूत्र, गोमूत्र, निम्बू का रस अथवा सेन्धा नमक का पानी किसी एक में ७ अथवा ३ दिन पकावे तो शुद्ध हो जाता है ॥ २८४ ॥

अथ वाग्भट'—

खर्पर परिसन्तप्त सप्तवारं निमज्जित. ।
बीजपूररसस्यान्तर्निर्मलत्वं समश्नुते ॥ २८५ ॥

खर्पर इत्यादि। सप्तधा प्रतप्य सप्तधैव बीजपूरनिम्बुरसे निमज्जनं कुर्यादिति तात्पर्यम्। शेषं स्पष्टम् ॥ २८५ ॥

रसवाग्भट के मत में—खर्पर को तपा-तपाकर ७ बार बिजोरे के रस में डुबोवे तो शुद्ध हो जाता है॥ २८५॥

अथान्यच्च—

नृमूत्रे वाऽश्वमूत्रे वा तक्रे वा काञ्जिकेऽथवा।
प्रताप्य मज्जितं सम्यक् खर्परं परिशुध्यति ॥ २८६ ॥

नृमूत्र इत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ २८६ ॥

तीसरा प्रकार-खपरिया को तपा-तपाकर ७ अथवा ३ दिन मनुष्यमूत्र या घोडे के मूत्र या छाछ अथवा काजी में डालने से भलीभांति शुद्ध हो जाता है ॥ २८६ ॥

मतान्तरम्—

कटुकालाबुनिर्यासे ह्यालोड्य रसकं पचेत्।
शुद्धं दोषविनिर्मुक्तं पीतवर्णं च जायते ॥ २८७ ॥

कटुकेत्यादि। अन्यत्सुबोधम् ॥ २८७ ॥

चौथा प्रकार—कडवी तुम्बी के रस में घोटकर खर्पर को पकावे तो सपूर्ण दोषों को छोडकर शुद्ध एव पीले रग का उत्तम खर्पर हो जाता है ॥ २८७ ॥

यथान्यच्च—

नरमूत्रे स्थितो मासं रसको रञ्जयेद् ध्रुवम्।
शुद्धं ताम्रं रसं तारं शुद्धस्वर्णप्रभं यथा ॥ २८८ ॥

नरमूत्र इत्यादि। सुगमम्। विशेषो ग्रन्थान्तरे 'खर्परं रेतितं शुद्धं स्थापितं नरमूत्रके। रञ्जयेन्मासमेकं हि ताम्रं स्वर्णप्रभ वरम् ॥' इति ॥ २८८ ॥

एक मासतक मनुष्य के मूत्र में रखा हुआ खपरिया शुद्ध तावा, पारा और चादी को शुद्ध-सुवर्ण के समान रजित कर देता है ॥ २८८॥

क्वचिदस्य भस्मप्रकार उक्त—

खर्परं पारदेनैव चूर्णयित्वा दिनं पचेत्।
वालुकायन्त्रमध्यस्थं शोणं भस्म प्रजायते ॥ २८९ ॥

खर्परमित्यादि। स्पष्टम्। क्वचित् 'शोभनं भस्म जायते' इति पाठान्तरम् ॥२८९॥

खर्पर का भस्मप्रकार-शुद्ध पारे के साथ खपरिया को मर्दन करके एक दिनतक वालुका-यन्त्र में पकाने से लाल भस्म हो जाती है ॥ २८९ ॥

अन्यच्च—

कृत्वा खर्परपत्राणि पचेल्लवणयन्त्रके।
जायते शोभनं भस्म सर्वरोगापहं स्मृतम् ॥ २९० ॥

कृत्वेत्यादि। अन्यत्सुगमम्। लवणयन्त्रलक्षण यथा रसेन्द्रचूडामणौ-'पञ्चाढवालुकापूर्णे भाण्डे निक्षिप्य यत्नतः। पच्यते रसगोलाद्य वालुकायन्त्रमीरितम् ॥ एवं लवणनिक्षेपात् प्रोक्तं लवणयन्त्रकम्।' इति ॥ २९० ॥

खर्पर-पत्रोंको सूक्ष्मचूर्ण करके लवणयन्त्र में पकाने से समस्त रोगों को नष्ट करनेवाली सुन्दर भस्म हो जाती है ॥ २९० ॥

सत्त्वप्रकारस्तु—

लाक्षागुडासुरीपथ्याहरिद्रासर्जटङ्कणैः ।
सम्यक् संमर्द्य तत्पक्कं गोदुग्धेन प्लुतं तथा ॥ २९१ ॥
वृन्ताकमूषिकामध्ये निरुध्य गुटिकाकृतिम् ।
ध्मात्वा ध्मात्वा समाकृष्य ढालयित्वा शिलातले ॥ २९२ ॥
सत्त्वं वङ्गाकृति ग्राह्यं रसकस्य मनोरमम् । इति ॥
रसादिषु शोधयित्वैव देयम् ॥ २९३ ॥

लाक्षेत्यादि । सुबोधम् । वृन्ताकमूषिकायन्त्रलक्षणं यथा-रसेन्द्रचूडामणौ-'वृन्ताकाकारमूषायां नालं दत्त्वा दशाङ्गुलम् । धत्तूरपुष्पवच्चोर्ध्वं सुदृढं शिलष्टपुष्पवत् । अष्टाङ्गुलं च सच्छिद्रं सा स्यात् वृन्ताकमूषिका ॥' इति ॥ २९१-२९३ ॥

खर्पर की सत्त्वपातन विधि—लाख, गुड, राई, हरड, हलदी, राल और सुहागा इन सब को खपरिया के बराबर लेकर भलीभाति मर्दनकर गाय के दूध में पकाकर गोली बनावे उस गोली को वृन्ताकमूषा में बन्द करके बार-बार धमन करता जावे और शिलपर ढालता जावे, वङ्ग के समान आकारवाले सुन्दर खर्परसत्त्व को ग्रहण करे रसादिकों में खर्पर का प्रयोग करना हो तो केवल शोधन करके ही करे ॥ २९१-२९३ ॥

अथ कपर्दिका

'कौडी' इति भाषा—

कपर्दिका कपर्दी च वराटी च वराटिका ।
वराटिका त्रिधा प्रोक्ता श्वेता शोणा तथाऽपरा ॥ २९४ ॥
पीता सा चातिचक्षुष्या श्वेता शोणा हिमाऽव्रणा ।
असिता विन्दुभिः श्वैतैर्लाञ्छिता रेखयाऽथवा ॥ २९५ ॥
बालग्रहहरी नानाकौतुकेषु च पूजिता ।
पीता गुल्मयुता पृष्ठे रसयोगेषु पूजिता ॥ २९६ ॥
सार्धनिष्कप्रमाणाऽसौ श्रेष्ठा योगेषु युज्यते ।
निष्कप्रमाणा मध्या सा हीना पादोननिष्किका ॥ २९७ ॥

कपर्दिकेत्यादि । स्पष्टम् ॥ २९४-२९७ ॥

कौडी के नाम और गुण—कपर्दिका, कपर्दी, वराटी और वराटिका ये कौडी के नाम हैं। कौडी तीन प्रकार की होती है सफेद, लाल और पीली। कौडी नेत्रों के लिए अतिशय हितकारी होती है। काली कौडी जिसपर सफेद विन्दु अथवा रेखाएं हों वह बालकों के ग्रहदोष को नष्ट करनेवाली तथा अनेक प्रकार के क्रीडा आदि कार्यों में उत्तम मानी गई है। जिस पीली कौडी के पीठपर गठान सी हो वह रसयोगों में श्रेष्ठ मानी जाती है तथा जो डेढ टंक प्रमाण वजनदार हो वह योगों में ली जाती है; एक टक की मध्यम और पौन टक की अधम होती है ॥ २९४-२९७ ॥

अन्यत्रापि—

पीताभा ग्रन्थिला पृष्ठे दीर्घवृत्ता वराटिका।
सार्धनिष्कमिता श्रेष्ठा निष्कभारा च मध्यमा॥ २९८॥
पादोननिष्कभारा च कनिष्ठा परिकीर्तिता।
वराटा काञ्जिके स्विन्ना यामाच्छुद्धिमवाप्नुयात्॥ २९९॥

पीताभेत्यादि। शेषं सुबोधम्। क्वचित्पुस्तके 'रसवैद्यैर्विनिर्दिष्टा सा चराचरसंज्ञिका।' इति पाठोऽधिकः॥ २९८-२९९॥

पीली कौड़ी, पीठपर गाँठ वाली, बड़े वृन्तवाली, डेढ़ टंक वजन की उत्तम, एक टंक वजन की मध्यम और पौन टंक वजन की अधम होती है। कौड़ी को काँजी में एक प्रहर तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाती है॥ २९८-२९९॥

अङ्गाराग्नौ स्थिता ध्माता सम्यक् प्रोत्फुल्लिता यदा।
स्याद्गशीता मृता, तां तु पिष्ट्वा सम्यक् प्रयोजयेत्॥ ३००॥

अङ्गारेत्यादि। अन्यत्स्पष्टम्॥ ३००॥

कपर्दिका भस्म—अग्नि के खीरों पर रखकर भली भाँति कौड़ी को फुलाने से भस्म हो जाती है उसको पीसकर सर्वत्र प्रयोग करे॥ ३००॥

कपर्दिका हिमा नेत्रहिता स्फोटक्षयापहा।
कर्णस्रावाग्निमान्द्यघ्नी पित्तास्रकफनाशिनी॥ ३०१॥

कपर्दिकेत्यादि। स्पष्टम्॥ ३०१॥

कपर्दिका के गुण—कौड़ा शीतल, नेत्रों के लिए हितकारी, फोड़े और क्षयरोग को नष्ट करनेवाली, कर्णस्राव, अग्निमान्द्य, पित्त, रक्त और कफ को हरती है॥ ३०१॥

अन्यत्र—

कटूष्णा दीपनी वृष्या तिक्ता वातकफापहा।
परिणामादिशूलघ्नी ग्रहणी क्षयहारिणी॥
रसेन्द्रजारणे प्रोक्ता विडद्रव्येषु शस्यते॥ ३०२॥

कटि्वत्यादि। परिणामप्रभृतिकशूलहरी, आदिग्रहणेन अन्नद्रवादीनामपि ग्रहणम्। ग्रहणीक्षयहारिणी तथा रसेन्द्रजारणे विडद्रव्येषु-विडपदार्थेषु शस्यते क्षारत्वात्। वराटिकामुक्ताप्रवालशङ्खशुक्तिशम्बूकादीनामुपादानकारण सुधा वर्तत इति वृद्धाः। 'वराटिकां काञ्जिके पाचयित्वा कुमार्या दुग्धेन वा पुटयित्वा मारयेत्' इत्यन्ये॥ ३०२॥

दूसरा प्रकार—चरपरी, उष्ण, अग्निदीपक, वृष्य, कड़वी, वातकफ को नष्ट करनेवाली, परिणाम आदि शूलरोग, संग्रहणी और क्षयरोग को हरने वाली होती है तथा पारे के जारण विट पदार्थों में सबसे उत्तम कही है॥ ३०२॥

अथ सिकता

'वालु' इति भाषा—

वालुका सिकता प्रोक्ता शर्करा रेतिकाऽपि च।
वालुका मधुरा शीता संतापश्रमनाशिनी॥ ३०३॥

स्वेदप्रयोगतश्चैव शाखाशैत्यानिलापहा ।
तद्वच्च लेखनी प्रोक्ता व्रणोरःक्षतनाशिनी ॥ ३०४ ॥
शर्कराभ्यस्तु गृह्णन्ति चुम्बकेन ह्ययोरजः ।
सुकरं त्विदमाख्यातं तच्च संशोध्य मारयेत् ॥ ३०५ ॥

वालुकेत्यादि । शाखाशैत्यानिलापहा—शाखानां हस्तपादादीनां यच्छैत्यं शाखाशैत्य शाखाशैत्यं च तत् अनिलं च शाखाशैत्यानिलं तदपहन्तीत्यपहा । चुम्बकेन—कान्तपाषाणेन, अयोरजो गृह्णन्ति अयमेव लोहचूर्णग्रहणप्रकारः सुकरः अन्यत्स्पष्टम् ॥ इति सिकतालोहरजोग्रहणप्रकारः ॥ ३०३–३०५ ॥

वालुका, सिकता, शर्करा और रेतिका ये बालु के संस्कृत नाम हैं । बालु, रस में मीठी, शीतल, संताप और थकावट को दूर करने वाली, स्वेदन कर्म से शाखाओं का ठंढापन और वायु दूर करती है । उसी प्रकार लेखन करने वाला, व्रण और उर क्षत रोग को हरने वाली होती है । बालु से ही लोहचुम्बक द्वारा लोहे के सूक्ष्म कणों को संग्रह करके शुद्ध करे और मारे ॥३०३–३०५॥

अथ बोलस्य नामलक्षणगुणाः—

बोलगन्धरसप्राणपिण्डगोपरसाः समाः ।
बोलं तु त्रिविधं प्रोक्तं रक्तं श्यामं मनुष्यजम् ॥ ३०६ ॥

बोलेत्यादि । बोल रक्त—रक्तवर्णं, श्यामं—कृष्णं, मनुष्यज मानुषबोलमितिभेदेन बोलं त्रिविधं प्रोक्तम् । शेषं सुबोधम् ॥ ३०६ ॥

बोल के नाम—बोल, गन्धरस, प्राण, पिण्ड और गोपरस ये बोल के समानार्थक नाम हैं । बोल तीन प्रकार का होता है लाल, काला और मानुष भेद से ॥ ३०६ ॥

अथ गुणाः—

बोलं रक्तहरं शीतं मेध्यं दीपनपाचनम् ।
मधुरं कटुकं तिक्तं ग्रहखेदत्रिदोषनुत् ॥ ३०७ ॥

बोलमित्यादि । स्पष्टम् ॥ ३०७ ॥

बोल के गुण—बोल रक्त को हरने वाला, शीतल, बुद्धि के लिए हितकारी, दीपन और पाचन तथा रस में मीठा, चरपरा और कड़वा होता है, ग्रहों के दुःख और त्रिदोष को हरण करता है ॥ ३०७ ॥

जरापस्मारकुष्ठघ्नं गर्भाशयविशोधनम् ।
चक्षुष्यं च सरं प्रोक्तं रक्तबोलं भिषग्वरैः ॥ ३०८ ॥

जरेत्यादि । सुगमम् ॥ ३०८ ॥

लालबोल के गुण—लालबोल बुढापा, अपस्मार और कुष्ठ को नष्ट तथा गर्भाशय को शुद्ध करता है । नेत्रों के लिए हितकारी और रेचक होता है ॥ ३०८ ॥

श्यामबोलं तीक्ष्णगन्धं दद्रुकण्डूविषापहम् ।
व्रध्नापस्मारकुष्ठार्शोरक्तग्रन्थि च नाशयेत् ॥ ३०९ ॥

श्यामबोलमित्यादि । स्पष्टम् ॥ ३०९ ॥ इति मोमियाई ।

कालाबोल तीक्ष्णगन्धी, दाद, खुजली, विष, बदबू, अपस्मार, कोढ, बवासीर और रक्तग्रन्थियों को मिटाता है ॥ ३०९ ॥

अथ तृतीयं मानुषबोलम्—

अपरं मानुषं बोलं सद्योव्रणविषापहम् ।
भग्नस्यास्थ्नस्तु सन्धानं त्रिदोषशमनं हिमम् ॥ ३१० ॥
धातुकान्तिवयःस्थैर्यबलौजोवृद्धिकारकम् ।
प्रमेहपिटिकाकुष्ठसर्वव्रणविषापहम् ॥ ३११ ॥

अपरमित्यादि । सुगमम् ॥ ३१०-३११ ॥

तीसरा मानुषबोल अर्थात् मोमियाई सद्योव्रण और विषनाशक, टूटी हुई हड्डी को जोडने वाला, त्रिदोष शामकधातु, शरीर शोभा, वय स्थैर्य और ओज की वृद्धि करने वाला प्रमेहपिटिका, कुष्ठ, समस्त व्रण और विष को हरता है ॥ ३१०-३११ ॥

अथ कङ्कुष्ठोत्पत्तिनामलक्षणगुणाः—

हिमाचलैकदेशे तु कङ्कुष्ठमुपजायते ।
तत्रैकं नलिकाख्यं स्यादन्यद्रेणुकनामकम् ॥ ३१२ ॥
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं कङ्कुष्ठं शिलया समम् ।
मृद्वतीव शलाकाभं सच्छिद्रं नलिकाभिधम् ॥ ३११ ॥
रेणुकाख्यं तु कङ्कुष्ठं श्यामपीतरजोन्वितम् ।
त्यक्तसत्त्वं लघु प्रायः पूर्वस्माद्धीनवीर्यकम् ॥ ३१४ ॥

हिमेत्यादि । हिमाचलैकदेशे-हिमवत्प्रदेशे कङ्कुष्ठमुपजायते । तत्रैकं नलिकाख्यम् अन्यत्-द्वितीयं रेणुकनामकं स्यात् । पीतप्रभ, गुरु, स्निग्ध शिलया समं-मनःशिलासदृशम्, अतीव मृदु-अतिकोमलं, सच्छिद्र-छिद्रान्वित, शलाकाभं, नलिकाभिधं कङ्कुष्ठं भवतीति शेष ॥ ३१२-३१४ ॥

अब कङ्कुष्ठ (उसारेरेवन्द) की उत्पत्ति, नाम, लक्षण और गुणों को कहते हैं-कङ्कुष्ठ हिमालय की भूमि में उत्पन्न होता है । उसके दो भेद हैं एक नलिक और दूसरा रेणुक । पीले रग का, भारी, चिकना, मैनसिल के आकार वाला, अतिशय कोमल और छिद्रयुक्त, शलाका के तुल्य नलिका कङ्कुष्ठ होता है । दूसरा रेणुक नाम का कङ्कुष्ठ काली तथा पीली रज से युक्त सत्त्व रहित, हलका और नलिक कङ्कुष्ठ से हीनवीर्य होता है ॥ ३१२-३१४ ॥

अथ नामानि—

कङ्कुष्ठं काककुष्ठं च वराङ्गं कोलवालुकम् ॥ ३१५ ॥

कङ्कुष्ठमित्यादि । शेष स्पष्टम् ॥ ३१५ ॥

कङ्कुष्ठ के नाम-कङ्कुष्ठ, काककुष्ठ- वराङ्ग और कोलवालुक ये नाम हैं ॥ ३१५ ॥

अत्र केचित्—

सद्योजातस्य करिणः शकृत्कङ्कुष्ठमुच्यते ।
यद्वा सद्यःप्रसूतस्य वाजिबालस्य विट् स्मृतम् ॥ ३१६ ॥

नालं वा वाजिवालस्येत्येवं कङ्कुष्ठके भ्रमः।
शुण्ठ्यम्बुभावितं शुद्धिं कङ्कुष्ठमुपगच्छति ॥ ३१७ ॥

सद्य इत्यादि। सुबोधम् ॥ ३१६-३१७ ॥

अथ भ्रमनिराकरणम्—सद्योजातस्य करिणः शकृत्कङ्कुष्ठम्, सद्योजातवाजिबालस्य विट् नालं वा कङ्कुष्ठमिति कङ्कुष्ठके भ्रम इति ग्रन्थकार एव लिखति तस्मान्नास्ति करिणः शकृदादि कङ्कुष्ठमित्यभिप्रायो माधवोपाध्यायस्येति बोध्यम्। सम्प्रत्यपि केचन वैद्यमहोदया मृद्दारशृङ्गमेव कङ्कुष्ठमामनन्ति किन्तु तेषामयमपि भ्रम एव रसग्रन्थेषु बोदारशृङ्गस्य पृथगुल्लेखात्खनिजत्वाच्च। डल्हनहेमाद्रिप्रभृतिप्राचीनटीकाकृद्भिः कङ्कुष्ठं स्वर्णक्षीरिनिर्यास इति प्रतिपादनात्स्वर्णक्षीरी कङ्कुष्ठप्रकृतिरित्युल्लेखाच्चाधुनिकमुसारे रेवन्दाख्यं यद्द्रव्यं तदेव कङ्कुष्ठमित्यस्माकं विश्वासः। यवमात्रमुसारेरेवन्दमेव कङ्कुष्ठवद्रेचनं करोति न तु मृद्दारशृङ्गः। स्वर्णक्षीर्याः पय एव उसारे रेवन्द वा 'रेवठचीनी का शीरा' इत्याख्यं द्रव्यमिति मन्ये। विषयेऽस्मिन् सन्ति बहूनि प्रमाणानि किन्तु ग्रन्थविस्तरभिया त्यक्तानि तानि ॥

कङ्कुष्ठ के विषय में कुछ लोगों का मत है कि तत्काल उत्पन्न हुए हाथी की विष्ठा कङ्कुष्ठ होती है अथवा तत्क्षण पैदा हुए घोडे के बच्चे की विष्ठा को अथवा घोडे के नाल को कङ्कुष्ठ कहते हैं। इस प्रकार कङ्कुष्ठविषयक भ्रम है। सोंठ के जल से भावित करने पर कंकुष्ठ शुद्ध हो जाता है। कङ्कुष्ठविषयक भ्रमनिवारण—कङ्कुष्ठ (उसारे रेवन्द)स्वर्णक्षीरीनिर्यास अर्थात् उसका दूध एवं सत्त्व होता है। इस बात का निर्णय संक्षेपतः हम ऊपर संस्कृत टीका में कर चुके हैं। जो सज्जन कङ्कुष्ठ को मुर्दासंग समझते और मानते हैं, उनकी बडी भारी भूल है कि बहुना, कङ्कुष्ठ के शास्त्रोक्त संपूर्ण गुण उसारे रेवन्द में ही अक्षरशः पाये जाते हैं न कि मुर्दासंग में—उदाहरणार्थ 'बद्धविट् यवमात्रया विरेच्य क्षणमात्रतः' अर्थात् बद्धविष्ठा वालों को एक जौ की मात्रा में यह देने पर तत्काल विरेचन करा देता है किन्तु मुर्दासंग में यह गुण नहीं है अतः कङ्कुष्ठ को उसारे रेवन्द ही मानना उत्तम है और आज के भारत के धुरन्धर विद्वानों का भी यही मत है। श्रीमान् यादव जी महाराज बम्बई और गुरुवर्य श्री गोवर्धन जी शर्मा छांगाणी नागपुर आदि भी कङ्कुष्ठ को उसारे रेवन्द या रेवठचीनी का सीरा ही मानते हैं ॥ ३१६-३१७ ॥

अथ कङ्कुष्ठगुणाः—

कङ्कुष्ठं रेचनं तिक्तं कटूष्णं वर्णकारकम्।
क्रिमिदोषोदराध्मानगुल्मानाहकफापहम् ॥ ३१८ ॥

कङ्कुष्ठमित्यादि। सुगमम् ॥ ३१८ ॥

कङ्कुष्ठ के गुण—कङ्कुष्ठ रेचन, कडवा, चरपरा, उष्ण, वर्ण को उत्पन्न करने वाला, क्रमिदोष, उदर, पेट की गुडगुडाहट, गुल्म, आफरा और कफरोग को दूर करता है ॥ ३१८ ॥

अन्यच्च—

बब्बूलमूलिकाक्वाथजीरसौभाग्यटङ्कणम्।
कङ्कुष्ठविषनाशाय भूयोभूयः पिबेन्नरः ॥ ३१९ ॥

बब्बूलेत्यादि। अन्यत्स्पष्टम् ॥ ३१९ ॥

कङ्कुष्ठ विषनाशार्थ बबूल मूल का काढा जीरा और सुहागा मिलाकर बारबार पीवे ॥ ३१९ ॥

अथ सौराष्ट्री

सोरठी माटी इति भाषा—

सौराष्ट्री तुवरी काङ्क्षी मृत्तालकसुराष्ट्रजे ।
आढकी सापि च ख्याता मृत्स्ना च सुरमृत्तिका ॥ ३२० ॥
स्फटिकाया गुणाः सर्वे सौराष्ट्र्यामपि कीर्तिताः ।
तस्मात्परस्पराभावे प्रयोज्याऽन्यतरा बुधैः ॥ ३२१ ॥

सौराष्ट्रीत्यादि । तस्मात्कारणात्, परस्पराभावे-अन्योऽन्याभावे, अन्यतरा द्वितीया प्रयोज्या बुधैः, अर्थात् स्फटिकाऽभावे सौराष्ट्री सौराष्ट्र्यभावे स्फटिकेति तात्पर्यम् । शेषं सुबोधम् ॥ ३२०-३२१ ॥

सोरठी मिट्टी के नाम—सौराष्ट्री, तुवरी, काङ्क्षी, मृत्तालक, सुराष्ट्रजा, आढकी, मृत्स्ना और सुरमृत्तिका ये सोरठी मिट्टी के नाम हैं । जो गुण फिटकडी में होते हैं वे सब इसमें भी होते हैं अत एव परस्पर के अभाव में एक में एक का प्रयोग किया जाता है ॥ ३२०-३२१ ॥

अथ समुद्रफेननामगुणशोधनम्—

अब्धिफेनोऽब्धिसारः स्यादब्धिजश्च समुद्रजः ।
अब्धिसारस्तु चक्षुष्यो लेखनः शीतलः सरः ॥ ३२२ ॥
कर्णस्रावरुजागूथहरः पाचनदीपनः ।
अशुद्धः स करोत्यङ्गभङ्गं तस्माद्विशोधयेत् ॥ ३२३ ॥
अब्धिफेनस्तु संपिष्टो निम्बुतोयेन शुध्यति ।

अब्धिफेन इत्यादि । सरः-मूत्रपुरीषयोर्निस्सारकः कर्णस्रावरुजागूथहरः-श्रोत्रस्रवण तद्गतवेदनां तथा गूथं-कर्णमलमेतेषां हरः । 'पुरीष गूथवर्चस्कमस्त्री विष्ठाविशौ स्त्रियौ' इत्यमरः ॥ ३२२-३२३ ॥

समुद्रफेन के नाम, गुण और शोधन-अब्धिफेन, अब्धिसार, अब्धिज और समुद्रज ये नाम हैं । अब्धिफेन नेत्रों के लिए हितकारी, लेखन, ठंडा, रेचक, कर्ण का स्राव, कान की पीडा और उसके मैल को हरने वाला, पाचन तथा दीपन होता है । अशुद्ध समुद्रफेन प्रयोग करने से अंगभंगता को उत्पन्न करता है इस लिए इसे निम्बु के रस में मर्दन करके शुद्ध करे और तत्पश्चात् इसका प्रयोग करे ॥ ३२२-३२३ ॥

अथ क्षुद्रशङ्खः

क्षुद्रशङ्खः 'घोंघा' इति भाषा । तन्नामगुणाः—

क्षुद्रशङ्खाः शङ्खनकाः (शम्बूका जलशुक्तयः)
शम्बूकः शीतलो नेत्ररुजास्फोटविनाशनः ॥ ३२४ ॥
शीतज्वरहरस्तीक्ष्णो ग्राही दीपनपाचनः ।
ग्रहणीरोगहन्ता च रक्तातीसारनाशनः ॥ ३२५ ॥
अस्य शुद्धिस्तु महाशङ्खवद्बोध्या ॥

क्षुद्रशङ्खा इत्यादि । अन्यत्स्पष्टम् ॥ ३२४-३२५ ॥

छोटे शख (घोंघा) के नाम—क्षुद्रशंख, शंखनक, शम्बूक और जलशुक्ति ये छोटे शख के नाम हैं। क्षुद्रशख, शीतल, नेत्रों की पीडा, फोडे और शीतज्वर को नष्ट करता है। यह तीक्ष्ण, ग्राही, दीपन पाचन तथा संग्रहणी और रक्तातीसार को नष्ट करता है इसकी शुद्धि और भस्म शख की विधि से होनी है ॥ ३२४-३२५ ॥

अथ शुक्तिः

'शिंपी' 'छिप' इति भाषा। तन्नामानि यथा राजनिघण्टौ—

> शुक्तिर्मुक्ताप्रसूश्चैव महाशुक्तिश्च शुक्तिका।
> मुक्तास्फोटोऽब्धिमण्डूकी मौक्तिकप्रसवा च सा॥
> ज्ञेया मौक्तिकसूर्मुक्तामाता मौक्तिकमन्दिरम्॥ ३२६ ॥

शुक्तिरित्यादि। स्पष्टम् ॥ ३२६ ॥

मोती की सीप के नाम—शुक्ति, मुक्ताप्रसू, महाशुक्ति, शुक्तिका, मुक्तास्फोटा, अब्धिमण्डूकी, मौक्तिकप्रसवा, मौक्तिकसू, मुक्तामाता और मौक्तिकमन्दिर ये सीप के नाम हैं ॥ ३२६ ॥

अथ गुणाः—

> मुक्ताशुक्तिः कटुः स्निग्धा श्वासहृद्रोगहारिणी।
> शूलप्रशमनी रुच्या मधुरा दीपनी परा॥ ३२७ ॥

मुक्तेत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ ३२७ ॥

मोती की सीप के गुण—मौक्तिक सीप चरपरी, चिकनी, श्वास और हृद्रोग को हरनेवाली, शूलनाशक, रुचिकर, मधुर और सर्वोत्तम अग्निदीपन होती है ॥ ३२७ ॥

जलशुक्तिकानामानि—

> जलशुक्तिर्वारिशुक्तिः क्रमिभूः क्षुद्रशुक्तिका।
> शम्बूका जलडिम्बश्च पुटिका तोयशुक्तिका॥ ३२८ ॥

जलशुक्तिरित्यादि। सुबोधम् ॥ ३२८ ॥

जलशुक्ति के नाम-जलशुक्ति, वारिशुक्ति, क्रमिभू, क्षुद्रशुक्तिका, शम्बूक, जलडिम्ब, पुटिका और तोयशुक्ति ये जलशुक्ति के नाम हैं ॥ ३२८ ॥

अथ गुणा—

> जलशुक्तिः कटुः स्निग्धा दीपनी गुल्मशूलनुत्।
> विषदोषहरा रुच्या पाचनी बलदायिनी॥ ३२९ ॥

जलशुक्तिरित्यादि। सुगमम् ॥ ३२९ ॥

जलशुक्ति, चरपरी, चिकनी अग्निदीपक, गुल्म और शूलनाशक, विष दोष को हरनेवाली रुचिकारक, पाचक और बलप्रद होती है ॥ ३२९ ॥

अनयोः शोधनं गुणाश्च—

> शुक्तिस्तु शिशिरा पित्तरक्तज्वरविनाशिनी।
> शोधनं शङ्खवत्तस्य मृतिः प्रोक्ता कपर्दवत्॥ ३३० ॥

शुक्तिरित्यादि। सुस्पष्टम् ॥ ३३० ॥

जलशुक्ति के गुण—जल की सीप शीतल, पित्तरक्त और ज्वर को हरने वाली होती है। इसका शोधन शंख के तुल्य और मारण कौडी की विधि से होता है ॥ ३३० ॥

अथ कृष्णमृत्तिकानामगुणाः

'कालीमाटी' इति भाषा—

सृन्मृत्तिका प्रशस्ता तु मृत्स्ना मृत्सा च मृत्तिका ।
कृष्णमृत्क्षतदाहास्रप्रदरश्लेष्मपित्तनुत् ॥ ३३१ ॥

मृदित्यादि । सुबोधम् ॥ ३३१ ॥

अब काला मिट्टी के नाम और गुणों को कहते हैं—मृत्, मृत्तिका, प्रशस्ता, मृत्स्ना, मृत्सा और मृत्तिका ये इसके नाम हैं। काली मिट्टी क्षत, दाह, रक्तप्रदर, कफ और पित्त को नष्ट करती है ॥ ३३१ ॥

अथ पङ्कः

'कादव' इति भाषा तन्नामगुणाः

पङ्कः कर्दम इत्युक्तो जम्बालः पङ्किलस्तथा ।
पङ्को दाहास्रपित्तार्तिशोफघ्नः शीतलः सरः ॥ ३३२ ॥

पङ्क इत्यादि । पङ्कः, कर्दमः, इत्येभिर्नामभिरुक्तः । तथा-तेनैव प्रकारेण जम्बालः, पङ्किलश्च प्रोक्तः । यद्यपि जम्बालः पङ्किलः, इतिशब्दद्वयं कर्दमयुक्तप्रदेशविशेषं द्योतयति 'सजम्बाले तु पङ्किल' इत्यमरः । कर्दमयुक्ते देशे पङ्किल इति तात्पर्यम् । तथाप्यत्र कर्दमनाम्नैव गृहीतमिति भावः । किंगुणः खलु पङ्क इति प्रदर्शयन्नाह—पङ्कः-कर्दमः दाहास्रपित्तार्तिशोफघ्नः-दाहं च रक्तपित्तं च अर्तिं-ग्लानिं च शोफं च हन्तीति । शीतलः, सरः-विरेचनशीलः ॥ ३३२ ॥

कीचड के नाम—पङ्क, कर्दम, जम्बाल और पङ्किल ये कीचड (गारे) के नाम हैं। कीचड दाह, रक्तपित्त की पीडा और सूजन को नष्ट करता है तथा शीतल और रेचक है ॥ ३३२ ॥

अथ कम्पिल्लकः

'कपिला' इति लोके—

सौराष्ट्रदेशे संजातः कम्पिल्लस्तस्य लक्षणम् ।
इष्टकाचूर्णसंकाशः स विरेकी हि कथ्यते ॥ ३३३ ॥

सौराष्ट्रेत्यादि । कम्पिल्लः सौराष्ट्रदेशे संजातः, तस्य लक्षणं कथ्यते स कम्पिल्लकः, इष्टकाचूर्णसंकाशः विरेकी-विरेचनशीलश्च भवति ॥ ३३३ ॥

कपील्ले की उत्पत्ति-कपीला सौराष्ट्र देश में उत्पन्न होता है, यह ईंट के समान लाल रंग का और रेचक होता है।

वक्तव्य—कपिल्ल नामक वृक्ष के मकोय के दाने के मुताबिक फल होते हैं। यह फल पकने पर लाल हो जाते हैं इसके तीन फाकें होती हैं। फलों के छिलकों के ऊपर लाल रज कण होते हैं। पहाडी लोग फलों को तोडकर गड्ढे में डालकर कूटते हैं। कूटने से जो रज निकलती है उसको चलनी से छान कर साफ कर लिया जाता है, इसी को कपिल्लक-कपीला कहते हैं।

कपीला एक सुन्दर हलके लाल रग का गन्ध और स्वादहीन पदार्थ है। यह ठण्डे पानी में नहीं घुलता है। उबलते हुए पानी में थोडा घुल जाता है। अलकोहल और ईथर में पूरी तरह घुल जाता है। इसमें सबसे महत्त्व का तत्त्व राटलेरिन रहता है। बाजार में मिलने वाले कपीले में आज कल ईंट का चूरा मिला हुआ आता है अत उसको ठडे पानी में डालने से ईंट का चूरा नीचे बैठ जाता है और कपीला का रज पानी पर तैरता है उसको हाथ से निकाल कर सुखाकर उपयोग में लेना चाहिए। छोटे बच्चों को ४-से ६ रत्ती की मात्रा में शहद से चटाना चाहिए यह पेट के समस्त कृमियों को निकाल देता है। यह ८ माशे तक की मात्रा में बलाबल देखकर दिया जा सकता है॥ ३३३॥

उक्तं च राजनिघण्टौ—

> कम्पिल्लकोऽथ रक्ताङ्गो रेकी रेचनकस्तथा।
> रक्तको लोहिताङ्गश्च कम्पिल्लो रक्तचूर्णकः॥ ३३४॥

कम्पिल्लक इत्यादि। सुस्पष्टम्॥ ३३४॥

कपीले के नाम—कपिल्लक, रक्ताङ्ग, रेकी, रेचनक, रक्तक, लोहिताङ्ग, कपिल्ल और रक्त-चूर्णक ये इसके नाम हैं॥ ३३४॥

अथ गुणाः—

> कम्पिल्लको विरेकी स्यात्कटूष्णो व्रणनाशनः।
> कफकासार्तिहारी च जन्तुक्रिमिहरो लघुः॥ ३३५॥

कम्पिल्लक इत्यादि। स्पष्टम्॥ ३३५॥

कपीला के गुण—कपीला दस्तावर, चरपरा, उष्ण, व्रणरोगनाशक, कफ, खांसी की पीडा को हरनेवाला तथा जन्तु और कृमिनाशक एव हलका होता है॥ ३३५॥

अथ गौरीपाषाणः

'सोमल' इति भाषा—

> गौरीपाषाणकः प्रोक्तो द्विविधः श्वेतपीतकः।
> श्वेतः शङ्खसदृक्पीतो दाडिमाभः प्रकीर्तितः॥ ३३६॥
> श्वेत. कृत्रिमकः प्रोक्तः पीतः पर्वतसम्भवः।
> विषकृत्यकरौ तौ हि रसकर्मणि पूजितौ॥ ३३७॥

गौरीपाषाणक इत्यादि। गौरीपाषाणक'-शतमल्ल', श्वेतपीतकः-श्वेतवर्णपीतवर्ण-भेदाभ्यां द्विविध' प्रोक्त'। श्वेतः शङ्खसदृक्, पीत'-पीतवर्णश्च गौरीपाषाणो दाडिमाभः-दाडिमसदृशो ,वर्णे प्रकीर्तित.। तत्राऽपि श्वेतः-श्वेतवर्णको गौरीपाषाणः कृत्रिमक'। पीत'-पीतवर्णो गौरीपाषाणः पर्वतसम्भव प्रोक्त। तौ सितपीतवर्णकौ द्वावपि विषकृत्य-करौ रसकर्मणि पूजितौ च भवत इति शेष॥ ३३६-३३७॥

गौरीपाषाण (सोमल) दो प्रकार का होता है सफेद और पीला, सफेद शख के समान और पीला अनार के समान होता है। सफेद सोमल कृत्रिम और पीला पहाडों से उत्पन्न होता है। ये दोनों प्रकार के सोमल विष के तुल्य कार्यकारी और रसकर्म में उत्तम माने गये हैं॥

अथ नवसादरः—

नवसारः समाख्यातश्चुल्लिकालवणाभिधः ।
जायते चेष्टकापाकपचने पाण्डुरप्रभः ॥ ३३८ ॥
मनुष्यसूकराणां च विष्ठान्तः किट्टवद्भवेत् ।
क्षारेषु गणना तस्य स्वर्णशोधनकः परः ॥ ३३९ ॥
शङ्खद्रावरसे पूज्यो मुखकर्मणि पारदे ।
विडद्रव्योपयोगी च क्षारवत्तद्गुणाः स्मृताः ॥ ३४० ॥

नवसार इत्यादि । तन्त्रान्तरेऽपि यथा—'औष्ट्रं वा माहिषं गव्यं पुरीषं भस्मतां गतम् । क्षारपाकविधानेन नृसारः सिद्ध उच्यते ॥' इति । तस्य-नवसारस्य क्षारेषु-क्षरणविधायकेषु द्रव्येषु गणना-संख्याऽस्तीति शेषः । स्वर्णशोधनकः परः, शङ्खद्रावरसे पूज्यः तथा पारदे च मुखोत्पादने पूज्यः, विडद्रव्योपयोगी । तद्गुणाः क्षारवत् स्मृताः ।

वक्तव्य—नवसादरः कृत्रिमाकृत्रिमभेदेन द्विप्रकारको भवति । यो मनुष्याणां मूत्रपुरीषैर्वा पशूनां विट्क्षारैः क्रियते सोऽकृत्रिमः । तस्य शोधनविधिर्यथा 'नरसारो भवेच्छुष्कश्चूर्णतोये विपाचितः । दोलायन्त्रेण यत्नेन भिषग्भिर्योगसिद्धये ॥' इत्यात्रेयः ॥३३८–३४०॥

नवसादर और चुल्लिकालवण ये नवसादर के नाम हैं । ईंटों के पकाने में जो वायु निकलती है उसके समान सफेद होता है । मनुष्य और सूअर की विष्ठा के अन्तिम अवस्था में जो कुछ अवशेष किट्ट के रूप में रह जाता है वह नवसागर होता है । उसकी गणना क्षारविधायक द्रव्यों में होती है । स्वर्ण की शुद्धि के लिए यह श्रेष्ठ माना गया है । यह शंखद्रावरस में उत्तम एवं पारे के मुखकरण में विडद्रव्योपयोगी कहा है । इसके गुण क्षार के समान जानना ॥

अथाग्निजार इति क्षारविशेषः—

अब्धितीरेऽग्निनक्रस्य जरायुः शुष्कतां गतः ।
अग्निजारस्तु संप्रोक्तः स क्षारो जारणे हितः ॥ ३४१ ॥

अब्धीत्यादि-अब्धितीरे अग्निनक्रस्य-अग्निनामकनक्रस्य जरायुः शुष्कतां गतः स एव 'अग्निजार' इति नाम्ना सम्प्रोक्तः स क्षारः-क्षारद्रव्यविशेषः । जारणे-सूतजारणे हितः स्यादिति शेषः ।

वक्तव्य—कस्तूरीवदग्निजारस्याथवाम्बरस्य विषयेऽपि दृश्यते यूनानीग्रन्थकारेषु भ्रमः । केचन द्वीपान्तरीयवृषभस्य फेनं, केचन तस्यैव विशमेवाम्बरमित्याचक्षते किन्तु लन्दनस्थैस्संशोधनपटुभिर्यन्निर्णीतं तदेवास्य ग्रन्थस्य सामञ्जस्यमावहत्यतस्तथ्यमिति मन्ये । तेषामयमभिप्रायः—अस्त्येको महानक्रो मत्स्यो वा । स खादत्येकं समुद्रतीरजं घासम् । तेनैव मृत्युर्भवति तस्य महानक्रस्य वा महामत्स्यस्य । अशितघासस्य जरायोश्च सबन्धात्तस्य यद्भवति द्रव्यं तदेवास्यम्बरसपरपर्यायमग्निजाराख्यं द्रव्यमिति ॥ ३४१ ॥

अग्निजार (अम्बर) की उत्पत्ति–समुद्र के तीर पर अग्निनक्र नामक ह्वेलमछली की जरायु शुष्क होने पर अम्बर कहलाती है । यह भी एक प्रकार का क्षार होता है । इसका उपयोग पारदजारण में होता है ॥ ३४१ ॥

अथ गिरिसिन्दूरम्—

गिरिसिन्दूरकं यत्तु गिरौ पाषाणजं भवेत् ।
किंचिद्धिङ्गुलतुल्याभं रसबन्धे हितं मतम् ।

धातुवादेऽपि तत्पूज्यं नेत्ररोगघ्नमीरितम् ॥ ३४२ ॥

गिरीत्यादि। यत्तु गिरिसिन्दूरकं तत्तु गिरौ-शैले पाषाणजं-शिलासम्भवं भवेत्। किंचिद्धिङ्गुलतुल्याभं तत्तु रसबन्धे हितं मतम्। अपीति शब्देन तत् गिरिसिन्दूरकं धातुवादे पूज्यम्। तथा नेत्ररोगघ्नं कथितम्। विशेषस्तु रसप्रकाशसुधाकरे-'महागिरौ शिलान्तःस्थो रक्तवर्णश्च्युतो रसः। सूर्यातपेन संशुष्को गिरिसिन्दूरसंज्ञकः ॥ रसबन्धकरं भेदि त्रिदोषशमनं तथा। देहलोहकरं नेत्र्यं गिरिसिन्दूरमीरितम् ॥' इति ॥ ३४२ ॥

जो गिरिसिन्दूर पत्थर से उत्पन्न होता है वह किंचित् हिंगुल के तुल्य आभावाला और पारदबन्धन में उत्तम कहा है। यह धातुवाद में भी श्रेष्ठ और नेत्ररोगघ्न होता है। गिरिसिन्दूर का विशेष विवेचन हिंगुल के वर्णन के साथ पहले कर दिया गया है अतः वहाँ पर देखें ॥३४२॥

अथ बोदारश्रृङ्गम्। 'मुर्दारशिंगी' इति भाषा—

बोदारश्रृङ्गकं प्रोक्तं द्विविधं पीतपाण्डुरम्।
सदलं निर्दलं तस्य जनिर्गुर्जरमण्डले ॥ ३४३ ॥
अर्बुदाख्यगिरेः पार्श्वे, सीससत्त्वं स्मृतं परम्।
केश्यं पुरुषरोगघ्नं रञ्जनं रसबन्धकम् ॥ ३४४ ॥

बोदारश्रृङ्गकमित्यादि। पीतपाण्डुरं-पीतवर्णं पाण्डुवर्णं च सदलं-दलोच्चयसहितं, निर्दलं-दलरहितं चेति भेदेन बोदारश्रृङ्गकं द्विविधं प्रोक्तम्। तस्य-बोदारश्रृङ्गस्य जनिः अर्बुदाख्यगिरेः पार्श्वे भागे गुर्जरमण्डले जायत इति शेषः। शेषं स्पष्टम् ॥ ३४३-३४४ ॥

मुर्दारसंग एक पीला और दूसरा सफेद तथा एक सदल और दूसरा निर्दल भेद से दो प्रकार का है। यह गुजरात देश में आबू पहाड की तलहटी में उत्पन्न होता है। इसको सीसे का सत्त्व माना है। यह केशों के लिए हितकारी, नपुंसकता को दूर करनेवाला तथा पारे का रंजन और बन्धन करने वाला है ॥ ३४३-३४४ ॥

उक्तं च—

कम्पिल्लश्चपलो गौरीपाषाणो नवसादरः।
वह्निजारोऽथ सिन्दूरं साधारणरसाः स्मृताः ॥ ३४५ ॥

कम्पिल्ल इत्यादि। कम्पिल्लादयः सिन्दूरान्ताः साधारणरसाः स्मृताः ॥ ३४५ ॥

साधारण रस—कपीला, चपल, सखिया, नौसादर, अम्बर और शिलासिन्दूर ये साधारण रस हैं ॥ ३४५ ॥

अथैषां शोधनम्—

साधारणरसाः सर्वे मातुलुङ्गार्द्रकाम्बुना।
त्रिवारं भाविताः शुष्का भवेयुर्दोषवर्जिताः ॥ ३४६ ॥
महारसः स एव स्याद्गन्धाद्युपरसाः स्मृताः।
गन्धको वज्रवैक्रान्तौ सिन्दूरं बोलगैरिकम् ॥ ३४७ ॥
समुद्रफेनः खटिकाद्वयं शम्बूकतार्क्ष्यजौ।
कासीसं कान्तपाषाणो वराटीशुक्तिहिङ्गुलाः ॥ ३४८ ॥
कङ्कुष्ठं शङ्खभूनागौ टङ्कणं च शिलाजतु।
उक्ता उपरसा एते द्रव्यनिर्णयकारिभिः ॥ ३४९ ॥

साधारणेत्यादि । शेषं सुगमम् ॥ ३४६-३४९ ॥

साधारण रसों की शुद्धि-बिजौरा निम्बू और आर्द्रक के रस में ३ दिन भावना देकर सुखाने पर सभी साधारण रस दोषरहित हो जाते हैं। पारा यह महारस है, गन्धक आदि उपरस हैं, जैसे कि-गन्धक, वज्राभ्रक, वैक्रान्त, सिन्दूर, बोल, गेरु, समुद्रफेन, दोनों खड़िया मिट्टी, छोटे शख, रसाजन, हीराकसीस, कान्तपाषाण, कौड़ी, सीप, हिंगुल, कंकुष्ठ, महाशख, भूनाग (केंचुवे), सुहागा और शिलाजीत इनको द्रव्यनिर्णायकोंने उपरस माने हैं॥ ३४६-३४९ ॥

अन्ये तु—

अभ्रवैक्रान्तमाक्षीकविमलाद्रिजसस्यकम् ।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाऽष्टौ संहरेद्रसान् ॥ ३५० ॥
गन्धाश्मगैरिके काङ्क्षीकासीसालशिलाञ्जनम् ।
कङ्कुष्टं चेत्युपरसा अष्टौ पारदकर्मणि ॥ ३५१ ॥

इति श्रीसौराष्ट्रदेशोद्भवसारस्वतकुलावतंसोपाध्यायश्रीमाधवविरचिते आयुर्वेदप्रकाशे द्वितीयोऽध्यायः ।



अभ्रेत्यादि । चपलो नासिकामलं भगवतः । 'नासामलं तु चपलः' इति चूडामणिः । विसमथ इति वैज्ञानिका. ॥ ३५०-३५१ ॥

श्रीसूर्याङ्घ्रिसरोजसक्तमनसः सारस्वभावाम्बुधे.
श्रीकेदारबुधस्य तस्य तनयेनाऽत्र प्रबन्धे मुदा ।
व्याख्याता गुलराजमिश्रविदुषा टीकाऽर्थविद्योतिनी
ह्यध्यायो द्वितयोऽगमत्सुविरतिं तत्रापि दैव्या गिरा ॥ १ ॥

दूसरे साधारण रस—अभ्रक, वैक्रान्त, सुवर्णमाक्षिक, रजतमाक्षिक, शिलाजतु, सस्यक, चपल और खपरिया ये आठ रस कहे गये हैं। गन्धक, गेरु, फिटकरी, कासीस, हरताल, मैनसिल, अञ्जन और कंकुष्ठ ये आठ पारदकर्मोपयोगी उपरस हैं ॥ ३४८-३४९ ॥

इत्यायुर्वेदप्रकाशे सुस्पष्टार्थप्रकाशिनी हिन्दीटीकायामुपरससाधनाध्यायो द्वितीयः समाप्तः ॥



तृतीयोऽध्यायः

अथ गन्धकाद्युपरसाध्यायव्याख्यानानन्तरं यतो गन्धकादियोगेन स्वर्णादय. सर्वे धातव. प्रायेण भस्मीभवन्त्यत. सर्वेषा सुवर्णादिधातूपधातूनामुत्पत्तिनामलक्षणगुणशोधनमारणप्रतिपादनात्मकमध्याय व्याचक्ष्महे—

अथ धातूपधातुनिर्णयः—

सुवर्णं रूप्यकं ताम्रं वङ्गं जसदसीसकम् ।
लोहं चैते मताः सप्त धातवो गिरिसम्भवाः ॥ १ ॥

सुवर्णमित्यादि । शेषं सुगमम् ।

विशेषः—रसार्णवे–'सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णं वङ्गो भुजङ्गमः । लोह तु षड्विधं प्रोक्तं यथापूर्वं तदक्षयम् ॥ तत्रादितः सुरेशानि ! सारं लोहद्वय स्मृतम् । साधारणे तीक्ष्णशुल्वे वङ्गनागौ तु पूतिकौ ॥' इति । रसवाग्भटमते तु नव धातवो मता.—शुद्धं लोह कनकरजत भानुलोहाश्मसारम्, पूतीलोहं द्वितयमुदित नागवङ्गाभिधानम् । मिश्रं लोह त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्त्तं, धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽपि कर्पार्थवाची ॥' इति । अत्र लोहोत्पत्तिः रसामृते यथा–'स्वर्णं तु विह्वयग्निभवं हि वीर्यं चन्द्रस्य रौप्य परमेश्वराच्च । शुल्व सुजात हि सहस्ररश्मेर्वङ्ग च शक्राद्गुरादपि । सीसं च नागं खलु वासुकेर्हि लोहं यमादेव हि कालमूर्ते. ॥' इति ॥ १ ॥

सात धातुओं के नाम–सुवर्ण, चादी, तावा, रागा, जसद, सीसा और लोहा ये पहाडों से उत्पन्न होनेवाले सात धातु हैं ।

वक्तव्य—ऊपर ग्रन्थकार ने 'जसद' को मिलाकर सुवर्णादि सात धातुओं का उल्लेख किया है । रसार्णव,कारने सुवर्णादि छः प्रकार के धातु कहे हैं । जसद को धातुओं की गणना में नहीं लिया है । सुवर्णादि धातुओं को रसार्णवकार तीन भागों में विभक्त करता है सार, साधारण और पूतिलोह । सुवर्ण और चान्दी सार लोह, लोह और ताम्र साधारण लोह तथा रांगा और सीसा पूतिलोह कहलाते हे । रसरत्नसमुच्चयकार रसवाग्भट नव प्रकार के धातु मानता है जैसे कि शुद्धलोह चार होते हैं । सोना, चादी, तावा और लोहा, पूतिलोह दो होते हैं–सीसा, रागा और मिश्रलोह तीन होते हैं–पीतल, कासा और वर्तलोह । रसार्णव कारने जिनको सारलोह और साधारण लोह कहा है उनको रसरत्नसमुच्चयकार ने शुद्ध लोह कहा है अर्थात् सोना, चान्दी, तावा और लोह ये चारों मिलावट रहित हैं अन्य किसी द्रव्य का इनमें मिश्रण नहीं है जिसमें केवल एक ही धातु के परमाणु हों, वह शुद्ध होता है । सुवर्णादि चारों द्रव्य अपने ही परमाणु वाले हैं अत. ये शुद्ध हैं । इनके ही सार और साधारण दो विभाग हैं । इनको अग्नि में तपाने से विकृति नही आती है, अपितु सुन्दरता और दृढता का निर्माण होता है । सीसा और रागा को पूतिलोह सज्ञा इस लिए है कि इनको अग्नि में द्रव करने से दुर्गन्धि छोडते हैं । खुली हवा में रखने से उनकी तह पर मैल आ जाता है । जसद में भी यही बात है अत एव ग्रन्थकार ने सीसा, रागा और जसद इन तीनों को पूतिलोह सज्ञा दी है ।

सप्तधातवः—यहा पर सुवर्णादि द्रव्यों को धातु नाम से सम्बोधित किया गया है । प्राचीन काल में सस्कृत साहित्य में इनको 'लोह' सज्ञा से ही सम्बोधित किया गया है किन्तु रसशास्त्र-

कारों ने प्रायशः धातु शब्द का उपयोग किया है संस्कृत शब्दकोषों में हिंगुल, माक्षिक, गैरिक, सौवीराञ्जन आदि जिन खनिज द्रव्यों से पारद, ताम्र, अयस्, नाग आदि लोह (मेटल्स्) प्राप्त होता है उनके लिए प्रधानता से धातु शब्द का प्रयोग होता है।

लोह शब्द की सार्थक संज्ञा भी उसीके लिए उपयुक्त है कि जो द्रव्य, खनिज द्रव्यों से खींचकर निकाला जाता है। सुवर्णादि उसी में आते हैं। ये खनिजों से निकलते हैं। इस लिए लुह धातु कर्षण अर्थ में आती है उससे बना हुआ लोह शब्द भी उसी द्रव्य के लिए उपयोगी है जो तदर्थ प्रतिपादक हो। सम्प्रति धातु संज्ञा से भी इनका प्रायशः उल्लेख होता है अतः वह भी सार्थक ही है।

धातुओं के भारीपन और उनके द्रवणाङ्क का ज्ञान—

किसी पदार्थ का भारीपन जब उतने ही आयतन (आकार) के पानी की अपेक्षा बतलाया जाता है तब उस भारीपन को आपेक्षिक गुरुत्व (विशिष्ट गुरुत्व) कहते हैं।

द्रवणाङ्क का तात्पर्य है ताप के क्रम का वह अङ्क अथवा संख्या, जिस पर वह पदार्थ पिघल जाता है द्रवणाङ्क प्रायः शतांश पद्धति से ही प्रगट किया जाता है, जिसमें पिघलते हुए बरफ के तापक्रम शून्य को और उबलते हुए शुद्धजल के ताप क्रम को १०० तक माना गया है। उदाहरणार्थ सुवर्ण का द्रवणाङ्क १०६४ शतांश है।

नीचे कुछ धातुओं के विशिष्ट गुरुत्व और द्रवणाङ्क दिये जाते हैं—

धातु का नाम	विशिष्ट गुरुत्व	द्रवणाङ्क
सुवर्ण	१९-४	१०६४
चांदी	१०-५	९६०
ताम्र	९-०	१०५७
लोहा	७-७	१५२०
सीसा	११-४	३२५
वंग (रांगा)	७-२८	२३२
यशद	७-१	४१०
अलुमिनम	२-६	६५५ ॥ १ ॥

ऊपर में तन्त्रकार ने 'सप्तधातव' संज्ञा का जो उल्लेख किया है उसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

अथ धातुशब्दस्य निरुक्तिः—

वलीपलितखालित्य कार्श्याबल्यजरामयान्।
निवार्य दधते देहं नृणां तद्धातवो मताः ॥ २ ॥

वलीत्यादि। वली—गात्रसंकोचनं, पलित—केशपाण्डुत्व, खालित्य—खल्वाट, कार्श्यम्, आबल्यं—नैर्बल्यं, जरा—वार्धक्यम्, एतानामयान् वार्धक्यादिविकारान् इत्यर्थः। नृणां निवार्य देह दधते। तस्माद्धेतोर्धातवः स्वर्णादयो मताः ॥ २ ॥

धातु शब्द का अर्थ—वली (शरीर की झुर्रियाँ), पलित (बालों की सफेदी), खालित्य (गंजापन), शरीर की कृशता, निर्बलता और बुढ़ापा आदि विकारों को दूर करके जो देह को धारण करें उन्हें धातु कहा है ॥ २ ॥

अथ सूर्यादिग्रहाणां धात्वाधिपत्यं व्यवहारार्थमाह—

ताम्रतारारनागाश्च हेमवङ्गौ च तीक्ष्णकम् ।
कांस्यकं वर्तलोहं च धातवो नव ये स्मृताः ॥ ३ ॥
सूर्यादीनां ग्रहाणां ते कथिता नामभिः क्रमात् ।

ताम्रेत्यादि । ताम्राद्यो नवधातवः, यथा–ताम्रं सूर्यस्य, तारं–रजतं चन्द्रस्य, आरं–पित्तलं भौमस्य, आरं–पीतलोहं तच्च ताम्रघोषभेदाभ्यां संज्ञानिर्देशे आपन्नं । अत्रैव घोषभेदो लोके 'जस्त' इति वाच्यः । शिवमते देवजातारंभेषां पूर्वोक्तस्वर्णादिधातूनां षड्विधत्वमाह—शिवस्य तेजः प्रथितो रसेन्द्रो हेमीभवं गन्धमथाभ्रकं च । 'सुवर्णं तु सूर्यस्य सहस्ररश्मेश्चन्द्रस्य रौप्यं परमेश्वरस्य । वदन्ति विष्णोः प्रभवं तु हेम नागं च नागस्य तु वासुकेश्च । लोहं यमस्यैव तु कालमूर्तेर्वङ्गं च शुक्रस्य पुराविदो बुधाः ॥' इति । तस्मादारसंज्ञकस्त्वौपाधिकः । नागो–बुधस्य, हेम–गुरोः, वङ्गः भृगोः, तीक्ष्णलोहं शनेः । कांस्यकं–राहोः । वर्तलोहं च केतोः प्रियं भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

सूर्यादि नवग्रहों को व्यवहारार्थ धातुओं के स्वामी माने हैं जैसे कि तांबा, चांदी, पीतल, सीसा, सुवर्ण, रांगा, लोह, कांसा और वरत इनके स्वामी सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु ये नवग्रह अधिपति हैं अतः ये धातु भी उनके ही नाम से पुकारे जाते हैं ।

वक्तव्य—सूर्यादि नवग्रह और ताम्रादि नव धातु इनका परस्पर में अन्य जनक भाव है और यही हेतु है कि प्रत्येक ग्रह को अपनी अपनी धातु से अमोल प्रेम है । स्वाभाविक है कि जिसका जिस पर प्रेम होता है वह उसका अनिष्ट नहीं करता है । सूर्यादि ग्रहों की प्राणिमात्र अथवा जड और जङ्गम पर जो छाया पड़ती है उसका समय, काल और ग्रह की स्थिति के अनुसार परिणाम होता है । ऐसी दशा में जिस ग्रह की जहाँ दृष्टि पड़ती है उस समय इन धातु में से जिस ग्रह की जो प्रिय धातु है उसके स्पर्श, अवलोकन, धारण और सेवन के रूप में व्यवहार किया जावे तो वह ग्रह अपनी धातु से सम्बन्धित प्राणि पर अनिष्ट का परिणाम नहीं करता है । यही कारण है कि ज्योतिष शास्त्र में ग्रहशान्ति के जो विधान प्रतिपादित किये गये हैं उनमें प्रधानतः धातुओं के दर्शन, स्पर्शन और दान का महत्त्व दिया गया है । यों प्रत्येक ग्रह का धातुओं से और धातुओं का ग्रहों से निकटतम सम्बन्ध क्या है ? और उनका परस्पर में किस प्रकार का परिणाम होता है इस विषय के विस्तार सहित विवेचन में हम नहीं जाना चाहते. किन्तु यह मुख्य बात है कि इन धातुओं के प्रभाव में तत्तद्ग्रह की शान्ति होती है और इसी व्यवहार के स्पष्टीकरणार्थ धातु और ग्रहों का सम्बन्ध दिखाया गया है उदाहरणार्थ—सूर्य–यह तेज–अग्नि का स्वरूप है । अग्नि यह पित्तका स्वरूप है । सूर्य ग्रह की जब दशा या विकृति होती है तब शरीर में पित्त किंवा अग्निसम्बन्धी विकार या रोग होते हैं । यह ध्यान रखना चाहिए कि रोग शारीरिक और मानसिक तथा उभय प्रकारके होते हैं, साथ ही कर्मज भी होते हैं । कर्मज रोगों में भी ग्रहों का सम्बन्ध होता है । किसी प्रकार का कोई भी रोग हो यदि उसका पित्त से सम्बन्ध है तो ताम्र का सर्व प्रकार से प्रयोग करना हितकारी है क्यों कि ताम्र पित्त अर्थात् अग्निसम्बन्धी सभी विकारों में लाभ पहुचाता है। सूर्य की उपासना, दान आदि में भी ताम्र की ही प्रधानता है । इसी प्रकार से सभी ग्रहों के लिए अपनी अपनी धातु का उपयोग श्रेष्ठ और आवश्यक है । सुवर्ण यह विष्णु के अंश से उत्पन्न माना है । विष्णु यह सर्वव्यापी है अतः गुरु के अतिरिक्त भी सुवर्ण समस्त ग्रहों और रोगों की शान्ति के लिए उपयोगी है ॥ ३ ॥

अथोपधातून् प्रतिपादयन्नाह—

> ताप्यं च विमला तुत्थं कांस्यं पित्तलकं तथा ॥ ४ ॥
> सिन्दूरं शैलनिर्यासः स्मृता सप्तोपधातवः ।
> स्वस्वधातुगुणैस्तुल्याः कियद्भिरपरेऽपि च ॥ ५ ॥
> गुणाः सन्ति विशेषेण द्रव्यान्तरसंयोगजाः ।

ताप्यमित्यादि । शैलनिर्यासः—शिलाजतु, अन्यद्रव्यसंयोगजाः, विशिष्टगुणा भवन्तीति भावः। शेषं स्पष्टम् ॥ ४-५ ॥

उपधातुओं के नाम—सुवर्णमाक्षिक, रजतमाक्षिक, तुत्थ, कासी, पित्तल, सिन्दूर और शिलाजीत ये ७ उपधातु हैं। ये सभी अपने-अपने धातुओं के गुणों के समान गुणवाले तथा कुछ अन्य द्रव्यान्तर संयोग से विशेष गुणी भी हैं।

वक्तव्य—उपधातु का तात्पर्य यह है कि धातु के जो गुण होते हैं उसके गुणों से मिलते जुलते अथवा तत्समान या उसके किंचित वैशिष्ट्य गुण हों। धातु के अभाव में प्रतिनिधि स्वरूप उपधातु का ग्रहण होता है। इससे यह स्पष्ट है कि उपधातु अपनी अपनी धातु के गुणवाला ही होता है ॥ ४-५ ॥

अथ सुवर्णस्योत्पत्तिनामलक्षणगुणशोधनमारणानि—

> पुरा निजाश्रमस्थानां सप्तर्षीणां जितात्मनाम् ॥ ६ ॥
> पत्नीर्विलोक्य लावण्यलक्ष्मीसंपन्नयौवनाः ।
> कन्दर्पदर्पविध्वस्तचेतसो जातवेदसः ॥ ७ ॥
> पतितं यद्धरापृष्ठे रेतस्तद्धेमतामगात् ।
> भवति कृत्रिमं चापि तद्रसेन्द्रस्य वेधतः ॥ ८ ॥
> मेरुसानुपतज्जम्बूफलाम्भोयोगतः परम् ।
> दिव्यौषधिमणिस्पर्शादन्यद्भवति काञ्चनम् ॥ ९ ॥
> एवं नानाविधानीह जायन्ते काञ्चनानि वै ।

पुरेत्यादि। पुरा निजाश्रमस्थानां, सप्तर्षीणां—वशिष्ठादिसप्तमहर्षीणां जितात्मनां पत्नीः कीदृशीः लावण्यलक्ष्मीः—लावण्यस्य लक्ष्मीः तया संपन्नयौवनाः विलोक्य जातवेदसः—अग्नेः कन्दर्पदर्पविध्वस्तचेतसः—कन्दर्पस्य यो दर्पो गर्वस्तेन विध्वस्तं चेतो यस्य तस्य भूमौ यद्वीर्यं पतितं तस्मात्तत्सुवर्णं जातं, द्वितीय रसेन्द्रस्य वेधतश्चापि, तृतीयं मेरुसानुपतज्जम्बूफलाम्भोयोगतः-मेरुः—सुमेर्वाख्यः पर्वतस्तस्य सानुः शिखरं तस्मात्पतज्जम्बूफलं तदम्भसो योगतो भवतीति शेषः। चतुर्थं दिव्यौषधिमणिस्पर्शात् , एवमिह नानाविधानि काञ्चनानि जायन्ते। रसवाग्भटेऽपि—'प्राकृत सहजं वह्निसम्भवं खनिसंभवम्। रसेन्द्रवेधसजातं स्वर्णं पञ्चविधं स्मृतम्' ॥ ६-९ ॥

अब सुवर्ण की उत्पत्ति, नाम, लक्षण, गुण शोधन और मारण कहते हैं—पहले की बात है, अपने आश्रम में बैठे आत्मसयमी सप्तमहर्षियों की रूप, यौवन आदि से सपन्न स्त्रियों को देखकर कामबाणों से विक्षिप्त चित्तवाले अग्नि का वीर्य स्खलित होकर पृथ्वीपर गिरा और उससे सुवर्ण उत्पन्न हुआ। दूसरा पारे के वेध से बनावटी उत्पन्न हुआ। तीसरा सुमेरु की चोटी से गिरने वाले जामुन के फल के रस से उत्पन्न हुआ। चौथा दिव्यौषधि और पारसमणि आदि

के स्पर्श से होता है। इस प्रकार सुवर्ण उत्पत्ति-भेद से अनेक-प्रकार के होते हैं जिनका वर्णन आगे लिखा जा रहा है ॥ ६-९ ॥

उक्त च—

सुवर्णं पञ्चधा ख्यातं प्राकृतं सहजं परम् ॥ १० ॥
वह्निजं खनिजं तद्वद्रसेन्द्रवेधसंभवम् ।
ब्रह्माण्डं संवृतं येन प्रकृत्या प्राकृतं च तत् ॥ ११ ॥
ब्रह्मा येन सहोत्पन्नं सहजं हेम तत्स्मृतम् ।
वह्निजं तु समाख्यातमेतानि दुर्लभानि हि ॥ १२ ॥
मनु १४ वर्णं जगत्ख्यातं प्रायशः खनिजं हि यत् ।
तत्स्वर्णं मारणार्थं तु ग्राह्यं लक्षणलक्षितम् ॥ १३ ॥
[1]वर्णमृत्तिकया लिप्त्वा मुनिशो ध्मापितं वसु ।
विशुध्यति वरं किंचिद्वर्णवृद्धिश्च जायते ॥ १४ ॥

सुवर्णमित्यादि। येन-हेम्ना, ब्रह्माण्डं प्रकृत्या सवृत्त तत् सुवर्णं प्राकृतं स्यादिति शेष.। येन-सुवर्णेन सह ब्रह्मा उत्पन्न तद्धेम सहजं स्मृतम्। वह्निजम्, एतानि प्राकृतादीनि सुवर्णानि दुर्लभानि सन्तीति स्फुटम्। यत् खनिज सुवर्णं, रसजमपि प्रायशः चतुर्दशवर्णात्मकमिति द्योत्यते। यथा-'रसजं रसवेधेन जायते हेम सुन्दरम्। तच्चतुर्दशवर्णाढ्य सर्वकार्यकरं परम् ॥' इति। केचित्तु वर्णमृत्तिका 'स्वर्णगैरिक' मित्यामनन्ति।

विशेष.—रसप्रकाशसुधाकरस्तु द्विविधमेव सुवर्णं मनुते। यथा-'सुवर्णं द्विविध ज्ञेय रसजं खनिसभवम्। पर्वते भूमिदेशेषु खन्यमानेषु कुत्रचित्। दृश्यते खनिज प्राज्ञैस्तच्चतुर्दशवर्णकम् ॥' इति। रसार्णवे तु सुवर्णस्य त्रिविधत्वमेवोक्तं-'रसज क्षेत्रज चैव लोहसकरजं त्रिधा। त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते ॥' इति। रसकामधेनुकारस्तु सुवर्णस्य षोडशवर्णात्मकत्वमुद्योतयति। यथा-'हेम षोडशवर्णाढ्यं शस्यते देहलोहयो'।' इति। रसरत्नसमुच्चये यथा-'ब्रह्माण्डं सवृत येन रजोगुणभुवा खलु। तत्प्राकृतमिति प्रोक्तं देवानामपि दुर्लभम् ॥ ब्रह्मा येनावृतो जात. सुवर्णेन जरायुणा। तन्मेरुरूपतां जात सुवर्णं सहज हि तत् ॥ विसृष्टमग्निना शैव तेज. पीतं सुदु'सहम्। अभूत्सर्वं समुद्दिष्ट सुवर्णं वह्निसम्भवम् ॥ एतत्स्वर्णत्रयं प्रोक्त वर्णैः षोडशभिर्युतम्। धारणादेव तत्कुर्याच्छरीरमजरामरम् ॥ तत्र तत्र गिरीणा हि जात खनिषु यद्भवेत्। तच्चतुर्दशवर्णाढ्य भक्षित सर्वरोगहृत् ॥ रसेन्द्रवेधसभूत तद्वेधजमुदाहृतम्। रसायन महाश्रेष्ठं पवित्रं वेधज हि तत्' ॥ १०-१४ ॥

जैसे कि कहा है-सुवर्ण पाच प्रकार का होता है प्राकृत, सहज, वह्निज, खनिज और रसवेधज। स्वभाव से ही जिसने ब्रह्माण्ड का सवरण किया था वह प्राकृतिक, जिसके साथ स्वय ब्रह्मदेव की उत्पत्ति हुई हो वह सहज, अग्नि से उत्पन्न होनेवाला वह्निज ये तीनों भी मिलने में दुर्लभ है। प्राय खदान से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण के चौदह भेद हैं वही सुवर्ण

---

[1] यथा कुम्भकारा भाण्डानि रञ्जयित्वा पाचयन्ति सा वर्णमृत्तिकेत्युच्यते, 'कावीस' इति भाषा ॥

मारण आदि के कार्य में भली भांति देखकर ग्रहण किया जाता है। कान्नीस मिट्टी से लेपन करके ७ बार अग्नि में धमन करनेपर सुवर्ण निर्मल और सुन्दर वर्ण का हो जाता है।

वक्तव्य—सुवर्ण के प्राकृतादि पाच भेद कहे गये हैं उनमें से आदि के प्राकृत, सहज और वह्निज ये तीनों सप्रति उपलब्ध न होने से उनके विषय में विशेष विवेचन भी अप्राप्य है। उनका स्वरूप क्या है और प्राप्ति कहा से होती है यह कहना कठिन है। सृष्टि की उत्पत्ति के वैदिक सिद्धान्त से उनका सम्बन्ध आता है। केवल इतिहास की झलक मात्र है किन्तु साक्षात्कार और कार्य में सत्ता न होने से उपर्युक्त तीनों भी अवर्णनीय हो गये हैं।

आज तो खनिज सुवर्ण ही प्राप्त है और उसी का विशेष महत्त्व है। खनिज सुवर्ण चतुर्दश प्रकार अर्थात् चौदह वर्ण का होता है आदि के प्राकृतादि तीन प्रकार के जो सुवर्ण कहे गये हैं वे पोडश वर्ण (कला) के होते हैं और खनिज चतुर्दश वर्ण (कला) का होता है तात्पर्य यह है प्राकृतादि की अपेक्षा खनिज की द्युति (आभा) दो आना हीन होती है।

खनिज से स्वर्ण प्राप्त करने की बहुत सी विधिया हैं, उनमें से एक विधि का उदाहरणार्थ प्रतिपादन किया जाता है-स्वर्णयुक्त स्फटिक-पाषाणों को सर्वप्रथम •यन्त्र द्वारा खूब बारीक पीसा जाता है उसके बाद उस चूर्णपर बडे वेग से पडने वाली जल की धार छोडी जाती है। जल की धार से उसमें पत्थर और बालू आदि का जो भाग होता है वह बह जाता है और स्वर्ण कण वजनदार होने के कारण से नीचे बैठ जाते हैं स्फटिक पत्थर और बालू स्वर्ण की अपेक्षा हल्के (लघु) होते हैं। स्वर्ण कणों को पारद द्वारा लिप्त ताम्रपत्रों पर से ऊपर कही हुई जल-धारा से बहा दिया जाता है। पारद सयोग पाकर समस्त स्वर्ण-कण ताम्र पटों पर स्वर्ण-पारद मिश्रण के स्वरूप को धारण कर चिपट जाता है। चिपके हुए मिश्रण को खुर्चकर एकत्र किया जाता है और उसको भवके में डालकर अग्नि-सयोग से स्रवित कर पारद को भाप के रूप में दूसरे पात्र में ले जाया जाता है और स्वर्ण उसी भवके के नीचे के पत्रों में पडा रह जाता है। इस प्रकार प्राप्त किये हुए स्वर्ण में अन्य धातुओं का भी समावेश रहता है अत इस स्वर्ण को मूषा में रख कर सुहागा और शोरे के साथ मिलाकर तपाने से स्वर्ण में जो अन्य धातुएँ होती हैं वे झाग और मैल के रूप में निकल जाती हैं और शुद्ध स्वर्ण द्रव रूप में मूषा के तलभाग में रह जाता है। इसका सर्वत्र प्रयोग होता है। इसी स्वर्ण का अलकार आदि में प्रयोग होता है। यद्यपि इस प्रकार का सुवर्ण सर्वथा शुद्ध माना है फिर भी औषधार्थ रसाचार्यों ने उसके शोधन के विधानों को आवश्यक माना है। रसाचार्यों के शोधन का अपना एक विशेष दृष्टिकोण और महत्त्व है जो हेतुपुर.सर है। धातुओं के शोधन से शोधन द्रव्यों का शोध्य धातु के परमाणुओं पर हितकर और पथ्यकर विशिष्ट सस्कार होता हैं तथा उनमें भङ्गुरत्व आता है। धातु का चीमडपन और लचीलापन नष्ट हो जाता है। किसी अन्य धातु का विकार हुआ तो वह जल जाता है अत. धातुओं का शोधन आवश्यक और अनिवार्य है। इसके आगे हम स्वर्ण की शोधन विधि को कहते हैं॥ १०–१४॥

मतान्तरम्—

वल्मीकमृत्तिका धूमं गैरिकं चेष्टका पटु।
इत्येता मृत्तिका पञ्च जम्बीरैरारनालकैः ॥ १५ ॥
पिष्ट्वा कण्टकवेध्यानि स्वर्णपत्राणि लेपयेत्।
पुटेत्पृथुहसन्त्यां तु निर्वाते विंशदुत्पलै ॥ १६ ॥
अधिकैर्वाऽधिके हेम्नि यावद्वर्णो विवर्धते।

इत्येवं पुटनैर्युक्त्या सम्यक् शुध्यति काञ्चनम् ॥ १७ ॥

वल्मीकेत्यादि । कण्टकेन वेधयितुं योग्यानीति स्वर्णदलानि गृहीत्वा पूर्वोक्ताभिर्जम्बीरारनालसंपृक्ताभिर्मृत्तिकाभिर्लेपयेत् । लिप्त्वा च त्रिदिनं धारयेदिति शेषः । उक्तं हि–'धारयेत्स्वर्णपत्रीभिस्त्रिदिन पञ्चमृत्तिकाः ।' इति । विंशतिसङ्ख्याकैश्छगणैः पृथुच्सन्त्यां निर्वाते पुटेत् ॥ १५–१७ ॥

दूसरी विधि—बांबी की मिट्टी, धुवासा, गेरु, ईंट और सेन्धानमक इस प्रकार से ये पांच मिट्टी हैं इनको जबीरी निम्बू और कांजी से पीस कर सुवर्ण के कण्टकवेधी पत्रों पर लेप करके एक बडी सिगडी अथवा भट्ठी में २० उपलों से निर्वातस्थान में पुट देवे । सुवर्ण अधिक हो तो उपले भी अधिक लेना जब तक सुवर्ण का रङ्ग सुन्दर आता जावे तब तक पुट देता रहे । इस प्रकार युक्तिपूर्वक पुट देने से सुवर्ण उत्तम शुद्ध हो जाता है ॥ १५–१७ ॥

मतान्तरम्—

मृत्तिकाः पञ्चलुङ्गाम्लैः पञ्चवासरभाविताः ।
सभस्मलवणा हेम्न शोधन्य पुटपाकतः ॥ १८ ॥

मृत्तिका इत्यादि । पञ्चमृत्तिका'–पञ्चसङ्ख्याका वल्मीकप्रभृतिका मृदः । लुङ्गाम्लैः–मातुलुङ्गरसैः पञ्चवासरभाविताः सभस्मलवणाः पुटपाकतः हेम्नः शोधयित्र्यो भवन्तीति शेषः ॥ १८ ॥

तीसरी विधि—पांचों मिट्टियों को जबीरी निम्बू के रस से पांच दिन तक भावित करके राख और नमक मिलाकर पुट देने से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है ॥ १८ ॥

अन्यच्च—

सुवर्णमुत्तमं वह्नौ विद्रुतं निक्षिपेत्त्रिशः ।
काञ्चनाररसे शुद्धं काञ्चनं जायते भृशम् ॥ १९ ॥

सुवर्णमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १९ ॥

चौथी विधि—उत्तम सुवर्ण को अग्नि में गलाकर ३ वार कचनार के रस में प्रक्षेपण करने पर शुद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

अत्र केचित्—

इयमेव सुवर्णस्य शुद्धिर्नान्या हि विद्यते ।
तैले तक्रादिके या तु रूप्यादीनामुदाहृता ॥ २० ॥

इयमित्यादि । सुबोधम् ॥ २० ॥

पाँचवीं विधि—तैल और तक्र आदि में चांदी प्रभृतिक धातुओं की जो शुद्धी कही है वही सुवर्ण की भी जानना अन्य नहीं, यह कुछ आचार्यों का मत है ॥

वक्तव्य—'अत्र केचित्' यह कह कर 'आयुर्वेदप्रकाश' कार अपने मत की भिन्नता प्रगट कर रहे हैं । सम्भवत समस्तधातुओं के शोधनार्थ उपयुक्त होने वाले–तैल, तक्र, गोमूत्र, कांजी और कुलथी के कषाय में क्रमशः सात सात बार बुझाव देवे अर्थात् इन पांचों में ३५ बार तपा तपा कर शोध्य द्रव्य को कटक वेधी पत्र बनाकर बुझावे । प्रत्येक बुझाव में शोधन द्रव्य नूतन लेना चाहिए । द्रव की मात्रा शोध्य-धातु से कम से कम अठगुनी होनी चाहिए । इसी प्रकार स्वर्ण का भी शोधन किया जा सकता है । यह कुछ आचार्यों का मत है । 'आयुर्वेद

प्रकाश' कार इस प्रकार के बडे शोधन को स्वर्ण के लिए विशेष आवश्यकता नहीं समझता है। विना शोधन और मारण के ही जब सुवर्ण का सेवन बुद्धि, मेधा, आयु, आरोग्य, बल और वीर्य वृद्धि के लिए उत्तम कहा है तब पाच द्रव्यों (तैल-तक्रादिकों) में ३५ बुझाव की विशेष आवश्यकता नही है। अन्य तन्त्र-कार इस विषय में स्पष्ट करते हैं कि **'न तु शुद्धस्य हेमस्य शोधनं कारयेद्भिषक्। अन्येषामेव लोहानां शोधनं कारयेद् भिषक्॥'** (र. च) अर्थात् जो सुवर्ण शुद्ध १०० टच का सरार्फो के यहा बाजार में मिलता है उसको शुद्ध करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु अन्य सभो धातुओं को शुद्ध करना ही चाहिए। सप्रति सुवर्ण वर्क का जो उपयोग होना है वह प्रत्यक्ष ही है। इससे निर्मल १०० नम्बरी सुवर्ण को विना शुद्ध किये सेवन करने से कोई हानि नहीं होती है अपितु सुवर्ण के समस्त गुणों की प्राप्ति होतो है। यह सिद्ध होता है। इस विषय का विशेष विवेचन आगे के ३० वें श्लोक की सस्कृत टीका में देखें॥ २०॥

अथ स्वर्णनामानि—

स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्।
तपनीयं कलधौतं गाङ्गेयं भर्म काञ्चनम्॥ २१॥
चामीकरं शातकुम्भं तथा कार्तस्वरं च तत्।
जाम्बूनदं जातरूपं महारजतमित्यपि॥ २२॥

स्वर्णमित्यादि। सुस्पष्टमेव॥ २१-२२॥

सुवर्ण के नाम—स्वर्ण, सुवर्ण, कनक, हिरण्य, हेम, हाटक, तपनीय, कलधौत, गाङ्गेय, भर्म, काचन, चामीकर, शातकुम, कार्तस्वर, जाम्बूनद, जातरूप और महारजत ये सुवर्ण के नाम हैं॥

अथ सदसत्सुवर्णलक्षणम्—

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुङ्कुमप्रभम्।
तारशुल्वोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत्॥ २३॥
यच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्।
दाहे छेदे सितं, श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम्॥ २४॥
दलं नाम यद् घनाहतं स्फुटति।

दाह इत्यादि। सुगममेव॥ २३-२४॥

श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ सुवर्ण के लक्षण—अग्नि में तपाने पर लाल, काटने पर सफेद, कसौटी पर घिसने से केसर के समान, चादी और तावे के विकार से हीन होने पर स्निग्ध, कोमल और गुरु (भारी) हो वह सुवर्ण श्रेष्ठ होता है। जो सुवर्ण सफेद, कठिन रूखा, वर्ण हीन, मैला, दलदार (घन से कूटने पर फूट जाता) हो तथा अग्नि में तपाने और काटने पर श्वेत, कस लगाने पर भी सफेद तथा हलका हो वह त्याज्य होता है॥ २३-२४॥

अथ स्वर्णगुणा—

स्वर्णं स्निग्धकषायतिक्तमधुरं दोषत्रयध्वंसनं
शीतं स्वादु रसायनं च रुचिकृच्चक्षुष्यमायुष्प्रदम्।
प्रज्ञावीर्यबलस्मृतिस्वरकरं कान्ति विधत्ते तनो
संधत्ते दुरितक्षयं श्रियमिदं धत्ते नृणां धारणात्॥ २५॥

दाहेऽतिरक्तमथ यत्ससितं छिदायां
काश्मीरकान्ति च विभाति निकापपट्टे ।
स्निग्धं च गौरवमुपैति च यत्तुलायां
ग्राह्यं तदेव कनकं मृदु रक्तपीतम् ॥ २६ ॥

तस्योपादेयतामाह-स्वर्णमित्यादि-दाहे सति अतिरक्तं यत् सुवर्णं स्यात् छिदाया-छिन्ने सति ससितं-श्वेतवर्णयुक्त, निकापपट्टे सघृष्टे काश्मीरकान्ति-कुंकुमप्रभं च विभाति । यच्च सुवर्णं तुलाया स्थापितं गौरवं प्राप्नोति तदेव ग्राह्यम् । मृदु-कोमलं, रक्तपीतं, च वर्णं श्रेष्ठ भवतीति भावः । रसामृते च यथा-'स्वर्णं मेध्य वरिष्ठं गुरु च हिमतर बृहणं तन्नि-हन्या-च्छ्वासोन्मादौ क्षयार्शो भुजगगरविषं मेहकार्श्यौ त्रिदोषम् । पापघ्नं हृद्यवर्यं शुचि कटु मधुरं लेखन कान्तिकारि-चक्षुष्यायुष्यतिक्तं सतुवरमतिकृत्स्थैर्यद स्याज्ज्वरघ्नम् ॥' इति ॥ २५-२६ ॥

सुवर्ण के गुण—सुवर्ण-स्निग्ध, कसेला, कडुवा, मीठा, त्रिदोषनाशक, शीतल, स्वादु, रसायन, रुचिकारक, नेत्रशक्ति और आयु को देनेवाला, प्रज्ञा, वीर्य, बल, स्मरणशक्ति और स्वर को देनेवाला, शरीर को सुन्दर करने वाला, शरीर पर धारण करने से पापनाशक और शोभाजनक होता है । अग्नि में तपाने पर लाल, काटने पर सफ़ेद, कस लगाने से केसर के समान झलक देनेवाला, स्निग्ध, तोल में वजनदार, कोमल, लाल और पीले रग का सुवर्ण उत्तम होता है ॥

अन्यच्च—

सुवर्णं शीतलं वृष्यं बल्यं गुरु रसायनम् ।
तुवरं स्वादु तिक्तं च पाके तु स्वादु पिच्छिलम् ॥ २७ ॥
पवित्रं बृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम् ।
हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत् ॥ २८ ॥
विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोकजित् ।
अपक्वमेव संशुद्धं, पक्वं तत्तु रसायनम् ॥ २९ ॥

सुवर्णमित्यादि । स्पष्टम् ॥ २७-२९ ॥

अन्यमत—सुवर्ण, शीतल, वीर्यवर्धक, बलोत्पादक, भारी, रसायन, कसैला, स्वादुरसी, कडवी, पाक में स्वादु और फेसदार, पवित्र, बृहण, नेत्रशक्ति, मेधा, स्मृति और मति को बढाने वाला, हृदय के लिए हितकारी, आयु, शरीरशोभा, वाणी की निर्मलता और देहस्थैर्यकर होता हे तथा स्थावर और जगम दोनों प्रकार के विष, उन्माद, त्रिदोषज्वर और शोकनाशक हे, केवल शुद्ध किये हुए अपक्व सुवर्ण के उपर्युक्त गुण हैं । पक्वसुवर्ण तो रसायन अर्थात् बुढापा और सपूर्ण व्याधिनाशक होता है ॥ २७-२९ ॥

अत्र पक्वापक्वप्रयोगविवेको रसपद्धत्याम्—

पक्वं हेम रसायनं विदुरथापक्वं तु सद्योविष-
प्रध्वंसि क्षयबृंहणं क्रिमिहरं वर्ण्यं ज्वरिभ्यो हितम् ।
रूप्याद्येषु विमृश्यवादिभिरुपक्षिप्तोऽस्त्यपक्वे गुण-
स्ताम्रं चापि विषार्तिहन्निगदितं वैद्यैरपक्वं ध्रुवम् ॥ ३० ॥

पक्कमित्यादि। पक्वं-भस्मीभूतं, हेम रसायनं विदुः। अथ-सुवर्णभस्मगुणप्रतिपादनानन्तरमपक्कसुवर्णस्य गुणानाह-अपक्वं-पाषाणादिना जलसंयोगेन घर्षणेन द्रवरूपं सुवर्णम्, अथवाऽतिसूक्ष्मवरकाख्येन सुवर्णपत्रेण मधुना सह भक्षित सद्योविषप्रध्वंसि तत्कालभक्षितं विष नाशयति, क्षयिबृंहण-क्षयातुराणां धातुवर्धनकरं यथा लिखित विद्वद्वरजयदेवकविना सिद्धभैषज्यमञ्जूषायां-'गोप्यं भणामि सकृदेव निधेहि कर्णे लेह्य सितामधुघृतै. सह हेमपर्णम्। तत् त्रासतः क्षयरुजोऽपसरन्ति तूर्णं काकोदरा. समवलोक्य यथा सुपर्णम्॥' इति। अस्यैव व्याख्याया चास्त्येकाऽऽख्यायिका सा चात्र स्वानुभूतत्वाद्रोचकत्वाच्चाविकलमुद्धियते 'श्रूयते कश्चिद्राजा स्वसभास्तारान् वैद्यविद्याविदुषः प्रायोऽनेकरोगनाशकान् प्रयोगान् पृच्छति स्म। ते च यत्किञ्चिदौषध ब्रुवन्त. समयमतिवाहयन्ति स्म। कस्मिंश्चित्पर्वणि राजा सापदेश तान् पण्डितान् गङ्गाया प्रवेश्य सशपथप्रयोगान् वक्तुमादिदेश। तदानीं कश्चिद्वैद्य.-'घृतमधुसितामयुक्तो वरखो हेमभव. क्षय क्षिणोति। वितथः प्रभवेदय प्रयोगो यदि तन्मे शपथः सदाशिवस्य॥' इति कृमिहर, कान्तिकर, ज्वरिभ्यो हितं च इति विदु पूर्वाचार्या.। अपक्कसुवर्णचूर्णसेवनेन बालहित भवतीति निदर्शयन् सुश्रुतोऽप्याह-'सौवर्णं सुकृत चूर्णं कुष्ठ मधु घृत वचा। मत्स्याक्षक. शङ्खपुष्पी मधु सर्पि. सकाञ्चनम्॥' इत्यादिः। अपक्वे सुवर्णे यो गुण. कथित. स एव वादिभि. विमृश्य रूप्याद्येषु-रजतादिष्वपक्वधातुषु, उपदिष्टोऽस्ति। अपक्वम्-अमारित ताम्र चापि 'न विषं विषमित्याहुस्ताम्रमेव महाविषम्। एको दोषो विषे प्रोक्तस्ताम्रे चाष्टौ प्रकीर्तिता.॥' इत्यष्टदोषान्वितमपि ताम्र वैद्यैः विषार्तिहृत् कथितन्तर्हि किमुत रजतादिधातूनाम्॥३०॥

रसपद्धतिकार के मत से पक्व और अपक्वसुवर्ण-प्रयोग का विवेचन करते हैं—सुवर्णभस्म रसायन होती है यथा कच्चा सुवर्ण तत्काल खाये हुए विष को हरण करने वाला, क्षयरोगियों के लिए धातुवर्धक, कृमिनाशक, वर्णकारक, ज्वर के रोगियों के लिए हितकारी होता है। अपक्व सुवर्ण में जो गुण कहा है वही चादी आदि अपक्व धातुओं में भी विचारवानों ने बताया है, कच्चे ताम्र को भी वैद्यों ने विषनाशक कहा है॥ ३०॥

दृश्यते च वाग्भटे—

> विषभुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा।
> सूक्ष्मं ताम्ररज काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्॥ ३१॥
> शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्।
> न सज्जते हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम्॥ ३२॥

विषेत्यादि। विषभुक्ताय पुंसे, ऊर्ध्वाधश्च-वमनविरेचनै शुद्धाय काले-उपयुक्तसमये सूक्ष्मम्-अतिश्लक्ष्ण ताम्ररज., सक्षौद्र मधुना समिश्रित दद्यात्। हृद्विशोधन-हृदयस्थितविषनिर्हरणं ताम्रचूर्णं प्रयोजयेदिति तात्पर्यम्। विषभुक्तायेत्याहिताग्न्यादित्वात् परो निपात.। काल इत्युपलक्षणम्। देशसात्म्याग्न्यादीन् व्यपेक्षेतेत्यर्थ.। शुद्धे हृदि स्वलिङ्गे ज्ञाते सति ततो हेमचूर्णस्य शाण-तोलकचतुर्थांशं दापयेत्। हेमपाङ्गे-हेम सुवर्णं पिबतीति हेमपस्तस्याङ्गे विषं स्थावरजङ्गमात्मक न सज्जते पद्मपत्रे अम्बुवत्। तत्प्रभावादायुश्च विपुलं जायत इति शेष.॥ ३१-३२॥

उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार वाग्भट के प्रमाण को कहते हैं कि विष खाये हुए मनुष्य को वमन और विरेचन आदि से शुद्ध करके ताम्र के महीन चूर्ण को शहद के

साथ हृदय शुद्ध करने के लिए देवे। हृदय शुद्ध होने पर ४ माशे सुवर्ण का चूर्ण देवे क्यों कि सुवर्ण खाये हुए के शरीर में विष नहीं ठहरता जैसे कि कमल के पत्ते पर जल।

अथापक्वसुवर्णसेवने प्रकारद्वयमुक्तं तन्त्रान्तरे, तद्यथा—

अपक्वं हेम संघृष्टं शिलायां जलयोगतः।
द्रवरूपं तु तत्पेयं मधुना गुणदायकम् ॥ ३३ ॥
यद्वाऽपि तवका (वरका) ख्यं तु स्वर्णपत्रं विचूर्णितम्।
मधुना संगृहीतं चेत्सद्यो हन्ति विषादिकम् ॥ ३४ ॥

अपक्वमित्यादि। स्पष्टम् ॥ ३३–३४ ॥

कच्चे सुवर्ण सेवन के दो प्रकार-कच्चे सुवर्ण को शिला पर जल के साथ घिस कर शहद मिला कर पीवे अथवा सोना के वर्क को शहद मिलाकर खावे तो समस्त विषादिकों को नष्ट करता है ॥

अन्यच्च गुणविशेषादिकमाह—

सर्वौषधिप्रयोगेण व्याधयो न गता हि ये।
कर्मभिः पञ्चभिश्चापि सुवर्णं तेषु योजयेत् ॥ ३५ ॥
शिलाजतुप्रयोगैस्तु ताप्यसूतकयोस्तथा।
अन्यै रसायनैश्चापि प्रयोगो हेम्न उत्तमः ॥ ३६ ॥

सर्वेत्यादि। सर्वौषधिप्रयोगेण तत्तद्रोगनाशकसकलभेषजसेवनेन, ये व्याधयो नाशं नाप्ताः। तथा पञ्चभिः कर्मभिश्च—स्नेहनस्वेदनवमनविरेचनानुवासनैश्च न नष्टास्तेषु सुवर्णं योजयेत्। शिलाजतुप्रयोगैः तथा ताप्यसूतकयोः प्रयोगैश्च अन्यैः रसायनैरपि हेम्नः प्रयोग उत्तमो भवतीति भावः।

विशेषः—रसप्रकाशसुधाकरे यथा-'एतत्स्वर्णभवं करोति च रजः सौन्दर्यसौख्ये सदा, रोगान् दैवकृतान् निहन्ति सकलान् सत्यं त्रिदोषोद्भवान्। यः सेवेत नरः समान् द्विदशकान् वृद्धश्च नो जायते, दोषा नैव गरोद्भवा विषकृता आगन्तुजाश्चैव हि ॥' इति ॥

सुवर्ण सेवन के विशेष गुण-सपूर्ण औषधियों के सेवन करने पर भी जो व्याधिया शान्त न हुई हों तो पचकर्मों द्वारा देह शुद्धि करके उनको नष्ट करे, इतने पर भी नष्ट न हों तो सुवर्ण का प्रयोग करे। शिलाजीत के प्रयोगों से तथा सुवर्णमाक्षिक और पारे के सयोग से अथवा अन्य रसायन कर्मों से भी सुवर्ण का प्रयोग उत्तम होता है ॥ ३५–३६ ॥

अथानुपानमाह—

मध्वामलकचूर्णं तु सुवर्णं चेति तत्त्रयम्।
प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंकटात् ॥ ३७ ॥
वचया बुद्धिकामस्तु श्रीकाम पद्मकेसरैः।
शङ्खपुष्प्या वयोर्थी च विदार्या च प्रजार्थकः ॥ ३८ ॥

मध्वित्यादि। मध्वामलकचूर्णं, सुवर्णं चेति पूर्वोक्त तत्त्रय-मध्वादिक प्राश्य अरिष्टगृहीतोऽपि नियतमरणव्यापकं लिङ्गमरिष्टं तदन्वितोऽपि रोगी प्राणसकटान्मुच्यते बुद्धिकामो वचया, देहकान्तिकामो वा, पद्मकेसरैः श्रीकामः, वयोर्थी शङ्खपुष्प्या, प्रजार्थकः—सन्ततिकामो विदार्याश्चूर्णेन सह सुवर्णमद्यादिति सर्वत्र योज्यम् ॥ ३७–३८ ॥

अनुपान—शहद, आमले का चूर्ण और सुवर्ण इन तीनों को एकत्र मिलाकर चाटने से मरणासन्न पुरुष भी मृत्युमुख से छूट जाता है। बुद्धि की कामना वाला वच के चूर्ण के साथ, लक्ष्मी का कामना वाला कमलकेसर के साथ, आयु की इच्छा वाला शखाहुली के चूर्ण के साथ और सन्तान के इच्छुक विदारी चूर्ण के साथ सुवर्ण का सेवन करें॥ ३७-३८॥

अथाशुद्धस्यासम्यङ्मारितस्य च गुणाः—

बलं च वीर्यं हरते नराणां रोगव्रजं पोषयतीह काये।
असौख्यकार्येव सदा सुवर्णमशुद्धमेतन्मरणं च कुर्यात्॥ ३९॥
असम्यङ् मारितं स्वर्णं बलं वीर्यं च नाशयेत्।
रोगान् करोति मृत्युं च तद्धन्याद्यत्नतस्ततः॥ ४०॥

बलमित्यादि। सुबोधम्॥ ३९-४०॥

अशुद्ध और भलीभाँति न मारे हुए सुवर्ण के गुण—अशुद्ध सोना सेवन करनेपर बल और वीर्यको नष्ट करता है, शरीर में रोगसमूह को बढाता है, सदैव असुख और मृत्युकारक है। भलीभाँति भस्म न हुआ सुवर्ण बल और वीर्य को हरण करता है, रोग और मृत्युदायक है अतः सावधानता से इसकी भस्म करे।

वक्तव्य—भस्म के लिए सुवर्ण ऐसा ग्रहण करना चाहिए जो अन्य धातुओं की उसमें विकृति न हो अर्थात् निर्मल १०० टच का होना चाहिए उसके पश्चात् आयुर्वेदीय शोधन-विधि से शुद्ध किया हो। यदि ऐसा शुद्ध सुवर्ण का प्रयोग न होकर अन्य धातुओं के मेल की विकृतियुक्त का होगा तो वह बल और वीर्य को नष्ट करता है। इसी प्रकार भलीभाँति जिसकी भस्म न हुई हो वह सुवर्ण-भस्म बल और वीर्य को नष्ट कर रोग और मृत्युदायक होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अपक्व सुवर्ण का सेवन हितकर माना गया है तो अपक्व (भलीभाँति न बनी हुई) भस्म अपायकर क्यों?

शुद्ध अपक्व सुवर्ण सेवन हितकारी होता है यह बात भिन्न है और अपक्व भस्म का सेवन करना अपायकारक है यह एक अलग है। अर्थात् भस्म करने में अन्य धातुओं का जो संयोग कराया जाता है वे संयुक्त धातुएँ भी अपक्व ही रहती हैं अतः भस्म का भली प्रकार होना ही आवश्यक है अन्यथा मिश्रित द्रव्यों का बुरा परिणाम होता है। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि जब तक भली प्रकार भस्म नहीं होती है तब तक उसमें सूक्ष्मता, रेखापूर्णत्व और वारितरल जो लक्षण होने चाहिए वे न होने से शरीर में विलयन नहीं होता है। मोटे जो धातुकण रह जाते हैं वे शिरा और स्रोतसों में रुक जाते हैं क्योंकि वे इतने छोटे होते हैं जैसे कि—**'द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः'** अर्थात् इनमें उसी द्रव्य का भली प्रकार वहन होता है जो घुलनशील हो जाता है और सूक्ष्म है। सुवर्ण वर्क के परमाणु बहुत ही सूक्ष्म हो जाते हैं अतः वे घुल जाते हैं। भस्म का भी वैसा रूप होना चाहिए। वैसा रूप भली प्रकार भस्म होने से ही होता है। अपक्व धातुकण शिरा, स्रोतसों के मार्गों में रुकने से बल और वीर्य की वृद्धि में इस लिए रुकावट उत्पन्न करते हैं कि रसादि धातु निर्माण के मार्गों का अवरोध हो जाता है॥ ३९-४०॥

अथ स्वर्णादीनां मात्राकथनम्—

यववृद्ध्या प्रयोक्तव्यं हेम गुञ्जाष्टकं, रविः।
तारं तद्द्विगुणं, लोहमन्यत्तु त्रिगुणाधिकम्॥ ४१॥

गुञ्जामेकां समारभ्य यावत्स्युर्नवरक्तिकाः ।
तावल्लोहं समश्नीयाद्यथादोषबलं नरः ॥ ४२ ॥

यवेत्यादि । यववृद्ध्या-यववृद्धिक्रमेण हेम गुञ्जाष्टकम्-अष्टगुञ्जपरिमितं यावत् प्रयोक्तव्यम् । रवि'-ताम्र, तारं च तद्द्विगुणम्, अन्यत्तु लोहं-पित्तलादिकं त्रिगुणाधिकं हेममानापेक्षया प्रयोक्तव्यम् । शेषं स्पष्टम् ॥ ४१-४२ ॥

सुवर्ण आदि धातुओं की मात्रा का प्रमाण—एक जव से लेकर ८ रत्तीतक सुवर्ण की मात्रा सेवन की जाती है, ताँबा और चाँदी का उससे दुगुना मात्रा, और अन्य धातुओं की तिगुनी मात्रा कही है। एक रत्ती से लेकर नौ रत्तीतक धातुओं का मनुष्य सेवन करे। इस प्रमाण को दोषानुसार न्यूनाधिक भी समझ लें ॥ ४१-४२ ॥

अथ स्वर्णादिमारणे कियती परिभाषोच्यतेः, उक्त च—

रसीभवन्ति लोहानि मृतानि सुरवन्दिते ।
विनिघ्नन्ति जराव्याधीन् रसयुक्तानि किं पुनः ॥ ४३ ॥

रसीभवन्तीत्यादि । सुरवन्दिते-हे पार्वति, मृतानि लोहानि सुवर्णाद्यष्टधातवो रसीभवन्ति-न रसा अरसा अरसा रसा· सम्पद्यन्त इति रसीभवन्ति-असरसगुणेऽपि रससमानगुणा जायन्त इति तात्पर्यम् । जराव्याधीन् विनिघ्नन्ति तानि च यदि रसयुक्तानि-पारदसम्मिश्रितानि भवेयुस्तदा पुन· किं वक्तव्यम् ॥ ४३ ॥

स्वर्णादि धातुमारण की परिभाषा सुवर्ण आदि धातु भलाभाँति भस्म होनेपर हे पार्वती रसायन हो जाते हैं, बुढापा और व्याधियों को नष्ट कर देते हैं और यदि वे पारे से युक्त भस्म किये जावें तो कहना·ही क्या है ॥ ४३ ॥

अथ धातूनामुत्तममध्यमाधमभस्मप्रकारमाह—

लोहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रसभस्मना ।
मूलीभिर्मध्यमं प्राहुः कनिष्ठं गन्धकादिभि· ॥ ४४ ॥

लोहानामित्यादि । स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

धातुओं का उत्तम, मध्यम और अधम भस्म बनाने का विधान-सपूर्ण धातुओं का रसभस्म के द्वारा मारण करना उत्तम, काष्ठौषधियों द्वारा मारण मध्यम और गन्धक आदि से मारण अधम होता है ॥ ४४ ॥

अन्यच्च—

अरिलोहेन लोहस्य मारणं दुर्गुणप्रदम् ।
रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम् ॥ ४५ ॥
नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम् ।
पुटनात् स्याल्लघुत्वं च शीघ्रव्याप्तिश्च दीपनम् ॥ ४६ ॥
जारितादपि सूतेन्द्राल्लोहानामधिको गुण· ।

अरीत्यादि । अरिलोहेन-शत्रुभूतधातुना, लोहस्य-सुवर्णादिकस्य । जातावेकवचनम् । मारणं दुर्गुणप्रद भवतीति शेषः ।-यथा-ताम्रशत्रुर्यशद तेन ताम्रमारणं दुर्गुणकरम् । सिद्धान्ततस्तु रसशास्त्रे शत्रुभूतधातुभिर्धातूनां भस्मविधानस्य विधानं नास्ति ।

रसादिद्रव्यपाकानां–रस आदिर्येषां तानि द्रव्याणि तेषां ये पाकास्ते रसादिद्रव्यपाकास्तेषां तथोक्तानाम् । आदिशब्देन सुवर्णादिसप्तधातूनां ग्रहणम् । पुटम्–अग्नौ पुटप्रदानम् । प्रमाणज्ञापनं–प्रमाणेन द्योतित यथा कस्मिन् धातौ कति पुटानि देयानि, प्रत्येकस्मिन् पुटे च कत्युत्पलानि छगणानि वा ग्रहीतव्यानीत्यवगन्तव्यमिति दिक् । कुतः प्रमाणज्ञापनमित्यत आह–न्यूनाधिकः प्रमाणहीनः पाको नेष्ट–नहि सिद्धिदः न हीनेनाग्निना पक्वं नाधिकेन वा किन्तु, शास्त्रोदितविधिना सुपाकमौषधं गुणप्रदं भवतीति शेष. । पुटनात्–अग्नौ पुटप्रदानाद्धातूना लघुत्वं शीघ्रव्याप्तिर्जठराग्निप्रदीपनकरं च स्यात् । एवं सम्यग् भस्मीभूतानां लोहाना–सुवर्णादिधातूना, जारितात् सूतेन्द्रात् प्रबलो गुणः । 'शीघ्र व्याधेश्च नाशनम्' इति पाठान्तरम् ॥ ४६ ॥

अन्यमत—शत्रुभूत लोहे से लोहे का मारण दुर्गुणी होता है । रस आदि द्रव्यों के पाक का प्रमाण पुटों के द्वारा ही जाना जाता है अर्थात् जिस द्रव्य के लिए जिस पुट का (गजपुट, कुक्कुटपुट आदिका) विधान किया हो उससे यह समझ में सहज आ सकता है कि इस द्रव्य के लिए इतने पाक की आवश्यकता है । न्यूनाधिक पाक अधम और सुपाक उत्तम होता है । पुट के प्रभाव से द्रव्य में हलकापन, शरीर में तत्काल प्रसरण होने की शक्ति और जठराग्निप्रदीपक गुण आ जाते हैं । अभ्रक आदि जारण किए हुए पारे के संयोग से बनी हुई लोहभस्में अधिक गुणी होती हैं ॥ ४५–४६ ॥

अन्यच्च—

स्वर्णरूप्यवधे ज्ञेयं पुटं कुक्कुटकादिकम् ॥ ४७ ॥
ताम्रे काष्ठादिजो वह्निर्लोहे गजपुटानि च ।

स्वर्णेत्यादि । सुस्पष्टम् । रसकामधेनौ–'यदि तु तीक्ष्णादिलोहमारणं तदा गजपुटानि ज्ञेयानि, तथा ताम्रादिमारणे काष्ठादिजन्योऽग्निपाको ज्ञेयः ॥' इति ॥ ४७ ॥

दूसरा विधान—यह विधान उपर्युक्त 'प्रमाणज्ञापन पुटम्' इस के उदाहरणार्थ ग्रन्थकार यहाँ कहता है । सोना और और चाँदी की भस्म बनाने के लिए कुक्कुट आदि पुट की अग्नि, ताम्र भस्म के लिए काष्ठ आदि की अग्नि और लोहभस्म में गजपुट की अग्नि दी जाती है ॥ ४७ ॥

अथ स्वर्णादिधातूनां लोहत्वेन व्यवहार इत्याह रसपद्धतिकारः ।

रुक्मं रूप्यमयांसि शुल्वमुरगं वङ्गं घनं वर्तकं
घोषं लोहमिदं त्रयं च चरमं नाम्नोपलोहं जगुः ।

अथैषां शोधनमाह—

तक्रे काञ्जिकमूत्रयोस्तिलभवे तैले कुलत्थाम्भसि ।
स्याच्छुद्धं परिवर्त्य लोहमखिलं त्रिःसप्तधा वापितम् ॥ ४८ ॥

रुक्ममित्यादि । तक्रादिकेषु पञ्चसु त्रिःसप्तधा वापितम्, अथवा प्रत्येकस्मिन् त्रिवारं सप्तवारं वा निषेचितं शुद्धं स्यात् । शेषं स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

---

१ अस्य व्याख्या—रुक्म-सुवर्ण, रूप्य रजतम्, अयासि-कान्ततीक्ष्णमुण्डाख्यानि, भेदाभिप्रायेण बहुवचन, शुल्व–ताम्रम् , उरग-सीस, वङ्ग–त्रपु, घन–कांस्य, वर्तक-पित्तल–जातिभेद , घोष-प्रखरसम, इदमखिल लोह, तत्र रुक्मादिषट्क मुख्य लोह जगु रसज्ञा इत्यर्थ. । परिवर्त्य–द्रवीकृत्य । त्रि सप्तधा एकविंशतिवारम् । अखिल स्वर्णादि घोषान्तम् । इति ॥

सुवर्ण आदि धातु लोह शब्द से व्यवहृत होते हैं इस बात को रसपद्धतिकार स्पष्ट कर के बताता है-सुवर्ण, चाँदी, लोह, सीसा, राँगा, अभ्रक, वर्तक और घोष (जस्द) ये नव लोह कहलाते हैं और इनमें के आदि के ६ को छोड़कर अन्त के तीन उपलोह भी कहे हैं। इन सब का शोधन तैल, काञ्जी, छाछ, गोमूत्र और कुलथी के कषाय में प्रत्येक को ३ बार अथवा ७ बार प्रक्षेपण करने से होता है ॥ ४८ ॥

मतान्तरम्—

सुवर्णरूप्यताम्रायःपत्राण्यग्नौ प्रतापयेत् ॥ ४९ ॥
कृत्वा कण्टकवेधीनि दृष्ट्वा वह्निसमानि च ।
निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे गवां जले ॥ ५० ॥
काञ्जिके च कुलत्थानां कषाये सप्तधा पृथक् ।
एवं स्वर्णादिलोहानां विशुद्धिः संप्रजायते ॥ ५१ ॥
तीक्ष्णादिलोहकिट्टं तु संशोध्यं लोहवद् बुधैः ।

सुवर्णेत्यादि । सुबोधम् ॥ ४९-५१ ॥

दूसरी विधि—सोना, चाँदी, ताँबा और लोह इनके कटकवेधी पत्रों को अग्नि में तपाकर अंगार के समान लाल होने पर तैल, छाछ, गोमूत्र, काञ्जी और कुलथी के कषाय में अलग-अलग ७ बार बुझाने से शुद्ध हो जाते हैं। तीक्ष्णादि लोहकिट्ट को भी लोहे के समान करे ॥

अथ नागवङ्गयोर्विशेषमाह—

नागवङ्गौ प्रतप्तौ च गालितौ तौ निषेचयेत् ॥ ५२ ॥
सच्छिद्रस्रावपिहिते हण्डिकास्ये द्रवे शनैः ।
सप्तधैवं विशुद्धिः स्यादर्कदुग्धे च सप्तधा ॥ ५३ ॥

नागवङ्गावित्यादि । सुस्पष्टम् । विशेषः शार्ङ्गधरटिप्पण्या यथा-'हण्डिकायां' द्रवाणि पूरयित्वा हण्डिकामुखे 'चिलम' संज्ञकं धूम्रपानयन्त्रोपर्यग्निपात्रमधोनालीं कृत्वा बन्धयेत्। तच्छिद्रेणैव नागवङ्गौ पुनःपुनर्निर्वाप्यौ न तु द्राविते वङ्गे द्रवान् स्फुटतया निषेचयेत्। उत्प्लुत्य हि तौ उपद्रवं कुरुतः ॥ ५२-५३ ॥

सीसा और वङ्ग की विशेष शुद्धि—सीसा और रांगा को गला कर काञ्जी आदि द्रव पदार्थ भरे हुए घड़े पर छेददार सकोरा ढककर उस सकोरे के छिद्र से पात्र में प्रक्षेपण करे। इस प्रकार ७ प्रक्षेपण करने से ये दोनों शुद्ध हो जाते हैं। इसके बाद ७ बार ही आक के दूध में भी शुद्ध करे। किन्तु ध्यान रहे कि इन दोनों की शुद्धि, वैद्य सावधानी से करे अन्यथा ये उछल कर शोधक के शरीर तक को जला डालते हैं ॥ ५२-५३ ॥

अन्यमतम्—

सर्वलोहानि तप्तानि कदलीमूलवारिणि ।
सप्तधाऽभिनिषिक्तानि शुद्धिमायान्त्यथोत्तमाम् ॥ ५४ ॥

सर्वेत्यादि । सुगमम् ॥ ५४ ॥

अन्यमत—सुवर्ण आदि सातों धातुओं को केले के मूल के रस में सात बार सेचन करने पर वे सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

अथ स्वर्णादिमारणम्—

सिद्धलक्ष्मीश्वरप्रोक्तप्रक्रियाकुशलो भिषक् ।
लोहानां सरसं भस्म सर्वोत्कृष्टं प्रकल्पयेत् ॥ ५५ ॥

सिद्धेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ५५ ॥

सुवर्ण आदि धातुओं की भस्म करने की विधि—सिद्धलक्ष्मीश्वरतन्त्रोक्त प्रक्रिया में कुशल वैद्य संपूर्ण धातुओं की पारे के द्वारा सर्वोत्कृष्ट भस्म करे ॥ ५५ ॥

शिलागन्धार्कदुग्धाक्ताः स्वर्णाद्याः सप्तधातवः ।
म्रियन्ते द्वादशपुटैः सत्यं गुरुवचो यथा ॥ ५६ ॥

शिलेत्यादि । सुबोधम् ॥ इति सर्वधातुमारणं सामान्येन ॥ ५६ ॥

दूसरी विधि—मैनसिल, गन्धक और आक का दूध इनकी भावना दे देकर १२ पुट देने से सुवर्ण आदि सभी धातु भस्म हो जाती है ॥ ५६ ॥

अथ द्विगुणरसयुक्त सर्वोत्कृष्टं हेमभस्म प्रतिपादयन्नाह—

स्वर्णस्य द्विगुणं सूतमम्लेन सह मर्दयेत् ।
तद्गोलकसमं गन्धं निदध्यादधरोत्तरम् ॥ ५७ ॥
चूर्णीकृतं ततो रुद्ध्वा शरावद्वयसंपुटे ।
मृदा सवस्त्रया कुट्टितया संवेष्ट्य यत्नतः ॥ ५८ ॥
त्रिंशद्वनोपलैर्दद्यात्पुटान्येवं चतुर्दश ।
निरुत्थं जायते भस्म गन्धो देयः पुनःपुनः ॥ ५९ ॥

स्वर्णस्येत्यादि । स्वर्णस्य द्विगुणं सूतं गृहीत्वा, अम्लेन—बीजपूरादिना सह खल्वे प्रक्षिप्य मर्दयेत् । तद्गोलकसमं चूर्णीकृत शोधितगन्धमादाय गोलकस्याधरोत्तरं निदध्यात् । ततः शरावद्वयसंपुटे रुद्ध्वा यत्नतः कुट्टितया सवस्त्रया मृदा संवेष्ट्य तद्गोलकं त्रिंशद्वनोपलैः चतुर्दश पुटानि दद्यात् । एवं सुवर्णस्य निरुत्थ भस्म जायते । गन्धो देयः पुनःपुनः । पुटं चात्र कुक्कुटसंज्ञकं बोध्यम् । निरुत्थताऽत्रात्यर्थमूर्च्छना कथ्यते न तु स्वर्णस्य मृतिर्भवति । यत आधुनिका रसायनशास्त्रज्ञाः स्वर्णस्यात्यन्तमूर्च्छनैव भवति न तु भस्म इति वदन्ति । विविधप्रकारैः निष्पन्नस्वर्णविभूते रसायनशास्त्रतो विश्लेषणत परीक्षायां जीवयत्येव । केवल तु चिक्कणप्रस्तर (सङ्गमर्मर) चणकाम्ललवण-योगतश्चोत्पन्न स्वर्णाम्लं निरुत्थ भवति इति तेषामभिप्रायः ॥ ५७–५९ ॥ इति ॥

तीसरी विधि—सुवर्ण से दुगुना पारा मिलाकर जमीरी निंबू आदि के अम्ल रस में मर्दन करके गोला बनावे और उस गोले के बराबर गन्धक का चूर्ण गोले के नीचे ऊपर बिछाकर दो शरावों में बन्दकर कपरोटी करके तीस आरने उपलों की अग्नि देवे इस प्रकार १४ पुट देने से सुवर्ण की निरुत्थ भस्म हो जाती है किन्तु गन्धक प्रत्येक पुट में नवीन देता रहे ॥ ५७–५९ ॥

अथान्यमतम्—

शुद्धसूतसमं स्वर्णं खल्वे कृत्वा तु गोलकम् ।
ऊर्ध्वाधो गन्धकं दत्त्वा सर्वतुल्यं निरुध्य च ॥ ६० ॥
त्रिंशद्वनोपलैर्देयाः पुटा ह्येवं चतुर्दश ।

निरुत्थं हेमभस्म स्याद्गन्धो देयः पुनःपुनः ॥ ६१ ॥
अत्रानुक्तमपि ज्ञेयं गोलकीकरणे बुधैः ।
जम्बीरद्रवदानं तु सर्वत्रैवं विनिश्चयः ॥ ६२ ॥

शुद्धेत्यादि । स्पष्टम् । इति सरस हेमभस्म ॥ ६०–६२ ॥

चौथी विधि—शुद्ध पारे के बराबर सोना लेकर खरल में घोटकर गोला बनावे और उसके बराबर का गन्धक-चूर्ण गोले के नीचे ऊपर देकर शरावसंपुट में बन्द कर कपरोटी कर दे और सूखने पर ३० वनगोवरियों का पुट देवे इस प्रकार १४ पुट देने पर सुवर्ण की निरुत्थ भस्म हो जाती है। यहा पर भी गन्धक प्रत्येक पुट में देता रहे तथा गोले के करने आदि में पूर्वोक्त जम्भीरी आदि का रस लेवे ॥ ६०–६२ ॥

अथान्यः प्रकारः—

सुवर्णेऽग्नौ द्रुते सूतं दद्यात्सीस कलांशकम् ।
अम्लेन मर्दयेत्तत्तु चूर्णयित्वा शनैःशनैः ॥ ६३ ॥
पश्चात्तद्गोलकं कृत्वा तुल्यगन्धरजोगतम् ।
शरावसंपुटे स्थाप्यं सन्धिं रुद्ध्वा पचेत्ततः ॥ ६४ ॥
त्रिंशद्वनोपलैः सम्यक् सप्तधैवं पुनःपुनः ।
अम्लेन गोलकं कृत्वा पचेत्स्वर्णमृतिर्भवेत् ॥ ६५ ॥

सुवर्ण इत्यादि । अग्नौ विद्रुते सुवर्णे कलांशकं-सुवर्णमानापेक्षया षोडशांशं सूतं, सीसं-शोधितनागं च दद्यात् । शेषं सुस्पष्टम् ॥ ६३–६५ ॥

पाँचवीं विधि—अग्नि में सुवर्ण को पिघलाकर सुवर्ण से षोडशांश पारा तथा सीसा डालकर अम्लरस से धीरे-धीरे मर्दन कर गोला बनावे और उस गोले के बराबर का गन्धक का चूर्ण उसके नीचे ऊपर देकर शराव में बन्द कर कपड़मिट्टी करे और ३० वनगोवरियों की अग्नि देवे, इस प्रकार ७ पुट देने से भस्म हो जाती है ॥ ६३–६५ ॥

अथान्यः प्रकारः—

रसस्य भस्मना वाऽथ रसेनालेप्य वै दलम् ।
हिङ्गुहिङ्गुलसिन्दूरशिलाः साम्येन मेलयेत् ॥ ६६ ॥
संमर्द्य काञ्चनद्रावैर्दिनं कृत्वाऽथ गोलकम् ।
तं भाण्डस्य तले दत्त्वा भस्मना पूरयेद् दृढम् ॥ ६७ ॥
अग्निं प्रज्वालयेद्गाढं द्युनिशं स्वाङ्गशीतलम् ।
उद्धृत्य सावशेषं चेत्पुनर्देयं पुटद्वयम् ॥ ६८ ॥
निरुत्थं जायते भस्म सर्वकर्मसु योजयेत् ।

रसस्येत्यादि । रसस्य भस्मना रसेन वा दलं सुवर्णसूक्ष्मपत्रमालेप्य । अथेत्यनन्तरं हिङ्गु–रामठ, हिङ्गुलं–दरदं, सिन्दूरं, शिला–मनःशिला, एतान् साम्येन सुवर्णस्य कण्टकवेधिपत्रसमभागेन मेलयेत् । संमिश्रितद्रव्यं च काञ्चनद्रावैर्दिनं यावत् समर्द्य गोलकं च कृत्वा तं गोलकं भाण्डस्य तले दत्त्वा भस्मना दृढं पूरयेत् । सभृतघटं च

चुल्ल्युपर्यारोप्याधोऽग्निमहोरात्रं प्रज्वालयेत्। पश्चात्स्वाङ्गशीतलं ज्ञात्वा उद्धृत्य। शेषं सुबोधमेव ॥ ६६-६८ ॥ इति हेमभस्म ॥

छठी विधि—पारे का भस्म अथवा पारे से सुवर्णपत्र को लेप करके हींग, हिङ्गुल, सिन्दूर और मैनसिल इनको सुवर्ण के समान भाग लेकर, खरल में डालकर कचनार के रस में एक दिन घोटकर गोला बनावे और उस गोले को पात्र के तलभाग में रखकर राख से पात्र को दबादबाकर भर दे और चूल्हेपर रखकर एक रात और एक दिन तक तीव्राग्नि देवे। स्वाङ्गशीतल होने पर द्रव्य को पात्र से निकाल ले, यदि कुछ कच्चा रह गया हो तो फिर दो पुट देवे। इस प्रकार निरुत्थ भस्म हो जाती है, इसका सर्वत्र प्रयोग करे ॥ ६६-६८ ॥

अथान्यप्रकारः—

काञ्चनाररसैर्घृष्ट्वा समसूतकगन्धयोः ॥ ६९ ॥
कज्जलीं हेमपत्राणि लेपयेत्समया तया।
काञ्चनारज कल्कैर्मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् ॥ ७० ॥
धृत्वा तत्संपुटे गोलं मृन्मूषासंपुटे ततः।
निधाय सन्धिरोधं च कृत्वा संशोष्य गोलकम् ॥ ७१ ॥
वह्निं खरतरं कुर्यादेवं दद्यात्पुटत्रयम्।
निरुत्थं जायते भस्म सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ७२ ॥

काञ्चनारेत्यादि। स्पष्टम् ॥ ६९-७२ ॥

सातवीं विधि—समानभाग पारा और गन्धक की कज्जली को कचनार के रस में घोटकर कज्जली के बराबर के सुवर्णपत्रों पर उस कज्जली को लेप दे। तत्पश्चात् कचनार के कल्क की दो मूषा बनाकर उनके संपुट में गोले को दे और उस मूषा को मिट्टी की मूषा में रखकर सन्धि-बन्द करके सुखावे और तीक्ष्णाग्नि में तीन पुट देवे, इस प्रकार करने से सुवर्ण की निरुत्थ भस्म हो जाती है, इसका सर्वत्र प्रयोग करे ॥ ६९-७२ ॥

अन्यत्प्रकारमाह—

काञ्चनारप्रकारेण लाङ्गली हन्ति काञ्चनम्।
ज्वालामुखी तथा हन्यात्तथा हन्ति मनःशिला ॥ ७३ ॥

काञ्चनारेत्यादि। लाङ्गली-कलिहारी तथा ज्वालामुखी जयन्ती। 'जयन्ती सा चतुर्विधा भवति-'श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा ज्वालामुखी भवेदि'ति। एतज्जातिचतुष्टयं श्वेता रक्ता इत्यादि श्वेतादिकुसुमैः कृत्वा जानीयात्। तथा मनःशिलाऽपि काञ्चनारप्रकारवद्विहिता काञ्चनं हन्ति ॥ ७३ ॥ इति हेमभस्म ॥

आठवीं विधि—उपर्युक्त कचनार की विधि से कलिहारी, ज्वालामुखी और मैनसिल इन तीनों का प्रयोग भी पृथक् पृथक् स्वर्ण को भस्म करने वाला होता है ॥ ७३ ॥

इदानीं रसवर्जं हेमभस्म प्रतिपादयन्नाह—

शिलासिन्दूरयोश्चूर्णं समयोरर्कदुग्धकै।
सप्तधा भावयित्वा तु शोषयेच्च पुनः पुनः ॥ ७४ ॥
ततस्तु गालिते हेम्नि कल्कोऽयं दीयते समः।
अतितरां धमेद् भूयो यथा कल्को विलीयते ॥ ७५ ॥

एवं वेलात्रयं दद्यात्कल्कं हेममृतिर्भवेत् ।

शिलेत्यादि । शिलासिन्दूरयोः समयोः—अर्कदुग्धकैः सप्तधा भावयित्वा भावनापरिमाणं च यावद् द्रव्यं प्लुतं भवति तावत् । प्रत्येकस्मिन् भावनान्ते शुष्कं विदध्यात् । ततः शिलासिन्दूरजः कल्कः—कल्कग्रहणेन सान्द्रो योज्यः । शेषं स्पष्टम् ॥ ७४-७५ ॥

नवीं विधि—अब पारदसहित सुवर्णभस्म को कहते हैं—मैनसिल और सिन्दूर का समान भाग चूर्ण लेकर आक के दूध की ७ भावना देवे । प्रत्येक भावना के बाद में सुखाता जावे । इसके बाद सुवर्ण को अग्नि में पिघला कर उसके बराबर का कल्क उसमें देवे और अग्नि को जब तक कल्क सुवर्ण में मिल न जावे तब तक, खूब धमन करे इस प्रकार तीन बार करने से सुवर्ण की भस्म हो जाती है ॥ ७४-७५ ॥

अथ सुवर्णभस्मपरीक्षा—

जाम्बवाभं सुवर्णस्य भस्म प्राहुर्भिषग्वराः ॥ ७६ ॥

जाम्बवाभमित्यादि । स्पष्टम् ॥ ७६ ॥

सुवर्णभस्म परीक्षा—सुवर्ण की भस्म जामुन के रंग की होती है ।

वक्तव्य—भस्म-परीक्षा के विषय में पहले अध्याय के प्रारंभ में जो विधि और सिद्धान्त बताए हैं उनको भी समझना । भस्म के रंग में भी भावना और मारक द्रव्यों के संयोग की प्रधानता होती है तथा अग्नि की मात्रा का भी परिणाम होता है ॥ ७६ ॥

अथ सुवर्णद्रुतिः—

चूर्णं सुरेन्द्रगोपानां देवदालीफलद्रवैः ।
भावितं हेम्नि निक्षिप्तं करोति जलवद् द्रुतिम् ॥ ७७ ॥
मण्डूकास्थिवसाटङ्कहयलालेन्द्रगोपकैः ।
कनकं प्रतिवापेन सुचिरं तिष्ठति द्रुतम् ॥ ७८ ॥

चूर्णमित्यादि । सुरेन्द्रगोपानां—वर्षाभूकीटविशेषाणां चूर्णं देवदालीफलद्रवैर्भावितमेकविंशतिवारमितोऽप्यधिकं वा इति शेषः । गलिते हेम्नि निक्षिप्तं तच्चूर्णं तस्य जलवद्द्रुतिं करोति । तथा मण्डूकास्थिवसा देहजाता तैलरूपा साऽपि भेकस्यैवादेया । टङ्कं-टङ्कणं, हयलाला-अश्वलाला, इन्द्रगोपकमेभिः प्रतिवापेन पुनः पुनः प्रक्षेपणेन कनकं सुचिरं-बहुकालं यावद् द्रुतं तिष्ठति । क्वचित् 'हयमारेन्द्रगोपकैः' इत्यपि पाठः श्रूयते । तत्र हयमार 'करवीरः' स च रक्तपुष्पको ग्राह्यः ।

विशेषः—ननु द्रुतेः पूर्वं सत्त्वपातनविधानं कथं नोक्तमिति चेन्न, धातूनां प्रस्तरस्मृत्तिकादिसत्त्वरूपत्वात् । आवर्त्यमानानां धात्वादीनां ज्वाला यथा चूडामण्युक्ताः 'आवर्त्यमाने कनके पीता, तारे सितप्रभा । शुल्वे नीलनिभा, तीक्ष्णे कृष्णवर्णा सुरेश्वरि ! ॥ वङ्गे ज्वाला कपोताभा, नागे मलिनधूसरा । शैले तु धूसरा देवि ! आयसे कपिलप्रभा ॥ अयस्कान्ते धूम्रवर्णा सस्यके लोहिता भवेत् । वज्रे नानाविधा ज्वाला खसत्त्वे पाण्डुरप्रभा ॥' इति ॥ ७७-७८ ॥

सुवर्ण की द्रुति—बीरबहूटी के चूर्ण को देवदाली के फल के रस की भावना देकर सुवर्ण में मिलाने से सुवर्ण पानी के समान पतला हो जाता है । अथवा मेंढक की हड्डी, चर्बी, सुहागा, घोडे की लार और बीरबहूटी इनके प्रतिवाप से सुवर्ण कई दिनों तक जल के समान पतला रहता है ॥ ७६-७८ ॥

अथ रूप्यस्योत्पत्तिनामलक्षणगुणशोधनमारणानि—

त्रिपुरस्य वधार्थाय निर्निमेषैर्विलोचनैः ।
शिवो निरीक्षयामास क्रोधेन परिपूरितः ॥ ७९ ॥
समभवत्ततस्तूल्का तस्यैकस्माद्विलोचनात् ।
वीरभद्रोऽपरस्मात्तु गणो वह्निरिव ज्वलन् ॥ ८० ॥
तृतीयो ह्यश्रुबिन्दुस्तु लोचनादपतद्भुवि ।
तस्माद्रजतमुत्पन्नं नानाभूमिषु संस्थितम् ॥ ८१ ॥
भवति कृत्रिमं चापि वङ्गादेः सूतयोगतः ।

त्रिपुरस्येत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ७९-८१ ॥

अब चाँदी की उत्पत्ति, नाम, लक्षण, गुण, शोधन और मारण को कहते हैं—त्रिपुरासुर के वधार्थ भगवान् शिव कुपित होकर नेत्रों से जब एकटक देखने लगे तो उनके एक नेत्र से उल्का उत्पन्न हुई, दूसरे से अग्नि के समान तेजस्वी वीरभद्र नामका गण उत्पन्न हुआ और तीसरे नेत्र से पृथ्वी पर अश्रुओं की बूँदें गिरीं जिनसे अनेक स्थानों में चादी उत्पन्न हुई। दूसरी एक कृत्रिम (बनावटी) चाँदी भी पारे और रांगे के संयोग से होती है।

वक्तव्य—आयुर्वेद के आलङ्कारिक शब्दों और आख्यानों को आज के धातुशास्त्र की दृष्टि से देखा और परखा जावे तो सहज, खनिज और कृत्रिम शब्दों का बहुत ही सरल, सीधा और वास्तविक अर्थ हो सकता है। चाँदी बडे बडे गट्ठों या कणसमूहों के रूप में प्रकृति में शुद्धावस्था में भी पाई जाती है। इस चादी को नेटिव सिल्वर कहते हैं। यह चादी भूभाग का जब निर्माण हुआ उसी समय उसके साथ ही निर्मित हुई है अत एव इसको 'सहज' कहा जाता है।

गन्धक के साथ संयुक्त अवस्था में भी कुछ चादी प्राप्त होती है ऐसा जो खनिज होता है उसको चादी का खनिज माना जाता है। इस खनिज में चादी की मात्रा अधिक होती है और चादी का निष्कासन भी इससे सरलता से होता है। इस प्रकार के खनिज से जो चादी प्राप्त की जाती है उसको खनिज चांदी कहा जा सकता है।

चादी के अतिरिक्त अन्य धातुओं के मिश्रण अथवा संस्कार करके जो चादी बनाई जाती है वह चादी के लक्षणों वाली और तत्समान दीखने वाली धातु बनाई जाती है उसको कृत्रिम चादी कहा जाता है। उदाहरणार्थ जैसे जर्मन सिल्वर। इसकी संघटना इस प्रकार है-६० भाग ताम्र, २० भाग यशद और २० भाग निकिल के होते हैं। वङ्ग और चादी में भी सादृश्य होता है। रसशास्त्रों में वङ्ग से चादी बनाने के किमियागिरों द्वारा अनेक प्रयत्न हुए हैं यह **'भवति कृत्रिमं चापि वङ्गादेः सूतयोगतः'** इस उपर्युक्त वचन से प्रगट होता है।

आजकल बाजार में सराफों द्वारा उत्तम चादी प्राप्त करके ही उसका औषधार्थ प्रयोग करना चाहिए। खनिज चादी कैसे प्राप्त हो इसके झमेले में हमें नहीं जाना है।

शुद्ध चादी का विशिष्ट घनत्व १०-५ होता है और द्रवणाङ्क ७६० डिग्री शतांश का होता है ॥ ७९-८१ ॥

अन्ये तु रजतस्य त्रिविधत्वं निर्दिशन्तीत्याह—

सहजं कृत्रिमं चैव खनिजं रजतं त्रिधा ॥ ८२ ॥
कैलासाद्रिस्थितं यद्धि सहजं रजतं हि तत् ।

रसेन्द्रवेधसंजातं संप्रोक्तं कृत्रिमं च तत् ॥ ८३ ॥
हिमाचलादिभूमौ च जायते खनिजं च तत् ।
खनिजं मारणार्थं तु ग्राह्यं लक्षणलक्षितम् ॥ ८४ ॥

सहजमित्यादि । स्पष्टम् । विशेषः-रसरत्नसमुच्चये-'सहजं खनिजातं च कृत्रिमं त्रिविध मतम् । रजतं पूर्वपूर्वं हि स्वगुणैरुत्तमोत्तमम् ॥ कैलासाद्यद्रिसंभूतं सहजं रजतं भवेत् । तत्स्पृष्टं हि सकृद्व्याधिनाशनं देहिनां भवेत् ॥ हिमालयादिकूटेषु यद्रूप्यं जायते हि तत् । खनिजं कथ्यते तज्ज्ञैः परम हि रसायनम् ॥ श्रीरामपादुकान्यस्तं वङ्गं यद्रूप्यतां गतम् । तत्पादरूप्यमित्युक्तं कृत्रिमं सर्वरोगनुत् ॥' इति ॥ ८२-८४ ॥

अन्य कुछ आचार्य चादी के तीन प्रकार मानते हैं जैसे कि—सहज, कृत्रिम और खनिज । कैलास आदि पहाडों में होने वाली चादी सहज, पारे के वेध से बनी हुई कृत्रिम और हिमाचल आदि पहाडों की भूमि में उत्पन्न होने वाली खनिज होती है । भस्म करने के लिए खनिज चाँदी का ग्रहण होता है । वह निम्नश्लोक में कहे हुए लक्षणों से युक्त होनी चाहिए ॥ ८२-८४ ॥

गुरु स्निग्धं मृदु श्वेतं दाहच्छेदघनक्षमम् ।
वर्णाढ्यं चन्द्रवत्स्वच्छं रूप्यं नवगुणं शुभम् ॥ ८५ ॥

सम्प्रति नवगुणान्वितं रजतं प्रशस्तमिति प्रतिपादयन्नाह-गुर्वित्यादि । दाहच्छेदघनक्षमं-दाहे क्षमं-स्वल्पाग्निनाऽद्रवीभूतं, छेदे क्षम-स्वल्पाघातेनात्रुटितम् , घने क्षम-घनाकारे क्षम समर्थम् । अन्यत्र तु 'दाहे छेदे सितमि'ति पाठः । स रमणीयः । शेषं स्पष्टम् ॥ त्याज्यरौप्यलक्षणं रसरत्नसमुच्चये यथा-'दाहे रक्तं च पीतं च कृष्णं रूक्षं स्फुटं लघु । स्थूलाङ्गं कर्कशाङ्गं च रजतं त्याज्यमष्टधा ॥' इति ॥ ८५ ॥

उत्तम चादी की परीक्षा—गुरु (भारी), चिकनी, कोमल, सफेद, अग्नि के ताप को सहन करनेवाली, किंचित् मात्र आघात लगने से न टूटनेवाली, सुन्दर वर्णवाली, चन्द्रमा के समान स्वच्छ चादी उत्तम होती है ।

वक्तव्य—शुद्ध चादी की सरल परीक्षा-एक छोटी सी सलाई को शोरे के तेजाब में डुबोकर, उसकी नोक पर लगा हुआ तेजाब का बूँद चादी पर रखो, यदि उस चादी में ताम्र की कुछ भी विकृति होगी तो बूँद वाली जगह पर नीला-सा हरा दाग पड जाता है । इस पर से समझना कि शुद्ध नहीं है और दाग न पडे तो शुद्ध समझना ॥ ८५ ॥

कृत्रिमं कठिनं रूक्षं रक्तं पीतं दलं लघु ॥ ८६ ॥

अथ कृत्रिमरजतलक्षण प्रदिशन्नाह-कृत्रिममित्यादि । स्पष्टम् ॥ ८६ ॥

कृत्रिम चादी कडी, रूखी, लाल, पीली, दलदार तथा हलकी होती है ॥ ८६ ॥

अथ गुणाः—

रूप्यं शीतं कषायाम्लं स्वादुपाकरसं सरम् ।
वयसः स्थापनं स्निग्धं लेखनं वातपित्तजित् ॥ ८७ ॥
प्रमेहादिकरोगांश्च नाशयत्यचिराद् ध्रुवम् ।
गुटिकाऽस्य धृता वक्त्रे तृष्णाशोषविनाशिनी ॥ ८८ ॥

रूप्यमित्यादि। स्पष्टम्। रसरत्नसमुच्चये तु—'रौप्यं विपाकमधुरं तुवराम्लसारं शीतं सरं परमलेखनकं च रुच्यम्। स्निग्धं च वातकफहृज्जठराग्निदीपि बल्यं परं स्थिर-वयस्करणं च मेध्यम्॥' इति॥ ८७–८८॥

चांदी के गुण—चांदी, शीतल, कसैली, खट्टी, पाक और रस में मीठी, रेचक, आयु को स्थिर करनेवाली, चिकनी, कोष्ठगत दोषों का उल्लेखन करनेवाली, वात-पित्तनाशक और प्रमेहादि रोगों को तत्काल नष्ट करनेवाली है। इसकी गुटिका मुख में रखने से तृष्णा और मुखशोष को दूर करती है॥ ८७–८८॥

रसपद्धत्याम्—

अपक्वरजतं नैव संयोज्यं स्वर्णवद्ददे।
पक्वं भस्मापि तन्नैव योज्यं ताम्रादिभस्मवत्॥ ८९॥
अभावाद् व्यवहारस्य किंच श्वित्रहरं हि तत्।
इति लोकप्रसिद्धिस्तु तस्माद्योज्यं रसादिषु॥ ९०॥

अपक्वेत्यादि। स्पष्टम्॥ ८९–९०॥

रसपद्धतिकार के मत से अपक्व चादी का सुवर्ण की भाति प्रयोग नहीं करना चाहिए। अपक्व सुवर्ण का जिस प्रकार घिस कर जल के साथ पीने का विधान है। सुवर्णवर्क जिस प्रकार प्रयुक्त होते हैं वैसे प्रायश चादी का बिना भस्म किये नहीं होता। औषध प्रयोगों में भी चादी के वर्क लेने की प्रथा नहीं है। हाँ, यूनानीवाले प्रयोगों में अवश्य लेते हैं, वैद्य नहीं। तथा चादी की भस्म का प्रयोग भी ताम्रभस्म आदि का तरह नहीं करना चाहिए क्योंकि आज तक इसका व्यवहार नहीं हो रहा है। यह केवल श्वेतकुष्ठनाशक मानी गई है। इसका यत्र-तत्र रसादिकों में ही प्रयोग पाया जाता है, प्रायश. चाँदी भस्म का उपयोग रसादि-प्रयोगों में ही किया हुआ मिलता है। केवल चाँदी की भस्म का बिना किसी औषध के प्रयोग नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार अन्य धातु भस्मों का एक मात्र भी प्रयोग होता है वैसे चादी भस्म का नहीं होता। अतः यहीं इसका प्रयोग किया जावे ऐसी लौकिक प्रथा है॥ ८९–९०॥

गुणग्रन्थेऽपि क्वचित्—

प्रोक्तकर्मसु संयोज्यं रजतं हि विधानत। इति॥ ९१॥

अत्र रूप्याद्येषु विमृश्यवादिभिरुपदिष्टोऽस्त्यपक्वे गुण इति प्रागुक्त्वा पुनश्च 'अपक्व-रजतं नैव संयोज्यं स्वर्णवद्ददे। पक्वं भस्मापि तन्नैव योज्यं ताम्रादिभस्मवत्॥' इति प्रतिपादनं स्वतन्त्रविरोधं प्रकटयति ग्रन्थकर्तुः, अतोऽत्र तत्परिहाराय विवेचयति स्वयमेव प्रबन्धकारो यथा-प्रोक्तेत्यादि। हि यस्माद्धेतो, प्रोक्तकर्मसु-विहितेषु येषु येषु चिकित्सा-कर्मसु तेषु तेषु यत्र तत्र पक्वमपक्व वा रजतं प्रयुज्यते तत्र विधानत. शास्त्रविधिना कस्मिन् कर्मणि केनानुपानेन कया रीत्या कियत्या मात्रया वा प्रदातव्यमिति विमृश्य रजत संयोज्यम्। एव नास्ति दोषलेश इति भावः। शुद्धरजतभस्मसेवनप्रकारो यथा-'भस्मीभूत रजतममल तत्समौ व्योमभानू, सर्वैस्तुल्यं त्रिकटुकवर सारघाज्येन युक्तम्। लीढ प्रातः क्षपयतितरा यक्ष्मपाण्डूदरार्शः-श्वास कासं नयनजरुजः पित्तरोगान-शेषान्॥' इति॥ ९१॥

जिन रसादिकर्मों में चादी का प्रयोग किया गया हो वहा शास्त्रविधानपूर्वक चादी का प्रयोग करे॥ ९१॥

अथाशुद्धरजतमारणे दोषमाह—

तारं शरीरस्य करोति तापं विड्बन्धतां यच्छति शुक्रनाशम् ।
वीर्यं बलं हन्ति तनोश्च पुष्टिं महागदान् पोषयति ह्यशुद्धम् ॥ ९२ ॥

तारमित्यादि । सुगमम् । 'अशुद्धरजतभस्मसेवनजनितविकारशान्त्यै मधुसिते द्वितोले सेव्ये' इति ॥ ९२ ॥

अशुद्ध चादी मारण में दोष—अशुद्ध चादी की भस्म शरीर में संताप, विड्बद्धता, शुक्र का नाश, बल, वीर्य तथा शरीरपुष्टि को हरनेवाली और महारोग करती है ॥ ९२ ॥

अथ रजतमारणम् । तत्रास्य विशेषशोधनम् । उक्तं च—

तैलतक्रादिशुद्धस्य रजतस्य विशेषतः ।
शोधनं मुनिभिः प्रोक्तं तद्यथावन्निगद्यते ॥ ९३ ॥
सूक्ष्मपत्रीकृतं रूप्यं प्रतप्तं जातवेदसि ।
निर्वापितमगस्त्यस्य रसे वारत्रयं शुचि ॥ ९४ ॥
तारं तप्तं त्रिधा क्षिप्तं तैले ज्योतिष्मतीभवे ।
खर्परे भस्मचूर्णाभ्यां परितः पालिकां चरेत् ॥ ९५ ॥
तत्र रूप्यं विनिक्षिप्य समसीससमन्वितम् ।
जातसीसक्षयं यावद्धमेत्तावत्पुनः पुनः ।
इत्थं संशोधितं रूप्यं मृतं योज्यं रसादिषु ॥ ९६ ॥

तैलेत्यादि । उक्तं च 'तैले तक्रे गवां मूत्रे ह्यारनाले कुलत्थजे । क्रमान्निषेचयेत्तप्तं द्रावे द्रावे तु सप्तधा । स्वर्णलोहादिपत्राणां शुद्धिरेषा प्रशस्यते ॥' इति ।

विशेषः—ढुण्ढुकनाथः 'नागेन टङ्कणेनैव द्रावितं शुद्धिमृच्छति । रजतं दोषनिर्मुक्तं किं वा क्षाराम्लपाचितम् ॥' इति । रसरत्नाकररसरत्नसमुच्चयकारावपि इदमेव मतं प्रकटयतः । सुवर्णकारेष्वेषा प्रक्रियेदानीमपि प्रचलिता विद्यते । शेषं स्पष्टम् ॥ ९५-९६ ॥

चाँदी का विशेष शोधन और उसका भस्मप्रकार—तैल और तक्र आदि में शुद्ध की हुई चादी का महर्षियों ने जो विशेष शोधन कहा है उसको यथावत् कहते हैं-चाँदी के सूक्ष्म पत्रे को अग्नि में तपाकर तीन वार अगस्तिया के पत्तों के रस में प्रक्षेपण करने से शुद्ध हो जाते हैं तथा मालकागनी के तेल में तीन वार बुझाकर एक ठीकरे में राख और चूना की चौतरफ दीवार सरीखी बनाकर उसमें समान भाग सीसे से युक्त चादी को रखकर अग्नि पर तब तक वारवार धमन करता जावे जब तक कि सीसा नष्ट न हो जावे सीसा के साथ मिलाकर धमन करने से चादी में जितने भी अन्य धातुजन्यदोष होते हैं वे सीसे के साथ ही जल जाते हैं और केवल शुद्ध चादी खपडे के तल में रह जाती है । इस प्रकार शुद्ध की हुई चादी की भस्म को रसादिक सब कार्यों में वरते ॥ ९५-९६ ॥

अथ मारणम्—

विधाय पिष्टिं सूतेन रजतस्याथ मेलयेत् ।
तालं गन्धं समं शुद्धं तन्मर्द्यं निम्बुकद्रवैः ॥ ९७ ॥
गोलकीकृत्य संशुद्धं मूषायां स्वर्णवद् दृढम् ।

छिन्नैः पुटैर्भवेद्भस्म योज्यमेतद्रसादिपु ॥ ९८ ॥

अथ सरसं रजतभस्मप्रतिपादयन्नाह—विधायेत्यादि । सुबोधम् ॥ ९७-९८ ॥

भस्मप्रकार—चादी की पारे के साथ पिष्टी बनाकर उस पिष्टी के बराबर हरताल और गन्धक मिलाकर निम्बू के रस में मर्दन कर गोली करे और मूषा में बन्द करके सुवर्ण के तुल्य दो-तीन पुटों से भस्म करे। इस भस्म को रसादिक कार्यों में प्रयोग करे ॥ ९७-९८ ॥

मतान्तरम्—

हिङ्गूलेन च माक्षिकेण बलिना तुल्येन जम्भाम्भसा ।
लिप्तं रौप्यदलं पुटेन पटुना[1] स्याद्भस्म मूषास्थितम् ॥ ९९ ॥

हिङ्गूलेनेत्यादि । अत्र हिङ्गूलादिबलयन्तास्त्रयोऽपि जम्बीररसभाविता एव ग्राह्याः। अत्र योगद्वयं हिङ्गूलेन माक्षिकेण, बलिना हिङ्गूलेन चेति ग्रन्थान्तरसंवादात्। शेष स्पष्टम् ॥ ९९ ॥

दूसरी विधि—चादी के शुद्ध पत्रों को हिंगुल और सुवर्णमाक्षिक अथवा गन्धक और जम्भीरी निम्बू का रस से लेप करके मूषा में रख गजपुट में फूकने से भस्म हो जाती है। यहा लेपनद्रव्य पत्रों के बराबर का लेना चाहिए ॥ ९९ ॥

मतान्तरम्—

तारपत्रं तुर्यभागं भागैकं शुद्धतालकम् ।
एतज्जम्बीरजद्रावैः कल्कीकृत्याखिलं भिषक् ॥ १०० ॥
तेन तारस्य पत्राणि लेपयेच्छोपयेत्ततः ।
शरावसंपुटे तेषामूर्ध्वाधो गन्धकं क्षिपेत् ॥ १०१ ॥
तारतुल्यं ततस्तानि रुद्ध्वा गजपुटे पचेत् ।
त्रिंशद्वत्पलकैर्वाऽपि विंशद्भिस्तारपञ्चता ॥ १०२ ॥

तारपत्रमित्यादि । स्पष्टम् । पुटसंख्याविषये रसरत्नसमुच्चयेऽधिकः पाठः समुपलभ्यते यथा—'चतुर्दशपुटैरेवं निरुत्थं जायते ध्रुवम् ।' इति ॥ १००-१०२ ॥

तीसरी विधि—चांदी के पत्र ४ भाग, शुद्ध हरताल १ भाग दोनों को जमीरी निंबू के रस में कल्क करके पत्रों पर लेप करे और सुखावे तत्पश्चात् उनके नीचे-ऊपर गन्धक देकर शरावसंपुट में देकर गजपुट में ३० अथवा २० उपलों की अग्नि में पकावे तो भस्म हो जाती है ॥१००-१०२॥

अन्यत्राऽपि—

भागैकं तालकं मर्द्यं याममम्लेन केनचित् ।
तेन भागत्रयं तारपत्राणि परिलेपयेत् ॥ १०३ ॥
धृत्वा मूषापुटे रुद्ध्वा पुटेत्त्रिंशद्वनोत्पलैः ।
समुद्धृत्य पुनस्तालं दत्त्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत् ॥१०४॥
चतुर्दशपुटैरेवं तारं भस्म प्रजायते ।

भागैकमित्यादि । भागैकं तालकं गृहीत्वा केनचित् अम्लेन अम्लवर्गोक्तेन द्रव्येण यामं यावन्मर्द्यम् । पश्चात् तेन—कल्केन । शेषं स्पष्टम् । इति रूप्यभस्म ॥ १०३-१०४ ॥

---

१. पटुना पुटेन गजपुटेन ।

चौथी विधि—१ भाग हरताल को एक प्रहर तक किसी भी अम्लपदार्थ से मर्दन करके तीन भाग चादी के पत्रों पर लेप करे और उन पत्रों को मूषा में बन्द करके ३० वनगोवरियों को पुट देवे। इस प्रकार १४ पुट देने से चादी की भस्म हो जाती है॥ १०३-१०४॥

स्नुहीक्षीरेण संपिष्टं माक्षिकं तेन लेपयेत्॥ १०५॥
तालकस्य प्रकारेण तारपत्राणि बुद्धिमान्।
चतुर्दशपुटैरेवं तारं भस्म प्रजायते॥ १०६॥

स्नुहीत्यादि। स्पष्टम्। इति रसं विना मध्यमं रूप्यभस्म॥ १०५-१०६॥

पाचवी विधि—थूहर के दूध से सोनामक्खी को पीस कर उसको हरताल की भांति चादी के पत्रों पर लेप करे और मूषा में बन्द कर के २० वनगोवरियों का पुट देवे। इस प्रकार १४ पुट देने से चादी की भस्म हो जाती है॥ १०५-१०६॥

मतान्तरम्—

सूतगन्धकयोस्तारतुल्ययोः कज्जलीं भिषक्।
द्रवीकृत्य कुमार्यद्भिस्तारपत्राणि लेपयेत्॥ १०७॥
शरावसंपुटे रुद्ध्वा त्रिंशदुत्पलकैः पचेत्।
द्विवारं रजतस्याशु भस्म स्यात् प्रायशः सितम्॥ १०८॥

सूतेत्यादि। अत्र प्रायोग्रहणेन अन्यवर्णात्मकं चापि भवितुमर्हतीति भावः। शेषं सुबोधम्। इत्यपि रससंयुक्त रूप्यभस्म॥ १०७-१०८॥

छठीं विधि—चादी के पत्रों के बराबर पारा और गन्धक की कज्जली को ग्वारपाठे के रस में मर्दन कर के लेप करे और शराव-संपुट में बन्द कर के ३० उपलों की अगार में पकावे। इस प्रकार दो पुट देने से चांदी की श्वेत भस्म हो जाती है॥ १०७-१०८॥

अथ द्रुतिः—

शतधा नरमूत्रेण भावयेद्देवदालिकाम्।
तच्चूर्णावापमात्रेण द्रुतिः स्यात्स्वर्णतारयोः॥ १०९॥

शतधेत्यादि। सुबोधम्॥ १०९॥

द्रुति—देवदाली को मनुष्य-मूत्र में १०० वार भावित कर के उसका चूर्ण प्रक्षेप करने से सुवर्ण तथा चादी द्रवित हो जाते हैं॥ १०९॥

अथ ताम्रस्योत्पत्तिनामलक्षणशोधनमारणानि—

शुक्रं यत्कार्तिकेयस्य पतितं धरणीतले।
तस्मात्ताम्रं समुत्पन्नमिदमाहुः पुराविदः॥ ११०॥
ताम्रं तु द्विविधं प्रोक्तं नेपालं म्लेच्छनामकम्।
अतिशोणं मृदु, कृष्णं कठिनं, क्रमशः स्मृतम्॥ १११॥

शुक्रमित्यादि। स्पष्टम्। तन्त्रान्तरे तु-'म्लेच्छं नेपालकं चेति तयोर्नेपालकं वरम्। नेपालादन्यखन्युत्थं म्लेच्छमित्यभिधीयते॥ सितकृष्णारुणच्छायमतिवामि कठोरकम्।

स्खलितं च पुनः कृष्णमेतन्म्लेच्छकताम्रकम् ॥ सुस्निग्धं मृदुलं शोणं घनघातक्षमं गुरु। निर्विकारं गुणश्रेष्ठं ताम्रं नेपालमुच्यते ॥ पाण्डुरं कृष्णशोणं च लघुस्फुटनसंयुतम्। रूक्षाङ्गं सदलं ताम्रं नेष्यते रसकर्मणि ॥' इति ॥ ११०-१११ ॥

अब तांबे की उत्पत्ति, नाम, लक्षण, शोधन और मारण को कहते हैं—प्राचीन आचार्यों का मत है कि स्वामिकार्तिकेय का वीर्य स्खलित होकर जो भूमि पर गिरा उसी से ताम्र उत्पन्न हुआ। ताम्र के दो भेद हैं—पहला नेपाली ताम्र और दूसरा म्लेच्छ ताम्र। नेपाली अतिशय लाल और मृदु तथा म्लेच्छ काले रंग का एवं कठिन होता है।

वक्तव्य—ताम्र के जो नेपाली ताम्र और म्लेच्छ ताम्र दो भेद हैं, उनका विशेष स्पष्टीकरण ऊपर संस्कृत टीका में किया गया है। नेपाली ताम्र ग्राह्य होता है और म्लेच्छ त्याज्य होता है। ताम्र यह रक्तवर्णी और चमकीली धातु है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ८ है। १०८० शतांश डिग्री की ताप पर तांबा पिघलता है। ताप और विद्युत् की वाहकता में चांदी के बाद तांबा का मुख्य स्थान है। शुद्ध तांबे के बहुत ही सूक्ष्म पत्र (वर्क) बनाए जा सकते हैं। सूक्ष्म तार भी खींचा जा सकता है। आजकल बिजली के तार जो मिलते हैं वे शुद्ध ताम्र के होते हैं। उनमें कोई भी अन्य धातु का मिश्रण नहीं होता है। भस्म के लिए बिजली के वायर-तार का ताम्र अथवा तुत्थ से निकाले हुए ताम्र का भस्म के लिए उपयोग करना चाहिए।

तुत्थ से ताम्र निकालने की विधि—आधा सेर रीठे के फल के छिलके को दश सेर जल में डाल कर कषाय करना चाहिए जब आधा जल शेष रहे तब उतार कर छान कर एक लोहे की कड़ाही में डाल कर उसमें एक सेर नीला थोथा (तुत्थ) का चूर्ण करके डाल दें और लकड़ी से भलीभांति मिला कर दो दिन रहने दें, तीसरे दिन ऊपर-ऊपर का जल निथार कर निकाल दें और कड़ाही के तल में जमा ताम्र का चूर्ण दो-तीन बार जल से धोकर सुखा कर ग्रहण करे ॥ ११०-१११ ॥

नामानि—

ताम्रमौदुम्बरं शुल्बमुदुम्बरमिति स्मृतम्।
रविप्रियं म्लेच्छमुखं सूर्यपर्यायनामकम् ॥ ११२ ॥

ताम्रमित्यादि। स्पष्टम् ॥ ११२ ॥

तांबे के नाम—ताम्र, औदुम्बर, शुल्ब, उदुम्बर, रविप्रिय, म्लेच्छमुख और सूर्य के जितने पर्याय हैं वे सब ताम्र के भी होते हैं ॥ ११२ ॥

अथ ताम्रलक्षणं प्रदर्शयन्नाह—

जपाकुसुमसंकाशं स्निग्धं मृदु घनक्षमम्।
लोहनागोज्झितं ताम्रं नेपालं मृत्यवे शुभम् ॥ ११३ ॥
कृष्णं रूक्षमतिस्तब्धं श्वेतं चापि घनासहम्।
लोहनागयुतं शुल्बं म्लेच्छं दुष्टं मृतौ त्यजेत् ॥ ११४ ॥

जपाकुसुमेत्यादि। स्पष्टम् ॥ ११३-११४ ॥

उत्तम ताम्र की परीक्षा—गुडहल के फूल के समान लाल, चिकना, मृदु, घन की चोट को सहन करने वाला, लोहे और सीसे के विकार से रहित नेपाली ताम्र भस्म करने के लिए गृहीत होता है। काला, रूखा, अतिस्तब्ध, सफेद, घन की चोट लग जानेसे फटने वाला, लोहे और सीसे के विकार से युक्त, म्लेच्छ ताम्र मारण के लिये अधम होता है ॥ ११३-११४ ॥

अन्यच्च—

न विषं विषमित्याहुस्ताम्रं तु विषमुच्यते ।
एको दोषो विषे ताम्रे त्वष्टौ दोषाः प्रकीर्तिताः ॥ ११५ ॥
भ्रमो मूर्च्छा विदाहश्च स्वेदक्लेदनवान्तयः ।
अरुचिश्चित्तसंताप एते दोषा विषोपमाः ॥ ११६ ॥
तैलतक्रादिशुद्धस्य तद्दोषविनिवृत्तये ।
शुल्वस्य शोधनं प्राज्ञैर्विशेषात्समुदाहृतम् ॥ ११७ ॥

नेत्यादि । सुगमम् ॥ ११५-११७ ॥

अन्यमत—विष को विष नहीं कहा है । किन्तु ताम्र को विष बताया है । विष में केवल एक ही दोष होता है परन्तु ताम्र में तो आठ दोष होते हैं । जैसे कि-भ्रम (चक्कर), मूर्च्छा (बेहोशी), विदाह (देह में जलन), स्वेद, क्लेदन, वमन, अरुचि और मानसिक सन्ताप ये आठ दोष ताम्र में होते हैं । इन दोषों को दूर करने के लिए तैल आदि में शुद्ध किए हुए ताम्र का विशेषज्ञोंने विशिष्ट शोधन कहा है ॥ ११५-११७ ॥

यथा—

स्नुह्यर्कक्षीरसिन्धूत्थैस्ताम्रपत्राणि लेपयेत् ।
अग्नौ प्रताप्य निर्गुण्डीरसे संसेचयेत्त्रिशः ॥ ११८ ॥
स्नुह्यर्कक्षीरसेकैर्वा शुल्वशुद्धि प्रजायते ॥

तैलतक्रादिशुद्धस्य विशेषशोधनं-स्नुहीत्यादि । सुगमम् ॥ ११८ ॥

शोधन—थूहर का दूध, आक का दूध और सेन्धा नमक इनका तावे के पत्रोंपर लेपकर के अग्नि में तपातपा कर ३ वार निर्गुण्डी के रस में सेचन करे अथवा केवल थूहर के और आक के दूध से ताम्र शुद्ध हो जाता है ॥ ११८ ॥

अन्यमतम्—

गोमूत्रेण पचेद्यामं ताम्रपत्रं दृढाग्निना ॥ ११९ ॥
साम्लक्षारेण संशुद्धि ताम्रमाप्नोति सर्वथा ।

गोमूत्रेणेत्यादि । पत्तलीकृतताम्रपत्र सर्वथा-सर्वप्रकारेणेतिशब्दो वैशिष्ट्यं द्योतयति । शेषं स्पष्टम् । इति विशेषशुद्धिः ॥ ११९ ॥

दूसरी विधि—अम्लरस तथा क्षार (सज्जीखार, जवाखार और टङ्कण खार) सहित गोमूत्र से तावे के पत्रों को एकप्रहर तीक्ष्णाग्नि में पकाने से सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं ॥ ११९ ॥

सम्प्रति ताम्रमारणप्रकारं दिदर्शयिषुराह—

सूक्ष्माणि ताम्रपत्राणि कृत्वा संस्वेदयेद् बुधः ॥ १२० ॥
वासरत्रयमम्लेन ततः खल्वे विनिक्षिपेत् ।
पादांशं सूतकं दत्त्वा याममम्लेन मर्दयेत् ॥ १२१ ॥
तत उद्धृत्य पत्राणि लेपयेद् द्विगुणेन च ।
गन्धकेनाम्लघृष्टेन तस्य कुर्याच्च गोलकम् ॥ १२२ ॥

ततः पिष्ट्वा च मीनाक्षी [1]चाङ्गेरी वा पुनर्नवाम् ।
तत्कल्केन वहिर्गोलं लेपयेद् द्व्यङ्गुलोन्मितम् ॥ १२३ ॥
धृत्वा तद्गोलकं भाण्डे शरावेण च रोधयेत् ।
वालुकाभिः प्रपूर्याथ विभूतिलवणाम्बुभिः ॥ १२४ ॥
दत्त्वा भाण्डमुखे मुद्रां, ततश्चुल्ल्यां विपाचयेत् ।
क्रमवृद्धाग्निना सम्यग्यावद्यामचतुष्टयम् ॥ १२५ ॥
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य मर्दयेत्सूरणद्रवैः ।
यामैकं गोलकं तच्च निक्षिपेत्सूरणोदरे ॥ १२६ ॥
मृदा लेपस्तु कर्तव्यः सर्वतोऽङ्गुलमात्रकः ।
पाच्यं गजपुटे क्षिप्तं मृतं भवति निश्चितम् ॥ १२७ ॥
वमनं च विरेकं च भ्रमं क्लममथारुचिम् ।
विदाहं स्वेदमुत्क्लेदं न करोति कदाचन ॥ १२८ ॥

सूक्ष्माणीत्यादि। तस्येति जातित्वादेकवचनम् । तन्त्रान्तरे च यथा-'ताम्रपादेन सूतेन सार्धं पत्रं प्रलेपयेत् । ताम्राद् द्विगुणगन्धेन ह्यम्लपिष्टेन तत् पुनः ॥ लिप्त्वाऽध ऊर्ध्वगं देयं सुपिष्टां चाम्लपत्रिकाम् । तत् पिण्डं भाण्डगर्भे तु रुद्ध्वा चुल्ल्यां विपाचयेत् ॥' इति । क्वचित्त्वन्यथा पठति व्याख्यानयति च-'दिनैकं गोलकं कुर्यादर्धगन्धेन लेपयेत् । सघृतेन ततो मूषा पुटे गजपुटे पचेत् ॥' इति । सूरणद्रवैर्दिनमेकं समर्द्य पश्चात् गोलकं कृत्वा सघृतेनार्धगन्धककल्केन तल्लेपयित्वा तदनु मूषान्तर्धृत्वा निरोध्य च गजपुटे पचेत्' ॥ १२०-१२८ ॥

ताम्रभस्म की विधि—तावे के सूक्ष्मपत्र वनवाकर ३ दिन तक अम्ल रस में स्वेदन करे तत्पश्चात् खरल में डालकर चौथाई भाग पारा मिलाकर एक प्रहर निम्बू के रस में मर्दन करे । खरल से पत्रों को निकाल कर निम्बू के रस में मर्दन की हुई दुगुनी गन्धक का लेप करके गोला वनावे, उस गोले के ऊपर दो अङ्गुल ऊंचा मछेछी, चूका अथवा पुनर्नवा के कल्क का लेप करे सूखने पर गोले के पात्र में रखकर अवशिष्ट पात्रभाग को वालू से भरदे । पात्र के मुख पर शराव देकर राख, सेन्धा नमक और जल से मुद्रा कर दे । सूखने पर चूल्हे पर चढाकर मन्द, मध्य और तीक्ष्ण क्रम से भलीभाँति ४ प्रहर अग्नि देवे । स्वाङ्गशीतल होने पर निकाल कर सूरणकन्द के रस में एक प्रहर घोट कर गोला वनावे और उस गोले को सूरणकन्द में रखकर चारो ओर एक अगुल मिट्टी का उस गोले पर लेपकर गजपुट में फूकने से निश्चित भस्म हो जाती है । यह ताम्रभस्म वमन, विरेचन, भ्रम, ग्लानि, अरुचि, शरीर में दाह, पसीना और उवकाई नहीं करती है ॥१२०-१२८॥

अथान्यः प्रकारः—

ताम्रपादांशतः सूतं ताम्रतुल्यं तु गन्धकम् ।
मर्दयेद्यामयुग्मं तु यावत्कज्जलिका भवेत् ॥ १२९ ॥
तां तु कन्यारसैः पिष्ट्वा ताम्रपत्राणि लेपयेत् ।
संशुष्काणि ततस्तानि शेषकज्जलिकान्तरम् ॥ १३० ॥

---

१ चाङ्गेरी—चतुष्पत्रा, मीनाक्षी हुनगुदा पत्रशाकम् । इति ग्रन्थकार ॥

निक्षिप्य हण्डिकामध्ये शरावेण निरोधयेत्।
सन्धिरोधं द्वयोः कुर्यादम्बुभस्मविलेपनैः॥ १३१॥
हण्डिकां पटुनाऽऽपूर्य भस्मना वा गलावधि।
पिधायारोप्य चुल्ल्यां तु वह्निं प्रज्वालयेद् दृढम्॥ १३२॥
चतुर्यामं ततः स्वाङ्गशीतलं तत्समुद्धरेत्।
अम्लपिष्टं मृतं ताम्रं लिम्पेत्सूरणगं मृदा॥ १३३॥
पचेत्पञ्चामृतैर्वाऽपि त्रिधा वान्त्यादिशान्तये।
अत्र गजपुटो बोध्यः।

ताम्रेत्यादि। स्पष्टम्। पञ्चामृतं यथा–'दुग्धं सशर्करं चैव घृतं दधि तथा मधु। पञ्चामृतमिदं प्रोक्तं विधेयं सर्वकर्मसु॥' इति॥ १२९-१३३॥

दूसरी विधि—तावे से चौथाई भाग पारा और ताम्र के बराबर गन्धक लेकर तीनों को जबतक कज्जली न हो जावे तबतक दो प्रहर मर्दन करे, उस कज्जली को ग्वारपाठे के रस में पीसकर तावे के पत्रोंपर लेप करे, सूखनेपर उन पत्रों को अवशेष कज्जली के बीच में देकर हाडी में रख शराव से ढक दे, दोनों की सन्धि राख और पानी से लेप करके बन्द कर दे, तत्पश्चात् हाण्डी को नमक अथवा राख से गलेतक भर दे और उसके मुखपर ढकना देकर मुद्रा कर दे। सूखनेपर चूल्हेपर रखकर ४ प्रहर तीक्ष्ण अग्नि जलावे, स्वाङ्गशीतल होने से निकालकर अम्लरसों में पीसकर सूरणकन्द में रखकर मिट्टी से लेपकर ३ बार पकावे अथवा पचामृत में घोटकर वमन आदि की शान्ति के लिए पकावे॥ १२९-१३३॥

जम्भाम्भसा सैन्धवसंयुतेन सगन्धकं स्थापय शुल्वपत्रम्।
पङ्कायमानं पुटयस्व युक्त्या वान्त्यादिकं यावदुपैति शान्तिम्॥१३४॥

जम्भेत्यादि। लिप्तं ताम्रपत्रमार्द्रमेव हण्डिकायां स्थापयेदिति पङ्कायमानमित्यनेन सूचितं भवतीति तात्पर्यम्॥ १३४॥

तीसरी विधि—सेन्धा नमक और गन्धकसहित जमीरी निंबू के रस में तावे के पत्रों को डुबाकर रखे और गीले के गीले ही हाडी में भरकर वान्ति, भ्रान्ति आदि दोष नष्ट होनेतक गजपुट में फूके॥ १३४॥

अथ रससंयुक्तं ताम्रभस्म। रसपद्धत्यां यथा—

अर्धांशेन रसेन तुल्यबलिना जम्भाम्बुपिष्टेन च
लिप्त्वा ताम्रदलानि [१]संस्तरचितान्यर्कस्य पक्वच्छदैः।
भाण्डेऽरन्ध्रिणि तिन्तिणीकविटपत्वग्भस्मसंपूरिते
घस्रैकं परिपाचितानि शुचिना तीव्रं म्रियन्ते सकृत्॥ १३५॥

---

१ संस्तरचयनं तु–पक्वार्कपत्रं हण्डिकायां दत्त्वा, तत्र कज्जलीं तदुपरि ताम्रपत्रं पुनस्तदुपरि कज्जलीं तदुपरि पक्वार्कपत्रम्, एवं क्रमेणेति भावः। भाण्डेऽरन्ध्रिणीत्यादि। अयमर्थः–आदावरन्ध्रवति भाण्डे अम्लिकात्वग्भस्मचतुरङ्गुलं दृढं प्रसार्य, तत्र ताम्रसंस्तरं दत्त्वा, तदुपरि पुनर्भस्मचूर्णं कृत्वा उपरि शरावमृत्कर्पटानि दत्त्वा, चुल्ल्यामारोप्य प्रहरचतुष्टयपर्यन्तमग्निं तीव्रतरं दत्त्वा तानि म्रियन्ते, स्वाङ्गशीतानि ग्राह्याणि। शुचिरत्र वह्निः। इति ग्रन्थकारः।

अर्धेत्यादि । अर्धांशेन-ताम्रमानापेक्षयाऽर्धभागेन रसेन जम्भाम्बुपिष्टेन-जम्भीरीद्रवपेषितेन शुल्बबलिना च प्रथम गन्धकपारदयोः पिष्टि कृत्वा तां च निम्बुरसेन संमर्द्य, ताम्रदलानि लिप्त्वा अर्कस्य पत्रच्छदैः स्वयमेव पतितानि अर्कपत्राणि तैः संस्तरचितानि कृत्वा, संस्तरचयनविधानं टिप्पण्याम् । भाण्डे अरन्ध्रिणि-छिद्ररहिते तिन्तिणीकचिटपत्वग्भस्मसपूरिते सकृत् शुचिना-अग्निना! तीव्रं परिपाचितानि घस्रैकं-दिनैकं म्रियन्ते ॥ १३५ ॥

पारदयुक्त ताम्रभस्म—१ तोला पारा और २ तोले गन्धक इनको निंबू के रस में पीसकर ? तोले ताम्र पत्रोंपर लेप करके उन पत्रों को संस्तरचयनविधि से आक के पत्तों के साथ एक हांडी में रख दे और ऊपर से दबा-दबाकर इमली के वृक्ष की छाल की राख भर दे तत्पश्चात् हांडी के मुखपर ढक्कन देकर मुद्रा कर दे और एक दिन तीव्राग्नि देवे तो एक ही बार में ताम्रभस्म हो जाती है । हांडी में प्रथम आक के पीले पत्ते उनके ऊपर कज्जली और उसपर ताम्रपत्र फिर आक के पत्ते, कज्जली और ताम्रपत्र इस प्रकार क्रमश रखे । इसी का नाम संस्तरचयन है ॥ १३५ ॥

अथान्यः प्रकारः—

शुल्बपत्राणि सूतेन चतुर्थांशेन लेपयेत् ।
अम्लपिष्टेन द्विगुणमूर्ध्वाधो दापयेद्बलिम् ॥ १३६ ॥
चाङ्गेरीकल्कगर्भस्थं भाण्डे यामं पचेद् दृढम् ।
ताम्रपत्रं मृतीभूतं [1]सर्वयोगेषु योजयेत् ॥ १३७ ॥

शुल्बेत्यादि । सुगमम् ॥ १३६-१३७ ॥

पांचवीं विधि—ताम्रपत्रों से चौथाई भाग पारे का उनपर लेप कर दे और दुगुना गन्धक लेकर निंबू के रस में पीसकर तांबे के पत्तों के ऊपर और नीचे रखकर चूके के कल्क में गोला बनाकर हांडी में बन्द करके तीव्राग्नि में एक प्रहर तक पाक करे तो भस्म हो जाती है इसका सर्वत्र प्रयोग करे ॥ १३६-१३७ ॥

अन्यच्च—

जम्बीररससंपिष्टरसगन्धकलेपितम् ।
ताम्रपत्रं शरावस्थं त्रिपुटैर्याति भस्मताम् ॥ १३८ ॥

जम्बीरेत्यादि । सुबोधम् ॥ १३८ ॥

छठी विधि—जंभीरा निंबू के रस में समभाग पारा और गन्धक को पीस कर ताम्रपत्रों पर लेप दे और ३ पुट देवे तो ताम्रभस्म हो जाती है ॥ १३८ ॥

अथ मध्यमपक्षीयं रसरहित ताम्रभस्म प्रदर्शयन्नाह—

गन्धेन शिलया वापि रविदुग्धेन लेपितम् ।
जम्भाम्भसा च ताम्रं वै पुटैर्भस्मत्वमाप्नुयात् ॥ १३९ ॥

गन्धेनेत्यादि । सुबोधम् ॥ १३९ ॥

मध्यम पक्ष की पारदरहित ताम्रभस्म—गन्धक अथवा मैनसिलको आक के दूध अथवा निंबू रस से ताम्रपत्रों पर लेप करके तीन पुट देने से भस्म हो जाती है ॥ १३९ ॥

---

१. 'सर्वरोगेषु' इति पाठान्तरम् ।

अथ सोमनाथीयताम्रभस्म प्रतिपादयन्नाह—

शुल्वतुल्येन सूतेन बलिना तत्समेन च ।
तदर्धांशेन तालेन शिलया च तदर्धया ॥ १४० ॥
विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां भिन्नकज्जलसन्निभाम् ।
यन्त्राध्यायविनिर्दिष्टगर्भयन्त्रोदरान्तरे ॥ १४१ ॥
कज्जलीं ताम्रपत्राणि पर्यायेण विनिक्षिपेत् ।
प्रपचेद्यामपर्यन्तं स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ॥ १४२ ॥

शुल्वेत्यादि । स्पष्टम् । तदुक्तं गर्भयन्त्रं देवेन्द्रगिरिणा—'चतुरङ्गुलदीर्घं स्यात्त्र्यङ्गुलोन्मितविस्तृतम् । मृन्मयं संपुटं कृत्वा छायाशुष्कं च कारयेत् ॥ लवणाद्विंशतिर्भागा भाग एकस्तु गुग्गुलोः । सर्वं तोये प्रपेष्याथ तेनैव संपुटोदरम् ॥ लिप्त्वा तत्र मुखं रुद्ध्वा गर्भयन्त्रमिदं भवेत् ॥' इति । पर्यायेण क्रमेण व्यवधानरूपेणेत्यर्थः । अर्थात् प्रथमं कज्जलीं ततस्ताम्रपत्राणि ततः कज्जलीं ततस्ताम्रपत्राणीत्येवं क्रमेण विनिक्षिपेत् । ततो यामपर्यन्तं प्रपचेत् ॥ १४०-१४२ ॥

सोमनाथी ताम्रभस्म—ताम्रपत्रों के बराबर पारा, उतनी ही गन्धक, पारे से आधी हरताल, हरताल से आधी मैनसिल इन सब की चिकनी और काजल के समान कज्जली करके रसेन्द्रचूडामणि के यन्त्राध्याय में कहे हुए गर्भयन्त्र में कज्जली और ताम्रपत्रों को क्रमशः (अर्थात् पहले कज्जली उसके ऊपर ताम्रपत्र फिर कज्जली और ताम्रपत्र इस क्रम से रखकर एक प्रहरतक पकावे, स्वाङ्गशीतल होनेपर निकाल ले ॥ १४०-१४२ ॥

अथ गुणाः—

तत्तद्रोगहरानुपानसहितं ताम्रं द्विवल्लोन्मितं
संलीढं परिणामशूलमुदरं शूलं च पाण्डुं ज्वरम् ।
गुल्मप्लीहयकृत्क्षयाग्निसदनं मेहं च मूलामयं
दुष्टां च ग्रहणीं हरेद् ध्रुवमिदं श्रीसोमनाथाभिधम् ॥ १४३ ॥

तदित्यादि । स्पष्टम् ॥ १४३ ॥

ताम्रभस्म की सेवन विधि—उस-उस रोग को हरण करनेवाले अनुपान के साथ ६ रत्ती ताम्रभस्म चाटने से परिणाम शूल, पेट का शूल, पाडु, ज्वर, वायगोला, प्लीहा, यकृत्, क्षय, मन्दाग्नि, प्रमेह, बवासीर और दुष्ट ग्रहणी को नष्ट करती है ॥ १४३ ॥

ताम्रभस्मलक्षणम्—

बर्हिकण्ठप्रभं ताम्रं मृतं भवति केवलम् ।
पिष्टं चूर्णत्वमायाति सरसं चेत्सचन्द्रिकम् ॥ १४४ ॥

बर्हीत्यादि । चेद्यदि ताम्रभस्म सरसं स्यात् तर्हि सचन्द्रिकं चाकचिक्ययुक्तं भवति । शेषं सुगमम् ॥ १४४ ॥

ताम्रभस्म की परीक्षा—मोर की गरदन के समान कान्तिवाली तथा पीसनेपर जो चूर्ण हो

---

१. तदर्धं पारदादर्धं ताल, तालार्धा मन शिला । इति ग्रन्थकार. ।

जावे वह भस्म हो गई-ऐसा जानना। जिस ताम्र को पारे के संयोग से फूका जावेगा उसकी भस्म चमकदार होगी ॥ १४४ ॥

अथ ताम्रगुणाः—

ताम्रं कषायं मधुरं च तिक्तमम्लं च पाके कटु सारकं च।
पित्तापहं श्लेष्महरं च शीतं तद्रोपणं स्याल्लघु लेखनं च ॥ १४५ ॥
पाण्डूदरार्शोगरकुष्ठकासश्वासक्षयान् पीनसमम्लपित्तम्।
शोफं कृमिं शूलमपाकरोति प्राहुः परे बृंहणमल्पमेतत् ॥ १४६ ॥

ताम्रमित्यादि। सुस्पष्टम् ॥ १४५–१४६ ॥

ताम्र के गुण—तावा कसैला, मीठा, कडवा, खट्टा, पाक में चरपरा, रेचक, पित्त को नष्ट करनेवाला, कफनाशक, शीतवीर्य, व्रणरोपक, हलका और लेखन होता है तथा पाण्डुरोग, उदर, बवासीर, कृत्रिम विष, कुष्ठरोग, खासी, श्वास, क्षय, पीनस, अम्लपित्त, शोथ, कृमि और शूल को दूर करता एवं बृंहण होता है ॥ १४५–१४६ ॥

दाहः स्वेदोऽरुचिर्मूर्च्छा क्लेदो रेको वमिर्भ्रमः।
असम्यक्छोधिते दोषास्ताम्रेऽसम्यक् च मारिते ॥ १४७ ॥

असम्यक् शोधितमारितताम्रे दोषान् प्रविविक्षुराह–दाह इत्यादि। स्पष्टम् ॥ १४७ ॥

भली भांति शोधन और मारण न किए हुए ताम्र के दाह, पसीना, अरुचि, मूर्च्छा, क्लेद, रेचन, वमन और भ्रम ये आठ दोष होते हैं ॥ १४७ ॥

अथ वङ्गस्य नामलक्षणगुणशोधनमारणानि—

वङ्गं रङ्गं त्रपु प्रोक्तं तथा पिच्चटमित्यपि।
खुरकं मिश्रकं चेति द्विविधं वङ्गमुच्यते ॥ ४८ ॥
खुरकं श्रेष्ठमुद्दिष्टं मिश्रकं चावरं स्मृतम्।
खुरकं चन्द्ररूप्याभं खुराकारं च कीर्त्यते ॥ १४९ ॥
एतल्लक्षणभिन्नं तु वङ्गं मिश्रकनामकम्।

वङ्गमित्यादि। सुबोधम् ॥ १४८–१४९ ॥

अब रागा के नाम, लक्षण, गुण, शोधन और मारण कहते हैं–वङ्ग, रङ्ग, त्रपु और पिच्चट ये इस के नाम हैं। रागा के खुरक तथा मिश्रक ये दो भेद होते हैं। खुरिया रांगा उत्तम और मिश्रक अधम होता है। खुरिया चन्द्रमा और चादी के समान उज्ज्वल तथा खुर के आकार का होता है, इस से विपरीत मिश्रक होता है ॥ १४८–१४९ ॥

वक्तव्य—रागे को संस्कृत में 'वङ्ग' कहा जाता है। वर्मा में प्राचीन काल से ही खानों से रागा निकाला जाता रहा है। भारत में वर्मा से रागा का जो आयात होता था वह बगाल के मार्ग से ही आता था। भारत के लोगों को रांगे की प्राप्ति बगाल से होती थी। सभवतः यही हेतु हो कि इस का नाम 'वङ्ग' पड गया हो। इस का प्रधान खनिज टिन स्टोन (वङ्ग का पत्थर) होता है, जिसमें वङ्ग और आक्सिजन ये दो ही तत्त्व होते हैं। इस का रासायनिक सूत्र ($SN O_2$) होता है। इस का विशिष्ट घनत्व ७. ३ होता है और द्रवणाङ्क २३२ डिग्री सेंटिग्रेड होता है। बहुत अधिक ठंडी हवा के संयोग से वङ्ग बिखरने लगता है। साधारण जल वायु का वङ्ग पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता है। वानस्पतिक अम्लों का भी वङ्ग पर प्रभाव नहीं होता है, यही हेतु है

कि लोहा, ताँबा और पित्तल आदि धातुओं के बर्तनों पर रांगे की कलई की जाती है जिससे जल-वायु और वानस्पतिक द्रव्यों के प्रभाव से वे धातुपात्र सुरक्षित रहते हैं।

रांगा श्वेत वर्ण की चमकीली धातु है। शुद्ध वङ्ग एक दम श्वेत चांदी की चमक के समान होता है। यह खुरक (खुरिमा) रांगा कहलाता है। भस्म के लिए यही रांगा उत्तम होता है। 'मिश्रक' उसे कहते हैं जिसमें अन्य धातुओं का मिश्रण हो। बाजार के रांगे में न्यूनाधिक प्रमाण में कभी कभी सीसा, लोहा, ताँबा और आर्सनिक आदि पाये जाते हैं सीसे के अतिरिक्त दूसरी धातुओं की मात्रा अत्यन्त ही सूक्ष्म होती है। वङ्ग में सीसे की अधिक मात्रा होती है क्यों कि लाभ की भावना से व्यापारी यह कुत्सित कार्य करते हैं। सीसे के संयोग से वङ्ग चांदी के समान उज्ज्वल और श्वेत नहीं होता है उसमें कालिमा दीखती है। यही कारण है कि मिश्रक वङ्ग शुद्ध नहीं होता है अतः उत्तम नहीं है ॥ १४८-१४९ ॥

अथ वङ्गगुणा —

वङ्गं लघु सरं रूक्षमुष्णं मेहकफक्रिमीन् ॥ १५० ॥
निहन्ति पाण्डुकं श्वासं चक्षुष्यं पित्तलं मनाक् ।

वङ्गमित्यादि । सुबोधम् ॥ १५० ॥

रांगा के गुण—रांगा हलका, रेचक, रूखा, उष्ण, प्रमेह और कृमिनाशक, नेत्रों के लिए हितकारी तथा पाडु, श्वास और किंचित् मात्र पित्त को करने वाला है ॥ १५० ॥

सिंहो यथा हस्तिगणं निहन्ति तथैव वङ्गोऽखिलमेहवर्गम् ।
देहस्य सौख्यं प्रबलेन्द्रियत्वं नरस्य पुष्टिं विदधाति नूनम् ॥ १५१ ॥

सिंह इत्यादि । स्पष्टम् ॥ १५१ ॥

जिस प्रकार सिंह हाथियों के झुण्ड को नष्ट कर देता है ठीक उसी प्रकार यह वङ्ग भी २० प्रकार के प्रमेह रोग को हरण करता हुआ देह का सुख, इन्द्रियों की प्रबलता और शरीरपुष्टि को अवश्य करता है ॥ १५१ ॥

अन्यत्रापि—

वङ्गं तीक्ष्णोष्णरूक्षं कफकृमिवमिजिन्मेहमेदोऽनिलघ्नं
कासश्वासक्षयघ्नं प्रशमितहुतभुङ्मान्द्यमाध्मानदारि ।
बल्यं वृष्यं प्रभाकृन्मनसिजजनकं सर्वमेहप्रणाशि
प्रज्ञाकृद्वर्ण्यमुच्चैरलघुरतिरसस्यास्पदं बृंहणं च ॥ १५२ ॥

वङ्गमित्यादि । मनसिजजनकं-कामोद्दीपनकरम् । शेषं सुबोधम् ॥ १५२ ॥

अन्यमत-वङ्ग तीक्ष्ण, उष्ण, रूखा तथा कफ, कृमि और वमि (वमन) को जीतने वाला, प्रमेह और मेदोरोग को हरने वाला, खांसी, श्वास और क्षय नाशक, मन्दाग्नि तथा आध्मान (गुडगुडाहट) को मिटाने वाला, बलकारक, शुक्रवर्धक, शरीर शोभा और कामदेव को उत्पन्न करने वाला, सपूर्ण प्रमेह रोगनाशक, बुद्धि और उच्च वर्णकारक तथा हलका एव बृंहण है ॥१५२॥

अन्यच्च—

बल्यं दीपनपाचनं रुचिकरं प्रज्ञाकरं शीतलं
सौन्दर्यैकविवर्धनं हितकरं नीरोगताकारकम् ।

धातुस्थौल्यकरं क्षयिक्षयहरं सर्वप्रमेहापहं
वङ्गं भक्षयतो नरस्य न भवेत्स्वप्नेऽपि शुक्रक्षयः ॥ १५३ ॥

बलमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १५३ ॥

अन्य मत—वङ्ग बलकारक, दीपन तथा पाचन, रुचिकारक, बुद्धि को बढाने वाला, शरीर-सौन्दर्य के लिए उत्तम, हितकारक, स्वास्थ्यकर, धातुओं में स्थूलता करने वाला, क्षयनाशक और सम्पूर्ण प्रमेहहर है तथा वङ्ग के सेवन करने वाले का स्वप्न में भी शुक्रक्षय नहीं होता है ॥

अशुद्धममृतं वङ्गं प्रमेहादिगणप्रदम् ।
गुल्महृद्रोगशूलार्शःकासश्वासवमिप्रदम् ॥ १५४ ॥

अशुद्धमित्यादि । सुगमम् । अशुद्धवङ्गभस्मसेवनजनितविकारशान्तिमाह–'सितया मेषशृङ्गीं यस्त्रिदिनं सेवते यदि । वङ्गसेवाजरोगास्तानुज्झित्वा सुखितो भवेत् ॥' इति ॥

अशुद्ध अथवा विना मारा हुआ वङ्ग प्रमेहादि रोगों को उत्पन्न करता है तथा वायगोला, हृद्रोग, शूल, बवासीर, खासी, श्वास और वमन कारक होता है ॥ १५४ ॥

वक्तव्य—अशुद्ध, अमारित और मात्राधिक आदि किसी भी कारण से वङ्गसेवनजन्य कोई विकार (रोग) हो जावे तो मेंढासिंगी का चूर्ण ३ माशा समभाग मिश्री मिलाकर तीन दिन तक सेवन करे तो वङ्गज रोगों की शान्ति (प्रतिकार) हो जाती है । इस का प्रमाण ऊपर संस्कृत टीका में देखें ॥ १५४ ॥

वङ्गभस्मकरणम् अस्य शोधनं विशेषशोधनं च प्रागुक्तम् ।
शुद्धं वङ्गं क्षिपेद्धण्ड्यां चुल्लिस्थायां शनैःशनैः ।
तदधो ज्वालयेदग्निं द्रुते वङ्गे क्षिपेत्पुनः ॥ १५५ ॥
अपामार्गं चतुर्थांशं चूर्णं संचालयेदिदम् ।
स्थूलाग्रया ह्ययोदर्व्या यावत्तद्भस्म जायते ॥ १५६ ॥

अत्र रहस्यम्—

चूर्णप्रक्षेपणं कार्यं स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः ।
यावद्भस्म भवेद्वङ्गं तावच्चूर्णं समापयेत् ॥ १५७ ॥
शरावपिहितं पश्चात् स्थापयेत्तत्र तद्भिषक् ।
रज सर्वं ततोऽधस्तात्कुर्यादग्निं तु तीव्रकम् ॥ १५८ ॥
यावदङ्गारवर्णं तद्रजः समुपजायते ।
स्वाङ्गशीतं ततो ग्राह्यं मारणाय रजः शुभम् ॥ १५९ ॥

शुद्धमित्यादि । सुबोधम् ॥ १५५–१५९ ॥

वङ्गभस्म की विधि, उसका शोधन और विशेष शोधन पहले कह दिया है । शुद्ध रांगे को चूल्हे पर रखी हुइ हांडी में डालकर धीरे धीरे उसके नीचे अग्नि जलावे जब वङ्ग पिघल जावे तब उसमें चौथाई भाग चिरचिटे का चूर्ण डालकर लोहे की बडे मुख की कलछी से तबतक चलाये जबतक कि रांगा भस्म न हो जावे । चूर्ण डालने की प्रक्रिया—अपामार्ग का चूर्ण थोडा-थोडा और बारबार डाले जबतक रांगा भस्म हो जावे तबतक चूर्ण समाप्त कर दे । इसके बाद उस पात्रगत

शुष्काश्वत्थभवैर्वल्कैः सप्तधा भस्मतां व्रजेत् ॥ १७० ॥

वङ्गमित्यादि। तालप्रक्षेपणं चतुर्थांशं षोडशांशं समांशं वा यथासंप्रदायं कार्यम्, इति भावः। शेषं स्पष्टम् ॥ १७० ॥

पाचवीं विधि—वङ्ग में समभाग, चौथाई भाग अथवा सोलहवा भाग हरताल डाल कर आक के दूध से मर्दन करके सूखे पीपल के वल्कल में रखकर ७ बार पुट देने से भस्म हो जाती है ॥

अथ मध्यमपक्षेण वङ्गमारणम्—

वह्नौ संस्थाप्य हण्ड्यां तु रजनीरजसा शुभम्।
वङ्गभस्म विधायाथ सोरकं तत्र मेलयेत् ॥ १७१ ॥
वङ्गतुर्यांशकं पश्चाच्छरावेण पिधापयेत्।
मन्दमग्नि घटीमेकां दत्त्वाऽथ स्वाङ्गशीतलम् ॥ १७२ ॥
कुन्देन्दुधवलं वङ्गभस्म ग्राह्यं स्वकार्यकृत् ॥ १७३ ॥

वह्नावित्यादि। सुगमम् ॥ १७१–१७३ ॥

मध्यम पक्ष की वङ्गभस्म—रागे को हलदी के सपुट में एक हाडी में भर दे और रागे से चौथाई भाग कलमी सोरा मिला कर सकोरे मे हाडी के मुख को बन्द करके एक घडी तक मन्दाग्नि देवे। स्वाङ्गशीतल होने पर कुन्द के फूल के समान सफेद भस्म को ग्रहण करे। तात्पर्य यह है कि एक भाग रागा और उससे चौथाई भाग कलमी सोरा दोनों को मिलाकर हलदी के सपुट (नीचे-ऊपर हल्दी देकर) में एक हाडी में भर दे। शराव से हाडी का मुख बन्द करके अग्नि देवे तो श्वेत भस्म हो जाती है ॥ १७३ ॥

अथाऽन्यप्रकारः—

वन्योपलोपरिस्थे तु गोणीखण्डे क्षिपेद्रजः।
तिन्तिणीवल्कलस्याथ तिलांस्तत्र विनिक्षिपेत् ॥ १७४ ॥
अङ्गुलार्धप्रमाणेन तत्र वङ्गदलं न्यसेत्।
खण्डीकृतं पुनस्तेन क्रमेणैवाऽथ विन्यसेत् ॥ १७५ ॥
तिलतिन्तिणिकावल्कं गोमयेनाग्निना दहेत्।
स्वाङ्गशीतं ततो ग्राह्यं युक्त्या वङ्गस्य भस्म तत् ॥ १७६ ॥
श्वेतं तु लवणाभासं सुसूक्ष्मं सर्वकार्यकृत्।
अत्र पक्षद्वये तालदानं प्राज्ञैरुपेक्षितम्। इत्यपि वङ्गभस्म।

वन्येत्यादि। वन्योपलोपरिस्थे–वने जातं वन्य, वन्य च तदुपल च वन्योपलं वन्योपलस्य उपरिस्थं वन्योपलोपरिस्थ तस्मिन् गोणीखण्डे शणोद्भवे वस्त्रशकले तिन्तिणीवल्कलस्य चूर्णं क्षिपेत्, अथ तत्र तिलान् विनिक्षिपेत्। संस्तरोऽयं चिञ्चात्वक्चूर्णतिलाभ्याम्, अङ्गुलार्धप्रमाणेन यावदुत्सेधो भवेत्तावत्कार्यं। तत्र खण्डीकृतं वङ्गदल विन्यसेत् पुनस्तेन क्रमेण तिलतिन्तिणिकावल्क तदुपरि विन्यसेत्, एवं पोटलिकां कृत्वेति शेष., गोमयेनाग्निना दहेत्। शेषं स्पष्टम् ॥ १७४–१७६ ॥

सातवी विधि—वनगोबरियों पर तरट (टाटपट्टी का टुकडा) विछा कर उस पर आधा अगुल ऊँचा इमली की छाल का चूर्ण तथा तिल का सस्तर करके रागे के छोटे-छोटे टुकडे करके उस पर रखे और ऊपर से इमली तथा तिलका कहा हुआ चूर्ण और विछा दे

इस क्रम से सरवर बनाकर पोटली बनावे और गोधरियों की अग्नि में फूंके। स्वाङ्गशीतल होने पर युक्ति से धीरे-धीरे श्वेत वङ्ग भस्म को ग्रहण कर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर रख ले। यहाँ पर हरताल नहीं दी जाती ॥ १७४–१७६ ॥

मतान्तरम्—

मृत्पात्रे द्राविते वङ्गे चिञ्चाश्वत्थत्वचो रजः ॥ १७७ ॥
क्षिप्त्वा वङ्गचतुर्थांशमयोदर्व्या प्रचालयेत् ।
ततो द्वियाममात्रेण वङ्गभस्म प्रजायते ॥ १७८ ॥
अथ भस्मसमं तालं क्षिप्त्वाऽम्लेन विमर्दयेत् ।
ततो गजपुटे पक्त्वा पुनरम्लेन मर्दयेत् ॥ १७९ ॥
तालेन दशमांशेन याममेकं ततः पुटेत् ।
एवं दशपुटैः पक्वं वङ्गं भवति मारितम् ॥ १८० ॥
इति दशपुटि वङ्गभस्म ।

मृदित्यादि। सुबोधम्। वङ्गसेवनविधिस्तु—'वङ्गभस्मसमं कान्तं व्योमभस्म च तत्समम्। मर्दयेत्कनकाम्भोभिर्निम्बपत्ररसैरपि ॥ दाडिमस्य मयूरस्य रसेन च पृथक्-पृथक्। भूपालावर्तभस्माथ विनिक्षिप्य समांशकम् ॥ गोमूत्रकशिलाधातुरसैः सम्यग्विमर्दयेत्। ततो गुग्गुलुतोयेन मर्दयित्वा दिनाष्टकम् ॥ विशोष्य परिचूर्ण्याथ समभागेन योजयेत्। नृष्टवब्बूलनिर्यासैर्वाकुचीबीजचूर्णकैः ॥ ततः क्षिपेत्करण्डान्तर्विधाय पटगालितम्। शीतकपिष्टरजनीसारेण सह पाययेत् ॥ चतुर्भिर्वल्लकैस्तुल्यं रम्यं वङ्गरसायनम्। निश्चितं तेन नश्यन्ति मेहविंशतिभेदकाः ॥ शालयो मुद्गसूपं च नवनीतं तिलोद्भवम्। पटोलं तिक्ततुण्डीरं तक्रं पथ्याय शस्यते ॥' इति। तन्त्रान्तरेषु सुवर्णप्रभवङ्गभस्मनो निर्माणं प्रयोगश्च दृश्यतेऽतस्तन्निर्माणमप्युच्यते भिषजां कृते—प्राक् पारदतुल्यं वङ्गं शुद्धं मेलयेत्ततो सपिष्य रसेन्द्रसमानं गन्धं नवसादरं च क्षिप्त्वा विमर्द्य श्लक्ष्णां कज्जलीं विदध्यात्। तदनन्तरं तोलकपरिमाणं सोरकं विनिक्षिप्य वालुकायन्त्रे यामचतुष्टयं यावत्पचेत्।' अयमेव विधिः स्वर्णवङ्गनिर्माणनाम्ना प्रसिद्धः। यथोक्तं सिद्धभैषजमणिमालायाम्—'सूतेन्द्रवङ्गबलिसादरकज्जलीभिः कूपीं प्रपूर्य विधिवत्पच कोकिलाक्षी। शुद्धः सुवर्णरुचिरेष लघुमृगाङ्को मेहाग्निहत्य महतीं विदधाति पुष्टिम् ॥' इति। रसायनसारे तु 'वङ्गे तु शुद्धे द्रुतमात्र एव तुल्यं सुशुद्धं रसमाददीत। तारिपष्टिका सैन्धवनिम्बुनीरैर्यामत्रयं खल्वतले विमर्द्य ॥ प्रक्षाल्य नीरैर्बहुशो ददीत गन्धं विशुद्धं नवसादरं च। तुल्यैश्चतुर्भिर्दृढहस्तकेन तथा विमर्दैर्न्न यथोच्छलेयुः ॥ द्वित्रैर्दिनैर्मर्दनयोगजातां श्लक्ष्णस्वरूपां शुभकज्जलीं ताम्। निधाय कूप्यां सिकताख्ययन्त्रे सिन्दूरपाकेन समं पचेत ॥ शीशीमुखं नैति कदापि रोधं यथा तथा तप्तशलाकया तम्। पुनःपुनः क्षारमपानुदेत कूप्यन्यथा ध्वंसमुपैत्यवश्यम् ॥ धूमे निरशेपिते जाते स्वाङ्गशीते च यन्त्रके। सिद्धः स्वर्णमृगाङ्कोऽयं सर्वमेहेषु पूजितः ॥ तले गले सोऽस्त्यथ कूपिकाया गले च सिन्दूररसोऽपि लग्नः। क्षारोऽपि यस्त्रे ननु कूपिकायाः कासप्रतिश्यायगदोपयोगी ॥" इति ॥ १७७–१८० ॥

आठवीं विधि—मिट्टी के पात्र में रांगे को गलाकर रांगे से चौथाई भाग इमली और पीपल की छाल का चूर्ण धीरे धीरे डालता जावे और लोहे की कलछी से चलाता जावे, इस प्रकार करने से दो प्रहर में रांगा की भस्म हो जाता है। इस भस्म के बराबर हरताल देकर निंबू के रस

आती हो और बाहर से देखने में काला हो, वह नाग श्रेष्ठ होता है और इसके विपरीत त्याज्य होता है। औषधार्थ श्रेष्ठ सीसे का ही प्रयोग करना चाहिए। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सीसा का प्रयोग बहुत ही सावधानी और सजगता से करना चाहिए कारण कि इसका अधिक दिन लगातार प्रयोग अपायकर हो जाना है। कभी कभी शरीर में इसका विषैला प्रभाव प्रतीत होता है और वह बहुत ही कष्टदायी सिद्ध होता है। यह भी स्मरणीय है कि सीसे की भस्म का बिना किसी द्रव्य-संयोग के अकेली का उपयोग नहीं करना चाहिए। रसादि धातुद्रव्यों के संयोग में जो प्रयोग कहे गये हैं उनमें जो विधान है उसके अनुसार ही करना चाहिए॥

अन्यच्च—

नागः समीरकफपित्तविकारहन्ता
सर्वप्रमेहवनराजिकृपीटयोनिः ।
उष्णः सरो रजतरञ्जनकृद् व्रणार्शो-
गुल्मग्रहण्यतिसृतिक्षणदांशुमाली ॥ १८६ ॥
नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति
व्याधिं विनाशयति जीवनमातनोति ॥
वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति
मृत्युं च नाशयति संततसेवितः सः ॥ १८७ ॥

नाग इत्यादि। सर्वे च ये प्रमेहाः सर्वप्रमेहास्त एव वनराजयः सर्वप्रमेहवनराजयस्तेभ्यः कृतो यः कृपीटयोनिः—अग्निः। क्षणदा—रात्रिस्तदर्थम् अंशुमाली सूर्यः, अर्थात्—रात्र्यन्धकारं यथा सूर्यप्रकाशः शीघ्रमपनयति तथैव व्रणादिरोगान् नाग इति भावः। जीवनं—प्राणबलमातनोतीति सुस्पष्टम् ॥ १८६–१८७ ॥

सीसा के गुण—सीसा वात, कफ और पित्त के विकारों को नष्ट करता है, संपूर्ण प्रमेह रूपी वनसमूह के लिए अग्नि के तुल्य है, उष्ण, रेचक, चाँदी का रञ्जन करने वाला, व्रण, बवासीर, गुल्म, संग्रहणी और अतिसाररूपी रात्रि को नष्ट करने वाले सूर्य के समान है। सीसा नित्य प्रति भक्षण करने से सौ हाथियों के तुल्य बल देता है, व्याधि को नष्ट करता, जीवन को बढ़ाता, जठराग्नि को प्रदीप्त करता, कामशक्ति को उत्पन्न करता और मृत्यु को दूर भगाता है ॥ १८६–१८७ ॥

अशुद्धः कुरुते नागः प्रमेहक्षयकामलाः।
तस्मात्संशुद्ध एवायं मारणीयो भिषग्वरैः ॥ १८८ ॥

अथाशुद्धनागदोषं प्रदिशन्नाह—अशुद्ध इत्यादि। स्पष्टम् ॥ १८८ ॥

अशुद्ध नाग के सेवन से प्रमेह, क्षय और कामला हो जाता है अतः शुद्ध करके ही सीसा की भस्म करे ॥ १८८ ॥

अपक्वदोषाः—

पाकेन हीनौ किल नागवङ्गौ कुष्ठानि गुल्मांश्च तथाऽतिकष्टान् ।
पाण्डुप्रमेहानलसादशोथभगन्दरादीन् कुरुतः प्रयुक्तौ ॥ १८९ ॥

पाकेनेत्यादि। सुगमम् ॥ १८९ ॥

अपक्क के दोष—भली भांति भस्म न हुए रांगे और सीसे के सेवन से कुष्ठ, वायगोला तथा अतिशय कष्ट देने वाले पांडु, प्रमेह, मन्दाग्नि, सूजन और भगन्दर आदि रोगों को करते हैं ॥

अस्य शोधनं विशेषशोधनं च प्रागुक्तम् , अथ मारणम्—

चिञ्चाश्वत्थत्वचश्चूर्णं चतुर्थांशेन निःक्षिपेत् ।
मृत्पात्रे विद्रुते नागे लोहदर्व्या प्रचालयेत् ॥ १९० ॥
यामैकेन भवेद्भस्म तत्तुल्या तु मनःशिला ।
काञ्जिकेन द्वयं पिष्ट्वा शिलया काञ्जिकेन च ॥ १९१ ॥
पुनः पचेच्छरावाभ्यामेव षष्टिपुटैर्मृतिः ॥
इति षष्टिपुटि नागभस्म ॥

चिञ्चेत्यादि । शुद्धः शिलया समभागया, 'भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यादि'तिपरिभाषानुसारम् । रसवाग्भटस्त्वत्र शिलाप्रक्षेपण विंशत्यंशयुतं मनुते यथा-'स्वाङ्गशीतं पुनः पिष्ट्वा विंशत्यंशशिलायुतम् ।' इत्यादिना । शेषं स्पष्टम् ॥ १९०-१९१ ॥

सीसे का शोधन और विशेष शोधन पहले कहा है । नागभस्म-सीसे से चौथाई भाग इमली और पीपल की छाल का चूर्ण मिट्टी के पात्र में सीसे को पिघला कर उसमें डालकर लोहे की कलछी से एक प्रहर चलावे तो भस्म हो जाती है । भस्म के बराबर मनसिल लेकर दोनों को काँजी से पीसकर गजपुट से फूंके । स्वाङ्गशीतल होने से उस भस्म के बराबर फिर मनसिल लेकर काँजी में पीसकर दो शरावों में बन्द करके पकावे । इस प्रकार ६० पुट देने से सीसे की उत्तम भस्म हो जाती है ॥ १९०-१९१ ॥

ताम्बूलरससंपिष्टशिलालेपात्पुनः पुनः ॥ १९२ ॥
द्वात्रिंशद्भिः पुटैर्नागो निरुत्थं भस्म जायते ।
इति द्वात्रिंशत्पुटि नागभस्म ॥

ताम्बूलेत्यादि सुबोधम् । कदाचित्प्रमादादशुद्धनागभस्मसेवनं भवेदतस्तद्विकारशान्तिमाह नारायणः-'हेम्ना हरीतकीं खादन्सितायुक्तां दिनत्रयम् । अपक्वनागदोषेण विमुक्तः सुखमेधते ॥' इति । असम्यक् शोधितनिरुत्थनागभस्मशोधनविधिर्यथा रसायनसारे-'हस्तिमूत्रेऽर्कदुग्धे च सप्तसप्त भावना दत्वा वाराहाख्य पुटत्रयं देयम् ॥' इति ॥ १९२ ॥

दूसरी विधि—नागर पान के रस से मैनसिल को पीसकर बार बार सीसे पर लेप करके बत्तीस पुट देने से निरुत्थ भस्म हो जाती है ॥ १९२ ॥

अथान्यमतम्—

भूभुजङ्ग[1]मगस्तिं च पिष्ट्वाऽहे पत्रमादिहेत् ॥ १९३ ॥
हण्ड्यामग्नौ द्रवीकृत्य वासापामार्गसम्भवम् ।
सारं विमिश्रयेत्तत्र चतुर्थांशं गुरूक्तितः ॥ १९४ ॥

१, भूभुजङ्ग —भूनाग , अगस्तिर्मुनिद्रुमस्तत्पर्णरसम् । क्षीर मौकर्याद्भस्म ग्राह्यम् गुरूक्तितः- स्वल्प स्वल्प प्रतिक्षणं देयमित्येररूपा । प्रहर यावद्भस्म भवत्यखिल तावत् , न तु प्रहरनियम । इति ग्रन्थकार ।

प्रहरं पाचयेच्चुल्ल्यां वाम्बादर्व्या विघट्टयन् ।
चूर्णीभूतं पिधायाथ कुर्यादग्निं समं पुनः ॥ १९५ ॥
तत उद्धृत्य तच्चूर्णं शुद्धया शिलयाऽन्वितम् ।
वस्वंशयाऽथ तत्सर्वं वासानीरैर्विमर्दयेत् ॥ १९६ ॥
पुटेत्पुनः समुद्धृत्य तद्द्रवेण विमर्दयेत् ।
एवं सप्तपुटैर्नागः सिन्दूराभो भवेद् ध्रुवम् ॥ १९७ ॥

भूभुजङ्गमित्यादि । अहेः-नागस्य पत्र, शेष स्पष्टम् । इति निरुत्थं नागभस्म ।

तीसरीविधि—केंचुओं को अगस्तिया के रस में पीसकर सीसे के पत्रों पर लेप करके हांडी में डालकर अग्नि से पिघलावे । पिघलने पर अडूसा और चिर्चिटे का क्षार अथवा राख सीसे से चौथाई भाग लेकर थोड़ी-थोड़ा धीरे-धीरे पिघले हुए सीसे में मिलावे और एक प्रहर तक चूल्हे पर रखकर अडूसा के डंडे से चलाता जावे । चूर्ण हो जाने पर हांडी के मुख को बन्द करके अग्नि को सम कर दे फिर उस चूर्ण को निकालकर उसमें आठवा भाग शुद्ध मैनसिल मिलाकर अडूसा के रस से घोटकर फिर पुट देवे । इस प्रकार ७ पुट देने से सीसे की सिन्दूर के समान भस्म हो जाती है ॥ १९३-१९७ ॥

अथ रसपद्धत्याम्—

नागं काष्ठकृशानुना पटुघटभ्राष्ट्रे द्रुतं कन्यका-
[1]मूलैर्घृष्टमिभाशनार्कवटुपाद्ब्रह्मद्रुमूलायसाम् ।
दण्डेनान्यतमस्य वा यदवधि स्यान्पिष्टिका तत्पुनः
सिन्दूरारुणमुद्धृतं च शिलया वस्वंशया योजितम् ॥ १९८ ॥
कन्यावारिविभावितं पुनरपि प्राक् प्रक्रियोत्पादितं
त्रिः स्याद्भस्म करीषवह्निपुटितं प्रान्तेऽतिमन्दं सकृत् ।
कन्यामूलविघट्टनारहितया वङ्गोऽपि भस्मीभवे-
त्पूर्वप्रक्रिययैव मानसशिलास्थाने तु दत्तालया ॥१९९॥

नागमित्यादि । नागोक्तविधिनैव वङ्गोऽपि भस्मीभवेत् । किन्त्वत्र संस्मरणीय यन्ना-गविधौ यथा कुमारीमूलस्वरसभावनाऽभिमता साऽत्र वङ्गेऽनभिमताऽतोऽत्रार्कादीनां भावना देयेति भावः । मानसशिलास्थाने-मनःशिलायोजनस्थाने दत्तालया-हरितालप्र-क्षेपणमष्टमांश कार्यं वङ्गभस्मनि । पिधानोऽयं न तु नागभस्मनीति तात्पर्यम् । शेषं स्पष्टम् ॥ कन्यावारिविभावितमित्यस्य स्वयमेव ग्रन्थकारेण त्रिःसप्तवारम्-एकविंशति-वारं मर्दितं कार्यमिति सरलार्थो विहितः ॥ १९८-१९९ ॥

चौथी विधि—सीसे को दृढ घडे के ठीकरे में रख लकडी की अग्नि से पिघलाकर ग्वारपाठे के

---

[1] व्याख्या—इभाशनः पिप्पलः, अर्कः प्रसिद्ध, बहुपान्न्यग्रोध, ब्रह्मद्रुः पलाश, आयस लोहम् एतेषामन्यतमस्य दण्डेन दर्व्या यदवधि पिष्टिका स्यात्तदवधि पटुघटभ्राष्ट्रे दृढघटार्धखण्डे । नाग काष्ठाग्निना द्रवीकृत्य, तत्र कन्यामूल शुष्क कन्यारस वा दत्त्वा घृष्टं कुर्यादिति भावार्थः । त्रिःसप्तवार कन्यावारिणा मर्दित शरावसम्पुटस्थ करीषाग्निषु त्रिपुटित भस्म स्यात् । अमु प्रकार वङ्गेप्यतिदिशति-कन्येत्यादि । स्पष्टम् । इति ग्रन्थकार ।

मूल का रस अथवा सूखा चूर्ण सीसे से चौथाई भाग डालकर पीपल, आक, वड, पलाश अथवा लोहे के डण्डे से जब तक पिष्टि न हो जावे तब तक चलाता जावे। इस पिष्टि में सीसे से आठवा भाग मैनसिल मिलाकर ग्वारपाठे के रस में २१ वार भावना दे कर शरावसपुट में बन्द कर गजपुट में तीन वार फूकने से सीसे की सिन्दूर के तुल्य लाल भस्म हो जाती है। इसी विधि से रागा भी भस्म हो जाता है किन्तु ग्वारपाठे के स्थान में किसी अम्ल द्रव्य की भावना और मैनशिल के स्थान में हरताल देना आवश्यक है॥ १९८–१९९॥

अथान्य. प्रकारः—

नागं खर्परके निधाय कुनटीचूर्णं ददीत द्रुते
निम्बूत्थद्रवगन्धकेन पुटितं भस्मीभवत्याशु तत्।
एवं तालकवापतस्तु कुटिलं चूर्णीकृतं तत्पुटेद्
गन्धाम्लेन समस्तदोषरहित योगेषु योज्यं भवेत्॥ २००॥

नागमित्यादि। खर्परके नाग निधाय तदधोऽग्निं प्रज्वालयेदिति शेषः। नागे द्रुते सति तस्मिन् कुनटीचूर्णं शुद्धमनःशिलारजो नागसमभाग ददीत। निम्बूत्थद्रवगन्धकेन–गन्धकसहितजम्भाम्भसा मर्दित, पुटित चाशु नाग भस्मीभवति। एव तालकवापतः–हरितालप्रक्षेपणेन नागवत् कुटिलं–वङ्गमपि गन्धाम्लेन चूर्णीकृत पुटेत्तस्यापि भस्म जायते॥ २००॥

पाचवी विधि—सीसे को एक ठीकरे में पिघला कर सीसे के वरावर शुद्ध मैनसिल का चूर्ण डालकर दोनों को निंबू के रस से मर्दन किये हुए गन्धक से घोट कर पुट देने से तत्काल सीसे की भस्म हो जाती है। इसी प्रकार रागा को गला कर उसके बरावर शुद्ध हरताल का प्रक्षेप देकर निंवू से घोटी हुई गन्धक के द्वारा मर्दन कर पुट देने से बङ्ग भी भस्म हो जाता है॥ २००॥

अथान्य. प्रकार.—

त्रिभिः [1]कुम्भिपुटैर्नागो वासारसविमर्दितः।
सशिलो भस्मतामेति तद्रजः सर्वमेहनुत्॥ २०१॥

त्रिभिरित्यादि। सुबोधम्।

विशेष–नागशब्देनात्र ग्रन्थकर्त्रा नागस्य पिष्टिर्गृहीता न त्वशुद्धो नागः। अर्थात्पूर्वं नाग प्रागुक्तविधिना शोधयित्वा ततो वासारसेन, निम्बूरसेन, अर्कक्षीरेण वा पेषित-मिति भाव। सशिलः–अत्राऽपि नागमानापेक्षयाष्टमांशशुद्धमनःशिलाप्रक्षेपणमभिम-तम्। शरावसंपुटस्थ इत्युक्त्वा शरावद्वयमध्ये नाग सस्थाप्य ततो गजपुटे पचेदिति निदर्शितम्॥ २०१॥

छटी विधि—सीसे को अडूसे के रस से मर्दन कर के आठवा भाग शुद्ध मैनसिल मिला कर तीन गजपुट की अग्नि देने से सीसे की भस्म हो जाती है। वह भस्म सव प्रकार के प्रमेह रोग को नष्ट करती है॥ २०१॥

---

१ कुम्भी गज.। नागो नागपिष्टि। सशिलोऽष्टमांशशुद्धशिलायुक्त। शरावसपुटस्थ' इत्यध्याहार्यम्। इति नागभस्मीकरणम्।

अथ नागभस्मनि विशेष उक्तो रसपद्धतिकृता। तद्यथा–

> सर्वेषां मतमेतदेव भिषजां यत्तारसीसोद्भवं
> पार्थक्येन गुणावहं न भसितं प्रोक्तोपलोहस्य।
> किं कार्यं भसितस्य चेच्छृणु, रसादिष्वेव योज्यं हि तत्
> तादृक्सद्वचनानुरोधवलतः प्रोक्ता व्यवस्था इति॥ २०२॥

सर्वेषामित्यादि। सर्वेषां भिषजामेतदेव–अग्रे वक्ष्यमाणमेव मतं यत्तारसीसोद्भवम् भसितं तत् पार्थक्येन-पृथग्भावेन प्रयोजितं गुणावहं न भवतीति भावः। तथोपलोहस्य–पित्तलकांस्यादिकस्य च यद्भसितं तदपि पार्थक्येन प्रयोगे योज्यं न भवति। अगुणविधायित्वात् अर्थादितरेषां लोहताम्रवङ्गसुवर्णानां पृथग्भस्म प्रयोज्यमित्युक्तं भवति। तर्हि किं कार्यमेतेषां तारसीसकपित्तलादीनां भसितस्य अर्थाद् वृथैव तेषां भस्मकल्पनाप्रयासश्चेदित्याशङ्कायामाह–शृणु, तावद्धि तेषां भस्म रसादिषु–पारदगन्धकाभ्रकादिप्रयोगेष्वेव योज्यं नान्यत्र अर्थात् सद्भिषजां मतेन या व्यवस्था प्रोक्ता तेनैव प्रकारेण योज्यमिति भावः। [अत्र केषांचिद्भस्मानि पार्थक्येनैव प्रयोज्यानि केषांचिद् मिश्रयित्वा प्रयोज्यानीति प्रदर्शितम्। किं कार्यं भसितस्येत्यादि पाठो नोपलभ्यते रसपद्धतौ, आयुर्वेदप्रकाशे तु विद्यते॥ २०२॥

नाग भस्म के विषय में रसपद्धति-कारका विशेष मत—संपूर्ण वैद्यों का यही मत (सिद्धान्त) है कि केवल (अकेले) चांदी और सीसे की भस्म का प्रयोग नहीं किया जाता और न ये प्रयोग करने से गुणकारी ही होते हैं। इसी प्रकार उपधातुओं की भस्में भी पृथक् प्रयुक्त नहीं होतीं। ऐसे दशा में भस्मों का प्रयोजन ही क्या? अतः शास्त्रकारों के श्रेष्ठ वचनानुरोधबल से रसादिकों में प्रयुक्त करने की व्यवस्था की गई है॥ २०२॥

अथ नागेश्वरः

पलप्रमितं नागं तिलतैले सप्तवारं विशोध्य, पश्चाद्विस्तीर्णहण्डिकायां द्रवीकृत्य वर्तुलपाषाणेन मर्दनपूर्वकं कासीसस्योत्तमस्य चूर्णं नागपरिमितं स्वल्पं स्वल्पं दत्त्वा दत्त्वा मारयेत्। मृतं नागं घटीद्वयं वह्नावेव स्थाप्यम्। पश्चाद्भाजने तच्चूर्णं दत्त्वा उष्णोदकेन सप्तवारं सुधौतं घर्मशुष्कं च विधाय, अर्कदुग्धेन प्रहरद्वयं मर्दयेत्। पश्चात्तच्चक्रिकां कृत्वा, संशोष्य, शरावसंपुटे धृत्वा, पञ्चषट्कपरिमितैर्वनोपलैः पुटेत्। स्वाङ्गशीतं गृहीत्वाऽनयैव रीत्या रसेन प्रहरद्वयं मर्दयित्वा पुटेत्। पश्चात् पारदः पलमितः, गन्धक आमलासाराख्य पलप्रमित। द्वयोः कज्जलीं कृत्वा, पूर्वसिद्धमृतनागे विमिश्र्य मर्दयित्वा, सहदेव्या रसेन मर्दयेत्प्रहरद्वयं, ततश्चक्रिकां कृत्वा विशोष्य शरावसंपुटे धृत्वा पूर्णं गजपुटं दद्यात्। ततः स्वाङ्गशीतं गृहीत्वा, कुमारीरसेन मर्दयेत् तदुपरि अर्कदुग्धेन मर्दयेत्, प्रहरैकं, पश्चात्तच्चक्रिकां संशोष्य शरावसंपुटे धृत्वा पञ्चषपरिमितैर्वनोपलैः पुटेत्। तदुत्तरं तस्य सहदेव्या रसेन पुटैकं दद्यात् ततः सिद्धो जातः। अथ प्रयोग–रक्तिकाद्वयमस्य वाकुची-

चूर्णेन सह देयं दिनानि चत्वारिंशत्, पथ्यं गोधूमतिलतैलम्, औषधं भक्षयित्वा घर्मे प्रहरैकं स्थेयं, ततोऽल्पदिनैर्मण्डलपाकाज्जलस्रावोत्तरं क्रमेण सवर्णता । देवदारुदारुचिनीवाकुचीयुक्तं गलत्कुष्ठे, त्रिकटुदेवदारुयुक्तं वातरक्ते, मूत्रकृच्छ्रे वाकुचीयुक्तं, दुग्धौदनं सर्वत्र पथ्यम् । इति नागेश्वरो रसः ॥ २०३ ॥

पलप्रमितमित्यादि । स्पष्टम् ॥ २०३ ॥

नागेश्वर की विधि—एक पल सीसे को तिलके तेल में ७ वार शुद्ध कर के एक वडी हाडी में पिघलाकर पत्थर के बट्टे से घोटकर शुद्ध की हुई उत्तम कासीस का चूर्ण सीसे के बराबर लेकर थोडा थोडा डालकर भस्म करे । भस्म होने पर दो घडी तक सीसे को अग्नि पर ही रहने दे। फिर पात्र में उस चूर्ण को डालकर उष्ण जल से ७ वार भलाभाति धोकर धूप में सुखाकर आक के दूध से दो प्रहर मर्दन करे । तत्पश्चात् उसकी चकतिया बनाकर धूप में सुखाकर शराव-संपुट में रखकर ५-६ वनगोवरियों का पुट देवे । स्वाङ्गशीतल होने पर निकाल कर इसी उपर्युक्त विधि से रस से दो प्रहर मर्दन करके पुट देवे । फिर एक पल पारा तथा एक पल आमलासार गन्धक लेकर दोनों की नीलवर्ण कज्जली करके पूर्वोक्त सिद्ध नाग में उसको भलीभाति एकत्र मिलाकर सहदेई के रस में दो प्रहर तक मर्दन करके चकत्तिया वनावे और धूप में सुखाकर शराव सपुट में वन्द करके पूर्ण गज पुट देवे । इसके बाद स्वाङ्गशीतल द्रव्य को लेकर ग्वारपाठे के रस में और फिर आक के दूध में एक प्रहर मर्दन कर के चकत्तिया बनाकर सुखावे और शराव संपुट में वन्द करके ५-६ वनोपलोंकी अग्नि देवे । इसके बाद सहदेई के रस से मर्दन करके एक पुट देवे । ऐसा करने से वङ्गेश्वर सिद्ध हो जाता है । इसका प्रयोग-वङ्गेश्वर दो रत्ती मात्रा से बावची के चूर्ण के साथ ४० दिन सेवन करे । पथ्य में गेहूँ और तिल का तेल । औषध को खाकर एक प्रहर धूप में बैठे, इससे थोडे ही दिन में मडल पक कर उनसे जलस्राव होकर क्रमशः शरीर में सवर्णता हो जाती है । देवदारु, चोपचीनी और बावची के चूर्ण के साथ गलितकुष्ठ के रोगी को, त्रिकुटा और देवदारु के साथ वातरक्त में और बावची के चूर्ण से मूत्रकृच्छ्र में देने से शान्ति होती है । सर्वत्र पथ्य में केवल दूध और चावल ही देवे ॥ २०३ ॥

अथ लोहस्योत्पत्तिनामलक्षणभेदगुणशोधनमारणानि—

पुरा लोमिलदैत्यस्य निहतस्य सुरैर्युधि ।
उत्पन्नानि शरीरेभ्यो लोहानि विविधानि वै ॥ २०४ ॥

पुरेत्यादि । लोमिलदैत्यस्यात्र जातित्वादेकवचनम् । तन्त्रान्तरे तु 'पुरा लोमिलदैत्यानां निहताना सुरैर्युधि ।' इति पाठान्तरम् । शरीरेभ्यो विविधानि लोहानि मुण्डतीक्ष्णादीनि उत्पन्नानि ॥ २०४ ॥

लोहे की उत्पत्ति, नाम, लक्षण, भेद, गुण, शोधन और मारण-पहले देवताओं ने लोमिल नाम के दैत्यों को युद्ध में मारा था तब उनके शरीरों से अनेक प्रकार के लोह उत्पन्न हुए ।

वक्तव्य—ऊपर लोहधातु की उत्पत्ति की यह आख्यायिका बनाई है कि पुरातन काल की बात है कि लोमिल जाति के दैत्यों के साथ देवताओं का युद्ध हुआ उसमें नष्ट हुए लोमिलों के खून से लोह धातु की उत्पत्ति हुई । खून का दूसरा नाम 'लोही' भी है । लोह धातु खून के निर्माण में सर्वोपरि द्रव्य है । **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'** इस सिद्धान्त के अनुसार खून और लोह धातु इन दोनों का समत्व है । ऊपर की आख्यायिका चाहे आलंकारिक ही हो

किन्तु उसमें रवारस्य अवश्य है। उन दैत्यों के मृत शरीर से जमीन लाल हो गई। यह लाल मिट्टी गेरू कहलाने लगी और उसी से लोह धातु की प्राप्ति हुई। गैरिक ही लोह धातु का प्रधान खनिज है। गैरिक यह लोहा और आक्सिजन का यौगिक है और इसका रासायनिक सूत्र (FO_2O_3) होता है। 'रेड हेमाटाइट' जिसके अन्दर रक्तगैरिक, स्वर्णगैरिक और पाषाण गैरिक इन तीनों का समावेश होता है। ये लोहे के सबसे प्रधान खनिज होते हैं। भारतवर्ष के लोहे के कारखानों में प्रायशः गैरिक से ही लोहा प्राप्त किया जाता है। इस खनिज गैरिक में ६५ प्रतिशत तक लोहा होता है शेष भाग आक्सिजन का होता है। कुछ कारण द्रव्य भी खनिज गैरिक में सम्मिलित हुए मिलते हैं, मिट्टी का अंश भी होता है। शुद्धावस्था में लोहा श्वेत रंग की और चमकीली धातु होती है। जब उसको भली प्रकार साफ करके सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा देखा जाता है तो उसका पृष्ठ भाग दानेदार दिखाई देता है। उसका द्रवणांक १५०० डिग्री और क्वथनांक २१५० डिग्री शतांश होता है ॥ २०४ ॥

अथ नामानि—

> लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसायसी।
> मुण्डं तीक्ष्णं तथा कान्तमिति लोहं त्रिधा स्मृतम् ॥ २०५ ॥

लोह इत्यादि। त्रिविधेष्वपि कान्तं सर्वोत्तमं वर्तते। चूडामणिस्तु मुण्डवज्रतीक्ष्णकान्तभेदेन लोहस्य चातुर्विध्यं प्रतिपादयति स्पष्टम् ॥ २०५ ॥

नाम और भेद—लोह शब्द अग्निद्वाची नहीं है। लोह, शस्त्रक, तीक्ष्ण, पिण्ड, कालायस और आयस ये इसके नाम हैं। मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त भेद से लोह तीन प्रकार का है ॥ २०५ ॥

> मुण्डं तु त्रिविधं तत्र [1]मृदु [2]कुण्ठं [3]कडारकम् ॥ २०६ ॥
> तीक्ष्णकं षड्विधं प्राहुः [4]खराख्यं [5]सारसंज्ञकम्।

अमुना मुण्डभेदान् प्रदिशति–मुण्डमित्यादि। स्पष्टम् ॥ २०६ ॥

मुण्ड के तीन प्रकार—मुण्ड लोह–मृदु, कुण्ठ और कडारक भेद से तीन प्रकार का है।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोक में लोह के मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त ये तीन प्रकार कहे हैं। इनमें से मुण्ड यह भी तीन प्रकार का है–मृदु–लोह, कुण्ठ लोह और कडार लोह भेद से।

(१) मृदुलोह उसको कहते हैं जो लोह अग्नि में तपाने से तत्काल गल जाता है, जो हथौड़े आदि के आघात से जल्दी फटता (धारें नहीं निकलते हैं) नहीं है और जो चिकना (खुरदरा नहीं होता) होता है। यह उत्तम होता है।

(२) कुण्ठ लोह उसको कहते हैं–जो पीटने पर बहुत ही मुश्किल से फैलता है, वह मध्यम कहलाता है।

---

१ 'द्रुतद्रावमविस्फोटं चिक्कणं मृदु तच्छुभम्' ॥
२ 'हतं यत्प्रसरेद्दुःखात्तत्कुण्ठं मध्यमं स्मृतम्'।
३ 'यद्धतं भज्यते भङ्गे कृष्णं स्यात्तत्कडारकम्'।
४ 'परुषं पोगरोन्मुक्तं भङ्गे पारदवच्छवि। नमते भङ्गुरं यत्तत्खरलोहमुदाहृतम् ॥'
५ 'वेगभङ्गुरधारं यत्सारलोहं तदीरितम्। पोगराभासकं पाण्डुभूमिकं सारमुच्यते ॥' इत्यादि।
(र. र. स)

(३) कदार जाति का मुण्डलोह वह होता है–जो हथौडे आदि से पीटने और कूटने से फट या टूट जाता है और उसका तत्काल फटा या टूटा हुआ हिस्सा काले रंग का दीखता है यह अधम होता है ॥ २०६ ॥

हुन्ताल[1]मपरं तारावट्टं[2] वाजिर[3]कालकम्[4] ॥ २०७ ॥

अथ तीक्ष्णभेदानाह—तीक्ष्णकमित्यादि। स्पष्टम्। क्वचित्पुस्तके 'हुन्तालम्' इत्यत्र 'हन्नालम्' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। लोहपद्धतौ खौण्ड्कलिङ्गभद्रपाण्ड्यकृष्णादयोऽन्येऽपि तीक्ष्णस्य प्रकाराः सन्ति। एषां लक्षणं यथा–'औण्ड्रस्नुहीपत्रसमैः कृष्णस्थूलैः कृशध्वनि। कालिङ्गं शुकनीलाख्यमङ्गैश्छिद्रसमैर्भवेत्॥ भद्रमेरण्डबीजाभैः पाण्ड्यं पीतसितासितैः। कृष्णायस्तु निरङ्गाख्यं न किट्टेनास्यते सदा॥' इति ॥ २०७ ॥

तीक्ष्ण लोह के प्रकार—तीक्ष्ण लोह-खर, सार, हुन्ताल, तारावट्ट, वाजिर और कालक भेद से छः प्रकार के हैं।

वक्तव्य—तीक्ष्णलोह जिस को फौलाद कहा जाता है, इसके छः भेद हैं–खर तीक्ष्णलोह, सार तीक्ष्णलोह, हुन्ताल तीक्ष्ण लोह, तारावट्ट तीक्ष्ण लोह, वाजिर तीक्ष्ण लोह और कालक तीक्ष्ण लोह।

(१) खर तीक्ष्ण लोह उसे कहते हैं–जो कठोर होता है और पोगर रहित होता है, जिसका तत्काल टूटा हुआ भाग पारे के समान चमकदार होता है तथा झुकाने से टूट जाता है अर्थात् उसमें लचीलापन नहीं होता है। यह खर जाति का फौलाद है।

(२) सार तीक्ष्ण लोह वह होता है–वेग से पटकने पर जिसकी धार भङ्गुर टूट जाती है, जिसमें पोगरों का आभास होता है और जो पाण्डु भूमि में उत्पन्न होता है।

(३) हुन्ताल तीक्ष्णलोह यह हन्नाल तीक्ष्णलोह भी कहाता है। यह काला सा श्वेत वर्ण का होता है इसमें चचुबीज (चेबुना अथवा एरण्ड के बीज) के समान पोगर–अङ्ग, छाया और वङ्ग ये पोगर के पर्यायवाची शब्द हैं। जिस लोहे में तोडने के बाद भङ्गुरता और केश की आकृति की रेखाएं प्रतीत हों, उनको पोगर कहते हैं। ये लक्षण जिस लोह में हों वह हुन्ताल नाम का फौलाद होता है।

(४) तारावट्ट तीक्ष्ण लोह वह कहलाता है–जिस लोह के पोगर-रेखाएं रोम-चिकुर के समान प्रतीत होती हैं और उनमें भङ्गुरता परिलक्षित होती है। यह तारावट्ट ही पोगर नाम से जाना जाता होगा।

(५) वाजिर तीक्ष्ण लोह–वाजिर फौलाद के पोगर वज्र (हीरे) के समान कठोर (न टूटने वाले) और चमकीले होते हैं। जिसकी रेखाएं घनी और सूक्ष्म होती हैं और जिसका रंग नीला सा काला होता है।

(६) कालक तीक्ष्ण लोह–इसको कालायस फौलाद कहते हैं। जो लोह नीला-सा काला, चमकदार, घना (सुषिरता रहित अर्थात् छिद्रहीन ठोस हो) चिकना, वजनदार और तेज पुञ्ज हो। जिसकी धारपर लोह आदि किसी का भी आघात हो एकदम टूटे नहीं, उसको कालायस

---

१ 'कृष्णपाण्डुवपुश्चञ्चुबीजतुल्योरुपोगरम्। छेदने चातिपुरुषं हन्नालमिति कथ्यते॥'

२ 'अङ्गच्छाया च वङ्ग च पोगरस्याभिधात्रयम्। चिकुरं भङ्गुरं लोहात् पोगरं तत्परं मतम्॥'

३ 'पोगरैर्वज्रभङ्गाशैः सूक्ष्मरेखैश्च सान्द्रकैः। निचितं श्यामलाङ्ग च वाजिरं तत्प्रकीर्त्यते॥'

४. 'नीलकृष्णप्रभं सान्द्रं मसृणं गुरु भासुरम्। लोहाघातेऽप्यभङ्गात्मधारं कालायसं मतम्॥' इति रसरत्नसमुच्चयः॥

फौलाद कहा है। ये ऊपर कहे हुए छः प्रकार खर, सार, हुन्ताल, तारावट्ट, वाजिर और कालक फौलाद के हैं। ये क्रमशः एक से एक सौ सौ गुना अधिक उत्तम और लाभदायक हैं॥ २०७॥

कान्तं पञ्चविधं ज्ञेयं भ्रामकं चुम्बकं तथा।
कर्षकं द्रावकं तद्वद्रोमकान्तं च पञ्चमम्॥ २०८॥
एकास्यं द्विमुखं त्र्यास्यं वेदास्यं शरवक्त्रकम्।
सर्वतोमुखमित्येवमुत्तमाधमकान्तकम् ॥ २०९॥

कान्तमित्यादि। सुस्पष्टम्। लोहपद्धतौ भ्रामकादीना लक्षण यथा-'क्वापि क्वापि गिरौ श्रेष्ठे सुलभो भ्रामकोपलः। तन्मुखे क्षेपणाल्लोह चक्रवद् भ्रमति ध्रुवम्॥ विन्ध्याद्रौ चुम्बकाश्मानश्चुम्बन्त्यायसकीलकम्। क्षिप्र समाहरन्त्येव यूनां चित्तमिवाङ्गनाः। तत्पृष्ठे (यद्घृष्टं) द्रावयेल्लोह सुवर्णाद्यमशेषतः। लभ्यते तन्महादुःखात्तुपारधरपर्वते। पच्यमानाद्यतः कान्तात्पाषाणा निःसरन्ति हि। सुतेजांसि सुरोमाणि कान्त तद्रोमक स्मृतम्॥' इति। तेषामुत्तमाधममध्यमादिपरिचायकलक्षणं ग्रन्थान्तरतो यथा-भ्रामक तु कनिष्ठ स्यान्मध्यम चुम्बकं प्रिये! उत्तम कर्षकं देवि द्रावक चोत्तमोत्तमम्॥ भ्रामकं चुम्बकं चैव व्याधिनाशे विधीयते। रसे रसायने चैव कर्षकं द्रावक हितम्॥ कनिष्ठ स्यादेकमुखं मध्य द्वित्रिमुखं भवेत्। चतुःपञ्चमुखं श्रेष्ठमुत्तमं सर्वतोमुखम्॥ पीतं कृष्ण तथा रक्त त्रिवर्णं स्यात्पृथक्पृथक्। क्रमेण देवतास्तत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥ स्पर्शवेधि भवेत्पीत कृष्ण श्रेष्ठं रसायने। रक्तवर्णं महाभागे रसबन्धे प्रशस्यते॥ मदोन्मत्तगजः सूतः कान्तमङ्कुशमुच्यते। क्षेत्रं ज्ञात्वा (खात्वा) ग्रहीतव्यं तत्प्रयत्नेन भूयसा॥ मारुतातपविक्षिप्तं वर्जयेत्सुरसुन्दरि!। कान्तलोहं विना सूतो देहे न क्रमते क्वचित्॥ वेधयेद्व्यापयेच्छीघ्रं तैलबिन्दुरिवाम्भसि। न सूतेन विना कान्तो न कान्तः सूतवर्जितः। कान्तसूतसमायुक्तः प्रयोगो देहधारकः॥' इति॥ २०८-२०९॥

कान्तलोह—भ्रामक, चुंबक, कर्षक, द्रावक और रोमकान्त भेद से पाच प्रकार का है। कान्तलोह एकमुखी, द्विमुखी, त्रिमुखी, चतुर्मुखी, पचमुखी एव सर्वतोमुखी इस प्रकार उत्तम और अधम माना गया है॥ २०८-२०९॥

लक्षणम्—

भेदानां लक्षणान्यत्र न संप्रोक्तानि गौरवात्।
आख्यया प्रस्फुटानि स्युर्मुख्यानां लक्ष्म कथ्यते॥ २१०॥
मुण्डं तु वर्तुलं भूमौ पर्वतेषु च जायते।
गजवल्ल्यादि तीक्ष्णं स्यात् कान्त चुम्बकसम्भवम्॥ २११॥

भेदानामित्यादि। गजवल्ल्यादि-तत् तीक्ष्ण लोह स्यात्। शेषं स्पष्टम्॥

लक्षण-उपर्युक्त लोह भेदों के लक्षण यहा ग्रन्थविस्तरभयसे नहीं कहे हैं क्योंकि उनके नाम से ही बोध हो सकता है किन्तु प्रधानों के लक्षणों को कहते हैं। मुडलोह गोल और भूमि तथा पहाडों में होता है। गज वेल आदि लोह तीक्ष्ण और चुबक कान्तलोह होता है॥ २१०-२११॥

अन्यच्च—

मुण्डात्कटाहपात्रादि जायते, तीक्ष्णलोहतः।
खड्गादिशस्त्रभेदाः स्युः, कान्तलोहं तु दुर्लभम्॥ २१२॥

मुण्डाच्छतगुणं तीक्ष्णं तीक्ष्णात्कान्तं शताधिकम्।
तस्मान्मुण्डं परित्यज्य तीक्ष्णं वा कान्तमुत्तमम् ॥ २१३ ॥
'मारणाय' इति शेषः।

मुण्डादित्यादि। स्पष्टम् ॥ २१२-२१३ ॥

अन्यमत—मुडलोह से कड़ाही आदि पात्र और तीक्ष्ण से तलवार आदि शस्त्र बनते हैं। कान्तलोह मिलना दुर्लभ है। मुड से सौगुना अधिक गुणी तीक्ष्ण और तीक्ष्ण से सौगुना अधिक कान्त होता है अतः मुड को छोडकर तीक्ष्ण अथवा कान्त लोह का ही मारण में प्रयोग करे ॥ २१२-२१३ ॥

अथ तीक्ष्णकान्तयोर्विशेषलक्षणानि—

कासीसामलकल्काक्ते लोहेऽङ्गं दृश्यते स्फुटम्।
तीक्ष्णलोहं तदुद्दिष्टं मारणायोत्तमं विदुः ॥२१४॥

कासीसमित्यादि। सुगमम् ॥ २१४ ॥

तीक्ष्णलोह की पहचान—हीराकसीस और आमले का कल्क बनाकर लोह पर लेप देकर उसमें अपने अङ्ग को देखे। यदि अङ्ग की छाया उसमें स्पष्ट दीखे तो उसे तीक्ष्ण लोह जाने। यह भस्मार्थ उत्तम होता है ॥ २१४ ॥

अन्यच्च—

क्ष्माभृच्छिखराकाराण्यङ्गान्यम्लेन मर्दिते।
लोहे स्युर्यत्र सूक्ष्माणि तत्सारमभिधीयते ॥ २१५ ॥

क्ष्माभृदित्यादि। अम्लेन-जम्भाम्भसाद्यम्लद्रवेण लोहे मर्दिते सति क्वचित् पुस्तके 'मर्दिते' इत्यत्र 'लेपिते' इति पाठान्तरम्। क्ष्माभृच्छिखराकाराणि-पर्वतकूटसदृशानि अङ्गानि सूक्ष्माणि स्युः तल्लोह साराख्यमभिधीयते ॥ २१५ ॥

सारलोह की परीक्षा—अम्ल द्रव्य का लेप किए हुए लोहे में पहाडों के शिखराकार अङ्ग भी छोटे दीखने लगें तो उसको सारलोह जानना ॥ २१५ ॥

अस्य गुणाः—

लोहं सारातयं हन्याद् ग्रहणीमतिसारकम्।
अर्धसर्वाङ्गजं वातं शूलं च परिणामजम् ॥ २१६ ॥
छर्दिं च पीनसं पित्तं श्वासमाशु व्यपोहति ॥

लोहमित्यादि। सुस्पष्टम् ॥ २१६ ॥

सारलोह के गुण—सारलोह सग्रहणी, अतिसार, अर्धाङ्ग एव सर्वाङ्गवात, परिणाम शूल, वमन, पीनस, पित्त का रोग और श्वास को तत्काल नष्ट करता है ॥ २१६ ॥

अथ कान्तलक्षणम्—

यत्पात्रे न प्रसरति जले तैलबिन्दुः प्रतप्ते
गन्धं हिङ्गु त्यजति च निजं तिक्ततां निम्बकल्कः।
तप्तं दुग्धं भवति शिखराकारकं नैति भूमिं
कृष्णाङ्गः स्यात्सजलचणकः कान्तलोहं तदुक्तम् ॥ २१७ ॥

यदित्यादि। तप्तं दुग्धं शिखराकारकं भवति किन्तु भूमौ नैति-उत्प्लुत्याधः पात्रान्न पतति। तन्त्रान्तरावलोकनाद् दुग्धं चात्र आजमेवेति। अन्यत्र तु कान्तलक्षणम्-'अहोरात्रस्थितो निम्बकल्कोऽत्र मधुरो भवेत्। तदम्बुसिक्ताश्चणका गौरा गच्छन्ति कृष्णताम्॥' इति॥ २१७॥

कान्तलोह के लक्षण—जिसके पात्र में जल को तपाकर तैल का बिन्दु डाले यदि वह तल-बिन्दु फैले नहीं, लेप करने पर हींग अपनी गन्ध को और निंब अपनी तिक्तता को छोड दे, दूध के तपाने से दूध में उफान आवे किन्तु भूमिपर न गिरे और चनों को जल में डालने से काले हो जावें तो वह कान्तलोह का पात्र समझना चाहिए॥ २१७॥

अथ कान्तलोहगुणाः—

कान्तायः कामलाशोफकुष्ठानि क्षयगुल्मकौ॥ २१८॥
अर्शःशूलोदरप्लीहमामवातं भगन्दरम्।
अम्लपित्तं यकृच्चापि शिरोरोगं हरेद् ध्रुवम्॥ २१९॥
बलं वीर्यं वपुः पुष्टिं कुरुतेऽग्निं विवर्धयेत्।
गदान् विजयते सर्वान् कान्तलोहं न संशयः॥ २२०॥

कान्तेत्यादि सुबोधम्॥ २१८-२२०॥

कान्तलोह के गुण—कान्त लोह-कामला, सूजन, कुष्ठरोग, क्षय, वायगोला, बवासीर, उदरशूल, प्लीहा, आमवात, भगन्दर, अम्लपित्त, यकृत् और शिरोरोग को निश्चय हरण करता, बल, वीर्य और शरीर-पुष्टिको करता तथा जठराग्नि को बढाता है। इतना ही नहीं, किन्तु कान्तलोह से सपूर्ण रोगनाश होता है॥ २१८-२२०॥

अथ सामान्यगुणाः—

लोहं शीतं सरं तिक्तं मधुरं तुवरं गुरु।
रूक्षं वयस्यं चक्षुष्यं लेखनं वातलं, जयेत्॥ २२१॥
कफं पित्तं गरं शूलं शोफार्शःप्लीहपाण्डुताः।
मेदोमेहक्रमीन् कुष्ठं तत्किट्टं तद्गुणं स्मृतम्॥ २२२॥

लोहमित्यादि। सुगमम्॥ २२१-२२२॥

लोहे के सामान्य गुण—लोह शीतल, रेचक, कडवा, मीठा, कसैला, भारी, रूखा, वयका स्थापन करनेवाला, नेत्रों के लिए हितावह, लेखन और वायु को पैदा करनेवाला, तथैव कफ, पित्त, कृत्रिम विष, शूल, सूजन, बवासीर, प्लीहा, पाण्डुरोग, मेदोरोग, प्रमेह, कृमि और कुष्ठरोग को नष्ट करता है। उसका किट्ट भी इन्हीं गुणोंवाला होता है॥ २२१-२२२॥

अथ लोहदोषाः—

गुरुता दृढतोत्क्लेदः कश्मलं दाहकारिता।
अश्मदोषः सदुर्गन्धो दोषाः सप्तायसः स्मृताः॥ २२३॥

गुरुतेत्यादि। सुबोधम्॥ २२३॥

लोहे के दोष-शरीर में भारीपन, जकडन, उत्क्लेद (उबकाई), ग्लानि, हाथ-पैरों में दाह, अश्मरी रोगकर्ता और दुर्गंध उत्पन्न करनेवाला ये लोहे में सात दोष होते हैं॥ २२३॥

अथाशुद्धदोषाः—

पण्ढत्वकुष्ठामयमृत्युदं भवेद्धृद्रोगशूलौ कुरुतेऽश्मरीं च ।
नानारुजानां च तथा प्रकोपं करोति हृल्लासमशुद्धलोहम् ॥२२४॥

पण्ढत्वेत्यादि । स्पष्टम् ॥ २२४ ॥

अशुद्ध लोह के दोष—अशुद्ध लोह का सेवन नपुंसकता, कुष्ठरोग और मृत्यु को देनेवाला होता है। इतना ही नहीं, हृद्रोग, शूल और पथरी एवं अनेक प्रकार की पीडाओं का प्रकोप तथा उबकाई उत्पन्न करता है ॥ २२४ ॥

अथासम्यङ् मारितस्य दोषाः—

जीवहारि मदकारि चायसं देहशूलकृदसंस्कृतं ध्रुवम् ।
पाटवं न तनुते शरीरके दारुणां हृदि रुजां च यच्छति ॥२२५॥

जीवहारीत्यादि । स्पष्टम् ॥ २२५ ॥

भली प्रकार भस्म न हुए लोहे के दोष—कच्ची लोहभस्म जीवन को नष्ट करनेवाली, मदकारक, शरीर में शूल उत्पन्न करनेवाली, शरीर की सुन्दरता को नष्ट करनेवाली और हृदय में असह्य पीडाकर होती है ॥ २२५ ॥

अथ केचित्—

न रसेन विना लोहं न लोहं चाभ्रकं विना ।
एकत्वेन शरीरस्य बन्धो भवति देहिनः ॥ २२६ ॥
पारदेन विना लोहं यः करोति पुमानिह ।
उदरे तस्य किट्टानि जायन्ते नात्र संशयः ॥ २२७ ॥

वस्तुतस्तु प्राशस्त्याय रसयोगो रसाभ्रयोगश्च ।

नेत्यादि । सुगमम् । किट्टान्यत्र कीटानीति पाठः साधुः ॥ २२६-२२७ ॥

कुछ आचार्यों का मत—पारे के विना लोहभस्म का कोई महत्त्व नहीं और न अभ्रक के विना ही है। केवल एक लोहे का प्रयोग शरीर में जडता को उत्पन्न करता है। पारे के सयोग के विना जो मनुष्य लोहभस्म करता और उसका सेवन करता है उसके पेट में लोहकिट्ट जम जाता है या कीट उत्पन्न होते हैं। अत सिद्धान्तत पारे के सयोग और अभ्रक के सयोग से ही लोहभस्म करना उत्तम होता है ॥ २२६-२२७ ॥

अथानुपानमेतस्य—

त्रिफलामधुसंयुक्तं सर्वरोगेषु योजयेत् ।
पथ्याशिनामयोभस्म यथोक्तगुणदं भवेत् ॥ २२८ ॥
अस्य मात्राप्रमाणं प्रागुक्तम् ।

त्रिफलेत्यादि । पूर्वमेवोक्तं यववृद्धया प्रयोक्तव्यमित्यादिना । शेषं स्पष्टम् ॥ २२८ ॥

लोहभस्म का अनुपान—त्रिफले के चूर्ण और शहद के साथ लोहभस्म का समस्त रोगों में प्रयोग करे। लोहभस्म पथ्यपूर्वक खानेवालों के लिए यथोक्त गुण देनेवाली होती है ॥ २२८ ॥

अथ लोहसेविनां वर्ज्यानि—

कूष्माण्डं तिलतैलं च माषान्नं राजिकां तथा ।

[1]तच्चूर्णं तु समानीय सुधौतं निर्मलं शुचि।
युक्त्या संशोध्य शास्त्रोक्तविधिना तं तु मारयेत् ॥ २३८ ॥

शाणोद्भ्रान्तमित्यादि। शाणोद्भ्रान्तं-शाणं-शस्त्रोत्तेजकं यन्त्रं तत्र घर्षणेन उद्भ्रान्तं पतितं सारचूर्णं चुम्बकाश्मना गृहीतं तच्चूर्णं शस्त्रकृल्लोहकाराणां गृहे बहुलं भवेत्तच्चूर्णं समानीय। शेषं स्पष्टम् ॥ २३७-२३८ ॥

लोहचूर्णप्रकार—सार लोह को शाण से रिताकर लोह चुम्बक से ग्रहण करे, यह शस्त्र बनाने वाले लोहारों के घर में बहुत होता है। उस चूर्ण को लाकर भली भांति धोकर शुद्ध कर ले तत्पश्चात् शोधन विधि से शुद्ध कर के उसकी भस्म करे ॥ २३७-२३८ ॥

पुनरन्योऽपि चूर्णप्रकारः—

संशुद्धं लोहजं पत्रं तप्तं तप्तं वराजले।
गोजले वा मुहुःक्षिप्तं क्षिप्तं चूर्णत्वमाप्नुयात् ॥ २३९ ॥

संशुद्धमित्यादि। स्पष्टम् ॥ २३९ ॥

दूसरा प्रकार—शुद्ध किये हुए लोहपत्रों को तपा तपाकर त्रिफले के क्वाथ अथवा गोमूत्र में बार-बार डालने से तत्काल चूर्ण हो जाता है ॥ २३९ ॥

पुनरन्योऽपि चूर्णप्रकार.—

स्थूलाभ्यः सिकताभ्योऽपि चुम्बकेन शनैर्मुहुः।
लोहचूर्णं हि गृह्णन्ति सुसूक्ष्मं मारणे हितम् ॥ २४० ॥

स्थूलाभ्य इत्यादि। सुबोधम् ॥ २४० ॥

तीसरा प्रकार—मोटी-मोटी सिकता (बालुका) ओंसे भी लोहचुम्बक के द्वारा लोहचूर्ण ग्रहण किया जाता है क्यों कि अति महीन चूरा ही मारण के लिए उपयुक्त कहा है ॥ २४० ॥

अथ विशेषशोधनम्—

तैलतक्रादिसंशुद्धं लोहं शोध्यं विशेषतः।
प्रोक्तदोषविनाशाय तदिदानीमिहोच्यते ॥ २४१ ॥
त्रिफलाष्टगुणे तोये त्रिफलाषोडशं पलम्।
तत्क्वाथे पादशेषे तु लोहस्य पलपञ्चकम् ॥ २४२ ॥
कृत्वा पत्राणि तप्तानि सप्तवार निषेचयेत्।
एव प्रलीयते दोषो गिरिजो लोहसभव. ॥ २४३ ॥

तैलेत्यादि। सुगमम्। पत्रविधानं यथा-'चतुरङ्गुलविस्तारमायामैश्चतुरङ्गुलम्। तिलोत्सेधतनु चैव लोहपत्र प्रचक्षते ॥' इति। पत्राणां चिञ्चापत्रतुल्यत्वं कण्टकवेधित्वं च सम्प्रदायसिद्धमेवेति भावः ॥ २४१-२४३ ॥

---

१ युक्तिस्तु दृढशरावे वा लोहजशरावे वा तच्चूर्णं सस्थाप्य, कोकिलैः शुल्कानीतैर्ध्मात्वा लोहकारादिभिर्ध्मापयित्वा वा भस्त्रावातेन, अग्निसमान दृष्ट्वा, सदंशेन निष्कास्य तन्मध्ये तैलतक्रादि देयमेव सुकरं भवति। तैलतक्रादिषु चूर्णं निक्षिप्त चेत्पुन.पुनस्तस्मान्निष्कासने महत्प्रयास इति। एव यथाबुद्धिवैभव शोधयेत्। इति ग्रन्थकारः।

विशेष शोधन—तेल और तक्र आदि से शुद्ध किये हुए लोहे को पूर्वोक्त दोष की शुद्धि के लिए पुनः शोधन करना चाहिए अत. उस विधान को यहा कहते हैं–१६ पल त्रिफला और उससे अठगुना पानी डालकर क्वाथ करे चौथाई भाग रहने पर ५ पल लोहपत्रों को तपाकर ७ बार बुझाने से लोह का गिरिदोष दूर हो जाता है ॥ २४१–२४३ ॥

अथात्र कान्तलोहे विशेषः—

शशरक्तेन संलिप्तं किंवाऽर्कपयसाऽऽयसम् ।
दलं हुताशने ध्मातं सिक्तं त्रैफलवारिणि ॥ २४४ ॥
त्रिशः कान्तस्य संशुद्धिरित्येवं परमा भवेत् ।

शशरक्तेनेत्यादि । स्पष्टम् । शुद्धलोहस्य लक्षणं चूडामणौ—'न विस्फुलिङ्गा न च बुद्बुदश्च यदा न लेखा पटलं न शब्दः । मूषागतं रत्नसमं स्थितं च तदा विशुद्धं प्रवदन्ति लौहम् ॥' इति ॥ २४४ ॥

कान्त लोह का विशेष शोधन–खरगोश के रक्त से अथवा आक के दूध से कान्त लोहे के पत्रोंपर लेप करके अग्नि में धमन करके फिर त्रिफला के कषाय में तीन वार बुझावे तो कान्त लोह शुद्ध हो जाता है ॥ २४४ ॥

अन्यत्रापि—

तप्तं क्षाराम्लसंयुक्तं शशरक्तेन भावितम् ॥ २४५ ॥
कान्तलोहं भवेच्छुद्धं सर्वदोषविवर्जितम् ।

तप्तमित्यादि । सुगमम् ॥ २४५ ॥

दूसरी विधि—खरगोश के रक्त से भावित करके अग्नि में तपाकर क्षार और अम्लद्रव्यों के रस में बुझाने से सपूर्ण दोषों को त्यागकर कान्तलोह शुद्ध हो जाता है ॥ २४५ ॥

अन्यत्रान्योऽपि विशेषः—

तत्तद्व्याध्युपयुक्तानामौषधानां जलेऽयसः ॥ २४६ ॥
प्रक्षेपं प्राह तत्त्वज्ञः सिद्धो नागार्जुनस्ततः ।
ततः सामान्यविशेषशोधनतः ।

तदित्यादि । तेषु तेषु व्याध्युपयुक्तानां प्रदेयत्वेन उल्लिखितानामौषधानां जले—क्वाथरीत्या स्वरसरीत्या वा निष्काशिते । अयसः—लोहस्य प्रक्षेपं दोषविशेषे च निषेकविशेषो यथा–'विशेषतः कफे तीक्ष्णैः कटुतिक्तकषायकैः । वाते तु मधुरस्निग्धैः पित्ते मधुरशीतलैः ॥ सर्वाभावे तु सर्वत्र क्षीरतैलाद्यगोजलैः । निषेकः शस्यते नित्यं सर्वदोषापनायकः ॥' इति । तदेवमुक्तक्रमेण निषेकं विधाय रात्रिमेकां विश्रम्य लोहं मारणादिषु योज्यम् । उक्तं हि–'विश्रम्य रजनीमेकां ततः कर्म समारभेत् ।' इति ॥ २४६ ॥

तीसरी विधि—उन उन व्याध्युपयोगी औषधियों के कषाय में लोहे का प्रक्षेपण भी उत्तम शुद्धिकारक होता है । यह मत सिद्ध नागार्जुन का है । इसकी विशेष विवेचना संस्कृत टीका में की गई है ॥ २४६ ॥

अन्यच्च—

सर्वाभावे निषेक्तव्यं क्षीरतैलाज्यगोजले ॥ २४७ ॥
शुद्धस्य शोधनं ह्येतद्गुणाधिक्याय संमतम् ।

सर्वाभात्र इत्यादि। सुस्पष्टम्। इति विशेषशोधनम् ॥ २४७ ॥

अन्य मत—सब के अभाव में दूध, तेल, घी और गोमूत्र में बुझाने से लोह शुद्ध हो जाता है। शुद्ध किये हुए का पुनरपि शोधन गुणाधिक्य के लिए कहा गया है ॥ २४७ ॥

अथ भस्मप्रकारः—

संशुद्धं लोहचूर्णं तु समानीय भिषग्वरः ॥ २४८ ॥
संमर्दयेद्दिनं चैकमामतिन्दुकजै रसैः।
त्रिफलाभृङ्गराजस्य कण्टकारीरसस्य च ॥ २४९ ॥
पुटानि त्रीणि दत्तानि सत्यं वारितरं भवेत्।
तत्तद्रोगानुपानेन सर्वरोगहरं भवेत् ॥ २५० ॥
लाला अनूपरायेण उपदिष्टं न संशयः।
शुद्धस्य सूतराजस्य भागो भागद्वयं बलेः ॥ २५१ ॥
सारचूर्णं द्वयोस्तुल्यं मर्दयेत्कन्यकाम्बुना।
यामद्वयं हि तद्गोलं संवेष्ट्यैरण्डजैर्दलैः ॥ २५२ ॥
ततः सूत्रेण संवध्य स्थापयेत्ताम्रसम्पुटे।
संमुद्र्य वदनं तस्य मृदा संशोष्य तत्पुनः ॥ २५३ ॥
त्रिदिनं धान्यराशिस्थं तत उद्धृत्य मर्दयेत्।
वस्त्रेण गालितं चूर्णं नीरे तरति हंसवत् ॥ २५४ ॥
सोमामृतमिति ख्यातं लोहभस्म प्रकीर्तितम्।
इति निरग्निक सोमामृताभिधं लोहभस्म।

संशुद्धमित्यादि। सुस्पष्टमेव ॥ २४८-२५४ ॥

लोहे की भस्मविधि—शुद्ध लोह का चूरा लेकर एक दिन कच्चे तेन्दूफलके रस से मर्दन करे फिर उसको त्रिफला, भागरा और कटेरी के रस की भावना देकर तीन पुट देवे तो लोहे की जलतर भस्म हो जाती है। उस उस रोगनाशक अनुपान से सेवन करने पर सपूर्ण रोगहर भस्म होती है। यह प्रयोग लाला अनूपराय का कहा हुआ है। शुद्ध पारा एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग और दोनों के बराबर का शुद्ध सार लोह का चूरा लेकर तीनों को एकत्र खरल में डाल दो प्रहर ग्वारपाठे के रस से मर्दन कर गोला बना एरण्डी के पत्तों से वेष्टन कर ऊपर से सूत से बाध ताम्रसपुट में रखकर मिट्टी की मुख में मुद्रा देकर सूखने पर तीन दिन धान्यराशि में रखे और फिर निकाल कर खरल में सूक्ष्म पीस कपडछान करले। इस प्रकार लोह की जलतर भस्म हो जाती है। इसे सोमामृत लोहभस्म कहा है ॥ २४८-२५४ ॥

अथ रसपद्धत्यां सूर्यतापि लोहभस्म, उक्तम्—

शाणोद्भ्रान्त[१]मयस्तु कान्तमथवा क्षिप्त्वाऽर्धलेलीतकं
दत्त्वाङ्घ्र्यंशरसं विमर्द्य सलिलैर्भृङ्गाद्रिकर्णीरसैः।

---

१ व्याख्या—संशुद्ध लोह शाणोद्भ्रान्त शाण शस्त्रोत्तेजक तत्र घर्षणेन उद्भ्रान्त पतितमयः सारलोह, अथवा तेनैव प्रकारेण पतित कान्तलोह, तत्रार्धलेलीतक-गन्धक क्षिप्त्वा, तत्र चतुर्थांश शुद्धपारद च दत्त्वा, सर्वं विमर्द्य पूर्वं शुष्कमेव मर्दयित्वा, पश्चात्सलिलैः काञ्जिकादिभिः, पश्चा-

पक्त्रं सूर्यपुटैश्चतुर्दशदिनैरेरण्डपत्रावृत्तं
भस्म स्याद् गृहधूमधूसररुचि प्राग्धान्यराशिस्थितम् ॥ २५५ ॥

शाणोद्धान्तमित्यादि । व्याख्यात टिप्पण्याम् ॥ २५५ ॥

रसपद्धतिकार का सूर्यतापि लोहभस्म-शाणपर घिस कर निकाला हुआ शुद्ध सारलोह अथवा कान्तलोह का चूरा लेकर उससे आधी गन्धक और गन्धक से आधा पारा लेकर तीनों को प्रथम शुष्क मर्दन करके तत्पश्चात् भागरा और गिरिकर्णी के रस में मर्दन करे और १४ सूर्यपुट देकर भस्म करे अर्थात् प्रात काल से लेकर सायकाल तक सूर्य की तीक्ष्ण धूप में शुष्क मर्दन करे और सायकाल में द्रव्य गीला हो जावे उतना रस डालकर भावित करे । यहा भावना का कोई नियम नहीं है, मर्दनमात्र से ही भस्म होती है । भस्म हो जाने पर किसी उपर्युक्त द्रव्य के रस से गोला बनाकर एरड के पत्तों में वेष्टित करके तीन दिन धान्यराशि में रखे तो घर के धूवें के तुल्य रग की लोहभस्म हो जाती है ॥ २५५ ॥

मतान्तरम्—

योगीन्द्रैरनुभूतोऽयं क्रमोऽन्यो लोहमारणे ॥ २५६ ॥
कथ्यते रामराजेन कौतूहलधियाऽधुना ।

यथा—

सूतकाद्द्विगुण गन्ध दत्त्वा कुर्याच्च कज्जलीम् ॥ २५७ ॥
द्वयोः सममयश्चूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवै. ।
यामयुग्मं ततः पिण्डं कृत्वा ताम्रस्य पत्रके ॥ २५८ ॥
घर्मे धृत्वा रुबूकस्य पत्रैराच्छादयेद् बुधः ।
यामद्वयाद्भवेदुष्णं धान्यराशौ न्यसेत्ततः ॥ २५९ ॥
दत्त्वोपरि शरावं तु त्रिदिनान्ते समुद्धरेत् ।
पिष्ट्वा च गालयेद्वस्त्रादेवं वारितरं भवेत् ॥ २६० ॥
एव सर्वाणि लोहानि स्वर्णादीन्यपि मारयेत् ।
इत्यपि सूर्यतापि लोहभस्म स्वर्णादिभस्म च ।

योगीन्द्रैरित्यादि । सुबोधमेव । क्वचित् पुस्तके विशेष.-'कान्तं तीक्ष्ण च मुण्डं च निरुत्थ जायते मृतम् । स्वर्णादीन्मारयेदेव चूर्णं कृत्वा च लोहवत् ॥ सिद्धयोगो ह्ययं ख्यात. सिद्धानां सुमुखागत. । अनुभूत मया सत्य सर्वरोगजरापहम् । त्रिफलामधुसंयुक्तं सर्वरोगेषु योजयेत् ।' इति ॥ २५६-२६० ॥

अन्य मत—रामराज कौतुकबुद्धि से योगिराजों द्वारा अनुभव किये हुए लोह मारण के अन्य क्रम को कहता है । पारे से दुगुनी गन्धक लेकर कज्जली करे और कज्जली के बराबर लोहचूर्ण

भृङ्गस्वरसेन तथा अद्रिकर्णी-गिरिकर्णी तस्या स्वरसैर्विमर्द्य सूर्यपुटै पक्व चतुर्दशदिनैर्भावनाभि पश्चादेरण्टपत्रावृत गोलक कृत्वा धान्यराशिस्थ त्रिदिन, गृहधूमधूसररुचि अलिन्दधूमतुल्य भस्म स्यात् । अत्र सूर्यपुटानि प्रात कालादारभ्य सन्ध्यापर्यन्त शुष्कमर्दनेन सपादनीयानि भावना तु सन्ध्यायां यथाऽर्द्रभाव सपद्यते तथा कार्या । अत्र भावनानियमो नास्ति, मर्दनस्यैव भस्मसम्पाद नत्वात् । इति सूर्यतापि लोहभस्म ।

लेकर ग्वारपाठे के रस से दो प्रहर मर्दन करके पिंड बनावे और उस पिंड को तांबे के पत्र में रखकर एरण्ड पत्रों में आच्छादन करके धूप में धर दे। दो प्रहर के बाद जब वह उष्ण हो जावे तब ऊपर शराव देकर धान्य राशि में गाड दे तीन दिन के पश्चात् निकालकर पीस ले और वस्त्र से छान ले। यह जल पर तैरने वाली लोह भस्म हो जाती है। इस प्रकार समस्त सुवर्ण आदि लोहों की भस्म हो सकती है ॥ २५६-२६० ॥

अथाग्निपक्वं लोहभस्म तत्रैव—

शाणा[1]कृष्टमयोरजस्त्रिदिवसं पिष्टं वरावारिणा
यद्वा रक्तपुनर्नवादलरसैर्यद्वाऽद्रिकर्णीरसैः।
चाङ्गेरीसलिलैस्तथैव सलिलैर्वा नीरवानीरजै-
स्त्रिंशद्दन्तिपुटैः परैर्जलतरं स्याद्भस्म जम्बूप्रभम् ॥ २६१ ॥

शाणाकृष्टमित्यादि। त्रिदिवसशब्दस्त्वत्र भावनात्रयद्योतकः, न त्वेकैकदिनसाध्य-भावनावाचकः। शेषं स्पष्टम् ॥ २६१ ॥

अग्निपक्व लोहभस्म—शाणपर रिताये हुए लोह के चूर्ण को तीन दिन त्रिफले का कषाय, रक्तपुनर्नवा के पत्रों का रस, गिरिकर्णी का रस, खट्टे चूके का रस अथवा जलवेत का रस इनमें से किसी एक में पीसकर ३० पुट देने से जामुन के रङ्ग की जलतर लोह भस्म हो जाती है ॥ २६१ ॥

अन्यच्च—

प्रक्षिपेद् द्वादशांशेन दरदं तीक्ष्णचूर्णतः ॥ २६२ ॥
मर्दयेत्कन्यकाद्रावैर्यामयुग्मं ततः पुटेत्।
एवं सप्तपुटैर्मृत्युं लोहचूर्णमवाप्नुयात् ॥ २६३ ॥
इति सप्तपुटि लोहभस्म।

प्रक्षिपेदित्यादि। स्पष्टम् ॥ २६२-२६३ ॥

दूसरी विधि—लोहचूर्ण से बारहवा भाग हिंगुल डालकर ग्वारपाठे के रस में दो प्रहर मर्दन करे और पुट देवे। इस प्रकार सात पुट देने से लोहे की भस्म हो जाती है ॥ २६२-२६३ ॥

मतान्तरम्—

अर्कोदुम्बरिकानीरैर्लोहपत्राणि सेचयेत्।
वह्नितप्तानि षड्वारं कुट्टयेत्तदुलूखले ॥ २६४ ॥
तत्पञ्चमांशहिङ्गूलं क्षिप्त्वा सर्वं विमर्दयेत्।
कुमारीनीरतः श्लक्ष्णं पुटेद् गजपुटेन तु ॥ २६५ ॥
त्रिवारं त्रिफलाक्वाथैस्तत्संख्यैरपि तत्त्ववित्।

---

१. व्याख्या—शाणाकृष्टं शाणोपरि आकृष्टं यच्छुद्धं लोहं तीक्ष्णं कान्तं वा तस्य रजः चुम्बक-पाषाणादिना निःसारितं, वरा त्रिफला, अद्रिकर्णी गिरिकर्णी, चाङ्गेरी-अम्लपर्णी, नीरवानीरो जलवेतसः, एषामन्यतमस्य रसेन त्रिदिवसं पिष्टं भावितं, पश्चाद्दन्तिपुटैः पक्वं भस्म स्यात्त्रिंशत्संख्या-कगजपुटैरित्यर्थः। परैरतोऽप्यधिकैर्गजपुटैरुत्कृष्टतरं जलतरं भस्म स्यादित्यर्थः। अत्र वा शब्दः समुच्चये। तेन एतैरौषधैर्यथा त्रिंशत् पुटानि भवन्ति तथा कार्यम्। त्रिदिवसशब्दस्तु भावनात्रय-वाचकः, न त्वेकैकदिनसाध्यभावनावाचकः। इत्यग्निपक्वं त्रिंशत्पुटि शतपुटि वा लोहभस्म।

निरुत्थं जायते लोहं त्रिधाऽप्यत्र न संशयः ॥ २६६ ॥
इत्यग्निपक्कं पट्पुटि लोहभस्म ।

काकोदुम्बरिकेत्यादि । सुगमम् ॥ २६४-२६६ ॥

तीसरी विधि—आक और गूलर के रस में लोहपत्रों को तपाकर ६ वार सेचन कर के ऊखल में कूट ले । उससे पाचवा भाग हिंगुल डालकर ग्वार पाठे के रस में मर्दन करे और गजपुट में तीन बार फूके । ऐसे ही त्रिफला के क्वाथ से मर्दन कर उपर्युक्त विधि से तीन पुट देने से लोह की निरुत्थ भस्म हो जाती है । इसको पट्पुटी लोह भस्म कहते हैं ॥ २६४-२६६ ॥

मतान्तरम्—

निम्बूफलस्य पानीयैः सकासीसैः प्रपूरिते ।
कांस्यपात्रे क्षिपेत्खड्गखण्डांश्चण्डातपस्थितान् ॥ २६७ ॥
दिनैकेन स्फुटन्त्येते दिनान्ते तांस्तु पेषयेत् ।
त्रिफलाक्वाथपिष्टं तच्चूर्णं गजपुटे पचेत् ॥ २६८ ॥
पौनःपुन्येन यावत्स्यात्तद्वारितरमुत्तमम् ।
ततः पारदगन्धाभ्यां तत्समाभ्यां हि मर्दितम् ॥ २६९ ॥
पूर्ववद्धान्यराशिस्थं तीक्ष्णं सर्वोत्तमं भवेत् ।
इति लोहभस्म ।

निम्बूफलस्येत्यादि स्पष्टम् ॥ २६७-२६९ ॥

चौथी विधि—हीराकसीस सहित निंबू के रस से कांसी के पात्र को भर कर उसमें तलवार आदि शस्त्रों के टुकडे डालकर तीक्ष्ण धूप में रख दे । एक दिन में ये टुकडे फूट जाते हैं, उनको पीसकर त्रिफला के क्वाथ में उस चूर्ण को मर्दन करके गजपुट में वारवार पकावे जबतक उत्तम जलतर भस्म न हो जावे । उसके बाद लोहभस्म के बराबर की पारद गन्धक की कज्जली से मर्दन कर पूर्वोक्त विधि से धान्यराशि में रखने से उत्तम तीक्ष्णभस्म हो जाती है ॥ २६७-२६९ ॥

मतान्तरम्—

लोहं पत्रमतीव तप्तमसकृत् (१००) क्वाथे क्षिपेत्त्रैफले
चूर्णीभूतमिदं पुनस्त्रिफलजे क्वाथे पचेद्गोजले ।
मत्स्याक्षी[1]त्रिफलारसेन पुटयेद्यावन्निरुत्थं भवे-
त्पश्चादाज्यमधुप्लुतं सुपुटितं सिद्धं भवेदायसम् ॥ २७० ॥

लोहमित्यादि । तप्तं लोह यथाऽऽदाय त्रिफलाक्वाथे देयं तदाह—"तलनिहितोर्ध्वमुखांकुशलग्न त्रिफलाजले विनिक्षिप्य । निर्वापयेदशेष त्रिफलाम्बु रसेन ॥" इत्येव सप्तधा शतधा वा निर्वापणेनापि यल्लोहं न मृतं तत् त्याज्यमेवेति यथा—"यल्लोहं न मृतं तत्पुनरपि पक्तव्यमुक्तमार्गेण । यन्न मृत तथापि तत्त्यक्तव्यमलोहमेव हि यत् ॥" इति । अन्यत्राऽपि उक्तं 'सप्तवारंतथा लोहं पूर्ववत्पूर्वभेषजैः ध्मात्वा-ध्मात्वा समुत्थाय निक्षिपेत्त्रिफलाम्भसि । एवं नामात्र यो लोहो न मृतस्त्याज्य एव स ॥' इति लोहभस्म ॥ २७० ॥

पाचवी विधि—अतिशय तपाये हुए लोहपत्रों को १०० वार त्रिफले के क्वाथ में बुझावे,

---

१. मत्स्याक्षी क्षालञ्ची इति ग्रन्थकार. ।

इतने पर भी यदि कुछ चूर्ण होने में अवशेष रह जावे तो फिर त्रिफला के कषाय में बुझावे। तत्पश्चात् गोमूत्र में उस चूर्ण को पकावे। फिर महेली और त्रिफले के रस से मर्दन करके तब तक पुट देवे जबतक लोह भस्म निरुत्थ न हो जावे। फिर घी और शहद की भावना देकर पुट देने से लोह भस्म उत्तम हो जाती है॥ २७० ॥

मतान्तरम्—

परिप्लुतं दाडिमपत्रवारा लोहं रजः स्वल्पकटोरिकायाम्।
म्रियेत वस्त्रावृतमर्कभासा योग्यं पुटैः स्यात्त्रिफलादिकानाम्॥ २७१॥

परिप्लुतमित्यादि। स्पष्टम्। इति लोहभस्म॥ २७१॥

छठी विधि—लोहे का चूरा एक छोटी कटोरी में भरकर ऊपर से अनार का रस भर, वस्त्र से ढककर धूप में रख दे तो लोह भस्म हो जाता है। इसको त्रिफला आदि के कषाय में मर्दन करके पुट देने से उत्तम भस्म हो जाती है॥ २७१॥

मतान्तरम्—

लोहचूर्णं पलं खल्वे सोरकस्य पलं तथा॥ २७२॥
अच्छगन्धपलं चापि सर्वमेकत्र मर्दयेत्।
कुमार्यद्भिर्दिनं कुर्याद् गोलकं रुबुपत्रकैः॥ २७३॥
संवेष्ट्य च मृदा लिप्त्वा पुटेद् गजपुटे भिषक्।
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य सिन्दूराभमयोरजः॥ २७४॥
मृतं वारितरं ग्राह्यं सर्वकार्यकरं परम्।

लोहचूर्णमित्यादि। रुबु-एरण्डः। शेष स्पष्टम्। इत्येकपुटि लोहभस्म॥ २७२-२७४॥

सातवीं विधि—लोहचूरा १ पल, सोरा १ पल और शुद्ध गन्धक १ पल इन तीनों को सम भाग लेकर ग्वारपाठे के रस से मर्दन करके गोला बनावे। इस गोले को एरण्ड के पत्तों से लपेटकर ऊपर से मिट्टी का लेप देकर गजपुट में फूंके। स्वाङ्गशीतल होने पर निकालकर रख ले। यह सिन्दूर के समान लालवर्ण की लोहे की जलतर भस्म होती है। इसका सर्वत्र प्रयोग करे॥ २७२-२७४॥

अथ मृतामृतलोहपरीक्षां प्रविवक्षुराह—

सर्वमेव मृतं लोहं ध्मातव्यं मित्रपञ्चके॥ २७५॥
यद्येवं स्यान्निरुत्थं तु सेव्यं वारितरं हि तत्।
मधुघृतगुग्गुलगुञ्जाटङ्कणमेतत्तु मित्रपञ्चकं नाम॥ २७६॥
मेलयति सप्तधातूनङ्गारानौ प्रपुटनेन।
मध्वाज्यं मृतलोहं च सरूप्यं संपुटे क्षिपेत्॥ २७७॥
रुद्ध्वा ध्माते च संग्राह्यं रूप्यं वै पूर्वमानकम्।
तदा लोहं मृतं विद्यादन्यथा मारयेत्पुनः॥ २७८॥

सर्वमित्यादि। स्पष्टम्। इति मृतामृतलोहपरीक्षा॥ २७५-२७८॥

मृतामृतलोहकी परीक्षा—सपूर्ण लोहभस्मों को मित्रपचक के साथ धमन करने पर भी यदि निरुत्थ भस्म रहे तो उसका सेवन करना चाहिए। शहद, घीगूग्गुल, गुंजा और सुहागा ये पाच,

मित्रपञ्चक कहलाते हैं। इनका पुट देने से ये सभी धातुओं का मिश्रण कर डालते हैं। शहद, घी, लोहभस्म और चांदी को एकत्र मिलाकर सपुट में बन्द करके अग्नि में धमन करे। यदि चांदी जितनी डाली गई थी उतनी की उतनी मिल जावे तो लोहभस्म उत्तम हो गई जानना चाहिए ॥ २७५-२७८ ॥

गन्धकेनोत्थितं लोहं तुल्यं खल्वे विमर्दयेत् ।
दिनैकं कन्यकाद्रावैः रुद्ध्वा गजपुटे पचेत् ॥ २७९ ॥
इत्येवं सर्वलोहानां कर्तव्येयं निरुत्थितिः ।

संप्रति अपक्वलोहस्य निरुत्थीकरणं प्रदर्शयन्नाह—गन्धकेनेत्यादि। स्पष्टम्। इत्यपक्वस्य निरुत्थीकरणम् ॥ २७९ ॥

अपक्व भस्म का निरुत्थीकरण—भलीभांति भस्म न हुए लोह का गन्धक डालने से उत्थापन हो जाता है। अत: उस लोह के बराबर गन्धक डालकर ग्वारपाठे के रस से एक दिन खरल में मर्दन करके सपुट में बन्दकर गजपुट में फूंके। इस प्रकार सपूर्ण लोहों की निरुत्थ भस्म हो जाती है ॥ २७९ ॥

अथ मृतलोहस्यामृतीकरणम्—

द्विगुणे त्रिफलाक्वाथे तुल्ये पिष्ट्वाऽप्ययोरजः ॥ २८० ॥
विपचेन्मध्यपाकेन सर्वव्याधिजरापहम् ।

द्विगुण इत्यादि। स्पष्टम। इत्यमृतीकरणम् ॥ २८० ॥

लोहभस्मका अमृतीकरण—लोहभस्म से दुगुने अथवा समभाग त्रिफला के क्वाथ में मन्दाग्नि से लोह को पकावे तो सर्वव्याधिहर भस्म तैयार होती है ॥ २८० ॥

जम्बीररससंयुक्ते दरदे तप्तमायसम् ॥ २८१ ॥
बहुवारं विनिक्षिप्तं म्रियते नात्र संशयः ।

संप्रति जम्बीररससंयुक्तहिङ्गुलमध्ये तप्तलोहप्रक्षेपणेनैव लोहमारणविधानं प्रविवक्षुराह—जम्बीरेत्यादि। सुबोधम् ॥ २८१ ॥

जम्भीरी निंबू के रससहित हिंगुल में तपे हुए लोहे को कई बार प्रक्षेपण करने से भस्म हो जाती है ॥ २८१ ॥

अथ लोहद्रुतिः—

देवदाल्या रसैर्भाव्यं गन्धकं दिनसप्तकम् ॥ २८२ ॥
तस्य प्रवापमात्रेण लोहास्तिष्ठन्ति सूतवत् ।
सुरदालीभवं भस्म नरमूत्रेण गालितम् ॥ २८३ ॥
तत्क्षारावापतः कान्तद्रुतिस्त्रि:सप्तवारतः ।

देवदाल्या इत्यादि। भावनायाः प्रमाणं शार्ङ्गधरे यथा—'द्रवेण यावता सम्यक् चूर्णं सर्वं प्लुतं भवेत्। भावनायाः प्रमाणं तु चूर्णे प्रोक्तं भिषग्वरैः ॥' इति। शेषं स्पष्टम्। इति कान्तद्रुतिः ॥ २८२-२८३ ॥

लोहे की द्रुति—देवदाली के रस से सात दिन गन्धक को भावित करके फिर उसका प्रतिवाप

अधुना स्वर्णादिधातूनां भस्मप्रतिनिधित्वेन यान्यपेक्ष्यन्ते द्रव्याणि तानि प्रतिपादयन्नाह—सुवर्णमित्यादि। एतेनेदं प्रतिपाद्यते यदेकस्य द्रव्यस्यालाभे प्रस्तुतस्य सम्भारोपस्थितकर्मणि नास्ति किंचिदवरोधकारणं, तत्प्रतिनिधिद्रव्यसाहाय्यतः कार्यसम्पादनात्। एष प्रयत्नो ग्रन्थकाराणां, रसचिकित्सकानां स्वानन्त्याद् बुद्धिप्रागल्भ्याय च भवेदिति। यथा रोगविज्ञानावसरे वैद्यशिक्षार्थिभिः शास्त्रकारैर्लिखितं चरके 'विकारनामाऽकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति निदर्शनम्' इति। तद्वदत्राऽपि बोध्यमिति भावः॥ २९५-२९६॥

श्रीसूर्याङ्घ्रिसरोजसक्तमनसः सारस्वभावाम्बुधेः
श्रीकेदारबुधस्य तस्य तनयेनाऽत्र प्रबन्धे मुदा।
व्याख्याता गुलराजमिश्रविदुषा टीकाऽर्थविद्योतिनी
ह्यध्यायस्त्रितयोऽगमत्सुविरतिं तत्राऽपि दैव्या गिरा॥

सुवर्ण आदि द्रव्यों के प्रतिनिधि द्रव्य—सुवर्ण अथवा चांदी को भस्म जहां उपलब्ध न हो वहां कान्तलोह से कार्य करे। सुवर्ण के अभाव में सुवर्णमाक्षिक, सुवर्णमाक्षिकके अभाव में सोनागेरु और चांदी आदि धातुओं के अभाव में रजतमाक्षिक डालना चाहिए॥ २९५-२९६॥

इत्यायुर्वेदप्रकाशेऽर्थविद्योतिन्यां सुस्पष्टार्थप्रकाशिनीहिन्दीटीकायां चोपरससाधनाध्यायस्तृतीयः॥ ३॥



चतुर्थोऽध्यायः

सुवर्णरौप्यादिलोहान्तानामुत्पत्तिनामलक्षणगुणशोधनादिप्रतिपादनाद्धातुनिर्णयादधिगतोत्पत्त्यादिकस्य रसवैद्यस्य क्रियाया अवसरः, क्रिया च स्वर्णमाक्षिकाद्युपधात्वादिविशेषज्ञानमन्तरेण न सम्भवति, 'स्वर्णाभावे मतं ताप्यं ततोऽपि स्वर्णगैरिकम्। रूप्यादीनामलाभे तु मक्षिवैक्रिमलादिकम् ॥' इत्युक्तत्वात्, अत आरभ्यत उपधातुनिरूपणाध्यायः।

अथोपधातुनिरूपणम्—

अथ तेषु स्वर्णमाक्षिकम्—'सोनामाखी' इति लोके।

स्वर्णमाक्षिकमाख्यातं तापीजं मधुमाक्षिकम्।
ताप्यं माक्षिकधातुश्च माक्षिकं चैव तन्मतम् ॥ १ ॥
किञ्चित्सुवर्णसाहित्यात्स्वर्णमाक्षिकमीरितम्।
उपधातुः सुवर्णस्य किञ्चित्स्वर्णगुणं समम् ॥ २ ॥
न केवलं स्वर्णगुणा वर्तन्ते स्वर्णमाक्षिके।
द्रव्यान्तरस्य संसर्गात्सन्त्यन्येऽपि गुणा यतः ॥ ३ ॥
किन्तु तत्तदनुकल्पत्वात्किञ्चिदूना गुणास्ततः।
तथाऽपि काञ्चनाभावे दीयते स्वर्णमाक्षिकम् ॥ ४ ॥
कान्यकुब्जाख्यविषये जायते स्वर्णमाक्षिकम्।
तपतीतीरतोऽपि स्यादित्येवं तद् द्विधोदितम् ॥ ५ ॥
कान्यकुब्जोद्भवं ताप्यं विद्धि स्वर्णवर्णकम्।
तपतीतीरगं तत्तु पञ्चवर्णमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

स्वर्णमाक्षिकमित्यादि। सुबोधमेव। रसरत्नसमुच्चये तु—'सुवर्णशैलप्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः। चीनतापीकिरातेषु यवनेषु च निर्मितः। ताप्यः सूर्यांशुसंतप्तो माधवे मासि दृश्यते ॥' इति ॥ १–६ ॥

सुवर्णमाक्षिक—स्वर्णमाक्षिक के नाम तापीज, मधुमाक्षिक, ताप्य, माक्षिकधातु और माक्षिक कहे हैं। किञ्चित् मात्र सुवर्ण का सहयोग होने से स्वर्णमाक्षिक कहाती है। सुवर्ण की उपधातु होने के कारण उसमें कुछ सुवर्ण के भी गुण रहते हैं। [illegible] स्वर्णमाक्षिक में केवल सुवर्ण के ही गुण नहीं हैं, अन्य द्रव्यान्तरों के संयोग से [illegible] गुण होते हैं। [illegible] सुवर्ण के अनुकल्प होने से इसमें कुछ गुण कम अवश्य होते हैं [illegible] अभाव में [illegible] होता है। स्वर्णमाक्षिक कान्यकुब्ज देश में और तापी नदी के तट में [illegible] होती है [illegible] दो प्रकार का होता है। कान्यकुब्ज देश में होने वाला सुवर्ण के रंग का और [illegible] के तीर की पाँच रंगवाली होती है।

[illegible]—स्वर्णमाक्षिक के विषय में [illegible] ग्रन्थों में [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] है [illegible] यहाँ [illegible] किया जाता है।

[illegible]

चिकित्सा स्थान अ १३ (मधुमेह चिकित्सा) श्लोक १७-१८ में माक्षिक का वर्णन इस प्रकार मिलता है-**'एवं च माक्षिकं धातुं तापीजममृतोपमम् । मधुरं काञ्चनाभासमम्लं वा रजतप्रभम् ॥ पिबन् हन्ति जराकुष्ठमेहपाड्वामयक्षयान् ।'** अष्टाङ्गसग्रह (उ. त. अ ४९) में माक्षिक धातु का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है-

सुवर्णशैलप्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः । तापीकिरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः ॥ ताप्यांसूर्यांशुसन्तप्तोमाधवे(वैशाखे)मासिदृश्यते । मधुरः काञ्चनाभासः साम्लोरजतसन्निभः॥

कहने का तात्पर्य यह है कि ऊपर सुश्रुत और वृद्धवाग्भट दोनों का अभिप्रायात्मक वर्णन एक समान है। वृद्ध वाग्भट ने उत्पत्ति स्थान का विशेष प्रतिपादन किया है। **'तापीजं'** सुश्रुत ने कहा है किन्तु वाग्भट ने तापी नदी के अतिरिक्त किरात, चीन और यवन देश को भी माक्षिक की उत्पत्ति का स्थान बताया है । सुश्रुत ने माक्षिक के लिए तापीज, ताप्य, नदीज, माक्षिक और माक्षिक धातु-इन शब्दों का प्रयोग किया है तथा वर्ण और रस के भेद से उसके काञ्चनाभास (सुवर्ण के समान रग का) और मधुर, तथा रजतप्रभ (चादी के समान रग का) और अम्ल ये दो भेद बताये हैं। चरक में माक्षिक के लिए माक्षिक, सुवर्णमाक्षिक (चि अ ७ श्लोक ७०-७१), ताप्य (चि अ. २६, श्लोक ७८) तथा ताप्य धातु (चि अ २६ श्लोक २५) इन शब्दों का प्रयोग मिलता है किन्तु चरक में सुश्रुत और अष्टाङ्गसग्रह के समान सुवर्णमाक्षिक-मधुर और रजतमाक्षिक-अम्ल होता है ऐसा स्पष्ट भेद करके उसके दो प्रकार के वर्णन का समावेश नहीं मिलता है। ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि-उस समय माक्षिक का **'माचीक'** और ताप्य इन दो प्रधान नामों से व्यवहार होता था (सभव है कि सहिता-काल में विमल को माक्षिक का ही एक भेद मानते हों ? और उसको भी तापीज और ताप्य कहते हों ? रसपद्धतिकार के समय में भी यह परिभाषा प्रचलित थी **'तापीजं द्विरुदाहरन्ति विमलामाचीकभेदादिह'** इत्यादि आगे पूर्णतया प्रतिपादित किया गया है) तथा सुश्रुत उसके (१) काञ्चनाभास-मधुर और (२) रजतसन्निभ अम्ल, ये दो भेद मानते थे। पीछे रसशास्त्र के विकास के समय इसके माक्षिक और विमल ये दो भेद, उसके भिन्न-भिन्न लक्षण तथा उनका सत्त्वपातन करके उनसे किस प्रकार का लोह (Metal) प्राप्त होता है यह निश्चित किया गया ।

भारतीय रसशास्त्र के कर्ता देशाई ने माक्षिक और विमल के विषय में जो विवेचन किया है उसका साराश नीचे उद्धृत किया जाता है—

लोहा, तावा-आदि धातु गन्धक से मिलकर बने हुए खनिज द्रव्यों के पाषाणों को भूगर्भशास्त्र में पायराइटीस् (Pyrites) अग्निपाषाण कहते हैं। क्योंकि ये पाषाण अग्नि पर रखने से जलते हैं और फौलाद पर ठोकने पर उनसे आग की चिनगारी निकलती है। इनको लोहे के अग्नि पाषाण-आयर्न पायराइटीस् (iron pyrites) कहते हैं। उदाहरणार्थ-मुडलोह के उपधातु को विमल (आयर्न पायराइटीझ्-गन्धायस) विमल की एक रेखायुक्त जाति है उसको माक्षिक (मार्केसाइट् Marcasite) कहते हैं। ताम्र और विमल जिसमें एकत्र मिला हुआ होता है उसको सुवर्णमाक्षिक (चेल्कों पायराइटीस् Chalcopyrites) ताम्र गन्धायस कहते हैं। लोहचुम्बक के धर्मयुक्त इसकी एक जाति को मैग्नेटिक् आयर्न पायराइटीस् (Magnetic Ironpyrites) चुम्बक गन्धायस कहते हैं। (भा र शा.)

विमल—यह लोहे के एक और गन्धक के दो अणुओं के मिश्रण से बना हुआ खनिज (आयर्न बाइसल्फाइड ironbisul Phide) द्विगन्धायस है। इसके गठ्ठे हमेशा कोन, धारा

और फलक (पहल) युक्त होते हैं। ये गठ्ठे प्राय: षट्फलक और कभी कभी द्वादश फलक होते हैं।

जाति—विमल की दो जातिया मिलती हैं-(१) पीली[1] और (२) फीके-मैले सफेद[2] रग की (परन्तु यह विरल मिलती है) रग-विमल पीतल जैसे रग का होता है। इसका रग सोने जैसा पीला नहीं होता है। विमल का काठिन्य ६ से ६॥ और विशिष्ट गुरुत्व ५ २ होता है। विमल को कसौटी पर घिसने से कालापन लिए हुए सफेद रग की रेखा उठती है। विमल को तवे पर खुली हवा में जलाने से गन्धक की गन्ध आती है। गन्धक सल्फर डाइ ऑक्साइड् होकर उड जाता है और लाल रग का चूर्ण (फेरिक् ऑक्साइड् मण्डूर) शेष रह जाता है। विमल स्थिर धातु है। इसके पीले रग के बडे टुकडों पर हवा का कुछ भी असर नहीं पडता है, इसलिए इसको मधुर-न्युट्रल (Neutral) कहा गया है। इसकी श्वेत जाति मात्र अस्थिर होती है। अर्थात् हवा में इसका पृथक् करण होकर कसीस और गन्धकाम्ल बनता है, इसलिए इसको अम्ल कहा गया है। (भा र शा)

माक्षिक नाम—(अ.) आयर्न पायराइटीस्, मार्केमाइट्, रेडिएटेड् पायराइटीस्, रोम्बिक् सल्फाइड् ऑफ् आयर्न। माक्षिक विमल जैसा लोहे के एक और गन्धक के दो अणुओं के मिश्रण से बना हुआ लोहे का खनिज है। अर्थात् विमल और माक्षिक की घटना एक ही है, केवल आकृति और स्वरूप भिन्न हैं। माक्षिक विमल का ही रूपान्तर है। इसके हमेशा कोण फलक रहित रेखामय गठ्ठे मिलते हैं विमल जैसे कोण फलकयुक्त नहीं होते। माक्षिक की दो जातिया मिलती हैं-(१) मैली पीली[3] (ब्रोन्झ यलो Bronzeyellow) और (२) सफेद[4]। सुवर्ण-माक्षिक नामक धातु माक्षिक किंवा विमल से भिन्न ताम्र का खनिज है। माक्षिक विमल की अपेक्षया कम मिलता है। इसका काठिन्य ६ और विशिष्ट गुरुत्व ४.८ होता है। माक्षिक का गठ्ठा तोडने पर भीतर से धागे जैसा रेखामय (रेडिएटेड् Radiated) दीखता है। क्वचित् दानेदार (रोम्बिक् प्रिझम्स्) भी होता है माक्षिक की सफेद रेखायुक्त जाति अस्थिर होती है। वायु से मिश्रित होकर उसका पृथक् करण होता है और उससे कासीस तथा गन्धकाम्ल बनता है इसलिए इस जाति को अम्ल कहा गया है-वह ठीक है।

सुवर्णमाक्षिक—(चेल्को पायराइट् Chalcopyrite), कॉपर पायराइट् Copperpyrite) इसकी घटना में ताम्र के दो अणुओं के साथ गन्धक के एक तथा अयस के दो अणुओं के साथ गन्धक के तीन अणुओं का मिश्रण होता है अर्थात् सुवर्णमाक्षिक में गन्धक के साथ ताम्र और अयस् दोनों एकत्र मिले हुए होते हैं इसका तत्काल का तोडा हुआ अच्छी जाति का खनिज भीतर से सोने जैसा पीला दीखता है। यह चाकू से काटा जा सकता है और इसका घन-हथौडे से सहज में चूर्ण किया जा सकता है। (भा. र. शा)

उपर्युक्त डॉ. देशाई के दिए हुए विवरणों से संहिता-ग्रन्थों और रस ग्रन्थों में वर्णित माक्षिक और विमल के भेदों का स्पष्टीकरण होजाता है। सुवर्णमाक्षिक (कॉपर पायराइट्) की भस्म बनाने से उसमें गन्धक (और कुछ सखिये का अश हो तो वह) जलकर उड जाता है और ताम्र तथा लोहे की मिश्रित भस्म (ऑक्साइड्) बनती है। सब प्रकार के विमल तथा कास्यमाक्षिक और तारमाक्षिक की भस्म बनाने से गन्धक (और सखिये का कुछ अश हो तो वह) उड जाता है और गन्धक के योग से बनी हुई लोहे की भस्म मिलती है।॥ १-६ ॥

---

१. यह रसशास्त्रोक्त हेमविमल या कास्यविमल हो सकता है। २. यह रसशास्त्रोक्त रौप्यविमल हो सकता है। ३ यह रसशास्त्रोक्त कांस्यमाक्षिक हो सकता है। ४ यह रसशास्त्रोक्त रौप्यमाक्षिक हो सकता है।

सुवर्णमाक्षिकस्य लक्षणम्—

स्वर्णाभं स्वर्णमाक्षीकं निष्कोणं गुरुतायुतम् ।
कालिमां विकिरेत्तत्तु करे घृष्टं न संशयः ॥ ७ ॥

स्वर्णाभमित्यादि । स्पष्टम् ॥ ७ ॥

स्वर्णमाक्षिक के लक्षण—सुवर्णमाक्षिक सोने की रंगतवाली, निष्कोण, भारी और हाथ में घिसने से कालिमा देने वाली होती है ॥ ७ ॥

अथ मारणयोग्यस्य लक्षणम्—

स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धमीषन्नीलच्छवि स्फुटम् ।
कषे कनकवद्घृष्टं तद्वरं हेममाक्षिकम् ॥ ८ ॥

स्वर्णवर्णमित्यादि । सुगमम् ॥ ८ ॥

मारणयोग्य माक्षिक—सुवर्ण के तुल्य रंगवाली, भारी, चिकनी, किञ्चित् नीले रंग की झाईं देनेवाली और कष लगाने से सुवर्ण के समान रंगवाली हेममाक्षिक होती है ॥ ८ ॥

अथ स्वर्णमाक्षिकगुणाः—

सुवर्णमाक्षिकं स्वादु तिक्तं वृष्यं रसायनम् ।
चक्षुष्यं बस्तिहृत्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरम् ॥ ९ ॥
अर्शः शोफं विषं कण्डूं त्रिदोषमपि नाशयेत् ।
अनुपानं वरा व्योषं वेल्लं साज्यं हि माक्षिके ॥ १० ॥

सुवर्णमाक्षिकमित्यादि । सुबोधमेव ॥ ९-१० ॥

माक्षिक के गुण—सुवर्णमाक्षिक-स्वादु, कडवी, वीर्यवर्धक, रसायन, नेत्रों के लिए हितकारी, वस्ति, हृदय, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह और विषोदररोग तथा बवासीर, सूजन, विष, खुजली और त्रिदोष-नाशक होती है । इसमें अनुपान घृतयुक्त त्रिफला, त्रिकुटा और वायविडङ्ग चूर्ण कहा है ॥९-१०॥

अथाशुद्धस्यासम्यङ्मारितस्य च दोषाः—

मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान् सकुष्ठान् ।
मालां विधत्तेऽपि च गण्डपूर्वां शुद्ध्यादिहीनं खलु माक्षिकं तु ॥ ११ ॥

मन्दानलत्वमित्यादि । सुगमम् ॥ ११ ॥

अशुद्ध और भली भाँति भस्म न हुई सुवर्णमाक्षिक के दोष—शुद्धि आदि से हीन माक्षिक मन्दाग्नि, अतिशय बल की हानि, कोष्ठबद्धता, नेत्र रोग, कुष्ठ रोग और गण्डमाला करती है ॥

अथोपधातूनां भिन्नानि शोधनानि धातुशोधनेभ्यो विलक्षणानि सन्ति । तत्र स्वर्णमाक्षिकशोधनम्—

माक्षिकस्य[1] त्रयो भागा भागैकं सैन्धवस्य च ।
मातुलुङ्गद्रवैर्वाथ जम्बीरस्य द्रवैः पचेत् ॥ १२ ॥
चालयेल्लोहजे पात्रे यावत्पात्रं सुलोहितम् ।
भवेत्ततस्तु संशुद्धं स्वर्णमाक्षिकमत्र तु ॥ १३ ॥

---

१ माक्षिकस्य माक्षिकचूर्णस्य । इति ग्रन्थकारः ।

माक्षिकम्नेत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ १२-१३ ॥

धातु-शोधन से उपधातुओं के शोधन भिन्न एव विलक्षण होते हैं । स्वर्णमाक्षिक-शोधन—माक्षिक का चूर्ण तीन भाग, सैन्धानमक एक भाग दोनों को विजोरा अथवा जमीरी के रस से लोहे के पात्र में कलछी से चलाता हुआ पात्र लाल हो जाय तब तक पकावे । इस प्रकार माक्षिक शुद्ध हो जाती है ।

वक्तव्य—सुवर्णमाक्षिक तीन भाग और सेन्धा नमक एक भाग दोनों को मिलाकर भली भाँति पीसकर बारीक चूर्ण करे, उस चूर्ण को लोहे की कढ़ाई में डालकर विजोरा निम्बू अथवा जमीरी निम्बू के रस में भिगो दे और चूल्हे पर रखकर अग्नि दे और लोहे के करछुले से उसको चलाता जावे । इतनी अग्नि देवे कि कढ़ाई अग्नि से लाल हो जावे फिर स्वाङ्गशीतल होने पर निकाल कर दो-तीन बार जल से साफ धो डालना चाहिए तात्पर्य यह है कि उसमें सेन्धा नमक और निम्बू की जो अम्लता है वह स्वर्णमाक्षिक के चूर्ण से अलग हो जाना आवश्यक है । इस प्रकार माक्षिक शुद्ध हो जाता है । सेन्धा नमक और निम्बू आदि स्वरस के सयोग से हैड्रोक्लोरिक अम्ल स्वल्प मात्रा में उत्पन्न हो जाता है, उसके साथ गर्म करने पर माक्षिक में रहने वाले कार्बोनेट आदि द्रव्य शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । तापक्रम की अधिकता और करछुले से उनका मर्दन होने पर माक्षिक में रहने वाला सखिया का अश (आर्सेनिक) वाष्प के रूप में निकल जाता है और स्वर्णमाक्षिक शुद्ध हो जाता है ॥ १२-१३ ॥

माक्षिकस्य चतुर्थांशं दत्त्वा गन्धं विमर्दयेत् ।
उरुबूकस्य तैलेन ततः कार्याऽस्य चक्रिका ॥ १४ ॥
शरावसंपुटं धृत्वा पुटेद्गजपुटेन च ।
धान्यस्य तुषमूर्ध्वाधो दत्त्वा शीतं समुद्धरेत् ॥
सिन्दूराभं भवेद्भस्म माक्षिकस्य न संशयः ॥ १५ ॥

अथ स्वर्णमाक्षिकमारणं प्रदिशन्नाह–माक्षिकस्येत्यादि । स्पष्टम् । इति स्वर्णमाक्षिकमारणम् ॥ १४-१५ ॥

माक्षिक की भस्म विधि—सुवर्णमाक्षिक से चौथाई भाग गन्धक डालकर एरण्ड तैल से मर्दन कर चकत्तिया बनावे इन चकत्तियों को शराव सपुट में रखकर नीचे ऊपर धान्य के तुष देकर गजपुट में फूके । स्वाङ्ग-शीतल होने पर निकाल ले । यह माक्षिक की भस्म सिन्दूर के रग की होती है ॥ १४-१५ ॥

अथ मतान्तरम्—

कुलत्थस्य कषायेण घृष्ट्वा तैलेन वा पुटेत् ।
अजामूत्रेण वा नूनं म्रियते स्वर्णमाक्षिकम् ॥ १६ ॥

कुलत्थस्येत्यादि । अथवा तैलेन–तिलोद्भवेन ऐरण्डेन वा घृष्ट्वा पुटेत् । शेषं स्पष्टम् । इति स्वर्णमाक्षिकमारणम् ॥ १६ ॥

मतान्तर—कुलथी का कषाय, तिल का तेल अथवा बकरी का मूत्र इन तीनों में से किसी एक से मर्दन कर शराव सपुट में बन्द कर के गजपुट में फूके तो सुवर्णमाक्षिक की भस्म हो जाती है ॥

अथ सत्त्वाकृष्टिः—

एरण्डोत्थेन तैलेन गुञ्जा क्षौद्रं च टङ्कणम् ।

मर्दितं तस्य वापेन सत्त्वं माक्षिकजं भवेत् ॥ १७ ॥

एरण्डेत्यादि। स्पष्टम्। रसरत्नाकरे तु भवेदित्यत्र 'द्रवेत्' इति पाठो दृश्यते स युक्त इति प्रतिभाति वह्निसंयोगस्याभावात्। सत्त्वपातनविधिस्तु रसरत्नाकरे-'मूत्रवर्गाम्लवर्गैश्च द्विसप्ताहं विभावयेत्। माक्षिकं तीव्रघर्मेण दिनमम्लैश्च मर्दयेत्॥ मूत्रपञ्चकसंयुक्तं वर्टीं कृत्वा दृढ धमेत्। व्योमवद्बङ्कनालेन सत्त्वं शुल्वनिभं भवेत्॥' इत्यादिः। माक्षिकचूर्णमध्येऽस्य प्रतिवापं दत्त्वा प्रधमेदिति भावः। इति माक्षिकसत्त्वम् ॥ १७ ॥

माक्षिक की सत्त्वपातनविधि—एरण्डी के तेल से गुजा, शहद और सुहागे को मर्दन कर के सुवर्णमाक्षिक में इसका प्रतिवाप देने से माक्षिक का सत्त्वपातन होता है॥ १७ ॥

अथ तारमाक्षिकम्—

तारमाक्षिकमन्यत्तु तद्भवेद्रजतोपमम्।
किंचिद्रजतसाहित्यात्तारमाक्षिकमीरितम् ॥ १८ ॥
अनुकल्पतया तस्य ततो हीनगुणाः स्मृताः।
न केवलं रौप्यगुणा वर्तन्ते तारमाक्षिके ॥ १९ ॥
द्रव्यान्तरस्य संसर्गात्सन्त्यन्येऽपि गुणा यतः ॥ २० ॥

तारेत्यादि। स्पष्टम् ॥ १८–२० ॥

रजतमाक्षिक—दूसरी एक रजत माक्षिक भी होती है, वह चादी के समान श्वेत होती है। कुछ उस में चादी का सयोग होने से उसे रजत माक्षिक कहा है। यह चादी का अनुकल्प होने से चादी से किंचित् मात्र ही हीनगुणी होती है। रजत माक्षिक में केवल चादी के ही गुण नहीं हैं किन्तु अन्य द्रव्यों का सयोग होने से इतर गुण भी उस में रहते है ॥ १८–२० ॥

अथैतत्स्वरूपलक्षणम्—

कांस्यवच्चाकचिक्याढ्यं कषे घृष्टं तु रूप्यवत्।
गुरु स्निग्धं सितं यत्तच्छ्रेष्ठं स्यात्तारमाक्षिकम् ॥ २१ ॥
स्वर्णमाक्षिकवद्दोषा विज्ञेयास्तारमाक्षिके।
अतस्तद्दोषशान्त्यर्थं शोधनं तस्य कथ्यते ॥ २२ ॥

कांस्यवदित्यादि। सुबोधम् ॥ २१–२२ ॥

रजत माक्षिक का स्वरूप—रजत माक्षिक कासी के तुल्य चमक वाली, कस लगाने पर चांदी के समान श्वेत, भारी, चिकनी और सफेद रग की होती है इसको श्रेष्ठ माना है। स्वर्ण माक्षिक की भाँति रजत माक्षिक में भी दोष होते हैं अत दोषों की शान्ति के लिए शोधन करना चाहिए ॥ २१–२२ ॥

यथा—

कर्कोटीमेषशृङ्ग्युत्थैर्द्रवैर्जम्बीरजैर्दिनम्।
भावयेदातपे तीव्रे [1]विमला शुध्यति ध्रुवम् ॥ २३ ॥

कर्कोटीत्यादि। स्पष्टम्। अत्र कर्कोटीमेषशृङ्गीजम्बीराणामन्यतमस्य भावना प्रोक्ता न तु सर्वेषाम् ॥ २३ ॥

---

१. विमला तारमाक्षिकम्। कर्कोटी खखसा, मेषशृङ्गी–मेढासिंगी। इति ग्रन्थकार.।

रजत माक्षिक की शोधन विधि—बांझककोडा, मेंढासिंगी और जंगीरी निम्बू इन तीनों में से एक के किसी रस से तीन दिन तीक्ष्ण धूप में भावित करने से रजत माक्षिक शुद्ध हो जाता है ॥

तन्मारणम्—

स्वर्णमाक्षिकवज्ज्ञेयं तारमाक्षिकमारणम् ।
विमलाया गुणाः किंचिन्न्यूनाः कनकमाक्षिकात् ॥ २४ ॥

स्वर्णमाक्षिकवदित्यादि । सुगमम् । इति तारमाक्षिकशोधनमारणम् ॥ २४ ॥

रजत माक्षिक भस्म विधि—सुवर्ण माक्षिक के तुल्य ही रजत माक्षिक की भी भस्म होती है । रजत माक्षिक सुवर्ण माक्षिक से किंचित् मात्र ही गुणों में न्यून है ॥ २४ ॥

अथ विमला—

माक्षिकस्यैव भेदान्तर, प्रायशस्तत्रैव तपतीतीरसंनिधावुत्पद्यते तत्स्वरूपलक्षणशोधनमारणानि रसपद्धत्यां यथा—

[1]तापीजं छिरुदाहरन्ति विमलामाक्षीकभेदादिह
त्रेधाऽद्या तु सुवर्णकांस्यरजतच्छायानुकारादमूः ।
तिस्रोऽप्यस्रयुताश्चतुस्त्रिफलका वृत्ताः स्वनामश्रियो
मध्योक्ता सफला तु शुध्यति दिनं वासाजश्रृङ्गीरसे ॥ २५ ॥
स्विन्ना जम्भरसेऽपि तालबलिना वस्वंशकेनाम्भसा
जम्भस्यैव परिप्लुता दशपुटैर्जीवेन्न योगानुगा ॥ २६ ॥

तापीजमित्यादि । व्याख्यानमेव टिप्पण्याम् ॥ २५-२६ ॥

विमला यह माक्षिक का ही भेद है । यह भी वहीं तपती नदी के तीर के निकट ही उत्पन्न होती है जहां कि माक्षिक । इसके स्वरूप, लक्षण, शोधन और मारण यथा—तापीज माक्षिक विमला और माक्षिक भेद से दो प्रकार की है । इन दो प्रकारों में से प्रथम विमला के तीन भेद हैं स्वर्ण विमला, कांस्य विमला और रजत विमला । स्वर्ण विमला यह सोनामाखी का भेद है, कांस्य विमला कांस्य माक्षिक का भेद है अर्थात् इससे यह भी जाना जाता है कि कांस्य का भी माक्षिक होता है और रजत विमला रजत माक्षिक का भेद है । ये तीनों क्रमशः चौकोनी

---

१. व्याख्या—तापीज माक्षिक द्विविधमुक्त, विमलामाक्षिकभेदात् इह द्विविधभेदमध्ये आद्या विमला, सा तु त्रेधा त्रिविधा । विमलाशब्दस्तु त्रिलिङ्ग । एका विमला सुवर्णच्छायानुकारात्, द्वितीया कांस्यच्छायानुकारात्, तस्मात्कांस्यविमलाप्यस्तीति सूचित, तृतीया रजतच्छायानुकारात् तत्तन्नामपूर्विका विमला भवन्ति । यथा—स्वर्णविमला, कांस्यविमला, रजतविमला चेति । तत्र स्वर्णविमला स्वर्णमाक्षिकभेदः, कांस्यविमला कांस्यमाक्षिकभेद, एतद्वचनसामर्थ्यादेव कांस्यस्यापि माक्षिकोऽस्तीति गम्यते, रजतविमला रजतमाक्षिकभेद । अथैषां माक्षिकेभ्यो भेदकानि लक्षणान्याह—अमूस्तिस्रोऽपि, अस्र धारा, फलक चिपिट, वृत्तत्व वर्तुलत्व, स्वनामश्रिय इत्यनेन स्वर्णादिप्रभा उक्ता, मध्या कांस्यविमला सफला उक्ता सचिपिटोक्ता । त्रयाणामपि शोधनमारणमाह—शुध्यन्तीति । दिन चतुर्यामम् । वासा आटरूष, अजश्रृङ्गी मेषश्रृङ्गी, अनयो रसे चूर्णीकृत्य वस्त्रबद्ध कृत्वा स्विन्नास्तथा निम्बुरसे स्विन्ना. शुध्यन्ति । पश्चात्तालक शुद्धः बलिर्गन्धक सोऽपि शुद्ध, तेन समुचितेन अष्टमांशेन जम्भाम्भसा त्रिवार भाविता दशपुटैर्न जीवेत् म्रियते । पुटे च प्रत्येक भावना देया । तद्भस्म योगानुग भवति, यत्र रसे उक्त तत्र प्रयोज्यम् । इति ग्रन्थकार. ।

धारवाली, चिपटी और गोल होती हैं। इनका रंग एवं आभा स्वनामानुसार होती है बीच की कास्य विमला सफला (धारवाली) होती है। इनका शोधन अडूसा और मेंढासिंगी के रस में तथा निंबू के रस में एक दिन स्वेदन करने से होता है। मारण-शुद्ध हरताल और शुद्ध गन्धक को माक्षिक से आठवा भाग लेकर निम्बू के रस की भावना देकर १० पुट देने से माक्षिक की भस्म हो जाती है। यह भस्म योगानुसार होती है अर्थात् जिस रस में कही हो वहीं उसीको लेना चाहिए ॥ २५-२६ ॥

उक्तं च—

त्रेधा स्याद्विमलः स्वर्णपूर्णकः कांस्यपूर्वकः।
रूप्यपूर्वश्च विख्यातस्तत्तत्कान्त्या स लक्ष्यते ॥ २७ ॥
विमलस्तपतीतीरवर्तिन्यद्रिविभागके।
उत्पद्यते परैः कांस्यमाक्षिकोऽयमिति स्मृतः ॥ २८ ॥
आद्यो हेमक्रियासूक्तश्चरमः श्वेतकर्मसु।
मध्यस्तु कांस्यपूर्वो यः स प्रोक्तो वै रसादिषु ॥ २९ ॥

त्रेधेत्यादि। स्पष्टम्। तन्त्रान्तरेऽपि-'प्रथमो हेमविमलो हेमवद्वर्णसंयुतः। द्वितीयो रूप्यविमलो रूप्यवद् दृश्यते खलु ॥ तृतीयः कांस्यविमलः कांस्यवर्णसमो हि स. ॥' इति। रसार्णवेऽपि पीतश्वेतरक्तभेदेन त्रिविधो विमलो वर्णितस्तद्वर्णनानुसारेणैवात्र त्रिविधा सज्ञा कृता स्यादिति प्रतीयते ॥ २७-२९ ॥

त्रिविध विमला के उदाहरण—विमला तीन प्रकार की होती है स्वर्णपूर्वक, कास्यपूर्वक और रूप्यपूर्वक जैसे कि उपर्युक्त श्लोक में कह आये हैं। ये अपनी अपनी कान्ति से पहिचानी जाती हैं। विमला तपती नदी के तीरवर्त्ती पर्वत के एक प्रदेश में होती है। इसी को दूसरे, लोग कांस्यमाक्षिक कहते हैं। आदि की विमला सुवर्णक्रिया में और अन्त की श्वेतकर्म (रजत क्रिया मे) और मध्य की कास्यविमला रसादिकों में काम आती है ॥ २७-२९ ॥

अथ लक्षणगुणाः—

वर्तुलः कोणसंयुक्त स्निग्धश्च फलकान्वितः।
मरुत्पित्तहरो वृष्यो विमलश्च रसायनः ॥ ३० ॥

वर्तुल इत्यादि। कोणसंयुक्तः-त्रिचतुष्कोणसहित', केचन तु षट्कोणाऽपि विमला भवतीति दर्शयन्ति यथा रसरत्नसमुच्चयटीकायाम्-'कस्मिंश्चित्त्रयः कस्मिंश्चिच्च वारः कुत्रचिच्च षट् कोणा भवन्तीति यावत्' इति ॥ ३० ॥

विमला के लक्षण और गुण—विमला वर्तुल (गोल), कोणसयुक्त (चौकोनी), चिकनी और धारवाली होती है विमला वायु-पित्त को हरनेवाली, शुक्रवर्धक और रसायन होती है ॥ ३० ॥

अनुपानमपि रसपद्धत्याम्—

वेल्लव्योपवराज्येन विमलः सेवितो यदि।
भगन्दरादिकान् रोगान्नृणां जयति दुस्तरान् ॥ ३१ ॥

वेल्लेत्यादि। सुस्पष्टमेव। आदिशब्देनात्र ज्वरश्वयथुपाण्डुप्रमेहारुच्यर्शोग्रहणीशूल-यक्ष्मादयोऽपि गृह्यन्ते। यथा रसरत्नसमुच्चये—'लीढो व्योषवरान्वितो विमलको युक्तो घृतैः सेवितो, हन्याद् दुर्भगक ज्वराञ्छ्वयथुकं पाण्डुप्रमेहारुचीः। मूलार्तिं ग्रहणीं च

शूलमतुलं यक्ष्मामयं कामलां, सर्वान्पित्तमरुद्गदान् क्रिमपरैर्योगैरशेषामयान् ॥' इति। यदि चेत्केनापि हेतुना विमलसेवनावसरे तज्जन्यविकारास्तर्हि सशर्करं मेषश्रृङ्गीचूर्णं खादेत्तस्मात्ते विकारा विनश्यन्तीति तात्पर्यम् ॥ ३१ ॥

अनुपान—विमला वायविडङ्ग, त्रिकटु, त्रिफला और घी के साथ सेवन करने से मनुष्यों के भगन्दरादि कष्टसाध्य रोगों को भी जीतती है अशुद्ध माक्षिक के सेवन से विकृति होने पर तत्परिहारार्थ कुलथी का कषाय अथवा अनार की छाल का कषाय सेवन करना चाहिए। जैसे कि

'कुलत्थस्य कषायेण माक्षीकविकृतिं जयेत्।
दाडिमस्य त्वचा चापि प्रोक्ता विकृतिनाशिनी ॥' इति ॥

अथ रसपद्धत्याम्—

माक्षीको[1] द्विरिहादिमः कनकरुग्दुर्वर्णवर्णोऽपरः
कांस्यश्रीकमुशन्ति केचन परं सर्वेऽपि पूर्वत्विषः।
निष्कोणा गुरव किरन्ति निभृतं घृष्टाः करे कालिकां
स्विन्नास्ते रुबुतैललुङ्गसलिलैर्यामेन शुध्यन्ति च ॥ ३२ ॥
पक्का वा घटिकाद्वयेन कदलीकर्कोटिकाकन्दयो-
रम्भ्रा कूर्मपुटैस्त्रिभिः पटुतरं लुङ्गाम्बुगन्धप्लुताः।
स्युर्भस्मानि जघन्यमध्यमगुणास्ते व्युत्क्रमेणोदिता
वृष्याः पाण्डुपटीयसो बलकरा योगोपयुक्ताः पुनः ॥ ३३ ॥

माक्षिक इत्यादि। ननु विमलामाक्षिकयोरेकवर्णत्वात्कानि तद्भेदकचिह्नानीति प्रतिपादयन्नाह—निष्कोणाः माक्षिकाः विमलास्तु एतद्विपरीता भवन्ति, यथोक्तमत्रैव प्राक्—'वर्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फलकान्वितः' इत्यादि। रसपद्धत्यामपि—'तिस्रोऽप्यस्युताश्चतुस्त्रिफलका वृत्ताः स्वनामश्रियः।' इति। शेषं टिप्पण्याम् ॥ ३२-३३ ॥

माक्षिक के विषय में रसपद्धतिकार—माक्षिक यहाँ दो प्रकार का है पहला कनकरुक् (सुवर्णमाक्षिक), दूसरा दुर्वर्णवर्ण (रजतमाक्षिक)। कुछ आचार्य तीसरा कांस्यमाक्षिक भी मानते हैं। ये तीनों माक्षिक भी पूर्वोक्त विमला के वर्णवाले होते हैं। विमला से भिन्न कुछ विशिष्टता होती है तो यह। कि विमला धारायुक्त होती है किन्तु माक्षिक धारारहित, भारी और हाथ में

---

१. व्याख्या—माक्षीको द्विविधः—आदिमः कनकरुक्, तेनासौ कनकमाक्षिक इत्यर्थः—परो द्वितीयः (इति टीकाकारस्य पाठः प्रामादिकः, अत्र अपरो द्वितीयः, इति साधीयान्) दुर्वर्णवर्णः दुर्वर्णं रजतं तद्वर्णम्, अतो रजतमाक्षिकमिति, कांस्यश्रीकं कांस्यवर्णं केचन आचार्याः परं तृतीयं कांस्यमाक्षिकमुशन्ति। सर्वेऽपि माक्षिकत्रयमपि, पूर्वत्विषो विमलोक्तवर्णा भवन्तीत्यर्थः। विमलाभ्यो भेदकं लक्षणमाह—निष्कोणाः धारारहिताः, गुरवो भारयुक्ताः, करे हस्ते घृष्टाः कालिकां किरन्ति। शुद्धिमाह—स्विन्ना इति। रुबुतैलमेरण्डतैलं, लुङ्गं मातुलुङ्गं तत्सलिले, कर्कोटिका खेखसा, तस्याः कन्दः मूलं तयोरम्भ्रा जलेन पक्काः शुध्यन्ति। स्वेदनं तु चूर्णीकृत्य दोलायन्त्रेण। पश्चाल्लुङ्गाम्बु मातुलुङ्गरसः, गन्धकश्च। आभ्यां भाविताः, कूर्मपुटैस्त्रिभिर्दग्धाः भस्मानि स्युः। ते च व्युत्क्रमेण कांस्यतारसुवर्णसंज्ञकाः, जघन्यमध्यमोत्तमाः उदिताः। वृष्याः शुक्रप्रदाः। पाण्डुपटीयसः—पाण्डुघ्नाः। तथा बलकराः। योगे उपयुक्ताः सन्तो बलकरा भवन्ति। इति माक्षीकविमलानिर्णयः। इति ग्रन्थकारः।

घिसने से कालिमा छोड़ने वाली होती है। शुद्धि—ये तीनों माक्षिक एरण्ड के तैल और बिजौरे के रस से एक प्रहर पाचन करने पर शुद्ध हो जाती हैं अथवा दो घड़ी केला और बालकोरैंट के कन्द के रस में पकाने पर शुद्ध हो जाती हैं। माक्षिक का स्वेदनसंस्कार चूर्ण कर के दोलायन्त्र से करना चाहिए। फिर बिजौरे के रस और गन्धक की भावना देकर तीन कुक्कुटपुट की अग्नि देकर भस्म करे। इस व्यतिक्रमभेद से कांस्यमाक्षिक, रजतमाक्षिक और सुवर्णमाक्षिक अधम, मध्यम और उत्तम कही गई हैं। ये तीनों भी वीर्यवर्धक और पाण्डुरोगनाशक होती हैं तथा प्रयोग में उपयुक्त करने से बलकारक होती हैं ॥ ३२-३३ ॥

अथ तुत्थोत्पत्तिनामलक्षणशोधनगुणाः—

गरुडेनामृतं पीत्वा पश्चात्पीतं विषं पुरा।
वान्तं मरकताद्रौ तु तद्घनं शिखितुत्थकम् ॥ ३४ ॥
तुत्थं वितुन्नकं चापि शिखिग्रीवं मयूरकम्।
तुत्थं ताम्रोपधातुः स्यात्किंचित्ताम्रेण तद्भवेत् ॥ ३५ ॥
किंचित्ताम्रगुणं तस्माद्वक्ष्यमाणगुणं च तत्।
तुत्थस्यैव भवेद्भेदः खर्परं तद्गुणं च तत् ॥ ३६ ॥
शिखिकण्ठसदृक्छायं भाराढ्यं तुत्थकं च यत्।
गुणवत्तत्परिज्ञेयमन्यद्धीनगुणं मतम् ॥ ३७ ॥

इदानीं तुत्थस्योत्पत्तिनामलक्षणान्याह—गरुडेनेत्यादि। अत्र परस्परविरोधद्रव्यभक्षणादिति हेतोः अथवा अमृतं प्राणवायुः विषं ताम्रं च रसनावेकत्रीभूत तद्गरुडरूपेण गन्धकेन प्रेरकीभूय संयोजितमिति नव्याक्षेपपरिहारार्थं कथानकाभिप्रायो वाच्यः। रसेन्द्रचूडामणौ तु—'पीत्वा हालाहलं वान्तं पीतामृतगरुत्मता। विषेणामृतयुक्तेन गिरौ च मरुताह्वये। तद्वान्तं हि घनीभूतं संजातं सस्यकं खलु।' इति पाठः। अत्र तु प्रथमं विषं पीतं ततोऽमृतमिति न शङ्कास्थलम्। प्रथमपक्षेऽमृतं पीत्वा कौतूहलेन विषं पीतम्। द्वितीयपक्षे च विषं पीत्वा विकलतयाऽमृतं पीतमिति भावः ॥ ३४-३७ ॥

तुत्थ की उत्पत्ति, नाम, लक्षण, शोधन और गुण—पहले गरुड ने अमृत पिया और तत्पश्चात् विषपान करके मरकताद्रि (नीलगिरि पर्वत) पर उसे वमन कर दिया। वही सूखने पर गाढ़ा होकर शिखितुत्थ संज्ञा को प्राप्त हुआ। शिखितुत्थ, तुत्थ, वितुन्नक, शिखिग्रीव और मयूरक ये तुत्थ के नाम हैं। तुत्थ ताम्र की उपधातु है क्योंकि यह कुछ ताम्र के संयोग से होती है। इसके गुण भी कुछ ताम्र से मिलते-जुलते होते हैं, जिनको आगे कहेंगे। तुत्थ का ही भेद खर्पर होता है और वह भी इसके गुण वाला है। मयूर के कंठ के तुल्य कान्तिवाला और भारयुक्त है और तुत्थ (नीलाथोथा) उत्तम और इस से विपरीत अधम होता है।

वक्तव्य—तुत्थ की आलंकारिक उत्पत्ति बड़ी ही रोचक और भावपूर्ण है। उसमें अमृत और विषका समावेश इतना बोधप्रद है। क्योंकि किसी पदार्थ में विष मिला दिया जाता है तो वह पदार्थ जिसमें विष मिलाया गया है और उसके मिलने पर उस पदार्थ के जो गुण होते हैं वे उस शुद्ध और स्वाभाविक पदार्थ के गुणों की अपेक्षा बहुत अधिक लाभजनक होते हैं। हालाहल विष में जब अमृत मिलाया जाता है तब इस मिश्रण के गुण भी अमृत के स्वाभाविक गुणों से कहीं विशेष लाभ पहुंचाते हैं। जैसे कि **द्रव्यं विषयुतं यत्तद्द्रव्याधिकगुणं भवेत् ॥ सुधा हलाहलैर्युक्ता सुधाधिकगुणा तथा ॥ इति ॥** यही कारण है कि उसकी संघटना का सहज

ज्ञान हो जाता है। यह स्पष्ट है कि तुत्थ ताम्र का खनिज है और उससे ताम्र निकालने की अनेकों क्रियाएं शास्त्रकारों ने कही हैं। साथ ही इसका रंग, वर्ण अथवा आकृति मयूरकण्ठ की आभा के समान होती है, इसमें अमृत और विष दोनों के एकत्रित गुणों का समावेश है और यह वजनदार होता है। इन पर विचार करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि यह द्रव्य ताम्र का भी खनिज होना चाहिए। इसमें ताम्र, लोहा और गन्धक ये तीन तत्त्व होते हैं और उसका रासायनिक सूत्र Cu ५ F ४ S ९ होता है। कुछ लोग तुत्थ और सस्यक में महान् अन्तर मानते हैं किन्तु ऐसा नहीं है तुत्थ और सस्य ये दोनों नाम एक ही द्रव्य के हैं। भस्म और सत्त्वपातन करने से दोनों से एक ही समान परिणाम होता है। दोनों भी ताम्र के ही उपधातु हैं। सस्यक और तुत्थ का भस्म किया जावे तो ताम्र की ही भस्म मिलेगी। सत्त्वपातन किया जावे तो दोनों से ताम्र धातु की ही उपलब्धि होती है। भेद केवल इतना ही हो सकता है कि तुत्थ यह कृत्रिम है और सस्यक यह खनिज होगा। जब खनिज का अभाव हुआ तब से सस्यक की जगह पर नीला थोथा व्यवहार में लिया जाने लगा। रसजलनिधिकार लिखता है कि **'स्वभावजं सस्यकं हि तुत्थकं कृत्रिमं मतम्। एकाभावे परं ग्राह्यं नात्र कार्या विचारणा।'** अर्थात् सस्यक यह प्राकृतिक है और तुत्थ यह कृत्रिम है किन्तु एक के अभाव में दूसरे का प्रयोग करना चाहिए। तन्त्रकारों ने प्रायश तुत्थ और सस्यक को एक ही माना है ॥३४-३७॥

गुणाः—

> तुत्थं तु कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु।
> लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तहृत् ॥ ३८ ॥
> विषाश्मकुष्ठकण्डूघ्नं खर्परं चापि तद्गुणम्।
> वान्ति भ्रान्तिमशुद्धं तत्कुरुते, शोधितं शुभम् ॥ ३९ ॥

तुत्थमित्यादि। क्वचित् पुस्तके 'विषापस्मारकण्डुघ्नम्' इति पाठः ॥ ३८-३९ ॥

तुत्थ के गुण—नीलाथोथा चरपरा, खारा, कसैला, वमनकारक, हलका, लेखन, भेदन, शीतल, नेत्रों के लिए हितकारी, कफपित्तनाशक, विष, अश्म (पथरी), कुष्ठ और खुजली को नष्ट करनेवाला है और खपरिया भी इन्हीं गुणों वाला होता है। यह अशुद्ध अवस्था में वान्ति और भ्रान्ति को करता है अत शुद्ध का ही प्रयोग करना शुभ है ॥ ३८-३९ ॥

शोधनम्—

> विष्ठया मर्दयेत्तुत्थं मार्जारककपोतयोः।
> दशांशं टङ्कणं दत्त्वा पचेल्लघुपुटे तथा ॥ ४० ॥
> पुटं दध्ना पुटं क्षौद्रैर्देयं तुत्थविशुद्धये।

विष्ठयेत्यादि। सुगमम्। अत्र दध्ना क्षौद्रेण च सार्धं पुटप्रदानावसरे दशांश सौभाग्यक्षारप्रक्षेपणमपि न विस्मरणीयम्। अत्र दधिक्षौद्रयोस्तुत्थमानापेक्षया चतुर्थांशभागो ग्रहीतव्यः॥ इति तुत्थ शुद्धि. ॥ ४० ॥

तुत्थशुद्धि—बिलाव और कबूतर की विष्ठा से तुत्थ को मर्दन करे और फिर तुत्थ का दशवा भाग सुहागा देकर लघुगजपुट में पकावे। तथा दही और शहद का तुत्थशुद्धि के लिए पुट देवे ॥ ४० ॥

प्रकारान्तरम्—

ओतोर्विशा समं तुत्थं सक्षौद्रटङ्कणाङ्घ्रियुक्।
त्रिधैव पुटितं शुद्धं वान्तिभ्रान्तिविवर्जितम्॥ ४१॥

ओतोरित्यादि। शेषं स्पष्टम्। ओतो.—मार्जारस्य॥ ४१॥

दूसरा प्रकार—बिलाव की विष्ठा के बराबर शहद और तुत्थ लेकर उसमें तुत्थ से चौथाई भाग सुहागा डालकर तीन पुट देने से वान्ति और भ्रान्ति रहित तुत्थ शुद्ध हो जाता है॥ ४१॥

प्रकारान्तरम्—

लुलितं चाम्लवर्गेण स्नेहसिक्तं हि तुत्थकम्।
दोलायां वाजिगोमूत्रे दिनं पक्कं विशुध्यति॥ ४२॥

लुलितमित्यादि। स्नेहसिक्तं-स्नेहेन घृतादिना उत स्नेहवर्गेण वा भावित, भावना अत्र सप्त प्रदातव्या.। घृततैलापेक्षया स्नेहवर्गस्य भावनाःश्रेष्ठा.। रसरत्नरसमुच्चये यथा—'तुत्थकं शुद्धिमाप्नोति रक्तवर्गेण भावितम्। स्नेहवर्गेण संसिक्तं सप्तवारमदूषितम्॥' इति। स्नेहवर्गो यथा—'कङ्गुणीतुम्बिनीघोषाकरञ्जश्रीफलोद्भवम्। कटुवार्ताकसिद्धार्थसोमराजीविभीतजम्॥ अतसीजं महाकालानिम्बजं तिलजं तथा। अपामार्गदेवदालीदन्तीतुम्बुरुविग्रहाः। अङ्कोलोन्मत्तभल्लातफलेभ्यस्तैलसम्भव.॥' इति। अन्ये तु पूर्वार्धेनैकः शोधनविधिरुत्तरार्धेन च द्वितीय इत्यामनन्ति। क्वचित् पुस्तके 'अम्लवर्गेण' इत्यत्र 'रक्तवर्गेण' इति पाठः॥ ४२॥

तीसरा प्रकार—अम्लवर्ग से मर्दन किया हुआ और स्नेहवर्ग से सेचन किया हुआ तुत्थ घोड़े और गाय के मूत में एक दिन दोलायन्त्र द्वारा पकाने से सर्वथा शुद्ध हो जाता है॥ ४२॥

क्वचिन्मारणमप्युक्तं तुत्थकस्य—

गन्धाश्मटङ्कणयुतं लकुचद्रावमर्दितम्।
अन्धमूषागतं द्वित्रिकुक्कुटैर्मृतिमाप्नुयात्॥ ४३॥

गन्धाश्मेत्यादि। कुक्कुटैः—कुक्कुटपुटैः। शेष स्पष्टम्॥ ४३॥

तुत्थकी भस्म—गन्धक और सुहागा सहित तुत्थ को बडहल के रस में मर्दन कर अन्धमूषा में रखकर २–३ कुक्कुटपुट देने से तुत्थभस्म हो जाती है॥ ४३॥

तुत्थसत्त्वाकृष्टिः—

तुत्थं टङ्कणसंयुक्तं निम्बूद्रवविमर्दितम्।
अन्धमूषागतं ध्मातं सत्त्वं मुञ्चति ताम्रकम्॥ ४४॥

तुत्थमित्यादि। स्पष्टम्॥ ४४॥

तुत्थ का सत्त्वपातन—सुहागे के साथ नीला थोथा को निम्बू के रस में मर्दन कर अन्धमूषा में देकर अग्नि में धमन करने से तुत्थ ताम्रस्वरूप सत्त्व को छोड़ता है॥ ४४॥

अथात्र मुद्रिकोपयुक्तत्वेन भूनागस्वरूपं सत्त्वाकृष्टिश्च प्रोच्यते—

भूनागः क्षितिनागश्च भुजङ्गो रक्तजन्तुकः।
क्षितिजः क्षितिजन्तुश्च भूमिजो रक्ततुण्डकः॥ ४५॥

भूनाग इत्यादि। सुबोधम्॥ ४५॥

मुद्रिका के लिए उपयोगी होने से केंचुवा का स्वरूप और उसका सत्त्वपातन-केंचुवा के नाम—भूनाग, क्षितिनाग, भुजङ्ग, रक्तजन्तुक, क्षितिज, क्षितिजन्तु, भूमिज और रक्ततुण्डक हैं ॥ ४५ ॥

गुणाः—

भूनागो वज्रमार स्यान्नानाविज्ञानकारकः ।
रसस्य जारणे प्रोक्तं तत्सत्त्वं तु रसायनम् ॥ ४६ ॥
वर्षासु वृष्टिसंक्लिन्नभूगर्भे संभवन्ति हि ।
जन्तवः कृमिरूपा ये ते भूनागा इति स्मृताः ॥ ४७ ॥
चतुर्विधास्तु भूनागाः स्वर्णादिखनिसंभवाः ।
स्वर्णभूमिभवा पीता रूप्यभूमिभवा सिताः ॥ ४८ ॥
ताम्रभूमिभवास्ताम्राः कृष्णा लोहमयीभवाः ।
रसेन्द्रप्राणरूपास्ते भूनागाः सिद्धसंमताः ॥ ४९ ॥
स्वर्णादिभूमिसंभूता दुर्लभास्ते प्रकीर्तिताः ।
ताम्रभूमिभवाः प्रायः सुलभा गुणवत्तराः ॥ ५० ॥

भूनाग इत्यादि । सुगमम् ॥ ४६–५० ॥

केंचुवा के गुण, उत्पत्ति और प्रकार—केंचुवा हीरे का मारने वाला, अनेक विज्ञानकारक, उसका सत्त्व पारदजारण में उपयोगी तथा रसायन होता है। वर्षा ऋतु में वृष्टि के कारण जब भूमि में कीचड हो जाता है तब कृमि के आकार वाले जो जन्तु उत्पन्न होते हैं वे भूनाग कहाते हैं। स्वर्णप्रभृति धातुओं की खान से उत्पन्न होने के कारण केंचुवे चार प्रकार के होते हैं। सुवर्ण की खान के पीले, चादी के श्वेत, तांबे के लाल और लोहे की खान के काले होते हैं। सिद्धों ने केंचुवे पारे के प्राणस्वरूप कहे हैं। स्वर्ण आदि भूमि के केंचुवे दुष्प्राप्य हैं, ताम्रभूमि के प्राय सुलभ एव अधिक गुणी माने हैं ॥ ४६–५० ॥

उक्तं च—

ताम्रभूभवभूनागान्निशापिष्टान् समेन तान् ।
गुडगुग्गुलुलाक्षोर्णामत्स्यपिण्याकटङ्कणैः ॥ ५१ ॥
दृढमेतैश्च संयोज्य मर्दयित्वा धमेत्सुखम् ।
मुञ्चन्ति ताम्रवत्सत्त्वं ते[1], पक्षा अपि बर्हिणाम् ॥ ५२ ॥

ताम्रभूभवेत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ५१–५२ ॥

भूनागसत्त्वपातन—तांबे की खान से उत्पन्न होने वाले केंचुवों को समान भाग हलदी के साथ गुड, गूगल, लाख, ऊन, मछली, खली और सुहागा मिलाकर मर्दन करे और मूषा में रख कर धमन करे तो केंचुवे सुखपूर्वक ताम्र के तुल्य सत्त्व को छोड देते हैं। इसी प्रकार मोर की पखों का भी सत्त्वपातन होता है ॥ ५१–५२ ॥

शीतं भूनागसत्त्वं तु सर्वकुष्ठव्रणप्रणुत् ।
तद्युक्तजलपानेन स्थावरं चापि जङ्गमम् ॥ ५३ ॥

---

१ ते भूनागा । इति ग्रन्थकार ।

विषं नश्यति, तत्पात्रगतः सूतोऽग्नितो दृढम् ।
एवं मयूरपक्षोत्थसत्त्वस्यापि गुणा मताः ॥ ५४ ॥

शीतमित्यादि । तत्पात्रगतः—भूनागसत्त्वपात्रनिहितः सूतोऽग्निना दृढ बध्यते । शेषं स्पष्टम् । इति भूनागसत्त्वमयूरपक्षसत्त्वगुणाः ॥ ५३–५४ ॥

गुण—केंचुवों का सत्त्व शीतल और सम्पूर्ण कुष्ठ को नष्ट करनेवाला होता है। इस सत्त्व के साथ जल पीने से स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकार के विष नष्ट होते हैं। इस सत्त्व के पात्र में पारे को रख कर अग्नि में संस्थापित करने से वह बद्ध हो जाता है। ये उपर्युक्त सभी गुण मोर की पख के सत्त्व में भी हैं ॥ ५३–५४ ॥

प्रकारान्तरेण तुत्थसत्त्वम्—

तुत्थस्य टङ्कण पाद चूर्णयेन्मधुसर्पिषा ।
तुत्थेन मिश्रित ध्मात कोष्ठीयन्त्रे दृढाग्निना ।
ध्मापित द्रवते सत्त्व कीरतुण्डसमप्रभम् ॥ ५५ ॥

तुत्थस्येत्यादि । कीरतुण्डसमप्रभं—शुकतुण्डसदृशरक्तम् । शेषं सुगमम् । कोष्ठीयन्त्रलक्षणं रसरत्नसमुच्चये यथा—'षोडशाङ्गुलविस्तीर्णं हस्तमात्रायतं समम् । धातुसत्त्वनिपातार्थं कोष्ठीयन्त्रमिति स्मृतम् ॥' इति । एवं चानेकविध भवति कोष्ठीयन्त्र तत्तु यथास्थाने द्रष्टव्यम् ॥ इति तुत्थसत्त्वम् ॥ ५५ ॥

तुत्थसत्त्व की दूसरी विधि—तुत्थ से चौथाई भाग सुहागा को शहद और घी के साथ पीस कर तुत्थ में मिलाकर कोष्ठीयन्त्र में तीक्ष्णाग्नि से धमन करे। इस प्रकार धमन करने से तुत्थ का तोते की चोंच के समान लाल रंग का सत्त्व निकलता है ॥ ५५ ॥

रसपद्धत्यां तुत्थसत्त्वभूनागसत्त्वयोर्मिलितयोर्मुद्रिकायाः फलमुक्तम्—

घस्र पूतिकरञ्जतैलनिहित पादांशसौभाग्यक
ध्मात तुत्थरजोऽथ पात्रपिहित दीप्तैरलातत्रयैः ।
यद्वा मानुषनीलकेशनिहितं मुञ्चेत्क्षणात्तुत्थक
ताम्र शोणितबिन्दुबन्धुरमदो भूनागसत्त्वं तथा ॥ ५६ ॥
एताभ्यां रविवासरे रचितया सञ्चाचितं मुद्रया
पीत वारि विषक्षयग्रहहर सद्यः प्रसूतिप्रदम् ।
तद्वत्तत्परिमृष्टततिलजस्नेहोऽमुना मन्त्रितो
मन्त्रेणाशु निहन्ति शूलमतुल दृग्दोषभूतग्रहम् ॥
सद्यः स्त्रीप्रसवप्रदो निगदित सद्यो व्रणारोपणो ।
लिप्तो लोचनयोर्हितो विनिहतः प्राग्भालुकिप्रोदितः ॥ ५७ ॥

---

१ दृढ बध्यते, इत्यर्थः । इति ग्रन्थकारः ।

२ व्याख्या—घस्रमित्यादि । दुर्गन्धिकरञ्जतैले दिन निहित पश्चात्पादांशटङ्कणयुत पश्चात्तुत्थरजो मर्दितमन्धमूषाया निहित दीप्तकाष्ठत्रयैर्ध्मात सत्त्व मुञ्चति । प्रकारान्तरमाह—यद्वा मानुषकेशैरेकीकृत्य ध्मात क्षणात्ताम्र शोणितबिन्दुबन्धुर सत्त्व मुञ्चेत् । अथैवमेव भूनागसत्त्व ग्राह्यमित्याह—अदो

घस्रमित्यादि। पूति इत्यत्र मामि इति पाठान्तरम्। सामिघस्रम्-अर्धदिनं, शे टिप्पण्याम् ॥ ५६-५७ ॥

तुत्थसत्त्व और भूनागसत्त्व निकालने की विधि तथा उनसे बनी हुई अंगूठी का फल-एक दिन अथवा आधे दिन करजी के तेल में तुत्थ को रखे, तत्पश्चात् तुत्थ से चौथाई भाग सुहागा में तुत्थ को परिप्लुत करके अन्धमूषा में रख तीन बार कोयलों की अग्नि में धमन करे तो तुत्थ का सत्त्वपातन होता है। अथवा मनुष्य के काले बालों के साथ रखकर अन्धमूषा में बन्द करके अग्नि में धमन करने से तुत्थ तत्काल रक्त के समान लाल रंग का ताम्रस्वरूप सत्त्व को छोड़ता है। इसी विधि से भूनाग (केंचुवों) का सत्त्वपातन भी किया जाता है। इन दोनों सत्त्वों की रविवार के दिन अंगूठी बनाकर पानी में डुबो दे, उस पानी के पीने से स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकार का विष, स्कन्दादि ग्रहदोष दूर होते हैं तथा सद्य प्रसूतिकारक है। उसी प्रकार तिल के तेल को उष्ण करके मुद्रिका का स्पर्श करावे तथा उसमें उसको धोकर नीचे लिखे मन्त्र से अभिमन्त्रित करे। इसका अतिभयकर शूल में भी लेप करने से तत्काल शान्ति मिलती है। दृष्टदोष (नजर) आदि, भूत-प्रेत-पिशाच आदि ग्रहदोष इन सबको यह दूर करता है तथा तत्काल स्त्री-प्रसवकारक, व्रणरोपक और नेत्रों के लिए हितकारी है। यह बात भालुकि-तन्त्रकार ने कही है ॥ ५६-५७ ॥

भालुकिप्रोदितमन्त्रस्तु—

'रामवत्सोमसेनानीमुद्रिकायां तथाऽक्षरम्।
हिमालयोत्तरे पार्श्वे अश्वकर्णो महाद्रुम।
तत्र शूलं समुत्पन्नं तत्रैव विलयं गतम् ॥ ५८ ॥' इति ॥

यह भालुकि का कहा हुआ मन्त्र है इस से मुद्रिका का अभिमन्त्रण किया जाता है ॥ ५८ ॥

अथ प्रकारान्तरं भूनागसत्त्वस्य-सुवर्णरूप्यताम्रायस्कान्तभूमिषु जातान् भूनागान् तद्विष्टां वा तदुत्पत्तितत्संलिप्तमृत्तिकां वा रजनीतोयेन प्रक्षाल्य, क्षुधितं कुक्कुटं मयूरं वा क्रमेण चारयित्वा, तद्विष्टां कुडवमात्रां गृहीत्वा, क्षाराम्लैः सह पेषयित्वा, विशोष्य, खर्परे दत्त्वा, भर्जनं कुर्यात्। तां मषीं द्रावणवर्गेणैकीकृत्य, मूषामध्ये निवेश्य, घटिकाद्वयं धमेत्। तस्मिन् शीतीभूते खोटकमाहृत्य प्रक्षाल्य रवकान् संगृह्य टङ्कणं दत्त्वा सुवर्णवद्धमेत्। तस्यैकीभूतस्य भूनागताम्रस्य मयूरतुत्थताम्रस्य च मिश्रणेन मुद्रिका कार्या, साऽप्यचिन्त्यसामर्थ्या भवति। अथ तदुत्पत्तिमृत्तिकादिकं तु भृङ्गनिर्गुण्डीद्रवैर्द्रावणवर्गेण चैकीकृत्य मर्दयेत्। पश्चाद् दृढमूषायां वटकी-

---

भूनागेत्यादि। एवमेव भूनागसत्त्वं निष्कासयेत्। मुद्रिकोपयुक्तत्वेनात्रैवोक्तम्। उभाभ्यां मिलिताभ्यां रविवासरे रचितया मुद्रया सञ्जावितं वारि पीतं विषद्वयं स्थावरजङ्गमविषं, ग्रहाः स्कन्दादयः, एतेषां नाशकं, सद्यः स्त्रीप्रसवजनकं च। गुणान्तरमाह-तद्वदिति। परिमृष्टस्नप्ततिलजस्नेहः अनया मुद्रया मिश्रितो वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण मन्त्रितः अतुलं शूलं लेपनमात्रेण निहन्ति, तथा दृष्टदोषं भूतग्रहं चेति, तथा सद्यः स्त्रीप्रसवदो भक्षितः, लिप्तः सन् सद्यो व्रणारोपणः, लोचनयोर्विनिहितो नेत्ररोगहर्ता भवति। इति ग्रन्थकारः।

कृतं प्रक्षिप्य घटीद्वयं धमेत् । तत्पक्वं विचूर्ण्य रवकान् भारवत्तरानणून् द्वादशांशताम्रयुक्तान् कृत्वा धामयित्वा रवकान् कुर्यात् । तेन वज्रादिद्रावणं कुर्यात् । इदं वारद्वय त्रयं वा वज्रे दत्तं द्रुतं भवति । इदं तु वज्रस्य पारदस्य द्रावणार्थे परमतेजो भवति । गुणास्तु प्रागुक्ताः । इति भूनागसत्त्वनिरूपणम् ॥ ५९ ॥

सुवर्णेत्यादि । सुवोधमेव ॥ ५९ ॥

केंचुवों के सत्त्वपातन की दूसरी विधि–सोना, चांदी, तांबा और लोहे की भूमि में उत्पन्न होनेवाले केंचुवों को अथवा उनकी विष्ठा तथा जहां से उत्पन्न होते हैं उस भूमि की उनकी लगी हुई मिट्टी को लेकर हलदी के जलसे धोकर बुभुक्षित मुरगे अथवा मोर को क्रमशः खिलाकर उसकी विष्ठा एक पाव लेकर क्षार और अम्लद्रव्यों के साथ पीसकर सुखावे फिर ठीकरे में रख कर भूनना चाहिए, उस स्याही को द्रावणवर्ग के साथ एकत्र करके मूषामें रख, दो-एक घडीतक धमन करे । ठंडा होने से खोट को मूषा से निकाल कर उसके संपूर्ण कणों को इकट्ठा करे और सुहागा मिलाकर सुवर्ण की भांति अग्नि में धमन करे । एकत्र होने पर केंचुवों के ताम्र तथा मयूर-तुत्थ के ताम्र के मिश्रण की अंगूठी वनावे । यह पूर्वोक्त गुणवाली होनी है । इसमें सुवर्ण का भी मिश्रण किया जा सकता है । यह अंगूठी अचिन्त्य प्रभाववती होती है । केंचुवों के उत्पन्न होने की मिट्टी आदि पूर्वोक्त द्रव्यों को लेकर भृंगराज और निर्गुण्डी के रस से तथा द्रावणवर्गोक्त औषधियों से एकत्र मर्दन करे । तत्पश्चात् दृढमूषा में गोली के समान करके रखे और दो घडीतक धमन करे । उसके पके हुए कणोंका चूर्ण करके वजनदार कणों को १२ वें भाग तांबें से युक्त कर धमन करके रवा वना ले । उस से हीरा आदि का द्रावण करे । यह दो बार अथवा तीन बार हीरे में डालने से हीरा पिघल जाता है । यह हीरा और पारे के द्रावण करने के लिए उत्तम तेजस्वी होता है । इसके गुण पहले कह दिये हैं ॥ ५९ ॥

विशुद्धं तुत्थकं योज्यमञ्जनादौ भिषग्वरैः ॥ ६० ॥

विशुद्धमित्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ६० ॥

शुद्ध किये हुए नीलेथोथे को वैद्य अंजन आदि में प्रयोग करें ॥ ६० ॥

अथ कांस्यपित्तलयोरुत्पत्तिनामलक्षणशोधनमारणानि—

अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागं कुटिलं युतम् ।
एकत्र द्रावितं तत्स्यात्कांस्यं सौराष्ट्रजं शुभम् ॥ ६१ ॥
ताम्रत्रपुजमाख्यातं कांस्यं घोषं च कंसकम् ।
उपधातुर्भवेत्कांस्यं द्वयोस्तरणिरङ्गयोः ॥ ६२ ॥
कांस्यस्य तु गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशा बुधैः ।
संयोगजप्रभावेण तस्यान्येऽपि गुणाः स्मृताः ॥ ६३ ॥

अष्टभागेनेत्यादि । कुटिलं-वङ्गं तरणिः–ताम्रम् । शेषं स्पष्टम् । ॥ ६१-६३ ॥

कांसी की उत्पत्ति आठ भाग तांबा और दो भाग रांगा को एकत्र मिलाकर पिघलाने से कांसी हो जाती है । सौराष्ट्र देश की कांसी उत्तम होती है । ताम्रत्रपुज, कांस्य, घोष और कंसकये कांसी के नाम हैं । कांसा तांबा तथा रांगे का उपधातु है । कांसे के गुण अपनी योनिके तुल्य जानना चाहिए, किन्तु संयोगज प्रभाव से इसके दूसरे भी गुण होते हैं ॥ ६१-६३ ॥

यथा—

कांस्यं कषायतिक्तोष्णं लेखनं विशदं सरम् ।
गुरु नेत्रहितं रूक्षं कफपित्तहरं परम् ॥ ६४ ॥
कांस्यं च द्विविधं प्रोक्तं पुष्पतैलकभेदतः ।
पुष्पं श्वेततमं तत्र तौलिकं कपिशप्रभम् ॥ ६५ ॥
एतयोः प्रथमं श्रेष्ठं संसेव्यं रोगशान्तये ।

कांस्यमित्यादि । सुगमम् ॥ ६४–६५ ॥

कांसी के गुण—कांसा कसैली, कड़वी, उष्ण, लेखन, विशद, रेचक, भारी, नेत्रों के लिए हितकारी, रूक्ष और कफ पित्त को हरने वाली होती है। पुष्प और तैलिक भेद से कांसी दो प्रकार की है। पुष्पकांसी अतिशय श्वेत और तैलिक कपिश रंग की होती है। इनमें से पहली पुष्पकांसी रोगों की शान्ति के लिए उत्तम होती है ॥ ६४–६५ ॥

अथ पित्तलम्—

पित्तलं त्वारकूटं स्यादारो रीतिश्च कथ्यते ॥ ६६ ॥
राजरीतिर्ब्रह्मरीतिः कपिला पिङ्गलाऽपि च ।
रीतिरप्युपधातुः स्यात्ताम्रस्य यशदस्य च ॥ ६७ ॥
पित्तलस्य गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशा बुधैः ।
संयोगजप्रभावेण तस्यान्येऽपि गुणाः स्मृताः ॥ ६८ ॥
रीतिका द्विविधा प्रोक्ता तत्राद्या राजरीतिका ।
काकतुण्डी द्वितीया स्यात्तयोराद्या गुणाधिका ॥ ६९ ॥
संतप्ता काञ्जिके क्षिप्ता ताम्रा स्याद्राजरीतिका ।
काकतुण्डी तु कृष्णा स्यान्नासौ सेव्या विजानता ॥ ७० ॥
श्वेतं दीप्तं मृदुज्योतिः शब्दाढ्यं स्निग्धनिर्मलम् ।
घनाग्निसहसूत्राङ्गं कांस्यमुत्तममीरितम् ॥ ७१ ॥
शुद्धा स्निग्धा मृदुः शीता सुरङ्गा सूत्ररूपिणी ।
हिमोपमा शुभा स्वच्छा राजरीतिः प्रकीर्तिता ॥ ७२ ॥

पित्तलमित्यादि । स्पष्टम् ॥ ६६–७२ ॥

पित्तल के नाम, गुण और भेद—पित्तल के आरकूट, आर, रीति, राजरीति, ब्रह्मरीति, कपिला और पिङ्गला ये नाम हैं। पित्तल तांबा तथा यशद की उपधातु है। दो भाग ताम्र और एक भाग यशद को एकत्र अच्छी प्रकार गलाकर पित्तल नाम की धातु बनाई जाती है। यह मिश्र धातु इसी लिए कहलाती है। पित्तल अपनी योनि के अनुकूल गुणी होता है तथापि संयोगज प्रभाव से उसमें अन्य भी कई गुण होते हैं। पित्तल दो प्रकार का होता है एक राजरीति पित्तल और दूसरा काकतुण्डी। दोनों में से राजरीति उत्तम होता है। राजरीति अग्नि में तपाकर कांजी में डालने से तांबे के वर्ण का और काकतुण्डी काले रंग का हो जाता है। काकतुण्डी पित्तल जानकर मनुष्य कदापि सेवन न करे। श्वेत, चमकदार, मृदुज्योति, बजाने से शब्द करने वाला, चिकना निर्मल, घन का प्रहार और अग्नि के सहयोग से सूत्ररूपी (अर्थात् जिसका तार बनाया जा सके या फैलाया जा सके) ऐसा कांसा

उत्तम होता है। शुद्ध, चिकना, कोमल, शीतल, सुन्दर रंगवाला, सूत्र के समान होनेवाला, वरफ के तुल्य ठंडा और स्वच्छ राजरीति पित्तल श्रेष्ठ माना है ॥ ६६-७२ ॥

गुणाः—

रीतिकायुगलं रूक्षं तिक्तं च लवणं रसे।
शोधनं पाण्डुरोगघ्नं क्रिमिघ्नं नातिलेखनम् ॥ ७३ ॥

रीतिकायुगलमित्यादि। स्पष्टम् ॥ ७३ ॥

गुण—दोनों प्रकार के पित्तल रूख, कडवे और लवण रसवाले हैं तथा रक्त का शोधन करनेवाले, पाण्डुरोग और क्रमिरोग को मिटाने वाले तथा अतिलेखन नहीं होते ॥ ७३ ॥

एतस्य भस्म तु निम्बाष्टकचूर्णेन सह भल्लाततिलब्रह्मबीजाजमोदाग्निभिः सेवितं जन्तुघ्नं भवति श्वेतकुष्ठहरं भवति। सुवर्णरीतिचूर्णमन्नादिना छागेन भक्षितं तद्विष्ठां खर्परे लिप्त्वा पश्चात्तत्खर्परं दग्धं रीतिं मुञ्चति। तां रीतिमेकीकृत्य, आवर्त्य, मुद्रिकां कृत्वा धारयेत्। सा सुवर्णचतुर्दशवर्णतुल्या भवति ॥ ७४ ॥

एतस्येत्यादि। सुबोधमेव ॥ ७४ ॥

पित्तल की भस्म के गुण और उसकी सेवन विधि—पित्तल की भस्म निम्बाष्टकचूर्ण के साथ तथा भिलावा, तिल, पलाशबीज, अजमोदा और चित्रक के साथ सेवन करने से क्रमिघ्न और श्वेतकुष्ठनाशक होती है। सुन्दर वर्ण वाले रीति (पित्तल) के चूर्ण को अन्न आदि के साथ बकरी को खिलाकर उसकी विष्ठा (मींगनियों) को ठीकरे पर लेप करके उस ठीकरे को जला दे तो रीति निकल आती है। उस रीति को एकत्र करके अंगूठी बनाकर धारण करे। वह अंगूठी चौदह टंची सुवर्ण के समान होती है ॥ ७४ ॥

अथोभयोः शोधनमारणम्—

पत्तलीकृतपत्त्राणि कांस्यरीत्योः प्रतापयेत्।
निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके ॥ ७५ ॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा।
एवं कांस्यस्य रीतेश्च विशुद्धिः संप्रजायते ॥ ७६ ॥

पत्तलीत्यादि। सुगमम् ॥ ७५-७६ ॥

कासे और पित्तल का शोधन—कासे तथा पित्तल के सूक्ष्म पत्रों को अग्नि में तपाकर तेल, तक्र, काजी, गोमूत्र और कुलथी के कषाय में तीन तीन बार बुझाने से कासी और पित्तल की शुद्धि हो जाती है ॥ ७५-७६ ॥

विशेषशोधनं यथा—

गोमूत्रेण पचेद्यामं कांस्यपत्त्राणि बुद्धिमान्।
दृढाग्निना विशुध्यन्ति पक्वान्यम्लद्रवेऽपि वा ॥ ७७ ॥
रीतिस्तप्ता तु निर्गुण्डीरसे श्यामारजोन्विते।
निषिक्ता शुद्धिमायाति पक्वा वाऽम्लद्रवेऽपि च ॥ ७८ ॥

गोमूत्रेणेत्यादि। श्यामारजोन्विते-त्रिवृच्चूर्णयुक्ते निर्गुण्डीरसे। शेषं सुस्पष्टम् ॥

कासे और पित्तल का विशेष शोधन—बुद्धिमान् कासे के पत्रों को तीक्ष्णाग्नि से गोमूत्र में एक प्रहर पकावे अथवा अम्लरस में पकावे तो कासा विशेष निर्मल हो जाता है। पित्तल अग्नि में तपाकर निशोथ के चूर्ण सहित निर्गुण्टी के रस में बुझाने से अथवा अम्लद्रव- में पकाने से शुद्ध हो जाता है ॥ ७७-७८ ॥

अथ मारणम्—

अर्कक्षीरेण संपिष्टो गन्धकस्तेन लेपयेत्।
समेन कांस्यपत्राणि शुद्धान्यम्लद्रवैर्मुहुः ॥ ७९ ॥
ततो मूषापुटे धृत्वा पुटेद्गजपुटेन च।
एवं पुटद्वयात्कांस्यं रीतिश्च म्रियते ध्रुवम् ॥ ८० ॥

अर्कक्षीरेणेत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ ७९-८० ॥

कासे और पित्तल का भस्म—आक के दूध में गन्धक को पीसकर शुद्ध कासे के पत्रों के बराबर उस गन्धक का उन पत्रों पर लेप कर मूषा में बन्द कर के गजपुट में फूक दे। इस प्रकार दो पुट देने से कासा और पित्तल दोनों की भस्म हो जाती है ॥ ७९-८० ॥

अन्यच्च—

कांस्यकं राजरीतिं च ताम्रवच्छोधयेद्भिषक्।
ताम्रवन्मारणं चापि तयोरुक्तं भिषग्वरैः ॥ ८१ ॥

कांस्यकमित्यादि। सुगमम्। रीतेः श्रेष्ठाश्रेष्ठलक्षणं यथा-'गुर्वी मृद्वी च पीताभा साराङ्गी ताडनक्षमा। सुस्निग्धा मसृणाङ्गी च रीतिरेतादृशी शुभा ॥ पाण्डुपीता खरा रूक्षा वर्वराऽताडनक्षमा। पूतिगन्धा तथा लघ्वी रीतिर्नेष्टा रसादिषु ॥' इति। कांस्यमपि-'तीक्ष्णशब्दं मृदु स्निग्धमीषच्छ्यामलशुभ्रकम्। निर्मलं दाहरक्तं च षोढा कांस्यं प्रशस्यते ॥ तत्पीतं दहने ताम्रं खरं रूक्षं घनासहम्। मन्दनादं गतज्योतिः सप्तधा कांस्यमुत्सृजेत् ॥' ॥ ८१ ॥

कासे और पित्तल का शोधन तथा मारण—कासे और पित्तल का शोधन एवं मारण तावे के समान करे ॥ ८१ ॥

वक्तव्य—पीतल और कासा किस प्रकार का उत्तम है और किस प्रकार का त्याज्य है। यह बात संस्कृत टीका में प्रतिपादित की गई है ॥ ८१ ॥

तथा भर्तसंज्ञं पञ्चलोहं पञ्चरसनामकमधिकोपधातुर्भवति। यथा—

कांस्यं रीतिस्तथा ताम्रं नागो वङ्गश्च पञ्चमः।
एकत्र द्रावितैरेतैः पञ्चलोहं प्रजायते ॥ ८२ ॥

कांस्यमित्यादि। सुस्पष्टम् ॥ ८२ ॥

भर्तसंज्ञक पंचलोह, पञ्चरस नामक उपधातु होती है। यह कासा, पित्तल, ताम्र, सीसा और रांगा इन को एकत्र पिघला कर बनाई जाती है ॥ ८२ ॥

नामानि—

पञ्चलोहं पञ्चरसं वर्तुलं भर्तमित्यपि।
व्यञ्जनं सूदमन्यच्च तद्भाण्डे साधितं शुभम् ॥ ८३ ॥

पञ्चलोहमित्यादि। सुबोधम् ॥ ८३ ॥

भर्त के नाम—पचलोह, पचरस, वर्तुल और भर्त ये हैं। भर्त के पात्र में दाल और व्यञ्जन (शाक आदि) पकाने से उत्तम होते हैं ॥ ८३ ॥

आदौ तैलादिके शोध्यं पश्चात्तप्त्वाऽजमूत्रके।
निषिक्तं शुद्धिमायाति पञ्चलोहं न संशयः ॥ ८४ ॥

आदावित्यादि। सुगमम् ॥ ८४ ॥

भर्त की शुद्धि—सर्वप्रथम तैल, तक्र आदि में शोधन करे पश्चात् अग्नि में तपाकर बकरी के मूत्र में सेचन करे तो भर्त शुद्ध हो जाता है ॥ ८४ ॥

अर्कक्षीरेण संपिष्टगन्धतालकलेपनात्।
पञ्चकुम्भिपुटैर्भर्तं म्रियते योगवाहकम् ॥ ८५ ॥

अर्कक्षीरेणेत्यादि। कुम्भिपुटैः—गजपुटैः, अन्यत्स्पष्टम्। इति भर्तमारणम् ॥ ८५ ॥

भर्त की मारण विधि—आक के दूध से गन्धक और तबकी हरताल को पीसकर भर्त पर लेप करे और पाच गजपुटकी अग्नि देवे तो भर्त की योगवाही भस्म हो जाती है ॥ ८५ ॥

घृतवर्जं बुधैः सर्वं पाच्यं कांस्यस्य पात्रके।
भोजनं तु प्रशस्तं स्याद्रीतिका मध्यमा स्मृता ॥ ८६ ॥

घृतवर्जमित्यादि। सुबोधम् ॥ ८६ ॥

कासी के पात्र का उपयोग—घी के बिना समस्त व्यंजनों का कासे के पात्र में पाचन करे। कासे के पात्र में भोजन करना सर्वथा उत्तम और पित्तल के पात्र में मध्यम होता है ॥ ८६ ॥

अथ सिन्दूरम्—

सिन्दूरं रक्तरेणुश्च नागगर्भं च सीसकम्।
सीसोपधातुः सिन्दूरं गुणैस्तत्सीसवन्मतम् ॥ ८७ ॥
संयोगजप्रभावेण तस्याप्यन्ये गुणाः स्मृता।
सिन्दूरमुष्णं वीसर्पकुष्ठकण्डुविषापहम् ॥ ८८ ॥
सन्धानं चापि भग्नस्य व्रणशोधनरोपणम्।

सिन्दूरमित्यादि। स्पष्टम् ॥ ८७–८८ ॥

सिन्दूर के नाम और गुण—सिन्दूर, रक्तरेणु, नागगर्भ और सीसक ये सिन्दूर के नाम हैं। सिन्दूर सीसे की उपधातु है और गुण भी सीसे के तुल्य हैं। सयोगज प्रभाव से सिन्दूर के अन्य भी गुण होते हैं। सिन्दूर उष्ण, वीसर्प, कुष्ठरोग, खुजली और विषनाशक तथा व्रणका शोधन, रोपण एव सधानकर्ता है ॥ ८७-८८ ॥

अथ शोधनं, तत्र शोधनयोग्यसिन्दूरलक्षणम्—

सुरङ्गोऽग्निसहः स्निग्धः सूक्ष्मः स्वच्छो गुरुर्मृदुः ॥ ८९ ॥
सुवर्णाकरजः शुद्धः सिन्दूरो मङ्गलप्रदः।
दुग्धाम्लयोगतस्तस्य विशुद्धिर्गदिता बुधैः ॥ ९० ॥

सुरङ्ग इत्यादि। सुवर्णाकरजः–सुवर्णखनिसमुद्भवः। अन्यत्स्पष्टम् ॥ ८९–९० ॥

शोधनयोग्य सिन्दूर और उसकी शुद्धि—सुन्दर रंगवाला, अग्नि में स्थिर रहने वाला, चिकना, सूक्ष्म, निर्मल, भारी, मृदु, सुवर्ण की खदान से उत्पन्न होनेवाला और शुद्ध सिन्दूर मङ्गलदायी होता है। रसशास्त्रज्ञों ने दूध और अम्लपदार्थों के योग से सिन्दूर की शुद्धि कही है ॥ ८९–९० ॥

मतान्तरम्—

सिन्दूरं निम्बुकद्रावैः पिष्ट्वा घर्मे विशोषयेत्।
ततस्तण्डुलतोयेन तथाभूतं विशुद्ध्यति ॥ ९१ ॥
सिन्दूरस्य प्रयोगो हि न दृष्टः कुत्रचित् पृथक्।
तस्मादुक्तस्थले योज्यमुपदेशो गुरोरिति ॥ ९२ ॥

सिन्दूरमित्यादि। सुगमम् ॥ ९१–९२ ॥

दूसरी विधि—सिन्दूर को निंबू के रस से पीसकर धूप में सुखावे, तत्पश्चात् चावलों के जल से पूर्वोक्त विधि से मर्दन कर सुखावे तो सिन्दूर शुद्ध हो जाता है। सिन्दूर का कहीं भी भिन्न प्रयोग होते नहीं देखा गया अत जहाँ और जिस प्रयोग में कहा हो वहीं इसका प्रयोग करना चाहिए ॥ ९१–९२ ॥

अथ शिलाजतोरुत्पत्तिनामलक्षणगुणशोधनानि—

शिलाजतु द्विधा प्रोक्तं तत्राद्यं गिरिसंभवम्।
द्वितीयं क्षारभूम्यां स्यान्मृत्तिकाजलयोगतः ॥ ९३ ॥

शिलाजत्वित्यादि। स्पष्टम् ॥ ९३ ॥

शिलाजीत की उत्पत्ति, नाम, लक्षण, गुण और शोधन—शिलाजीत दो प्रकार का होता है। पहला पहाड़ों से और दूसरा मिट्टी और जल के योग से क्षारभूमि में उत्पन्न होता है ॥ ९३ ॥

आद्यं यथा—

निदाघे धातुसंतप्ता धातुसारं धराधराः।
निर्यासवत्प्रमुञ्चन्ति तच्छिलाजतु कीर्तितम् ॥ ९४ ॥
सौवर्णं राजतं ताम्रमायसं च चतुर्विधम्।
शिलाजतु हि विज्ञेयं तत्तल्लक्षणलक्षितम् ॥ ९५ ॥
सौवर्णं तु जपापुष्पवर्णं भवति शैलजम्।
मधुरं कटु तिक्तं च शीतलं कटुपाकि च ॥ ९६ ॥
राजतं पाण्डुरं शीतं कटुकं स्वादुपाकि च।
ताम्रं मयूरकण्ठाभं तीक्ष्णमुष्णं च जायते ॥ ९७ ॥
लौहं जटायुपक्षाभं सतिक्तं लवणं भवेत्।
विपाके कटुकं शीतं सर्वश्रेष्ठमुदाहृतम् ॥ ९८ ॥

निदाघ इत्यादि। धराधराः—पर्वताः, शेषं स्पष्टम् ॥ ९४–९८ ॥

पर्वतों से उत्पन्न होनेवाला प्रथम शिलाजीत का परिचय—ग्रीष्मऋतु में धूप से संतप्त पर्वत निर्यास की भांति धातुसार को छोड़ते हैं, वही धातुसार शिलाजीत कहलाता है। सुवर्ण, चांदी, तांबा और लोह के भेद से शिलाजीत के चार प्रकार हैं। वह उन उन धातुओं के लक्षणोंवाला

होता है। सुवर्ण का शिलाजीत गुडहल के फूल के समान लाल रंग का मीठा, चरपरा, कडवा, शीतल और पाक में चरपरा होता है। चादी का श्वेत, शीतल, चरपरा और स्वादुपाकी, तावे का मयूर कठ के तुल्य रंगवाला, तीक्ष्ण और उष्ण तथा लोहे का शिलाजीत जटायु की पख के समान काला, कटवा, लवण रसवाला, विपाक में चरपरा, शीतल एवं उत्तम होता है ॥ ९४-९८ ॥

अन्यच्च—

गोमूत्रगन्धि यत्कृष्णं स्निग्धं मृदु तथा गुरु।
तिक्तं कषायं शीतं च सर्वश्रेष्ठं तदायसम् ॥ ९९ ॥

गोमूत्रेत्यादि। स्पष्टम् ॥ ९९ ॥

अन्य मत—गोमूत्र के तुल्य गन्धवाला, काला, चिकना, कोमल, भारी, कडवा, कसैला और शीतल शिलाजीत सर्वोत्तम एव लोहज होता है ॥ ९९ ॥

लक्षणान्तरम्—

तत्तु गुग्गुलुसंकाशं तिक्तं च लवणान्वितम्।
विपाके कटु शीतं च सर्वश्रेष्ठं तदायसम् ॥ १०० ॥
वातपित्ते तु सौवर्णं श्लेष्मपित्ते तु राजतम्।
ताम्रजं कफरोगेषु लोहजं तत्रिदोषनुत् ॥ १०१ ॥
विन्ध्याद्रौ बहुलं तेषु तत्र लौहं ततोऽधिकम्।
तच्छोधनमृते व्यर्थमनेकमलमेलनात् ॥ १०२ ॥

तदित्यादि। सुस्पष्टम् ॥ १००-१०२ ॥

शिलाजीत के अन्य लक्षण—जो शिलाजीत गूगल के तुल्य रंगवाला, कडवा, लवण रसवाला, विपाक में चरपरा तथा शीतल हो वह लौहज और उत्तम होता है। सुवर्ण धातु का शिलाजीत वातपित्त रोग में, चादी का कफपित्त में, तावे का कफज रोगों में और लोहज त्रिदोष में उत्तम होता है। विंध्याचल में लौह बहुत अधिक होता है अत उन चार प्रकार के शिलाजीत में लोहज शिलाजीत ही वहाँ अधिक होता है। उसमें अनेक प्रकार का मल होने के कारण वह शुद्धि के विना व्यर्थ एव उपयोगी नहीं होता ॥ १००-१०० ॥

विशेषगुणाः—

शिलाह्वं कटु तिक्तोष्णं कटुपाकं रसायनम्।
छेदि योगावहं हन्ति कफमेहाश्मशर्कराः ॥ १०३ ॥
मूत्रकृच्छ्रं क्षयं श्वासं वातास्रार्शांसि पाण्डुताम्।
अपस्मारं तथोन्मादं शोथकुष्ठोदरक्रिमीन् ॥ १०४ ॥

शिलाह्वमित्यादि। सुगमम् ॥ १०३-१०४ ॥

शिलाजीत के विशेष गुण—शिलाजीत चरपरा, कडवा, उष्ण, कटुपाकी, रसायन, छेदी और योगवाही होता है तथा कफप्रमेह, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, क्षय, श्वास, वातरक्त, बवासीर, पाण्डुरोग, अपस्मार, उन्माद, शोथ, कुष्ठ, उदर रोग और कृमिरोग को नष्ट करता है १०३-१०४ ॥

अथाशुद्धशिलाजीतगुणाः—

अशुद्धं दाहमूर्च्छायभ्रमपित्तास्रशोषकृत् ।
शिलाजतु विधत्ते हि मान्द्यमग्नेश्च विड्ग्रहम् ॥ १०५ ॥

अशुद्धमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १०५ ॥

अशुद्ध शिलाजीत के गुण—अशुद्ध शिलाजीत दाह, मूर्च्छा, भ्रम, रक्तपित्त, शोष, मन्दाग्नि और विड्वद्धता करता है ॥ १०५ ॥

अथ शोधनम्—

शिलाजतु समानीय लोहजं लक्षणान्वितम् ।
वह्निर्मलमपाकर्तुं क्षालयेत्केवलाम्बुना ॥ १०६ ॥

शिलाजत्वित्यादि । सुबोधम् ॥ १०६ ॥

शिलाजीत की शुद्धि—लोहज लक्षणोंवाले शिलाजीत को लेकर बाहर के मल को दूर करने के लिए केवल जल से ही धोवे ॥ १०६ ॥

अथ तस्यान्तर्मलविनाशोपायमाह हारीतः—

लोहस्थितं निम्बगुडूचिकेन्द्रयवैर्यथावत्परिभावयेत्तत् ।
संतानिकाकीटपतङ्गदंशदुष्टौषधीदोषनिवारणाय ॥ १०७ ॥

सन्तानिका-अन्तःसमिश्रिता दुष्टमृत्तिका ।

लोहस्थितमित्यादि । लोहपात्रस्थितं तच्छिलाजतु निम्ब-गुडूचिका-इन्द्रयवैश्च क्वाथै-र्यथावत्परिभावयेत् । किमर्थमित्यत आह-सन्तानिकाकीटपतङ्गदंशदुष्टौषधीदोषपरिहारायेति स्पष्टम् ॥ १०७ ॥

शिलाजीत की अन्तर्मलविशोधनविधि-शिलाजीत को लोहे के पात्र में रखकर निम्ब, गिलोय और इन्द्रजव के कषाय से सतानिका (शिलाजीत में मिली हुई दुष्ट मृत्तिका) तथा कीडे और पतङ्ग के दंश से दूषित, औषधि के समिश्रित दोष को नष्ट करने के लिए यथाविधि भावना देवे ॥

अत्र भावनार्थं क्वाथकल्पनामाह वाग्भट —

तुल्यं गिरिजेन जले वसुगुणिते भावनौषधं क्वाथ्यम् ।
तत्क्वाथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम् ॥ १०८ ॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः ।
स्त्रैः स्वैरेवं क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत्सप्त ॥ १०९ ॥

तुल्यमित्यादि । गिरिजेन-शिलाजतुना तुल्य भावनौषध-निम्बगुडूचिकेन्द्रयवादिक वसुगुणिते-अष्टगुणे क्वचित् 'चतुर्गुणे' इति पाठान्तरम् । जले क्वाथ्य तच्छिलाजतु समरसताम्-आलोडनेनैकीभूय तुल्यरसतां यातं संशुष्कसद् भूयो रसे प्रक्षिपेत् । शेष स्पष्टम् ॥ १०८-१०९ ॥

शिलाजीत की भावना के लिए क्वाथ की कल्पना को कहते हैं-शिलाजीत के बराबर निंब और गिलोय आदि भावनौषध अठगुने पानी में डालकर औटावे, चतुर्थांश रहने पर वस्त्र से छानकर उष्ण क्वाथ में ही डाले और उसको फिर रस में मिलावे । इस प्रकार उन-उन क्वाथों से सात बार भावना देवे ॥ १०८-१०९ ॥

अथैवं भावनां दत्त्वा, संशोष्य, केवलेन जलेन शोधनं कर्तव्यम्। तत्प्रकारमाहाग्निवेशः—

उष्णेऽथ काले रवितापयुक्ते व्यभ्रे निवाते समभूमिभागे।
चत्वारि पात्राण्यसितायसानि न्यस्यातपे तत्र कृतावधानः॥ ११०॥
शिलाजतु श्रेष्ठमवाप्य पात्रे प्रक्षिप्य तस्माद् द्विगुणं च तोयम्।
उष्णं तदर्धं क्वथितं च दत्त्वा विलोडयेत्तन्मृदितं यथावत्॥ १११॥
सुवस्त्रपूतं प्रविधाय तत्तु संस्थापनीयं पुनरेव तत्र।
ततस्तु यत्कृष्णमुपैति चोर्ध्वं संतानिकावद्रविरश्मितप्तम्॥ ११२॥
पात्रे तदन्यत्र ततो विदध्यात्तस्यान्तरे कोष्णजलं निधाय।
ततश्च तस्मादपरत्र पात्रे तस्माच्च पात्रादपरत्र भूयः॥ ११३॥
पुनस्ततोऽन्यत्र निधाय कृष्णं यत्संहतं तत्पुनराहरेच्च।
यदा विशुद्धं जलमच्छमूर्ध्वं प्रसन्नभावान्मलमेत्यधस्तात्॥ ११४॥
तदा त्यजेत्तत्सलिलं मलं च शिलाजतु स्याज्जलशुद्धमेवम्।
चतुर्थपात्राद् गलितं हि सर्वं परीक्षणं तस्य वदामि भूयः॥ ११५॥

उष्ण इत्यादि। उष्णे काले ग्रीष्मर्त्तौ किं वा मध्याह्ने रवितापयुक्ते व्यभ्रे-घनरहितदिने निवातस्थाने समतलभूभागे असितायसानि—कृष्णलोहपात्राणि चत्वारि आतपे न्यस्य तत्र कृतावधानो वैद्यः श्रेष्ठं-गोमूत्रगन्धि भारवत्तरं शिलाजतु अवाप्य तस्माद् द्विगुणं जलं तदर्धं निम्बादीनामुष्णं क्वथितं च पात्रे दत्त्वा मृदितं तद्यथावद्विलोडयेत्। सुवस्त्रगालितं प्रविधाय तत्पुनरेव तत्रायसपात्रे स्थापनीयम्। ततः सूर्यकिरणैः सन्तप्तं सन्तानिकावद्यदा कृष्णवर्णं जलमुपरि भवति तावदेव तत्कृष्णं जलं द्वितीयपात्रे विदध्यात्। प्रथमपात्रेऽधःस्थितं शिलाजतु मिश्रितजलं गृहीत्वापरत्र पात्रे स्थापयेत्तस्यान्तरे कोष्णं जलं निधायालोडयेत्पुनरुपरि आगतं कृष्णं जलं तस्मिन् द्वितीयपात्रे गृहीत्वा, पुनस्तृतीयचतुर्थपात्रयोरेवमेव कुर्यात्। एवं त्रिवारं चतुर्वारं वा यत्कृष्णं जलं भवेत्तत्सर्वं समाहरेत्। शेषं स्पष्टम्। विशेषः—रसपद्धत्यां यथा—'दुग्धेन त्रिफलाजलेन सुरभीमूत्रेण तप्तेन तद्धौतं शुध्यति वाऽऽयसे पुरजलैर्द्वित्रिवर्णैः पाचितम्।' इति॥ ११०-११५॥

केवल जल से शिलाजीत की शुद्धि—उष्ण समय में (मध्याह्न अथवा ग्रीष्म ऋतु में) आकाश बादलों से रहित हो, निवातस्थान (जिस स्थान में हवा बिलकुल नहीं हो) और समभूमिभाग (पृथिवी ऊँची नीची न हो किन्तु समतल हो) हो वहाँ पर काले लोहे के चार पात्र रखे। फिर सावधानतापूर्वक वैद्य गोमूत्र गन्धवाला, वजनदार, उत्तम शिलाजीत, उससे दुगुना जल, जल से आधा निंब और गिलोय आदि का उष्ण कषाय डालकर हाथ से मसले और यथावत् आलोडन करके भली भाँति मोटे वस्त्र से छानकर फिर उसी प्रथम पात्र में भर दे और धूप में रख दे। जब उस जल पर काली-काली मलाई सरीखी सूर्यकिरणों से तप्त होने से जम जावे उसे धीरे-धीरे उतार कर दूसरे एक पात्र में रख दे और अवशिष्ट उस शिलाजीतमिश्रित जल को दूसरे पात्र में भर दे और उसमें उष्ण जल डाल दे पुनरपि जब उस पर काली मलाई की भाँति आ जावे उसे भी उसी पात्र में निकाल ले जिसमें कि पहला निकाला था, फिर तीसरे पात्र में अवशिष्ट

१ क्वथितमिति निम्बादीनामिति शेषः।

शिलाजीतमिश्रित जल को भर दे और उसमें उष्ण जल डालकर रख दे, ऊपर जल के जमे हुए कृष्ण द्रव्य को निकाल ले। इसी भाँति तीन तथा चार बार करने पर जब समस्त कृष्ण द्रव्य निकल आवे और मल सब नीचे बैठकर ऊपर स्वच्छ जल मात्र रह जावे तब उस पात्र के जल और मल दोनों को फेंक दे। यह जल शुद्ध शिलाजीत है। जब चौथे पात्र तक से छानकर लिया हुआ शिलाजीत तयार हो जाता है तो शास्त्रकार फिर उसकी परीक्षा को बताते हैं ॥ ११०-११५ ॥

यथा—

वह्नौ क्षिप्तं तु निर्धूमं पक्वं लिङ्गोपमं भवेत्।
तृणाग्रेणाम्भसि क्षिप्तमधो गलति तन्तुवत् ॥ ११६ ॥
गोमूत्रगन्धि कृष्णं तु शुद्धं ज्ञेयं शिलाजतु।
एवं शुद्धस्य गुणाः प्रागुक्ताः ॥ ११७ ॥

वह्नाविस्यादि। सुगमम्। तन्त्रान्तरे तत्परीक्षा तथा—'क्षिप्तमग्नौ न दह्येत लिङ्गाकारमथापि च। जले जटिलतां याति श्रेष्ठमेतच्छिलाजतु ॥' इति ॥ ११६-११७ ॥

उत्तम-शिलाजीत की परीक्षा—अग्नि में डालने पर धुआँ न निकले, पकने पर लिङ्ग के आकार का हो जावे किन्तु जले नहीं, तृण के अग्रभाग से लेकर पानी में डालने से तन्तु की भाँति नीचे को जावे, गोमूत्र के समान गन्ध आवे और काले रंग का हो वह शिलाजीत शुद्ध एवं उत्तम होता है। इस प्रकार से शुद्ध किए हुए शिलाजीत के गुणों को प्रथम कह दिया है।

वक्तव्य—स्वच्छ और श्वेत काच के पात्र में जल भर कर पात्र को स्थिर रख देना और उसमें एक सलाई पर लगाकर थोड़ा शिलाजीत जल में छोड़ देना। जल में छोड़ा हुआ शिलाजीत धुएँ जैसा नीचे की ओर जाकर जल में सब घुल जाता है तो समझना चाहिए कि शिलाजीत शुद्ध और मिट्टी रहित है। यदि शिलाजीत के कतरे कफ के समान जल में नीचे की ओर जाने लगें और सब न घुल कर अवशिष्ट रह जावें तो समझना चाहिए कि मिट्टी का विकार है जो कुछ अंश में शेष है।

आज कल संसार में सभी द्रव्य कृत्रिम और अपद्रव्य के रूप में बेचे जाते हैं और उनसे भलाई या लाभ तो संभव ही नहीं है किन्तु हानि अपरिमित होती है। यही हाल शिलाजीत का है 'बाँझ' वृक्ष के गोन्द से कृत्रिम शिलाजीत बनाया जाता है और वह उपर्युक्त परीक्षा में खरा उतरता है। उसमें गोमूत्र की भावना देकर गोमूत्रगन्धी भी बना देते हैं किन्तु एक बात अवश्य है कि उसके स्वाभाविक स्वाद और गन्ध को कृत्रिम शिलाजीत पा नहीं सकता है, जिस व्यक्ति ने एक बार शिलाजीत को चख लिया है वह उसके स्वाद और गन्ध को भूल नहीं सकता है अतः जानकार ही इसमें भली बस्तु को प्राप्त कर सकता है। 'बाँझ' वृक्षों से इतना अधिक मद चूता है जिसकी कोई तादाद नहीं, ये वृक्ष बद्रीनारायण की तरफ में बहु संख्या में होते हैं।

भारतीय रसशास्त्र में देशाई जी लिखते हैं कि—शिलाजीत जल में पूर्णतः घुल जाता है। चरबी और ग्लिसराइन में भी मिल जाता है। यह पूतिहर है और सब रोगोत्पादक जन्तुओं को मारता है। यह शरीर के जिस भाग पर लगाया जाता है वहाँ सड़ानाश करता है। यह छोटी धमनियों को संकुचित करता है। शरीर के किसी भी अवयव के द्रवांश का शिलाजीत शोषण करता है, इससे खुजली कम होती है, जिन रोगों में धमनियों का विकास होता है उनमें इसके सेवन से अच्छा लाभ होता है। जैसे—पुराना आमवात, कुक्ष्युदर, फिरङ्गोपदंश, कूकरखाँसी,

हरितपाण्डु, गण्डमाला, क्षय, वातरक्त, अन्त्र और गामाशयिक अभिष्यन्द, मुत्राक और वस्ति-शोथ में यह दिया जाता है। गर्भाशय की विकृति में इसका उपयोग होता है। इत्यादि॥

अथ नामानि—

शिलाजत्वद्रिजतु च शैलनिर्यास इत्यपि।
गैरेयमश्मजं चापि गिरिजं शैलधातुजम्॥ ११८॥

शिलाजत्वित्यादि। सुबोधम्॥ ११८॥

शिलाजीत के नाम—शिलाजतु, अद्रिजतु, शैलनिर्यास, गैरेय, अश्मज, गिरिज और शैलधातुज ये शिलाजीत के नाम हैं॥ ११८॥

अथ शीघ्रकार्यवशात्संक्षिप्तशोधनं यथा—

गोदुग्धत्रिफलाभृङ्गद्रवैः पिष्टं शिलाजतु।
दिनैकं लोहजे पात्रे शुद्धिमायात्यसंशयम्॥ ११९॥

गोदुग्धेत्यादि। स्पष्टम्॥ ११९॥

शिलाजीत की संक्षिप्त शुद्धि—गाय का दूध, त्रिफले का कषाय और भागरे का रस इनसे शिलाजीत को लोहपात्र में एक दिन पीसने से शुद्ध हो जाता है॥ ११९॥

अथैवं शुद्धस्य गुणोत्कर्षाय भावना प्रोक्ता—

त्रिफलावारिगोदुग्धमूत्रैर्भाव्यं शिलाजतु।
स्वल्पं स्वल्पं विधानेन स्थापयेत्काचपात्रके॥ १२०॥
अगुर्वादिशुभैर्धूपैर्धूपयेत्तत्प्रयत्नतः।
मात्रया शीलयेत्पश्चात्स्निग्धशुद्धो यथाविधि॥ १२१॥
एकत्रिसप्तसप्ताहं कर्षमर्धपलं पलम्।
हीनमध्योत्तमो योगः शिलाजस्य क्रमान्मतः॥ १२२॥
क्षीरेणालोडितं कुर्याच्छीघ्रं रासायनं फलम्।
हन्याद्रोगानशेषांश्च जीर्णे हितमिताशनः॥ १२३॥

त्रिफलेत्यादि। त्रिफलाजलेन, गोदुग्धेन, गोमूत्रेण च स्वल्पं स्वल्पं शिलाजतु विधानेन भाव्यं काचपात्रे स्थापयेत्। अगुर्वादिशुभैर्धूपैर्धूपयेत्सम्यक्, पश्चात् यथाविधि स्नेहैर्वमन-विरेचनादिभिश्च स्निग्धशुद्धः पुरुषस्तच्छिलाजतु मात्रया एकत्रिसप्तसप्ताह-एकसप्ताहं, त्रिसप्ताह, सप्तसप्ताह च शीलयेत्। तस्य कर्षं, द्विकर्षं, चतुःकर्षं च क्रमाद्धीनमध्योत्तमो योगो मतः॥ क्षीरेणालोडितं-दुग्धविमिश्रित शिलाजतु सेवनेन शीघ्र रासायन फलं कुर्यादशेषाश्च रोगान् हन्यात्, जीर्णे सति हितमिताशनो भवेत्॥ १२०-१२३॥

भली भांति शुद्ध किये हुए शिलाजीत में अतिशय गुणाधानार्थ भावना—त्रिफले का कषाय, गाय का दूध और गोमूत्र इनमें विधानपूर्वक थोडे थोडे शिलाजीत को भावित कर काच की चौड़े मुख की शीशी में भर कर अगर आदि शुभ धूपों से धूपित करे, फिर स्नेहन और वमन-विरेचनादि शोधन विधि से यथावत् स्निग्ध और शुद्ध शरीर होकर मात्रा से शिलाजीत का शीलन करे। एक तोले की मात्रा एक सप्ताह, दो तोले की मात्रा तीन सप्ताह और चार तोले की मात्रा सात सप्ताह तक सेवन की जा सकती है। यह शिलाजीत का प्रयोग क्रमश हीन, मध्य

और उत्तम कहलाता है। दूध में मिलाकर शिलाजीत सेवन करने से रसायनफलकारक एव सपूर्ण रोगनाशक होता है। शिलाजीत के जीर्ण होने पर हितकारी और स्वल्प भोजन करे॥

व्यायामातपमारुतचेतःसंतापगुरुविदाह्यादि।
उपयोगादपि परतो द्विगुणं परिवर्जयेत्कालम्॥ १२६॥
कुलत्थान् काकमाची च कपोतांश्च सदा त्यजेत्।
माहेन्द्रमुदकं कौपं पिवेत्प्रस्रवणाम्बु वा॥ १२७॥

व्यायामेत्यादि। अस्य शिलाजतुन उजयोगात् परतोऽपि द्विगुणं कालं व्यायामातपादिक परिवर्जयेत्। शेषं स्पष्टमेव॥ १२६-१२७॥

शिलाजीत के प्रयोग में पथ्य—जितने दिनतक शिलाजीत का प्रयोग किया जावे उससे दुगने दिनोंतक व्यायाम (कसरत) धूप, अतिशय हवा, चित्तसताप, गुरु और विदाही (कठ में दाह करनेवाले पदार्थ) आदि को वर्जित कर दे। कुलथी, मकोय और कबूतर के मास को सदा के लिए त्याग दे। आकाश का अथवा झरने का जल पीवे॥ १२६-१२७॥

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपो जत्वश्मजं यं न जयेत्प्रसह्य।
तत्कालयोगैर्विधिवत्प्रयुक्तं स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां दधाति॥१२८॥

न सोऽस्तीत्यादि। सुगमम्॥ १२८॥

शिलाजीत की महत्ता—जगत में ऐसा साध्यस्वरूप कोई रोग नहीं जो कि शिलाजीत से जीता न जा सकता हो। यह शिलाजीत देश और काल आदि के योगानुसार विधिपूर्वकप्रयोग करने से स्वस्थ पुरुष के बलको अतिशय बढाता है॥ १२८॥

सर्वानुपानैः सर्वेषु रोगेषु विनियोजितम्।
जयत्यभ्यासतो नूनं तांस्तान् रोगान् न संशयः॥ १२९॥
रसोपरससूतेन्द्ररत्नलोहेषु ये गुणाः।
विशन्ति ते शिलाधातौ जरामृत्युजिगीषया॥ १३०॥

सर्वानुपानैरित्यादि। सुवोधमेव॥ १२९-१३०॥

शिलाजीत के गुण—सपूण रोगों में रोगानुसार समस्त अनुपानों द्वारा प्रयुक्त शिलाजीत के नित्य अभ्यास से सेवन करने पर उन सम्पूर्ण रोगों को निश्चय ही दूर करता है जिन जिन के अनुपान से सेवन किया गया हो। रस, उपरस, पारा, रत्न और लोह इन में जो गुण कहे हैं वे सपूर्ण मनुष्यों की जरा और मृत्यु को जीतने के लिए शिलाजीत में प्रविष्ट हो गये हैं॥ १२९-१३०॥

अस्य भस्मप्रकारो रसपद्धत्याम्—

शिलया गन्धतालाभ्यां मातुलुङ्गरसेन च।
पुटितं हि शिलाधातु म्रियतेऽष्टगिरिण्डकैः॥ १३१॥

शिलयेत्यादि। सुस्पष्टम्॥ १३१॥

शिलाजीत की भस्म विधि—मैनसिल, गन्धक, हरताल और जभीरी निंबू का रस इनका पुट देकर आठ वनगोवरियों की अग्नि देने से शिलाजात भस्म हो जाता है॥ १३१॥

सत्वप्रकारस्तु—

पिष्टं द्रावणवर्गेण साम्लेन गिरिसंभवम्।

रुद्ध्वा मूषोदरे ध्मातं कोकिलैः सत्त्वमृच्छति ॥ १३२ ॥

पिष्टमित्यादि। गिरिसंभवं-शिलाजतु द्रावणवर्गेण अम्लवर्गसहितेन पिष्टं सत्। द्रावणवर्गो रसेन्द्रचूडामणौ यथा-'गुडगुग्गुलुगुञ्जाज्यसारघैष्टङ्कणान्वितैः। दुर्द्रावाखिललोहादेर्द्रावणेऽयं गणो मतः॥' इति। कोकिलैः-पावकोच्छिष्टाङ्गारैः, शेषं स्पष्टम् ॥१३२॥

शिलाजीत की सत्त्वपातन विधि—अम्लवर्गसहित द्रावण वर्ग से शिलाजीत को पीसकर मूषा में बन्द कर के कोयलों की अग्नि में धमन करे तो उसका सत्त्व-पातन हो जाता है ॥ १३२ ॥

अथ द्वितीयं शिलाजतु रसपद्धत्याम्—

द्वितीयं सोरकाख्यं स्याच्छ्वेतवर्णं शिलाजतु।
अग्निबाणोपयुक्तं तद्धितं मूत्रामयेषु च ॥ १३३ ॥

द्वितीयमित्यादि। स्पष्टम्। रसपद्धत्यामेवं पठ्यते-'वह्न्युत्तेजनमुज्ज्वलं यदपरं मूत्रामयिभ्यो हितम्।' इति। वह्न्युत्तेजनमिति यदपरं श्वेतशिलाजतु तद्वह्न्युत्तेजकं वह्निप्रदीपकम्, अत्र जठराग्निर्न ग्राह्यः, किन्तु अग्निशस्त्राणि, तत्रत्याग्नेः प्रदीपकः 'सोरा' इति लोके प्रसिद्धः, अग्निबाणेषु (अग्न्यस्त्रेषु दारू-बारूद Gunpowder इति प्रसिद्धार्थनिर्माणार्थं) प्रयुज्यते' इति रसपद्धतिटीकायां महादेवः ॥ १३३ ॥

दूसरा शिलाजीत—श्वेत वर्ण का दूसरा शिलाजीत सोरा (कल्मी सोरा) नाम से प्रसिद्ध है। वह अग्निबाण (अग्न्यस्त्र) आदि में उपयुक्त है तथा मूत्र रोगों में काम आता है ॥ १३३ ॥

उक्तं च—

पाण्डुरं सिकताकारं कर्पूराभं शिलाजतु।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलापाण्डुनाशनम् ॥ १३४ ॥

पाण्डुरमित्यादि। स्पष्टम् ॥ १३४ ॥

सोरकशिलाजीत—श्वेत, बालू के आकार का, कपूर के तुल्य उज्ज्वल होता है। यह मूत्रकृच्छ्र, पथरी, प्रमेह, कामला और पाण्डुनाशक है ॥ १३४ ॥

एलातोयेन संभिन्नं सिद्धं शुद्धिमुपैति तत्।
नैतस्य मारणं सत्त्वपातनं विहितं बुधैः ॥ १३५ ॥
उत्पत्तिस्तु मृत्तिकाविशेषाज्जलविशेषाज्जायते।
इत्युपधातुनिरूपणम्।

एलातोयेनेत्यादि। स्पष्टम् ॥ १३५ ॥

सोरा की शुद्धि—इलायची के कषाय से पीसने पर सोरा शुद्ध हो जाता है। विद्वानों ने सोरे का मारण और सत्त्वपातन नहीं कहा है। सोरे की उत्पत्ति मिट्टी और जल से होती है ॥

अथ चपलाख्य उपधातुरधिकोऽस्ति। तद्यथा रसपद्धत्याम्—

चत्वारश्चपलाः सितोसित हरिच्छोणप्रभेदैः पुनं
मोघौ[१] शोणितशोणकज्जलनिभौलाक्षावदाशुद्रवात्।
शेषौ तु द्रवतश्चिरेण सुभगौ तौ शुध्यतः सप्तधा

---

१. मोघौ निष्फलौ, शेषौ हरितसितौ, सुभगौ गुरुतरौ प्राथम्यात्प्रथमतरस्तु रसबन्धका शेषं स्पष्टम्। इति ग्रन्थकार।

कर्कोट्यार्द्रकजम्भलस्य सलिले संस्वेदितौ वा प्लुतौ ॥ १३६ ॥
प्राथम्याद्रसबन्धकौ तदुपरि स्यातां तु योगानुगौ।
वृष्यौ दोषहरौ बुधैर्निगदितौ माक्षीकभूम्युद्भवौ ॥ १३७ ॥

चत्वार इत्यादि। सितः—श्वेतः, असितः—कृष्ण., हरित. शोणः—रक्तवर्णक एतैः प्रभेदैश्चत्वारश्चपला भवन्ति। तेषु शोणितशोणकज्जलनिभौ—रक्तवद्रक्तवर्णकज्जलवर्णकौ च द्वौ लाक्षावदाशुद्रवान्मोघौ—निष्फलौ भवतः। शेषौ—हरितश्वेतौ तु चिरेण द्रवतः अत एव सुभगौ गुणवत्तरौ, अनयोश्चिरेण द्रवता अत सुवर्णप्रभत्वं रूप्यप्रभत्वं च भवति। तौ कर्कोटी–आर्द्रक–जम्भलानां च सलिले संस्वेदितौ प्लुतौ वा सप्तधा शुध्यतः। प्राथम्याद्रसबन्धकौ भवत.। तदुपरि पश्चाद्योगवाहिनौ स्याताम्। अन्यत्स्पष्टम् ॥ १३६–१३७ ॥

चपल नामक एक अधिक उपधातु है। चपल श्वेत, कृष्ण, हरा और लाल इन भेदों से चार प्रकार का है। लाख की भांति जल्दी पिघल जाने वाला लाल और काले वर्ण का चपल निष्फल होता है। शेष दो हरा और श्वेत रंगका चिरकाल से पिघलने वाला चपल अतिशय गुणवान् और उत्तम होता है। ये दोनों बांझककोडा, अदरक और निम्बू के रस में स्वेदन अथवा भावित करने से शुद्ध हो जाते हैं। प्रथम रसबन्धक और पश्चात् योगवाही होता है। यह शुक्रवर्धक, त्रिदोषनाशक और माक्षिक की भूमि में उत्पन्न होने वाला माना गया है ॥ १३६–१३७ ॥

अन्यत्रापि—

चतुर्धा चपलः प्रोक्तः श्वेत कृष्णोऽरुणो हरित्।
वङ्गवत्प्लवते वह्नौ चपलस्तेन कीर्तितः ॥ १३८ ॥

चतुर्धेत्यादि। स्पष्टम् ॥ १३८ ॥

चपल के भेद—चपल श्वेत, कृष्ण, लाल और हरा इन भेदों से चार प्रकार का है। अग्नि में डालने से वङ्ग की भांति उछलता है इसलिए यह चपल कहलाता है ॥ १३७ ॥

गुणाः—

चपल स्फटिकच्छायः षडस्रः स्निग्धको गुरु.।
त्रिदोषघ्नोऽतिवृष्यश्च रसबन्धविधायक. ॥ १३९ ॥
अयं तूपरसे कैश्चित्पठितोऽन्यै रसेषु च।
विषोपविषधान्याम्लैर्मर्दितश्चपलस्ततः ॥ १४० ॥
अन्धमूषागतो ध्मातः सत्त्वं मुञ्चति कार्यकृत्।
इति चपल. ॥

इति श्रीसौराष्ट्रदेशोद्भवसारस्वतकुलावतंसोपाध्यायश्रीमाधवविरचित
आयुर्वेदप्रकाशे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

आयुर्वेदप्रकाशस्य श्रीकेदारसुतेन च।
व्याख्यातो गुलराजेन ह्यध्यायोऽयं चतुर्थकः ॥

चपल इत्यादि। सुबोधमेव ॥ १३९–१४० ॥

चपल के गुण—चपल स्फटिकमणि के समान कान्तिवाला, छ कोना, चिकना, भारी, त्रिदोषनाशक, अतिशय वीर्यवर्धक और पारे का बाँधने वाला होता है। इसको कुछ आचार्यों ने उपरसों में तो कुछ ने रसों में पढा है। विष, उपविष और काँजी से मर्दन करके अन्धमूषा में रखकर धमन करने से इसमें से कार्यकारी सत्त्व निकलता है।

वक्तव्य—प्राचीन रसाचार्यों ने चपल के विषय में जो कुछ लिखा है उससे इतना तो स्पष्ट है कि उनको इस पदार्थ का ज्ञान और उपयोग भली भाँति अवगत था किन्तु आज स्थिति में अन्तर आ गया है और उसके ज्ञान के विषय में मतभेद उत्पन्न हो गया है। इतना ही नहीं, वैद्यों के व्यवहार से चपल लुप्त भी हो गया है। भारतीय रसशास्त्र के लेखक डॉ० देसाई ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि चपल वस्तुतः आधुनिक समय का विस्मथ ही है। विस्मथ रागे के समान रग की एक धातु होती हैं जो अल्पमात्रा में कुछ खानों में से मिलती है। इसका रंग श्वेत किन्तु यत्किंचित् गुलाबी भी होता है। गन्धक, ऐंटीमनी और स्वर्णमाक्षिक इत्यादि द्रव्यों का कुछ सयोग होने से उसके रग में ललाई, पीलापन, और कालिमा का होना समवनीय है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ९ होता है जो कि लोहे से भी भारी है। इसको इमामदस्ता में रखकर कूटा जाता है तो यह चूर्ण हो जाता है।

रसरत्नसमुच्चय की टीका में श्री कुलकर्णी जी ने भी श्री देसाई के मत का अनुमोदन किया है। स्वर्गीय यादवजी त्रिकमजी आचार्यजी ने भी अपने रसामृत में चपल को 'विस्मथ' मानना ठीक है इसका समर्थन किया है।

प्राचीनों के चपल में और विस्मथ में प्रायश साम्य है। स्वल्प मात्रा में अग्निताप मिलने पर पिघल जाना अथवा द्रव के समान होना यह विस्मथ ओर उसके खनिजों का मुख्य धर्म है और यही बात चपल में है। चपल को अन्य धातुओं के साथ मिलाकर जब उन धातुओं को तपाया जाता है तो वे तत्काल द्रवित हो जाती हैं। विस्मथ में भी उतना ही प्रभाव मिलता है। चपल के इस प्रभाव से ही रसाचार्य अधिक प्रभावित थे और उनको इसके इस महत्त्व का पूर्ण ज्ञान था और इसीलिए धातुशास्त्र में इसको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

प्राचीन ग्रन्थों में चपल को धातु द्रव्यों के द्रावणार्थ ग्रहण किया गया है यह पूर्ण सकेत मिलता है और सभवत इसी लिए उसके गुणप्रधान को ध्यान में रखते हुए रसशास्त्र में मुख्य माना है। वग, चपल (विस्मथ) और नाग ये तीनों क्रमश २३२, २६८ और ३२५ शतांश तापमान पर द्रवित होते हैं। उसका षडस्र होना और गन्ध मिश्रित इसके खनिज का सुवर्णमाक्षिक के साथ एक स्थान में उत्पन्न होना, इन पर से चपल और 'विस्मथ' में साम्य है जिनका प्राचीनों ने उल्लेख किया है। स्व० डॉ० देसाई का मत है कि जो विस्मथ धातु खनिज के रूप में प्रकृति में उपलब्ध होता है वही आयुर्वेदीय रसशास्त्र का श्वेत चपल है। गौरवर्ण का चपल सभवत' विस्मथ धातु का आक्साइड होता होगा जिसको अंग्रेजी में विस्मथ ओकर भी कहते हैं। सम्प्रति आधुनिक चिकित्सा जगत में विस्मथ का सफलता और आदर से प्रयोग होता है। आयुर्वेद वाले इसको बहुत ही पहले से जानते आये हैं उनको भी इसका अपनी विधि से शुद्ध करके प्रयोग करना चाहिए। चपल (विस्मथ) को आमाशय के समस्त रोग जैसे—अर्बुद, व्रण, कुपचन, वमन और अतिसार आदि में दिया जा सकता है॥ १३९–१४०॥

इत्यायुर्वेदप्रकाशेऽर्थविद्योतिन्यां संक्षिप्तार्थहिन्दीटीकायां चोपधातुकश्चतुर्थोऽध्याय. ॥ ४ ॥



पञ्चमोऽध्यायः

चतुर्थाध्याये सविस्तरं सुवर्णमाक्षिकाद्युपधात्वादिकमखिलेनाभिधाय संप्रति ग्रन्थकारः क्रमपरिप्राप्तत्वाद्रसकर्मण्युपयोगित्वाच्च रत्नोपरत्नानामध्यायोपक्रममनतिसंक्षेपविस्तरं विदधाति।

अथ रत्नोपरत्नानामुत्पत्तिनामलक्षणगुणशोधनमारणानि। उक्तं च—

मणयोऽपि च विज्ञेयाः सूतबन्धस्य कारकाः।
देहस्य धारका नृणां जराव्याधिविनाशकाः ॥ १ ॥

मणय इत्यादि। सुगमम् ॥ १ ॥

मणियों का महत्त्व—मणियें भी पारे का बन्धन करने वाली, मनुष्यों के बुढापा और रोगों को हरने वाली एवं देहधारक होती हैं ॥ १ ॥

रत्ननिरुक्तिः—

धनार्थिनो जनाः सर्वे रमन्तेऽस्मिन्नतीव यत्।
अतो रत्नमिति प्रोक्तं शब्दशास्त्रविशारदैः ॥ २ ॥

धनार्थिन इत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ २ ॥

रत्नशब्द की व्युत्पत्ति—सपूर्ण धनेच्छुक मनुष्य जिसमें रमण करते हैं, इस लिए शब्दशास्त्रज्ञों ने उसे रत्न संज्ञा से संबोधित किया है ॥ २ ॥

अथ रत्ननामानि स्वरूपनिरूपणं च—

रत्नं क्लीबे मणिः पुंसि स्त्रियामपि निगद्यते।
तत्तु पाषाणभेदोऽस्ति वज्रादि च तदुच्यते ॥ ३ ॥

रत्नमित्यादि। सुबोधम् ॥ ३ ॥

रत्न और मणि शब्द का लिङ्गनिर्णय–रत्न शब्द नपुंसक और मणि शब्द पुलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग होता है। रत्न पत्थर की जाति है और वह हीरा आदि होता है ॥ ३ ॥

रसपद्धत्याम्—

वज्रं विद्रुममौक्तिके मरकतं वैदूर्यगोमेदके
माणिक्यं हरिनीलपुष्पदृषदौ रत्नानि नाम्ना नव।
यान्यन्यान्यपि सन्ति कानिचिदिह त्रैलोक्यसीम्नि स्फुटं
नाम्ना तान्युपरत्नतान्युपगतान्याहुः परीक्षाकृतः ॥ ४ ॥

वज्रमित्यादि। परीक्षाकृतो विद्वांसो हीरकप्रवालमौक्तिकगरुडोद्गारवैदूर्यगोमेदमाणिक्येन्द्रनीलपुष्परागा नव रत्नानि जगुः[१]। अत्र नवत्वं संख्यातिरेकवारणाय, ननु स्फटिका-

---

१ वज्रं हीरक, विद्रुमं प्रवाल, मौक्तिकं मुक्ता, मरकतं गरुडोद्गार, 'पन्ना' इति भाषा, वैदूर्यं विदुरमणि., गोमेदः अनेनैव नाम्ना प्रसिद्ध, माणिक्यं पद्मराग., हरिनील इन्द्रनील, पुष्पदृषत् पुष्पराग'। शेषं स्पष्टम्। इति ग्रन्थकार. ॥

दीनामपि रत्नत्वात्कथं नवैवेत्यत आह–यान्यन्यानि–एतेभ्यो हीरकादिरत्नेभ्य इतराण्यपि सन्ति जगति कानिचिद्वैक्रान्तसूर्यकान्तराजवर्तलालपेरोजाख्यानि, अन्यानि नीलपीतश्वेतकरकरूपाणि मणिसदृशानि तानि त्रैलोक्यसीम्नि उपरत्नानि नाम्नोपगतानीति स्फुटम् । अतो नवैव रत्नानि नाधिकानि । सीमाशब्दोऽत्र खनिवाचकः, स्फुटशब्दो लोकख्यातिं प्रथयति । 'धारयेत्सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः' इति वचनात् सूर्यादिग्रहदुष्टौ रत्नधारणं दानं चोक्तं धर्मशास्त्रैरतो रत्नानां तत्र ग्रहादिवारणत्वं सुतरां सिध्यति । रसपद्धत्यां यथा–'दिक्प्राची कुलिशस्य मौक्तिकमणेराग्नेयिका दक्षिणा, दिग्वल्लीप्रभवस्य नैर्ऋतककुब् गोमेदसो वारुणी । नीलाशोरथ दिग्विदूरजमणेर्वायोः कुबेरस्य दिक् पुष्पस्याथ हरिन्मणेर्हरहरिच्छ्रेपस्य शेषा हरित् ॥' इत्यनेन ग्रहानुमैत्र्या मुद्रिकासु न्यस्तानां तत्तद्ग्रहजनितसंतापविनिवर्तकत्वं दर्शितमाचार्यैर्मुद्रिकान्यासप्रकारेण । सूर्यादिग्रहाणां प्रातिकूल्ये यथासंभवं रत्नधारणं दानं च कार्यम्, तन्त्रान्तरे यथा–'माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमाणि तार्क्ष्यं च पुष्पं भिदुरं च नीलम् । गोमेदकं चाथ विदूरकं च क्रमेण रत्नानि नवग्रहाणाम् । ग्रहानुमैत्र्या कुरुविन्दपुष्पप्रवालमुक्ताफलतार्क्ष्यवज्रम् । नीलाख्यगोमेदविदूरकं च क्रमेण मुद्राधृतमिष्टसिद्ध्यै ॥' इति ॥ ४ ॥

नवरत्न—हीरा, मूगा, मरकत (पन्ना), वैडूर्य, गोमेद, माणिक्य, इन्द्रनील और पुखराज ये नव रत्न हैं । इनके अतिरिक्त जगत में और जो वैक्रान्त, सूर्यकान्त आदि मणियें हैं उन सबको विद्वानों ने उपरत्नों में समाविष्ट किया है ॥ ४ ॥

विष्णुधर्मोत्तरेऽपि—

मुक्ताफलं च वैडूर्यं हीरकं पद्मरागकम् ।
पुष्परागं च गोमेदं नीलं गारुत्मतं तथा ॥ ५ ॥
प्रवालं च तथैतानि महारत्नानि वै नव । इति ।

मुक्ताफलमित्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ५ ॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के मतानुसार नवरत्नों के नाम—मोती, वैडूर्यमणि, हीरा, पद्मराग, गोमेद, नीलम , पन्ना और प्रवाल ये नव महारत्न होते हैं ॥ ५ ॥

उपरत्नान्यन्यत्र—

वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च चन्द्रकान्तस्तथैव च ।
राजावर्तो लालसंज्ञः पेरोजाख्यस्तथाऽपरः ॥ ६ ॥
मुक्ताशुक्तिस्तथा शङ्खः कर्पूराश्माऽथ काचजाः ।
मणयो नीलपीताद्या ह्यन्ये विषहराश्च ये ॥ ७ ॥
वह्न्यादिस्तम्भका ये च ते सर्वे हि परीक्षकैः ।
गणिता ह्युपरत्नेषु मणयो लोकविश्रुताः ॥ ८ ॥

वैक्रान्त इत्यादि । सुबोधम् ॥ ६–८ ॥

उपरत्नों के नाम—वैक्रान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, लाजवर्द, लाल, पिरोजा, मोती की सीप, शख, कपूरा पत्थर, काचपत्थर, नीली और पीली मणि तथा विषनाशक एव अग्नि आदि का स्तम्भन करनेवाली जितनी भी जगत्प्रसिद्ध मणियां हैं उन सबको उपरत्नों में परीक्षकों ने कहा है ॥ ६–८ ॥

अथ रत्नानां नामानि—

हीरकः पुंसि वज्रोऽस्त्री चन्द्रो मणिवरश्च सः ।
गारुत्मत मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणि ॥ ९ ॥
माणिक्यं पद्मरागः स्याच्छोणरक्तं च लोहितम् ।
पुष्परागो मञ्जुमणि स्याद्वाचस्पतिवल्लभः ॥ १० ॥
इन्द्रनीलं च नीलं च गोमेद. पीतरक्तकम् ।
वैदूर्यं दूरजं रत्नं स्यात्केतुग्रहवल्लभम् ॥ ११ ॥
मौक्तिकं शौक्तिकं मुक्ता तथा मुक्ताफलं च तत् ।
पुंसि क्लीबे प्रवालः स्यात्पुमानेव तु विद्रुमः ॥ १२ ॥
शुक्तिः शङ्खो गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दुरः ।
वेणुश्चाष्टौ समाख्याताः सुज्ञैर्मौक्तिकयोनयः ॥ १३ ॥

हीरक इत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ९-१३ ॥

रत्नों के नाम और उनकी योनियाँ—हीरा शब्द पुल्लिङ्ग है। उसके वज्र, चन्द्र और मणिवर ये नाम हैं। गारुत्मत (पन्ना) के मरकत, अश्मगभ और हरिन्मणि नाम हैं। पुष्पराग (पुखराज) के मञ्जुमणि और वाचस्पतिवल्लभ नाम हैं। नीलम के इन्द्रनील और नील नाम हैं। गोमेद के गोमेद और पीतरक्तक नाम हैं। वैदूर्य (लसुनिया मणि) के वैडूर्य, दूरजरत्न और केतुग्रहवल्लभ नाम हैं। मोती के-मौक्तिक, शौक्तिक, मुक्ता और मुक्ताफल नाम हैं। प्रवाल शब्द पुल्लिङ्ग और नपुसकलिङ्गी तथा विद्रुम केवल पुल्लिङ्गवाची है। शुक्ति. शख, गज, क्रोड, नाग, मत्स्य, मेंढक और वेणु ये आठ मोतियों की योनिया हैं ॥ ९-१३ ॥

अथ हीरकोत्पत्तिलक्षणानि—

दधीच्यस्थ्नः समुत्पन्नः पविस्तस्य कणाः क्षितौ ।
विकीर्णास्ते तु वज्राख्यां भजन्ते तच्चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
श्वेतं द्विजाभिधं रक्तं क्षत्रियाख्यं तदीरितम् ।
पीतं वैश्याख्यमुद्दिष्टं कृष्णं स्याच्छूद्रसंज्ञकम् ॥ १५ ॥
विप्रो रसायने प्रोक्तः सर्वसिद्धिप्रदायकः ।
क्षत्रियो व्याधिविध्वंसी जरामृत्युहरः परः ॥ १६ ॥
वैश्यो धनप्रदः प्रोक्तस्तथा देहस्य दार्ढ्यकृत् ।
शूद्रो नाशयति व्याधीन् वयःस्तम्भं करोति च ॥ १७ ॥
स्त्रीपुंनपुंसकाश्चैते लक्षणीयाश्च लक्षणैः ।
सुवृत्ता. फलसंपूर्णास्तेजोयुक्ता बृहत्तराः ॥ १८ ॥
पुरुषा हीरकास्ते वै रेखाविन्दुविवर्जिताः ।
रेखाविन्दुसमायुक्ताः षडस्रास्ते स्त्रियः स्मृताः ॥ १९ ॥
त्रिकोणाश्च सुदीर्घाश्च विज्ञेयास्ते नपुंसकाः ।
सर्वेषु पुरुषाः श्रेष्ठा वेधका रसबन्धकाः ॥ २० ॥
स्त्रियः कुर्वन्ति कायस्य कान्ति स्त्रीणां सुखप्रदाः ।

नपुंसकास्त्ववीर्या स्युरकामाः सत्त्ववर्जिताः ॥ २१ ॥
स्त्रियः स्त्रीभ्यः प्रदातव्याः क्लीवान् क्लीवे प्रयोजयेत् ।
सर्वेभ्यः पुरुषा योज्या बलाढ्या वीर्यवर्धनाः ॥ २२ ॥

दधीच्येत्यादि । पविः-वज्रम् । शेषं स्पष्टम् ॥ १४-२२ ॥

हीरे की उत्पत्ति और लक्षण—दधीचि ऋषि की हड्डियों से वज्र उत्पन्न हुआ उसके कण पृथिवी पर बिखर कर वे वज्र संज्ञा को प्राप्त हुए। उसके चार भेद हैं, श्वेत रंग का ब्राह्मण, लाल का क्षत्रिय, पीले का वैश्य और काले रंग का शूद्र जाति का हीरा होता है। ब्राह्मण वर्ण का हीरा रसायन में सर्वसिद्धिप्रद (अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का देनेवाला) माना है, क्षत्रियसंज्ञक हीरा व्याधिनाशक एवं बुढापा और मृत्युहर होता है, वैश्यसंज्ञक हीरा धनप्रद तथा शरीरदृढताकारक और शूद्रसंज्ञक हीरा व्याधियों का नाश एवं वय स्तम्भन करता है। हीरे के स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग ये तीन भेद होते हैं, इनको लक्षणों से जानना चाहिए। जो हीरा अतिशय गोल, फल से सपूर्ण, तेजस्वी और बडा होता है, जिस में रेखाएं और बिन्दु नहीं होते वह पुरुषसंज्ञक है, जिस में रेखाएँ, बिन्दु और छकोना होता है वह स्त्रीलिङ्गी और जो त्रिकोण और बहुत बडा होता है वह नपुंसकलिङ्गी है, संपूर्ण हीरों में पुल्लिङ्ग हीरा उत्तम, रसवेधक और रसबन्धक होता है। स्त्रीलिङ्गी हीरे स्त्रियों के शरीर की कान्ति और सुख को बढाने वाले होते हैं। नपुंसक हीरे निर्वीर्य, निष्काम और निर्बली होते हैं। स्त्रीलिङ्गी हीरे स्त्रियों के लिए, नपुंसक नपुंसकों के लिए और पुल्लिङ्ग सब के लिए उपयुक्त, बलवर्धक एवं वीर्यजनक होते हैं ॥ १४-२२ ॥

अथ रसपद्धत्यां हीरकोत्पत्तिरन्यथोक्ता यथा—

जातः प्राग्वलनामको दितिसुतोऽवध्यस्त्रिलोक्यां पुन-
र्देवैर्देहमयं मखे मणितनुः सर्वात्मना याचितः ।
दत्त्वाऽथ स्वशरीरमव्यथमयं धीरः सुराणां पुर-
स्तस्था तैः स तु सप्ततन्तुभुजिभिः स्वर्गेश्वरायार्पितः ॥ २३ ॥
चिच्छेदाथ शिरोऽस्य वज्रशिरसो वज्रेण वज्री पुन-
र्भूतो रत्नसमुच्चयो वल इति स्माहुः पुराणर्षयः ॥ २४ ॥

जात इत्यादि। प्राक्कृतयुगे वलनामको दितिसुतो राक्षसस्त्रिलोक्या जगति सर्वैरपि अवध्यो जातः, तेन जये (जये) युद्ध आरब्धेऽजेयत्वात्तस्मिन् मखे तत्कृतयज्ञे मणितनुरयं देवैः सर्वात्मना याचितः, अर्थात् भो वल, यज्ञेऽस्मिन् सपर्यारूपेण त्वदीयं देहं सर्वशरीरमस्माकं देयमिति, अथायं धीरोऽव्यथं स्वशरीरं दत्त्वा, अर्थात् याच्ञानन्तरं स्वशरीरं देवेभ्यो दास्यामीत्युक्त्वा तेषां सुराणां पुरः सहर्षं तस्थौ पुनश्च तैः सप्ततन्तुभुजिभिर्यज्ञभुग्भिर्देवैः स स्वर्गेश्वराय-इन्द्रायार्पितो दत्तः। अथ वज्री-इन्द्रः स्वकीयवज्रेणास्य वज्रतुल्यशिरसो वलनामकस्यासुरस्य शिरश्चिच्छेद, स रत्नसमुच्चयोऽभूत्। तदङ्गविभागोत्पन्नत्वेन तं वलसमुच्चय इति पुराणर्षय आहुः स्म ॥ २३-२४ ॥

---

१ प्राक् कृतयुगे। मखे तत्कृतयज्ञे। अजेयत्वाच्छत्रोरयं देहयाचनावसर इति भावः। सप्ततन्तुभुजिभिर्यज्ञभुग्भिः। शेषं स्पष्टम्। इति ग्रन्थकारः।

हीरे की उत्पत्ति—पहले कृतयुग की बात है कि दितिपुत्र वलनामक राक्षस त्रिलोकी में देव और दानवों से अवध्य हुआ। इससे दुःखी देवता और ऋषियों में बड़ी भारी चिन्ता उत्पन्न हो गई। सब प्रकार से वल नामक राक्षस को अवध्य जानकर समस्त देव उसके यज्ञ में गये और उससे अपने संपूर्ण शरीर को देने की तत्काल याचना की। राक्षस वल देवताओं की प्रार्थनाको धैर्यपूर्वक सुन कर अपने व्यथारहित शरीर को देने की प्रतिज्ञा कर के देवताओं के सम्मुख उपस्थित हुआ। यज्ञभागी देवताओं ने उसको इन्द्रकी भेंट किया। इन्द्र ने अपने वज्र से वज्रशिरा वलनामकअसुर के शिर का छेदन किया। यही वलनामकअसुर रत्नों का समुच्चय है ऐसा महर्षियों ने बताया था॥ २३-२४॥

मूर्ध्नो वा वदनादमुष्य पवयो ये जज्ञिरे ते द्विजा
बाहुभ्यामुरसोऽस्य ये समभवंस्ते संस्मृता क्षत्रिया।
नाभीत कटितश्च ये निपतितास्ते नाम भूमिस्पृशो
जानुद्वन्द्वपदद्वयप्रपतितास्ते नाम शूद्रा मताः॥२५॥

वज्राणां विप्रादिसंज्ञाचतुष्टयं प्रदिशति—मूर्ध्न इत्यादि। अमुष्य-वलनामासुरस्य वदनान्मूर्ध्नो वाऽपि ये पवयः-हीरकमणयो जातास्ते द्विजा ब्राह्मणसंज्ञया जज्ञिरे, ये बाहुभ्यामुरसो वाऽस्य समभवन् ते 'क्षत्रिया' स्मृता। ये नाभीतः कटितश्चास्य निपतिताः-उत्पन्नास्ते भूमिस्पृशो वैश्या अभवन्। ये च जानुद्वन्द्वात्पदद्वन्द्वाच्चोत्पन्नास्ते नाम शूद्रा मताः। एतेनेद प्रतिपाद्यते, किंच सज्ञाचतुष्का अपि सर्वे हीरका वलशरीराज्जायन्त इति भावः॥ २५॥

हीरे की चार जातियों की उत्पत्ति—वलनामक असुर के मस्तक और मुख से ब्राह्मण जाति के, बाहु और वक्षस्थल से क्षत्रिय जाति के, नाभि और कटि से वैश्य जाति के और दोनों पैर तथा घुटनों से शूद्र जाति के हीरे उत्पन्न हुए॥ २५॥

पुनः प्रकारान्तरेण हीरकोत्पत्तिः—

पूर्वं मन्दरमथ्यमानजलधिप्रत्युत्थिता या सुधा।
तां प्रायः पिवतः सुरासुरगणस्यास्यादिमे विन्दवः॥
ये भूमौ पतिता विकर्तनकरव्रातैः पुनः शोषिता-
स्ते वज्राण्यभवन्ननुर्ननु पवेरित्यूचिरे केचन॥२६॥

स्पष्टम्। अत्र युगभेदेन व्यवस्था, अस्तु वा त्रिभ्य उत्पत्तिः तथा सति किं बाधकम्।

पूर्वमित्यादि। पुरा मन्दराचलेन मथ्यमानजलधेः सकाशात्प्रत्युत्थिता या सुधा अमृत, तां प्रायः सुरासुरगणस्य पिवतः सत आस्यात्-मुखादिमे बिन्दवो ये भूमौ पतिता विकर्त्तनकरव्रातैः-सूर्यकिरणसमूहैः पुनः शोषितास्ते वज्राणि अभवन्, इति केचन आचार्याः पवेः-हीरकस्य जनुः-उत्पत्तिरित्यूचिरे॥ २६॥

हीरे की प्रकारान्तर से उत्पत्ति—पहले देव और दानवों ने मिल कर मन्दराचल (पहाड़) के द्वारा समुद्र का मथन किया था। उस समय समुद्र से उत्पन्न हुए अमृत का देव और राक्षसों के पान करते समय मुख से जो अमृत बिन्दु भूमि पर गिरे वे ही सूर्यकिरणों से सूख कर वज्र (हीरे) हुए। ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। ये तीनों भी प्रकार की हीरे की उत्पत्तियां

युगपरत्व मानी गई हैं। तीनों भी प्रकार की उत्पत्तियों के मानने में कोई बाधा नहीं ज्ञात होती ॥ २६ ॥

अथैवमुत्पत्तिमुक्त्वा हीरकस्याष्टप्रकारकं विज्ञानमाह—

उत्पत्तिर्गुणदोषजातिखनयो हस्ताङ्गुलीचालनं
मूल्यं मण्डलिकेति[1] रत्नदपदां ज्ञानं वरं चाष्टधा[2]।
अत्रैकप्रसरेण नोक्तमपि तत्तत्परीक्षास्थल-
श्लोकश्लोकितमेकशः खलु विदाङ्कुर्वन्तु वैज्ञानिका ॥२७॥

उत्पत्तिमभिधाय तेषामष्टधा विज्ञानं विशदयति–उत्पत्तिरित्यादि। हीरकस्योत्पत्ति.-आकरभूमिः, यथा वैरागरपर्वतोत्पन्नः श्रेष्ठः, मगधदेशोत्पन्नस्तस्मात्किंचिन्न्यूनस्तदपेक्षया-ऽन्यस्थो न्यूनस्ततोऽप्यन्य इत्यादि। गुणदोषजातिखनयो हस्ताङ्गुलीचालन मूल्यं मण्ड-लिकेत्यष्टहेतुभिर्दपदा सर्वेषां रत्नानामष्टधा ज्ञानं परीक्षा कर्तव्येति प्रतिपादितम्। अत्र ग्रन्थे यद्यपि एकप्रसरेणैव–एकत्रैव नोक्तं तथाऽपि वैज्ञानिका रत्नपरीक्षासूत्तमपरीक्षका-स्तत्–ज्ञानं तत्तत्परीक्षास्था ये श्लोकास्तैः श्लोकितं–कथितं तदेकशः–एकत्र विदाङ्कुर्वन्तु ॥

रत्नोंकी अष्टविधपरीक्षा—उत्पत्ति, गुण, दोष, जाति, खान, हाथ की अङ्गुली से हथेली पर रत्न को रख कर चालन करना, मूल्य और मण्डलिका (रत्नपरीक्षक विद्वानों की सभा) ये आठ हेतु रत्नों के उत्तम परीक्षार्थ कहे हैं। यहा पर उपर्युक्त उत्पत्ति आदि आठ प्रकार एकत्र कहे हुए न होने पर भी विद्वानों का कर्तव्य है कि वे परीक्षा समय में उस उस परीक्षास्थल के श्लोकों से एकत्र सब विषयों को समझ कर परीक्षा करें ॥ २७ ॥

भूमिं प्रतिपाद्य पवेर्भेदानाह—

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रविभिदा ज्ञेयश्चतुर्धा पविः
पुंस्त्रीक्लीबविभागतः पुनरसौ प्रत्येकमुक्तस्त्रिधा।
तत्र श्वेतरुचिर्द्विजः[3] स्फटिकवद्रक्तस्तु किंचिन्नृपो
वैश्यः पीतरुगङ्घ्रिजस्त्वसितभास्तत्राप्ययं पूरुष ॥ २८ ॥
रेखाविन्दुविवर्जितोऽष्टफलक स्वच्छच्छविर्यो भवे-
त्सा स्त्री या तु षडस्रविन्दुसहितो रेखान्वितोदाहृतः।
निष्कोणाश्चिपिटास्त्रिकोणवपुषो दीर्घा विपुंस्त्वाः पुन-
र्धार्याः स्त्रीनृनपुंसकैर्युवतिपुंषण्डाभिधानाः क्रमात् ॥ २९ ॥

ब्रह्मेत्यादि। विप्रादिवर्णभेदेन पविश्चतुर्धा, सोऽपि पुंस्त्रीक्लीबविभागतः पुनः प्रत्येकं त्रिधा भवति। यः पीतरुक् स वैश्यः, यश्चासितभाः–कृष्णवर्णः सोऽङ्घ्रिजः–शूद्रो

---

१. मण्डली रत्नपरीक्षकाणां सभा। उत्पत्त्यादिकं भिन्नभिन्नश्लोकोक्तमपि परीक्षावसरे एकशः एकत्र विदाङ्कुर्वन्तु जानन्त्विति। एतेन समस्तश्लोकैर्न्यस्तश्लोकैरपि एकीभूतैरिव हीरकपरीक्षा कर्तव्येति भावः। इति ग्रन्थकारः।

२ वदन्त्यष्टधा, इति क्वचित्। 'तज्ज्ञानम्' इति पाठभेदः।

३ यः स्फटिकवच्छ्वेतरुचिः स द्विजः, यः किंचिद्रक्तः स नृपः क्षत्रियः, शेषं स्पष्टम्। इति ग्रन्थकारः।

भवति। तत्राऽपि रेखाबिन्दुविवर्जितः, अष्टफलकः, स्वच्छस्वच्छविश्च यो भवेत्स पुरुषः। विपुंस्त्वाः–नपुंसकाः, तेषां धारणे नियमो यथा–स्त्रीपुन्नपुंसकैर्युवतिपुंषण्ढाभिधानाः क्रमाद्धार्याः। स्त्रियः स्त्रीजातिभिर्धार्याः, अन्यथाऽनर्थः। शेषं स्पष्टम् ॥ २८–२९॥

हीरे के भेद उनका परिचय तथा प्रयोग–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रभेद से हीरे के चार प्रकार हैं, फिर वही हीरा पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकभेद से प्रत्येक तीन तीन प्रकार का है। श्वेत ब्राह्मण, फिटकरी के रंग का लाल क्षत्रिय, पीले रङ्ग का वैश्य और काले रङ्ग का शूद्रवर्णी हीरा होता है। उनमें भी रेखाएं (लकीरें) और बिन्दुरहित, अष्टकोणी तथा श्वेतवर्ण का हीरा पुल्लिङ्ग, छःकोणी, बिन्दुसहित और रेखाओंवाला स्त्रीलिङ्ग तथा निष्कोण, चिपटा, त्रिकोण और बड़ा हीरा नपुंसक होता है। ये तीनों भी प्रकार के हीरे स्त्री, पुरुष और नपुंसकों को क्रमशः स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग और नपुंसक इस क्रम से धारण करना चाहिए॥ २८–२९॥

अथोत्तमपवेः सधारणादिभिर्धर्मार्थौ भवत इत्याह—

यद्वेदाध्ययनात्क्रतोरपि कृतेर्दानस्य वा यत्फलं
तत्प्राप्नोति पुमानतो वरतनोर्वज्रस्य संधारणात्।
चातुर्वर्ण्यपरिग्रहादपि चतुर्वर्णाश्रमश्रेयसा
संयुक्तामुररीकरोतु न कथङ्कारं स भूतिं पराम्॥ ३०॥

यदित्यादि। पुमान् वज्रस्य संधारणात् वेदाध्ययनाद्यज्ञस्यापि दानस्य वा करणेन यत्फलं भवति तत्प्राप्नोति। चातुर्वर्ण्यपरिग्रहात्–ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां धारणात्, ब्राह्मणादितत्तद्वर्णजनिकां परां भूतिं कथङ्कारं न उररीकरोति, अपि तु करोत्येव। तस्माद्वर्णचतुष्का अपि हीरका धर्मार्थकामेप्सुभिः स्थापनीया इति भावः॥ ३०॥

उत्तम हीरे के धारण करने से धर्म और धन आदि की प्राप्ति—हीरे के शरीरपर धारण करने से वह फल होता है जो फल वेदाध्ययन, यज्ञ और दान करने से होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के परिग्रहद्वारा चतुर्वर्णाश्रमधर्म के आश्रय लेने से वह परम विभूतिप्रद नहीं, किन्तु अवश्य होता है॥ ३०॥

अथ शूद्रवर्णोऽपि पविर्द्विजवर्णात्पवेरधिक इत्याह—

शूद्रादप्यधमो द्विजो यदि गुणैर्हीनः पविर्ब्राह्मणा–
दप्युच्चैरयमर्घमर्हति पुनः शूद्रो गुणैर्गौरवात्।
आधिव्याधिसरीसृपानलरिपुव्याघ्रापमृत्युग्रहा–
स्तं नैवाभिभवन्ति यस्य सदने तिष्ठेत्पवित्रः पविः॥ ३१॥

शूद्रादित्यादि। वक्ष्यमाणगुणसमूहैर्यदि युक्तः शूद्रवर्णो हीरकस्तस्माद् ब्राह्मणवर्णो हीनो बोध्यः। गुणैर्गौरवादयं पविरुच्चैरधिकम् अर्घं–मूल्यमर्हति। यस्य सदने–गृहे पवित्रः पविस्तिष्ठेत्त पुरुषं कदाप्याधिव्याध्यादयो नाभिभवन्ति तिरस्कुर्वन्ति। आधिर्मानसी चिन्ता, सरीसृपाः–नागादयः, अनलोऽग्निः, रिपुः शत्रुः, व्याघ्रो हिंस्रजन्तुः, अपमृत्युरसमयमरणं, ग्रहाः सूर्यादयो वा॥ ३१॥

गुणों में शूद्रवर्ण हीरा भी ब्राह्मणवर्ण हीरे से अधिक गुणी होता है—आगे कहे हुए हीरे के गुणों से युक्त यदि शूद्रवर्णी हीरा हो तो उससे ब्राह्मण वर्ण का हीरा हीनगुणी जानना चाहिए। शूद्रवर्ण का हीरा अपने गुणगौरव से अधिक मूल्यवान् भी होता है। पवित्र एवं उत्तम हीरा

जिसके घर में रहता है वह मनुष्य कदापि मानसिक चिन्ता, रोग, सर्पभय, शत्रुजन्य कष्ट, बाघ, अकालमृत्यु और ग्रहपीडाओं का शिकार नहीं होता ॥ ३१ ॥

अथ पवेर्दोषानुपदिशति—

बिन्दुः काकपदं यवः किल मलो रेखेति नाम्नोदिता
दोषाः पञ्च पवेरथात्र कथितो बिन्दुः समो बिन्दुना ।
कृष्णो रक्त इति क्रमेण स पुनर्द्वेधा मतो वर्तुला-
वर्ताकारभिदा ग्रहीतुरफलः शस्तो न सर्वोऽपि सः ॥ ३२ ॥

बिन्दुरित्यादि । बिन्दुर्जलबिन्दुवत्, काकपद-काकचरणाकार 'पुस्तकशोधार्थं यद्दीयते तद्वत्' इति महादेवः । यवः यवसदृशो बिन्दुविशेषः, मलो बाह्य आभ्यन्तरो वा, रेखा रक्ता पीता वा । इति नाम्ना पवेर्वज्रस्य पञ्चदोषा उदिताः । अथात्र बिन्दुना समो बिन्दुः कथितः स द्विवर्णकः कृष्णो रक्तश्चेति क्रमेण पुनर्द्वेधा वर्तुलोऽवर्तुलश्च । ग्रहीतुः सर्वोऽपि बिन्दुयुक्तः पविरफलो न शस्तश्च ॥ ३२ ॥

हीरे के दोष—बिन्दु (जल के समान जिस हीरे पर बूदबूदसी हो), काकपद (कौआ के पजे के समान बिन्दु वाला), यव (जव के सदृश जिसके बुन्द हों), मल (बाहर और भीतर से मलिन) ये हीरे के पाँच दोष होते हैं । बिन्दु भी दो प्रकार के होते हैं—एक काला और दूसरा लाल, उसके भी गोल और चिपटे ये दो भेद हैं । जिस हीरे पर बूँदबूँद सी होती है वह सभी हीरा खरीदने वाले के लिए निष्फल (धन आदि का न करने वाला) और अधम होता है ॥ ३२ ॥

अथ काकपदं लक्षयति—

ज्ञेयं काकपदं तु काकचरणाकारं परीक्षाकृता
वज्रे श्रीमति संस्थितं पुनरिदं धर्तुर्भवेन्मृत्युदम् ॥

ज्ञेयमित्यादि । सुस्पष्टम् ॥

काकपद हीरे के लक्षण—हीरे के परीक्षकों ने कौवे के पैर के समान जिस हीरे में बिन्दु हो उसे काकपद कहा है । यह काकपदी हीरा धारण करने वालों के लिए मृत्युदायी होता है ॥

यवं लक्षयति—

रक्तापीतसितासितच्छविभिदा ज्ञेयश्चतुर्धा यवा-
कारस्तत्र यव सितः खलु पवेः पूज्योऽपरे निन्दिताः ॥ ३३ ॥

रक्तेत्यादि । सुगमम् ॥ ३३ ॥

यवबिन्दु के लक्षण—लाल, पीले, श्वेत और काले रग के जौ के आकार के चार प्रकार के बिन्दु होते हैं । जिस हीरे पर श्वेत यव बिन्दु होता है वह हीरा उत्तम और अन्य अधम होते है ॥ ३३ ॥

अथ मलं लक्षयति—

धाराकोणकमध्यसंस्थिततया त्रेधा मलो रत्नवि-

---

१ ग्रहीतुर्ग्राहकस्य अफल, धनादिलाभस्याकर्ता । सर्वोऽपि बिन्दुन शस्त । इति ग्रन्थकारः ।

२ 'धारायामथ कोणयोर्निगदितो मध्ये च लीहो मलस्त्रेधा सोऽप्यनलादि भीति जननोधर्तुर्भवेन्निश्चितम् ।' इति रसपद्धत्या पाठ ।

द्व्याख्यात· स पुनर्ग्रहीतुरनलव्याघ्रादिभीतिप्रदः ॥

धारेत्यादि। रत्नविदा–हीरकपरीक्षकेण वज्रस्य धारायां, कोणके, मध्ये च मलसंस्थिततया त्रेधा–त्रिविधो मलो व्याख्यातः। पुन· स मलविशिष्टो हीरको ग्रहीतु·–ग्राहकस्यानलव्याघ्रादिभीतिप्रदो भवति, तस्मान्न धार्यो न ग्राह्यश्च ॥

मल के लक्षण––रत्नपरीक्षकों ने हीरे की धार, कोने और मध्य (बीच) में मल रहता है अतः मल के तीन भेद माने हैं। मलयुक्त हीरा ग्रहण करने वाले को अग्नि और वाघ आदि से भयप्रद होता है अतः इसे धारण और ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥

अथ रेखां लक्षयति—

सव्यासव्यनिवासिनी तदपरा तत्र स्थिता च्छेदिनी
च्छित्वा चोर्ध्वगतिर्गतोर्ध्वमिति ता रेखाश्चतस्रो मताः ॥ ३४ ॥

सव्येत्यादि। सव्या–वामस्था रेखा, असव्या–दक्षिणस्था रेखा, अपरा तत्र छेदनी स्थिता ऊर्ध्वगतिः छित्त्वा चोर्ध्वं गतेति ताश्चतस्रो रेखा मताः ॥ ३४ ॥

हीरेकी रेखाओं के लक्षण—एक वामभाग से जानेवाली रेखा, दूसरी दक्षिण भाग से जानेवाली, तीसरी रेखा को छेदन करके जानेवाली और चौथी रेखा को छेदन करके ऊपर को जानेवाली कई रेखाओं वाली हो ऐसी हीरे में रेखाएं होती हैं ॥ ३४ ॥

अथ तासां फलमाह—

सव्या तत्र शुभाऽपरा पुनरमूर्दौर्भाग्यदा, वर्तुले–
ऽप्यन्तर्भेदिनि लग्नकोणिनि पवौ दोषास्त्वकिंचित्करा।

अत्रोक्तानां दोषाणामपवादमाह–वर्तुल इत्यादि। एवंभूते वज्रे अकिंचित्करा निष्फला इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सव्येत्यादि। तत्र तासु चतसृषु रेखासु सव्या वामस्था रेखा शुभा, अपरा अन्या अपसव्याद्यास्तिस्रो रेखा दौर्भाग्यदा भवन्ति। किन्तु यदि पवौ–वज्रे, वर्तुले–वर्तुलाकारे, अन्तर्भेदिनि, लग्नकोणिनि चेदिमे सर्वेऽपि दोषा अकिंचित्करा· निष्फला इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

हीरे के उक्त दोषों का अपवाद—उन चार रेखाओं में वाम रेखा हीरे की उत्तम और अन्य दक्षिणादि तीन रेखाएं दुर्भाग्यकर होती हैं किन्तु यदि हीरा वर्तुल, अन्तर्भेदी और लग्नकोणी हो तो ये सभी रेखादोष निष्फल हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

अथ पवेर्गुणानुद्दिशति—

अच्छत्वं लघुता तथाष्टफलता षट्कोणता तीक्ष्णताऽ–
प्येतान् पञ्चगुणान् गृणन्ति गुणिनो देवोपभोग्ये पवौ ॥३६॥

अच्छत्वमित्यादि। अस्य व्याख्या टिप्पण्यां द्रष्टव्या ॥ ३६ ॥

हीरे के पाच गुण––काच के तुल्य स्वच्छ, तुषों के समान हलका, अष्टकोण, षट्कोण एवं तीक्ष्ण (अपने तीखेपन से अन्य मणियों का भेदन करने वाला) ये पाच गुण बुद्धिमानों ने उत्तम हीरे में बताये हैं।

---

१ उत्तमे पवौ अच्छत्वमादर्शादिवत्, लघुता तुषवत्, अष्टफलता अष्टफलकता, ताक्ष्णता अन्यमणिभेदकता, एते पञ्चगुणा'। इति ग्रन्थकार।

वक्तव्य—हीरे के पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग भेद से तीन भेद कहे हैं। पुल्लिङ्ग हीरा सर्वोत्तम और उसमें ऊपर कहे गुण अच्छता, लघुता, अष्टकोणता, षट्कोणता और तीक्ष्णता ये पाँच गुण सर्वोपरि हैं। सर्वोपरि पुल्लिङ्ग हीरा सबके लिए एक समान फलदायी होता है। यों पुरुष के लिए पुल्लिङ्ग, स्त्री के लिए स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक के लिए नपुंसक हीरे का शुभ परिणाम कहा है किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग ये दोनों हीरे उत्तरोत्तर अधम होते हैं और सर्वत्र इनका शुभ परिणाम नहीं होता है। जो सर्वोत्तम होता है उसका परिणाम निम्नस्तर के प्राणियों में भी उतना ही होता है। जैसे कि रसरत्नसमुच्चय में भैरवन्याय से यह स्पष्ट किया है कि 'उत्तमोत्तमवर्णं हि नीचवर्णफलप्रदम्। न्यायोऽयं भैरवेणोक्तः पदार्थेष्वखिलेष्वपि॥' अर्थात् उत्तमोत्तम वर्ण को फल देने वाला पदार्थ चाहे कोई भी हो वह नीच वर्ण के प्राणियों को भी उतना ही फलदायी होता है। यह सिद्धान्त महानता की अपनी विशेषता का दिग्दर्शक है क्योंकि नीच वर्ण के उपयोग में आनेवाले द्रव्य में यह बात नहीं मिलती है वह उत्तम वर्ण के लिए उपयोगी हो ही नहीं सकता है। यह सिद्धान्त 'भैरव' ने अपने अनुभव द्वारा समस्त पदार्थों में सक्रिय अनुभव प्राप्त करके ही प्रतिपादित किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के जो हीरे कहे हैं उनमें श्वेत वर्ण ब्राह्मण जाति का हीरा ही सर्वोपयोगी है शेष जातिपरत्व भेद से फलदायी होते हैं।

श्वेतवर्ण हीरे में पाँच गुण होते हैं जो उसकी उत्तमता को सिद्ध करते हैं। काच के समान निर्मल और कान्तिमान्, तुषों के समान हलका अर्थात् जो हीरा बहुत ही अधिक हलका होता है वह उत्तम होता है। हीरे के हलकेपन को यहाँ तक कहा है कि 'वज्रो वारितरो लभेत परमं मौल्यं सहस्रद्वयम्।' अर्थात् हीरा इतना हलका होना चाहिए जो जल पर तैरने वाला हो। यह बात कुछ असंभव सी प्रतीत होती है क्यों कि हीरे में जल की अपेक्षा साढे तीन गुना भार अधिक होता है ऐसी दशा में वह जल पर तैर कैसे सकता है किन्तु इसका प्रधान तात्पर्य यह है कि हीरा बहुत ही अधिक हलका होना चाहिए और उसके हलकेपन पर ही उसकी विशेष कीमत है। तीक्ष्णता और कठोरता में भी उत्तम हीरा समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ होता है। हीरा समस्त पदार्थों को खुरचने में सक्षम होता है किन्तु हीरे को कोई द्रव्य खुरच नहीं सकता है। अपने तीखेपन से समस्त मणियों का भेदन कर सकता है किन्तु हीरे का भेदन किसी मणि से सम्भव नहीं है। रासायनिक दृष्टि से हीरा कोयले की जातिका द्रव्य है। हीरा में कार्बन तत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं होता है। यह देखा जाता है कि कोयले अथवा कार्बन को खुली हवा में जलाने से कार्बनडाई आक्साइड गैस बनती है ठीक उसी प्रकार हीरे को उच्च तापक्रम पर हवा में या आक्सिजन गैस में जला देने से कार्बनडाई आक्साइड गैस मिलती है। कार्बन और हीरे में जो कुछ अन्तर प्राप्त होता है वह केवल हीरे के अधिक घनत्व और अधिक कठिनता का ही है। हीरे में कार्बन तत्त्व के परमाणु अधिक संघटित और घनत्व से संयोजित हैं। हीरे का विशिष्ट गुरुत्व ३½ और काठिन्य १० होता है॥ ३६॥

अथोपसंहारव्याजेन खनिं निरूपयति—

जातिः प्राक्तु निरूपिता जनिरपि प्रोक्ता खनिस्त्वष्टधा
द्वे द्वे तत्र युगे युगे प्रभवतस्तत्रादिमे कोशलः[1]।

---

१. आदिमे कृतयुगे, कोशल कोशलदेश कलिङ्गदेशश्च, त्रेतायुगे वङ्गदेशः मालवश्च, द्वापरे सौराष्ट्रदेशः मणिपुण्ड्रकपर्वतश्च, कलौ तु सोपारदेश वज्राकरो वैरागरश्च 'वैरागड' इति भाषा। इति ग्रन्थकार.।

कालिङ्गस्तदनन्तरे निगदितो वङ्गस्तथा मालवः
सौराष्ट्रो मणिपुण्ड्रकस्त्वथ कलौ सोपारवज्राकरौ ॥ ३७ ॥

जातिरित्यादि । अस्य व्याख्या टिप्पण्याम् , शेषं स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

उपसंहार के मिस से हीरे की खानों का निरूपण—प्रथम हीरे की ब्राह्मणादि चार जातियों का और दधीचि के देह से बने वज्र आदि से उत्पन्न प्रभृति नाना उत्पत्तियों का विवेचन कर चुके हैं । सम्प्रति आठ प्रकार की खानों का विश्लेषण करना है जो कि कृतयुगादि प्रत्येक युगों में दो दो की संख्या से मानी गई हैं । सर्व प्रथम कृतयुग में कोशल और कालिङ्ग देश की खानों में हीरे निकलते थे, त्रेतायुग में वङ्गदेश और मालवा की खानों में, द्वापर में सौराष्ट्र (सोरठ) देश और मणिपुण्ड्रक पहाड़ की खानों में और अब कलियुग में सोपार देश और वैरागढ की खानों में हीरे उत्पन्न होते हैं ॥ ३७ ॥

अथ मौल्यज्ञानार्थं मानपरिभाषामाह—

चत्वारः सितसर्षपाः पनसिका, ते द्वे पुनस्तण्डुल-
स्ताभ्यामेव यवो, यवः पुनरयं पिण्डेऽस्ति किंचित्पृथुः ।
पिण्डो गात्रमिति द्विधा पविवपु संज्ञाऽस्य संज्ञामिमां
ज्ञात्वा मानमिदं च तोलनिकया संतोल्य मौल्यं वदेत् ॥ ३८ ॥

चत्वार इत्यादि । चत्वारः सितसर्षपाः श्वेतसिद्धार्थकास्तैरेका पनसिका, पुनस्ते द्वे पनसिके तण्डुलो भवति, ताभ्यां तण्डुलाभ्यां यवः, पुनरयं यवः किंचित्पृथुः स्यात्तर्हि पिण्डसंज्ञको जायते । पिण्डशब्दः स्थौल्यवाचक, अयमिन्द्रयववत् स्थूलः अधिको वा किंचित् । पिण्डो गात्रमिति पविवपुःसंज्ञा द्विविधा भवति, अस्य पवेः संज्ञामिमां मानं चेद् ज्ञात्वा, तोलनिकया संतोल्य मौल्य वदेत् । यथा-'तथा च यवाकारे पिण्ड मानं तु पनसिकातुल्य चेत्तदा महन्मौल्यम् । यदा यवमितः पिण्डे माने यवचतुष्टयस्तदा तु हीनमौल्यमादिशेत् । तत्रापि अच्छत्वादयो गुणाश्चेत्तदा महन्मौल्यम् । यदा तु दोषादिजुष्टता तदा हीनमौल्यमित्यादि सर्वं बुद्ध्या विचार्यम् ।' इति महादेवः ॥ ३८ ॥

हीरे का मूल्य जानने के लिए मानपरिभाषा—चार श्वेत सरसों की एक पनसिका, दो पनसिकाओं का एक चावल, दो चावल का एक जव, यही जव मोटा अर्थात् इन्द्रजव के समान होने से पिंड कहलाता है । पिंड और गात्र ये दो हीरे के शरीर की संज्ञा हैं । इस संज्ञा को और उसके वजन को जानकर तराजू से तोलकर मूल्य (क़ीमत) कहे जैसे कि जव के आकार का अथवा उससे कुछ बडा हीरा हो और उसका वजन एक पनसिका के बराबर हो तो बडे मूल्य का हीरा जानना । यदि पिण्ड और तोले दोनों में जव के बराबर हीरा हो तो उसका मध्यम मूल्य कहना । यदि पिण्ड में जव के समान और मान (वजन) में चार जव के बराबर हो तो हीन मूल्य समझना, ऐसी दशा में भी मानलो कि हीरा के स्वच्छता आदि पांच गुण है तो बहुमूल्य जान पडता है किन्तु काकपद विन्दु आदि दोषयुक्त है तो हीन मूल्य जानना चाहिए ॥ ३८ ॥

तन्मौल्यं विचार्य वाच्यमित्याह—

मौल्यं न प्रतिदेशमस्ति सदृशं येनेदमित्थं मया
वाच्यं तच्च तथाऽपि गद्यत इह त्रैराशिकक्रान्तये ॥ ३९ ॥

---

१. 'मानकदण्डतो वत महन्मध्याल्पमौल्य वदेत्' इति रसपद्धत्या पाठ ।

मौल्यमित्यादि। त्रराशिकोऽयं गणितव्यवहारो ज्योतिःशास्त्रानुसारेण भवतीत्य-नेनादेशः। सुस्पष्टम् ॥ ३९ ॥

हीरे का मूल्य विचार कर कहना चाहिए—हीरे का मूल्य सर्वत्र एक समान नहीं होता है जिससे मैं कहूँ कि इसका यही ठीक मूल्य है अर्थात् देश देशानुसार भिन्न भिन्न मूल्य तीन हेतुओं को समक्ष रख कर बताने का प्रयत्न करता हूँ ॥ ३९ ॥

यथा—

पिण्डस्तु त्रिविधो लघुः समगुरू तत्रोत्तमं लाघवे
साम्ये मध्यममल्पमेव गदितं मौल्यं गुरुत्वे बुधैः।
त्रेधा लाघवतस्त्रिधा गुरुतया षोढा च सामान्यतो
मूल्यं द्वादशधेदृशं खलु मतं तत्तारतम्यं क्रमात् ॥ ४० ॥

पिण्डस्त्रिधेत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ ४० ॥

हीरे के स्वरूप के तीन भेद-हीरे का स्वरूप तीन प्रकार का है हल्का, सम और भारी इनमें हल्का हीरा उत्तम, सम मध्यम और भारी अल्पमूल्य का होता है। हल्का तीन प्रकार का, भारी तीन प्रकार का और सामान्य छः प्रकार का इस प्रकार तारतम्य भेद से हीरे के १२ प्रकार हैं ॥ १२ ॥

पिण्डस्तण्डुलसमितो यवपृथुः संभाव्य चित्ते पुन-
र्वज्रं तेन समं विचार्य चतुरो मौल्यं ततो निर्दिशेत्।
तच्चेत्तत्क्रमतस्त्रिवृत्तिकगुणैर्युक्तश्चतुर्भिः पवि-
र्निष्कं तण्डुलसंमितो यवपृथुः प्राप्नोति मौल्यं यदि ॥ ४१ ॥
पिण्डो यस्य यवद्वयेन सदृशो माने पुनस्तण्डुलो
मौल्यं तस्य पवेश्चतुर्गुणमुदाहर्तव्यमेवं पुनः।
पिण्डश्चेत्त्रिचतुःशरर्तुयवसः स्यादष्टदिक्षोडश-
द्विर्द्विर्वर्धितमस्य तण्डुलमितेर्वज्रस्य मौल्यं तथा ॥ ४२ ॥
वृद्धत्वे तु यवोपमं प्रकृतितस्तत्पादतो मानवा-
नष्टाविंशतिवर्धितं प्रथमतः प्राप्नोति मौल्यं मणिः।
पिण्डे सप्तयवोपमः परिमितौ स्यात्तण्डुलैकक्रमो
वज्रो वारितरो लभेत परमं मौल्यं सहस्रद्वयम् ॥ ४३ ॥
स्याच्चेत्साद्धित्रयवोपमः पविरथो माने गुरुस्तण्डुलः
क्षीयेतास्य मणेरथ द्विगुणितं मौल्यं क्षयेऽयं क्रमः।
इत्थं युक्तिबलाद्विचार्य चतुरो मौल्यं मणेरादिशे-
दर्घस्यासति वज्रवर्ष्मणि यथा दोषे क्षयं कल्पयेत् ॥ ४४ ॥
यावत्स्याद्गुणिनस्ततस्त्वगुणिनो वृद्धेश्चतस्रः कला-
श्छेत्तव्याः कुशलेन देशसमयद्रव्यात्मविज्ञानिना ॥ ४५ ॥

द्वादशधोक्तमौल्यमेवोदाहरणत्वेनोपदिशति—पिण्डस्तण्डुलसमित इत्यादि। तण्डु-लेन संमितो यवसदृशस्थूलः, प्रागुक्ताच्छुक्लत्वादिगुणसपन्नः, एवं क्रमं ज्ञात्वा निष्कं

मौल्यमादिशेत्। त्रैराशिकं यथा–यस्य वज्रस्य पिण्डः शरीर, यवद्वयसदृशं, माने च तण्डुलपरिमित एव चेत्तदा तस्य पवेर्मौल्य चतुर्गुणमुदाहर्तव्यम् अर्थात् चतुर्निष्का आदेशनीयाः। यस्य वज्रस्य पिण्डश्चेत्त्रिचतु पञ्चषडष्टदशषोडशयवात्मक, किन्तु माने च तण्डुलपरिमित एव तदा क्रमशो द्विर्द्विर्वर्धितमेव मौल्य वदेत्। अत्र द्विर्द्विर्वर्धितमित्यस्य क्रमशो द्व्यधिक द्व्यधिक बोध्यं, यथा–त्रियवसदृशस्थूलपिण्डो माने च तण्डुलमितस्तदा तस्य मूल्य षण्णिष्का. कथनीयाः, एवमष्टौ निष्काः, दश निष्का, द्वादशषोडशादिक्रमेण वर्धितं मौल्यं वदेत्। शेष स्पष्टम् ॥ ४१–४५ ॥

जो हीरा पिण्ड में यव के समान मोटा और वजन में चावल के बराबर हो. इस त्रैराशिक को सामने रखकर उसके मूल्य का निश्चय करे। वह यदि इस क्रम से पूर्वोक्त अच्छत्वादि चार गुणों से युक्त, जौ के बराबर मोटा तथा वजन में चावल मान का मूल्य यदि एक निष्क हो तब जिसकी मुटाई दो जव के बराबर और वजन में चावल जितना हो तो उस हीरे का मूल्य पूर्वोक्त से चौगुना अर्थात् चार निष्क जानें। पिण्ड यदि ३, ४, ५, ६, १० और १६ जौ बराबर हो और मान में केवल एक चावल भर हो उस हीरे का मूल्य क्रम से द्विगुणित अर्थात् ६, ८, १०, १२, १६, २०, और ३२ निष्क समझना चाहिए। जो पिण्ड में एक जव और मान में चौथाई जव के तुल्य हो तो उसका मूल्य पूर्वोक्त से २८ गुना जानना चाहिए। पिण्ड में सात जव और वजन में चावल भर हो इस क्रम से उत्तर तक वजन में पहुँच जाय तो उसका मूल्य दो हजार निष्क होता है। पिण्ड में सवा जव और मान में चावल भर हो तो इस क्रम से हीरे का मूल्य दुगुना (वृद्धि की तरह) क्षीण होता जाता है। इस प्रकार युक्तिबल से विचार कर चतुर को हीरे का मूल्य निर्धारित करना चाहिए। हीरे में दोष न रहने से मूल्य में वृद्धि और दोष रहने से क्षय होता है। निर्दोष का जितना मूल्य हो उससे सदोष में चार कला कम मूल्य जानें। देश, काल और द्रव्य के अनुसार हीरे के होने से उसे निर्दोष तथा न होने से सदोष जानना चाहिए ॥ ४१–४५ ॥

अथ मौल्यप्रयोक्तृगुणानाह—

> कर्मज्ञो[1] लघुपाणिरर्थविमुखः शास्त्रप्रवीणो गुणी
> निःसंदिग्धमतिर्विदेशविधिविन्मौल्यप्रयोक्ता भवेत्।
> अज्ञानादविचार्य मौल्यमधमं कुर्यान्मणेः कुत्सितं
> कुष्ठी सोऽत्र भवेदमुत्र स पुनर्गच्छेन्महारौरवम् ॥ ४६ ॥

कर्मज्ञ[1] इत्यादि। व्याख्यात स्वय ग्रन्थकारेण टिप्पण्याम् ॥ ४६ ॥

हीरे की कीमत करने वाले के-गुण—कर्मज्ञ (जो हीरे की कीमत करना जानता है), लघुपाणि (जिसके द्वारा लेकर दिया हुआ हीरा गुणकारी हो), अर्थविमुख (बीच में कपट भाव न रखते हुए कमीशन आदि न लेकर कार्य करने वाला) शास्त्रप्रवीण (हीरे के शास्त्र को भली भाँति जानने वाला), गुणी (ऊहापोह छानबीन करने में कुशल), नि सदिग्ध-

---

१ कर्मज्ञ इत्यादि। लघुपाणिर्यन गृहीत्वा दत्त गुणाय भवति स, अर्थविमुखो मध्येऽकापटय कृत्वा स्थितो यस्तादृश, गुणी ऊहापोहविचारचतुर, नि सदिग्धमति- अनेक रत्नग्रहणेन जातमति., विदेशविधिवित् देशान्तरस्य भाषामौल्यादिज्ञ। एव प्रयोक्ता रत्नमौल्यस्य भवेत्। अथैतादृक्चातुर्याभावे प्रयोक्तुर्दोषमाह–अज्ञानादिति, अमुत्र परलोके, महारौरव नरकम्। इति ग्रन्थकार।

मति (अनेक रत्नों के लेन और देन में प्रत्युत्पन्नमति), विदेशविधिज्ञ (देश देशान्तरों की भाषा और कीमत को जानने वाला) इस प्रकार का मनुष्य ही हीरे की कीमत करने वाला होना चाहिए। जो मनुष्य विना विचारे हीरा आदि मणियोंका मूल्य अधम अथवा कुत्सित कर डाले तो वह इस लोक में कोढ़ी और परलोक में महारौरव नरक का भागी होता है ॥ ४६ ॥

अथ मुद्रादौ पविविन्यासप्रकारमाह—

यत्स्यादङ्गममुष्य निम्नमुदितं सद्भिः शिरस्तत्पवे-
विस्तीर्णं तु तलं ततः स शिरसा योज्योऽङ्गुलीयादिषु[1] ।

यदित्यादि । व्याख्यातं टिप्पण्याम् ॥

अंगूठी आदि में हीरा लगाने का प्रकार—जिस हीरे का निम्न भाग (गढे) के तुल्य भाग जिस ओर हो वह उसका शिर समझना, जो भाग चौटा हो वह तलभाग जानना, अंगूठी आदि में हीरा शिर की ओर से लगाया जाता है तलभाग की ओर से नहीं ॥

परीक्षाप्रकारमाह—

वामं वामविलोचनः करतलं विस्तार्य तस्मिन् पविं
तर्जन्या परिचालयेदवहितः प्रायस्तलेन स्थितः[2] ॥ ४७ ॥

वाममित्यादि । स्वयं ग्रन्थकारेणैव व्याख्यातम् ॥ ४७ ॥

हीरे की परीक्षाविधि—हीरे का गुणज्ञ विद्वान् बाएं हाथ की हथेली को फैला कर उस पर हीरे को रखे और तर्जनी अंगुली से उसको घुमावे और उसके गुण दोषों पर विचार करे ॥

किं विचारणीयं तदाह—

जातिर्दोषगुणौ खनिर्गिरिकथे रङ्गापरङ्गौ छवि-
र्मौल्यं चेति दशप्रकारमशनेर्जानाति यो लक्षणम् ।
बाह्याभ्यन्तरतः प्रविष्ट इव स स्याच्छास्त्रतो मण्डली
तेषां संसदमाहुराचार्यविबुधः श्रीमण्डली मण्डली[3] ॥ ४८ ॥

जातिरित्यादि । अस्य व्याख्या टिप्पण्याम् ॥ ४८ ॥

हीरे की परीक्षा करनेवाली सभा में जाने के योग्य सभासद के लक्षण—जाति, दोष, गुण, खान, कथा, रंग, उपरंग, कान्ति और देश-विदेश का मूल्य ये दश प्रकार के हीरे के लक्षणों को जो जानता हो वही सभासद हीरकपरीक्षकमण्डली में प्रविष्ट होवे। जिसने शास्त्र के अनुसार हीरे के बाह्य और आभ्यन्तर में प्रवेश पा लिया हो ऐसे २ अनेक हीरे के परीक्षक जहां इकट्ठे हों उस सभा का नाम—आचार्यों ने श्रीमण्डली अर्थात् रत्नपरीक्षकों की सभा ऐसा कहा है ॥ ४८ ॥

---

१. यदमुष्य हीरकस्य निम्नमङ्गं गम्भीरं सद्भिस्तच्छिरः उदितं, विस्तीर्णं तु तलमुदितम् । अङ्गुलीयादिषु मुद्रिकादिषु शिरसैव योज्यो न तलेन । इति ग्रन्थकारः ॥

२ अवहितः पण्डितः, वामं करतलं विस्तार्य, तस्मिन् पविं तर्जन्या परिचालयेत् । कीदृशः । वामविलोचनः वक्रदृष्टिः सन्नेव । प्रायस्तलेन नीचत्वेनावस्थितः । इति ग्रन्थकारः ॥ ४७ ॥

३ कथा इतिहासः, रङ्गः शुक्लादि, अपरङ्गो नीलादि, छविः कान्तिः, मौल्यं देशदेशीयं, इति दशप्रकारं पवेर्यः लक्षणं जानाति स मण्डलीं प्रविशेत् । क इव ? पवेर्बाह्याभ्यन्तरतः प्रविष्ट इव । कस्माच्छास्त्रतः । मण्डलीसंज्ञाया अर्थमाह—तेषामिति । तेषां मण्डलिनां रत्नविदां सभां मण्डलीमाहुः । इति ग्रन्थकारः ॥ ४८ ॥

अथ मण्डलीप्रवेशानर्हान् वक्ति—

हीनाङ्गः प्रविशेन्न तां न पतितो नो वाऽन्त्यजो नावला
भाण्डाद्यैरिह मौल्यमल्पमधिकं प्रोक्तं न दोषाय तत् ।
व्युत्क्रम्योत्तममध्यमाधमविपर्यासेन यद्यत्तथा
स्नेहाल्लुब्धतया तु संसदि पुनः कुष्ठी भवेन्मण्डली ॥ ४९ ॥
स्पष्टम् ।

हीनाङ्ग इत्यादि । हीनाङ्ग—हस्तपादाद्यङ्गरहितः पतितो—जातिभ्रष्टः, अन्त्यजश्चाण्डालप्रभृतिकः, अबला-स्त्री, एते तां मण्डलीं न प्रविशेयुः । इह भाण्डाद्यैरल्पमधिकं मौल्यं प्रोक्तं तन्न दोपाय । तद्व्युत्क्रम्य मणेरुत्तममध्यमाधमविपर्यासेन स्नेहाल्लुब्धतया वा यत्किमपि योग्यायोग्यमविचार्यैव परीक्षको मूल्यं वदेत् तर्हि तद्दोषेण स कुष्ठी भवेदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

रत्नपरीक्षक मण्डली में प्रविष्ट होने के अयोग्य—हीनाङ्ग (जो हाथ, पैर, नाक और कान आदि से हीन हो), पतित (जो जाति से पतित अर्थात् जिसको अपनी जाति ने बहिष्कृत कर दिया हो), अन्त्यज (चाण्डाल) और स्त्री ये रत्नपरीक्षकसभा में प्रविष्ट न होने दिये जावें क्योंकि यहां पर भाट आदि का निर्धारित किया हुआ न्यूनाधिक मूल्य दोषकारी नहीं होता । विपरीत इसके रत्नपरीक्षक सभा में बैठा हुआ हीरे का सच्चा परीक्षक यदि उत्तम मध्यम और अधम हीरे का किसी के स्नेह अथवा लोभ में आकर विपरीत मूल्य कर डाले तो वह कोढी होता है ॥

अथैकेन मौल्यविचारणा न कार्येत्याह—

नैको मौल्यविचारणां विरचयेन्नैकः परीक्षेत वा
भ्रान्तेः पूरुषधर्मतस्तु कृतके मुह्यन्ति सुज्ञा मणौ ।
शाणक्षारविलेखनेन विनुदेत्संदेहमन्ये पुन-
र्लिख्यन्ते कुलिशेन हन्त कुलिशं केनापि नो लिख्यते[1] ॥ ५० ॥

नैक इत्यादि । कृतके नाम कृत्रिमे मणौ, कुलिश—वज्रं तु न केनापि लिख्यते । शेषं टिप्पण्याम् । इति हीरकपरीक्षा ॥ ५० ॥

एक ही मनुष्य हीरे का मूल्य और उसकी परीक्षा किसी दूसरे की सहायता के बिना अकेला न करे क्यों कि भ्रम-प्रमादादि ये मनुष्य के धर्म हैं । इसमें गलती होना साधारण सी बात है। यह मणि का विषय है । आज कल बहुत ऐसी मणियां मिलती हैं जिनकी परीक्षा और मूल्य करने में अच्छे २ विशेषज्ञ भी मोहित हो जाते हैं । हीरे की परीक्षा करते समय बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है कि वह शाण और क्षार के द्वारा उस का लेखन करके अपने सन्देह को दूर कर ले । अन्य मणियों की परीक्षा वज्र के द्वारा लेखन करके की जाती है किन्तु हीरे का लेखन किसीसे भी नहीं होता ॥ ५० ॥

येऽष्टौ मौक्तिकभूमयः करिकिरित्वक्सारमत्स्याम्बुमु-
कम्बूरोगतिशुक्तयोऽत्र चरमोत्पन्नं पुनर्विश्रुतम् ।

---

१ भ्रमप्रमादादीना पूरुषधर्माणा सत्त्वात्सन्देहे शाणक्षारविलेखनेन पर्वं विलिखेत् । अन्ये तु मणयः कुलिशेन लिख्यन्ते । इति ग्रन्थकारः ॥

अष्टावित्यादि-करिः-हस्तिः, किरिर्वराहः, त्वक्सारो वंशः, अम्बुमुड्मेघः, कुम्बुः -शङ्खः, उरोगतिर्नागः, शेषं स्पष्टम् ॥

मोतीकी आठ योनिया-हाथी, वराह, वास, मत्स्य, मेघ, शख, नाग और शुक्ति, ये आठ मौक्तिकयोनिया हे । सप्रति सीपसे उत्पन्न मोती ही प्रसिद्ध है ।

करिमौक्तिकलक्षमाह—

यद्दन्तावलकुम्भसंभवमदः पीतारुणं मन्दरुक् ।
धात्रीदभ्रतयाऽत्र रत्नमधमं काम्बोजकुम्भीन्द्रजम् ॥ ५१ ॥

यदित्यादि। दन्तावलकुम्भसम्भवं-हस्तिगण्डस्थलोत्पन्नम्, अदः-रत्न, मन्दरुक् मन्द-तेज., अत्र धात्रीदभ्रतया-आमलकयात्सूक्ष्मतया, काम्बोजकुम्भीन्द्रज-काम्बोजदेशज-हस्तिसमुद्भवं, यद्रत्नं तदधमं भवति क्वचिन्मथान्यरत्नमिति पाठभेदः ॥ ५१ ॥

गजमौक्तिकके लक्षण—जो मोती हाथियों के गण्डस्थलसे उत्पन्न होता है वह पीला, लाल, और मन्द तेजस्वी होता है । यहापर आवले से भी छोटा काम्बोजदेश के हाथियों से उत्पन्न होनेवाला मोती अधम होता है ॥ ५१ ॥

अथ किरिर्वराहः, तज्जमौक्तिकलक्षमाह—

एकाकी शिशुरेव निःस्पृहतयायः काननं गाहते
तस्यानादिवराहवंशजनुषः कोलस्य मूर्ध्नि स्थितम् ।
कङ्कोलाकृतिमिन्दुकुन्दधवलं दैवादवाप्नोति चे-
न्मुक्तां यः समुपास्यते स निधिभिर्मर्त्यो धनाधीशवत् ॥ ५२ ॥

एकाकीत्यादि । य. शिशुरेकाक्येव नि.स्पृहतया-स्वच्छन्देन, काननं-वनं, गाहते अनादिवराहवंशजनुषः भगवत आदिवराहवंशजस्य तस्य कोलस्य, मूर्ध्नि स्थितमिन्दु-कुन्दधवलकङ्कोलाकृति दैवाद् भाग्याद्रत्नमवाप्नोति चेत् तां मुक्तां यो मर्त्यः समुपास्यते स निधिभिर्धनाधीशवत्-कुवेरवद्भवति ॥ ५२ ॥

वाराहमौक्तिक के लक्षण—भगवान् आदि वराह के वश में उत्पन्न हुआ वालक अकेला निष्कामभाव से वन में घूमता है उस शूकर के मस्तक में रक्खा हुआ कङ्कोल के समान आकृति-वाला चन्द्रमा और कुन्द के फूल के सदृश श्वेतवर्णका रत्न भाग्यवश मनुष्यको प्राप्त हो जावे तो वह कुवेरके समान नवनिधियो से युक्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

अथ त्वक्सारो वंश', तज्जमौक्तिकलक्षमाह—

मुक्ता. सन्ति कुलाचलेषु करकाकान्तिद्रुहो वंशजा'
कर्कन्धूफलवन्धवो निदधते कण्ठेषु सिद्धाङ्गना ॥

मुक्ता इत्यादि । कुलाचलेषु-पर्वतेषु, करकातु वर्षोपल', शेषं सुगमम् ॥

वशजमणि के लक्षण—कुलाचल पहाडों में ओलोंका कान्ति से द्रोह करनेवाले वशज मुक्ता होते है जिनको सिद्धाङ्गनायें अपने कण्ठों में धारण करती हैं ॥

मत्स्यजमौक्तिकलक्षमाह—

प्रोष्ठीगर्भभवस्तु मौक्तिकमणिर्गुञ्जासम' पाटली-
पुष्पाभः स न लभ्यते भुवि जनैरस्मिन् कलौ पापिनि ॥ ५३ ॥

प्रोष्ठीत्यादि । प्रोष्ठीगर्भभवः-मत्स्यगर्भभवः, शेषं स्पष्टम् ॥ ५३ ॥

मत्स्यज मौक्तिक के लक्षण—मछली के पेटसे उत्पन्न होनेवाला मोती गुंजा के समान आकारवाला पाटली (गुलाब) के फूल के समान लाल होता है वह इस पापी कलियुग में मनुष्योंको प्राप्त नहीं होता ॥ ५३ ॥

अथाम्बुमुङ्मेघस्तज्जमौक्तिकलक्षमाह—

यन्मेघोदरसंभवं तदवनीमप्राप्तमेवामरै-
र्व्योमस्थैरपनीयते विनिपतद्वर्षासु मुक्ताफलम् ।
तिग्मांशोरपि दुर्निरीक्ष्यमकृशं सौदामिनीसंनिभं
देवानामपि दुर्लभं न मनुजाः स्युस्तस्य पात्रं पुनः ॥ ५४ ॥

यदित्यादि । यन्मुक्ताफलं, मेघोदरसंभवं, वर्षासु विनिपतद्व्योमस्थैः-आकाशगतैरमरैर्देवैस्तदवनीं-पृथ्वीमप्राप्तमेवापनीयते । तेजसि तिग्मांशोः-सूर्यादपि दुर्निरीक्ष्यम्, अकृशं-स्थूलं, सौदामिनीसन्निभं तडित्सदृशं मेघमौक्तिकं देवानामपि दुर्लभमतः कथं तस्य मनुजाः पात्रं स्युः, नेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

मेघमौक्तिक के लक्षण—मेघ से उत्पन्न हुआ मोती वर्षा में गिरकर भूमि पर गिरने से प्रथम ही आकाशस्थ देवगण सहसा उसे हरण कर लेते हैं । यह मोती सूर्य से भी अतितेजस्वी होता है अतः सूर्य को मनुष्य देख सकता है किन्तु इसको नहीं । यह मोती स्थूल एवं बिजली के समान चमकनेवाला, देवताओं के लिए भी दुर्लभ होता है अतः मनुष्य तो उसे प्राप्त करने में कदापि समर्थ नहीं होता ॥ ५४ ॥

अथ कम्बुः क्षुद्रशङ्खः, तज्जमौक्तिकलक्षमाह—

शङ्खस्य श्रुतिहारिणो जलनिधौ ये वंशजाः कम्बव-
स्तेष्वन्तः किल मौक्तिकं भवति यत्तच्छुक्रतारानिभम् ।
कापोताण्डसमं सुवृत्तमकृशश्रीकं सुरूपं लघु ।
स्निग्धं स्पर्शपवित्रमत्र न पुनर्मर्त्यैस्तदासाद्यते ॥ ५५ ॥

शङ्खस्येत्यादि । सुबोधमेव ॥ ५५ ॥

शंखज मोती के लक्षण—कानों में अपने शब्दमाधुर्य से आनन्द उत्पन्न करनेवाले बड़े शंख के जो छोटे छोटे समुद्र में वंशज शंख होते हैं उन में शुक्र के तारे के समान कान्तिवाला मोती होता है । वह कबूतर के अण्डे के बराबर, अतिशय गोल, अधिक तेजस्वी, सुन्दर, हलका, चिकना और स्पर्श करने से पवित्रकर होता है । यह मोती भी मनुष्यों को नहीं प्राप्त हो सकता ॥

अथ उरोगतिः सर्पः, तज्जमौक्तिकलक्षमाह—

शेषस्यान्वयिनां फणासु फणिनां यन्मौक्तिकं जायते
वृत्तं निर्मलमुज्ज्वलं शशिरुचि श्यामच्छवि[1] श्रीकरम् ॥

शेषस्येत्यादि । अन्वयिनां-कुलजानां, शशिरुचि-चन्द्रकान्ति । शेषं स्पष्टम्

सर्पज मोती के लक्षण—शेष नाग के कुल में होने वाले सर्पों के फणों में जो मोती होता है वह गोल, निर्मल, स्वच्छ, चन्द्रमा के समान शोभावाला, नीली झाईं देनेवाला और लक्ष्मीप्रद होता है ।

---

१ श्यामच्छवि श्यामाभासमिति ग्रन्थकारः ।

तत्फलमाह—

कङ्कोलाकृति कोटिकोटिसुकृतैः प्राप्नोति चेन्मानवः
स स्याद्वाजिगजाधिपो नृपसमो जातोऽपि नीचे कुले ॥ ५६ ॥
आस्ते सद्मनि चेत्स पन्नगमणिस्तं यातुधानामरा
हर्त्तुं रन्ध्रमवेक्षते तदितरः कुर्यान्महाशान्तिकम् ।

कङ्कोलाकृतीत्यादि । सद्मनि–गृहे, क्वचित् 'इतरः' इत्यत्र 'इतरत.' इति पाठभेदः । शेषं स्पष्टम् ॥ ५६ ॥

सर्पमणि के फल—कंकोल के समान आकार की उपर्युक्त लक्षणों वाली सर्पमणि मनुष्य को करोड़ों सुकर्म करने से कथंचित् प्राप्त हो जावे तो वह मनुष्य नीचकुल में उत्पन्न होनेपर भी राजा के तुल्य घोड़े और हाथियों का स्वामी होता है । वह सर्पमणि किसी के घर में हो तो उस को यातुधान और देवगण हरण करने की इच्छा से निरन्तर छिद्र देखते रहते हैं अतः उसकी शान्ति करावे ॥ ५६ ॥

अथ शुक्तिजमौक्तिकफलमाह—

वज्राघातविघट्टिताद्वलमुखाद् भ्रष्टाः पुनर्ये द्विजाः
क्षारोदन्वति यत्र यत्र पतितास्ते ते भवन्नाकराः ॥ ५७ ॥
आद्यो यः पृथुवर्वरो जलनिधौ स्यादारवाटस्ततो
नाम्ना सिंहलकोर्मिजो तदुपरि स्यात्पारसीकोऽपरः ।
अत्रोदन्वति शुक्तिजीवजठरक्रोडैककोणस्थिता
स्वातीशम्बरविन्दवः परिणमन्त्यक्लिन्नमुक्तानया ॥ ५८ ॥
सुस्निग्धं मधुवर्णमुत्तमरुचि स्यात्सिंहले मौक्तिकं
स्निग्धं पीतरुगिन्दुविम्बरुचिरं स्यादारवा (ला) टोद्भवम् ।
श्वेतं स्निग्धमतीव वन्धुरतरं स्यात्पारसीकोद्भवं
रूक्षं किंचन वर्णसंकरयुतं स्याद्वार्वरं मौक्तिकम् ॥ ५९ ॥
शोणं तूर्मिजसंभवं विदुरतिस्निग्धं तथाऽद्रायजं
चातुर्वर्ण्ययुतं सुलक्षणमतिश्लक्ष्णं कविश्रीधरम् ।
षट्स्वेतेष्वपि रुक्मिणीव जगति ख्यातिं गता रुक्मिणी
नाम्ना शुक्तिरनीदृगुत्तमगुणा सिन्धौ समुज्जृम्भते ॥ ६० ॥
तस्या गर्भभवं तु कुङ्कुमनिभं सर्वासु जातिष्वपि
श्रेष्ठं भूमिगुणं वदन्ति कृतिनः श्रेयस्करं तद्भवेत् ॥

वज्रेत्यादि । वलमुखात्–वलनामकोऽसुरस्तस्य मुखाद् भ्रष्टाः–च्युटिता ये द्विजाः दन्तास्ते यत्र यत्र क्षारोदन्वति–समुद्रे पतितास्ते ते जलनिधावाकरा अभवन् । आद्यायः पृथुवर्वर, आरवाट, सिंहलकः, ऊर्मिजः, पारसीकश्चेति । उदन्वति–समुद्रे, शम्बरविन्दवः–जलविन्दवः, पीतरुक्–पीतकान्ति, वन्धुरतरम्–अत्यर्थं रमणीय 'वन्धूरवन्धुरौ रम्ये नम्रे' इति । वर्णसंकरयुत–मिश्रितवर्णं, कविश्रीधर शुक्रतारककान्तिक, कृतिनः–पण्डिताः, शेषं स्पष्टम् ॥ ५७–६० ॥

सींप से उत्पन्न मोतियों के लक्षण और उनके उत्पत्ति-स्थान—जिस समय इन्द्र ने अपने वज्र से बल नामक असुर को मारा था। तब वज्र के प्रहार से बल के दांत टूट कर जहां जहां समुद्र में गिरे वहीं पर मोतियों के खजाने (मोती उत्पन्न होने के स्थान) हो गये। जैसे कि—आदाय. (जेरुसा पेलिस्टायन के किनारे), बर्बर (अरबस्थान का किनारा), आरवाट (कराची) उसके बाद सिंहलद्वीप और उसके समीप की जल नहरें तथा पारसीक अर्थात् ईरान देश का समुद्र भाग ये मोती होने के स्थान हैं। यहाँ के समुद्र भागों में होने वाली शुक्तियों के कीटों के पेट के एक कोड में स्वाती नक्षत्र के जल के जितने बिन्दु गिरते है वे निर्मल मोती के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं। सिंहलद्वीप के समुद्र भाग मे होने वाले मोती चिकने, शहद के वर्ण वाले और उत्तम कान्ति के होते हैं। आरवाट समुद्र भाग के मोती पीले रंग के, चिकने और चन्द्रमा के बिम्ब के तुल्य सुन्दर, ईरान समुद्र के मोती श्वेत, अतिशय चिकने और बहुत ही सुन्दर होते हैं। अरबस्थान के मोती कुछ रूखे और अनेक वर्ण मिश्रित, ऊर्मिज मोती लाल और चिकने, तथा आदाय (पेलिस्टायन) भाग के मोती लाल, पीले, श्वेत और काले रंग के तथा सुलक्षण, मृदु और शुक्रतारे के तुल्य कान्ति वाले होते हैं। आदाय आदि छहों प्रकार की शुक्तियों में रुक्मिणी नाम की शुक्ति रुक्मिणीजी की भांति जगत्प्रसिद्ध है, इसके बराबर समुद्र में अन्य शुक्तियां उत्तम गुणी नहीं हैं। इसके गर्भ में होने वाले मोती केशर के तुल्य रंग के, संपूर्ण जाति के मोतियों में श्रेष्ठ एवं बहुगुणी होते हैं ऐसा विशेषज्ञों का मत है ॥ ५७-६० ॥

स्वच्छं ह्लादि लघूदकद्युतियुतं मुक्ताफलं किंचन
स्थूलं स्निग्धमतीव निर्मलमिलाभूमौ प्रकाशं सदा ॥ ६१ ॥
आम्नायोदितमस्य मौल्यमवनौ तालद्वयीदघ्नको
राशिर्हेमकृतः कृतस्तदधमं वा मध्यमं जायते।
दोषान् पञ्च लघून्, गुरूंश्च चतुरः, षट् चैव दोषेतरान्
छायास्त्रित्वमिता गृणन्ति सुधियो मुक्तामणौ ते पुनः ॥ ६२ ॥
दीर्घं पार्श्वकृशं त्रिवृत्तमपि च त्र्यस्रं ततः कापिलं
पञ्चैते खलु मौक्तिकेषु गदिता दोषास्तु साधारणाः।
नाम्नैवोदितलक्षणाः पुनरमी चिच्छिन्नरुग्योगिता-
दौर्भाग्यप्रभुताविनाशलघुताकौलीनताकारिणः ॥ ६३ ॥
शुक्तिस्पर्शनमत्स्यनेत्रजठराकारातिरक्ताङ्कता
श्वित्राक्रोश(?)दरिद्रतामृतिकरा दोषा बृहन्तस्त्वमी।
तेष्वन्त्यौ विशदौ स्वशुक्तिसदृशस्त्वाद्यो द्वितीयस्ततो
मत्स्याक्षच्छविलाञ्छनः पुनरमी शस्ता न मुक्ताफले ॥ ६४ ॥
दीप्तिर्गौरववृत्तताविमलतासुस्निग्धताकान्तता
स्तुः षट् शुक्तिमणौ गुणा इति गुणैर्युक्तं पुनर्मौक्तिकम्।
यः कण्ठे विभृयात्समस्तजनुषामंहःसमाप्तिं नये-
च्छायास्तु त्रिविधाः स्मृता मधुसिताश्रीखण्डखण्डश्रियः ॥६५॥
वृत्तस्थूलगुरूरुरुक्छुचि शुभं नीवी तु तत्प्राप्नुया-

त्सत्यं त्वत्र तुलामुशन्ति कवयो जातिस्पृशं मौक्तिकम् ।
गुञ्जा द्वित्रियवाद्भवेदिह पुनर्माषश्चतुर्भिश्च तैः
शाणः शाणयुगात्कलञ्ज उदगान्निष्कस्तदेकादशात् ॥ ६६ ॥
इति मुक्तोत्पत्तिलक्षणानि ।

आम्नायोदितमित्यादि । यस्य-मौक्तिकस्य आम्नायोदित-शास्त्रोक्त मौल्यमवनौ-भूमौ तालद्वयीदध्नकः-ताडद्वयतुल्यो राशिर्हेमकृत' कृतस्तदधमं मध्यमं वा जायतेऽतोऽमूल्यत्वं सिद्ध्यति । अस्मिन् मुक्तामणौ सुधियः पञ्च लघून् दोषान्, चतुरो गुरून्, इतरान् षड्दोषान्, त्रित्वमिता छायाश्च गृणन्ति, पुनश्च ते 'विपश्चितो मौक्तिकेषु एते दीर्घं, पार्श्वकृशं, त्रिवृत्त, त्र्यस्र, कापिलं चेति पञ्च साधारणा दोषाः प्रोक्ता इति कथयन्ति । क्वचित् 'त्रिवृत्तमपि' इत्यत्र 'त्रिवृद्धमपि' इति, 'ततः कापिलम्' इत्यत्र ततश्चाविश्रम्' इति पाठभेदः । शेषं स्पष्टम् ॥ ६१-६६ ॥

मोती का विशेष विवेचन—यह मोती मगलदायो स्वच्छ, आह्लादकर, हल्का, पानीदार, स्थूल, अतिशय चिकना, निर्मल तथा आ ओर भूमि में सदा प्रकाश करनेवाला होता है । मोतियों की ऐसी कुछ ही योनिया हैं सब नही । उपर्युक्त मोती का मूल्य यदि शास्त्रोक्त प्रमाण से सुवण की दो तालराशि करके भो किया जावे तो भी अधम अथवा मध्यम ही होता है अतः इसका मूल्य नहीं बताया जा सकता, क्योंकि ऐसे मोती अमूल्य होते हैं । मोतियों में पाच हलके दोष, चार भारी और छ इतर मिश्रित इधर-उधर के दोष तथा तीन प्रकार की छाया (झलक) होती है । ऐसी उनकी परीक्षा करने के लिए विद्वानों ने व्यवस्था की है । मोतियों में और भी साधारण पाच दोष होते हैं लबा, पार्श्वभाग में पतला, तीन ओर से गोल, त्रिकोण और कपिश रग का । कुछ ऐसे भी हैं जो कि नाम लेने से ही उनके लक्षण पहचाने जाते हैं और वे भिन्नता, रोग, दुर्भाग्य, प्रभुता (स्वामित्व भाव) का विनाश, हलकापन और कौलीनता को करने वाले होते हैं । तथा शुक्ति (सीप) को चिपक कर रहनेवाले मत्स्य के नेत्र और पेट के आकार के तुल्य दीखने वाले, और अतिशय लाल मोती जिनके धारण से श्वेत कुष्ठ, दरिद्रता और मृत्यु होती है । ये मोती के वृहद्दोष हैं । इनमें से दो अन्त के मत्स्य के पेट के आकार के तथा अति लाल ठीक होते हैं किन्तु पहला अपनी सीप के समान और दूसरा मत्स्य के नेत्र के समान चिह्नवाले दो दोष मोती में ठीक नहीं होते । शुक्तिजमणि में दीप्ति (प्रकाश), गुरुता, गोलाई, स्वच्छता, चिकनाहट और कान्ति ये छः गुण होते हैं । इन गुणोंवाले मोतियों को जो कण्ठ में धारण करे तो ये सपूर्ण मनुष्यों के पापों को दूर करते हैं । इसकी छाया (झाँई) तीन प्रकार की होती है शहद, मिश्री और चन्दन के टुकडे सरीखा । जो मोती गोल, स्थूल, भारी और निर्मल होता है वह शुभ कहा गया है इसीको धनिक मनुष्य नीवी (मूलसपत्ति) करके रखते हैं । मोतियों के विशेषज्ञ जो मोती जातिवन्त (उत्तम) होते हैं उनको ही तराजू से तोलते है, अन्यों को नहीं । दो तीन जव की एक गुञ्जा, आठ गुञ्जा का एक माशा, चार माशे का एक शाण, दो शाण का एक कलञ्ज और ग्यारह कलञ्ज का एक निष्क होता है ॥ ६१-६६ ॥

अथ रसरत्नसमुच्चयोक्तानि सर्वेषां लक्षणानि गुणाश्च लिख्यन्ते । वज्रस्य—

वज्रं च षड्रसोपेतं सर्वरोगापहारकम् ।
सर्वाघशमनं सौख्यदाढर्यकारि रसायनम् ॥ ६७ ॥
काकपाद च भस्माङ्कं रेखाक्रान्तं तु वर्तुलम् ।

आधारं मलिनं विन्दुसंत्रासि स्फुटितं तथा ॥ ६८ ॥
नीलाभं चिपिटं रूक्ष तद्वज्रं दोपलं त्यजेत् ।

वज्रमित्यादि । सर्वाघशमनं-सकलपापहारकं, संत्रासि-वक्रं, शेषं स्पष्टम् ॥ ६७-६८ ॥

हीरे के गुण और दोष—हीरा छहों रसों से युक्त, सर्वरोगहर, सपूर्ण पापों को शान्त करने वाला, शरीर सुख, दृढता और रसायन के गुणों वाला होता है। काकपाद, मस्माङ्क, लकीरदार, गोल, आधारवाला, मलिन, विन्दु, टेढापन, फूटा हुआ, नीली झाँईवाला, चिपटा और रूखा ये वज्र (हीरे) के दोष हैं ऐसा हीरा कदापि ग्रहण न करें ॥ ६७-६८ ॥

यत्पाषाणतले निकापनिकरे नोद्घृष्यते निष्ठुरै-
र्यच्चान्योपललोहमुद्गरमुखैर्लेखं न यात्याहतम् ।
यच्चान्यान्निजलीलयैव दलयेद्वज्रेण वा भिद्यते
तज्जात्यं कुलिशं वदन्ति कुशलाः स्थाप्य महार्घं च तत् ॥ ६९ ॥

यदित्यादि । महार्घं-बहुमूल्यम् । शेषं स्पष्टम् ॥ ६९ ॥

उत्तम हीरे की परीक्षा—जो हीरा पत्थर अथवा कसौटी पर बहुत जोर से घिसने पर भी न घिसा जावे तथा अन्य पत्थर और लोह आदि के मुद्गर प्रभृति से आहत होने पर भी जिसमें लकीर तक न पड़े, किन्तु विपरीत इसके अन्य किसी भी वस्तु (धातु आदि द्रव्यमात्र) को सहज में जो फोड डाले और स्वय केवल वज्र से ही फूटे वह उत्तम हीरा होता है और उसका मूल्य भी विद्वानों ने बहुत रखा है ॥ ७२ ॥

अष्टास्रं चाष्टफलकं षट्कोणमतिभासुरम् ॥ ७० ॥
अम्बुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुंवज्रमुच्यते ।
पुस्त्रीनपुंसकं वज्रं योज्यं पुंस्त्रीनपुंसके ॥ ७१ ॥

अष्टास्रमित्यादि। अष्टास्रम्-अष्टकोणम, अष्टफलकम्-अष्टपार्श्वम्, अम्बुदो मेघ', इन्द्रधनुः प्रसिद्ध । शेष स्पष्टम् । अत्राधिकः पाठः समुपलभ्यते-'व्यत्यासान्नैव फलदं पुवज्रेण विना क्वचित् ।' इति ॥ ७०-७१ ॥

हीरे का परिचय—जो हीरा अठकोना, आठ धार वाला, छ कोना, अति तेजस्वी इन्द्रधनुष के समान कान्तिवाला और जल पर तैर सके इतना हलका हो वह पुवज्र कहाता है। पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग हीरा पुरुष, स्त्री और नपुसकों में प्रयोग किया जाता है ॥ ७०-७१ ॥

आयुष्प्रदं झटिति सद्गुणदं च वृष्यं
दोषत्रयप्रशमनं सकलामयघ्नम् ।
सूतेन्द्रबन्धरससद्गुणकार्त्स्न्यदायि
मृत्युञ्जयं तदमृतोपममेव वज्रम् ॥ ७२ ॥

आयुष्प्रदमित्यादि । सुबोधम् ॥ ७२ ॥

हीरे के अमृतोपम गुण—हीरा यह तत्काल आयु को बढाने वाला, श्रेष्ठगुणकारी, शुक्रवर्धक, पारे का बन्धन करनेवाला, रस में सपूर्ण श्रेष्ठगुणों का समावेश कराने वाला, मृत्यु को जीतने वाला और अमृत के तुल्य होता है ॥ ॥ ७२ ॥

अन्यत्रापि—

वज्रं समीरकफपित्तगदान्निहन्या-
द्वज्रोपमं च कुरुते वपुरुत्तमस्थि ।
शोषक्षयभ्रमभगन्दरमेहमेदः-
पाण्डूदरश्वयथुहारि च षड्रसाढ्यम् ॥ ७३ ॥

वज्रमित्यादि । वज्र-हीरकं वातकफपित्तरोगान्निहन्यात् । शेषं स्पष्टम् ॥ ७३ ॥

अन्यमत से हीरे के गुण-हीरा वात-कफ-पित्त के रोगों को हरण करता है, शरीर को सुन्दर और वज्र के तुल्य दृढ बनाता है तथा शोष, क्षयरोग, भ्रम (चक्कर), भगन्दर (नासूर), प्रमेह, मेदोरोग, पाडु, उदररोग और सूजनको नष्ट करता और मधुर, अम्ल आदि छ॰ रसवाला होता है ॥ ७३ ॥

अशुद्धं कुरुते वज्रं कुष्ठं पार्श्वव्यथां तथा ।
पाण्डुं तापं गुरुत्वं च तस्मात्संशोध्य मारयेत् ॥ ७४ ॥

अशुद्धमित्यादि । स्पष्टम् ॥ ७४ ॥

अशुद्ध हीरे के दोष—अशुद्ध हीरा कुष्ठ (कोढ), पार्श्ववेदना, पाडुरोग, सताप और शरीर में जडता उत्पन्न करता है अत शुद्ध करके ही उसकी भस्म करें ॥ ७४ ॥

आयुः पुष्टिं वलं वीर्यं वर्णं सौख्यं करोति च ।
सेवितं सर्वरोगघ्नं मृतं वज्रं न संशयः ॥ ७५ ॥

आयुरित्यादि । सुगमम् ॥ ७५ ॥

शुद्ध हीरे के गुण—शुद्ध किये हुए हीरे की भस्म के सेवन करने से आयु, शरीरपुष्टि, बल, वीर्य, वर्ण और सुख की प्राप्ति तथा सपूर्ण रोगों का नाश होता है ॥ ७५ ॥

अथ वज्रशोधनम्—

व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं दोलायन्त्रेण पाचयेत् ।
सप्ताहं कोद्रवक्काथे कुलिशं विमलं भवेत् ॥ ७६ ॥

व्याघ्रीत्यादि । व्याघ्रीकन्दगत-कण्टकारिकाकन्दस्थम् । शेष स्पष्टम् ॥ ७६ ॥

हीरे का शोधन—कटेरीके कन्द में हीरे को रख कर कोद्रव के कषाय में ७ दिन दोलायन्त्र से स्वेदन करने पर हीरे की शुद्धि हो जाती है ॥ ७६ ॥

अन्यत्र दिनान्यप्युक्तानि—

कुलत्थकोद्रवक्काथे दोलायन्त्रे विपाचयेत् ।
व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं त्रिदिनं तद्विशुध्यति ॥ ७७ ॥

कुलत्थेत्यादि । सुबोधमेव ॥ ७७ ॥

अन्य हीरे की शुद्धि—कटेरी के कन्द में हीरे को रख कर कुलथी और कोद्रव के क्काथ में दोलायन्त्र से तीन दिन पकानेपर हीरा शुद्ध हो जाता है ॥ ७७ ॥

---

१. व्याघ्री कण्टकारिका, इति ग्रन्थकारः ।

प्रकारान्तरम्—

व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं मृदा लिप्तं पुटे पचेत् ।
अहोरात्रात्समुद्धृत्य हयमूत्रेण सेचयेत् ॥ ७८ ॥
वज्रीक्षीरेण वा सिञ्चेत्कुलिशं विमलं भवेत् ।

व्याघ्रीत्यादि । हयमूत्रेण-अश्वमूत्रेण, वज्रीक्षीरेण स्नुहीदुग्धेन । शेषं स्पष्टम् ॥ ७८ ॥

तीसरा प्रकार—कटेरी के कन्द में हीरे को रख कर ऊपर से मिट्टी का लेपकर २४ घण्टे पुटपाक करे । बाहर निकाल कर घोडे का मूत अथवा थूहर के दूध से सेचन करे तो हीरा निर्मल हो जाता है ॥ ७८ ॥

प्रकारान्तरम्—

गृहीत्वा हि शुभे वज्रं व्याघ्रीकन्दे विनिक्षिपेत् ॥ ७९ ॥
महिषीविष्ठया लिप्त्वा करीषाग्नौ विपाचयेत् ।
त्रियामं वा चतुर्यामं यामिन्यन्तेऽश्वमूत्रके ॥ ८० ॥
सेचयेत्पाचयेदेव सप्तरात्रेण शुध्यति ।

गृहीत्वेत्यादि । करीषाग्नौ—वन्योपलाग्नौ, यामिन्यन्ते—रात्र्यन्ते । अन्यत्स्पष्टम् ।

चौथा प्रकार-हीरे को लेकर सुन्दर कटेरी के कन्द में रखे और ऊपर से भैंस के गोबर का लेप करके वनगोवरियों की अग्नि में रात को पकावे तीन अथवा चार प्रहर पकने के अनन्तर प्रात.काल घोडे के मूत में सेचन करे और फिर पकावे । इस प्रकार सात दिन में हीरा शुद्ध हो जाता है ॥ ७९-८० ॥

अथ वज्रमारणम्—

त्रिवर्षारूढकार्पासमूलमादाय पेषयेत् ॥ ८१ ॥
त्रिवर्षनागवल्ल्या वा निजद्रावैः प्रपेषयेत् ।
तद्गोलके क्षिपेद्वज्रं रुद्ध्वा गजपुटे पचेत् ॥ ८२ ॥
एवं सप्तपुटैर्नूनं कुलिशं मृतिमाप्नुयात् ।

त्रिवर्षेत्यादि । सुस्पष्टम् । इति वज्रभस्म ॥ ८१-८२ ॥

हीरे की भस्मविधि—तिवर्षी कपास अथवा तिवर्षी नागरवेल की मूल (जड) लेकर उसको उसके ही स्वरस से पीस कर गोला बनावे और उस गोले में हीरे को बन्द करके गजपुट में फूके, इस प्रकार ७ पुट देने से हीरे की भस्म हो जाती है ॥ ८१-८२ ॥

अथान्यः प्रकारः—

त्रिसप्तवारं संतप्तं खरमूत्रेण सेचितम् ॥ ८३ ॥
मत्कुणैस्तालकं पिष्ट्वा तद्गोले कुलिशं क्षिपेत् ।
प्रध्मातं वाजिमूत्रेण सिक्तं पूर्वक्रमेण वै ॥ ८४ ॥
भस्मीभवति तद्वज्रं शङ्खशीतांशुसुन्दरम् ।

त्रिसप्तवारमित्यादि । शीतांशुः—चन्द्रः, शेषं सुगमम् ॥ ८३-८४ ॥ इति वज्रभस्म ।

दूसरा प्रकार—हीरे को २१ वार अग्नि में तपा कर गधे के मूत से सेचन करे । खटमलों के रक्त से तबकी हरताल को पीसकर गोला बनावे और उस गोले में हीरे को रखे और अग्नि

में धमन करे तत्पश्चात् पुनरपि पूर्वोक्त क्रम से घोडे के मूत्र से सेचन करे तो हीरे की शख और चन्द्रमा के तुल्य श्वेतवर्ण की भस्म हो जाती है ॥ ८३-८४ ॥

अथान्यः प्रकारः—

कांस्यपात्रस्थभेकस्य मूत्रे वज्रं समावपेत् ॥ ८५ ॥
त्रिसप्तशस्तु संतप्तं वज्रमेवं मृतं भवेत् ।

कांस्येत्यादि । संतप्तं वज्रं त्रिसप्तश.–एकविंशतिवारं मुहुर्मुहुर्भेकस्य मूत्रे समावपेत् । एवं भस्म भवेत् भेकमूत्रग्रहणप्रकारस्तु टिप्पण्या द्रष्टव्य. ॥ ८५ ॥ इति वज्रभस्म ।

तीसरा प्रकार—कासे की गहरी, चौडी और सीधी कटोरी में मेढक को बैठाकर उसको अगुली से डरावे, कटोरी के चिकने होने के कारण वह बाहर निकलने में असमर्थ रहेगा और भय से मूत देगा । उस मूत में हीरे को अग्नि में तपा कर २१ बार टाले तो हीरे की भस्म हो जाता है ॥

अन्यः प्रकार.—

मेषशृङ्गं भुजङ्गास्थि कूर्मपृष्ठाम्लवेतसम् ॥ ८६ ॥
शशदन्तं समं पिष्ट्वा वज्रीक्षीरेण गोलकम् ।
कृत्वा तन्मध्यगं वज्रं म्रियते ध्मातमेव हि ॥ ८७ ॥

मेषशृङ्गमित्यादि । सुबोधमेव ॥ ८६-८७ ॥ इति वज्रभस्म ।

पाचवा प्रकार—मेढेका सींग, सर्प की हड्डी, कछुवे की पीठ, अम्लवेत और शश के दात इन पाचों को समान भाग लेकर थूहर के दूध से पीस कर गोला बनावे और उस गोले में हीरे को रख कर धमन करे तो भस्म हो जाती है ॥ ८६-८७ ॥

अथान्यः सुगम प्रकारः—

हिङ्गुसैन्धवसंयुक्ते क्षिपेत्क्वाथे कुलत्थजे ।
तप्तं तप्तं पुनर्वज्रं भवेद्भस्म त्रिसप्तधा ॥ ८८ ॥

हिङ्गुसैन्धवसंयुक्त इत्यादि । सुगमम् ॥८८॥ इति वज्रभस्म ।

छठा प्रकार—हींग और सेंधानमक सहित कुलथी के कषाय में हीरे को बार-बार तपाकर २१ बार बुझाने से उसकी भस्म हो जाती है ॥ ८८ ॥

अथ विद्रुमलक्षणगुणाः—

पक्वबिम्बीफलच्छायं वृत्तायतमवक्रकम् ।
स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं सप्तधा शुभम् ॥ ८९ ॥

पक्वेत्यादि । पक्वबिम्बीफलसदृशशोणवर्णं, वृत्तायत-वर्तुलं, शेषं सुस्पष्टम् ॥ ८९ ॥

उत्तम प्रवाल की परीक्षा-पके हुए बिंबीफल (गोल-गोल्हा) के तुल्य लाल, गोल लम्बी शाखावाले, सीधे, चिकने, अव्रण (खाचा खोवर रहित) और मोटे ये सात प्रकार के मूगे श्रेष्ठ होते हैं ॥ ८९ ॥

---

१ कास्यपात्रस्थभेकस्येत्यस्य व्याख्या—कास्यस्य उत्ताना कटोरिका, तत्रस्थो भेको मण्डूक', अङ्गुल्यादिना धर्षित पात्रस्य चिक्कणतय ावहिर्गन्तुमशक्तो भीत सन्मूत्र सृजति, इति मूत्रग्रहणार्थमयं यत्न इति भाव । इति ग्रन्थकार ।

आगाररञ्जनाक्रान्तं वक्रं सूक्ष्मं सकोटरम्।
रूक्षं कृष्णं लघु श्वेतं प्रवालमशुभं त्यजेत् ॥ ९० ॥

आगारेत्यादि। आगाररञ्जनाक्रान्तं-सुधया व्याप्ताङ्ग, सकोटर-सव्रणम्। अन्यत्स्पष्टम् ॥
अधम प्रवाल के लक्षण-जो प्रवाल (मूगा) चूने से व्याप्त अगवाला, टेढा, पतला, खाचे खोवर से युक्त, रूखा, काले रगका, हलका और श्वेत हो वह अशुभ होता है उसे त्याग देना चाहिए ॥ ९० ॥

बालार्ककिरणारक्ता सागरसलिलोद्भवा लता याऽस्ति।
न त्यजति निजरुचिं निकषे घृष्टाऽपि सा स्मृता जात्या ॥ ९१ ॥

बालार्केत्यादि। या लता बालर्ककिरणारक्ता-प्रात कालीनसूर्यकिरणवदारक्ता, समुद्र-जलोद्भवा, निकषे घृष्टाऽपि निजशोभां न त्यजति सा जात्योत्तमा विद्रुमवल्लयस्ति ॥९१॥
उत्तम प्रवाल की बेल—प्रात काल के सूर्यकिरणों के तुल्य लाल रगकी, समुद्र के जल में उत्पन्न होनेवाली और कसपर घिसने पर भी अपनी निजकान्ति को न छोडनेवाली प्रवाल की बेल उत्तम जाति की होती है।

वक्तव्य—रासायनिक दृष्टि से देखा जावे तो प्रवाल में कैल्सियम, कार्बन और आक्सिजन ये तीन ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इसका रासायनिक सूत्र कैल्सियम कार्बोनेट (Ca Co 3) होता है। फिर भी यह प्राणिज द्रव्य है इसलिए इसमें कुछ मात्रा में अन्य तत्त्वों का समावेश हो सकता है यही कारण है कि सगमर्मर के गुणों से प्रवाल के गुण भिन्न होते ह।

प्रवाल का उद्गम छिछले समुद्रों में जलजन्तुओं के द्वारा होता है। जलजन्तु जीवन निर्वाह के लिए समुद्रजल का पान करते हैं उस जल में चूना का जो अश होता है, वह उनके शरीरों में शुष्क होता है और प्रतिदिन उसकी वृद्धि चालू रहती है क्यों कि वह चूना का भाग तो समुद्र जल के साथ नित्य ही उनके शरीर में जाता है। इस प्रकार जब चूने की मात्रा बहुत ही बढ जाती है, तब ये जलजन्तु मर जाते हैं इनके मृत शरीर ही प्रवाल होते हैं। यूरोप और अफ्रिका के बीच के भूमध्यसागर में, मद्रास देश के दक्षिण समुद्र में और आस्ट्रेलिया के उत्तर सैकडों मील लम्बे चौडे चट्टानों को समुद्र में निर्माण कर दिया है जो अनन्तकाल से प्रवाल के असीम खजाने प्रस्तुत करते आये हैं और सम्प्रति भी उन जलजन्तुओं का यह क्रम अविरत चालू है।

शास्त्रोक्त उत्तम प्रवाल को जयन्ती के रस में अथवा निम्बूरस में दोलायन्त्र से शुद्ध करके जल से स्वच्छ धोकर इमामदस्ते में कूटकर कपडछन चूर्ण करे और उस चूर्ण की यदि भस्म करनी हो तो ग्वारपाठे में घोट कर टिकिया बनाकर सूखने पर गजपुट में फूक दे। इस प्रकार ७ पुट देने से उत्तम श्वेत भस्म हो जाती है। ग्वारपाठे की जगह में गोदुग्ध से भी भस्म होती है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार ह। प्रवालपिष्टि बनानी हो तो उपर्युक्त प्रवाल के कपडछान चूर्ण को अच्छे उत्तम गुलाबजल से २१ दिन सतत घुटाई करके रेशमी वस्त्र से छानकर रखले। इसको चन्द्रपुटी प्रवाल कहते हैं। घुटाई के समय नित्य रात को चन्द्र किरणों में रखने जाना चाहिए ॥ ९१ ॥

प्रवालं मधुरं साम्लं कफपित्तादिदोषनुत्।
वीर्यकान्तिकरं स्त्रीणां धृतं मङ्गलदायकम् ॥ ९२ ॥
क्षयपित्तास्रकासघ्नं दीपनं पाचनं लघु।
शमनं विषभूतादेर्विद्रुमं नेत्ररोगहृत् ॥ ९३ ॥

प्रवालमित्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ९२-९३ ॥

प्रवाल के गुण—मूंगा मधुर, अम्ल, कफ और पित्त आदि दोषोंको नष्ट करनेवाला, वीर्य और देहशोभाको बढानेवाला, शरीरपर धारण करने से स्त्रियोंके लिए मगलकारी, क्षय, पित्तरक्त और खासी को हरने वाला, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, आमाशको पचाने वाला, हलका, विष, भूत प्रेतादि दोष और नेत्ररोगोंको हरने वाला होता है ॥ ९२-९३ ॥

अथ मौक्तिकम्—

ह्लादि श्वेतं लघु स्निग्ध रश्मिवन्निर्मलं महत् ।
ख्यातं तोयप्रभं वृत्तं मौक्तिकं नवधा शुभम् ॥ ९४ ॥

ह्लादीत्यादि । रश्मिवन्निर्मलं—चन्द्रकिरणवत्स्वच्छम् , शेषं सुगमम् ॥ ९४ ॥

उत्तम मोती के लक्षण—चित्त में प्रसन्नता करने वाला, श्वेत, हलका, चिकना, चन्द्रकिरण के समान स्वच्छ, वडा, जल के तुल्य प्रतिबिम्बोत्पादक और गोल यह नव प्रकारका मोती श्रेष्ठ होता है ॥ ९४ ॥

वक्तव्य—मौक्तिक की पहले ५१ वें श्लोक में आठ योनियां कही है अर्थात् उत्पत्तिभेद से मौक्तिक आठ प्रकार के होते हैं उनमें से आज केवल शुक्तिज (सीप में उत्पन्न होने वाला) ही प्राप्य है। शेष सात प्रकार के अप्राप्य हैं। सभवत पहले ये सभी प्रकार के मोती मिलते रहे हों ? उनके गुण और प्रभाव अनुपम हैं किन्तु जब वे उपलब्ध ही नहीं हैं तब उनके विषय में विशेष चर्चा भी असामयिक और अनुभव रहित होने से अनुपयोगी है।

सप्रति शुक्तिज मोती ही प्राप्त होते हैं और उनका ही सब प्रकार से प्रयोग किया जाता है अत. उनके विषय में स्वल्पतम जानकारी आवश्यक है। रासायनिक दृष्टि से मोती और प्रवाल में कोई अन्तर नही है। प्रधानत मोती में कैल्सियम, कार्बन और आक्सिजन ये तीन ही तत्त्व पाये जाते हैं। इसका रासायनिक सूत्र CH CO 3 होता है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ अन्य तत्त्वों का समावेश भी अवश्य है जिससे औषधीय गुण उत्तम श्रेणी के प्राप्त होते हैं। सिद्धान्ततः प्रवाल, शुक्ति, सगमर्मर, शख और मोती ये सभी द्रव्य कैल्सियम कार्बोनेट की जाति के ही द्रव्य हैं। फिर भी इनमें स्वल्पतम विशेषता अवश्य है जिससे औषधीय गुणों में अन्तर देखा जाता है। औषधीय गुणों में अन्तर का कारण यह भी हो सकता है कि इनकी रचना, आकृति और योनि की भिन्नता है। मोती मुक्ताशुक्ति में बनते हैं। शुक्ति में एक प्रकार का कीडा रहता है। शुक्ति की बनावट दो शराव के सपुट के समान होती है। शुक्ति के उन दोनों ढकनों में रहने वाले की बाहरी त्वचा से एक प्रकार का स्राव निकलता है जिससे मुक्ताशुक्ति के अन्दर का चमकीला भाग अहर्निश निर्मित होता रहता है। कभी-कभी कीडे की त्वचा और शुक्ति के ढकन के बीच में किसी प्रकार के सूक्ष्म कणों के प्रविष्ट हो जाने से उन कणों के ऊपर कीडे की त्वचा के नि सृत स्राव के भिन्न भिन्न अनेक स्तर बनते जाते हैं इन स्तरों की घटना प्याज के छिलकों के समान पटलाकार की होती है और इसी लिए इनके विभिन्न अनेक पटल होते हैं। शुक्ति के ढकन और कीट की त्वचा इनके बीच में स्वाती नक्षत्र के जलबिन्दु जाने की कहावत और शास्त्रीय आधार अनन्त काल से सुना जाता है और यह सत्य भी है। स्वाती नक्षत्र के वृष्टि बिन्दुओं के प्रविष्ट होने से निर्मित होने वाले मोतियों की आभा और आकृति सर्वोत्तम होती होगी, यह निर्विवाद है।

आज कल चीन और जापान में 'कल्चर मोती' तैयार किये जाते हैं। कल्चर मोती और स्वाभाविक मोती में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्राकृतिक मोती में दैवात् शुक्ति के ढकन और

कीडे की त्वचा के बीच में कणों का प्रविष्ट होना और मोती का निर्माण होता है किन्तु कल्चर मोती के लिए मुक्ता शुक्ति को पहले से ही खोल कर उसमें बाहर से कुछ कण (प्राय मुक्ता शुक्ति के ही सूक्ष्म रज. कण) प्रविष्ट कराये जाते हैं। इन प्रविष्ट कणों पर कीट के स्राव के विभिन्न पटल निर्मित होकर मोती बन जाते हैं। सम्प्रति इस प्रकार से मोती की खेती अधिक बढाई गई है और यही कारण है कल्चर मोती स्वल्प मूल्य में मिलते हैं। कल्चर मोती और स्वाभाविक मोती का परीक्षा देखने मात्र से कोई नहीं कर सकता है अत. विश्वस्त व्यापारी से ही मोती लेना चाहिए ॥ ९४ ॥

नक्षत्राभं वृत्तमत्यन्तमुक्तं स्निग्धं स्थूलं निर्मलं निर्व्रणं च।
न्यस्तं धत्ते गौरवं यत्तुलायां तन्निर्मौल्यं मौक्तिकं सौख्यदायि ॥

नक्षत्राभमित्यादि। नक्षत्राभ-शुक्रतारकतुल्यकान्तिक, शेष सुबोधम् ॥ ९५ ॥

अमूल्य मोती के लक्षण—शुक्र के तारे के समान तजस्वी, अतिशय गोल, चिकना, स्थूल, स्वच्छ, छिद्ररहित और तराजूपर रखने से जो भारी प्रतीत हो वह मोती अमूल्य और सुखदायी होता है ॥ ९५ ॥

यद्विच्छायं मौक्तिकं व्यङ्गकायं
शुक्तिस्पर्शं रक्ततां चाति धत्ते।
मत्स्याक्षीकं रूक्षमुत्ताननिम्नं
नैतद्धार्यं धीमताऽसौख्यदायि ॥ ९६ ॥

यदित्यादि। यन्मौक्तिक विच्छाय-कान्तिहीन, व्यङ्गकायं-विकारयुक्तदेहं, शुक्तिस्पर्शं-शुक्त्या सह सम्नलम्, उत्ताननिम्नम्-उपरितनभागे गभीरं चैतदसौख्यदायि भवत्यतो धीमता न धार्यमिति। शेषं स्पष्टम् ॥ ९६ ॥

अशुभ मोती के लक्षण—जो मोती कान्तिहीन, विकृत शरीरवाला, सीप से चिपककर रहनेवाला, अतिशय लाल रग का, मत्स्य के नेत्र के तुल्य आकारका, रूखा, ऊपर में गड्ढे वाला अशुभ होता है अत बुद्धिमान् ऐसे मोती को अपने शरीरपर धारण न करे ॥ ९६ ॥

लवणक्षारक्षोदिनि पात्रे गोमूत्रपूरिते क्षिप्तम्।
मर्दितमपि शालितुषैर्यदविकृतं तत्तु मौक्तिकं जात्यम् ॥ ९७ ॥

लवणेत्यादि। सैन्धवलवणस्वर्जिकक्षारचूर्णयुक्तगोमूत्रपूरितपात्रे, धान्यतुषैर्मर्दितमप्यविकृतं तत्तु मौक्तिकमुत्तमजातियुक्तमिति बोध्यम् ॥ ९७ ॥

जातिवन्त मोती के लक्षण—सेन्धा नमक और सज्जाखार के चूर्ण सहित गोमूत्र से भरे हुए पात्र में मोती को डालकर धान्य के तुषोंसे मर्दन करनेपर भी जो विकृत न हो वह मोती उत्तम जाति का होता है ॥ ९७ ॥

मौक्तिकं सुमधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम्।
राजयक्ष्मपरिकोपनाशनं क्षीणवीर्यबलपुष्टिवर्धनम् ॥ ९८ ॥
कफपित्तक्षयध्वंसि कासश्वासाग्निमान्द्यनुत्।
पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम् ॥ ९९ ॥

मौक्तिकमित्यादि। राजयक्ष्मपरिकोपनाशनं-क्षयरोगापहारकं, वृष्य-शुक्रवर्धकम्, अन्यत्स्पष्टम् ॥ ९८-९९ ॥

मोती के गुण—मोती मीठा, शीतल, नेत्ररोगनाशक, विषहारक, सर्वशरीर में प्रसृत क्षयरोग को नष्ट करनेवाला, क्षीण वीर्य, बल और पुष्टिको बढानेवाला, कफ, पित्त और क्षय का ध्वस करने वाला, खासी, श्वास और मन्दाग्निका हरण करनेवाला, शरीरपुष्टि शुक्रवृद्धि और आयुष्य को देकर दाह को नष्ट करने वाला होता है ॥ ९८-९९ ॥

अथ माणिक्यं पद्मराग इति च—

> माणिक्यं मधुरं स्निग्धं वातपित्तविनाशनम् ।
> रत्नप्रयोगविज्ञानां रसायनकरं परम् ॥ १०० ॥
> स्निग्धं सुगात्ररचितं दीप्तं स्वच्छं सुरङ्गं च ।
> तज्जात्यं माणिक्यं कल्याणं धारणात्कुरुते ॥ १०१ ॥

माणिक्यमित्यादि । रत्नप्रयोगविज्ञानां-रत्नप्रयोगकरणचतुराणां, सुगात्ररचितं-शरीरसौष्ठवयुक्त, तज्जात्यं-तदुत्तमं धारणात्कल्याणं कुरुते । अन्यत्स्पष्टम् ।

उत्तम माणिक्य के लक्षण—रत्नप्रयोग करने में चतुर वैद्यों के मत में पद्मरागमणि मधुर, चिकनी, वात और पित्तको नष्ट करने वाली और उत्तम रसायन होती है । चिकना, बनावट में सुन्दर, तेजस्वी निर्मल, सुन्दर रगवाली पद्मरागमणि उत्तम जाति की होती है । उसके धारण करने से मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है ।

वक्तव्य—मानिक यह कुरुविन्द जाति का महारत्न है । इसका विशिष्ट गुरुत्व ४ और काठिन्य ९ होता है जो कि हीरे से किंचित् मात्र ही कम है । हीरे का काठिन्य सब से अधिक होता है जिसको वैज्ञानिकों ने १० माना है । जो माणिक्य कन्धारी अनार के दाने के समान लाल तथा लाल कमल और जसौन के फूल के समान लाल होता है, स्वच्छ, स्निग्धस्पर्श और व्रण छेद-रहित होता है, वह उत्तम कहलाता है । माणिक्य प्रधानत. अल्युमिनियम और ऑक्सिजन का यौगिक है, इसमें लोहे और क्रोमियम के अल्पमिश्रण से लाल रग आता है । वर्मा, सीलोन, स्याम आदि देशों में मानिक की खाने हैं जिनसे इसकी प्राप्ति होती है ॥ १००-१०१ ॥

> यद्विच्छायं शर्करिलं कर्कशधूम्रं स्वरागविकलं च ।
> विरूपलघु माणिक्यं न धार्यं दोषावहं त्याज्यम् ॥ १०२ ॥

यदित्यादि । यन्माणिक्य विच्छायं-विगतकान्तिक, शर्करिलं-कणान्तर्वर्ति, कर्कशधूम्रं परुषान्वितधूसरवर्णं, स्वरागविकल-स्वाभाविकस्ववर्णहीनं, विरूपलघु इत्येवं दोषावहं न धार्यं, किन्तु त्याज्यम् ॥ १०२ ॥

अशुभ माणिक्य के लक्षण—आभारहित, बालू के तुल्य कणों वाला, कर्कश, धूसर वर्ण का, अपने स्वाभाविक वर्ण से हीन, विकृत और हलका माणिक्य दोषयुक्त होता है अतः उसको शरीर पर धारण नहीं करना चाहिये किन्तु त्याग देना चाहिये ॥ १०२ ॥

> कुशेशयदलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं महत्स्फुटम् ।
> वृत्तायतं समं गात्रं माणिक्य त्वष्टधा शुभम् ॥ १०३ ॥

कुशेशयमित्यादि । कुशेशयदलच्छाय-लोहितकमलपत्रतुल्यकान्तिक, महत्-वृहत्, क्वचित् 'महत्' इत्यत्र 'गुरु' इति पाठभेद' । अन्यत्स्पष्टम् ॥ १०३ ॥

श्रेष्ठ माणिक्य के आठ प्रकार—लाल कमल के पत्र के समान कान्तिवाला, निर्मल, चिकना, बड़ा, कांन के तुल्य विशद, गोल, लम्बा और समटोल शरीर ऐसा आठ प्रकार का माणिक्य श्रेष्ठ होता है ॥ १०३ ॥

माणिक्यं दीपनं वृष्यं कफवातक्षयार्तिनुत् ।
भूतवेतालपापघ्नं कर्मजव्याधिनाशनम् ॥ १०४ ॥

माणिक्यमित्यादि । सुस्पष्टम् ॥ १०४ ॥

माणिक्य के गुण—पद्मरागमणि अग्नि का दीपन करने वाली, वीर्यवर्धक, कफ और वायु के क्षय को नष्ट करने वाली, भूत, वेताल और पापदोष को हरने वाली तथा कर्मज व्याधियों का नाश करने वाली होती है ॥ १०४ ॥

अथ गारुत्मतम्—

मरकतं विषघ्नं हि शीतलं मधुरं रसे ।
अम्लपित्तहरं रुच्यं पुष्टिदं भूतनाशनम् ॥ १०५ ॥
स्वच्छं च गुरु सुच्छायं स्निग्धं गात्रं च मार्दवम् ।
अव्यङ्गं बहुरङ्गं च शुभं मरकतं मतम् ॥ १०६ ॥

मरकतमित्यादि । मरकत विषघ्नं-विषहर, भूतनाशन-प्रेतादिदोषघ्न, सुच्छायं-सुन्दरकान्तिक, शेषं सुबोधम् ॥ १०५-१०६ ॥

उत्तम मरकतमणि के लक्षण—मरकतमणि विष को हरने वाली, शीतल, रस में मीठी, अम्लपित्तहारक, रुचि को उत्पन्न करने वाली, पुष्टिकारक और भूतदोष को हरण करने वाली होती है । निर्मल, भारी, सुन्दर, आबदार, चिकनी, मृदुगात्र की, व्यङ्गरहित और बहुरंगी मरकतमणि उत्तम होती है ।

वक्तव्य—मरकत अर्थात् पन्ना हरे रंग का प्रसिद्ध महारत्न है । पन्ना सिलिका, अल्युमिना, बेरिलियम् और ऑक्सिजन इन चार तत्वों का यौगिक है । जो पन्ना बांस के पत्ते और केले के पत्ते जैसा हरे रंग का, छिद्र और बुद्बुदरहित, स्निग्धस्पर्श और तेजस्वी होता है वह श्रेष्ठ होता है । क्रोमिक आक्साइड के योग से इसका रंग सुन्दर सा हरा हो जाता है । अंग्रेजी में इसको एमेरल्ड कहते हैं । पन्ना के पारदर्शक खण्ड बहुमूल्य होते हैं । पन्ने का विशिष्ट गुरुत्व ३॥ और काठिन्य ७॥ होता है ॥ १०५-१०६ ॥

शर्करिलरूक्षमलिनं लघु हीनकान्तिमकल्मापम् ।
त्रासयुतं विकृताङ्गं मरकतममरोऽपि नोपभुञ्जीत ॥ १०७ ॥

शर्करिलेत्यादि । हीनकान्तिमकल्मापं-शोभाहीनमनेकवर्णं, त्रासयुत-वक्रतायुक्तं विकृताङ्गं-विकृतदेह, मरकतं देवोऽपि नोपभुञ्जीत किं पुनर्मनुजः ॥ १०७ ॥

अशुभ पन्ना के लक्षण—बालू के तुल्य कणदार, रूखा, मलिन, हलका, हीनकान्ति, चित्र विचित्र रंग वाला, वक्र और विकृत अंग के मरकत का देव भी स्वयं उपयोग न करे क्योंकि इसका अनिष्ट अपरिहार्य होता है अतः मनुष्य की तो चर्चा ही क्या ॥ १०७ ॥

यच्छैवालशिखण्डिशाड्वलहरित्काचैश्च काकच्छदैः
खद्योतेन च बालकीरवपुषा शैरीषपुष्पेण च ।

छायाभिः सततं दधाति तदिदं निर्दिष्टमष्टात्मकं
जात्यं यत्तपनातपैश्च परितो गारुत्मतं रञ्जयत् ॥१०८॥

यदित्यादि। शैवालः—जलनीलिः, शिखण्डी—मयूरः, शाद्वलः—दूर्वा, हरित्कायः—हरिद्वर्णलिका-कषायस्तैः, क्वचित् 'हरित्कषायैः' इत्यत्र 'हरित्काचैः' इति पाठभेदः। काकच्छदैः—काकपक्षैः, खद्योतेन—खम् आकाशं द्योतयति यस्तेन ज्योतिरिङ्गणेन, बालकीर-वपुषा, शैरीषपुष्पेण च सदृशैः छायाभिः सततं—निरन्तर दधाति तदिदम् अष्टात्मकं निर्दिष्टं, यच्च गारुत्मतं तपनातपैः—सूर्यरश्मिभिः परितो रञ्जयेत्तज्जात्यम्—उत्तमं भवति ॥ १०८ ॥

उत्तम पन्ना के लक्षण—जो पन्ना शैवाल, मोर की पाख, घास, हरे रंग का कषाय अथवा काच, कौआ की पाख, जुगनू, बालकीर का शरीर और शिरीष पुष्प इनकी छाया (झांई) के तुल्य आभा को निरन्तर धारण करने वाला आठ प्रकार का होता है। वह मरकत सूर्य किरणों से संयुक्त करने पर अपने रंग से चौतरफ से रंजित कर दे तो उसे उत्तम जाति का जानना चाहिए ॥ १०८ ॥

अथ वैदूर्यम्—

वैदूर्यमुष्णमम्लं च कफमारुतनाशनम् ।
गुल्मप्रभृतिरोगघ्नं भूमिजं च शुभावहम् ॥ १०९ ॥

वैदूर्यमित्यादि। सुबोधम् ॥ १०९ ॥

उत्तम वैदूर्य मणि के लक्षण—वैडूर्य उष्ण, खट्टा, कफ वायु को नष्ट करने वाला, गुल्म (वायुगोला) आदि रोगों को हरण करने वाला है। यह भूमिज सुखकारी और उत्तम होता है।

वक्तव्य—वैडूर्यमणि का रंग और दिखाव बिल्ली की आंखों के समान चमकदार होता है। यही कारण है कि इसका दूसरा नाम बिडालाक्ष भी है। बिल्ली के नेत्रों में जिस प्रकार की चमकदार रेखायें होती हैं उसी प्रकार वैडूर्यमणि के अन्तर्भाग गर्भ में भी अभ्रक के समान श्वेत वर्ण की रेखायें होती हैं। वैडूर्य की संघटना में प्रधानतः अल्युमिनियम् और बेरिलियम् तथा स्वल्प प्रमाण में अयस् और क्रोमियम् नाम के तत्त्व होते हैं। वैदूर्य का विशिष्ट गुरुत्व ३॥ और काठिन्य ८॥ होता है। रासायनिक दृष्टि से देखा जावे तो वैदूर्य और गोमेद में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। वैदूर्य सर्वत्र गोमेद के साथ पाया जाता है। ऊष्मा और ताप से वैदूर्य के रंग में कुछ परिवर्तन होते देखा गया है। वैदूर्य में सिलिकान और आक्सिजन ये मुख्य होते हैं अन्य स्वल्प प्रमाण में मिलते हैं ॥ १०९ ॥

एकं वेणुपलाशपेशलरुचा मायूरकण्ठत्विषा
मार्जारेक्षणपिङ्गलच्छविजुषा ज्ञेयं त्रिधा छायया ।
यद्गात्रं गुरुतां दधाति नितरां स्निग्धं तु दोषोज्झितं
वैदूर्यं विदलं वदन्ति सुधियः स्वच्छं च तच्छोभनम् ॥ ११० ॥

एकमित्यादि। वेणुपलाशपेशलरुचा—वेणुपलाशचारुकान्तिनैकं, मायूरकण्ठत्विषा—मयूरकण्ठसदृशप्रभयैकं, मार्जारेक्षणपिङ्गलच्छविजुषा बिडालेक्षणतुल्यपिङ्गलकान्तिधारिणा चैकमेवं छायया त्रिधा वैदूर्यं ज्ञेयम्। दोषोज्झितं—दोषरहितं, शेषं सुगमम् ॥ ११० ॥

उत्तम विदूरज मणि—एकबार जिसमें बाँस और पलाश के तुल्य सुन्दर कान्ति (झलके) दीखती है तो एक बार मोर के कण्ठ के समान छाया पड़ता है तो एक बार बिलाव के नेत्रों के समान पिङ्गल छवि धारण की हुई सी प्रतीत होती है। इस प्रकार की छायाओं से विदुरमणि तीन प्रकार की होती है। जो वैदूर्य तोल में भारी, चिकना, दोषरहित, दलहीन और निर्मल हो उसको विद्वानों ने उत्तम माना है ॥ ११० ॥

विच्छायं मृच्छिलागर्भं लघु रूक्षं त्वसत्कृतम्।
सत्रासं चिपिटं कृष्णं वैदूर्यं दूरतस्त्यजेत् ॥ १११ ॥

विच्छायमित्यादि। स्पष्टम् ॥ १११ ॥

अशुभ वैदूर्यमणि—आभारहित, मिट्टी और पत्थर के भाग से युक्त, हलका, रूखा, अशुभ कर, वक्र अथवा त्रासदायी, चिपटा और काला वैदूर्य सदैव त्याग देना चाहिए ॥ १११ ॥

वैदूर्यं श्यामशुभ्राभं समं स्वच्छं गुरु स्फुटम्।
भ्रमच्छुभ्रोत्तरीयेण गर्भितं शुभमीरितम् ॥ ११२ ॥
घृष्टं यदात्मना स्वच्छं स्वच्छायां निकषात्मनि।
स्फुटं प्रदर्शयेदेतद्वैदूर्यं जात्यमुच्यते ॥ ११३ ॥

वैदूर्यमित्यादि। सुगमम् ॥ ११२-११३ ॥

उत्तम एवं जातिवन्त वैदूर्य के लक्षण—श्याम एवं श्वेत आभायुक्त, समआकारवाला, निर्मल, भारी, स्फुट, बीचोबीच लहराते हुये उत्तरीय के तुल्य श्वेत रेखा (लकीर) वाला वैदूर्य शुभ होता है। जो कस पर घिसने से स्वच्छ प्रतीत हो और उस स्वच्छता में स्पष्ट काच के तुल्य पारदर्शिता झलकती हो वह उत्तम जतिका वैदूर्य समझना चाहिए ॥ ११२-११३ ॥

वैदूर्यं रक्तपित्तघ्नं प्रजायुर्बलवर्धनम्।
पित्तप्रधानरोगघ्नं दीपनं वृष्यमेव च ॥ ११४ ॥

वैदूर्यमित्यादि। सुगमम् ॥ ११४ ॥

वैदूर्य के गुण—वैदूर्य रक्तपित्त को नष्ट करता, सन्तान, आयु और बल को बढाता है, पित्तप्रधान समस्त रोगों का नाश करता है तथा अग्निदीपन और वीर्यवर्धक होता है ॥ ११४ ॥

अथ गोमेदम्—

सुस्वच्छगोजलच्छायं स्निग्धं स्वच्छं समं गुरु।
निर्दलं मसृणं दीप्तं गोमेदं शुभमग्र्यधा ॥ ११५ ॥
गोमेदकोऽम्ल उष्णश्च वातकोपविकारजित्।
दीपनः पाचनश्चैव धृतोऽयं पापनाशनः ॥ ११६ ॥
पात्रे यत्र न्यस्ते पयः प्रयात्येव गोजलोज्ज्वलितम्।
घर्षेऽप्यहीनकान्ति गोमेदं तं बुधा विदुर्जात्यम् ॥ ११७ ॥
गोमेदं कफपित्तघ्नं क्षयपाण्डुक्षयङ्करम्।
दीपनं पाचनं रुच्यं त्वच्यं बुद्धिप्रबोधनम् ॥ ११८ ॥

सुस्वच्छेत्यादि। सुस्वच्छगोजलच्छायं-निर्मलगोमूत्राभ, मसृणं मृदु, गोजलोज्ज्वलितं-गोमूत्रच्छवि, अहीनकान्ति-पूर्ववत्कान्ति, शेषं स्पष्टम् ॥ ११५-११८ ॥

गोदमेद की श्रेष्ठता और उसके गुण—गोमेद निर्मल गोमूत्र के समान झलकवाला, चिकना, स्वच्छ, समडौल, भारी, दलरहित, मृदु और प्रकाशमान इन आठ लक्षणोंवाला शुभ होता है। गोमेद खट्टा, उष्ण, प्रकुपितवात विकार को नष्ट करनेवाला, अग्निदीपन, आमाश का पाचन करनेवाला और शरीर पर धारण करने से पापनाशक होता है। जिस पात्र में दूध को रखने से वह दूध गोमूत्र के बराबर रंगवाला होवे, कष पर घिसने से भी जिसकी कान्ति ज्यों की त्यों रहे कम न हो उसको बुद्धिमानों ने उत्तम जाति का गोमेद कहा है। गोमेद कफपित्त को नष्ट करता, क्षयरोग और पाण्डुरोग को दूर भगाता, दीपक, पाचन, रुचिकारक, त्वचा को सुन्दर करनेवाला और बुद्धिवर्धक होता है॥

वक्तव्य—गोमेद रत्न गाय के मेद (चर्बी) के समान वर्ण का हल्का पीले रंग का होता है। यही कारण है कि इसका नाम गोमेद रखा गया है। इसकी पुष्टि में रसेन्द्रचूडामणिकार लिखता है कि **'गोमेदः समरागत्वाद् गोमेदं रत्नमुच्यते।'** कुछ लोगों की यह मान्यता है कि अकीक यह गोमेद ही है। गोमेद का ही दूसरा नाम अकीक है किन्तु यह सर्वथा ठीक नहीं है गोमेद की संघटना और अकीक तथा वैदूर्य की संघटना प्रायशः समान है फिर भी अकीक के पत्थर कई रंग के होते हैं, किन्तु गोमेद एक ही रंग का होता है। अकीक रक्त वर्ण की उत्तम होती है।

गोमेद में सिकता में पाये जानेवाले तत्त्व बहुत अधिक मात्रा में होते हैं। कुछ परिमाण में अल्युमिनियम आक्साइड भी होते हैं। इसमें लोहा और मैंगेनीज के स्वल्प अंश होते हैं इसीलिए ऐसा रंग होता है। यह बहुत ही मजबूत पत्थर होता है इसलिए इसके खरल अच्छे माने जाते हैं। गोमेद और अकीक दोनों के खरल होते हैं जो रत्नों की घुटाई के लिए विशेष उपयोगी होते हैं। गोमेद का विशिष्ट गुरुत्व ३½ और काठिन्य ७½ होता है।

अकीक

अकीक की संघटना में ७० से ९० प्रतिशत सिकता (सिलिका) और न्यूनाधिक परिमाण में अल्युमिनियम, आक्साइड् ऑफ् आयर्न अथवा आक्साइड् ऑफ मैंगेनीज़ होता है। सगे सुलेमानी (आनिक्स), ओपल और वैदूर्य (लहसुनिया) ये भी अकीक की जाति के ही पत्थर हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ये सब अकीक ही हैं। इन सबके गुणधर्मों में अन्तर हैं और इसीलिए ये विभिन्न हैं॥ ११५-११८॥

विच्छायं लघु रूक्षाङ्गं चिपिटं पटलाचितम्।
निष्प्रभं पीतकाचाभं गोमेदं न शुभावहम्॥ ११९॥

विच्छायमित्यादि। पटलाचित-संस्तरान्वितम्, अन्यत्स्पष्टम्॥ ११९॥

अशुभ गोमेद के लक्षण—अभारहित हलका, रूखे अङ्गका, चिपटा, दलदार निस्तेज और पीले काच सरीखा गोमेद शुभ नहीं होता॥ ११९॥

अथेन्द्रनीलम्—

एकच्छायं गुरु स्निग्धं स्वच्छं पिण्डितविग्रहम्।
मृदुर्मध्ये लसज्ज्योति सप्तधा नीलमुत्तमम्॥ १२०॥
श्वासकासहरं वृष्यं त्रिदोषघ्नं सुदीपनम्।
विषमज्वरदुर्नामपापघ्नं नीलमीरितम्॥ १२१॥
नीलकस्तिक्तकः श्रेष्ठ कफपित्तानिलापहः।

यो दधाति शरीरस्य शौरिर्मङ्गलदो भवेत् ॥ १२२ ॥
न निम्नो निर्मलो गात्रे मसृणो गुरुर्दीप्तिक। ।
तृणग्राही मृदुर्नीलो दुर्लभो लक्षणान्वितः ॥ १२३ ॥

एकच्छायमित्यादि। पिण्डितविग्रह–पिण्डीभूतशरीरम्, अन्यत्स्पष्टम् ॥ १२०–१२३ ॥

नीलम—एकरङ्गी छाया (झाईं) वाला, भारी, चिकना, निर्मल, गोल, कोमल और मध्य में प्रकाशयुक्त नीलम उत्तम होता है। नीलम यह श्वास और खासी का हरण करता, वीर्यवर्धक, त्रिदोषनाशक, उत्तम अग्निदीपक, विषमज्वर, बवासीर और पापों को नष्ट करनेवाला होता है। नीलम तिक्तरस का और श्रेष्ठ कफपित्त वायु को नष्ट करनेवाला है। इसे शरीरपर धारण करने से शनैश्चर मंगलदायी होता है। जिस नीलममें निम्नता (गढा) न हो, निर्मल, भारी, तेजस्वी, तृणग्राही (अर्थात् नीलम की उत्तमता के लिए तृणग्राहित्व होना बहुत ही आवश्यक है। इन्द्रनील-मणिको रेशमी वस्त्रसे घिसकर घास आदि हलका तृण उसके समीप लानेसे वह तृण तत्काल उस नीलम से चिपक जाता है। यह विद्युत शक्ति के अनुसार चमत्कार इसमें देखने को मिलता है) और मृदु हो वह नीलम दुष्प्राप्य होता है।

वक्तव्य—नीलम कुरुविन्द जातिका रत्न है। यह इन्द्रनील और जलनील भेद से दो प्रकार का होता है। जो नीलम गहरा नीला और वजनदार होता है वह इन्द्रनील कहलाता है। इन्द्र नील यह श्रेष्ठ और धारण तथा औषधोपयोगी होता है। दूसरा सफेदी लिए हुए नीला होता है और वजन में हलका होता है वह जलनील कहलाता है। नीलम अल्युमिनियम् और ऑक्सिजन का यौगिक होता है। इसमें कोबाल्ट स्वल्प मात्रा में मिश्रित होने से इसका रंग नीला होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ४ और काठिन्य ९ होता है ॥ १२०–१२३ ॥

सितशोणपीतकृष्णाश्छाया नीले क्रमादिमाः कथिताः ।
विप्रादिवर्णसिद्ध्यै धारणमस्यापि वज्रवत्फलवत् ॥ १२४ ॥
अस्त्यानचन्द्रिकास्यन्दसुन्दरीक्षीरपूरितम् ।
यत्पात्रं रञ्जयत्याशु स जात्यो नील उच्यते ॥ १२५ ॥

सितेत्यादि। नीले विप्रादिवर्णचतुष्टयसिद्ध्यै क्रमश इमाः श्वेतरक्तपीतकृष्णा छाया–आभा कथिता अस्यापि धारणं शरीरे हीरतुल्यफलदायि स्यात्। पूर्णमासीदिने प्रसृतचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहे स्थितरम्यरामाकरनिहितदुग्धभरितं यत्पात्रं तदुपरि नीलमणेः प्रकाशमर्पयेत्तेन सर्वं दुग्धादिकं शीघ्रमेव नीलवर्णं भवेच्चेत्तर्हि सर्वोत्तमजातिको नील इत्युच्यत इति भावार्थः ॥ १२४–१२५ ॥

नीलम के वर्ण, उसके धारण करने के फल और उसकी उत्तमता की परीक्षा–नीलम में क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्ण का श्वेत, लाल, पीली और काले रंग की चार प्रकारकी छाया होती है। नीलमका धारण हीरेके तुल्य फलवाला होता है। पूर्णिमा के दिन भलीभांति फैली हुई चन्द्रमाकी चांदनी में खडी हुई गौरवर्ण वाली सुन्दर स्त्रीके हाथ में दूध से भरा पात्र देवे और उस पात्रपर नीलमणि का प्रकाश डाले यदि वह मणि अपने प्रकाश से दूध के पात्र और सुन्दरी आदि पर नीलिमा तत्काल उत्पन्न कर दे तो उसको उत्तम जाति का नीलम समझना चाहिए ॥

अथ पुष्परागम्—

सच्छायपीतगुरुगात्रसुरङ्गशुद्धं
स्निग्धं च निर्मलमतीव सुवृत्तशीतम् ।

यत्पुष्परागममलं क्षयनाशकारि
पुष्णाति कीर्तिमतिशौर्यसुखायुरर्थान् ॥ १२६ ॥

सच्छायेत्यादि । सुबोधम् ॥ १२६ ॥

पुखराज —उत्तम पीली कान्तिवाला, तोलमें भारी, सुन्दर रगका शुद्ध, चिकना, अतिशय स्वच्छ (पारदर्शी) और गोल, इस प्रकारका पुखराज, निर्दोष, क्षयरोगनाशक, कीर्ति, पराक्रम, सुख, आयु और सपत्तिको बढाता है ।

वक्तव्य—पुखराज कुरुविन्द जातिका महारत्न है । रासायनिक दृष्टि से पुखराज में अल्युमिनम फ्लोरीन, सिलिकान और ऑक्सिजन तथा कुछ जलीय अश पाया जाता है । इसका विशिष्टगुरुत्व ३½ और काठिन्य ८ होता है । इसके टुकडे प्राय रगहीन अपितु हलके पीले या नीले रगके अथवा नीले से हरे और गुलाबी भी होते ह । पुखराज के टुकडे प्रायश॰ चतुष्कोण होते हैं । जो पुखराज चपा या अमलतास के फूल के समान पीतवर्ण, स्निग्धस्पर्श, छिद्ररहित और चमकदार तथा भारा होता है वह उत्तम होता है । पुखराज माणिक्य के साथ में मिलता है वह उत्तम होता है ॥ १२६ ॥

कृष्णविन्द्वङ्कितं द्व्यक्षं धवलं मलिनं लघु ।
विच्छायं शर्कराङ्काभं पुष्परागं सदोषकम् ॥ १२७ ॥

कृष्णविन्द्वित्यादि । कृष्णविन्द्वङ्कितं–कृष्णविन्दुयुक्तं, द्व्यक्ष–द्विच्छिद्र, विरङ्गं, शर्कराङ्काभं–सिकतातुल्यकान्तिकं पुष्पराग दोषल भवति । शेष सुबोधम् ॥ १२७ ॥

दोषयुक्त पुखराजके लक्षण—काले रगकी बूँदबूँदसीवाला, दो छिद्रयुक्त, श्वेतवर्णका, मलिन, हलका, वेरग का और और बालू के कण सदृश शरीर वाला पुखराज उत्तम नहा होता है ॥१२७॥

घृष्टो निकषपदे यत्पुष्यति यो रागमधिकमात्मीयम् ।
एप खलु पुष्परागो जात्यस्तथाऽयं परीक्षकैरुक्त॰ ॥ १२८ ॥

घृष्ट इत्यादि । निकपपदे–निकपपट्टे यो घृष्ट॰ सन्नात्मीय–स्वकीयमधिकं रागं यत्पुष्यति–जनयति । एप खलु पुष्परागो जात्य॰–श्रेष्ठ इति परीक्षकैरुक्त॰ ॥ १२८ ॥

उत्तम पुखराज–जो पुखराज कसपर घिसने से अपने रग को अधिक बढाता हो, उसको रत्नपरीक्षकोंने उत्तम जाति का कहा है ॥ १२८ ॥

पुष्परागं गुरु स्निग्धं स्वच्छं स्थूलं समं मृदु ।
कर्णिकारप्रसूनाभं मसृणं शुभमष्टधा ॥ १२९ ॥
पुष्परागं विषच्छर्दिकफवाताग्निमान्द्यनुत् ।
कुष्ठार्शोदाहरोगघ्नं दीपनं लघु पाचनम् ॥ १३० ॥

पुष्परागमित्यादि । मसृणम्–अकर्कशं, शेष सुगमम् ॥ १२९–१३० ॥

श्रेष्ठ पुखराज और उसके गुण—भारी, चिकना, निर्मल, स्थूल, समडोल, कोमल, कनेर के फूल के समान आकार का और अकर्कश भेद से आठ प्रकार का पुखराज शुभ होता है । पुखराज विष, वमन, कफ वायु, मन्दाग्नि, कुष्ठरोग, बवासीर और दाह को नष्ट करता तथा दीपन, पाचन, और हलका होता है ॥ १२९–१३० ॥

अथ सर्वेषां समुचितं लक्षम्—

श्यामः स्यादिन्द्रनीलस्त्वतिमसृणतनुश्चाथ गारुत्मतः स्या-
न्नीलच्छायोऽतिदीप्तोऽप्यथ मिहिरमणिः सूर्यतप्तोऽग्निमुक् स्यात् ।
चन्द्रांशुस्पर्शतोऽम्भः स्रवति शशिमणिः पुष्परागस्तु पुष्प-
प्रख्यः श्रीवज्रमुच्चैर्घनसमभिहतं संविशेल्लोहपिण्डे ॥ १३१ ॥
वैदूर्यं यद्बिडालेक्षणरुचि गदितं स्याच्च गोमेदरत्नं
गोमूत्राभं विधूमज्वलदनलनिभं पद्मरागं वदन्ति ।
मुक्ताशङ्खप्रवालं सरिदधिपतिजं विश्वविख्यातमेत-
द्राजावर्तं तु पीतारुणमृदुसुरभिक्षोणिभागोत्थमाहुः ॥ १३२ ॥

श्याम इत्यादि । इन्द्रनीलः श्यामवर्णोऽतिमसृणतनुः—भृशं चिक्कणदेहः, गारुत्मतो नीलच्छायः—नीलच्छविः, अतिदीप्तः—प्रचुरप्रकाशः, मिहिरमणिः—सूर्यकान्तमणिः सूर्यतेजसा तप्तोऽग्निमुक् स्यात्, शशिमणिः—चन्द्रकान्तमणिश्चन्द्रांशुस्पर्शतोऽम्भः स्रवति, पुष्परागः पुष्पप्रख्यः—कुसुमसदृशः, श्रीवज्रः—हीरकः लोहपिण्डोपरि स्थापयित्वा उच्चैर्घनेन सम्यग-भिहतः लोहपिण्डे संविशेत् । बिडालेक्षणरुचि वैदूर्यं, गोमूत्राभं गोमेदरत्नं, पद्मरागं विधू-मज्वलदनलनिभं निर्धूमप्रज्वलिताग्निसदृशकान्तिकं च भवति । मुक्ताशङ्खप्रवालं सरिद-धिपतिजं—समुद्रजमिति विश्वविख्यातम् । शेषं सुबोधम् ॥ १३१–१३२ ॥

संपूर्ण रत्नों के समुचित लक्षण—नीलम—नीला और अतिशय चिकना, पन्ना नीली झाँई का और अति तेजस्वी, सूर्यकान्तमणि सूर्य के सामने करने से अग्नि उत्पन्न करने वाली, चन्द्रकान्तमणि—चन्द्रमा की किरणों से स्पर्श होने से जलस्राव करने वाली, पुखराज करने के फूल के समान, हीरा लोह पर धरकर ऊँचे से घन की चोट लगाने से लोहपिण्ड में घुस जाने-वाला, वैडूर्य—बिल्ली के नेत्रों के समान चमकने वाला, गोमेद (लाल ओनिक्स) गोमूत्र के रंग वाला, पद्मराग (माणिक) निर्धूम प्रज्वलित अग्नि के तुल्य, मोती, शंख और प्रवाल (मूँगा) समुद्र में होते हैं, यह सर्वविदित है । लाजवर्द (रेवटी) पीला, लाल, कोमल और सुगन्धित भूभाग में होता है ऐसा विज्ञों का मत है ॥ १३१–१३२ ॥

अथ पञ्चरत्नानि—

पुष्परागं महानीलं पद्मरागं सवज्रकम् ।
मरकतं चेति पञ्च प्रोक्ता रत्नवराः शुभाः ॥ १३३ ॥

पुष्परागमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १३३ ॥

पंचरत्न—पुखराज, नीलम, पद्मराग, हीरा और मरकत ये पाँच पञ्चरत्न कहलाते हैं ॥ १३३ ॥

अथ मणयः—

वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः ।
चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजवर्तश्च सप्तमः ॥
गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयो ह्यमी ॥ १३४ ॥
पूर्वोक्ताश्च ।

वैक्रान्त इत्यादि । सुगमम् ॥ १३४ ॥

आठ मणियों के नाम-वैक्रान्त, सूर्यकान्त, हीर, मोती, मणि, चन्द्रकान्त, लाजवर्द और पन्ना। ये आठ मणियाँ हैं ॥ १३४ ॥

अथ वज्रव्यतिरिक्तानां मणीनामुत्पत्तिः—

> गोमेदताक्ष्यर्वायजदेवेज्य[1]मणीन्दुतरणिकान्ताद्याः ।
> नानावर्णगुणाढ्या विज्ञेया स्फटिकजातयः प्राज्ञैः ॥ १३५ ॥

गोमेद इत्यादि । तरणिः-सूर्यः, शेषं सुबोधम् ॥ १३५ ॥

हीरे को छोडकर अन्य मणियों की उत्पत्ति-गोमेद, पन्ना, वैडूर्य, पुखराज, चन्द्रकान्त और सूर्यकान्त आदि मणियाँ अनेक वर्ण और गुणों से युक्त तथा स्फटिक जाति की होती हैं ऐसा बुद्धिमानों का मत है ॥ १३५ ॥

अथ स्फटिकः—

> स्फटिकं सितोपलं स्यादमलमणिर्निर्मलोपलं स्वच्छम् ।
> स्वच्छमणिरमलरत्नं निस्तुषरत्न शिखिप्रियं नवधा ॥ १३६ ॥
> स्फटिकः समवीर्यः स्यात् पित्तदाहार्त्तिशोषनुत् ।
> तस्याक्षमालां जपतां दत्ते कोटिगुणं फलम् ॥ १३७ ॥

स्फटिकमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १३६-१३७ ॥

स्फटिक मणि के नाम और उसके गुण—स्फटिक, सितोपल, अमलमणि, निर्मलोपल, स्वच्छ, स्वच्छमणि, अमलरत्न, निस्तुषरत्न और शिखिप्रिय ये नव स्फटिक के नाम हैं। स्फटिक मणि समवीर्य, पित्त, दाह और शोष को नष्ट करनेवाली होती है। इसके मनियों की माला बनाकर उसपर जप करने से कोटिगुना अधिक फल होता है।

वक्तव्य—स्फटिक नियताकार छ पहल, षट्कोण और चिकना होता है। इसमें सिलिकन और आक्सिजन दो ही तत्त्व रहते हैं। काच पर घिसने से यह काच को काट देता है। प्रायशः स्फटिक श्वेतवर्ण का ही होता है किन्तु कभी कभी अन्य रग का भी मिल जाता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २ ६ से २ ८ और काठिन्य ८ होता है ॥ १३६-१३७ ॥

> यद्गङ्गातोयबिन्दुच्छवि विमलतमं निस्तुपं नेत्रहृद्यं
> स्निग्धं शुद्धान्तरालं मधुरमतिहिमं पित्तदाहास्रहारि ।
> पाषाणैर्यन्निघृष्टं स्फुटितमपि निजां स्वच्छतां नैव जह्या-
> त्तज्जात्यं जात्वलभ्यं शुभमुपतनुते शैवरत्नं विचित्रम् ॥ १३८ ॥

यदित्यादि । सुबोधम् ॥ १३८ ॥

उत्तम स्फटिक लक्षण-जो गगाजी के जलबिन्दु के समान स्वच्छकान्ति की, अतिशय निर्मल, तुषरहित, नेत्रों के लिए हितकारी, चिकनी, भीतर से शुद्ध, मधुररस वाली, अत्यधिक शीतल, पित्त, दाह और रक्त को हरण करने वाली होती है तथा जो पत्थर अथवा कसपर घिसनेसे एव फूटनेपर भी अपनी स्वच्छता को न त्यागे वह उत्तम जातिकी स्फटिक मणि होती है, यह मनुष्य के लिए अलभ्य है। प्राप्त होनेपर अनेक प्रकार के कल्याण करनेवाली है ॥ १३८ ॥

---

१ वायज-वैर्य, देवेज्य पुष्पराग. स्पष्टम् । इति ग्रन्थकार. ।

अथ भवति सूर्यकान्तस्तपनमणिस्तपनश्च रविकान्तः ।
दीप्तोपलोऽग्निगर्भो ज्वलनाश्माऽर्कोपलश्च वसुनामा ॥ १३९ ॥
रविकान्तो भवेदुष्णो निर्मलश्च रसायनः ।
वातश्लेष्महरो मेध्यः पूजनाद्रवितुष्टिदः ॥ १४० ॥
शुद्धः स्निग्धो निर्व्रणो निस्तुषोऽन्त-
यों निर्घृष्टोऽत्यन्तनैर्मल्यमेति ।
यः सूर्यांशुस्पर्शनिष्ठ्यूतवह्नि-
र्जात्यः सोऽयं कथ्यते सूर्यकान्तः ॥ १४१ ॥

अथेत्यादि । निर्घृष्टो निकषपट्टे, सूर्यांशुस्पर्शनिष्ठ्यूतवह्नि'-सूर्यकिरणस्पर्शनेनाग्नि-जनकः, शेषं सुबोधमेव ॥ १३९-१४१ ॥

सूर्यकान्तमणि के नाम, गुण और उत्तमता के लक्षण—सूर्यकान्त, तपनमणि, तपन, रविकान्ति, दीप्तोपल, अग्निगर्भ, ज्वलनाश्म, अर्कोपल और वसु ये सूर्यकान्त के नाम हैं । सूर्यकान्त उष्ण, स्वच्छ, रसायन, वायु और कफ को हरण करने वाली, पवित्र तथा पूजन करने से सूर्य को सन्तुष्ट करने वाली होती है । शुद्ध, चिकनी, छिद्ररहित, भीतर में तुषहीन कसपर घिसने से स्वच्छता को प्रगट करने वाली और जो सूर्यकिरणों का स्पर्श होनेपर अग्निजनक हो वह सूर्यकान्त-मणि उत्तम जाति की होती है ॥ १३९-१४१ ॥

इन्दुकान्तश्चन्द्रकान्तश्चन्द्राश्मा चन्द्रजोपलः ।
शीतात्मा चन्द्रिकाद्रावः शशिकान्तश्च सप्तधा ॥ १४२ ॥
शिशिरश्चन्द्रकान्तस्तु स्निग्धः पित्तास्रतापनुत् ।
शिवप्रीतिकरः स्वच्छो ग्रहालक्ष्मीविनाशनः ॥ १४३ ॥

इन्दुकान्त इत्यादि । शिशिरः शीतल, ग्रहा सूर्यादय अलक्ष्मी-दरिद्रता तयोर्वि-नाशनः । शेषं सुस्पष्टम् ॥ १४२-१४३ ॥

चन्द्रकान्तमणि के नाम और गुण-इन्दुकान्त, चन्द्रकान्त, चन्द्राश्मा, चन्द्रजोपल, शीतात्मा, चन्द्रिकाद्राव, और शशिकान्त ये सात नाम चन्द्रकान्त के हैं । चन्द्रकान्तमणि शीतल, चिकनी, रक्तपित्त और सताप को नष्ट करने वाली, शिव के लिए प्रीतिकारी, निर्मल, ग्रह और दरिद्रताको नष्ट करनेवाली होती है ॥ १४२-१४३ ॥

स्निग्धं शीतं पीतमत्रासमन्त-
र्धत्ते चित्ते स्वच्छतां यन्मुनीनाम् ।
यच्च स्रावं याति चन्द्रांशुसङ्गा-
ज्जात्य रत्न चन्द्रकान्ताख्यमेतत् ॥ १४४ ॥

स्निग्धमित्यादि । सुगमम् ॥ १४४ ॥

उत्तम चन्द्रकान्तमणि-चिकनी, शीतल पीले वर्णकी, आह्लादकर, मुनियों के मन में स्वच्छता लानेवाली, तथा चन्द्र किरणों के सयोगसे जलस्राव करनेवाली चन्द्रकान्तमणि उत्तम जातिकी होती है ॥ १४४ ॥

राजावर्तो नृपावर्तो राजन्यावर्तकस्तथा ।

आवर्तमणिरावर्तः स्यादित्येष शराह्वयः ॥ १४५ ॥
राजावर्तः कटुः स्निग्धः शिशिरः पित्तनाशनः ।
सौभाग्यं कुरुते नृणां भूषणेषु प्रयोजितः ॥ १४६ ॥
निर्गरमसित मसृणं नीलं गुरु निर्मलं बहुच्छायम् ।
शिखिकण्ठसमं सौम्यं राजावर्तं वदन्ति जात्यमणिम् ॥ १४७ ॥

राजावर्त इत्यादि । निर्गरं—कृत्रिमविषहीन, शिखिकण्ठसम-मयूरग्रीवसदृश, शेष स्पष्टम् ॥ १४५–१४७ ॥

राजावर्त (रेवटी) के नाम, गुण और उत्तमता-राजावर्त, नृपावर्त, राजन्यावर्तक, आवर्तमणि और आवर्त ये पाच नाम लाजवर्द के हैं । राजावर्त चरपरा, चिकना, शीतल, पित्तनाशक और भूषणों (गहनों) में लगाने से मनुष्यों के सौभाग्यको करनेवाला होता है । जो कृत्रिम विषरहित, काला, चिकना, नीला, तोल में वजनदार, स्वच्छ, अनेक आभा वाला, मोर के कण्ठकी रगतका और सौम्य है वह लाजवर्द उत्तम जातिका होता है ॥ १४५–१४७ ॥

पेरोजं हरिताश्मा च भस्माङ्गं हरितं द्विधा ।
पिरोजं सुकषायं स्यान्मधुरं दीपनं सरम् ॥ १४८ ॥
स्थावरं जङ्गमं चैव संयोगाच्चापि यद्विषम् ।
तत्सर्वं नाशयेच्छीघ्रं सूलभूतादिदोषजम् ॥ १४९ ॥

पेरोजमित्यादि । सयोगात्-कृत्रिमविधानतो यद्विष भवति तद्गरसंज्ञक, शेष सुगमम् ॥ १४८–१४९ ॥

पिरोजा के नाम और गुण—पेरोज और हरिताश्मा ये इसके नाम हैं । भस्माङ्ग और हरित भेद से इसके दो भेद हैं । पिरोजरत्न कसेला, मीठा, अग्निदीपक और रेचक होता है, तथा स्थावर, जङ्गम, कृत्रिम और मूलभूत दोषों से उत्पन्न सब प्रकार के विषों को तत्काल नष्ट करता है ।

वक्तव्य—पेरोजा यह ईरान से ही भारतवर्ष में आता है । यह पीलापन लिए हुए हरा अथवा हरापन लिए हुए नीले रग का होता है । रासायनिक दृष्टि से यह अल्युमिनियम्, किञ्चित् लोह और तावे का फॉस्फेट होता है । इसका विशिष्ट गुरुत्व २-६ से ५-७ होता है और काठिन्य ७-५-८ होता है ॥ १४८–१४९ ॥

अथ शेषरत्नानां शोधनमारणम्, उक्त च—

रत्नोपरत्नान्येतानि शोधनीयानि यत्नतः ।
अशुद्धानि न कुर्वन्ति गुणान् रोगांस्तु तन्वते ॥ १५० ॥
शुद्ध्यत्यम्लेन माणिक्यं जयन्त्या मौक्तिकं शुचि ।
विद्रुमं क्षारवर्गेण तार्क्ष्यं गोदुग्धतः शुचि ॥ १५१ ॥
पुष्परागं च संधानैः कुलत्थक्वाथसंयुतैः ।
तन्दुलीयजलैर्वज्रं नीलं नीलीरसेन च ॥ १५२ ॥
रोचनाभिश्च गोमेदं वैदूर्यं त्रिफलाजलैः ।
धृतान्येतेषु संस्विन्नान्याशु शुध्यन्ति दोलया ॥ १५३ ॥

रत्नेत्यादि । जयन्त्य –अग्निमन्थस्वरसेन, रोचनाद्भिः–गोरोचनजलैः, दोलया–दोला-यन्त्रेण, शेषं सुस्पष्टम् ॥ १५०–१५३ ॥

सपूर्ण रत्नों का शोधन—इन पूर्वोक्त रत्न और उपरत्नों का शोधन यत्नपूर्वक करना चाहिये। अशुद्धों के प्रयोग से गुणप्राप्ति के स्थान में, उलटे रोगों की वृद्धि होती है, अत इनका शुद्ध अवस्था में ही प्रयोग करना उपयुक्त है। अम्लरस से माणिक्य, जयन्ती (अरणी) से मोती, क्षार-वर्ग से प्रवाल, गोदुग्ध से पन्ना, कुलथी के क्वाथयुक्त काजी आदि से पुखराज, चौलाई के जल से हीरा, नील के रस से नीलम, गोरोचन के जल से गोमेद और त्रिफला के कषाय से वैडूर्य दोला-यन्त्र में स्वदन करने पर तत्काल शुद्ध हो जाते हैं।

वक्तव्य—इससे पूर्व समस्त रत्न और उपरत्नों के विषय में लिखा गया है। उनकी उत्पत्ति श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता और गुणधर्मों पर प्रकाश डाला गया है किन्तु हीरे को छोड़ कर किसी का भी शोधन और मारण नहीं कहा गया है। जब तक इनकी आयुर्वेदीय पद्धति से शुद्धि नहीं की जा सकती है तब तक उनका मारण और औषधीय प्रयोग अपायकर होता है अतः ग्रन्थकार उन सब की शुद्धि का प्रतिपादन करता है। रत्नों को शुद्ध करने के लिए ऊपर जो भिन्न द्रव्य लिखे हैं उनके स्वरस अथवा कषाय में दोलायन्त्र विधि से स्वेदन करना चाहिए। सर्वप्रथम जिस रत्न की शुद्धि करनी है उस रत्न को लोहे के इमामदस्ते में डालकर कूटकर बारीक चूर्ण करना चाहिए। रत्न के चूर्ण को अच्छे मजबूत और गाढे कपडे में रखकर पोटली बनाना चाहिए। यह ध्यान रहे कि चूर्ण कपडे से छन कर इधर उधर न गिरने पावे। इसके बाद मिट्टी की अच्छी नवीन और मजबूत हाटी में जिस रत्न की शुद्धि करना है उसके लिए ऊपर जो द्रव्य शुद्धि के लिए कहा है उसके स्वरस अथवा कषाय से हाँडी को आधी भर देना और उसमें पोटली को, जिस में रत्न का चूर्ण बँधा हुआ है, इस प्रकार लटकाना चाहिए कि वह पोटली हाँडी के तल भाग को स्पर्शन न करने पावे अर्थात् पानी में अधर लटकती रहे। फिर चूल्हे पर रख कर मन्द मन्द अग्नि से एक प्रहर तक पकाना चाहिये। इस प्रकार स्वेदन करने से सभी रत्नों की शुद्धि हो जाती है। किस रत्न की कौन से द्रव्य के स्वरस, कषाय अथवा जल में शुद्धि करनी चाहिए यह ऊपर श्लोक की व्याख्या में बता दिया गया है। उस द्रव्य से सभी रत्नों की शुद्धि ऊपर कही हुई स्वेदन क्रिया से करना चाहिए। इसके आगे श्लोक में हीरे को छोडकर इन सभी रत्नों और उपरत्नों की मारण (भस्म) विधि को कहेंगे ॥ १५०–१५३ ॥

> लकुचद्रावसंपिष्टैः शिलातालकगन्धकैः ।
> वज्रं विनाऽन्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु ॥ १५४ ॥
> इति सर्वरत्नभस्मीकरणम् ।

लकुच्येत्यादि । शिला–मनःशिला, तालक–हारितालम्, अन्यत्स्पष्टम् ॥ १५४ ॥

सम्पूर्ण रत्नों की भस्म विधि—बडहल के रस से मैनसिल, हरताल और गन्धक को पीस कर लेप करने से हीरे को छोड कर अन्य सभी रत्नों की आठ गजपुट की अग्नि देने से भस्म हो जाती है।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोकों में रत्न और उपरत्नों को शुद्ध करने का विधान प्रतिपादित किया गया है तदनुसार शोधन कर के ही भस्म करना चाहिए। शुद्ध करने से रत्नों के अपद्रव्यांशों का तो निराकरण होता ही है किन्तु साथ ही उनमें विशेष गुणाधान भी होता है जो औषधीय दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है और साथ ही उनमें मृदुता और भगुरत्व उत्पन्न होता है जिससे रत्नों का कठिनता दूर होकर उनके सूक्ष्मीकरण करने में सहायता, मिलती है। जिस रत्न की भी भस्म

करनी हो उस रत्न को भली भाँति पीसकर चूर्ण कर लेना उसके बाद रत्न चूर्ण के बराबर मैनसिल, हरताल और गन्धक को लेकर खरल में डालकर मर्दन करना जब ये तीनों भली भाँति पिसकर एक जीव हो जावें तब उसमें रत्नचूर्ण को डालकर लकुच (बढहल) के रस में खूब मर्दन करना और गोला बना कर शराव-सपुट में रखकर उसकी सन्धि बन्द करके सुखाना। सम्पुट सूखने पर गजपुट में फूँक देना स्वागशीत होने पर निकाल कर फिर उसी प्रकार पूर्वोक्त विधि से गजपुट में फूकना किन्तु दूसरे पुट से मैनसिल, हरताल और गन्धक ये तीन मिलकर रत्न के चूर्ण के बराबर लेना और इस प्रकार आठ पुट देने से हीरे को छोडकर समस्त रत्न और उपरत्नों की भस्म हो जाती है। यह भी ध्यान रखें कि प्रवाल और मोता का इस विधि से भस्म नहीं करनी चाहिए। प्रवाल और मोती को गोदुग्ध, ग्वारपाठा अथवा गुलाबजल से घोटकर ही भस्म करना चाहिए।

दूसरी विधि—स्वर्गीय यादवजी त्रिकमजी आचार्य लिखते हैं कि मैं रत्नों की भस्म इस प्रकार बनाता हू कि-रत्नों को अच्छी सोना गलाने की मूषा में डालकर लकडी के कोयलों की अग्नि में रत्न अगार वर्ण हो उतना गरम कर क ताजे आँवलों के स्वरस में ५०-६० बार बुझाएँ। तीन बुझाव के बाद आँवले का स्वरस बदल देना और नवीन होना (अर्थात् पहला फेंक देना नया लेना) चाहिए। इसके बाद रत्न का भलीभाति चूर्ण कर के रेशमा वस्त्र से छान कर ताजे आवलों के स्वरस में मर्दन करके टिकिया बनाकर सुखाना चाहिए और सूखने पर अर्ध गजपुट की अग्नि देनी चाहिए। इस प्रकार २०-३० पुट देने से खुले लाल रग की भस्म बन जावेगी। इस भस्म को तीन दिन अर्क गुलाब या चन्दनादि अर्क में मर्दन कर छाया में सुखाकर शीशी में भर कर रख ले।

तीसरी विधि—यदि आँवले का मौसिम (ऋतु) न हो और ताजे आँवले न मिलें तो ऊपर लिखी हुई विधि से रत्नों को मूषा में तपा-तपा कर अर्क गुलाब जल या चन्दन अर्क में ५०-६० बार बुझावे और उसका सूक्ष्म हुए तक अविरत मर्दन करता रहे। धूप में कदापि इस को न रखे। इस प्रकार उत्तम प्रकार को सभी रत्नों की भस्म हो जाती है।

रत्नों की भस्म बनाने के विषय में यूनानी वैद्यों (हकीमों) का मत—

यूनानी वैद्य रत्नों की अग्नि द्वारा भस्म बनाना अच्छा नहीं समझते। उनका कहना है कि-रत्नों की भस्म बनाने से एक प्रकार का चूना बन जाना है उस रत्न के सभी असली गुण भस्म में नहीं आते। अत रत्नों की भस्म न बना कर उसका अति सूक्ष्म चूर्ण (पिष्टि) बनाकर हो व्यवहार करना चाहिए। हकीम लोग नमक या सोडाबायकार्ब मिलाए हुए गरम जल से और पीछे स्वच्छ जल से रत्नों को धोकर, सुखा कर लोहे के इमामदस्तों में भली भाति कूट कर सूक्ष्म चूर्ण जो कि रेशमी कपडे से छान, सगेयशब, अकीक या खमाक के पत्थर के खरल में अर्क गुलाब और अर्क केवडे में जब तक घुटाई होनी चाहिए जब तक वह सुरमे (नेत्राञ्जन) जैसा सूक्ष्म न हो जावे तब तक मर्दन कर, छाया में सुखा, रेशमी वस्त्र से छान कर बनाई हुई रत्न और उपरत्नों की पिष्टि का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार चरक और सुश्रुतने प्रवाल, मुक्ता और शख आदि का चूर्ण बना कर प्रयोग करने को लिखा है।

'प्रवालमुक्ताञ्जनशङ्खचूर्णं लिह्यात्तथा काञ्चनगैरिकोत्थम्।' (सु उ. त. अ ४४ श्लोक २१) 'पिबेत्तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे।' (च चि अ. २६)। सच बात यह है कि रत्नों की पिष्टियाँ जितनी अधिक कार्यकारी होती हैं उतनी अन्य कोई भी प्रकार की भस्म में सफलता नहीं देती। अत भस्म की अपेक्षा पिष्टिया ही रत्नों की उचित प्रतीत होती हैं ॥ १५४॥

अत्र कश्चिद्विशेषः—

रत्नादीनामलाभे तु ग्राह्यं तस्योपरत्नकम् ।
मौक्तिकस्याप्यभावे तु मुक्ताशुक्तिं प्रयोजयेत् ॥ १५५ ॥

रत्नादीनामित्यादि । सुबोधम् ॥ १५५ ॥

रत्नों के अभाव में उपरत्नों का प्रयोग—जहां हीरा आदि रत्न न मिलें तो उसके प्रतिनिधि स्वरूप उसी रत्न का जो उपरत्न हो वही उस प्रयोग में डालना चाहिये । मोती के अभाव में मोती की सीप का प्रयोग करे ।

वक्तव्य—रत्नों के अभाव में उनके प्रतिनिधि रूप में उपरत्नों का प्रयोग बताया गया है । यह सुविधा सर्वत्र है जैसे कि धातुओं के अभाव में उपधातु, रसों के अभाव में उपरस प्रयुक्त होते हैं इसी प्रकार से अनेक द्रव्यों के प्रतिनिधि द्रव्य माने गये हैं । जिनका प्रधान द्रव्य के अभाव में उपयोग होता है । प्रधान द्रव्य और उसके प्रतिनिधि द्रव्य में किसी न किसी रूप की समता होती है और वह द्रव्य प्रधान द्रव्य के कार्य की पूर्ति न्यूनाधिक स्वरूप में अवश्य करता है । इसी सिद्धान्त के अनुसार रत्नों के अभाव में भी उपरत्नों का प्रयोग किया गया है । आगे श्लोक संख्या १५९ तथा १७७ से १७९ तक में यह प्रदर्शित किया गया है और रत्न तथा उपरत्नों के गुण कर्मों की समता प्रतिपादित की गई है तथा दोनों का एक समान ही कार्य निश्चित किया गया है । यह ठीक है कि रत्न और उपरत्न दोनों में अपनी अपनी कुछ विशेषताएं भी हैं किन्तु एकात्मकता भी है अतः एक के अभाव में दूसरे का प्रयोग हो सकता है । मोती का कोई उपरत्न नहीं है अतः उसके अभाव में मुक्ताशुक्ति का ग्रहण करना चाहिए ॥ १५५ ॥

अत्र गुरुचरणाः—

न हन्याद्धीरकादीनि नवरत्नानि बुद्धिमान् ।
महामौल्यानि तेषां तु वधे रौरवमृच्छति ॥ १५६ ॥

नेत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ १५६ ॥

बहु मूल्यवान् हीरे आदि नवरत्नों के मारण में दोष—बुद्धिमान् वैद्य का कर्तव्य है कि बहुमूल्य वाले हीरे आदि नवरत्नों की भस्म न करे क्योंकि बहुमूल्य हीरे आदि की भस्म करने से मनुष्य रौरव नरक का भागी होता है ॥ १५६ ॥

तर्हि ऋषिभिः कथं हननक्रियोक्तेति संदेहनिवृत्त्यर्थं परम्परोपदेशप्राप्तं बीजमस्ति, तद्यथा—

वज्रादीनां तु संस्कारे क्रियमाणे पतन्ति ये ।
गात्रेभ्यः खण्डकाः स्वल्पास्तान् हन्याद् बुद्धिमान् भिषक् ॥१५७॥
यद्वा तत्खनिजाता ये तज्जातीयाः सुलक्षणाः ।
स्वल्पमूल्यास्तु तेषां हि वधे नास्तीह पातकम् ॥१५८॥ इति ।

तर्हीत्यादि । सुगमम् ॥ १५७–१५८ ॥

यह भी विचारणीय विषय है कि जब हीरक आदि नवरत्नों के मारण करने से दोष होता है और उसके कारण मनुष्य को रौरव नरकगामी होना पड़ता है तब फिर ऋषियों ने इनकी मारण क्रिया को ही क्यों कहा ? इस संदेह निवृत्ति के लिये परंपराप्राप्त उपदेश के प्रधान बीज को उदाहरण से ग्रन्थकार स्पष्ट करता है । जैसे कि–हीरक आदि रत्नों के संस्कार करते हुए उनके शरीर से जो छोटे छोटे टुकड़े गिरते हैं उनकी ही बुद्धिमान् वैद्य भस्म करे अथवा बहुमूल्य रत्नों

की खान में उनकी ही जाति के शुभ लक्षणों वाले और स्वच्छ रत्नों के टुकड़े निकलते हैं उनके मारण में कोई पाप नहीं होता है ॥ १५७-१५८ ॥

अन्यच्च—

गुणा यथैव रत्नानामुपरत्नेषु ते तथा ।
तेषु किंचित्ततो हीना विशेषोऽयमुदाहृतः ॥ १५९ ॥

गुणा इत्यादि । रत्नानां यथा ये गुणाः सन्ति तथैव ते गुणा उपरत्नेष्वपि किन्तूपरत्नेषु रत्नेभ्यः किंचिद्धीनगुणाः, अयमेवात्र विशेषः ॥ १५९ ॥

रत्न और उपरत्नों में विशेषता—जिस प्रकार रत्नों में जो गुण होते हैं उसी प्रकार वे ही गुण उपरत्नों में भी होते हैं किन्तु विशेषता यह है कि रत्नों से उपरत्नों में किंचित् मात्र हीन गुण होते हैं ॥ १५९ ॥

अथोपरत्नेषु वैक्रान्तोत्पत्तिनामगुणशोधनमारणानि—

देव्या हते महादैत्ये महिषासुरसंज्ञके ।
तद्देहरुधिरोद्भूता बिन्दवो यत्र यत्र हि ॥ १६० ॥
पतिता विन्ध्यकाद्रेस्तु दक्षिणोत्तरतो रणे ।
वज्राकारास्तु ते जाता वैक्रान्ता इति विश्रुताः ॥ १६१ ॥

देव्येत्यादि । देव्या कात्यायन्या, विन्ध्यकाद्रेः-विन्ध्याचलस्य, अन्यत्स्पष्टम् ।

वैक्रान्त की उत्पत्ति—देवी कात्यायनीने जब महिषासुर नामक महादैत्य का वध किया था उस समय उस के शरीर से निकले रक्त के बिन्दु जहाँ जहाँ पर गिरे वहीं विन्ध्याचल के दक्षिण और उत्तर दिशा के रणक्षेत्र में वज्र के समान आकार के जो पदार्थ उत्पन्न हुए वे जगत् में वैक्रान्त नाम से प्रख्यात हुए ॥ १६०-१६१ ॥

गौरीमते तु—

विकृता वज्रखण्डा ये वैक्रान्ताख्यां भजन्ति ते ।
जातयः शोधनं हिंसा गुणास्तेषां तु वज्रवत् ॥ १६२ ॥

विकृता इत्यादि । विकृताः-विकारयुक्ता ये वज्रखण्डाः-हीरकशकलास्ते वैक्रान्ताख्यां भजन्ति । तेषां जातयः, शोधनं, हिंसा-मारणं गुणाश्च वज्रवत्-हीरकतुल्याः स्युः ॥

गौरीमत में वैक्रान्त की उत्पत्ति और उस के गुण-हीरे के टुकड़े जो विकारयुक्त होते हैं वे ही वैक्रान्त-संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं, उन की जाति, शोधन, मारण और गुण ये हीरे के तुल्य होते हैं ॥ १६२ ॥

अन्यच्च—

भैरवं गणनाथं च संपूज्य बलिपूर्वकम् ।
सुमुहूर्त्ते ततः कार्यं वैक्रान्तग्रहणं बुधैः ॥ १६३ ॥
वैक्रान्तश्वेतपीतादिभेदेनाष्टप्रकारकः ।
करणे स्वर्णरूप्यादेः स्वस्ववर्णः शुभो मतः ॥ १६४ ॥
वैक्रान्तः कृष्णवर्णो यः षट्कोणो वसुकोणकः ।
मसृणो गुरुतायुक्तो निर्मलः सर्वसिद्धिदः ॥ १६५ ॥

भैरवमित्यादि। बलिपूर्वकम्—बलिदानपुरःसरं भैरव गणनाथं च संपूज्य सुमुहूर्ते-तिथिनक्षत्रवारलग्नादियुक्ते शुभे काले बुधैर्वैक्रान्तग्रहणं कार्यमिति। श्वेतपीतादिवर्णभेदे-नाष्टप्रकारको वैक्रान्त. स सुवर्णरजतताम्रादिधातुनिर्माणावसरे स्वस्ववर्णो ग्राह्य', यथा स्वर्णकरणे पीतवर्णको, रजतकरणे श्वेत इत्याद्यूह्यम्। वसुकोणः-अष्टकोणः, मसृण.-चिक्कणः। अन्यत्स्पष्टम ॥ १६२-१६५ ॥

अन्य मत से वैक्रान्त की ग्रहण विधि, उसके प्रकार और गुण-बलिदानविधि के अनुसार क्षेत्रपाल आदि को बलि देकर भैरव और श्रीगणपति का यथाविधि पूजन करके शुभ मुहूर्त में बुद्धिमान वैक्रान्त को ग्रहण करे। वैक्रान्त श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण, हरित, नील, कपिश और कर्बुर वर्णभेद से आठ प्रकार का है। सुवर्ण, चाँदी, ताबा, लोहा, पीतल, रागा आदि के बनाने में अपने अपने वर्ण का वैक्रान्त उत्तम होता है। जो वैक्रान्त काले वर्ण का छकोना, अठकोना, चिकना, वजनदार और स्वच्छ हो वह सर्वसिद्धिप्रद होता है।

वक्तव्य—सम्प्रति वैक्रान्त नाम का द्रव्य सदिग्ध बना हुआ है। अधिकाश वैद्य तुरमली को ही वैक्रान्त मानते हैं और उसका प्रयोग करते हैं। कुछ औषध विक्रेता स्फटिक के समान एक श्वेत और चमकने वाले पत्थर को वैक्रान्त बना कर बेचते है तो कुछ लोग काले अभ्रक के समान दलदार छोटे-छोटे टुकडे के रूप में एक द्रव्य बेचते हैं। उनका कहना है कि सर्वोत्तम वैक्रान्त यही है। यों देखने में वह द्रव्य शास्त्र के प्रस्तुत सिद्धान्त जैसे कि-'**वैक्रान्तः कृष्णवर्णो यः षट्कोणो वसुकोणकः। मसृणो गुरुतायुक्तो निर्मलः सर्वसिद्धिद.॥**' से पूर्ण रूप में मेल खाता है। वह कृष्ण वर्ण का किंचित धूसरता लिए हुए होता है चिकना, फिसलने वाला, वजनदार और स्वच्छ चमकदार होता है। कुछ लोग उसकी प्रशसा भी करते हैं। अधिकाश तुरमली को ठीक समझते हैं। स्वर्गीय डॉ वामन गणेश देशाई ने अपने भारतीय रसशास्त्र में वैक्रान्त पर अनेक ग्रन्थों के आधार उद्धृत किये हैं। इन सब पर विचार करते हुए अपने मत के प्रतिपादन में फ्लोर स्पार (FLOURSPAR), फ्लोराइट् (FLOURITE) को वैक्रान्त माना है। स्वर्गीय यादवजी त्रिकमजी आचार्य जीने लिखा है कि-रस ग्रन्थों में वैक्रान्त का उल्लेख [1]महारस और [2]उपरत्न दोनों में पाया जाता है। मुझे मालूम होता है कि-महारसों में परिगणित वैक्रान्त मैंगेनीज और उपरत्नों में परिगणित वैक्रान्त तुरमली या फ्लोर स्पार है। रसहृदय तन्त्र में वैक्रान्त से लोह सदृश सत्त्व निकलता है-'**पतति च सत्त्वम्। अभ्रवैक्रान्तप्रभृतीनां तत्र लोहनिभम्।**' ऐसा लिखा है। ऐसे अनेकों ग्रन्थों के प्रमाणों को उद्धृत करते हुए आचार्य ने महारसोक्त वैक्रान्त मैंगेनीज बताया है और उपरत्नों में परिगणित को तुरमली माना है।

वैक्रान्त यह चिकित्सा क्षेत्र और रसशास्त्र का बहुत ही उपयोगी द्रव्य है। धातुओं के निर्माण और उनके विभाजन करने के लिए तो उपयोगी है ही किन्तु रोग-प्रतिहारक भी यह एक असाधारण द्रव्य है। सशोधकों का कर्तव्य है कि उसका यथार्थ निर्णय लें। यद्यपि तुरमली का प्रयोग किया जाता है किन्तु तुरमली में वह शक्ति और प्रभाव नहीं है जो वैक्रान्त में प्रतिपादित है। साथ ही औषध कार्य के लिए कृष्ण वर्ण के वैक्रान्त का उल्लेख मिलता है किन्तु तुरमली कृष्ण नहीं है अत यह सन्दिग्ध हो जाता है कि फिर वैक्रान्त कहा किस को जावे। आजकल एक द्रव्य

---

1 महारसा स्युर्घनराजवर्तवैक्रान्तसस्या विमलाद्रिजास्ते। तुत्थ च ताप्य च रसायनास्ते सत्त्वानि तेषाममृतोपमानि॥' (र. चू)

2 वैक्रान्त सूर्यकान्तश्च चन्द्रकान्तो नृपोपल। पेरोजक च स्फटिक क्षुद्ररत्नगणो ह्ययम्।

(र० त०)

जो हमने ऊपर दर्शाया है जिसके आकार प्रकार सभी वैक्रान्त से मिलते हैं उसका भी विचार होना चाहिए। यद्यपि शास्त्रकारों ने वैक्रान्त को सात वर्ण का लिखा है किन्तु कृष्ण को उत्तम माना है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'शङ्खकुन्देन्दुसङ्काश सत्त्व वैक्रान्तज भवेत्।' यह आयुर्वेद प्रकाशकारने स्वीकार किया है किन्तु रसार्णवकार लिखता है कि " "**शोधयित्वा धमेत्सत्त्वमिन्द्रगोपसमं पतेत्।** अर्थात् वैक्रान्त सत्त्व लाल रंग का होता है किन्तु सत्त्व निर्माण विधि के अनुसार सम्भवत सत्त्व के रंग में भिन्नता होती हो अत. मूलद्रव्य का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है शेष विषय तो सहज में हल किया जा सकता है ॥ १६३-१६५ ॥

गुणाः—

वैक्रान्तो वज्रसदृशो देहलोहकरो मन.।
विषघ्नो रसराजस्य ज्वरकुष्ठक्षयप्रणुत् ॥ १६६ ॥

वैक्रान्त इत्यादि। वज्रसदृशः-हीरकतुल्यः, अन्यत्सुबोधम् ॥ १६६ ॥

वैक्रान्त के गुण-वैक्रान्त हीरे के समान गुणों वाला, देह को दृढ करने वाला, लोह आदि धातुओं की सिद्धि करने वाला, पारे के विष को हरने वाला, ज्वर, कुष्ठ और क्षयरोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ १६६ ॥

अन्यत्रापि—

वैक्रान्तस्तु त्रिदोषघ्न' षड्रसो देहदार्ढ्यकृत्।
पाण्डूदरज्वरश्वासकासयक्ष्मप्रमेहनुत् ॥ १६७ ॥
अशुद्धौ वज्रवैक्रान्तौ किलासं दाहसंततिम्।
पार्श्वपीडां तथा पाण्डुं कुरुतस्तौ विशोधयेत् ॥ १६८ ॥

वैक्रान्त इत्यादि। किलासम्-एतन्नामकं कुष्ठरोगं, दाहसततिं-दाहरोगम्, अन्यत्सुगमम् ॥ १६७-१६८ ॥

प्रकारान्तर से वैक्रान्त के गुण—वैक्रान्त त्रिदोषनाशक, छ रस वाला, शरीर में दृढता करने वाला, पांडु, उदर रोग, ज्वर, श्वास, खासी, क्षय और प्रमेह को नष्ट करने वाला होता है। अशुद्ध हीरे और वैक्रान्त के सेवन से किलास नाम का कोढ, दाह रोग, पार्श्वपीडा और पाण्डु रोग होते हैं अत इन दोनों की शुद्धि करनी चाहिए ॥ १६७-१६८ ॥

शोधनमारणे—

वैक्रान्तो वज्रवच्छोध्यो ध्मातः सिक्तोऽश्वमूत्रके।
वज्रवन्मृतिमापन्नो वज्रस्थाने प्रयोजयेत् ॥ १६९ ॥

वैक्रान्त इत्यादि। स्पष्टम् ॥ १६९ ॥

वैक्रान्त का शोधन और मारण—वैक्रान्त को अग्नि में धमन करके घोडे के मूत्र में सेचन कर हीरे की भाति शोधन करे तथा हीरे के तुल्य ही उसकी भस्म करके हीरे के स्थान में उसका प्रयोग करे ॥ १६९ ॥

प्रकारान्तरम्—

कुलत्थक्वाथसंस्विन्नो वैक्रान्तः परिशुध्यति।
म्रियतेऽष्टपुटैर्गन्धनिम्बूकद्रवसंयुतः ॥ १७० ॥

कुलित्थेत्यादि। निम्बूकद्रवमर्दितगन्धकलेपनेनेति, शेषं स्पष्टम्। इति वैक्रान्तभस्म ॥ १७० ॥

प्रकारान्तर से वैक्रान्त की भस्मविधि—वैक्रान्त कुलथी के कषाय में स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है तथा निबू के रस में गन्धक को घोटकर उसका वैक्रान्त पर लेप करके आठ पुट देनेसे उसकी भस्म हो जाता है ॥ १७० ॥

सत्त्वप्रकारस्तु—

सत्त्वपातनयोगेन मर्दितश्च वटीकृतः।
मूषास्थो घटिकाध्मातो वैक्रान्तः सत्त्वमुत्सृजेत् ॥ १७१ ॥

सत्त्वेत्यादि। सत्त्वपातनयोगेन-पूर्वोक्तसत्त्वपातनयोग्यौषधिभिर्मर्दितो वटकीकृतश्च मूषायां घटिका यावद्ध्मातः सत्त्वमुत्सृजेत्। इति वैक्रान्तसत्त्वम् ॥ १७१ ॥

वैक्रान्त की सत्त्वपातन विधि—सत्त्वपातनोपयुक्त (गुड, गूगल, टकण आदि) औषधियों के साथ वैक्रान्त का मर्दन करके गोला बनावे और उस गोलेको मूषामें रखकर एक घडी तक अग्नि में धमन करे तो वैक्रान्त का सत्त्व निकल आता है ॥ १७१ ॥

अथान्यः प्रकारः—

वैक्रान्तानां पलं चैकं कर्षैकं टङ्कणस्य च।
रविक्षीरैर्दिनं भाव्यं मर्द्यं शिग्रुद्रवैर्दिनम् ॥ १७२ ॥
गुञ्जापिण्याकवह्नीनां प्रति कर्षाणि योजयेत्।
पलेन गुटिकां कृत्वा कोष्ठयन्त्रे धमेद् दृढम् ॥ १७३ ॥
शङ्खकुन्देन्दुसंकाशं सत्त्वं वैक्रान्तजं भवेत्।

वैक्रान्तानामित्यादि। रविक्षीरैरर्कदुग्धैः, शिग्रुद्रवैः-शोभाञ्जनस्वरसैः, वह्नि-चित्रकः, प्रागुक्तमेव कोष्ठीयन्त्रलक्षणम्। शेष सुस्पष्टम्। इति वैक्रान्तसत्त्वम् ॥ १७२-१७३ ॥

वैक्रान्त के सत्त्वपातन का अन्य प्रकार—एक पल (४ तो) वैक्रान्त, एक कर्ष (१ तो) सुहागा दोनों को आक के दूध में एक दिन और सहजने के रस में एक दिन मर्दन करके गुजा (चिरमी), पिण्याक (खली) और चित्रक इन तीनों में प्रत्येक का एक-एक तोला लेकर उसमें मिलाकर गोला बना मूषा में रखकर तीक्ष्णाग्नि से धमन करनेपर शङ्ख, कुन्द और चन्द्रमा के तुल्य स्वच्छ वैक्रान्त का सत्त्व निकलता है ॥ १७२-१७३ ॥

अन्येषां तूपरत्नानां शोधनमारणविधिश्चिन्त्यः ॥

अन्य उपरत्नों की शोधन और मारणविधि को यथास्थान ग्रन्थान्तरों से विचारना चाहिए श्लोक सख्या १५८ में इनकी शोधन मारण की विधि का उल्लेख किया गया है अत तदनुसार करना चाहिए ॥

गुणास्तु—

रत्नानि सोपरत्नानि चक्षुष्याणि सराणि च ॥ १७४ ॥
ग्रहालक्ष्मीविषक्षैण्यपापसंतापजिन्ति च।

रत्नानीत्यादि। सुबोधम् ॥ १७४ ॥

रत्न और उपरत्नों के गुण—रत्न और उपरत्न नेत्रों के लिए हितकारी, रेचक, सूर्यादि ग्रहदोष, दरिद्रता, विष, देहक्षीणता, पाप और मन सन्तापको जीतनेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

भक्षितानि तु—

यक्ष्मपाण्डुप्रमेहार्शःकासश्वासभगन्दरान् ॥ १७५ ॥
ज्वरवीसर्पकुष्ठार्तिशूलकृच्छ्रव्रणामयान् ।
घ्नन्ति, पुण्ययशःकृन्ति पुण्यानि च नृणां भृशम् ॥ १७६ ॥

यक्ष्मेत्यादि । सुगमम् ॥ १७८–१७९ ॥

रत्न और उपरत्नों के खाने से मनुष्यों के क्षय, पाडु, प्रमेह, बवासीर, खासी, श्वास, भगन्दर, ज्वर, वीसर्प, कुष्ठ, ग्लानि, शूल, मूत्रकृच्छ्र और व्रणरोग दूर होकर, सुन्दर यश तथा पुण्य की प्राप्ति होती है ॥ १७८–१७९ ॥

अथ नवग्रहसानुकूल्यार्थं नवरत्नजटितमुद्रा धार्या । तस्यां नवरत्नविन्यासप्रकारमाह—

दिक्प्राचीकुलिशस्य, मौक्तिकमणेराग्नेयिका, दक्षिणा
दिग्वल्लीप्रभवस्य, नैर्ऋतककुब् गोमेदसो, वारुणी ।
नीलांशोरथ, दिग् विदूरजमणेर्वायोः कुवेरस्य दिक्
पुष्पस्याथ, हरिन्मणेर्हरहरिच्छेपस्य शेषा हरित् ॥ १७७ ॥[1]

दिगित्यादि । अस्य व्याख्या टिप्पण्यां द्रष्टव्या ॥ १७७ ॥

सूर्यादि नवग्रहों के दोष-शान्त्यर्थ नवरत्नों की अगूठी धारण करना चाहिए। उस अगूठी में नवरत्न जडाने की विधि—पूर्व दिशा में हीरा, आग्नेय में मोती, दक्षिण में प्रवाल (मूगा), नैर्ऋत्य में गोमेद, पश्चिम में नीलम, वायव्यदिशा में वैडूर्यमणि, उत्तर में पुखराज, ईशान दिशा में पन्ना और अवशेष माणिक्य को शेष अर्थात् मध्यभाग (कर्णिका) में जडावे। ये क्रमशः हीरा आदि नवरत्नों की दिशाए हैं अत जिस रत्न की जो दिशा है उसको उसी दिशा में जडाना चाहिए ॥ १७७ ॥

अथाशक्तस्य ग्रहप्रातिकूल्ये धारणदाने आह—

माणिक्यं द्युमणेर्बुधस्य गरुडोद्गारो गुरोः पुष्पकं
गोमेदं तमसः प्रवालमवनीसूनोर्विधोर्मौक्तिकम् ।
नीलं मन्दगतेः कवेस्तु कुलिशं केतोर्विडालाक्षक
रत्नं रत्नविदो वदन्ति विहितं दाने तथा धारणे[2] ॥ १७८ ॥

माणिक्यमित्यादि । माणिक्यादीनि नवरत्नानि सूर्यादिनवग्रहाणां मणयः सन्ति, एषां तत्तद्ग्रहदोषपरिहारार्थं दानं धारणं च यथोक्तविधिना क्रियते । शेषं टिप्पण्याम् ॥

सूर्यादिग्रहदोषपरिहारार्थ जिस जिस ग्रह के लिए जिस जिस मणि का दान और धारण किया जाता है उसको कहते हैं–सूर्य के माणिक, बुध के पन्ना, गुरु के पुखराज, राहु के गोमेद,

---

१. कुलिश वज्र, वल्ली प्रवाल, नीलांशुरिन्द्रनील , विदूरज वैडूर्य, पुष्प.–पुष्पराग , हरिन्मणि. गरुडोद्गार., हरहरित् ऐशानी, शेषस्य माणिक्यस्य, शेषा मध्या दिक्, कर्णिकाया न्यसेदित्यर्थ । इति ग्रन्थकार. ॥

२ द्युमणे सूर्यस्य, तमस राहो , अवनीसूनोर्मङ्गलस्य, मन्दगते शनैश्चरस्य, कवे. शुक्रस्य, विडालाक्ष विदूरमणि , एषा प्रातिकूल्ये यथासंभव दान धारण च कार्यम् । इति ग्रन्थकार. ।

मंगल के प्रवाल, चन्द्रमा के मोती, शनि के नीलम, शुक्र के हीरा और केतु के दोषपरिहारार्थ वैदूर्यमणि का दान और धारण करना रत्नविशेषज्ञोंने कहा है ॥ १७८ ॥

वक्तव्य—यहा प्रत्येक सूर्यादि नवग्रहों के क्रमशः रत्न बताये हैं जिस ग्रह का जो रत्न बताया गया है। वह ग्रह जब जन्मकुण्डली, महादशा या अन्तर्दशा में अनिष्ट स्थान में बैठकर अनिष्ट फल देने वाला हो तो उस ग्रह की शान्ति और अनिष्ट फल का प्रतिकार करने के लिए और इष्ट फल की उपलब्धि तथा ग्रह की प्रसन्नता के लिए उसके उत्तम जाति के रत्न को शरीर पर धारण करना चाहिए। रत्न के धारण करने से उसका शरीर से स्पर्शात्मक सम्पर्क जब होगा तो उस रत्न का जो प्रभावी गुण है वह रत्न की छाया के द्वारा उसके शरीर में प्रतिबिम्बित होकर ग्रहजन्य अनिष्ट का निराकरण करते हुए कल्याणकारी होगा। इस विषय को रसरत्नसमुच्चय-कार विशेष स्पष्टीकरण के साथ प्रतिपादित करता है जैसे कि— **'सूर्यादिग्रहनिग्रहापहरणं दीर्घायुरारोग्यदं, सौभाग्योदयभाग्यवश्यविभवोत्साहप्रदं धैर्यकृत्। दुश्छायाचलधूलिसंगतिभवाऽलक्ष्मीहरं सर्वदा, रत्नानां परिधारणं निगदितं भूतादिभिर्नाशनम् ॥'** अर्थात् ऊपर कहे हुए नवरत्नों के धारण करने से सूर्यादि नवग्रहों की समस्त पीडाए नष्ट हो जाती हैं, दीर्घायु और आरोग्य की प्राप्ति होती है, सौभाग्य का उदय होकर भाग्य अनुकूल हो जाता है जिससे उसमें उपस्थित होनेवाले व्यवधान कभी नहीं प्रगट हो पाते हैं। वह सबका प्रिय और विश्वासभाजन बन जाता है जिससे प्रत्येक प्राणी उसके संकेत की प्रतीक्षा करता है। ऐसा वशीकरण हो जाता है कि न चाहने वाला भी उसके प्रतीप जाने का साहस नहीं करता है। उसमें उत्साह और धैर्य का अटूट भण्डार समाविष्ट हो जाता है। अमङ्गल छाया और दूषित वातावरण या वायुमण्डल का कभी कोई कष्ट नहीं होने पाता है। भूत प्रेत और पिशाचादि का कोई कुछ प्रभाव नहीं होता है। उसकी आत्मा और मन इतना सबल और स्वावलम्बी बन जाते हैं कि वह प्रत्येक कार्य में निर्भर एवं निर्द्वन्द्व होकर कार्य करता है अत एव समस्त रत्नों का धारण सदैव उपकारक होता है ॥ १७८ ॥

अथ मुक्ताफलाना द्रुतिं तथाऽन्येषामपि रत्नाना द्रुतिप्रकारमाह—

मुक्ताफलानि सप्ताहं वेतसाऽम्लेन भावयेत्।
जम्बीरोदरमध्ये तु धान्यराशौ निधापयेत् ॥ १७९ ॥
पुटपाकेन तच्चूर्णं द्रवते सलिलं यथा।
कुरुते योगराजोऽयं रत्नानां द्रावणं प्रिये ॥ १८० ॥

मुक्ताफलानीत्यादि। सुगमम् ॥ १७९-१८० ॥ इति मुक्तादिरत्नद्रुतयः।

मुक्ताफल और अन्य रत्नों की द्रुति—मुक्ताफलों को सात दिनतक अम्लवेतस से भावित करके जभीरी निंबू में रखकर धान्यराशि में रखे। सात दिन के बाद उस चूर्ण को निकालकर पुट पाक करे तो जल की भाँति पिघल जाता है। भगवान् शिव जगज्जननी पार्वतीजी से कहते हैं कि हे प्रिये, यह योगराज रत्नों का द्रावण करनेवाला है ॥ १७९-१८० ॥

अथ सौराष्ट्रीसत्त्वम्—

सिताऽसिता च सौराष्ट्री गोपित्तैर्भावयेत्तु ताम्।
शतवारं प्रयत्नेन मित्रपञ्चकसंयुताम् ॥ १८१ ॥
ध्मानान्मुञ्चति सत्त्वं तु क्रामकं कोष्ठयन्त्रके।

सितेत्यादि। सिता श्वेता, असिता कृष्णवर्णा चेत्येवं सौराष्ट्री द्विविधा मता तां

प्रयत्नेन शतवारं यावद्गोपित्तैर्भावयेत् । पश्चान्मित्रपञ्चकसहितां मूषामध्ये प्रक्षिप्य कोष्ठयन्त्रके ध्मानात्सत्त्व मुञ्चति । 'क्रामकम्' इत्यत्र क्वचित् 'क्रामके' इति पाठभेदः ॥१८१॥

सौराष्ट्री का सत्त्वपातन-सौराष्ट्री फिटकरी श्वेत और कृष्ण वर्णभेद से दो प्रकार की है। उसे सौ बार गाय के पित्त से भावित करके मित्रपंचक के साथ मूषा में बन्द करके कोष्ठयन्त्र में धमन करने से शरीर अथवा पारे का क्रामण करनेवाला सत्त्व निकलता है ॥ १८१ ॥

अथ सस्यकसत्त्वम्—

सस्यकं चूर्णसंभाव्यं दिनं शशकशोणितैः ॥ १८२ ॥
स्त्रीमूत्रे वाऽथ यामैकं तत्पादांशां निशां क्षिपेत् ।
मद्यं करञ्जतैलेन यामैकं गोलकं च तत् ॥ १८३ ॥
अन्धमूषागतं ध्मातं घटिकार्धं दृढाग्निना ।
इन्द्रगोपकसंकाशं सत्त्वं मुञ्चति शोभनम् ॥ १८४ ॥

इति श्रीसौराष्ट्रदेशोद्भवसारस्वतकुलावतंसोपाध्यायश्रीमाधव-
विरचित आयुर्वेदप्रकाशे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



सस्यकमित्यादि । इन्द्रगोपकसंकाशं वर्षाभूकीटविशेषसदृशं रक्तवर्णं, शोभनं सत्त्वं मुञ्चति । शेषं सुबोधमेव ॥ १८२–१८४ ॥

सस्यक की सत्त्वपातन विधि—सस्यक के चूर्ण को एक दिन शशक (खरगोश) के रक्त से भावित करे अथवा स्त्रीमूत्र में एक प्रहर भावित करे और उससे चौथाई भाग हलदी डालकर करंजी के तेल से एक प्रहर घोटकर गोला बनावे, उस गोले को अन्धमूषा में रखकर तीक्ष्णाग्नि से आधी घडीतक धमन करे तो सस्यक बीरबहूटी के समान लाल रंग के सत्त्व को छोडता है ॥

आयुर्वेदप्रकाशस्य श्रीकेदारसुतेन च ।
गुलराजेन व्याख्यातः पञ्चमोऽध्यायशोभनः ॥

इत्यायुर्वेदप्रकाशेऽर्थविद्योतिन्यां सुस्पष्टार्थप्रकाशिनीहिन्दीटीकायां
रत्नोपरत्नसाधनाऽध्यायः पञ्चमः ॥ ५ ॥



षष्ठोऽध्यायः

पञ्चमाध्याये रत्नोपरत्नादिकमशेषतयाभिधाय सम्प्रति क्रमपरिप्राप्तत्वाद्रसकर्मण्युपयोगित्वाच्च विषोपविषाध्याय वक्तुमारभते ग्रन्थकारः—

अथ विषोपविषलक्षणजातिगुणसेवापरिहाराध्याय व्याख्यास्यामः। अथ विषोत्पत्तिः—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यत्रोत्पन्नं महाविषम्।
भेदांस्तस्य वरारोहे यत्र तत्र सविस्तरम्॥ १॥
देवदैत्योरगाः सिद्धा अप्सरोयक्षराक्षसाः।
पिशाचाः किन्नराश्चैव मिलित्वा च वरानने॥ २॥
एकतो बलिराजस्तु ब्रह्माद्याश्च तथैकतः।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नागराजेन वेष्टितम्॥ ३॥
क्षीराब्धिमन्थनं तत्र प्रारब्धं सुरसुन्दरि।
सुधादीनि सुरत्नानि निर्गतानि ततः परम्॥ ४॥
अतीव मन्थनाद् देवि मन्दराघातवेगतः।
अहिराजश्रमादेव विषज्वाला विनिर्गता॥ ५॥
ततोऽतिघोरा सा ज्वाला निमग्ना क्षीरसागरे।
(तथा तत्रैव चोत्पन्नं कालकूटं महाविषम्।
प्रलयानलसंकाशं क्रुद्धः काल इवोत्कटम्॥)
तां दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे दानवाश्च महाबलाः॥ ६॥
विषण्णवदनाः सद्यः प्राप्ताश्चैव मदन्तिकम्।
ततस्तैः प्रार्थ्यमानोऽहमपिबं विषमुत्तमम्॥ ७॥
अभूत्ततोऽवशिष्टं तु मूलरूपेण तद्विषम्।
पत्ररूपेण कुत्रापि मृत्तिकारूपतः क्वचित्॥ ८॥
कन्दरूपेण कुत्रापि तेषां लक्षणमुच्यते।

शृण्वित्यादि। भगवान् भूतभावनो महेश्वरः पार्वतीं प्रति विषस्योत्पत्तिं वक्तीत्यवधेयम्। विषण्णवदनाः–खिन्नमुखा देवाः, दानवाश्च, शेषं सुबोधम्॥ १–८॥

विषों की उत्पत्ति—भगवान् शिव पार्वतीजी से कहते हैं कि हे देवि, सुनो जहां विष की उत्पत्ति हुई वह स्थान और विषके भेदों को यथास्थान सविस्तार वर्णन करूंगा। हे देवि, एक समय की बात है कि देवता, दानव, नाग, सिद्ध, अप्सराएं, यक्ष, राक्षस, पिशाच और किन्नर ये सब राजा बलिसहित एक ओर तथा ब्रह्मादिक देवता दूसरी ओर ऐसे दोनों पक्षों ने मिलकर मन्दराचल पहाड को मन्थान (झेरना), शेषनाग को वेष्टन (नेता) और क्षीरसमुद्र को मथनी (बिलोना) करके मन्थन करना प्रारंभ किया। उस समय क्षीरसमुद्र के मन्थन करने से अमृत को आदि लेकर सुन्दर-सुन्दर चौदह रत्न समुद्रमें से उत्पन्न हुए। हे देवि, जब समुद्र का अतिशय

मन्थन किया गया तो उसके द्वारा मन्दराचल के आघात और शेषनाग के परिश्रम से विषज्वाला उत्पन्न होकर समुद्र में विलीन हो गई (और वहीं पर प्रलयाग्नि के तुल्य, क्रुद्ध हुए काल के आकार का कालकूट नाम का महाविष उत्पन्न हुआ) उस विष की ज्वाला को देखकर सपूर्ण देवतालोग और महाबली दानव सबके सब खिन्नमुख होकर मेरे पास आये और प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन् इस विषज्वाला से हमें बचाइये, तब मैंने उनकी प्रार्थना के अनुसार उस उत्तम विष का पान किया जिससे कि देव-दानव भयभीत थे। उस समय कुछ विष अवशिष्ट रूप से भूमिपर गिरा वही आज कहीं पर मूलरूप से, कहीं पर पत्ररूप से कहीं पर मिट्टी के रूप से तो कहीं पर कन्द के रूप से मिलता है। उसके लक्षणों को आगे यथाक्रम कहूंगा ॥ १-८ ॥

विषं तु गरलं क्ष्वेडं कालकूटं च नामतः।
अष्टादशविधं ज्ञेयं विषं कन्दभवं बुधैः ॥ ९ ॥
तेष्वष्टौ सौम्यभेदाः स्युर्भक्षणाद् घ्नन्ति मानवम्।
उग्रास्तु दश संस्पर्शादाघ्राणाद्वाऽपि मारका ॥ १० ॥

विषमित्यादि। कन्दभव-मूलजं विषमष्टादशविधं भवति, तेष्वष्टौ सौम्यभेदा उग्राश्च दशेति तात्पर्यम् ॥ ९-१० ॥

विष के नाम और उसके भेद-विष के गरल, क्ष्वेड और कालकूट ये नाम हैं। कन्दज विष अठारह प्रकार का होता है। इनमें से आठ विष के भेद सौम्य होते हैं जो कि खाने से मनुष्य को मार देते हैं और दश उग्र होते हैं जिन के स्पर्श और सूंघने से ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है ॥ ९-१० ॥

यथा—

सक्तुको मुस्तकः कौर्मो दार्वीकः सार्षपस्तथा।
सैकतो वत्सनाभश्च श्वेतशृङ्गी तथैव च ॥ ११ ॥
भैषज्यार्थं तु चैतानि विषाण्यष्टौ समाहरेत्।
जराव्याधिहराणि स्युर्विधिना शीलितानि हि ॥ १२ ॥

सक्तुक इत्यादि। सुस्पष्टम् ॥ ११-१२ ॥

आठ प्रकार के सौम्यविष के नाम और गुण—सक्तुक, मुस्तक, कौर्म, दार्वीक, सार्षप, सैकत, वत्सनाभ और श्वेतशृङ्गिक ये आठ विष औषधार्थ प्रयोग किये जाते हैं। इनका विधिपूर्वक प्रयोग करने से ये बुढापा और व्याधिनाशक होते हैं ॥ ११-१२ ॥

लक्षणानि—

चित्रमुत्पलकन्दाभं सुपेष्यं सक्तुवद्भवेत्।
सक्तुकं तद्विजानीयाद्दीर्घवेगं महोत्कटम् ॥ १३ ॥
ह्रस्ववेगं च रोगघ्नं मुस्तकं मुस्तकाकृति।
कूर्माकृति भवेत्कौर्मं दार्वीकं हि फणाकृति ॥ १४ ॥
ज्वरहृत्सार्षपं रोमि सर्षपाभकणान्वितम्।
स्थूलसूक्ष्मकणैर्युक्तः श्वेतपीतैर्विरोमकः ॥ १५ ॥
ज्वरादिसर्वरोगघ्नः कन्द सैकत उच्यते।
यः कन्दो गोस्तनाकारो न दीर्घोऽङ्गुलिपञ्चकात् ॥ १६ ॥

न स्थूलो गोस्तनादूर्ध्वं द्विविधो वत्सनाभकः।
आशुकारी लघुस्त्यागी शुक्लः कृष्णोऽन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥
प्रयोज्यो रोगनाशे तु जारणायां रसायने।
गोशृङ्गवद् द्विधा शृङ्गी श्वेतः स्याद्बहिरन्तरे ॥ १८ ॥
एतानि सक्तुकादीनि वातरक्ते[१] त्रिदोषके।
उन्मादेऽपस्मृते कुष्ठे मोहे चापि नियोजयेत् ॥ १९ ॥

चित्रमित्यादि। उत्पलकन्दाभ—कमलकन्दसदृश, दीर्घवेग-बहुकालपर्यन्त वेगकारि, क्वचित्, 'दीर्घवेगम्' इत्यत्र 'दीर्घरोगम्' इति पाठभेदः। महोत्कटम् अतितीक्ष्णं, क्वचित 'सर्षपाभकणान्वितम्' इत्यत्र 'सर्षपाभकणाकृति' इतिपाठः। अन्यत्स्पष्टम् ॥

औषधोपयोगी आठ सौम्य विषों के लक्षण- चित्र विचित्र रंग का कमल के कन्द के तुल्य और सत्तू की भांति भली प्रकार पिस जानेवाला सक्तुक विष होता है इसका वेग (लहर) दीर्घ कालतक रहता है और अति तीक्ष्ण विषवाला होने से प्राणघाती होता है। मुस्तक नाम का विष नागरमोथे के आकार का, रोगनाशक और ह्रस्ववेगी स्वल्प काल में ही विषवेग शान्त होनेवाला होता है। कौर्म विष कछुवे के आकार का और दार्वीक विष सर्प के फण के आकार का होता है। सार्षप विष गोदवाला, सर्सों के समान कणोंवाला और ज्वरनाशक होता है। श्वेत और पीलेवर्ण के जिसमें छोटे बड़े कण दीखते हों, जिसपर रोएं न हों और जो ज्वरादि सपूर्ण रोगों का नाश करनेवाला हो वह सैकत विष कहलाता है। जो कन्द गाय के स्तन के आकार का और पांच अंगुल से बड़ा न हो तथा गाय के स्तन से मोटा भी न हो वह वत्सनाभ (बचनाग) कहलाता है। इसके दो भेद हैं काला और श्वेत, यह शीघ्र प्राणनाशक और भारी होता है। इसका प्रयोग रोगनाशार्थ, पारद की जारणक्रिया और रसायन में होता है। गाय के सींग के तुल्य सिंगिया विष दो प्रकार का होता है। एक बाहर से श्वेत वर्ण का और दूसरा भीतर से श्वेतवर्ण होता है। ये सक्तुक से आदि लेकर आठों प्रकार के विष वातप्रधान रोग अथवा वातरक्तरोग, त्रिदोषविकार, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ और मोह में प्रयोग किये जाते हैं ॥ १३-१९ ॥

अथ वर्ज्यानि—

कालकूटस्तथा मेषशृङ्गी दर्दुरकस्तथा।
हालाहलश्च कर्कोटो ग्रन्थिर्हारिद्रकस्तथा ॥ २० ॥
रक्तशृङ्गी केसरश्च यमदंष्ट्रा च पण्डितैः।
त्याज्यानीमानि योगेषु विषाणि दश तत्त्वतः ॥ २१ ॥

कालकूट इत्यादि। सुगमम् ॥ २०-२१ ॥

औषधिकार्य में त्याज्य दश विषों के नाम—बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि वह कालकूट, मेषशृङ्गी, दर्दुरक, हालाहल, कर्कोट, ग्रन्थि, हारिद्रक, रक्तशृङ्गी, केसर और यमदंष्ट्रा इन दस विषों को भेषजकर्म में प्रयुक्त न करे ॥ २०-२१ ॥

लक्षणानि—

देवासुररणे देवैर्हतस्य पृथुमालिनः।

---

१ वातरक्ते वातप्रधानरोगे रक्तप्रधानरोगे उभयप्रधानरोगे इति वा तत्त्वार्थः। इति ग्रन्थकार।

दैत्यस्य रुधिराज्जातस्तरुरश्वत्थसंनिभः ॥ २२ ॥
निर्यासः कालकूटोऽस्य[1] मुनिभिः परिकीर्तितः ।
सोऽहिच्छत्रे शृङ्गवेरे[1] कोङ्कणे मलये भवेत् ॥ २३ ॥
घनं सुकठिनं रूक्षं भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ।
कन्दाकारं समाख्यातं कालकूटं महाविषम् ॥ २४ ॥

देवेत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ २२-२४ ॥

कालकूट विष के लक्षण—देव और दैत्यों के युद्ध में देवताओं ने पृथुमाली नामक राक्षस को जब मारा तो उसके रुधिर से पीपल के वृक्ष के तुल्य वृक्ष उत्पन्न हुआ और उसी वृक्ष के गोंद को मुनियों ने कालकूट विष की संज्ञा दी । वह अहिच्छत्र, शृङ्गवेरपर्वत, कोङ्कण और मलयाचल देशों में होता है । यह कालकूट महाविष घन (गाढा), कठिन, रूखा, तोडने पर काजल के समान काला तथा कन्द के आकार का होता है ॥ २२-२४ ॥

लक्षणान्तरम्—

वृत्तः कन्दो भवेच्छुष्को जम्बीरफलवच्च यः ।
जानीयात्तं कालकूटं घ्राणमात्रान्मृतिप्रदम् ॥ २५ ॥
मेषशृङ्गाकृतिः कन्दो मेषशृङ्गीति कीर्त्यते ।
दर्दुराकृतिकः कन्दो दर्दुर कथितस्तु सः ॥ २६ ॥
गोस्तनाभफलो गुच्छस्तालपत्रच्छदस्तथा ।
तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादय ॥ २७ ॥
असौ हलाहलो ज्ञेयः किष्किन्धायां हिमालये ।
दक्षिणाब्धितटे देशे कोङ्कणेऽपि च जायते ॥ २८ ॥
अन्तर्नीलो बहिः श्वेतो हालाहल उदाहृतः ।
कर्कोटाभं तु कर्कोटं खरं बाह्येऽन्तरे मृदु ॥ २९ ॥
हरिद्राग्रन्थिवद्ग्रन्थिः स स्यात्कृष्णोऽतिभीषणः ।
मूलाग्रयोस्तु वृत्तः स्यादायतः पीतगर्भकः ॥ ३० ॥
कञ्चुकाढ्यः स्निग्धपर्वा हारिद्रः स तु कन्दक ।
गोशृङ्गेऽग्रे च निक्षिप्ते नासयाऽसृक्प्रवर्तते ॥ ३१ ॥
लघुर्गोस्तनवत्कन्दो रक्तशृङ्गीति तद्विषम् ।
शुष्कार्द्रवत्सकिशल्कं मध्ये तत्केसर विदु ॥ ३२ ॥
श्वदंष्ट्रारूपसंस्थाना यमदंष्ट्रेति सोच्यते ।
रसायने धातुवादे विषवादे क्वचित्क्वचित् ॥ ३३ ॥
दशैतानि प्रयुज्यन्ते न भैषज्ये रसायने ।

वृत्त इत्यादि । सुस्पष्टम् । भावप्रकाशे विशेषो रक्तशृङ्गिकविषविषये यथा—'यस्मिन्गोशृङ्गके वद्धे दुग्धं भवति लोहितम् । स शृङ्गिक इति प्रोक्तो द्रव्यतत्त्वविशारदै ॥' इति ॥

---

१ शृङ्गवेरः पर्वतविशेष । इति ग्रन्थकार ।

कालकूट आदि दस विषों के लक्षण—जिसका कन्द गोल हो और सूखनेपर जमीरी निंबू के तुल्य जान पड़े वह कालकूट विष होता है। इसके सूंघने मात्र से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। मेंढे के सींग की आकृति का कन्द मेषशृङ्गी विष कहाता है। मेंढक की आकृति का कन्द दर्दुर विष होता है। जिसके फल द्राक्षा के फलों के गुच्छ के तुल्य हों और पत्ते तालवृक्ष के समान हों तथा जिसके तेज से समीप के वृक्ष जल जावें वह हालाहल नाम का विष होता है। इसकी उत्पत्ति किष्किन्धा, हिमालय, दक्षिण समुद्र के तटप्रदेश और कोंकण देशों में होती है। हालाहल विष भीतर में नीलवर्ण का और बाहर में श्वेत वर्ण का होता है। कर्कोट विष ककोडे के फल के आकार का बाहर से परुष और भीतर से मृदु (कोमल) होता है। हलदी की गाठ के समान ग्रन्थिक विष काले वर्ण का और अति भयानक होता है। जो विष अग्रभाग में गोल, बीच में चौड़ा, गर्भ में पीले वर्ण का, कंचुक (कांचली) सहित और स्निग्ध पर्व (पेरुवे) वाला हो वह हारिद्रक होता है। रक्तशृङ्गी विष हलका, गाय के स्तन अथवा द्राक्षा के आकार के कन्दवाला होता है तथा जिसको गाय के सींगों के अग्रभाग में रखने से उसके नाक से रक्त पडने लगता है। शुष्क अदरख के तुल्य कन्द का और बीच में किंजल्क (केसरयुक्त) विष केसर नाम से प्रसिद्ध है। गोखरू के समान आकार और वर्ण का यमदंष्ट्रा विष होता है। ये दसों प्रकार के विष कहीं कहीं रसायन अर्थात् पारे की रासायनिक क्रिया में, धातुवाद अर्थात् सुवर्ण आदि धातुओं के बनाने में और विषवाद अर्थात् विषप्रयोग या उसके उतारने में प्रयोग किये जाते हैं किन्तु आरोग्यकारक औषधि और रसायन में नहीं लिए जाते ॥ २५-३३ ॥

अथ कैश्चिन्नव भेदा उक्तास्ते यथा—

वत्सनाभः सहारिद्रः सक्तुकश्च प्रदीपनः ॥ ३४ ॥
शृङ्गिकः कालकूटश्च सौराष्ट्रिकस्तथैव च।
हालाहलो ब्रह्मपुत्रो विषभेदा अमी नव ॥ ३५ ॥
पलाशपत्रवत्पत्रैस्तद्बीजसदृशैः फलैः।
स्थूलः कन्दो भवेत्तस्य प्रभावस्तु महान् स्मृतः ॥ ३६ ॥
सिन्दुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा।
यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स भाषितः ॥ ३७ ॥
वर्णतो लोहितो यः स्याद्दीप्तिमान् दहनप्रभः।
महादाहकरो घ्राणात्कथितः स प्रदीपनः ॥ ३८ ॥
वर्णतः कपिलो यत्स्यात्तथा भवति सारकः।
ब्रह्मपुत्रः स विज्ञेयो जायते मलयाचले ॥ ३९ ॥

शेषाः पूर्वमुक्ता एव। अथैषामुत्पत्तिस्थानानि—वत्सनाभः पर्वतक्षोणीषूत्पद्यते, हारिद्रो हरिद्राकक्षेषु, सक्तुकः पर्वतदेशे, प्रदीपनः समकक्षेषु, सौराष्ट्रिकः सुराष्ट्रदेशे, शृङ्गिकः कपिलेषु नदीकक्षेषु, कालकूटोऽहिच्छत्रादौ, हालाहलः किष्किन्धादौ, ब्रह्मपुत्रः ब्रह्म नाम कश्चन पर्वतप्रदेशस्तस्य कक्षेषु ॥ ४० ॥

वत्सनाभ इत्यादि। सुबोधम् ॥ ३४-४० ॥

कुछ आचार्यों के मत से विष के नव भेदों का कथन—वत्सनाभ, हारिद्र, सक्तुक, प्रदीपन,

शृङ्गिक, कालकूट, सौराष्ट्रिक, हालाहल और ब्रह्मपुत्र ये विष के नव भेद हैं। बचनाग के पत्ते, बीज और फल ये तीनों पलाश के समान होते हैं, इसका कन्द स्थूल (मोटा) और प्रभाव महान् होता है। जिसके पत्ते निर्गुण्डी के पत्तों के समान और कन्द बछडे की नाभि के आकार का हो तथा जिसके समीप में दूसरे वृक्षों की वृद्धि न हो उसे वचनाग विष जानना चाहिए। जो विषरग में, लाल वर्ण का चमकने वाला, अग्नि के समान तेजस्वी और सूंघने मात्र से शरीर में अतिशय दाह करने वाला हो वह प्रदीपन विष कहलाता है। जिसका रग कपिल (पीला) और गुणों में रेचक हो वह ब्रह्मपुत्र नामक विष होता है। इसकी उत्पत्ति मलयाचल में होती है अन्य शेष विषों को प्रथम कह आये हैं। अब इनके उत्पत्ति के स्थानों को और बताया जाता है। जैसे कि-वचनाग पर्वतों के खोह प्रदेशोंमें, हारिद्रक विष हलदी के कोख में, सक्तुक विष पर्वत प्रदेश में, प्रदीप विष समतल भूभाग में, सौराष्ट्रिक विष सोरठ देश में, शृङ्गिक विष नदी की पीली मिट्टी के भाग में, कालकूट अहिच्छत्र आदि पूर्वोक्त देशो में, हालाहल किष्किन्धा आदि प्रदेशों में और ब्रह्मपुत्र ब्रह्मन् नामक किसी पर्वत के प्रदेश में होता है॥ ३४-४०॥

अथैषां वर्णाः—

ब्राह्मणं पाण्डुरं विद्यात्क्षत्रियं रक्तवर्णकम्।
वैश्यं पीतप्रभं शूद्रं कृष्णवर्णं विनिन्दितम्॥ ४१॥
ब्राह्मणं दीयते रोगे क्षत्रियं विषभक्षणे।
वैश्यं व्याधिषु सर्वेषु सर्पदष्टाय शूद्रकम्॥ ४२॥

ब्राह्मणमित्यादि। स्पष्टम्॥ ४१-४२॥

वर्ण भेद से विषों के चार प्रकार के वर्ण—ब्राह्मण का विष श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला और शूद्र वर्ण का विष काला होता है। रोग में ब्राह्मण वर्णका, विष भक्षण में क्षत्रिय वर्णका, सम्पूर्ण व्याधियों में वैश्य वर्ण का और सर्पदष्ट पर शूद्र वर्ण का विष दिया जाता है॥ ४१-४२॥

अथ विषगुणाः—

विषं रसायनं बल्यं वातश्लेष्मविकारनुत्।
कटुतिक्तकषायं च मदकारि सुखप्रदम्॥ ४३॥
व्यवायि शीतनुद्ग्राहि कुष्ठवातास्रनाशनम्।
श्वासकासाग्निमान्द्यानि प्लीहोदरभगन्दरान्॥ ४४॥
गुल्मपाण्डुव्रणार्शांसि नाशयेद्विधिसेवितम्।

विषमित्यादि। मदकारि—तमोगुणातिरेकेण बुद्धिनाशक, व्यवायि पूर्वं सर्वशरीरं व्याप्य पश्चात्पाकं यातीत्यर्थः। शीतनुत्-शीतहर। शेषं सुबोधम्॥ ४३-४४॥

विष के गुण—विष रसायन अर्थात् बुढापा और व्याधियों का नाश करने वाला, बलकारी, वायु और कफ के विकारों को हरण करने वाला, रस में चरपरा, कडवा, कसैला, बुद्धिनाशक और सुखकारी होता है। व्यवायि अर्थात् प्रथम सर्व शरीर में व्याप्त होकर पचनेवाला, शीत को दूर करने वाला, मल को बाधने वाला, कुष्ठ और वातरक्त का नाशक, श्वास, खासी, मन्दाग्नि, प्लीहा, उदररोग, भगन्दर, वायुगोला, पाडु, व्रणरोग और बवासीर इन सब को विधिसहित सेवन करने पर नष्ट करने वाला होता है॥ ४३-४४॥

अन्यत्रापि—

विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकासि च ॥ ४५ ॥
वातश्लेष्महृदाग्नेयं योगवाहि [1]मदावहम् ।
तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम् ॥ ४६ ॥
पथ्याशिनां त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्धनम् ।

विषमित्यादि । व्याख्यातं टिप्पण्याम् ॥ ४५-४६ ॥

अन्य मत से विष के गुण—विष यह प्राणों को हरण करने वाला, व्यवायि अर्थात् प्रथम सर्व देह में प्रसृत होकर फिर परिपाक को प्राप्त होने वाला, विकासि अर्थात् अन्तिम आठवीं धातु ओज को सुखाते हुए सपूर्ण सन्धिबन्धनों को ढीला करने वाला, वायु और कफ को हरण करने वाला, आग्नेय गुणवाला, योगवाही अर्थात् जिस योग के साथ दिया जावे तदनुसार गुणकारी और बुद्धिनाशक होता है । यही विष युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से पथ्ययुक्त आहार विहार करनेवालों के लिए प्राणप्रद, रसायन, त्रिदोषनाशक, शरीर का पोषण करनेवाला और वीर्यवर्धक होता है ॥

अथ विषशोधनम्—

ये दुर्गुणा विषेऽशुद्धे ते स्युर्हीना विशोधिते ॥ ४७ ॥
तस्माद्विषं प्रयोगेषु शोधितं योजयेद्भिषक् ।

य इत्यादि । अशुद्धे विषे ये दुर्गुणास्ते विशोधिते हीनाः स्युः । शेषं स्पष्टम् ॥ ४७ ॥

विषशोधन की आवश्यकता—जो दुर्गुण अशुद्ध विष में होते हैं वे शुद्ध किये हुए में नहीं होते अतः विष की योजना प्रयोगों में शुद्ध करके ही करनी चाहिए ॥ ४७ ॥

यथा—

उद्धरेत्फलपाके तु नवं स्निग्धं घनं गुरु ॥ ४८ ॥
अव्यापन्नं विषघ्नैस्तु वातादिभिरशोषितम् ।
विषहरैर्मयूरमण्यादिभिः ।

उद्धरेदित्यादि । स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

विषग्रहण की विधि—भलीभाति विष के पके हुए फल ही औषधकार्य में ग्रहण किये जाते हैं । विष नवीन, चिकना, घन (गाढा) भारा, विषनाशक औषधियों से अव्यापन्न और वायु आदि से शुष्क न हुआ उत्तम होता है । विषनाशक औषधिया मयूर और मणि आदि होती हैं ॥ ४८ ॥

कृत्वा चणकवत्स्थूलान् विषभागांस्तु भाजने ॥ ४९ ॥
तत्र गोमूत्रकं क्षिप्त्वा प्रत्यहं नित्यनूतनम् ।
शोषयेत्त्रिदिनादूर्ध्वं धृत्वा तीव्रातपे ततः ॥ ५० ॥
प्रयोगेषु प्रयुञ्जीत भागमानेन तद्विषम् ।
इयं शुद्धिर्ग्रीष्मर्त्वादावुचिता, तत्र तीव्रातपसद्भावात् ।

कृत्वेत्यादि सुबोधम् ॥ ४९-५० ॥

---

१. व्यवायि सकलकायं व्याप्य पाकगमनशील, विकाशि ओज शोषणपूर्वकसन्धिबन्धशिथिलीकरणशील, आग्नेयम् अधिकाग्न्यंश, योगवाहि सन्निगुणग्राहक, मदावह तमोगुणाधिक्येन बुद्धिविध्वसकम् । इति ग्रन्थकार. ।

विष की शोधनविधि—विष के चने के बराबर टुकडे करके एक पात्र में रखकर उस पात्र में गोमूत्र इतना डाले कि जिसमें विष के टुकडे डूब जावें। नित्यप्रति गोमूत्र नवीन डाले और पुराना निकाल दे। इस प्रकार तीन दिन गोमूत्र में रखकर पश्चात् तीक्ष्ण धूप में सुखावे और प्रमाणभाग से योगों में विष का प्रयोग करे। यह शुद्धि ग्रीष्म ऋतु आदि में योग्य होती है क्योंकि उस समय तीक्ष्ण धूप रहती है ॥ ४९-५० ॥

रक्तसर्षपतैलेन लिप्ते वाससि धारयेत् ॥ ५१ ॥
विषं शुद्धं प्रयत्नेन नान्यत्र गुणहानितः ।

रक्तसर्षपेत्यादि । सुगमम् ॥ ५१ ॥

शुद्ध विष की रक्षणविधि—शुद्ध किये हुए विष को लाल सरसों के तेल से लीपे हुए वस्त्र में सावधानता से रखना चाहिए अन्यथा वह गुणहीन हो जाता है ॥ ५१ ॥

अथ तीव्रातपाभावे प्रकारान्तरेण शोधनं—

कृत्वा चणकवत्स्थूलान् विषभागांस्तु स्वेदयेत् ॥ ५२ ॥
गोदुग्धे घटिकाः पञ्च शुद्धिमायाति तद्विषम् ।
न प्रोक्तं शोधनं यस्य विषस्योपविषस्य वा ॥ ५३ ॥
गोदुग्धे स्वेदनं तस्य कर्तव्यं शुद्धिकारकम् ।

कृत्वेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ५२-५३ ॥

विषशोधनकाल में तीक्ष्ण धूप का अभाव हो तो अन्य शोधनविधि-विष के चने जैसे मोटे टुकडे करके गाय के दूध में पाच घडी तक स्वेदन करे तो विष की शुद्धि हो जाती है। जिस विष अथवा उपविष का शोधन न कहा हो उसको गाय के दूध में स्वेदन करे तो शुद्ध हो जाता है ॥ ५२-५३ ॥

योगतरङ्गिण्याम्—

विषं तु खण्डशः कृत्वा वस्त्रखण्डेन बन्धयेत् ॥ ५४ ॥
गोमूत्रेऽथ विनिक्षिप्य स्थापयेदातपे त्र्यहम् ।
गोमूत्रं तु प्रदातव्यं प्रत्यहं नूतनं बुधैः ॥ ५५ ॥
त्र्यहेऽतीते तदुद्धृत्य शोषयेन्मृदु पेषयेत् ।
शुध्यत्येवं विषं सेवायोग्यं भवति रोगजित् ॥ ५६ ॥

विषमित्यादि । त्र्यहेऽतीते—त्रिदिनानन्तर, सेवायोग्य—भक्षणार्हम् । शेषं सुगमम् ॥

योगतरङ्गिणी के मत में विष की शुद्धि—विष के छोटे छोटे टुकडे करके वस्त्र में पोटली की भांति बांधे और उस पोटली को गोमूत्र में डालकर तीन दिन तक धूप मे रखे। प्रतिदिन गोमूत्र नवीन डाले। तीन दिन के बाद गोमूत्र से निकालकर सुखा ले और मृदु पीस ले। इस प्रकार से शुद्ध किया हुआ विष खाने योग्य और रोगनाशक हो जाता है ॥ ५४-५६ ॥

अथान्यः प्रकारः—

खण्डीकृत्य विषं वस्त्रपरिबद्धं तु दोलया ।
अजापयसि संस्विन्नं यामतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥ ५७ ॥

क्षीराभावे ह्यजायास्तु गव्यक्षीरेण शोधयेत् ।
जायते दोषनिर्मुक्तं विषं योगेषु योजयेत् ॥ ५८ ॥

खण्डीकृत्येत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ५७-५८ ॥

विषशोधन का अन्य प्रकार—विष के टुकड़े करके वस्त्र में बाँध कर बकरी के दूध में दोलायन्त्र विधि से एक प्रहर स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है। बकरी के दूध के अभाव में गाय के दूध में शोधन करे। इस विधि से विष सर्वदोष से रहित हो जाता है। इसका सर्वत्र औषधकार्य में प्रयोग करे ॥ ५७-५८ ॥

अथान्य, प्रकारः—

विषग्रन्थि मले न्यस्य माहिषे दृढमुद्रितम् ।
करीषाग्नौ पचेद्यामं वस्त्रपूतं विषं शुचि ॥ ५९ ॥

विषग्रन्थिमित्यादि । करीषाग्नौ-शुष्कगोमयोपलाग्नौ 'गोविट् गोमयमस्त्रियाम् । तत्तु शुष्कं करीषोऽस्त्री'त्यमरः । अन्यत्स्पष्टम् ॥ ५९ ॥ इति विषशुद्धिः ॥

अन्य शोधनविधि-विष की गांठों को भैंस के गोबर में रख कर उसको एक पात्र में दृढ़ मुद्रा देकर एक प्रहरतक गाय के उपलों की अग्नि में पकावे, पश्चात् निकाल कर गांठों को वस्त्र से पोंछ ले तो विष शुद्ध हो जाता है ॥ ५९ ॥

समटङ्कणसंपिष्टं तद्विषं मृतमुच्यते ।
योजयेत्सर्वरोगेषु न विकारं करोति च ॥ ६० ॥

समेत्यादि । टङ्कणसमभाग विषमेकत्र संपिष्टं मृत भवति । तस्य प्रयोगः सर्वत्र भवति विकार च न करोति ॥ ६० ॥

विष का मारणविधि—विषके समान भाग सोहागा मिलाकर पीसने से विष का विषत्व मर जाता है। इसका सब जगह प्रयोग करे क्योंकि यह विकार नहीं करता ॥ ६० ॥

अन्यमतम्—

तुल्येन टङ्कणेनैव द्विगुणेनोषणेन च ।
विष संयोजितं शुद्धं मृतं भवति सर्वथा ॥ ६१ ॥
इति विषकल्पाथ विषमारणम् ।

तुल्येनेत्यादि । ऊषणेन-मरिचेन । शेष सुगमम् ॥ ६१ ॥

अन्य मत से विषमारण का प्रकार—विष के समान भाग सुहागा और विष से दुगुनी काली मरिच लेकर एकत्र मर्दन करने से विष की शुद्धि और मारण दोनों हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

अथ विषसेवा—

नानारसौषधैर्ये तु दुष्टा यान्तीह नो गदाः ।
ते नश्यन्ति विषे दत्ते शीघ्रं वातकफोद्भवाः ॥ ६२ ॥
शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु वर्षासु च न दापयेत् ।
हेमन्तशिशिरर्तौ तु विधिना मात्रयाऽर्पयेत् ॥ ६३ ॥
चतुर्मासैर्हरेद्रोगान् कुष्ठलूतादिकानपि ।
अशीतिर्यस्य वर्षाणि वसुवर्षाणि यस्य वा ॥ ६४ ॥

विषं तस्मै न दातव्य दत्तं चेद्रोगकारकम् ।
दातव्यं सर्वरोगेषु घृताशिनि हिताशिनि ॥ ६५ ॥
क्षीराशिनि प्रयोक्तव्यं रसायनरते नरे ।
ब्रह्मचर्यप्रधानं हि विषकल्पं समाचरेत् ॥ ६६ ॥
पथ्यैः स्वस्थमना भूत्वा तदा सिद्धिर्न संशयः ।

नानेत्यादि । अनेकरसौषधिभिरपि ये दुष्टा गदाः-रोगा इह नो यान्ति न दूरीभवन्ति ते वातकफोद्भवा रोगा विषे दत्ते सति शीघ्रं नश्यन्ति । वसुवर्षाणि-अष्टवर्षाणि । शेषं सुबोधम् ॥ ६२-६६ ॥

विष की सेवनविधि—अनेक प्रकार की रसौषधियों द्वारा भी जो दुष्ट रोग नष्ट न होवें वे ही सपूर्ण वातकफादि रोग विष के देने से तत्काल दूर हो जाते हैं । विषका प्रयोग शरद्, ग्रीष्म, वसन्त और वर्षा ऋतु में नहीं करना चाहिए, किन्तु हेमन्त और शिशिर ऋतु में विधि से और मात्रा से करना चाहिए । विषके चार मास के प्रयोग करने से कुष्ठ और लूता आदि कष्टसाध्य रोगों का भी नाश हो जाता है । जिस मनुष्य की ८० वर्ष की आयुष्य हो तथा जो केवल आठ वर्ष अथवा उससे भी छोटा हो उसके लिए विषका प्रयोग नहीं करना चाहिए । अन्यथा रोगोत्पादक होता है । विषका प्रयोग सभी रोगों में उत्तम कहा है किन्तु फिर भी यह प्रयोग पथ्यसहित दूध के सेवन करनेवाले और रसायनसेवी के लिए करना लिखा है । ब्रह्मचर्य को प्रधान रखते हुए विषकल्प लेना चाहिए । प्रसन्नचित्त और पथ्य के साथ विषके सेवन से अवश्य सिद्धि मिलती है ॥ ६२-६६ ॥

अथ विषानधिकारिणः—

न क्रोधिते न पित्तार्ते न क्लीवे राजयक्ष्मिणि ।
क्षुत्तृष्णाश्रमकर्माध्वसेविनि क्षयरोगिणि ॥ ६७ ॥
गर्भिण्यां बालवृद्धेषु न विषं राजमन्दिरे ।
न दातव्यं न भोक्तव्यं विषं वादे कदाचन ॥ ६८ ॥
आचार्येण तु भोक्तव्यं शिष्यप्रत्ययकारकम् ।
विषं शुद्धं हि तदपि मात्रया नान्यथा भजेत् ॥ ६९ ॥
शमनं सर्वरोगाणां दृष्टिपुष्टिकरं विषम् ।
विधिना मात्रया काले भवेत्पथ्याशिनां नृणाम् ॥ ७० ॥

नेत्यादि । सुबोधमेव ॥ ६७-७० ॥

विषसेवन के अनधिकारी—क्रोधी को, पित्तरोगी को, नपुसक को, क्षयरोगी को, क्षुधा और तृष्णा से युक्त को तथा परिश्रम और मार्ग चलने से थके हुए को विष सेवन नही कराना चाहिए । गर्भिणी, बालक और वृद्ध को तथा राजगृह मे भी विष नहीं देना चाहिए । वाद विवाद के समय विष कदापि सेवन नहीं करना चाहिए । किन्तु आचार्य (गुरु) का कर्तव्य है कि वह अपने शिष्यों के निश्चयार्थ स्वय विष भक्षण करके बतावे, परन्तु वह भी शुद्ध किये हुए को मात्रा से सेवन करे अशुद्ध को नहीं, अन्यथा वह अपायकर होगा । पथ्याशी मनुष्यों के लिए विधि, मात्रा और काल के अनुसार सेवन किया हुआ विष सपूर्ण रोगों का नाश करने वाला और दृष्टि तथा शरीरपुष्टि करने वाला होता है ॥ ६७-७० ॥

अथ विषमात्राकथनम्—

यवाष्टकं भवेद्यावदभ्यस्तं तिलमात्रया।
सर्वरोगहरं नृणां जायते शोधितं विषम् ॥ ७१ ॥

यवाष्टकमित्यादि। तिलमात्रयाऽभ्यस्तं यवाष्टकं यावद्भवेत्तावद्भक्षयेत् शोधितं विषम्। सुस्पष्टमन्यत् ॥ ७१ ॥

विष-मात्रा का प्रमाण—मनुष्य शुद्ध किए हुए विष को एक तिल जितनी मात्रा से प्रारभ कर के अभ्यास करते करते आठ जौ पर्यन्त भक्षण कर सकता है। शुद्ध विष का भक्षण मनुष्य के समस्त रोगों का नाश करने वाला होता है ॥ ७१ ॥

मतान्तरम्—

प्रथमे सार्षपी मात्रा द्वितीये सर्षपद्वयम्।
तृतीये च चतुर्थे च पञ्चमे दिवसे तथा ॥ ७२ ॥
षष्ठे च सप्तमे चैव क्रमवृद्ध्या विवर्धयेत्।
सप्तसर्षपमात्रेण प्रथमं सप्तक नयेत् ॥ ७३ ॥
क्रमहान्या तथा देय द्वितीये सप्तके विषम्।
यवमात्र विषं देयं तृतीये सप्तके क्रमात् ॥ ७४ ॥
वृद्ध्या हान्या प्रदातव्यं चतुर्थे सप्तके तथा।
एवं सात्म्ये समायाते परां मात्रा भिषग्वरः ॥ ७५ ॥
स्थिरीकुर्याद्यथेच्छ तु ततस्त्यागं तु कारयेत्।
सेवनक्रमहान्याऽयं विषकल्प इतीरितः ॥ ७६ ॥
यवमात्रं ग्रसेत्स्वच्छो गुञ्जामात्रं तु कुष्ठवान्।
एव यावाष्टपर्यन्तं परा मात्राऽधिका न हि ॥ ७७ ॥

प्रथम इत्यादि। स्पष्टम् ॥ ७२–७७ ॥

अन्य मत से विष की मात्रा और उसका सेवनक्रम—प्रथम दिन विष की एक सरसों की मात्रा, दूसरे दिन दो सरसों की, इस प्रकार क्रमशः पहले सप्ताह में सात सरसों की मात्रा में विष का भक्षण करे। दूसरे सप्ताह में जिस क्रम से विष की वृद्धि की हो उसी क्रम से उसका ह्रास करता जावे। सप्ताह के आखिरी दिन एक सरसों की मात्रा सेवन करे। तीसरे सप्ताह में विष की एक जव प्रमाण मात्रा से प्रारभ करके क्रमश सात दिन तक बढाता रहे। चौथे सप्ताह में फिर विष मात्रा का क्रमशः ह्रास करे के देवे। इस प्रकार सप्ताह के वृद्धि और ह्रास क्रम से रोगी के लिए सात्म्य हुई पूर्ण मात्रा को वैद्य अपने अनुभव द्वारा यथेच्छ स्थिर करे, तत्पश्चात् जिस क्रम (अर्थात् ह्रास और वृद्धि के) द्वारा उसका सेवन किया गया था उसी क्रम से उसे त्याग देवे। यह विष कल्प कहाता है। स्वस्थ मनुष्य एक जवकी मात्रा में और कोढी एक गुजा की मात्रा में विष का सेवन कर सकता है। इस प्रकार विष की आठ जव की उत्तम (आखिरी) मात्रा होती है इससे अधिक नहीं ॥ ७२–७७ ॥

अथ विषे पथ्यानि—

घृतं क्षीरं सितां क्षौद्रं गोधूमांस्तण्डुलान्यवान्।
मरिच सैन्धवं द्राक्षां मधुरं पानकं हिमम् ॥ ७८ ॥

ब्रह्मचर्यं हिमं देशं हिमं कालं हिमं जलम् ।
विषस्य सेवको मर्त्यो भजेदतिविचक्षणः ॥ ७९ ॥

घृतमित्यादि । पानकमिति कथनेन सुश्रुतोक्तं ग्राह्यं, यथा-'गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रकम् । तदेव खण्डमृद्वीकाशर्करासहितं पुनः ॥ साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम् ॥' इत्यादि । अतिविचक्षण-चतुर । अन्यत्सुबोधम् ॥ ७८-७९ ॥

विष-सेवन में पथ्यकर द्रव्य—घी, दूध, शक्कर, शहद, गेहूँ, चावल, जव, काली मरिच, सैन्धव-नमक, दाख, मधुर रस के सभी पदार्थ, पानक, शीतल पदार्थ, ब्रह्मचर्य, शीतल देश, काल और जल ये सभी विषसेवक के लिए उपयुक्त हैं। बुद्धिमान् विषभक्षक का कर्तव्य है कि वह इन का कदापि त्याग न करे ॥ ७८-७९ ॥

अथ विषपरीक्षा—

मात्राधिकं यदा मर्त्यः प्रमादाद्भक्षयेद्विषम् ।
अष्टौ वेगास्तदा तेन जायन्ते तस्य देहिनः ॥ ८० ॥
प्रशमः प्रथमे वेगे द्वितीये वेपथुर्भवेत् ।
दाहस्तृतीयवेगे स्याच्चतुर्थे पतनं भुवि ॥ ८१ ॥
पञ्चमे तु वमेत्फेनं षष्ठे वैकल्यमेव च ।
जडता सप्तमे वेगे मरणं चाष्टमे भवेत् ॥ ८२ ॥
विषवेगानिति ज्ञात्वा मन्त्रद्रव्यैर्विनाशयेत् ।
यावन्नाष्टमवेगं तु संप्राप्नोति हि मानवः ॥ ८३ ॥
अतिमात्रं यदा भुक्तं वमनं तस्य कारयेत् ।
अजादुग्धं दद्यात्तावद्यावच्छान्तिर्न जायते ॥ ८४ ॥
अजादुग्धं यदा कोष्ठे स्थिरीभवति देहिन ।
विषवेगं तदोत्तीर्णं[1] जानीयात्कुशलो भिषक् ॥ ८५ ॥
विषं हन्याद्रसः पीतो रजनीमेघनादयोः ।
सर्पाक्षी टङ्कणं वाऽपि घृतेन विषहृत्परम् ॥ ८६ ॥

मात्राधिकमित्यादि । प्रमादात्—अज्ञानात्, रजनी-हरिद्रा, मेघनाद-तण्डुलीयः । शेषं स्पष्टम् । अत्र विशेष सुश्रुतीयकल्पस्थाने द्रष्टव्य ॥ ८०-८६ ॥

विष की परीक्षा—जब मनुष्य अज्ञानता से विष का मात्राधिक में सेवन कर लेता है तो उसको आठ वेग उत्पन्न होते हैं। प्रथम वेग में प्रशम, द्वितीय में वेपथु (कम्प), तृतीय में दाह, चौथे में पृथ्वी पर गिरना, पाचवें में मुख से फेन और वमन, छठे में विकलता, सातवें में शरीर-जडता और आठवे में मृत्यु हो जाती है। इन आठ विष के वेगों को जानकर विष की मन्त्र और विषनाशक द्रव्यों के द्वारा शान्ति करे जब तक कि मनुष्य आठवें वेग को न प्राप्त होवे। विष को अधिक मात्रा में खा लेने पर उसको वमन करावे। बकरी का दूध पीने को तब तक देवे जब तक कि वमन न हो जावे। बकरी का दुध विषभक्षक मनुष्य के कोठे में जाकर जब स्थिर हो जावे अर्थात् पच जावे तब विषवेग जीर्ण हो गया अर्थात् उतर गया, ऐसा बुद्धिमान् वैद्य समझे।

[1] 'तदा जीर्णमि'ति क्वचित्पाठ । इति ग्रन्थकार ।

हल्दी और चौलाई का रस पीने से विष का नाश होता है अथवा गंधनाकुली और सुहागा को घी के साथ पीने से विष नष्ट होता है ॥ ८०-८६ ॥

चत्वारो योगाः—

पुत्रजीवकमज्जा वा पीता निम्बुकवारिणा ।
विषवेगं निहन्त्येव वृष्टिर्दावानलं यथा ॥ ८७ ॥
गोघृतपीता हरति विषं गरलं च वन्ध्यककोंटी ।
सकलविषोपशमनी त्रिमूली सुरभिजिह्वा च ॥ ८८ ॥
अतिमात्रं यदा भुक्तं तदाऽऽज्यं टङ्कणं पिबेत् ।
विषं सवेगं तेनाशु नाशमाप्नोति निश्चितम् ॥ ८९ ॥

पुत्रजीवकमज्जेत्यादि । दावानलं-वनाग्निं, गरलं-सर्पविषं, सुरभिजिह्वा-गोजिह्वा, आज्यं-घृत, शेषं स्पष्टम् ॥ ८७-८९ ॥

विषनाशक चार प्रयोग—अथवा जियापोता की मज्जा को निम्बू के रस में पीसकर पीने से विषवेग की तत्काल शान्ति होती है जैसे कि वर्षा से वनाग्नि की । बांझककोडे को गाय के घी के साथ पीने से विष और सर्प गरल की तत्काल शान्ति हो जाती है । त्रिमूली और गोभी ये दोनों भी सपूर्ण विषों का उपशमन करनेवाली हैं । इनका प्रयोग भी गाय के घी से होता है । जब कभी विष अतिमात्रा में खाया जावे तो तत्काल घी और सोहागा पीवे, उससे सवेग विषकी शीघ्र शान्ति हो जाती है ॥ ८७-८९ ॥

वाग्भटः—

आदौ वान्तविरिक्तस्य हरिद्रे कटभी गुडम् ।
सिन्धुवारकनिष्पाववाष्पिकाशतपर्विका ॥ ९० ॥
तन्दुलीयकमूलानि कुक्कुटाण्डमवल्गुजम् ।
नावनाञ्जनपानेषु योजयेद्विषशान्तये ॥ ९१ ॥
विषभुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा ।
सूक्ष्मं ताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ॥ ९२ ॥
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णं च दापयेत् ।
न सज्जते हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ॥ ९३ ॥
जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः ।
साधकानां हितार्थाय सदाशिवमुखोद्गतम् ॥ ९४ ॥
क्षिप्रं सर्वविषघ्नं च मन्त्रं वै प्रवदाम्यहम् ॥ ९५ ॥

आदावित्यादि । आदौ-प्रथमे वान्तविरिक्तस्य-आमाशयगतविकारेषु वान्तस्य पक्वाशयप्राप्तविकारेषु विरिक्तस्येति क्रमेण योज्यम् । हरिद्रे-हरिद्राद्वयं हरिद्रा दारुहरिद्रा च, कटभी-गिरिकर्णिका, गुडम्-इक्षुविकार, सिन्धुवारकः-निर्गुण्डी, निष्पावो-वल्लः, वाष्पिका-हिङ्गुपत्री, शतपर्विका-वचा, अवल्गुजो वाकुची, एतानि हरिद्रादीनि नावनाञ्जनपानेषु योजयेत् । 'आहारं विनापि प्रयुक्तस्य विषस्य शान्त्यर्थमय योगः स्यादिति 'विषशान्तये' इत्युक्तं हेमाद्रिणा । 'आदौ' इत्यत्र 'तयोरिति' पाठभेदः । विषभुक्ताय

नराय ऊर्ध्वमधश्च-वमनविरेचनैः शुद्धाय काले-औषधकाले हृद्विशोधनाय-हृदयशुद्धये, सूक्ष्मम् अति श्लक्ष्ण ताम्ररजः-ताम्रचूर्णं सक्षौद्रं-मधुयुक्तं दद्यात्। हेमचूर्णस्य-सुवर्णरजसः शाण-कर्षचतुर्थांशं दापयेत्। हेमपाङ्गे-हेम पिबतीति हेमपस्तस्याङ्गे पद्मपत्रे जलवत् विषं न सज्जते। एष विधिर्गरेऽपि कथितः। 'सज्जते' इत्यत्रात्मनेपदं चिन्त्यम्। अन्यत्स्पष्टम् ॥ ९०-९५ ॥

वाग्भट के मत से खाये हुए विष की शान्ति का उपाय-पहले वमन (आमाशयगत विषशमनार्थ), विरेचन (पक्वाशयगत विषहरणार्थ) से शुद्ध किए हुए मनुष्य को हलदी, दारुहलदी, नीलपुष्पा कोयल, गुड, निर्गुण्डी, भटवासु, हिङ्गुपत्री, वच, चौलाई की जड, मुर्गे के अण्डे और बावची ये द्रव्य नस्य, अञ्जन और पान में विषशान्ति के लिए प्रयुक्त करने चाहिए। विष भक्षण किये हुए मनुष्य को वमन और विरेचन द्वारा शुद्ध कर के औषध के समय में फिर हृदयशुद्धि के लिए सूक्ष्म ताम्रचूर्ण शहद के साथ खिलावे। जब हृदय भलीभांति शुद्ध हो जावे तब सुवर्ण का चूर्ण चौथाई कर्ष (चार माशा) देवे क्योंकि सुवर्ण खाये हुए के शरीर में विष नहीं ठहरता जैसे कि कमल के पत्र पर जल। किन्तु आयु की वृद्धि अवश्य होती है। यह विधि गर (कृत्रिम) विष के लिए भी उत्तम है। अब हम साधकों के हित के लिए भगवान् सदाशिव के मुख से निकले हुए तत्काल विषनाशक मन्त्र को यहा कहते हैं ॥ ९०-९५ ॥

ॐ नमो भगवति श्रीघोणे हर २ दर २ पर २ वर २ वध २ लर २ ली २ हर २ भां २ सर २ शं २ क्षव २ क्षी २ ह्रीं २ भगवति श्रीघोणे यः ३ सः ३ वर २ रं सं ४ खण्डावररूपे ह्रीं ३ वर विहङ्गम मानुषयोगक्षेमं वद शेखरिखः स्वाहा इति मन्त्रः।

विद्यायाः स्मृतिमात्रेण नश्यन्ते गुह्यकादयः।
सप्तजपिततोयेन प्रोक्षयेद्विषदूषितम् ॥ ९६ ॥
उत्तिष्ठति सवेगेन शिखाबन्धेन धारयेत् ॥
निमन्त्रितेन शङ्खेन दुन्दुभिं वादयेद्यदि ॥ ९७ ॥
देशान्तरगतं शब्दो निर्विषं कुरुते क्षणात्।
विषं दृष्ट्वा यदा मन्त्री मन्त्रमावर्तयेत्सकृत् ॥ ९८ ॥
यान्ति निर्विषतां दृष्ट्वा ह्यपि भारशतानि च ॥

विद्याया इत्यादि। गुह्यकादयः-यक्षपिशाचादय., सप्तजपिततोयेन सप्तधाभिमन्त्रित-जलेन विषदूषित-विषपीडित प्रोक्षयेत्-शिरसि सेचयेत्। शेषं स्पष्टम् ॥ ९६-९८ ॥

मंत्र से विष उतारने की विधि—ऊपर कहे हुए मन्त्र के स्मरण मात्र से यक्ष और पिशाच आदि की लाग तत्काल दूर हो जाती है। विषपीडित के सिर में सात वार मन्त्र से अभिमन्त्रित जल का सेचन करके उसके सिर की चोटी पकड कर तत्काल ऊपर को उठावे और तीन वार मन्त्र से अभिमन्त्रित शङ्ख और नगारे वाजे को बजावे. इनके शब्द के देशान्तर में प्रविष्ट होने पर तत्काल निर्विषता हो जाती है और विषपीडित उठ बैठता है। विष को देखकर मन्त्रज्ञ जब मन्त्र का एक वार आवर्तन करता है तो उसके देखने मात्र से सौगुना विष भी नष्ट हो जाता है ॥ ९६-९८ ॥

अथापरं मनुं वक्ष्ये साधकानां हिताय वै।
येन निर्विषतामेति सर्पादिविषपीडितः ॥ ९९ ॥

अथेत्यादि। अथेत्यनन्तरम्, अपरं—द्वितीयं मनुं-मन्त्रं वक्ष्ये। शेषं सुबोधमेव ॥ ९९ ॥
अब हम इसके बाद साधक जनों के कल्याणार्थ, सर्पादि विषों से पीड़ितों के विष को दूर करने के लिए दूसरे मन्त्र को कहेंगे ॥ ९९ ॥

ॐ नमो प्रचण्डगरुडाय पक्षिराजाय विष्णुवाहनाय विनतासुताय हे गरुड २ काश्यपसुत २ वैनतेय २ तार्क्ष्यस्वर्णवज्रचञ्चुवज्रतुण्डवज्रनखप्रहरणाय अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मकमहापद्मशङ्खपालकुलिकजयविजय अष्टमहानागकाल उच्चाटनी सूपकविषप्रहरणाय हन २ धुन २ शीघ्रं कम्प २ आवेशः २ ठः ठः रहे श्रीगरुडाय नमः ॥ इति ॥

मन्त्रेणानेन मन्त्रज्ञो जलं चुलकमात्रकम्।
जपितं सप्तवारांस्तु पाययेद्गतचेतनम् ॥ १०० ॥
सर्पादिविषवेगेन सद्यो निर्विषतामियात्।
त्रिवारमेव पानीयं दातव्य न पिवेद्यदि ॥ १०१ ॥
मुखमध्ये तदा सेकाः कर्तव्यास्तज्जलस्य हि।
अथवा मस्तके तस्य तर्जन्या ताडयेद्बुधः ॥ १०२ ॥
त्रिवारं मन्त्रपूर्वं तु निर्विषो भवति क्षणात् ॥ १०३ ॥

मन्त्रेणेत्यादि। स्पष्टम् ॥ १००–१०३ ॥
सर्प आदि जगम विषों को दूर करने की मन्त्रविधि—मन्त्रवेत्ता साधक ऊपर कहे हुए मन्त्र से एक चुल्लू पानी को सात वार अभिमन्त्रित करके सर्प आदि विष से बेहोश रोगी को पिलावे तो सर्प आदि विष के वेगों से छूटकर वह तत्काल निर्विष हो जाता है। यह पानी तीन वार देवे, यदि न पी सके तो उस जल का मुख में सेक (सेचन) करे अथवा उसके मस्तक में तर्जनी (अंगूठे के पास की) अंगुली से मन्त्र जप कर तीन वार ताडन करे तो विष उतर जाता है ॥ १००-१०३ ॥

अथ वृश्चिकविषहरणमन्त्रः—

ॐ कालो विंछू कर्तरीयालो सोनानी चांच रूपानो पिञ्जोरो, विंछू उतरे तो उतारु न तो गरुडमो हंकारुं आवेगो मोर खावेगो तोड विंछू विनरे तो हाक हलोला करे मेरी भक्ति गुरुकी शक्ति फुरो मन्त्र ईश्वरोवाच ॥

मन्त्रेणानेन मन्त्रज्ञो भूत्या करगृहीतया।
मार्जयन्मन्त्रमुच्चार्य सप्त कृत्वा त्रिवारकम् ॥ १०४ ॥
सद्यो निर्विषतां कुर्यान्नरं वृश्चिकदंशितम्।
बर्हिपिच्छादिना वाऽपि मार्जयन्नाशयेद्विषम् ॥ १०५ ॥

मन्त्रेणेत्यादि। सुगमम् ॥ १०४–१०५ ॥
बिच्छू के विष को हरण करने का मन्त्र और उसका विधि—मन्त्र को जानने वाला साधक उपर्युक्त मन्त्र से भस्म (राख) हाथ में लेकर सात वार मन्त्र का उच्चारण करके बिच्छू के

दंशस्थान का मार्जन करे। इस प्रकार तीन वार झाडने पर बिच्छू का दशस्थान शीघ्र ही निर्विष हो जाता है। अथवा मोर की पाख से मार्जन करने पर भी विष उतर जाता है ॥ १०४–१०५ ॥

अथापरो वृश्चिकविषहरो मन्त्रः—

ओम् नमो पुनपुरो ॥

> मार्जयन्मुखवातेन मन्त्रेणानेन मन्त्रवित्।
> तिस्रो रेखाः प्रकुर्यात्तु सरला भुवि चात्मनः ॥ १०६ ॥
> संम्मुखास्तासु मन्त्रेण रेखैकां तिर्यगायताम्।
> प्रकुर्वन्निर्विषीकुर्यान्मन्त्रवृत्त्या मुहुर्मुहुः ॥ १०७ ॥

मुहुर्मुहुरिति २१ वारम्, अनुभूतं मन्त्रद्वयमपि।

मार्जयन्नित्यादि। स्पष्टम् ॥ १०६–१०७ ॥

वृश्चिक विष को दूर करनेवाले दूसरे मन्त्र की विधि—मन्त्रवेत्ता साधक उपर्युक्त मन्त्रयुक्त मुख की पवन से (छू) इस प्रकार दशस्थान को मार्जन करते हुये पृथ्वी पर अपने सम्मुख तीन सीधी रेखा (लकीर) करे। इन्हीं तीन रेखाओं में मन्त्र से तिरछी एक चौडी रेखा करे और इस प्रकार रेखा करते हुए मन्त्र की आवृत्ति बार बार अर्थात् २१ बार एक सरीखी करता जावे तो विष उतर जाता है। ये दोनों भी मन्त्र वृश्चिक-विषहरण के लिए ग्रन्थकार ने स्वानुभव द्वारा सिद्ध कहे हैं ॥ १०६–१०७ ॥

अथोपविषाणि—

> अर्कसेहुण्डधत्तूरलाङ्गलीकरवीरकाः।
> गुञ्जाऽहिफेनमित्येताः सप्तोपविषजातयः ॥ १०८ ॥
> एतैर्विमर्दितः सूतश्छिन्नपक्षः प्रजायते।
> मुखं च जायते तस्य धातूंश्च ग्रसते क्षणात् ॥ १०९ ॥
> अर्कसेहुण्डयोर्दुग्धमितरासां जटा भवेत्।
> प्रयोज्यो रसयोगेषु यद्वा पञ्चाङ्गजो रसः ॥ ११० ॥

अर्केत्यादि। सुबोधमेव ॥ १०८–११० ॥

उपविष के नाम और उनका प्रयोग—आक, थूहर, धतूरा, कलिहारी, कनेर, गुञ्जा और अफीम ये सात उपविष की जाति हैं। इनके द्वारा पारे का मर्दन करने से छिन्नपक्ष (मूर्च्छित) पारा हो जाता है तथा बुभुक्षित होकर सुवर्णादि धातुओं को ग्रसित करता है। आक और थूहर का दूध तथा अन्यों की जड का अथवा पचाग के रस का रसयोगों में प्रयोग किया जाता है ॥

मतान्तरम्—

> अर्कस्नुग्लाङ्गलीगुञ्जाहयारिविषमुष्टयः।
> आफेनोन्मत्तजेपाला नवोपविषजातयः ॥ १११ ॥

भङ्गा तु अनिश्चितैव, मांसगणे अजाविवत्[1]।

अर्केत्यादि। स्नुक्–स्नुही, लाङ्गली–कलिहारिका, हयारिः–करवीरः, विषमुष्टिः–कुपीलुः, उन्मत्तः–धत्तूरः। शेषं स्पष्टम् ॥ १११ ॥

---

१ यदाह चरकः—'योनावजाविके मिश्रगोचरत्वादनिश्चिते' इति ॥

अन्य मत से उपविषों के नव भेद—आक, थूहर, कलिहारी, घुघची, कनेर, कुचला, अफीम, धतूरा और जमालगोटा ये नव प्रकार के उपविष हैं। भाग यह अनिश्चित है जिस प्रकार से मासगण में बकरी और भेड अनिश्चित है ॥ १११ ॥

अथोपविषशुद्धिः—

लाङ्गली शुद्धिमायाति दिनं गोमूत्रसंस्थिता।

इति लाङ्गलीशुद्धिः।

लाङ्गलीत्यादि। लाङ्गली–कलिहारिका, दिनम्–एकदिनम्। शेष स्पष्टम्।

कलिहारी की शोधनविधि—कलिहारी को एक दिन गोमूत्र में रखने से शुद्ध हो जाती है।

गुञ्जा काञ्जिकसंस्विन्ना प्रहरं शुद्धिमृच्छति ॥ ११२ ॥

इति गुञ्जाशुद्धिः।

गुञ्जेत्यादि स्पष्टम् ॥ ११२ ॥

गुञ्जा की शुद्धि—घुघची को कांजी में एक प्रहर स्वेदन करने से शुद्ध हो जाती है ॥११२॥

किंचिदाज्येन संभृष्टो विषमुष्टिर्विशुध्यति।

इति विषमुष्टिशुद्धिः।

किंचिदित्यादि। आज्येन–घृतेन। स्पष्टमन्यत्।

कुचले का शोधन—कुछ घी के साथ भूजने से कुचला शुद्ध हो जाता है।

जेपालं रहितं त्वगङ्कुररसज्ञाभिर्मले माहिषे
निक्षिप्त त्र्यहमुष्णतोयविमलं खल्वे सवासोऽर्दितम्।
लिप्तं नूतनखर्परेषु विगतस्नेहं रजःसंनिभं
निम्बूकाम्बुविभावितं च बहुशः शुद्धं गुणाढ्यं भवेत् ॥११३॥

इति जेपालशुद्धिः।

जेपालमित्यादि। स्पष्टम् ॥ ११३ ॥

जमालगोटे की शुद्धि—जमालगोटे के बीजों को फोडकर के उसकी छाल और श्वेत रंग की भीतर में रहने वाली जीभ को निकाल कर तीन दिनतक भैंस के गोबर में रखे, गोबर से निकालकर उष्ण जल से स्वच्छ धोकर कपडे से मसलकर फिर खरल में डालकर घोंटे, भलीभाति पिष्ट होने पर उसको एक मिट्टी के नवीन ठीकरे पर लेप दे। जब उसका तेल सूखकर चूर्ण के समान हो जावे तब उतारकर निंबू के रस में अनेक बार भावित कर के रख दे। यह जमालगोटा शुद्ध एवं गुणाढ्य होता है ॥ ११३ ॥

धूर्तबीजं तु गोमूत्रे चतुर्यामोषितं पुनः।
कण्डितं निस्तुषं कृत्वा शुद्धं योगेषु योजयेत् ॥११४॥

इति धूर्तबीजशुद्धिः।

धूर्तबीजमित्यादि। उषितं–स्थापित, कण्डित–कुट्टित, शेषं सुगमम् ॥ ११४ ॥

धत्तूरे के बीजों की शुद्धि–धत्तूरे के बीजों को चार प्रहर गोमूत्र में रखे और फिर कूटकर उनके तुष निकाल दे तो शुद्ध हो जाते हैं। इनका प्रत्येक आवश्यक प्रयोगों में योग करे ॥ ११४ ॥

शृङ्गवेररसैर्भाव्यमहिफेनं त्रिसप्तधा ।
शुद्ध्यत्युक्तेषु योगेषु योजयेत्तद्विधानतः ॥ ११५ ॥

इत्यहिफेनशुद्धिः ।

शृङ्गवेररसैरित्यादि । स्पष्टम् ॥ ११५ ॥

अफीम की शुद्धि—अफीम को २१ बार अद्रक के रस में भावित करने से शुद्ध हो जाता है । इस को विधि के साथ प्रयोगों में डाले ॥ ११५ ॥

बब्बूलत्वक्कषायेण भङ्गां संस्वेद्य शोषयेत् ।
गोदुग्धभावनां दत्त्वा शुष्कां सर्वत्र योजयेत् ॥११६॥

इति भङ्गाशुद्धिः ।

बब्बूलेत्यादि । सुबोधमेव ॥ ११६ ॥

भाग की शुद्धि—बबूल की छाल के कषाय से भाग का स्वेदन कर के सुखा ले और तत्पश्चात् गाय के दूध की भावना देकर सुखा ले तो भांग शुद्ध हो जाती है ॥ ११६ ॥

अथ विषतैलम्—

गृह्णीयात्काचयन्त्रेण विषस्यागुरुसत्त्ववत् ।
तैलं तेन रसो मर्द्यः क्षुत्कारी स महान्भवेत् ॥११७॥
एवं धत्तूरबीजादेस्तैलं ग्राह्यं विधानतः ।
योगे सर्वत्र युञ्जीत प्रोक्तमानेन नान्यथा ॥११८॥

गृह्णीयादित्यादि । सुस्पष्टम् ॥ ११७–११८ ॥

विषतैल-पातनविधि—अगर का सत्त्वपातन जिस भांति से किया जाता है उसी प्रकार काच के यन्त्र से विष का तैलपातन करे । इस तैल से पारे का मर्दन किया जावे तो वह अतिशय बुभुक्षित हो जाता है । इसी प्रकार धतूरे के बीज आदि का भी तेल ग्रहण करे । इन तैलों का प्रयोग सर्वत्र योगों में विधि और प्रमाण से करे, अन्यथा न करे ।

अथ विषवज्रपातः—

[1]रङ्गं विषं टङ्कणमूषणं च तुत्थं समांशं कुरु देवदाल्याः ।
रसेन पिष्टो विषवज्रपातो रसो भवेत्सर्वविषैकहन्ता ॥११९॥
निष्कोऽस्य संजीवयति प्रयुक्तो नृमूत्रयोगेन च सर्वथैव ।
जटाविषेणाकुलितं तथाऽन्यैर्दूषीविषैर्घूर्णितमातुरं च ॥

इति विषवज्रपातो रसः ।

रङ्गमित्यादि । विष-वत्सनाभम्, ऊषण-मरिचं, शेषं स्पष्टम् ॥ ११९–१२० ॥

विषवज्रपात की विधि—वङ्गभस्म, बचनाग, सुहागा, कालीमरिच और नीलाथोथा इन पांचों को समान भाग लेकर खरल में डालकर देवदाली के रस से पीसे । यह संपूर्ण विषविकारों को शान्त करनेवाला विषवज्रपात नाम का रस तयार होता है । मनुष्य के मूत्र में इसको एक निष्क मात्रा में देनेपर यह सर्वथा विष से मरते हुए रोगी को जीवित कर देता है । मूलविष से पीडित अथवा अन्य किसी दूषीविष से पीडित रोगी को भी यह हितकारी है ।

१ रङ्ग वङ्गभस्म इति ग्रन्थकार ।

अथ लवणभेदी सुधानिधिः—

पिष्टं पांशुपटुप्रगाढममलं वज्र्यम्बुना नैकशः
सूतं धातुयुतं खटीकवलितं तं संपुटे रोधयेत् ।
अन्तःस्थं लवणस्य तस्य च तले प्रज्वाल्य वह्निं हठा-
च्छुभ्रं ग्राह्यमथेन्दुकुन्दधवलं भस्मोपरिस्थं शनैः ॥ १२१ ॥
तद्वल्लद्वितयं लवङ्गसहितं प्रातः प्रभुक्तं च यै-
रूर्ध्वं रेचयति त्रियाममसकृत्पेयं जलं शीतलम् ।
एतद्धन्ति च वत्सरावधि विषं षाण्मासिकं मासिकं
शैलोत्थं गरलं मृगेन्द्रकुटिलोद्भूतं च तात्कालिकम्[1] ॥ १२२ ॥

पिष्टमित्यादि । धातुयुतं-सुवर्णादिधातुचर, खटीकवलित-खटिकासवेष्टितं, जलमसकृत-वारंवार पेय, गरल-सर्पविषं, शेषं स्पष्टम् ॥ १२१-१२२ ॥

लवणभेदी सुधानिधिरस की प्रक्रिया—स्वच्छ किए हुए सांभर नमक को खरल में डालकर भलीभाति अनेक वार थूहर के दूध में पीसे और इस प्रकार पारे को भी थूहर के दूध से पीसे, पश्चात् सुवर्णादि धातु का ग्रास देकर खटिया मिट्टी का लेप देकर उस गोले के नीचे और ऊपर पूर्वोक्त नमक देकर संपुट में बन्द कर दे और उसके नीचे तीक्ष्णाग्नि देवे । तदनन्तर ऊपर की हाडी में लगी हुई चन्द्रमा और कुन्द के फूल के समान श्वेतवर्ण की भस्म को धीरे-धीरे ग्रहण कर ले । इसकी रसकपूर के तुल्य विधि है । इस भस्म को दो वल्ल अर्थात् ६ रत्ती की मात्रा से लौंग के साथ प्रातःकाल सेवन करे तो तीन प्रहर के बाद ही रेचन हो जाता है । विरेचन होने के बाद बार बार शीतल जल पीवे ताकि विरेचन न रुके और कोठे का विषाक्त भाग शुद्ध हो जावे । यह सुधानिधि रस एक वर्ष, छ महीने और एक महीने के खाये हुए स्थावर, गरल (सर्प आदिक) विष को हरण करता तथा तत्काल सिंह के मूछ के बाल के भक्षणजन्य जङ्गम विष को भी शान्त करता है ॥ १२१-१२२ ॥

अथ क्षारकल्पना—

क्षारवृक्षस्य काष्ठानि शुष्काण्यग्नौ प्रदीपयेत् ।
नीत्वा तद्भस्म मृत्पात्रे क्षिप्त्वा नीरे चतुर्गुणे ॥ १२३ ॥
विमर्द्य धारयेद्रात्रौ प्रातरच्छं जलं नयेत् ।
तन्नीरं क्वाथयेद्वह्नौ यावत्सर्वं विशुष्यति ॥ १२४ ॥
ततः पात्रात्समुद्धृत्य क्षारो ग्राह्यः सितप्रभः ।
चूर्णाभः प्रतिसार्यः स्यात् पेयः स्यात्क्वाथवत्स्थितः ॥
इति क्षारद्वयं धीमानुक्तकार्येषु योजयेत् ॥१२५॥ इति क्षारकल्पना ।

इत्यायुर्वेदप्रकाशे श्रीमदुपाध्यायसारस्वतकुलावतंसकाशीनिवासि-श्रीमाधव-विरचिते विषोपविषादिसाधनाध्यायः षष्ठः समाप्तः ।

---

१. पांशुपटु खारीलवणम् । वज्र्यम्बुना वज्रीदुग्धेन, अनेकशः सूतं च पिष्टम् मृगेन्द्र-कुटिलोद्भूत-सिंहश्मश्रुभक्षणजनितम् । रसकर्पूरवदस्य प्रक्रिया । इति सकलविषघ्नो लवणभेदी सुधानिधिरस' इति ग्रन्थकार ।

क्षारवृक्षस्येत्यादि । सुस्पष्टम् ॥ १२३-१२५ ॥

क्षारबनाने की विधि—आक, पलास, कदली, इमली, मूली, जव, अपामार्ग और तिल प्रभृति क्षारवृक्षों के सूखे पञ्चाङ्ग को अग्नि में भलीभांति जलावे ताकि उन लकड़ियों के कोयले न होने पावें। उस जली हुई राख को एक मिट्टी के पात्र में भर दे और राख से चौगुना उसमें पानी डालकर हाथ से भली प्रकार मिला दे और एकान्त स्थान में रातभर रखा रहने दे। प्रातःकाल ऊपर का स्वच्छ जल मोटे कपड़े से छानकर ले ले। इस जल को शुद्ध और साफ कड़ाही आदि बर्तन में भरकर अग्निपर क्वाथ करे जब सम्पूर्ण पानी जल जावे तब पात्र को चूल्हे के नीचे उतारकर ठंडा होनेपर श्वेतवर्ण का क्षार ग्रहण करे। चूर्ण के समान शुष्क क्षार को प्रतिसार्य और क्वाथ के तुल्य क्षार को पेय क्षार कहा है। इस प्रकार क्षार दो तरह के होते हैं प्रथम चूर्णरूप और दूसरा क्वाथस्वरूप। बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि वह इनका यथास्थान ही प्रयोग करे ॥ १२३-१२५ ॥

राजस्थानगतं जनैस्सुविदितं श्रीखेतडी पत्तनं
तस्मात्प्राग्दिशि विप्रवृन्दवसतिर्गौरीरनाम्नी शुभा ।
तत्रासीद्वकृतावरो द्विजवरः शास्त्रार्थवित्सुधी-
स्तत्पुत्रेषु च मध्यमः समभवत्केदारमल्लो बुधः ॥ १ ॥
तस्याऽसन्नृतुसङ्ख्यकाः खलु सुतास्तत्रापि ज्येष्ठो भिषग्
ह्याचार्यो गुलराजमिश्रविबुधस्तेनाऽर्थविद्योतिनी ।
छात्राणां हितकारिणी सुभिषजां नित्यं समाह्लादिनी
गूढार्थान् गुरुतोऽधिगम्य रचिता टीका सतां तुष्टये ॥ २ ॥
बालानां सुखबोधिनी नरगिरा सर्वैकगम्या शुभा
सुस्पष्टार्थप्रकाशिनी विरचिता टीकाऽपि चान्या मया ।
यस्याज्ञामवधार्य भक्तिभरतः प्रेम्णा यथाशक्तिन-
श्चाभ्या मेऽत्र प्रसीदताद् गुरुवरो गोवर्धनो वैद्यराट् ॥ ३ ॥
यत्कारुण्यसुधालवेन मम धीर्ज्ञानोज्ज्वल ह्यध्यगा-
द्येन प्रेमतया च सश्रममहं सत्पुत्रवत्पाठितः ।
सोऽयं राजभिषग्वरो विपुलधीर्वृद्धत्रयीबोधकः-
श्छागाणीत्युपनामको विजयते गोवर्धनो मे गुरुः ॥ ४ ॥
नन्दाङ्कग्रहभूवर्षे मार्गशीर्षसिते दले
आयुर्वेदप्रकाशस्य टीकेयं पूर्णता गता ॥ ५ ॥

इत्यायुर्वेदप्रकाशे राजपूतानान्तर्गतखेतडीसमीपस्थगौरीरग्रामवास्तव्यश्रीकेदारमल्लमिश्रतनुजन्मवैद्यवाचस्पतिश्रीगुलराजशर्ममिश्रायुर्वेदाचार्यकृतार्थविद्योतिनीसंस्कृतव्याख्यया सुस्पष्टार्थप्रकाशिनी हिन्दीटीकाया च षष्ठोऽध्यायः ॥

समाप्तोऽयमायुर्वेदप्रकाशः ॥

